मेरी जीवन-यात्रा

राहुल सांकृत्यायन

किताब महल - इलाहाबाद

मेरी जीवन-यात्रा

[१]

"बेड़ेकी तरह पार उतरनेके लिये मैंने विचारोंको स्वीकार किया, न कि सिर पर उठाये-उठाये फिरनेके लिये"

राहुल सांकृत्यायन

किताब महल

इलाहाबाद

१९४६

प्रकाशक
किताब महल
इलाहाबाद

मुद्रक
जे० के० शर्मा
इलाहाबाद लॉ ज
इलाहाबाद

समर्पण

उन दौड़नेवालोंकी स्मृतिमें जो मुझे आगे बढ़नेका अवसर दे आप पीछे रह गये।

प्राक्कथन

"मेरी जीवन-यात्रा" मैंने क्यों लिखी? मैं बराबर इसे महसूस करता रहा, कि ऐसे ही रास्तोंसे गुज़रे हुए दूसरे मुसाफ़िर यदि अपनी जीवन-यात्राको लिख गए होते, तो मेरा बहुत लाभ हुआ होता—ज्ञानके ख़्यालसे ही नहीं, समयके परिमाण-से भी। मैं मानता हूँ, कि कोई भी दो जीवन-यात्राएँ, बिलकुल एक-सी नहीं हो सकतीं, तो भी इसमें सन्देह नहीं कि सभी जीवनोंको उसी आन्तरिक और वाह्य विश्वकी तरंगोंमें तैरना पड़ता है।

मैंने अपनी जीवनी न लिखकर जीवन-यात्रा लिखी है, यह क्यों? पाठक इसका उत्तर पुस्तकको पढ़कर ही पा सकते हैं। अपनी लेखनी द्वारा मैंने उस जगत्‌की भिन्न-भिन्न गतियों और विचित्रताओंको अंकित करनेकी कोशिश की है, जिसका अनुमान हमारी तीसरी पीढ़ी बहुत मुश्किलसे करेगी। जिस तरह कि मैंने दूसरे विषयोंपर लिखनेसे पहिले क़लम उठानेकी कलाको बाक़ायदा नहीं सीखा, उसी तरह जीवनी लिखनेकी कलासे भी मैं अशिक्षित हूँ। बाक़ायदा शिक्षाका महत्त्व कम नहीं है, लेकिन मेरा दुर्भाग्य, जो मुझे उसका अवसर नहीं मिला।

पहिले भी मेरे कई दोस्तोंने जीवनी लिखनेके लिए कहा था, लेकिन मैं समझता था, अभी इसका समय नहीं है। १४ मार्च १९४०को सरकारने पकड़कर मुझे हज़ारी-बाग़ जेलमें नज़रबन्द कर लिया। २९ महीने बाद मैं जेलसे निकलूँगा, यह जाननेके लिए मेरे पास कोई दिव्यदृष्टि तो नहीं थी, लेकिन इतना ज़रूर जानता था, कि मैं कई वर्षोंके लिए इन चहारदीवारियोंके भीतर आ गया हूँ। उस वक़्त मेरे पास बहुत समय था। हज़ारीबाग़में हम दो ही तीन नज़रबन्द थे। पुस्तकें भी हमारे पास नहीं थीं और दिमाग़में किसी दूसरी पुस्तकका लिखनेका मेरे ख़्याल भी नहीं था। मैंने दिन काटनेके लिए सोचा, चलो पुरानी स्मृतियाँ ही अंकित कर डालो। १६ अप्रैल १९४०से मैंने लिखना शुरू किया और १४ जून तक लिखता गया। इन दो महीनोंमें मैंने १८९३से १९३४ तककी यात्राको अपनी स्मृतिसे काग़ज़पर उतारा। मुमकिन है, मैं आगे बढ़ते-बढ़ते १९४० तक चला आता, लेकिन १९२६से आगे बढ़ते ही मेरी क़लम रुकने लगी—जब साल-सालकी डायरी मौजूद है, तो सिर्फ़ स्मृतिके सहारे लिखनेको मैंने ठीक नहीं समझा। मुमकिन है, डायरियोंके

मिलानेपर बहुत बदलना पड़ता। २३ जुलाई १९४२में जेलसे छूटकर जब मैं बा… आया, तो कुछ दोस्तोंने जीवन-यात्राको छपवा देनेकेलिए ज़ोर दिया। लेकिन मैं स… झता था, जेलमें लिखी दूसरी छै पुस्तकोंका पहिले छपना ज़्यादा ज़रूरी है। और अब "विश्वकी रूपरेखा", "मानवसमाज", "दर्शन-दिग्दर्शन", "वैज्ञानिक भौतिकवाद" "सिंह सेनापति", और "वोल्गासे गंगा", छप जानेके बाद ही "मेरी जीवन-यात्रा" पाठकोंके हाथमें जा रही है।

मैं आशा नहीं करता था, कि दूसरे भागके लिखनेकेलिए समीप-भविष्यमें अपनी क़लमको उठा सकूँगा। रूसकी तीसरी यात्राकेलिए मैं तैयार बैठा हूँ, सिर्फ़ ईरान-सरकारकी आज्ञा आनेकी देर है। लड़ाईसे पहिले ऐसी आज्ञा या "वीसा" लेना सिर्फ़ एक घंटेकी बात थी, लेकिन आज दरख़्वास्त दिये पाँचवाँ महीना बीत रहा है, पर अभी भी पता नहीं वह कब आयेगा। मैंने इस प्रतीक्षाके समयको अगला भाग लिखनेमें लगाना पसन्द किया है।

प्रयाग
२. ६. १९४४

राहुल सांकृत्यायन

पुनश्च

रूस जानेसे पहिले ही मैंने दूसरा भाग भी समाप्त करके प्रकाशकको दे दिया है।

राहुल सांकृत्यायन

विषय-सूची

चतुर्थ खंड

परिशिष्ट

मेरी जीवन-यात्रा

प्रथम खंड

बाल्य

१

माता-पिता

मेरी माँ कुलवन्ती अपने माँ-बापकी एकमात्र सन्तान थीं, और वह भी नानाके १०, १२ वर्षकी पल्टनकी नौकरीसे नाम कटाकर चले आनेके बादकी। ब्याह हो जानेपर भी माँ अक्सर अपने मायके पन्दहा ही रहती थीं, और वहीं मेरा जन्म (रविवार ९ अप्रेल १८९३ ई०[1]) हुआ।

नाना रामशरण पाठक[2] के पास तीन साढ़े तीन एकड़ बलुआ खेत था, जो आठ या दस जगहोंमें बिखरा हुआ था। वे दो बैलोंके अतिरिक्त एक भैंस ज़रूर रखा करते थे। नाना जब पन्दहासे भागकर हैदराबाद पल्टनमें गये थे, उस वक़्त उनका काम भैंसोंकी चरवाही करना, दूध पीना और कसरत करना था। नानाकी सबसे पहिली मूर्ति जो मुझे याद आती है, वह उनकी ५५के क़रीबकी थी। उनके सभी बाल सफ़ेद, क़द लम्बा छै फ़ीट, सीना चौड़ा, बाज़ू मोटे, नाक लम्बी और नुकीली, रंग गेहुँआ था। वे काम बहुत कम किया करते थे। सबेरे घास काट लाते, चारा काट देते, और फिर किसी कुल्हाड़, खलियान, या बग़ीचेमें अँगोछेसे घुटने और कमरको बाँधे

---

[1] वैशाख कृष्ण अष्टमी रविवार संवत् १९५० विक्रमी।

[2] नानाके बारेमें पढ़ें परिशिष्ट ४

अपने शिकार और सफ़रकी गप्पें उड़ाया करते थे। खाना-पकाने आदिके अतिरिक्त ढोरोंके सानी-पानीका काम भी नानीको ही करना पड़ता था।

नानी मझोले डीलकी साधारण स्वस्थ स्त्री थीं। उनके बाल बहुतसे सफ़ेद थे, किन्तु दाँत आखिर तक नहीं टूटे। होश सँभालते ही माँको 'माँ' कहते सुन मैं भी उन्हें बराबर माँ कहता। नानीकी नानापर धाक थी, यह तो नहीं कहा जा सकता, किन्तु दोनोंमें कभी झगड़ा होते मैंने नहीं देखा। उनकी बातको नाना बहुत मानते थे, और घरके कारबार में नानीका एक छत्र राज्य था। वह गप-शपमें बहुत कम रहा करतीं। घरके छोटे-बड़े कामके सिवा, गाने-बजाने या मेला-तमाशा देखनेमें उनकी रुचि न थी। दो घंटे रात ही वह जग उठतीं, और अपने दो-तीन पेटंट भजनोंको बिना सुर-तानके भक्तिभावनासे गातीं। इन भजनोंमें एक था 'गुरु मोके दे गइलें ग्यान-गुदरिया।' मैं बराबर नानीके पास सोया करता था। दूध छोड़नेके बाद हीसे माँसे मैं अलग कर लिया गया था, और वस्तुत: नानीमें मेरा जितना स्नेह था, उतना माँमें नहीं। माँके उपकारोंको, आखिर, मैंने देखा ही क्या था? पव फटते ही नानी घरके काम-काजमें जो लगतीं, तो रातके दस-ग्यारह बजे उन्हें सोनेकी फ़ुर्सत होती। गप-शप न करनेका मतलब यह नहीं था, कि नानी रूखी थीं। उनका दिल अत्यन्त कोमल था। पशु और पक्षी तक उनके वात्सल्यसे वंचित न थे। नानाको पैतृक तीन घरका आँगन मिला था, जिसे उन्होंने बढ़ाकर पौने तीन आँगनके नौ घरोंमें परिणत कर दिया था। सबसे बाहरका आँगन या 'द्वार' बहुत बड़ा था। यहाँ बीचमें नानाका लाया एक पत्थरका कोल्हू गड़ा था। उत्तर तरफ़ उनके बड़े भाईका घर था। पूर्वमें नानाके खुदवाये पक्के कुयेंके अतिरिक्त एक घर भी था। दक्षिण तरफ़के दो घरोंमेंसे एक बैठकका काम देता था, और ईंटकी दीवारोंका बना था। नानीको सगे-सम्बन्धियोंकी मेहमानदारी हीमें उत्साह न था, बल्कि अवसर राह चलते पथिक और भिखमंगे भी उनके आतिथ्यके अधिकारी होते थे।

जीवनके आरम्भिक पाँच वर्षोंमें नानीने मेरा पोषण ही नहीं निर्माण भी किया।

पिता गोवर्धन पांडे[1]को दस-बारह वर्षकी आयुमें जाकर मुझे जाननेका मौक़ा मिला। सालमें सप्ताह डेढ़ सप्ताहके लिए पन्दहासे कनैला जानेपर, मैं उन्हें दूरसे देख

---

[1] देखें परिशिष्ट ५

भर लेता था। उनका रंग काले तक पहुँच गया गहरा साँवला था, क़द छः फ़ीटसे कम नहीं था। शरीर दुबला-पतला किन्तु स्वस्थ। वे बहुत कम बीमार पड़ते थे। दुबला-पतला होनेका कारण भी अधिकतर खानेकी अव्यवस्था और पूजा-पाठका कड़ा नियम था। बिना स्नान-पूजाके वे जल तक नहीं पीते थे। फिर पीछे कचहरीके मुक़दमोंके समय तो कितनी ही बार चार-पाँच बजे शामको उन्हें नाश्ता करनेकी नौबत आती। नाक वह ज़रूर दबाया करते थे, किन्तु सन्ध्या उन्हें आती थी इसमें सन्देह है। सन्ध्याको हमारे गाँवोंमें संस्कृतके पंडितोंकी चीज़ समझा जाता था, और हमारे पिता संस्कृतके पंडित न थे। उनके पाठमें हनूमान-वाहुक और रामायण शामिल थे। नहानेके बाद बेलपत्रके साथ जल शंकरकी पिंडी—कनेलामें इसकी जगह किसी पहाड़ी नदीसे निकाल लाये चार-छै चिकने पत्थर एक पुराने पीपलकी जड़में रखे हुए थे—पर चढ़ाते। फिर गुड़-घी और देवदारकी लकड़ीकी बनी धूपकी अगियारी देकर वे अपना पाठ शुरू करते। पूजाके कड़े नियमोंके कारण गाँववाले उन्हें 'पुजारी' कहते थे। आगे चलकर उन्होंने हजामत गंगातटपर बनवानेका भी नियम कर लिया था, जिसके कारण कभी-कभी तीन-तीन चार-चार मास तक उनके बाल बढ़े रहते। वे बड़े प्रतिभाशाली थे। उन्हें सिर्फ़ एक महीने किसी भूले-भटके मुंशीसे क-ख सीखनेका मौक़ा मिला था, किन्तु न जाने कैसे उन्होंने रामायण ही नहीं, भिन्न, गुणा-भाग, सूद और पैमाइशके हिसाबको भी सीख डाला था। पक्के आस्तिक होते हुए भी 'बाबा वाक्यं प्रमाणं' की अवहेलना करनेमें भी वे समर्थ थे। ब्राह्मणोंके नियमके विरुद्ध वे अपने हरवाहे निस्सन्तान चिनगी चमारको मरनेपर गंगातीर जलानेके लिए ले गये। पुरानी प्रथाके विरुद्ध नये कुयेंको बनवानेके लिए विचित्र लम्बाई-चौड़ाईकी ईंटें उन्होंने खास तौरसे तैयार करवाईं, और प्रचलित प्रथाके विरुद्ध कूयेंको नीचे चौड़ा ऊपर संकीर्ण करते हुए बनवाया। साधु-सन्तोंमें श्रद्धा रखते हुए भी गँजेड़ियों-भँगेड़ियोंमें वे वीतश्रद्ध थे।

माँ शरीरके आकार-प्राकारमें अपने पितासे सादृश्य रखती थीं। वैसाही लम्बा क़द, वैसा ही हृष्ट-पुष्ट शरीर, रंग गोरा, दो बारके प्रसूत ज्वरकी बीमारियों—जिनमें आखिरीके कारण ही उनकी मृत्यु हुई—को छोड़कर उनका शरीर स्वस्थ रहता था। उनके स्वभावके बारेमें जानकारी प्राप्त करनेका मुझे साक्षात् अवसर नहीं था। अपनी माँकी तरह वह झगड़े-झंझटसे दूर रहती थीं, यह तो इसीसे सिद्ध है, कि सारे गाँवमें सबसे अधिक रूखी और कड़े मिज़ाजकी सास रखनेपर भी उनके साथ झगड़ा होते नहीं देखा गया। गीत और भजन उन्हें याद थे या नहीं यह

तो नहीं कह सकता, किन्तु इतना अवश्य मालूम है, कि जिस साल वह गोधन और उसके बादके दिनोंमें पन्दहा रहतीं, तो गोबरकी "पिंडियाँ" हमारे ही घरमें लगती, और माँकी सखी-सहेलियाँ वहीं 'पिंडिया-अगोरने' आतीं। दीवालीके दूसरे दिन गोधन मनाया जाता। मुझे उस दिन अफ़सोस रहता;—माँके रहतेका तो स्मरण नहीं, सिर्फ़ नानीके रहनेपर हमारा घर गोधनमें शामिल नहीं होता था, जिसके कारण गोधनमें चढ़नेवाली चीनीकी कुल्हिया, और मिठाइयोंसे मैं वंचित रह जाता था। हाँ, एकाध बार माँके रहते समय 'पिंडिया-अगोरने'की मधुर स्मृति मुझे अब भी याद है। "अगोरने"वाली सभी तरुण स्त्रियाँ होतीं। उनके साथ उनके छोटे बच्चे भी रहते। कोदोका पुआल ज़मीनपर बिछा रहता, जिसपर कोई लम्बा चौड़ा बिछौना होता। सिरहाने सिंदूरसे टीकी छोटी-छोटी गोबरकी पिंडियाँ दीवार-पर चिपकी रहतीं। एक छोटासा तेलका दिया जलता। आधी-आधी रात तक माँ और उनकी सखियाँ गीत गातीं। हम लड़कोंको उनकी गीतोंसे कोई ख़ास प्रेम न था, हाँ गुड़के मीठे 'ठकुये' (मीठी पूड़ियाँ) हमें बहुत प्रिय थे, जिन्हें खाते-खाते हम सो जाते। उन गीतोंमेंसे किन्हींका आरम्भ माँकी ओरसे होता था, इसका भी मुझे पता नहीं। हाँ, सबेरे के वक़्त एक या अनेक पद्यमय कहानियों—जिन्हें पिंडिया-अगोरनेवाली स्त्रियोंको धर्मके भयसे सुनना पड़ता है—के सुनानेका काम मैंने माँको करते देखा। मेरी चचेरी मौसी जब पानी-बर्तनके कामोंमें बहुत व्यस्त रहतीं, तो वह अपनी मुँदरी रख जातीं। माँ औरोंके साथ उसे भी कहानी सुनातीं—उपस्थित सखियाँ कानसे उसे सुनतीं, और मौसीकी अनुपस्थितिमें उनकी मुँदरी सारी कहानी सुन लेती; जिसे मौसी अँगुलीमें पहन कर सुननेकी भागिनी बन जातीं। इन कहानियोंमें 'चेरिया' 'चेरिया' (क्रीतदासी) का शब्द बहुत आता था, जो बत-लाता था कि वह दासत्वप्रथाके युगकी कोई पुरानी कहानियाँ रही होंगी।

मेरे नाना-नानी दीर्घजीवी, स्वस्थ और पैतृक रोगशून्य व्यक्ति थे। मेरे पिता-माता स्वस्थ और पैतृक रोगशून्य होते भी दीर्घजीवी व्यक्ति न थे। माँकी मृत्यु २८-२९की आयुमें और पिताकी ४५-४६में हुई। मेरी दादी ('आजी') दीर्घजी-विनी रहीं, किन्तु दादा ४० सालसे पहिले मर गये। मेरे पिताका वंश कई पीढ़ियोंसे मज़बूत, लम्बे क़द्दावर जवानोंको पैदा करनेके लिए मशहूर रहा। नानाके वंशके बारेमें कोई वैसी बात तो नहीं सुनी, किन्तु जहाँ तक नाना उनके पिता और भाइयोंका सम्बन्ध है, वे भी मज़बूत और लम्बे-चौड़े लोग थे।

२

प्रथम स्मृति

(१८९६-९७ ई०)

सबसे पुरानी स्मृति मुझे सन् ४ (१३०४ फ़सली या १८९७ ई०)के अकालसे पहिले ले जाती है। पन्दहामें इस अकालका क्या असर पड़ा, यह मुझे याद नहीं। कनैला (पिताके गाँव)के लोगोंपर क्या-क्या बीती, इसका भी साक्षात् स्मरण तो नहीं है, हाँ अकालके पहिले जीता भरके टोलेमें ५०, ६० व्यक्तियोंके ६, ७ घर थे। उन सजीव घरोंको मैंने देखा था, उनके छोटे-छोटे लड़कोंको घरके सूअरके बच्चोंके पीछे दौड़नेकी भी याद ताज़ी है। सन् ४ के भीषण अकालमें ये सभी लोग घर छोड़कर आसाम और दूसरी जगहोंमें भाग गये। वर्षों तक इन झोपड़ोंकी दीवारें खड़ी थीं। उनके नीम, महुआ और ताड़के वृक्षोंपर उनके ज़मींदारोंने क़ब्ज़ा कर लिया।—जीताके पुत्र टिभोलू वर्षों बाद गाँव लौट आये। टोलेके उजाड़ होनेके थोड़े ही दिनों बाद उन्हीं खंडहरोंके पाससे खोदकर मेरे लिए मेरे चचेरे चचा बिरजू खड़िया (सड़े कंकड़ी) खोदकर लाते थे।

उसी अकाल या उसके बादके सालकी बात है, हमारे अँधेरे घरके एक कोनेमें दो काँसेकी नई थालियाँ पड़ी थीं। मैंने उसे छू दिया। माँ या बुआ गुस्सा हुईं और मेरा हाथ धुलवाया। मालूम हुआ, अकालमें अपनी थालियोंको किसी चमारने कुछ सेर अनाजके लिए गिरवीं रखा था।

उन्हीं पुरानी स्मृतियोंमें है—एक दिन मैं माँके साथ ननिहालसे कनैला आ रहा था। चलते वक़्त आसमान ठीक था, किन्तु रास्तेमें पानी बरसने लगा। मैं किसीकी गोदमें था। मेरे हाथमें गुड़में गुँधे सत्तूकी पिंडी थी। पानीसे पिंडी भीग गई थी, किन्तु उस पिंडीको बड़े यत्नसे मैंने हाथमें दबा रखा था। हमारे परिवार जैसी स्थितिकी बहुयें एक या दो बार ही पालकीपर पीहर—नैहर जाती आती हैं, बादमें वह लाल चादर ओढ़े घूँघट किये पैदल ही आती-जाती हैं। मेरी माँ वैसी ही लाल चादर ओढ़े १० मीलका रास्ता तय कर रही थीं। वर्षा शायद सारे रास्ते भर नहीं रही।

अकालके वक़्त पन्दहा या कनैलाके लोग भूखसे कैसे मर रहे थे? पशुओंका

चारे बिना क्या हाल था ? सारी पृथिवी और वनस्पति कैसी झुलसी हुई थी ? इन बातोंका मुझे बिल्कुल स्मरण नहीं, यद्यपि उस वक़्त मैं चार वर्षसे ऊपर हो रहा था, किन्तु अकालके बाद (१८९८ ई०)वाली बरसातका आरम्भ मुझे अच्छी तरह याद है। मैं उसी समय कनैलासे पन्दहा लाया गया था। जहाँ कनैलाके बस्तीके आसपास वृक्ष-वनस्पति शून्य विस्तृत ऊसर था, वहाँ पन्दहा चारों ओर वृक्षों और बाँसकी झाड़ियोंसे ढँका था। किन्तु उस दिन तो मालूम होता था, उस असाधारण हरियालीने अपनी छायामें अन्धकारको छिपा रखा है।

अकालका प्रभाव हमारे नाना और पिता दोनोंके घरोंपर नहीं पड़ा। पिताके पास दस-बारह एकड़ खेत थे, और नानासे भी उनकी अवस्था अच्छी थी। दोनों ही घरोंमें आमदनीसे ख़र्च बढ़ा हुआ नहीं था। बल्कि यदि मैं ग़ल्ती नहीं करता, तो इसी अकालके समय अनाजके मँहगे भावसे लाभ उठाकर पिताने पहिली पूँजी जमा की, जो बढ़ते-बढ़ते चार-पाँच हज़ार तक पहुँच गई।

२

अक्षरारंभ

(१८९८ ई०)

होश सँभालनेसे पहिले चाहे माँके साथ अक्सर कनैला रहनेका मौक़ा मिलता रहा हो, किन्तु, बादमें तो नानाके यहाँ ही मेरा स्थायी वास रहा। ननिहालके मेरे जैसे नाती शोख हो जाते हैं, लेकिन मेरी शोख़ीकी कभी किसीको शिकायत नहीं हुई। पन्दहाके मैं अच्छे लड़कोंमें समझा जाता था। नानीका स्नेह तो ख़ैर अद्वितीय था ही, नानाका प्यार भी कम न था, किन्तु साथ ही नाना—पल्टनिहा सिपाही—कड़े अनुशासनको पसन्द करते थे। सिवाय एक बार—सो भी बहुत कुछ दिख-लाऊ—कभी उन्होंने एक थप्पड़ भी मुझे नहीं मारा; किन्तु, नानाकी डपट मेरे लिए पचास लाठीके चोटसे कमकी न थी। नाना खेल-कूदके भी ख़िलाफ़ थे। दरख़्तपर चढ़ना उन्हींके कारण ज़िन्दगी भर मुझे नहीं आया। उनकी चलती तो मुझे तैरना भी नहीं आता, किन्तु ननिहालकी पोखरीमें एक बार डूबनेसे बचकर कनैलामें मैंने उसे सीख लिया। नानाने अपनी जानभर मेरे लिए ज़िन्दगीको जेलख़ाना बना दिया था।

लड़कपनके साथियोंमें दो हीका मुझे स्मरण है, जो दोनों ही मेरे समवयस्क थे—एक नानाके छोटे भाईके लड़के नरसिंह, और दूसरा ग़रीब सतमीका[1] लड़का मद्धू। क़दमें लम्बा होते भी लड़कपनमें मैं बहुत दुबला-पतला और अपेक्षाकृत कमज़ोर भी था। कमज़ोरीका कारण तो शायद नानाकी अत्यधिक सावधानी थी, जिसके मारे मुझे शारीरिक परिश्रमवाले किसी खेलका मौक़ा नहीं मिलता था। बरसात-का आदि या अन्त था, गड्ढोंमें पानी भरा हुआ था। स्मरण नहीं कौन लड़का खेलते समय मेरे धक्के या अपनी असावधानीसे एक छोटे गड़हेमें गिर गया। पासके किसी आदमीने दौड़कर उसे निकाला।

मैं बेक़सूर था, किन्तु नानाने समझा, मैंने जानबूझकर शरारत की। उसी वक़्त नानीसे सलाह ठहरी—बच्चेको पाठशालामें बैठा दिया जाये। पन्दहासे रानीकी-सरायका मद्रसा एक ही मील है, इसलिए नानीको दूरी की शिकायत नहीं हो सकती थी। अकेलेके लिए नानाने मद्धूको साथी देनेकी बात कही। दोपहरको भूख लगनेकी बात कहनेपर उन्होंने अध्यापक मुंशी महावीरसिंहसे (?) अपने चौकेमें खाना खिला देनेकी बात तै कर ली। उमर थोड़ी है, क्या पढ़ैगा—कहनेपर, नानाका जवाब था—बैठना तो सीखैगा। नानीको भी पाठशाला भेजनेकी बात माननी पड़ी।

शुभ मुहूर्त देखकर (शायद १८९८ ई० नवम्बरको) एक दिन रामदीन मामा[2]के साथ मुझे रानीकीसराय भेज दिया गया। नानाकी धारणा थी कि हिन्दीसे उर्दूकी क़दर अधिक है। उनके एक फुफेरे भाई मुंसिफ़ होकर जवानी हीमें मर गये थे। मेरे लिए भी नानाकी नज़रमें वैसी ही कोई सरकारी नौकरी थी। उर्दू पढ़ाकर आज़मगढ़के मिशन-स्कूलमें अँग्रेज़ी पढ़ानेका उनका इरादा था। ख़ैर, वह अपने इरादेमें कैसे असफल रहे, यह आगेकी बात है। जाड़ोंके दिन थे। रानीकीसरायके मद्रसेके हातेमें—जो कि एक कच्ची चहारदीवारीसे घिरा हुआ था—गेंदेके फूल खिले हुए थे। वहीं धूपमें टाटपर मैं बैठा रहता था। मद्धू भी मेरे पास बैठा होता। नहीं याद, हम कैसे अपना दिन काटते थे। नानाकी बात दुरुस्त थी, मैं वहाँ बैठना ही सीख रहा था।

शायद बहुत दिनों तक मैं रानीकीसराय नहीं जा सका। बा० महावीर (या

---

[1] देखो "सतमीके बच्चे।"

[2] नानाके बड़े भाई शिवनन्दन पाठकके कनिष्ठ पुत्र। देखो परि० ४

भगवान्) सिंह अपने घरके किसी मारपीटमें शामिल हुए। उनको सज़ा हो गई। मद्रसा बन्द हो गया।

उसके बाद मैं कहाँ रहा, क्या क़रता रहा,—इसपर स्मृति प्रकाश नहीं डालती। हाँ, १८९९के अन्तमें फिर रानीकीसरायके मद्रसेमें दाख़िल होनेसे पहिले एक बार कनैलासे बडौरा गया था। गाँवके ७, ८ लड़के वहाँ पढ़ने जाते थे, मैं शायद सबसे छोटा था। मेरी आयुसे कुछ ही बड़े चचा बिरजूका मुझसे बहुत प्रेम था। बडौरामें उर्दू नहीं मुझे हिन्दीका क-ख शुरू कराया गया। बिरजू खड़ियाकी स्याही बनाकर मुझे सिखलाते। गाँवके जयकरण अहीरकी एक टूँडी गायसे गाँवके सारे बच्चे बहुत डरते थे। वह दौड़कर हमला करती थी। सबेरे दिन चढ़े हमारा झुंड बडौरा जा रहा था। उत्तर तरफ़के ऊसरकी गायोंमें टूँडी गाय भी है—इसे हममेंसे कइयोंको पता न था। टूँडी दौड़ी, हम लोग जिधर-तिधर भाग निकले। मेरे भय और आश्चर्यका ठिकाना न था, जब कि मैंने टूँडीसे चार क़दमपर ही, भागनेकी जगह बिरजूको अपनी नई पीली धोतीकी लुंडी लिये बैठ जाते देखा। टूँडी बिरजूकी ओर ध्यान न दे हम लोगोंकी ओर लपकी, लेकिन हम लोग उसकी पहुँचसे बाहर हो चुके थे। बिरजू मुस्कुराते हुए हमसे आ मिले। पूछनेपर कहा—बैठे हुए आदमीको गाय-बैल नहीं मारते। प्रत्यक्षके बारेमें सन्देह की गुंजायश कहाँ? तो भी इसका तजर्बा करनेके लिए मुझे तो किसी टूँडीके सामने जानेकी कभी हिम्मत न हुई।

बडौरामें शायद एकाध ही मास मैं पढ़ पाया। कौन अध्यापक थे, उनकी सूरत तकका मुझे स्मरण नहीं। इतना याद है, कि वर्ण-परिचयकी जो पुस्तक हमारे साथियोंके हाथमें थी, वह खड्गविलास-प्रेसकी छपी, खड़ी सरस्वतीकी तस्वीरवाली थी। बडौरा और वर्णमालाके दिनोंकी सबसे तीक्ष्ण स्मृति बिरजूकी है। बिरजू हमारे पिताके चचेरे चचाके पुत्र थे—यह कहनेमें तो दूरका सम्बन्ध मालूम होगा, किन्तु वस्तुतः यह बात न थी। मेरे पितामह जानकी पांडेके उनके तीन चचेरे भाई—जिनमें बिरजूके पिता महादेव सबसे छोटे और जानकी पांडेके बहुत प्रेमपात्र थे—सगे भाईसे थे। सारा परिवार एक साथ रहता था। सम्मिलित-परिवारके दिनों हीमें मेरा और बिरजूका जन्म हुआ था। यदि पितामह जीते होते या पितामहीका स्वभाव अत्यन्त कर्कश न होता, तो अब भी हमारा परिवार साथ रहता। —परिवारोंकी अलगाबिलगी अत्यन्त बचपनसे ही मुझे अप्रिय मालूम होती थी। ख़ैर, टूँडीके संग्रामका वीर बिरजू, मेरे लिए दुद्धी (=खड़िया) खोद-लाकर अक्षर सिखलानेवाला बिरजू मेरी श्रद्धा और प्रेम दोनोंका भाजन था। १९०० (?)में

कनैलामें ज़ोरका हैज़ा आया। मैं भी उस वक़्त वहीं था। हमारे घर भरके स्त्री-पुरुष बीमार पड़े। हमें कपूरका पानी पीनेको मिलता था। भगवतीकी मिन्नतपर मिन्नत मानी जा रही थी। मालूम नहीं घर भरमें कोई बीमारीसे अछूता भी रहा या नहीं। हमारे घरमें कोई नहीं मरा; किन्तु बिरजूका परिचित चेहरा उसके बाद फिर न देख पानेका मुझे बहुत अफ़सोस रहा।

हैज़ेसे उठनेके बाद पुराने चावलका भात और इम्लीकी चटनीका पथ्य मुझे बहुत मधुर मालूम होता था।

× × ×

१८९९ ई०के अन्तके जाड़ोंमें मैं फिर पन्दहामें था, और अब मद्धू नहीं नये सहपाठी दलसिंगारके साथ रानीकीसरायकी पाठशालामें भरती हुआ। नये अध्यापक बा० द्वारिकाप्रसादसिंह नाटे और गठीले बदनके तरुण थे। वह हमारी कापियोंपर अपना हस्ताक्षर अंग्रेज़ीमें किया करते थे। अंग्रेज़ी एकाध किताब पढ़े हुए थे यह तो मुझे नहीं मालूम, किन्तु वह नार्मल पास थे। गोरखपुर—शहर—में रहनेका उनपर काफ़ी असर था। वह बात-चीत और पोशाकमें काफ़ी नागरिक मालूम होते थे। उनके कपड़े—कोट, क़मीज़ और धोती हमेशा साफ़ उजले रहा करते थे। कसरत करते थे या नहीं, यह तो स्मरण नहीं; किन्तु शामको पाखानेके लिये लोटा लिये वह दूर तक टहलने जाते थे। उस वक़्त 'छड़ी बिना विद्या नहीं आती' यह सर्वमान्य **शिक्षा-सिद्धान्त** था, किन्तु मुझे जहाँ तक स्मरण है, द्वारिकासिंह बहुत ज़्यादा मारते-पीटते नहीं थे; तो भी हम विद्यार्थियोंपर उनका काफ़ी रोब था। पान खाते और सीटी बजाते हुए चलनेका उन्हें बड़ा शौक़ था। उन्होंने किसीसे एक विलायती कुत्तीको लेकर पाला। न जाने कैसे उसकी कमर टूट गई, और महीनों हमारे अध्यापक मेहतर लगा सूअरके तेलसे उसकी मालिश कराते रहे।

उस वक़्त रानीकीसराय बहुत छोटीसी बस्ती थी। अभी रेल नहीं पहुँची थी, और न मारवाड़ियों तथा दूसरे व्यापारियोंकी दूकानें आ पाई थीं। आज़मगढ़से जौनपुर और बनारसकी ओर जानेवाली पक्की सड़क तथा घोड़ेगाड़ी (=सिकड़म्)पर चलनेवाली डाकके रास्तेपर होनेके कारण यह स्थान कुछ महत्त्व तो जरूर रखता था. और शायद कुछ दिन पहिले चीनीके कारखाने भी यहाँ चल रहे थे; किन्तु मेरे आरम्भिक दिनोंमें वहाँ हलवाइयोंकी पाँच-सात दूकानें थीं, जिनमें दोको छोड़कर बाक़ी जगह गट्टा और गुड़के लड्डुआ ही मिलते थे। पाँच-सात दूकानोंमें लवंग-हलदी-रंगके साथ कपड़े भी बिका करते थे। उस वक़्त तक अभी सिलाईकी कल वहाँ नहीं पहुँच

पाई थी। नाना मेरा कुर्ता अपने खान्दानी दर्ज़ी बसईके बूढ़े सलीमसे सिलवाया करते थे, किन्तु एक दिन देखा, मुझे वे कपड़ा नपवानेके लिए सरायमें ले जा रहे हैं। वहाँ एक दुबले-पतले सफ़ेदपोश मियाँ रहते थे, जो हड्डीकी ख़रीदके मुंशी थे। घरमें सख़्त पर्दा था। दर्वाज़ेपर बोरियेका पल्ला लटक रहा था। ग़रीबीके कारण बीवी सिलाईका भी काम कर लिया करती थीं। हाँ, यह सराय मेंहनगरके राजाकी रानीने बनवाया था, जिसके ही कारण बस्तीका नाम रानीकीसराय पड़ा था। हमारा मद्रसा उन्हीं रानीके बनवाये पोखरे रानीसागरके कोनेपर बना हुआ था। मेंहनगरके राजा गौतम राजपूत पहिले हिन्दू थे, पीछे वे मुसल्मान हो गये, और उसी समय या उसके बाद वे मेंहनगर छोड़ आज़मगढ़में चले आये।

सरायका बड़ा दर्वाज़ा और कितनी ही कोठरियाँ उस समय भी मौजूद थीं, यद्यपि बेमरम्मतीका असर उनपर दिखलाई पड़ रहा था। फाटककी अगल-बगलके कोठेवाली कोठरियोंमें कबूतरोंने डेरा डाला था, जहाँ और लड़कोंके साथ मैं भी कभी-कभी कबूतर पकड़ने गया था। सरायमें एक पगली भटियारिन रहती थी, जो हमको देखकर बड़बड़ाया करती। डाककी घोड़ागाड़ीके अतिरिक्त रानीकी-सरायकी सड़कपर भाड़ेकी ऊँटगाड़ियाँ भी चला करती थीं। बाज़ारमें पुराने क़िस्मके कुछ इक्के भी थे।——यह सब रेल आनेसे पहिलेकी बात है।

दलसिंगार रिश्तेमें मेरे नाना लगते थे, किन्तु समवयस्कोंमें सिर्फ़ भाईका ही रिश्ता चल सकता है। हम दोनोंमें बहुत प्रेम था, शायद इसका कारण दोनोंका झगड़ाऊ स्वभावका न होना रहा होगा। सबेरे बासी खाना खाकर घंटा दिन चढ़नेसे पहिले ही हम मद्रसा पहुँच जाते थे। दोपहरके खानेके लिए भुना दाना या गुड़-मिला सत्तू हमारे अँगोछेमें बँधा रहता, जिसे रानीकीसरायके बन्दरोंकी भारी पल्टनसे बचाना आसान काम न था; रानीसागरके भिंडेपर अक्सर वे पड़े रहते, और हमारा रास्ता भी उधरसे ही था। रानीसागरके एक तरफ़ ईंटका पक्का घाट था, जो अब बहुत जगह टूट-फूट रहा था, पास हीमें महावीरजीका मन्दिर था। बन्दरोंको महावीरजीकी सेना सुनते-सुनते हम समझते थे, कि इसी मन्दिरके कारण बन्दर यहाँ रहा करते हैं। लाल मुँहवाले बन्दर बड़े शरारती होते हैं, खासकर लड़कोंके साथ। एक दिन हम दोनों तालाबके दक्खिनवाले किनारेसे जा रहे थे——शायद उत्तरवाले किनारे-पर महावीरकी सेनासे जान बचानेके लिए। किसी नटखट लड़केने भिंडेके रीढ़-पर——हमारी आँखोंसे ओझल——बैठे बन्दरोंपर ढेला चलाया। हमने उस लड़केको देखा भी नहीं, और बातकी बातमें दर्जनों बन्दर खाँव-खाँव करते हमारे ऊपर चढ़

दौड़े । दलसिंगार किसी तरफ़ भागे । मैं भागता धूप लेती एक बुढ़ियाके पीछे जा छिपा । बुढ़िया न होती तो बन्दरोंने मेरी गत बना दी होती ।

हिन्दीवाले लड़कोंको वर्णमाला धरतीपर मिट्टीमें लिखकर सीखना होता था, किन्तु हम उर्दूवाले लड़कोंको शुरू हीसे सफ़ेद पट्टीपर गेहूँ या चावलके शीरेकी स्याहीसे लिखना पड़ता । पहाड़ा सबके साथ ही ज़ोर-ज़ोरसे चिल्लाकर दुहराना पड़ता । दोपहरको खानेके लिए छुट्टी होती—जाड़ोंमें एक ही घंटेके लिए, किन्तु गर्मियोंमें वह तीन घंटे या ज़्यादाकी होती, और हम खाना खाने घर चले आया करते । जाड़ोंमें रानीसागरके घाट या महावीरजीके मन्दिरके पास हम अपना सत्तू-भूजा खाने जाते । बन्दरोंका खतरा था, किन्तु इस वक़्त हम भी एक-डेढ़ दर्जन लड़के एक साथ रहते ।

१८६६के अन्तमें मैं गया ही था, इसलिए उस साल 'जुज़ बे' (प्रारम्भिक श्रेणी) पास करनेकी बात ही क्या होती; हाँ, अगले साल मैं और दलसिंगार दोनों 'बे' पास हुए । उस वक़्त प्राइमरी स्कूलोंकी वार्षिक परीक्षायें दिसम्बरके महीनेमें हुआ करतीं, और नये सन्के साथ हमें नई किताबें मिला करतीं ।

४

दो साथी

(१९०१–२ ई०)

आयुमें दलसिंगार मुझसे ज़रासा बड़े थे, किन्तु क़दमें मैं उनसे बड़ा था । नानाके लाड़-प्यार तथा खेल-कूदसे वंचित रखनेने मुझे जहाँ निर्बल बना दिया था, वहाँ दलसिंगार उस आठ-नौ वर्षकी उम्रमें भी शिरपर टोकरी ढोने तथा दूसरे छोटे-मोटे कामोंके कारण मुझसे अधिक मज़बूत थे । सबेरे जो पहिले नाश्ता कर चुकता वह दूसरेके घर लिवाने पहुँचता । दलसिंगारके घर यदि मुझे जाना पड़ता, तो हम दोनों पाससे गुज़रती निज़ामाबादवाली कच्ची सड़कसे जाते । दलसिंगारको जब मेरे घर आना पड़ता, तो हम पगडंडीका सीधा रास्ता पकड़ते । सबेरेके वक़्त तो कोई बात न थी, किन्तु शामको घर लौटते अक्सर देर हो जाती । पाठशालासे छुट्टीमें उतनी देर न होती, किन्तु रास्तेमें हम लोग गिल्ली-डंडा या दूसरे खेल खेलने लगते, जिसमें देर हो जाती । लौटते थे अक्सर हम सड़कके रास्ते, क्योंकि वह दलसिंगारके

लिए सीधा था, दूसरे पगडंडीवाला रास्ता जंगलके भूतहे पोखरेके पाससे गुज़रता था। इस निर्जन तालाबपर दिन-दोपहरको भूत नाचा करते और अकेले-दुकेले सयाने भी उधरसे गुज़रनेकी हिम्मत न करते थे। सवेरेके वक़्त उधर गायों और चरवाहोंके रहनेके कारण हमें भी हिम्मत रहती, किन्तु शामको किस बिरतेपर उधरसे गुज़रते ? जब मैं नानीके साथ उधरसे जाता तो, पास पहुँचनेपर वह बड़ी श्रद्धा-भक्तिके साथ 'जै ठैयाँ-भुइयाँके बाबा साहेब ! जहाँ रहै बाल-गोपालको नीके बनाये राखा' कहकर प्रार्थना करतीं। हम भी 'बाबा साहेब'को मना लिया करते, लेकिन दिलको पूरा भरोसा न होता। वैसे सड़कके रास्तेपर भी 'ठूँठे' पीपरके 'बाबा साहेब' थे, किन्तु एक तो सड़क थी, दूसरे 'बाबा' अकेले थे और हम दो। हम लोगोंने यह भी सोच रखा था, कि यदि 'बाबा' प्रकट हुए तो झट मामा कह बैठेंगे, फिर 'बाबा' भाँजेपर हाथ छोड़नेका साहस थोड़ा ही करेंगे ?

सावनमें गाँवमें कई जगह वृक्षोंपर झूले पड़ते थे, जिनपर रातको गाँवकी बहुयें तथा दूसरी तरुण कन्यायें झूला झूलतीं, कजरी गातीं। हम लड़कोंके झूले दिन भर चलते रहते। उस वक़्त मेरे साथी और साथिनें सुनी-वुनी कजरीके एकाध पद गाते। 'रुन-झुन खोला हो केवड़िया, हम बिदेसवाँ जइबै न'। यह पद मुझे बहुत प्रिय था, किन्तु इसके पिछले भागका ही मुझे अर्थ मालूम था।

बरसातमें कबड्डी और जाड़ेमें दूसरे खेल गाँवके लड़के भी खेला करते, लेकिन नानाके डरके मारे मैं अपना खेल पहिले ही ख़तम कर आता। खाते-पीते घरका लड़का प्रकट करनेके लिए एक दिन नानाने मेरे हाथों-पैरोंमें चाँदीके मोटे-मोटे कड़े और कानोंमें सोनेकी बालियाँ डलवा दीं—ज़ेवरके पीछे लड़कोंकी मौतकी बहुतसी कहानियाँ उन्हें भी मालूम थीं, किन्तु रवाजको कौन तोड़ता ? एक दिन—शायद उस दिन नाना गाँवपर नहीं थे—हम दोनोंने गाँवकी कबड्डीमें भाग लिया। संयोगसे हम दोनों दो पक्षमें बँट गये। कबड्डी पढ़ाते वक़्त दलसिंगारने मुझे पकड़ना चाहा। उसी समय दलसिंगारके सामनेके एक दाँतसे मेरे हाथका कड़ा इतने ज़ोरसे लगा, कि दाँतका एक नोक टूटकर गिर गया। ख़ैरियत यही हुई, कि उनका ओठ खुला रहनेसे बच गया। दलसिंगारको ज़रा भी ग़ुस्सा नहीं आया। मैं सहम गया। दलसिंगारका वह टूटा दाँत स्थायी चिह्नसा बन गया था।

पन्दहाकी ओरसे जानेवाले लड़कोंकी संख्या कुछ बढ़ी भी, यद्यपि पन्दहा ख़ाससे मैं और दलसिंगार दो ही जाते थे। गाँवके दक्षिण तरफ़ पोखरियों और गड़हियोंका एक संघ था, जो बसई और दूसरे गाँवों तक फैला हुआ था।

पन्दहाकी चार गड़हियाँ इस संघकी सदस्या थीं, जिनमें महामाईकी पोखरी गाँववालोंके नहानेका भी काम देती थी। बसई इसी पोखरी-संघके पश्चिम तटपर बसा हुआ मुसल्मानोंका गाँव था। वहाँके क़ब्रिस्तानकी कितनी ही पक्की क़ब्रें, बतला रही थीं, कि किसी वक़्त वहाँके सैयद-परिवारोंके दिन अच्छे थे, मेरा उस समय बसईसे किसी इतिहास-गवेषककासा सम्बन्ध न था। बसईमें सैयदोंके चार और कोइरीका लड़का हीरा हमारे मद्रसेके साथी थे, हीरा तो मेरे दर्जेमें पढ़ता था, सैयद और कोइरीके अतिरिक्त बसईमें मुसल्मान दर्ज़ी, धुनिया और जुलाहोंके और बहुतसे घर थे। आसपासके कई गाँवोंमें बसईका ताज़िया मशहूर था। ताज़िया देखनेके अलावा भी हम कितनी ही बार वहाँ पहुँच जाते, बसईके पुराने खंडहरोंपर उगे शरीफ़ेके फल खाते। हमारे साथी सैयद-ज़ादोंमें दो मुझसे अधिक उम्रके थे, और दो बराबरके, उनमें दो अनवरहुसेनके लड़के और दो चचे-भतीजे उनके पड़ोसीके घरके थे। इन सैयदोंकी ज़मीन प्रायः सभी बिक-बिका चुकी थी, आश्चर्य होता था, कि इतनेपर भी वे साफ़ कुर्ता-पाजामा पहनते कहाँसे थे ? अनवर मियाँ तो घरपर ही रहते थे, किन्तु उनके पड़ोसीके घरका एक आदमी सिंहापुर-पिलाङ—हाँ पिलाङ (पिनाङ) ही लोग उच्चारण करते थे—में कोई नौकरी करता था। सैयदोंके खड़े घरोंसे खंडहरोंकी संख्या अधिक थी, और उनकी ईंटोंकी जुड़ाई, दर्वाज़ों तथा खिड़कियोंसे रहनेवालोंके अच्छे दिनोंका पता लगता था। दूसरी जातिके मुसल्मान तो सदासे बसईके बाशिन्दे हो सकते थे, किन्तु सैयद बाहरसे आये थे, इसमें तो सन्देह ही नहीं—ये सैयद शिया थे। मुसल्मानी ज़मानेमें, विशेषकर जौनपुरकी शर्क़ी बादशाहतके समय उनके पूर्वज बसईमें आकर बस गये हों तो कोई तअज्जुब नहीं। उनके घरोंमें कड़ा पर्दा था, किन्तु हम छोटे-छोटे बच्चे बिना रोक-टोक अपने साथियोंके साथ उनके घरके भीतर चले जाते थे।

मेरे नानाकी आसपासके कुछ और शिया सैयदोंसे घनिष्टता थी। अनवर मियाँके बारेमें तो नहीं कहता, किन्तु दूसरे जब हमारे घर आते तो वे अपने ही हाथसे पानी निकालकर पीते थे। हिन्दूके हाथकी—चाहे वह ब्राह्मण ही क्यों न हो—छुई कोई चीज़ वे खाते-पीते न थे। गाँववाले इस कट्टरताकी बड़ी प्रशंसा करते थे। मिर्ज़ा सलीम वकीलके कारिन्दे एक बार मेरे लिए मखमलकी फूलदार टोपी लाये थे। बचपनका संस्कार बहुत स्थायी होता है, शायद यह उस समयके कुछ शिया व्यक्तियोंका सम्पर्क ही था, जिसने मेरे दिलमें शिया-समाजके लिए एक ख़ास स्थायी

स्नेह और सन्मानका भाव पैदा कर दिया।

× × ×

नानाके यहाँके लाड़-प्यारने खानेके बारेमें भी मेरी विशेष रुचि पैदा कर दी। दालसे मुझे नफ़रत थी, क्योंकि बचपन हीसे दूध-दही, खाँड़-शीरा या मछली-तरकारी से रोटी खानेका मैं आदी था। शायद होश सँभालनेसे पहिले मैंने अपनी इस रुचिको लोगोंसे मनवा लिया था, इसलिए दाल खिलानेका कोई आग्रह न करता था। पन्दहामें धानके खेत न थे, हाँ 'साठी' धान होता था, किन्तु मुझे भातसे बहुत चिढ़ थी। मेरे जन्मसे पहिले ही नाना-नानी वैष्णव-दीक्षा, और तुलसीकी कंठी ले चुके थे, साथ ही गया-ठाकुरद्वारा भी हो आये थे। अब मछली-मांससे उन्हें कोई वास्ता न था; किन्तु मेरे लिए मछली-मांसका इन्तिज़ाम करनेमें उन्हें कोई संकोच न था। मेरा दुबला-पतला शरीर नानाको और भी इसके लिए मजबूर करता था। गाँवमें मांस तो छठे-छमासे ही मिलता जब कि गाँवके कुछ शौक़ीन लोग बकरा ख़रीद बाँटी डालते; किन्तु मछलीका मौक़ा अक्सर मिलता था। सिंही, गरई जैसी मछलियाँ जब जीती मिलतीं, तो दो-दो चार-चार सेर लेकर बैलकी सानीवाली नाँदमें पाल ली जातीं। नाँदमें पानी और मिट्टीके सिवा और कोई चीज़ डालते मैंने नहीं देखा। मैं तो समझता था, मछलियाँ मिट्टी खाती हैं और पानी पीती हैं—बस उनको और कुछ नहीं चाहिए। बहुत छुटपनमें कैसे बनतीं, यह तो मुझे याद नहीं, किन्तु होश सँभालनेपर मैं ही आँगन या गोसारमें मछली पकाता। नानी मसाला पीसकर दे देतीं, और पकानेका तरीक़ा बतलातीं। आमका मौसिम होनेपर उसे मछलीमें ज़रूर डाला जाता—आकाशके आम और पातालकी मछलीके समागमको एक पुण्यकी चीज़ समझा जाता था। जितने दिन ज़खीरा तैयार रहता, मैं दूध-तरकारीकी बात भूल जाता। आमतौरसे सबेरे दही-रोटी, दोपहरको दूध-रोटी, शामको दूध या तरकारीके साथ रोटी खानेको मिलती। दहीके साथ खाँड या चीनीसे अन्तिम बारका निकाला शीरा ('ठोपारी') ज़रूरी था। 'ठोपारी' शीरा मुझे बहुत पसन्द था। गुड़को दोबारा तावपर चढ़ानेके कारण उसमें एक प्रकारका सोंधापन होता, और साथ ही निथरकर कुछ चीनीका अंश भी उसमें मौजूद रहता। नानाने किसी कारखानेवालेको सौ-दो सौ रुपये क़र्ज़दे रखे थे, और शीरा उसीके सूदमें आया करता था।

पहिननेकी मेरी अवश्यकतायें बहुत मुख्तसर थीं। मामूली दो पतली धोतियाँ एक अँगोछा—जो पहिले-पहिल लाल-('किरौंजी') मिट्टीमें रँगे मिलते थे। और

दिनोंमें सूती कुर्ता, किन्तु जाड़ोंमें ऊनी या अर्ध-ऊनी कपड़ेका बटनदार अँगरखा होता। टोपी भुला देनेमें मैं बहुत उस्ताद था। कितनी ही बार तो गर्दनपर कुर्तेसे उसे टाँक दिया जाता था। नंगे शिर मद्रसा जाना क़ायदेके खिलाफ़ था, नहीं तो टोपी गुम होनेसे जितने अधिक मैं और घरवाले परेशान थे, उससे नंगा शिर रहना ही पसन्द आता। एक बार नानाने किसी रेशमी कपड़ेकी दुपलिया टोपी मेरे लिए सिलवाई। दो-चार दिन मैं उसे ठीक नहीं रख सका। शामको मद्रसेसे घर चलते वक़्त देखा—टोपी नदारद। नाना डाँटेंगे, इस डरके मारे पन्दहा जानेका नाम कौन ले। इधर-उधर करतें अँधेरा हो आया। मद्रसेके पास नानाका परिचित एक बढ़ई था, जो बैलगाड़ीके पहिये और दूसरा सामान बनाकर बेंचा करता था। कोई बहाना करके मैंने रातको वहीं रहना चाहा। जाड़ेका दिन, और मेरे पास बदनके कपड़ेके सिवा कोई कपड़ा न था। बढ़ई भी ग़रीब था। उसने एक बोरा दिया। शिर बाहर रख मैं उसीमें घुसकर लेट रहा। दो घंटा जाते-जाते ढूँढ़नेमें परेशान नाना वहाँ पहुँचे। पूछनेपर बढ़ईने कहा—वही तो सो रहा है। बोरेमें पड़े मुझे देखकर नानाका ग़ुस्सा न जाने कहाँ रफ़ू-चक्कर हो गया। उनके दिलकी क्या अवस्था थी, इसे तो मैं नहीं कह सकता; किन्तु जरासा ठहरकर बड़े मीठे स्वरमें उन्होंने कहा—टोपी भूल गई, तो डरनेकी क्या बात, चलो, तेरी नानी तेरे खानेके इन्तिज़ारमें रो रही है।

हम घर पहुँचे, शायद उसी वक़्त कुर्तेमें टोपीके टाँक देनेकी तजवीज़ पास हुई और कुछ दिन तक उसपर अमल भी किया गया।

गाँवके और लड़कोंकी भाँति मेरे लिए भी जूता अनावश्यक समझा जाता था। पहिले-पहिल यागेशके ब्याह (१९०४ या ५) में मेरे लिए जूता ख़रीदा गया था। जूता मेरे पैरके लिए बहुत छोटा था, किन्तु मोचीने लकड़ीके टुकड़े ठोंक-ठाँककर उसे बड़ा किया। उसके पास और कोई जूता न था, इसलिए नाना उसीको लेनेपर मजबूर थे। बारातके बीच हीमें एक जूता कहीं गुम हो गया या कुत्ता ले गया, और दूसरेको फेंककर मुझे मुफ़्तमें कई दिनों तक कटे पैरोंकी हिफ़ाजत करनी पड़ी। बरसातके दिनोंमें बद्धीदार खड़ाऊँ गाँवोंके लिए ज़रूरी चीज़ थी। वह कीचड़ हीसे नहीं बल्कि पशुओंके गोबर और पेशाबसे मिश्रित सड़े कीचड़में अधिक रहनेपर पैरकी अंगुलियोंमें हो जानेवाले घावसे भी बचाता था।

बरसातमें भी मद्रसा तो जाना ही पड़ता था। किताब शायद स्कूलमें छोड़ आते थे, क्योंकि मेरे पास कपड़ेका छाता कभी नहीं रहा। बाँसके छत्ते काफ़ी मज़बूत

और सस्ते मिलते थे, लेकिन बहुत कम ही मैं उन्हें इस्तेमाल करता था। कितनी ही बार रानीकीसरायसे भीगते ही मुझे घर आना पड़ता, किन्तु लड़कपनमें पानी-बूँदीमें भीगना कोई तकलीफ़की चीज़ न थी। हाँ बिजलीकी गड़गड़ाहट और चमकसे दिल ज़रूर दहल जाता था। ऐसे समय घरपर रहनेपर तो नानी 'हे भगवान्, तुम्हारी शरण' कहतीं, किन्तु रास्तेमें शायद मैं तो सहम ही कर रह जाता। टौंस नदी पन्दहासे दो मील उत्तर तरफ़ है, किन्तु बाढ़ आनेपर उसका पानी गाँवके सीवाने तक चला आता था। उस वक़्त गाँवके नर-नारी घर-आई 'गंगा' समझकर नहाने जाते। मेरी धारणा थी, शायद गंगाका पानी बाढ़में यहाँ चला आता है, मैं यह सोचनेकी तकलीफ़ गवारा करनेको तैयार न था, कि यह पानी तो अब यहाँसे नीचे जाकर गंगामें मिलेगा।

× × ×

१९०१के जाड़ोंमें मैं आठ वर्षका हो रहा था। मौलवी इस्माईलकी 'अलिफ़'में पढ़ाई जानेवाली किताब 'पाना-जाना-खाना' (आरंभ)से लेकर अन्त तक मुझे याद थी। दर-असल पढ़ाये जानेवाले विषय तो मेरे लिए तीन-चार महीनेके काम थे, बाक़ी तो दिन-कट्टी कराई जाती थी। कितना समयका अपव्यय था, लेकिन उस वक़्त इसका ख़्याल थोड़े ही आता था। इसे तो हम सनातन नियम समझते थे। उसी साल जाड़ोंमें पन्दहामें पैमाइशके अमीन आये। हमारे ही दर्वाजेपर उन्होंने डेरा डाला। मुझे कहानी सुननेका बड़ा शौक़ था। नानीकी कहानियाँ तो न जाने कबकी खतम हो चुकी थीं। एक बार सुनी कहानीको दूसरी बार मैं पसन्द न करता था। सतमी और उसकी लड़की सुखियाने भी अपनी कहानियोंके कोशको ख़ाली कर डाला था। जब कोई नया व्यक्ति—ख़ासकर स्त्री—रातको हमारे घर ठहरने आती, तो मुझे सबसे ज़्यादा ख़ुशी होती; मैं उससे ज़रूर एकाध कहानी सुनता। मुश्किल यह थी, जहाँ और लड़के कहानी सुनते-सुनते सो जाते, वहाँ मेरे लिए वह नींद हराम कर देती। अमीन लोगोंकी—हाँ, वह एकसे अधिक थे—पैमाइशसे न मुझे वास्ता था, और न नानाकी भाँति मुझे इसकी फ़िक्र थी, कि पैमाइशके कागजोंमें कुछ अपने अनुकूल बातें दर्ज करा ली जावें। नानाने अपने नामके साथ मेरा नाम काग़ज़पर लिखवा लिया था, जिसके लिए उनके पट्टीदारोंने उज्र किया और डिप्टी बन्दोबस्त—जो मेरे ही नामराशि कोई पंडित केदारनाथ थे—ने मेरी पीठ ठोंकते हुए नानासे कहा—नाम दर्ज कराकर क्या करोगे, ख़ूब पढ़ाओ बच्चेको। मुझे ख़्याल आता था, क्या मैं भी डिप्टी होकर इन्हींकी तरह कुर्सीपर बैठ मुक़दमेका

फ़ैसला कर सकूँगा। हाँ, तो अमीन लोगोंसे मेरा रब्त-ज़ब्त बहुत बढ़ गया, क्योंकि वे मुझे कहानियाँ सुनाया करते थे, जो ज़्यादातर किताबोंकी हुआ करतीं। इन्हीं कहानियोंमें काठके उड़न्तू घोड़ेकी भी एक कहानी थी।

दिसम्बरमें सालाना इम्तिहान हो जानेपर एक या दो सप्ताहकी छुट्टी होती, और मैं कनैला चला जाता। पन्दहामें जितना ही मैं पिंजड़ेमें बन्द रहता, कनैलामें मैं उतना ही आज़ाद। सबेरेसे पहर भर रात तक मैं खेलमें मशग़ूल रहता, घर सिर्फ़ खानेके लिए आता, और कभी-कभी किसी 'आजी' (आर्या-पितामही)के यहाँ ही वह हो जाता। सालमें एक बार आनेके कारण अपने नज़दीकके आठ घरोंके लिए मैं बहुत प्यारा लड़का था। शायद झगड़े-झंटेका स्वभाव न होना भी उसमें सहायक था। यही वक़्त था जब कि कनैलाके धान कटते थे—कनैलामें धान और रब्बीके खेत बराबर-बराबर थे। लम्बा-चौड़ा ऊसर 'हापड़' (दीहाती हाकी) खेलनेका सुन्दर क्षेत्र था और अज्ञातकालसे सैकड़ों पीढ़ियाँ जैसे वहाँ इन दिनों हापड़ खेलतीं, वैसे ही अब भी लोग खेला करते। लड़के तो खेलते ही थे, किन्तु खिचड़ी (मकर संक्रान्ति)के आसपास तो जवान और प्रौढ़ भी हापड़ खेलते थे। मैं हापड़, गिल्ली-डंडा सबमें शामिल रहता, किन्तु जिस वर्गके मत्थे मैं पड़ता, उसे घाटे हीमें रहना पड़ता। पन्दहाका सालभरका अंकुश दौड़-धूपके अयोग्य किये रहता, फिर यहाँ कौन-सा पौरुष दिखलाता। बिरजू अब नहीं थे, किन्तु दूसरे चचा कृष्णा—जिन्हें मैं 'किन्ना' कहकर पुकारता था—खेलके साथी थे। हम दोनोंकी आयु बराबर थी। उनकी तीर-कमान देख मैं भी तीर-कमान बनाता, गोंदके साथ काँटेको तीरपर चिपकाता, और दोनों चलते चिड़ियोंका "शिकार" करते। किसी चिड़ियाका शिकार किन्नाने भी कभी किया—यह मुझे याद नहीं, शायद वे तीर-कमान शिकारके लिए थे भी नहीं; किन्तु मेरा तो एक निशाना भी कभी नहीं लगता था। गाँवके पोखरे या पोखरी—जिनकी संख्या काफ़ी थी—में हम दोनों कभी-कभी मछली मारने जाते। वहाँ भी, जहाँ किन्ना जिधर हाथ डालते उधरसे ही गरई या टेंगना, अमोय या सिंही निकाल लेते, वहाँ मेरे हाथमें सिधरी (पोठिया) या झिंगा भी नहीं आता। हाँ, सिंही या टेंगनोंसे हाथ कटानेका मौक़ा मुझे कितनी ही बार मिला। मछली कोई मारे, किन्तु जब पत्तीकी आगमें उसे भुना जाता, तो हम दोनों मिलकर खाते।

कनैलामें मांस मिलनेका अक्सर मौक़ा मिलता। वहाँ मुसल्मान चूड़ीवालोंके कितने ही घर थे; वे रेह, सज्जी और मसालेसे ख़ुद चूड़ी बनाया करते थे, और अभी दीहातमें काँचकी फ़ेन्सी चूड़ियाँ न चली थीं, इसलिए उनकी बहुत माँग थी।

सभी मज़दूर-पेशा जातियोंकी भाँति हमारे चूड़ीहार 'खाये-ख़र्चे' को ही स्वारथ समझते थे। हर महीने ही उनके यहाँ एकाध बकरा काटा जाता, और मैं भी उसीमेंसे लाता। वह लोग हमारे घरसे क़र्ज़ लेते थे, इसलिए भी मुझपर विशेष ख़्याल रखते थे। घरमें अधिकतर भक्त लोग थे, इसलिए बाहरकी गोसारमें मुझे ही पकाना पड़ता।

उर्दूवालोंको पट्टीपर स्याहीसे लिखना पड़ता, किन्तु हिन्दीवाले अपनी पट्टीको कजली पोतकर सुखाते, फिर शीशेसे रगड़कर चमचम करके उसपर खड़ियाकी सफ़ेद स्याहीसे लिखते। कनैलासे मैं कितने ही मोटे चुल्ले या बर्तनी बनवाकर लाता, और अपने हिन्दीवाले साथियोंको सौगातके तौरपर पेश करता। चूड़ीहार, जिनमें अधिकांश नातेमें मेरे चचा या दादा ही लगते थे (इस नातेको गाँवोंमें बड़ी कड़ाईके साथ माना जाता था) मेरी फ़र्माइशको अस्वीकार नहीं करते थे।

किन्ना और दूसरे साथियोंके साथ मैं कभी-कभी कौड़ी खेलने भी जाता, किन्तु उसमें भी मेरे लिए सदा हार ही रहती।

कनैलाकी यह आज़ादी पन्दहाके जीवनके सामने मेरे लिए बहुत आकर्षक थी। मैं सालभर इम्तिहानकी छुट्टियोंकी बाट जोहता रहता। पन्दहामें गर्मियोंमें नाना पुरानी बखरीके अँधेरे घरमें––जहाँ मक्खी और गर्मी कम थी––सो जाते, उस वक़्त नानीसे कोई बहाना कर मैं बाहर निकल जाता। बाग़में धूप और लूकी ज़रा भी पर्वाह न करते कितने ही खिलाड़ी डटे होते। अधिकतर चिब्भी-डाँडी, चीका या ओल्हापातीका खेल होता। ओल्हापाती मेरे बशसे बाहरकी बात थी, क्योंकि मैं दरख़्तपर चढ़ना न जानता था। हाँ, चिब्भी-डाँडी या चीकामें मैं शामिल हो जाता। दो-दोकी पार्टी होनेपर तो कोई बात नहीं, किन्तु जब पाँच-पाँच, छै-छै चिब्भियाँ पाँतीसे खड़ी की जातीं, तो अपनी जोड़ी तक निशानेको परिमित रखना मेरे बशकी बात न थी, और फिर दूसरे जोड़ेकी चिब्भीमें लग जानेपर, सभी जीते दाव जल जाते थे। मुझे यह भी ख़्याल रखना पड़ता था, कि नानाके उठनेसे पहिले घर पहुँच जाना है। नानाको गरम लूकी बहुत चिन्ता थी, और नानीको लूसे भी अधिक भय था, दोपहरको छोटे-बड़े बवंडरकी शकलमें घूमनेवाले भूतों और चुड़ैलोंका। उनको यही सन्तोष था, कि उस वक़्त बाग़में और भी बहुतसे लड़के खेलते रहते हैं।

× × ×

दर्जा १में (१९०२ ई०) पहुँचते-पहुँचते बा० द्वारिकाप्रसादसिंह बदल गये, और उनके स्थानपर बा० पत्तरसिंह रानीकीसरायमें अध्यापक होकर आये। नये

अध्यापककी उम्र ५०के आसपास थी। उनके दो भागमें बाँटकर सँवारे हुए शिरके (पटेके) कितने ही बाल सफ़ेद हो चुके थे, मूँछें सीधी ऊपरकी ओर सँवारी होतीं। उनके एक पैरमें फ़ीलपाँव था, और शायद इसीलिए धोतीका एक फाँड़ जहाँ पैरके पंजों तक पहुँचता, वहाँ दूसरा घुटनों हीपर रुक जाता। जहाँ बाबू द्वारिकासिंहको पूजा-पाठ करते हमने नहीं देखा था—'राजपूत' (?) पत्र वह ज़रूर मँगाया करते थे—, वहाँ बा० पत्तरसिंह खूब पूजा करते थे। आते ही उन्होंने चहारदीवारीके किनारे फाटकके पास तुलसीका चौरा बाँध दिया। गेंदा, बेला और दूसरे फूलोंके लगानेकी ओर भी उनका काफ़ी ध्यान था। तुलसीचौराके पास ही चौलाई और करैलीकी क्यारियाँ बनी थीं। लेकिन हमारे लिए जो खास बात जाननेकी थी, वह था उनका गुस्सा, निर्दयतापूर्वक लड़कोंको पीटना; और इसीलिए उनकी पूजा-पाठ हमारी नज़रोंमें कोई वक़अत न रखती थी। मैं सबसे तेज़ होनेके कारण स्कूलमें सबसे कम मार खानेकी सम्भावना रखनेवाला लड़का था, किन्तु बा० पत्तर-सिंहके आये दो सप्ताह भी न हुए थे, कि एक दिन तड़के जब मैं अपना सबक़ सुना रहा था, उस समय न जाने क्या ग़लती हुई, कि उन्होंने चारपाईके नीचेसे खड़ाऊँ उठाकर मारा, वह मेरे पैरमें घुटनेसे नीचे हड्डीमें आकर लगा और खून बह निकला। जब तेज़ लड़केकी यह बात थी, तो मन्द और साधारण लड़कोंकी बात ही क्या? लड़के डरके मारे उनसे काँपते थे। हम धीरे-धीरे उनकी मुद्राओंसे परिचित हो गये थे। वे अक्सर कुर्सीकी जगह चारपाईपर बैठकर पढ़ाते थे, और पढ़ाते-पढ़ाते सो जाते थे। सोनेके बाद उनके पटेके ज़ुल्फ़ अस्तव्यस्त हो जाते, और हम जानते थे कि इसी वक़्त उनके ग़ुस्सेका पारा सबसे ऊपर चढ़ा होता है। उसकी दवा भी हमें मालूम हो गई थी। देखते ही विना एक दूसरेकी प्रतीक्षा किये ख़ुद-बख़ुद— (क्योंकि जब उनका हाथ छूटता तो वहाँ क़सूर-बेक़सूरका सवाल नहीं होता) दो लड़के दौड़ जाते, एक नारियलमें नया पानी बदलता और दूसरा बोरसीके अंगारसे चिलम् तैयार करके लाता। बा० पत्तरसिंह मुस्कुराते हुये पटेके बालोंको एक हाथसे पीछेकी ओर सँवारते दूसरे हाथमें नारियलका हुक़्क़ा थामते।

कहावतें उन्हें सैकड़ों याद थीं, और बिल्कुल मौक़ेकी। हाथसे जहाँ छड़ी बर-सती, वहाँ उनके मुँहसे कहावतोंकी झड़ लग जाती। हमारे दर्जेके एक लड़के दूध-नाथराय पढ़ने-लिखनेमें बहुत कमज़ोर थे और इसीलिए मद्रसा आनेमें उनको बहुत उज्र था। बेचारोंको पिटनेकी आदत थी, और उसके लिए उनके शरीरपर काफ़ी मांस भी था। एक दिन कई दिनकी ग़ैरहाज़िरीके बाद पकड़कर मद्रसा पहुँचा

घरवाले लौट गये। दूधनाथके कानमें सोनेकी बड़ी-बड़ी नई बालियाँ पड़ी थीं। बा० पत्तरसिंह एक ओर बाँसकी हरी छड़ियोंको उनके बदनपर तोड़ते जाते थे, दूसरी ओर कहते जाते थे—'एक तो रहा बानर नोना। दूसरे पड़ा कानमें सोना।' मैं तो समझता था, अभी तुरन्त दूधनाथके लिए ही उन्होंने यह कहावत गढ़ी। उनकी कितनी ही कहावतें हँसानेवाली थीं, किन्तु मार खाते वक़्त कही जानेवाली कहानियों-पर हँसनेको किसकी शामत आती ? हँसते देखा नहीं कि बोल उठे—'हँसते हो, यहाँ आओ तो....क्या यहाँ रंडी नाच रही है, अच्छा हँसो।' और फिर छड़ी बरसने लगती।

जब प्रसन्नचित्त होते, तो चारपाईपर लेट जाते। लड़के उनका बदन दबाते—ब्राह्मण लड़कोंसे पैर नहीं छुवाया जाता था। और फिर कहानियाँ शुरू होतीं। जब वह चँदवकके पास ज़िलेके दक्षिण छोरपर किसी स्कूलमें पढ़ाते थे, तो हर रविवारको गंगास्नान करने जाते। एक दिनकी बात कह रहे थे—'स्नान करके लौट रहा था', अँधेरा हो चला था, मैं पैर बढ़ाये पक्की सड़कसे जा रहा था। नज़र जो ज़रा फिरी तो देखा सड़कसे नीचे-नीचे कोई चुपचाप चल रहा है। मीलभर चला गया और अब भी वह व्यक्ति साथ ही चल रहा था। मैंने पूछा, तो जवाब मिला—'आँओं, इँधरसें न चँलों।' नाकसे निकलती आवाज़ सुनकर मेरा तो मत्था ठनका। मैं सड़कसे नीचे क्यों उतरने लगा ? जानते हो, पक्की सड़क सर्कार बहादुरकी सड़क है। सर्कारका अक़बाल है, उसपर आकर किसी भूत-प्रेतको घात करनेकी हिम्मत नहीं हो सकती। वह बराबर नीचे बुलाता रहा, किन्तु मैं सड़कके बीचसे चलता रहा। मील आध मील और पीछा करके वह यह कहता हुआ चला गया—'अँच्छा, जाँ, बँचके निँकल गँया।' "

बा० पत्तरसिंहकी बात याद कर मेरे दिलमें होता था, काश ! हमारी पन्दहा-वाली सड़क कच्ची न हो पक्की होती, फिर तो 'ठूँठे पीपलके बाबा'को अँगूठा दिखलाना आसान होता।

×　　　　×　　　　×

आषाढ़ (जून या जूलाई १९०२ ई०)का महीना था। अभी वर्षा शुरू न हुई थी। आज मद्रसामें दिनभर टाटकी सफ़ाई, गोबरसे शालाकी लिपाई तथा हातेमें गेंदेकी पौदोंके रोपनेका काम हो रहा था। दर्लसिंगार भी काम कर रहे थे। दोपहरको दर्लसिंगार काम छोड़ बैठे, कह रहे थे बदनमें दर्द है। दोपहर बाद उन्हें एक-दो क़ै हुई। आज समयसे पहिले ही छुट्टी हो गई, क्योंकि पढ़ाई बन्द करके

सभी लड़के सफ़ाईमें लगाये गये थे। मैंने देखा दर्लसिंगारकी आँखें लाल थीं। उनका शरीर गरम था, कह रहे थे—बदन फट रहा है। हम दोनों घरकी ओर रवाना हुए। किसी तरह रानीसागरके भिंडेको पार हुए। अब दर्लसिंगारको एक क़दम भी चलना मुश्किल था। लाचार मैंने उन्हें अपनी पीठपर चढ़ाया, और घोड़ैयाँ ले चला। मैं भी शरीरसे कमज़ोर था, और ऊपरसे मेहनत करने और बोझ ढोनेकी आदत न थी; एक बार दस-पन्द्रह क़दमसे ज़्यादा चलना मेरे बसकी बात न थी। बैठ जानेपर दर्लसिंगार पैरदर्दसे रोते। मैं पैर दबाता, और रोता। रातके डरके मारे फिर हिम्मत करके उठाता, और फिर वही पुनरावृत्ति। शाम तक न जाने कितने सौ बारकी उठक-बैठकमें हम पन्दहा पहुँचे।

सबेरे नानी कह रही थीं—'हम लोग तो आग में हैं ही, बच्चेको कनैला भेज देना चाहिए। हैज़ा ज़ोर पकड़ रहा है।'

नानाने भी स्वीकृति दे दी। और आदमीके साथ मुझे कनैला भेज दिया गया।

५

रानीकीसरायकी पढ़ाई (१)

कनैलाके हैज़ेमें हमारे घरका कोई नहीं मरा था, यह कह आये हैं। बीमारीके वक़्त शायद 'आजी'ने शतचंडी (सौ बार चंडी)का पाठ माना था। आजकल वही पाठ चल रहा था। पाठ बाँचनेवाले थे हमारे फूफा पंडित महादेव पांडे और उनके मौसेरे भाई महावीर तिवारी। महावीर तिवारी एक-एक अक्षर टटोल-टटोलकर पढ़ रहे थे, किन्तु फूफा फरफर पढ़ते जाते थे। उनके पास नसदानी रखी हुई थी, बीच-बीचमें वे नस लेते जा रहे थे। शामको नससे भरी रूमाल साफ़ की जाती थी। सबेरे पाठ समाप्त कर गर्म दूधमें भिगोया घरके खुशबूदार धानका चूरा नाश्तेके लिए तैयार रहता। शायद उसके बाद फिर पाठ चलता। पाठ संस्कृतमें होता,—चंडीपाठका भाषामें अर्थ नहीं किया जाता। दोपहरको भोजन, फिर विश्राम। शामको ३-४ बजे फूफा साहेब घरमें बुलाये जाते। फ़र्शपर एक ओर वह बैठते, और सामने बैठतीं मेरी माँ, शायद चाची भी (उन्हें मैं काकी कहा करता), मेरी कोई बुआ, कुटुम्बकी भी शायद दो-तीन चाची-बुआ। दामादके स्वागतमें

ऐसी गोष्ठी रचनेकी प्रथा है, इससे उसका मनोरंजन होता है। वार्तालापका विषय घरबारका हाल-चाल और कुछ हँसी-मज़ाक़। फूफासे मैं बहुत जल्द हिल-मिल गया और एकाध बार उनकी इस गोष्ठीमें मैं भी शामिल हुआ। सावनका पानी बरस चुका था, और कनैलाके ताल-तलैयों, तथा डबरों (पल्वलों)में पानी भरकर बह गया था। शामको फूफा साहेब दूर पूरब तरफ़ चले जाते, और वहीं शौच-स्नान करके लौटते।

फूफा महादेव पंडितके बारेमें मैंने कितनी ही बातें सुनी थी। वह बहुत भारी पंडित हैं—इतने भारी, जितने कि आसपास दस-बीस कोसमें कोई नहीं। बहुत विद्या पढ़ जानेके कारण ही वह एक बार सालभर पागल रहे। उस वक़्त तो मुझे विश्वास होता था, जैसे बहुत खानेसे भोजनका अजीर्ण होता है, उसी तरह बहुत पढ़ जानेसे विद्याका अजीर्ण होता है, किन्तु यह संस्कृत पढ़नेवालोंको ही। शतचंडी पाठ समाप्त होनेमें शायद एक मास लगा। उसके बाद जब फूफा अपने गाँव बछवल जाने लगे, तो मुझे भी लेते गये। शायद घरवालोंसे उन्होंने संस्कृत पढ़ानेकी स्वीकृति भी लेली थी। कनैलासे बछवल ३ मीलसे अधिक दूर नहीं है। मैं फूफाके साथ उनकी घोड़ीपर चढ़ा। रास्तेमें मँगई नदीमें काफ़ी पानी था। मुझे कन्धेपर चढ़ाकर पार किया गया।

बछवल मैं पहिले-पहिल गया था। बुआको मैंने अभी तक देखा न था, वह कई वर्षोंसे कनैला आई ही न थीं। वहाँ चार-पाँच स्त्रियाँ थीं, जिनमें दो कपड़े-ज़ेवरमें विशेषता रखती थीं। मैं यह तो समझ गया कि इन्हीं दोनोंमें एक मेरी बुआ हैं, किन्तु अपनी बुआको जेठानी सुन यागेशकी माँको ही मैंने अपनी बुआ समझा। बछ-वलमें मेरी आयुके काफ़ी लड़के-लड़कियाँ थीं, जिनमें समान आयुके होनेके कारण यागेशसे ज़्यादा घनिष्ठता हो गई, और पीछेके सालोंमें तो मेरी अपनी बुआके लड़के नहीं बल्कि उनके चचेरे भाई यागेश मेरे घनिष्ठ मित्र और साथी बने।

५, ७ दिनोंमें मेरा और लोगोंका भी कौतूहल शान्त हो गया। फूफा महादेव पंडित संस्कृत व्याकरणके प्रौढ़ विद्वान् थे। उन्होंने महाभाष्यान्त व्याकरण पढ़ा था, और पढ़े ग्रंथ बहुत कंठस्थ थे। उनके पास काफ़ी खेत और अन्नधन था, अतएव उनके लिए अपनी विद्याका और कोई उपयोग आवश्यक न था। वे वहीं अपने द्वारपर विद्यार्थियोंको संस्कृत पढ़ाया करते। ज़्यादातर विद्यार्थी सारस्वत, चन्द्रिका, मुहूर्तचिन्तामणिके होते थे, किन्तु कितने ही सिद्धान्तकौमुदी भी पढ़ते थे। फूफा जी आसपासके गाँवोंसे विद्यार्थियोंको 'मुठिया' अन्न मिलनेका प्रबन्ध भी करा

देते थे, किन्तु जहाँ आधी चौथाई सिद्धान्तकौमुदी समाप्त हुई, कि विद्यार्थी बनारस दौड़ जाते। बनारसका नज़दीक रहना महादेव पंडितकी पाठशालाकी उन्नतिमें भारी बाधा थी।

सप्ताह बीतते-बीतते फूफाने मुझे भी सारस्वत पढ़ाना शुरू कर दिया "नत्वा सरस्वतीं देवी" और आगेका पन्ना भी मैंने कंठस्थ कर डाला। स्मरणशक्ति मेरी बहुत तीव्र थी, फूफा चाहते थे कि मैं संस्कृत पढ़ूँ। मैं सोचता हूँ—काश! मैं फूफाके यहाँ पढ़नेको छोड़ दिया जाता। संस्कृत ख़ूब पढ़ता। ग्रंथ सारे कंठस्थ होते, क्योंकि अभी यह धारणा मुझे नहीं हुई थी, कि रटना बुरी चीज़ है। तो क्या सिर्फ़ संस्कृत पढ़नेके कारण मैं विचारस्वातन्त्र्यसे वंचित न हो जाता? नहीं कह सकता। बनारस तो जाता ही, शायद वहाँ किसी चौरस्तेपर पड़ जाता। बछवलमें खेल-कूदकी आज़ादी थी। फूफाके घरसे पूरब एक कुआँ था, जिसका पानी दो पुर नाधनेपर भी नहीं कम होता था। मेरे बाल-साथी बड़ी-गम्भीरतापूर्वक मुझे समझाते थे—'इस कूयेंका जब खाँखर काटा गया, तो इतना पानी भीतरसे चला कि खोदनेवाले आदमियोंको जब तक रस्सेसे खींचकर बाहर निकाला जाय, तब तक पानी बढ़कर कूयेंके मुँहपर पहुँच गया।' मैं साँस रोककर बोल उठा—'कूयेंके मुँह तक!' साथियोंने बतलाया—'फिर पूजा की गई। सोतेके मुँहको रज़ाई और चक्कीके पाटसे बन्द किया गया, तब जाकर पानी रुका।' मैं समझता था, यदि यह सब इन्तिज़ाम न किया गया होता, तो पानी मुँहसे निकल खेतोंको डुबाता, और फिर बाढ़ बनकर सारे गाँवका सत्यानाश कर देता।

महीना बीतते-बीतते पन्दहाका सन्देश कनैला होकर बछवल पहुँचा—नानीका आदमी इन्तिज़ार कर रहा है, पन्दहा जाना है। नये मित्रोंके बिछुड़नेका अफ़सोस ज़रूर हो रहा था, किन्तु पन्दहामें भी नानीकी शीतल गोद और मधुर स्नेह प्रतीक्षा कर रहा था, वहाँ भी दलसिंगार जैसा बालसंघाती मौजूद था।

पन्दहा पहुँचनेपर मालूम हुआ, पिछले हैज़ेमें गाँवके दस-बारह आदमी मरे। दलसिंगार बच गये। देवी एक स्त्रीके शिरपर आकर बोली—'मैं तो रास्ते-रास्ते जा रही थी, यही दोनों लड़के मुझे यहाँ लाये। ख़ैर! इन्हें छोड़ दूँगी, किन्तु गाँवसे बिना कुछ लिए नहीं जाऊँगी'। शायद उसी बीमारीमें दलसिंगारके बचाने भगवतीके मन्दिरकी स्थापनाकी मिन्नत मानी।

दलसिंगारसे मैं मिल आया। वह अभी भी कमज़ोर था। दो-चार दिनों बाद मुझे मद्रसा जाना पड़ा, लेकिन इस जानेमें वह उत्साह न था, क्योंकि दलसिंगारकी

माँने यह कहकर उससे पढ़ना छुड़वा दिया—'मेरे दो जेठ इसी घरमेंसे एक खाटपर उठ कर गये। उनकी पढ़ी पोथियोंका ढेर अब भी उस घरमें रखा है। जाने दो बच्चा, हमारे घर पढ़ना नहीं सहता, तुम जीते रहो यही बहुत है।'

दलसिंगारको ज़बर्दस्ती रोका गया था। मैं उसकी क्या सहायता कर सकता ? बीच-बीचमें हम मिल लिया करते, लेकिन अब वह साथ पढ़ने-खेलने और चलनेका आनन्द नहीं था।

मद्रसेके मेरे एक सहपाठी शोभितलाल थे। और उर्दू पढ़नेवाला दूसरा लड़का हमारे दर्जेमें न था। दलसिंगारके स्कूल छोड़नेके बाद राजदेव पाठक और गाँवके पटवारीके पुत्र वसन्तलाल कुछ समय तक स्कूलके साथी मिले, किन्तु दोनों ही पढ़नेमें कमज़ोर थे, ऊपरसे बाबू पत्तरसिंहकी छड़ीका ख्याल आते ही सबकी रूह काँपने लगती। एक बार राजदेवने अपने साथ मुझे भी हफ़्ता भर ग़ैरहाज़िर रखा। पहिले दिन खेलनेमें देर करके राजदेवने—जो आयुमें मुझसे काफ़ी बड़े थे—कहा, अब जानेसे मुंशीजी मारेंगे। बात ठीक थी, हम नहीं गये। दूसरे दिन तो अब दुहरीमार निश्चित थी। इस प्रकार हम लोग रोज़ घरसे रानीकीसराय पढ़ने जाते, और शामको ठीक समयपर घर लौट आते। नाना कई दिनके बाद रिश्तेदारीसे लौट रहे थे। उन्होंने सोचा, बच्चेको साथ ही लेते चलें। मद्रसेमें मुंशीजीसे पूछा, तो मालूम हुआ, वह तो हफ़्ते भरसे आता ही नहीं। घर आकर नानीसे पूछा, तो जवाब मिला—वह तो रोज़ नियमसे पढ़ने जाता है। नाना पता लगाने निकले; उधर साथ खेलनेवाले लड़कोंसे मुझे भनक मिल गई। मैं नानीकी गोदमें जाकर छिप गया। नाना बाँसकी हरी पतली छड़ी लिये पहुँचे। उनके चिल्लाने हीसे मेरी घिग्घी बँध गई, ऊपरसे उन्होंने चार-पाँच छड़ी दीवारपर पटकी भी। दूसरे दिन बाबू पत्तरसिंहके दर्बारमें पहुँचाया गया। नानाके लौट आनेपर उनकी पाँच-सात छड़ियाँ ठीक शरीरपर बरसीं।

बादमें गाँवके पटवारीके लड़के वसन्तलाल शायद साथी मिले। मंत्र उनका भी वही था। पहिले दिन देरकी और फिर घरसे पढ़नेके लिए जाकर, रानी सागरसे थोड़ी दूरपर एक उजड़े नीलके गोदामके हौज़में हम छिपे रहते। पता लगा, मार पड़ी। लेकिन अब ऐसे साथियोंकी सलाहसे मैं चौकन्ना रहने लगा।

अकेले स्कूल जानेके दिनोंकी एक घटना है। कुत्तेसे मैं बहुत डरा करता था। हमारे सड़कके रास्तेपर कुछ दूर हटकर एक चमारटोली थी। वहाँ एक ज़बर्दस्त कुत्ता था, जिससे मैं बहुत भय खाता था। और दिन तो किसी और यात्रीके साथ

निकल जाता, एक दिन संयोगसे मैं अकेला एक ओरसे आया, और दूसरी ओरसे वही कुत्ता। सड़कके मुड़ाव और ऊखके खेतोंके कारण मैंने एक दूसरेको नहीं देखा। मुझे देखकर कुत्ता भूँका—इसका मुझे स्मरण नहीं। मैं तो अपनेको साक्षात् यमराजके मुँहमें समझ रहा था, इसीलिए जीपर खेलकर कुत्तेपर हमला कर बैठा। वस्तुतः हमला करनेके लिए भी मेरे पास न डंडा था न ढेला। मैं उसके ऊपर चढ़ बैठा। शायद कुत्तेका मुँह मेरे हाथमें था। खैर, एक-दो पटखनी मैंने खुद खाई और उसे भी दी। मालूम होता है, कुत्ता मुझसे भी अधिक भयभीत हो गया था, और हाथ ढीला होते ही वह निकल भागा। कुत्तेके पछाड़नेका मुझे अभिमान कहाँ होता, मेरा तो कलेजा अब भी धकधक कर रहा था। खैरियत हुई, कुत्तेने कहीं काटा नहीं।

× × ×

आज तक रानीकीसरायका स्कूल लोअर-प्राइमरी चला आया था। बाबू पत्तर-सिंहके समय लड़के बढ़े, जिसका सारा श्रेय लोग उन्हींको देते थे। वस्तुतः इस समय गाँवोंमें शिक्षा बढ़ने लगी थी। रानीकीसरायमें बालगोविन्द पंडित एक सज्जन रहते थे। उनका मकान ठीक सड़कपर पड़ता था। पहिलेसे लाग-डाँट होनेके कारण, उन्होंने एक अपना अलग स्कूल खोल दिया, या स्कूल खोलनेके कारण बाबू पत्तरसिंहसे उनकी लाग-डाँट बढ़ी। बालमुकुन्द पंडितके स्कूलमें २५, ३० लड़के पढ़ते थे, इससे मालूम होता है, शिक्षाकी ओर बढ़ती रुचि ही विद्यार्थियोंके बढ़नेमें कारण हुई। हमारा स्कूल डिस्ट्रिक्ट-बोर्डका था, और सर्कारका उसपर वरदहस्त था, जब कि बालमुकुन्दका स्कूल उनके बलबूतेपर चल रहा था। बालमुकुन्द पंडित कुछ अंग्रेज़ी भी जानते थे, इसलिए भी उनको विद्यार्थी मिलनेमें सुभीता हुई। शायद वह स्कूल बा० पत्तरसिंहके मृत्यु तक जारी रहा।

खैर, बा० पत्तरसिंहके आनेसे एक फ़ायदा तो हुआ, कि रानीसरायका मद्रसा अपर प्राइमरी हो गया। एक दूसरे अध्यापक मुंशी अब्दुल्क़दीर नायब मुदर्रिस बनकर आये।

६

पहिली यात्रा

पढ़नेका काम मेरे लिए बिल्कुल मुश्किल न था। वस्तुतः ४ मासकी पढ़ाईके लिए मेरे बारह मास यों ही बर्बाद किये जा रहे थे। नानाको गप-शपकी बहुत आदत

थी, यह कह ही आया हूँ। घरमें भी रहते वक़्त विशेषकर फ़ुर्सतके वक़्त—और वह उनके पास काफ़ी था, उन्हें देखना था, सिर्फ़ श्रोताको क्योंकि उसके बिना बात की नहीं जा सकती—नानाकी पुरानी आप-बीतियाँ शुरू होतीं। जैसे निद्रित या मुर्छित अवस्थासे बातका ताँता शुरू हो, और आदमीको मालूम न हो कि बात कब शुरू हुई, उसी तरह मेरे भी होश सँभालनेसे पहिलेसे वह कथायें होती चली आ रही थीं, और कबसे मैंने नानाकी कथायें सुननी शुरू कीं, इसका मुझे पता नहीं। जाड़ेके दिनोंमें रातके वक़्त खाना खा लेनेके बाद आगके सामने ही बड़ी रात तक कथायें होतीं। सोनेके समय भी उनका समय था। दोनों ही वक़्त या तो नानाकी बग़लमें या उनकी गोदमें, मैं बैठा रहता। कहानियोंके सुननेमें जितना रस आता, उससे कम नानाकी शिकार और यात्राकी बातोंमें न था। भारतके भूगोलको पढ़नेका मुझे पीछे मौक़ा मिला, किन्तु कामठी-अकोला-बुल्डाना-औरंगाबाद-बम्बई-शिमला ही नहीं कोचीनबन्दर और कौन-कौन पचासों नाम मैं सुन चुका था, सब मुझे याद थे। वस्तुतः भूगोल पढ़नेमें नानाकी ये ही कथायें दिलचस्पी पैदा करनेका कारण हुईं। इन कथाओंमें जहाँ व्यक्तियों, भिन्न-भिन्न प्रान्तों और उनकी भाषाओंका ज़िक्र आता, वहाँ भूमिके प्राकृतिक स्वरूपका भी ज़िक्र होता। बाघके शिकारमें अर्दली होकर नाना बराबर अपने कर्नेलके साथ जाते थे। कैसे जंगलों और पहाड़ोंमें बाघ रहता है? कैसे स्वच्छन्द बाघ-परिवार किलोलें करता है? बाघके शिकारमें कितना तरद्दुद और जोखिम उठाना पड़ता है? —इन बातोंके जाननेका उनकी बातोंमें काफ़ी मसाला होता था।

नानाकी पल्टन हैदराबादकी जालना छावनीमें थी। नाना कई बार अजन्ता, एलौरा, और औरंगाबादकी गुफाओंका दूसरे नामोंसे वर्णन करते। एलौरा और अजन्ताकी गुहामूर्तियोंके बारेमें उनका कहना था—रामजी वनवासको जायेंगे यह ख्याल कर विश्वकर्माने पहाड़ काटकर ये महल बनाये, कि इनमें देवता लोग वास करेंगे, और रामजीको वनवासमें कष्ट न होगा; किन्तु महल बनाकर जब तक विश्वकर्मा ब्रह्माको ख़बर देने गये, तब तक राक्षसोंने आकर उन महलोंमें डेरा डाल दिया। लौटकर विश्वकर्माने देखा, उन्हें बहुत क्रोध आया; और शाप दिया—जाओ तुम सब पत्थर हो जाओ। नानाकी परम्पराके अनुसार अजन्ता-एलौराकी गुहा-मूर्तियाँ वही पथराये राक्षस हैं। वे बड़ी गम्भीरतासे भौंहोंको तानकर नानीसे कहते—'जो राक्षस जहाँ जैसे रहा, वह वैसा ही वहीं पत्थर हो गया। शराब पीनेवालेकी बोतल वैसी ही हाथ और मुँहमें लगी रही। नाचनेवाले वैसे ही नाचते रहे। सोने-बैठने-

वाले वैसे ही सोये-बैठे रहे। आज भी देखनेसे मालूम होता है, अभी उठकर बोल देंगे।' नानी प्रोत्साहन दे कहतीं--"क्या जाने शाप छूट जाये, तो वे फिर ज़िन्दा हो जावें।"

पन्दहामें एक और व्यक्ति थे, जिनकी बातें सुननेमें मुझे बड़ा मज़ा आता था, वह थे जैसिरी (जयश्री पाठक)। थे तो वह काने, और ऐसे आदमीको ज़रासी बातमें भी काना कहकर ताना मारना लोगोंको आसान मालूम होता है, किन्तु जैसिरी[1]-के बारेमें वैसा कहते मैंने किसीको नहीं सुना। घुटने तककी साफ़ धोती, देहपर या शिरमें बँधा एक वैसा ही साफ़ अँगोछा, पैरमें बाधा-खड़ाऊँ, हाथमें बाँसका छाता या डंडा लिये उनकी पतली; किन्तु स्वस्थ सबल मूर्ति अब भी मेरे सामने है। जिस समयकी बात मैं कर रहा हूँ, उस वक़्त वह ४०से ऊपरके हो चुके थे; किन्तु बचपनसे अब तक वह बराबर चरवाही करते चले आये थे, और आगे भी करते रहे। इसीलिए मैंने जब भी उनको देखा, चरवाहे लड़कोंकी ही मंडलीमें। कहानियाँ उन्हें बहुत याद थीं, और वर्षोंसे जिस तरहके श्रोताओंको वह सुनाई जा रही थीं, उससे मँजी-तुली और मनोरंजक बन गई थीं। नाना तो मुझे सदर-आला या डिप्टी-कलेक्टर बनाना चाहते थे, इसलिए घास छीलने या भैंस चरानेका मौक़ा क्यों देने लगे? तो भी किसी न किसी बहाने मुझे दो-चार बार जैसिरीकी मंडलीमें शामिल होनेका मौक़ा ज़रूर मिला। चरवाहीसे छुट्टी रहनेपर जैसिरीको कभी-कभी रामायणका अर्थ करते भी मैंने सुना था। कुल्हाडमें आग तापते हुए भी उनकी बातें मैंने सुनी थीं। उस समय इस असाधारण प्रतिभाके धनी किन्तु अवसरसे वंचित व्यक्तिको, एक मनोरंजक आदमीके तौरपर जानता था, किन्तु अवसर मिलनेपर वह क्या बनता, इसका ख़्याल कर अफ़सोस तो दुनिया देख लेनेपर होने लगा।

शायद १९०२ के ही अप्रेलमें मेरा जनेऊ हुआ। आमतौरसे हमारे परिवारमें धूमधामसे जनेऊ हुआ करता था। मंडप बनाया जाता, कलशा सजाया जाता; आमके नये पीढ़े और पट्टी--लिखनेकी--तैयार की जाती; पंडित आते; देर तक देवताओं-की पूजा और मन्त्रोच्चारण होता; लड़केको धोती-लँगोटी पहना, कन्धेपर मृगचर्म बाँध हाथमें पलाशका दंड दे "काशी पढ़नेके लिए भेजा जाता", हाँ, और चन्द ही मिनटों बाद उसी मंडपके एक कोनेसे यह कहकर लौटा लिया जाता--चलो लौट चलो, तुम्हारा ब्याह कर देंगे।

---

[1] **देखो मेरी कहानी "जैसिरी" ("सतमीके बच्चे")**

मुझे बहुत असन्तोष हुआ, जब सुना कि मेरा जनेऊ गाने-बजाने, धूम-धामके साथ घरपर नहीं बल्कि विन्ध्याचलमें होगा। माँने या किसीने दीर्घायु होनेके ख्यालसे वैसी मिन्नत मानी थी, इसलिए दूसरा करके विन्ध्याचलकी जागता देवीके कोपका भाजन कौन बनता ? लाचार, एक दिन मेरे चचा प्रताप पांडे--वह मेरे पितासे छोटे थे—मुझे पन्दहा लिवाने आये। अप्रेलका महीना था, गर्मी थोड़ी-थोड़ी शुरू हुई थी। पहिले हम लोग कनैला गये, वहाँसे १४ मील चलकर सादात स्टेशन। कह नहीं सकता, उस वक़्त तक रानीकीसराय रेल पहुँच गई थी। सम्भवतः रेलके लिए ज़मीन नप गई थी। मैंने रेलकी सवारी अभी तक नहीं की थी। सादात हम दो ही तीन बजे दिनको पहुँच गये थे, और रेल सूर्यास्तके बाद आनेवाली थी। चाचाके पास एक गठरी, कम्बल, लोटा-डोरके अतिरिक्त हाथमें सेर-डेढ़सेर गायका घी मिट्टीके बर्तनमें था। गायके घी हीमें पूड़ी पकाकर विन्ध्याचलमें ब्रह्मभोज कराना था। शामको सादातके पोखरेपर—स्टेशनके पास ही--चचाने दाल-बाटी बनाई, शायद आलूका भर्ता भी था। भोजन हुआ। गाड़ी आनेपर सवार हुए। भीड़ थी या नहीं इसका मुझे स्मरण नहीं, यह भी याद नहीं कि रेलके 'चलते हुए घरों'में बैठकर मुझे क्या-क्या ख़्याल आ रहा था।

रात थी जब हम अलईपुर (बनारस-शहर) स्टेशनपर उतरे। शहरमें घुसनेसे पहिले चुंगीवालेने घेरा। और भी बहुतसे दीहाती मुसाफ़िर थे। कुछ देर इन्तिज़ार करनेके बाद हमारी बारी आई। मोटरी खोलकर देखी गई, शायद घीपर कुछ चुंगी लगी। पिताके मामा ईसरगंगीपर एक छोटेसे वैरागी महन्थ थे, वहीं हम लोग ठहरे।

बनारससे विन्ध्याचल तककी सभी बातें क्रमशः याद नहीं हैं। ईसरगंगी मठमें आते-जाते दोनों बार हम ठहरे थे। अब तक रानीकीसराय ही मेरे लिए शहर था। वहाँके लड़कोंको एक खूँट एड़ी, और दूसरा फांड घुटने तक रखकर धोती, नाख़ूनी किनारेकी बूटेदार टोपी पहिने देख, मैं उन्हें नागरिकताका चरम नमूना समझता था। हम दीहातवाले जिसे 'धरना' कहते थे, उसे रानीकीसरायके हमारे साथीं 'पकड़ना' कहते, और इसे हम पूर्ण नागरिक भाषाकी बानगी समझते थे। फिर अब छोटे-मोटे शहरोंसे न गुज़रकर सीधा बनारस जैसे महान् नगरमें पहुँच जाना—मेरे लिए बड़े कौतूहलकी बात थी। मीलों चली गई उसकी सड़कें, गलियाँ और उनके किनारेके आलीशान मकान--जिनकी ऊपरी छतको देखनेमें बाबू पत्तरसिंहके कथनानुसार शिरकी पगड़ी गिर जाती थी--मेरे लिए बिल्कुल दूसरी दुनियाकी चीज़ें

थीं। सबेरे चचा मुझे ले पंचगंगाघाट नहाने गये। गंगा जैसी बड़ी नदी पहिले-पहिल देखी, और फिर उसपरके पत्थरके घाट, जिनकी सीढ़ियाँ उतरनेमें ख़तम ही नहीं मालूम होती थीं। शायद हमारे साथ मठका कोई साधु भी था, क्योंकि चचा जैसे अटट दीहातीके साथ घाटियोंकी छीना-झपटीका मुझे स्मरण नहीं है। चचाने हाथ पकड़े हुए मुझसे गंगामें डुबकी लगवाई। विश्वनाथ और अन्नपूर्णाका दर्शन हुआ। फिर चौकके रास्ते जब लौट रहे थे, तो वहाँ मैंने किसी बिसातीकी चद्दरपर शीशा, कंघी, और क्या-क्या चीज़ोंके साथ लिथोमें छपी कुछ उर्दूकी पुस्तकें देखीं। शायद चचा भी वहाँसे कुछ ख़रीद रहे थे। मैंने देखा, कि उन किताबोंमें कुछ क़िस्से और कुछ उर्दू हरफ़में छपे तुलसीकृत रामायणके भिन्न-भिन्न कांड थे। चचाने दो या चार पैसेमें एक-दो किताब मेरे लिए ख़रीद दी, लेकिन मेरी इच्छा उतनेसे पूरी होनेवाली नहीं थी।

दूसरे दिन सबेरे, चचा मुँह धोने या किसीसे बात करनेमें लगे थे, मैं चुपकेसे निकला। मठके दर्वाजेसे बाहर वह पत्थरका शेर था, जिसके लिए पिछले सालों हिन्दू-मुसलमानोंका झगड़ा होने लगा था; और अब वह कठघरेके अन्दर चबूतरेपर रखा है। उस वक़्त उस शेरको कोई नहीं पूछता था, रास्तेकी बग़लमें आधा धरतीमें दबा और आधा ऊपर पड़ा हुआ था। वहाँसे होते सड़कपर आया, और फिर सीधे चौक। रास्तेमें कई जगह मुड़ना था, किन्तु मालूम होता है, वह सारे मुँड़ाव मेरे दिमाग़पर नक़्श थे। मैंने न खिलौने लिये, न मिठाई, सीधे जा बिसातीसे दो-दो पैसेमें पाँच या सात किताबें ख़रीदीं, और फिर लौट पड़ा। दो तिहाई रास्ता पार करके जब मैं आ रहा था, तो चचा हैरान-परेशान मिले। लोग बहुत शंकित हो उठे थे। बनारस जैसे 'राँड़-साँड़-सीढ़ी-संन्यासीवाले' शहरमें एक दीहाती भटकते लड़केके लिए और दूसरी आशा ही क्या हो सकती? मार नहीं पड़ी सिर्फ़ डाँटे ही भर गये, चचाके लिये खोये लड़केका मिल जाना ही भारी प्रसन्नताकी बात थी।

एक तरह मेरी साहसपूर्ण यात्राओंका क-ख यहाँसे शुरू हुआ।

राजघाटके पुल-पारका मुझे स्मरण नहीं। मुग़लसरायमें गाड़ी बदलनेका कुछ ख्याल ज़रूर है। विन्ध्याचलमें स्टेशनसे उतरकर हम अपने पंडेके पास गये। बस्तीके बारेमें मुझे इतना ही याद है, कि वहाँकी कितनी ही दीवारें मिट्टीकी जगह पत्थरकी ईंटोंकी थीं। विन्ध्याचलकी भगवती दिनमें तीन रूप धारण करती हैं—सबेरे बालिका, दोपहरको तरुणी, शामको वृद्धा। मालूम नहीं मुझे भगवतीके

किस रूपका दर्शन मिला। मन्दिरमें उत्कीर्ण अक्षरवाले कितने ही बड़े-बड़े घंटे टँगे थे। पासके आँगनमें बलि दिये बकरोंके ख़ूनकी पाँकसी पड़ी हुई थी।

भगवतीके नाबदानमें नया जनेऊ डुबोया गया, और मेरे गलेमें डाल दिया गया। बस जनेऊकी विधि समाप्त।

लौटकर हम बनारसमें फिर इसरगंगीमठमें ठहरे। मठमें एक गुफा है। लोग बतला रहे थे, यह पतालपुरी गुफा है, इस रास्ते आदमी पतालपुरी पहुँच जाता है; किन्तु आजकल सर्कारने भीतरसे रास्तेको बन्द कर दिया है, सिर्फ़ बाहर से दर्शन होता है। बाहरसे दर्शन मैंने भी किया। मठकी एक कोठरीमें १४-१५ वर्षकी उम्रका एक संस्कृतका विद्यार्थी रहता था। उसने वहाँकी बातोंका परिचय देनेमें मेरी बड़ी सहायता की। मठमें तो पानीका नलका नहीं था, किन्तु सड़कपर शेरके मुँहवाले नलकोंको मैंने देखा था। मेरा साथी बतला रहा था, है तो गंगाजल ही, किन्तु उसके पानीसे धर्म चला जाता है, क्योंकि उसके भीतर चमड़ा लगा हुआ है। उसने 'ओले'का शर्बत पिलाया, सचमुच ही वह बहुत मीठा और ठंडा मालूम हुआ। मठके हातेमें पीछेकी ओर इम्लीके वृक्षोंके नीचे कुछ स्त्री-पुरुष रेशमका ताना-बाना करते थे। उन्होंने कुछ टूटे धागे मुझे दिये थे, और उन रंगीन चमकते धागोंको मैं अपने साथ घर ले आया था। मठकी बग़लमें जगेसरनाथका मन्दिर था। उनकी विशाल-पिंडीका दर्शन करते वक़्त मुझे बतलाया गया, कि बाबा हर साल जौभर मोटे हो जाते हैं।

बनारससे हम दिनकी गाड़ीमें लौटे थे, इसलिए सारनाथ पार होते लोगोंके इशारा करते वक़्त मैंने भी "लोरिककी धमाक" (धमाक स्तूप)को देखा। लोरिक अहीरका नाम शायद मैं सुन चुका था। लोग बतला रहे थे, लोरिक दोनों हाथोंमें दो घड़ा भैंसका दूध दुहकर एक धमाक (चौखंडी)से दूसरेपर कूद जाता था।

लौटकर मैंने अपने स्कूलमें अपनेसे अगले दर्जेके लड़के राजाराम—जो रानीकी-सरायके डाक-मुंशीका बेटा था, और अंग्रेज़ी अक्षर लिख लेता था—से पूछा, कि ईसरगंगीके विद्यार्थी मित्रको मैं कैसे पत्र भेज सकता हूँ। उसने बड़ी संजीदगीके साथ पूछा—पता बनारस छावनी है या शहर? मुझे नहीं याद मैंने उसका क्या जवाब दिया। उसके बताये अनुसार एक पोस्टकार्ड—जिसका दाम उस वक़्त एक पैसा था—मैंने भेजा ज़रूर, किन्तु उसका जवाब कभी नहीं आया, शायद वह पहुँचा भी नहीं।

७

रानीकीसरायकी पढ़ाई (२)

१९०३ ई०में शायद रेल रानीसराय आ गई थी। मेरे सहपाठी सेठबलके शोभितलालका बहुतसा खेत रेलमें चला गया। नीलका उजड़ा गोदाम, छोटी पोखरी, उसके किनारेके आमके वृक्ष और कितने ही खेत अब भी उनके पास थे। शोभितके दादा आमके दिनोंमें उनकी रखवारी किया करते थे। मद्रसा छोड़नेपर वहाँ तक अक्सर मेरा और शोभितका साथ रहता। जाड़ेके दिन बड़े सुहावने लगते थे। ऊख, साग, छीमी खेतोंमें मौजूद थीं। रानीसागरके भींटेसे लगे रेलकी सड़कके पास रानीकीसरायवालोंके मटरके खेत थे। फलियाँ खाने लायक़ हो गई थीं। दो लड़कियाँ हमारी ही उमरकी खेतकी रखवाली करती थीं। हम भींटेकी आड़से पहिले झाँकते, फिर ग़फ़लतमें देखकर खेतपर टूट पड़ते और खेतमें सर्पट भागते, छीमी तोड़ते कई फेरा कर डालते। लड़कियाँ हमारे पीछे-पीछे दौड़तीं, और हमें न पकड़ पातीं, वह बनावटी क्रोध दिखलातीं। फ़सल कट जानेपर लड़कियाँ खेतपर न आतीं, लेकिन द्वारसे गुज़रते वक़्त वे पहचानतीं और खुश होतीं। सलाम, बन्दगी, हाथ उठाने या टोपी उठानेकी कोई प्रथा तो थी नहीं, देखकर मुखपर हँसीकी रेखा ला देना बस यही अभिवादन-प्रत्यअभिवादन होता।

क्वार-कातिकके महीने मलेरियाके महीने थे। लड़कपनमें प्रायः हर साल मुझे जूड़ी आती। क्विनैनको लोग बुरा समझते, इसलिए नानी भटवाँसकी जड़को पीसकर गर्म जलके साथ देती थीं। ज्वरके कारण वैसे ही मुँहका स्वाद ख़राब रहता, ऊपरसे अरहरके दालका 'जूस' (रस) पीनेको दिया जाता। दाल तो मुझे स्वस्थ रहते वक़्त भी विष मालूम होती, फिर बीमारीमें कैसे पसन्द आती? मैंने भी एक तरीक़ा निकाल लिया था। पेट दर्दका बहाना करके छटपटाने लगता, नानी घबराकर उपचार करने आतीं। उनसे सिर्केका लहसुन माँगता। नानी भूल जातीं, कि पेटके दर्दके लिए सिर्केका लहसुन अच्छा होते भी जाड़ा-बुखारमें हानिकारक है। फल होता, ज्वर छूटनेके साथ तिल्लीका बढ़ना। ज्वर छूटते ही फिर स्कूल। अब दोपहरके खानेको भुना हुआ चना या दूसरा दाना नहीं दिया जाता, बल्कि घरकी बनी पूड़ी मिलती, जो अक्सर मीठी होती थी। नानीको इतना ही मालूम था, कि घीकी पूड़ीमें ताक़त होती है, और ताक़त आनेपर तिल्ली दब जाती है। तिल्ली

पन्दहामें कम खतरनाक बीमारी न थी। सतमीका लड़का सुद्धू और हमारे कुछ दिनोंके स्कूलके साथी सम्पत् तिल्लीसे ही मरे थे।

नानाने मुझे अपना उत्तराधिकारी बनाकर रखा था, इसलिए उनके भतीजों विशेषकर बड़े भाईके लड़कोंको बुरा लगना स्वाभाविक था। कभी-कभी दोनों घरोंमें कहा-सुनी भी हो जाती। मुझे ये बातें कुछ विचित्रसी मालूम होतीं, और दुःख इसलिए होता कि जेठे नानाके घर मेरा जाना कुछ दिनोंके लिए रुक जाता। वहाँ मेरी पाँच मामियाँ थीं, जिनमें सबसे छोटी--रामदीन मामाकी प्रथम स्त्री--मुझे बहुत मानती थीं, और मैं अक्सर इन मामी साहिबाके दरबारमें हाज़िर हुआ करता। उस वक़्त मुझे यह भी मालूम नहीं था, कि भाँजेको मामीसे मज़ाक़ करनेका हक़ है। यह बात तो पीछे छोटी नानीसे मालूम हुई, जब फागुनके दिनोंमें मैं उनके आगनमें सूरजबली मामाकी स्त्रीके पास चुपचाप बैठा था। छोटी नानीने कहा—'आधी मामी आधी जोय। पद लागे तो सवरो होय।'

८

रानीकीसरायकी पढ़ाई (३)

१९०३ ई० में मैं दर्जा २ पास हो गया। दर्जा ३ की नई पुस्तकें पाकर मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई, क्योंकि वे पहिलेसे संख्यामें अधिक और मोटी थीं।

इसी सालकी पाठ्य पुस्तक (मौ० इस्माईलकी उर्दूकी चौथी किताब) में मैंने नवाज़िन्दा बाज़िन्दाकी कहानी (खुदराईका नतीजा) पढ़ी। उसमें बाज़िन्दाके मुँहसे निकले, "सैर कर दुनियाकी ग़ाफ़िल ज़िन्दगानी फिर कहाँ। ज़िन्दगी गर कुछ रही तो नौजवानी फिर कहाँ"--इस शेरने मेरे मन और भविष्यके जीवनपर बहुत गहरा असर डाला, यद्यपि वह लेखकके अभिप्रायके बिलकुल विरुद्ध था।

१९०४ की जनवरीसे फिर मैं उसी तरह रानीकीसराय पढ़ने जाता। शायद इसी साल, दो सालकी प्रतीक्षाके बाद दलसिंगारको फिर पढ़नेकी इजाज़त मिली। दलसिंगार अब मुझसे दो दर्जा नीचे थे, और हम टाटपर दो जगह बैठते थे। तो भी रास्तेमें आते-जाते तथा घरपर हमें अधिक साथ रहनेका मौक़ा मिलता था, हम दोनोंको इसके लिए बड़ी प्रसन्नता थी। किन्तु यह प्रसन्नता देर तक नहीं रही। कुछ ही

महीने बाद शायद बरसातके अन्तमें दलसिंगार सख्त बीमार पड़ा। मैं हर रोज़ देखने जाता। कौन बीमारी थी यह मुझे मालूम नहीं। आखिरी दिनोंमें मैंने देखा, उसका मुँह बहुत सूज गया है, और आँखें सूजनमें ढँक गई हैं। जब दर्वाज़ेपर पहुँचता, तो दलसिंगारकी माँ मुझे दौड़कर भीतर ले जातीं। शायद उन्हें मालूम था कि बीमारी बहुत सख्त है। शायद उनको विश्वास था कि उनके घरमें विद्या नहीं 'सहती' और जो गति उनके दो पढ़े-लिखे देवरोंकी हुई, वही दलसिंगारकी भी होनेवाली है। वह जानती थीं, कि जब मैं दलसिंगारके पास रहता हूँ, तो वह अपने दर्दको भूल जाता है।

दलसिंगार आखिर चल बसा। इसी वक्त सर्वप्रथम मुझे मृत्युके चोटका अनुभव हुआ। मैं रोता नहीं था, बल्कि मेरे हृदयमें एक तरहकी असह्य एकान्तताका अनुभव होता था। मेरे दिमाग़में मौतके बारेमें तरह-तरहके ख़्याल पैदा होते थे।—मर कर दलसिंगार गया कहाँ? अगर कहीं गया है, तो क्या मैं उससे मिल नहीं सकता?

रेल और प्लेगका चोलीदामनका सम्बन्ध है, यह धारणा गाँवके लोगोंमें आम पाई जाती थी, और उसीकी पुष्टि हुई, जब कि १६०४ के अक्तूबर-नवम्बरमें रानीकी-सरायमें चूहे गिरने लगे। चूहोंको फूँक देना, घरको छोड़ देना—आदि-आदि बातोंकी हिदायत सरकारकी ओरसे छपकर पुलिन्देके पुलिन्दे हमारे स्कूलमें बाँट देनेके लिए आते थे। बा० पत्तरसिंहने स्कूलको हटाकर दो मील उत्तर रेलकी सड़कपरके गाँव मैनीमें ले जाना तै क्यिा। इतने लड़कोंके बैठने लायक़ वहाँ मकान कहाँसे मिले। जाड़ोंका दिन था, पढ़ाई खुले आसमानके नीचे होती थी। उसी समय रमज़ान पड़ा, और हमारे नायब-मुदर्रिस मुंशी अब्दुलक़दीर सूर्यास्तके समय दातुवन करते देखे जाते। पन्दहामें भी प्लेग आ गया था, इसलिए मुझे मैनी हीमें रहना पड़ता। यहीं पहिले-पहिल अपने हाथसे खाना बनाने और दाल खानेकी नौबत आई। मेरी दाल कभी भी गलती न थी, लेकिन न जाने वह क्यों बहुत मीठी मालूम होती थी।

ब्याहमें जेठे भाईकी ज़रूरत होती है, क्योंकि ब्याहकी विधिमें ज्येष्ठ द्वारा दुलहिनके गलेमें एक लाल-सूत (ताग-पाट) डालना आवश्यक है। यागेश कुछ महीने मुझसे छोटे थे, इसलिए उनके ब्याहमें यह रसम मुझे अदा करनी थी। बारात देखी तो मैंने ज़रूर थी, किन्तु बराती बनकर जानेका यह मेरे लिए पहला अवसर था। जिस समय मैं मैनीमें पढ़ रहा था, उसी वक़्त बछवलमें यागेशकी 'तिलक' चढ़ी। ससुरालवाले वैभव दिखलानेके लिए अपने साथ दो हाथी लाये। अब इसका जवाब

देना बारात ले जानेवालोंके लिए ज़रूरी हो गया। महादेव पंडितने अपने भतीजेकी बारातमें जितने हाथी हो सके उतने ले आनेके लिए अपने सम्बन्धियोंके पास सन्देश भेजा। कनैलासे जब सन्देश पन्दहा पहुँचा, तो नानाने दो हाथी ठीक किये। मेरी परीक्षा समाप्त होचुकी थी, उन्हींके साथ मैं पहिले कनैला, फिर जखनियाँके पास बारातके गाँव पंडरी गया। २१, २२ हाथी जमा हुए थे। बारात बड़े धूमकी रही। लड़कीवालोंने भी ख़ूब हौसला दिखलाया, और बारातियोंको खाने-पीनेकी शिकायत नहीं हुई। मेरे लिए हाथियोंका जमावड़ा, दर्जनों घोड़ोंकी घुड़दौड़, धूम-धामसे द्वारपूजा, दो रात नाच-गाना देखने-सुननेका मज़ा रहा। हाँ, जिन्दगीमें पहिले-पहिल इसी वक़्त मुझे जूता पहिननेको मिला था। ठोक-पीटकर उसे अपनेसे डचोढ़े पैरके लिए बनाया गया था, और उसने दस ही मिनट चलनेपर आधे दर्जन जगहोंमें काट खाया। बारातमें नंगे पैर घूमना इज़्ज़तके ख़िलाफ़ था, इसलिए काटनेमें जो और भी कसर बाक़ी थी वह भी पूरी हो गई। यह सब हो जानेके बाद तीसरे दिन जब बारात विदा होनेवाली थी, तो एक जूता ही ग़ायब। यागेशके चचेरे भाई और मेरी बुआके बड़े लड़के रामेश बारातमें सहबाला (शाहबाला) बनकर गये थे। रंडीके नाच-गाने और ख़ासकर 'मिलन' के दिनकी उसकी वीभत्स गालियोंको तो मैंने भी सुना था, किन्तु रामेश उनमें एकाध-कड़ीको कंठस्थ कर चुके थे, और बड़ी तत्परतासे घरकी स्त्रियोंके सामने उन्हें रागसे अलाप रहे थे। मैं तो शरमके मारे गड़ा जाता था।

बारातसे लौटकर आनेपर मालूम हुआ, बा० पत्तरसिंहका प्लेगमें देहान्त हो गया। शायद नायब-मुदर्रिस भी बदल गये थे, अब हमारे स्कूलमें दो नये जवान अध्यापक आये थे, बड़े अध्यापक बा० लालबहादुरसिंह नगरा (बलिया)के रहने-वाले थे, और उनकी बलियावाली 'रउआँ'वाली बोली हमें दूसरे द्वीपकी भाषा मालूम होती थी। बा० पत्तरसिंह जितने ही क्रोधी थे, बा० लालबहादुरसिंह उतने ही शीतल थे, उनके मुँहपर सदा हँसी बनी रहती थी। हमें अफ़सोस यही था, कि वे स्थायी अध्यापक होकर नहीं आये हैं, क्योंकि वे नार्मल पास नहीं हैं। दूसरे अध्या-पकका नाम याद नहीं, वह करहाके रहनेवाले योगी (मुसल्मान) थे, उनका ननिहाल निज़ामाबादके पास पड़ता था, और पन्दहाके रास्तेमें पड़नेसे वे अक्सर नानाके घर आते रहते थे। वह भी मार-पीट बहुत कम करते थे। यह कहनेकी अवश्यकता नहीं कि लड़के इस युगल जोड़ीको सदा बने रहनेकी प्रार्थना किया करते थे।

१९०४ की गर्मी चल रही थी। स्कूलकी छुट्टी हुई, प्लेग अब भी चल रहा था।

मुझे फिर कनैला जाना पड़ा, शायद एकाध मासके लिए। उस वक़्त बछवलकी बुआ भी कनैला आई थीं, और रामेश तथा मैं धरवारा—तीन मीलसे अधिक दूर—रोज़ पढ़ने जाया करते थे। यह सिलसिला ज़्यादा दिन नहीं चला। मुझे फिर पन्दहा लौट जाना पड़ा। लेकिन वहाँ एक और मुसीबत पड़ी। मेरा ब्याह करने-के लिए नानाके ससुरालके एक सज्जन एक बार आ चुके थे। नाना या नानीकी शायद उन्हें अर्धस्वीकृति भी मिल चुकी थी, तभी तो हिम्मत करके अचानक—कमसे कम मेरे लिए तो अवश्य—वे तिलक चढ़ानेके लिए आ पहुँचे। नाना शायद स्वयं असहमत थे, अथवा पिताजीकी असहमतिका उन्हें डर था, उन्होंने चुपकेसे मुझे कनैला भेज दिया। तिलक चढ़ानेवाले दूसरे दिन वहाँ जा धमके, और बहसाबहसीके बाद कई घंटा रात चढ़े तिलक चढ़ी। उसी गर्मीमें एक छोटीसी बारात गई, और ब्याह भी हो गया। उस वक़्त ग्यारह वर्षकी अवस्थामें मेरे लिए यह तमाशा था। जब मैं सारे जीवनपर विचारता हूँ, तो मालूम होता है, समाजके प्रति विद्रोहका प्रथम अंकुर पैदा करनेमें इसने ही पहिला काम किया। १९०८ ई० में जब मैं १५ सालका था, तभीसे मैं उसे शंकाकी नज़रसे देखने लगा था, १९०९ ई० के बाद से तो मैं गृह-त्यागका बाक़ायदा अभ्यास करने लगा, जिसमें भी इस "तमाशे"का थोड़ा-बहुत हाथ ज़रूर था। १९१०-११ ई०से निश्चित तौरसे मैं इसे अपना ब्याह नहीं कहता था।—ग्यारह वर्षकी अबोध-अवस्थामें मेरी ज़िन्दगीको बेचनेका घरवालोंका अधिकार नहीं, यह उत्तर उस वक़्त भी मैं अपने उन बुज़ुर्गोंको दिया करता, जो कि ब्याहके प्रति अपना कर्त्तव्य मुझे समझाते। मेरा उस वक़्तका ज्ञान बहुत परिमित था, तो भी मैं इसे घर और समाजवालोंका अन्याय समझता था, और उसे बर्दाश्त करनेके लिए तैयार न था। १९०९ के बाद घर शायद ही कभी जाता था, १९१३ के बाद को तो वह भी ख़तमसा हो गया, और १९१७ की प्रतिज्ञाके बाद तो आज़मगढ़ ज़िलेकी भूमिपर पैर तक नहीं रखा (१९४३ से पहिले)। किसी बाक़ायदा तिलाक़से मेरा यह तिलाक़—जो वस्तुतः अस्वीकृत अबोधविवाहके लिए ज़रूरी भी न था—कहीं बढ़कर था; और मैंने उसी रूपमें लिया था, इसलिए मैं समझता हूँ, उक्त घटना—ब्याह—के लिए समाजकी जगह मुझे ज़िम्मेवार ठहराना ग़लत होगा। मैंने उसे कभी न ब्याह समझा, न उसकी ज़िम्मेवारी अपने ऊपर मानी।

जून-जुलाई तक रानीकीसरायके मद्रसेकी पढ़ाई अस्थिर-सी ही रही, क्योंकि प्रधानाध्यापक लालबहादुरसिंह अस्थायी थे, और उन्हें शायद छुट्टी भी जाना पड़ा। बरसातके शुरूमें नये प्रधानाध्यापक मुंशी जगन्नाथराम आये। ये रानीकीसरायके

ही रहनेवाले थे। यद्यपि पहिले, पट्टावाले बालों, ऊपरकी ओर सँवारी मूँछोंके साथ धोतीका एक फन्दा अँगूठे तक पहुँचते देख हमें बा० पत्तरसिंह याद आने लगे, किन्तु पीछे वे बहुत मुलायम स्वभावके निकले।

रानीकीसरायके मद्रसेका आसपासके इलाक़ेमें ख़ास स्थान था, ख़ासकर रेलके टेशन हो जानेपर तो स्थानका महत्त्व और बढ़ गया। ऊँचागाँव, आँवकके लोअर-प्राइमरी मद्रसे इसके हल्क़ेमें थे, और वहाँके मुर्दारिस अपने यहाँकी रिपोर्टोंको रानीकी-सरायके प्रधानाध्यापकके द्वारा ऊपर भेजते थे। उस वक़्तका तो याद नहीं है, किन्तु बा० द्वारिकासिंहके समय आँवकके इम्दादी मद्रसेके अध्यापक एक काफ़ी उम्रके मौलवी थे। बगलेके पर जैसा सफ़ेद और हाथीके पैर समाने लायक़ उनका पायजामा, उसी तरहका साफ़ अचकन, बूटेदार सफ़ेद दुपलिया लखनऊकी टोपी, दिल्लीवाला नोक-दार लाल जूता, यह सब ख़र्चीली चीज़ें तो थीं ही, साथ ही छोरपर तीन बलखाये तीन-चौथाई सन जैसे बालोंका सँवारा पट्टा और आँखोंमें पतला सुरमा हम गँवार लड़कोंके दिलमें भी कुतूहल पैदा किये बिना नहीं रहता था। आँवकमें कातिक शुक्ल षष्ठी (?) को मेला लगता था, शायद सूर्यका। एक बड़े तालमें लोग स्नान करते थे। मन्दिर और पूजाका मुझे याद नहीं, शायद मन्दिर नहीं था। गाँवमें कितने ही मुसल्मान सम्भ्रान्त परिवार थे, जिनमेंसे एकके घर उक्त मौलवी साहेब रहते और लड़कोंको पढ़ाते थे।

अपरप्राइमरी खुल जानेपर आसपासके कई स्कूलोंके लड़के रानीकीसराय पहुँचने लगे थे। दर्जा चारमें लड़कोंकी संख्या तेरह-चौदह थी, जिसमें उर्दूका विद्यार्थी अकेला मैं ही था। शोभित शायद पिछड़ गये थे। सभी दर्जोंमें उर्दू पढ़नेवालोंकी संख्या बहुत कम ही होती थी। मुझे बाबू द्वारिकासिह हों या पत्तरसिंह, लाल-बहादुर या जगन्नाथ सबके पास हिन्दीवाले लड़कोंके साथ पाठ पढ़ते वक़्त बैठा रहना पड़ता और उनके पाठको सुननेका मौक़ा मिलता था। लिखनेका तो अवसर नहीं मिलता था, लेकिन सुनते-सुनते हिन्दीकी पुस्तकोंको भी मैं वैसेही समझ लेता जैसे अपनी उर्दूकी; बल्कि हिन्दीकी पुस्तकोंको और अच्छी तरह समझता था, क्योंकि हमारे साथी प्रायः सभी अधिक हिन्दी-पठित और उर्दूसे अल्प-परिचित थे।

सालाना इम्तिहान होता, तो रानीकीसरायसे उत्तर कुछ दूरपर पक्की सड़कके पूर्वके बाग़में स्कूलके डिप्टी-इन्स्पेक्टरका शामियाना पड़ता। कभी-कभी कोई असिस्टेंट-इन्स्पेक्टर भी पहुँच जाते, नहीं तो डिप्टी-इन्स्पेक्टर ही इम्तिहान लेते। आसपासके कई स्कूलोंके दूसरे और चौथे दर्जेके विद्यार्थी परीक्षा देने आते। कपड़े

तो उनके ऐच्छिक होते, किन्तु कश्तीनुमा टोपीका ख़ास रंग होता, और उसमें लड़के-का नम्बर उर्दू या हिन्दी अंकोंमें सफ़ेद पन्नीसे काटकर चिपकाया रहता। जिस साल मैंने चौथे दर्जे (अपरप्राइमरी)का इम्तिहान दिया, उस साल शामियाना नहीं पड़ा था। शायद रेलके सुभीतेने यह परिवर्तन उपस्थित किया हो। ज़िलेके डिप्टी इन्स्पेक्टर और दो-तीन सब-इन्स्पेक्टर पहिले ही दिन शामको पहुँच गये थे। असि-स्टेंट इन्स्पेक्टर बा० ब्रजवासीलाल आनेवाले थे। दस बजेकी गाड़ी चली गई, तो डिप्टी लोगोंने समझा अब वह नहीं आवेंगे, और उन्होंने हम लोगोंका इम्तिहान लेना शुरू कर दिया। दो फ़ेल बाक़ी सभी लड़के पास हुए, और ज़्यादा लड़के तो 'क़तई' (पूर्ण) पास।

ब्रजवासीलाल, वस्तुतः, गाड़ीमें सो गये थे। दो स्टेशन आगे जानेपर उनकी नींद खुली तो उतर पड़े, और दूसरी गाड़ीसे ३ बजेके आसपास हमारे स्कूलमें पहुँचे। ब्रजवासीलाल अपनी कड़ाईके लिए काफ़ी बदनाम थे, लेकिन किसीको यह आशा न थी, कि वह दुबारा परीक्षा लेनेका आग्रह करेंगे। आते ही उन्होंने पहिलेके परीक्षाफलको रद कर दिया और फिरसे परीक्षा लेना शुरू किया। परिणाम बिल्कुल उल्टा निकला। सारे दर्जेमें सिर्फ़ दो लड़के पास हुए—मैं और गिरिधारी-लाल, जिसमें गिरिधारीलाल भी शर्तिया या रियायती पास हुए थे। लड़कोंमें कुहराम मच गया इसके कहनेकी अवश्यकता नहीं। हिन्दी-शिक्षावली (चौथा भाग) शायद उस समय हमारे दर्जेकी पाठ्य पुस्तक थी। ब्रजवासीलालके प्रश्न शब्दोंके रटे हुए अर्थके बारेमें उतने न होते थे, जितने कि विद्यार्थीकी चतुराई देखनेके लिए। जिन प्रश्नोंके उत्तर देनेमें मेरे दर्जेके लड़के चुप रह रहे थे, उनका उत्तर देनेको मैं व्याकुल हो रहा था, यद्यपि मैं हिन्दीका विद्यार्थी न था। इसमें शक नहीं यदि मुझे हिन्दीमें भी परीक्षा देनेका मौक़ा मिलता, तो मैं उसमें भी क़तई पास हुआ होता।

ख़ैर, परीक्षा समाप्त हुई। मैं अच्छे नम्बरोंसे पास हो गया, इसे सुनकर नाना-नानीको बहुत प्रसन्नता हुई। महावीरजीको अगले मंगल सवासेर लड्डू चढ़ाया गया, वही महावीरजी जो रानीसागरके उत्तरी घाट पर रहते थे, और जहाँपर दूर-दूरके साधु-सन्तों और मृदंगमें रेलकी आवाज़ निकालनेवाले उस्ताद मदनमोहनके दर्शनोंका मुझे सौभाग्य प्राप्त हुआ था।

सारे ज़िलाके अपरप्राइमरी पास लड़कोंकी छात्रवृत्तिकी प्रतियोगिताकी अभी एक और परीक्षा मुझे देनी थी, इसलिए इम्तिहानकी छुट्टियोंमें कनैला जानेका अव-सर न था। माँ छै-सात महीनेसे बीमार थीं। पहिले मेरे सबसे छोटे भाई श्रीनाथके

जन्मके समय प्रसूतज्वर हुआ, और वही आगे बढ़ते-बढ़ते पांडुरोगमें परिणत हो गया। बीमारीमें एक बार मैं ज़रूर देखने गया था, किन्तु तब अवस्था उतनी अब्तर नहीं हुई थी। मेरे पिताका स्वभाव था——जब जिसकी अवश्यकता पड़ी, तब उसी ज्ञानकी प्राप्तिमें जुट पड़े——, अब वह रसराजमहोदधिपर पिले हुए थे, और शायद उन्होंने माँको अपनी बनाई एकाध दवा खिलाई हो, तो भी तअ्ज्जुब नहीं।

जनवरी (१९०६)का महीना था। प्लेगके कारण अबकी बार स्कूल रायपुर गया हुआ था, और मैं वहाँसे पढ़कर घर लौट रहा था। कुल्हाड़वाले घरसे हमारे घरका द्वार छिपा हुआ था, लेकिन कूयेंपर मैंने माँकी सखी दिलासीको पानी भरते देखा। मुझे देखते ही वह घड़ेको मनपर रखकर ज़रासा ठमक गई, और फिर आँखोंसे झरझर आँसू बहाते अपनेपर क़ाबू न रखते बोल उठी——'अब बच्चेको बहिनीका मुँह देखनेको नहीं मिलेगा'!!

एक ही दिन पहिले खास सन्देशा आया था, और नाना जल्दी-जल्दी कनैला गये थे। दिलासीके शब्दोंसे मुझे मालूम हो गया, कि माँका देहान्त हो चुका। दिलासी अहिरिन मेरे माँकी सखी थी। बचपनमें लड़कियाँ मिठाई या दूसरी चीज़——एक दूसरेके दाँतकी कटी हुई——को खाकर सखी बनती हैं। एक सखी दूसरी सखी-का नाम नहीं ले सकती। वे आपसमें झगड़ा नहीं कर सकतीं। व्याहके बाद तो अपनी-अपनी ससुराल चली जाती हैं, इसलिए यह सखित्व अचल स्थायी बन जाता है, क्योंकि उनमें पारस्परिक वैमनस्यकी गुंजाइश नहीं रह जाती। दिलासी मेरी माँकी वैसी ही सखी थी। उसका व्याह हुआ था, किन्तु मैं उसे हमेशा अपने भाइयोंके घरमें ही देखता था। शायद पति-पत्नीमें झगड़ा रहता हो। दिलासी मुझको लड़केकी तरह मानती थी। वह ग़रीब थी, इसलिए उसका प्रेम उसके भावोंसे ही प्रकट हो सकता था। दिलासीने, मैं शायद घबरा जाऊँ——इसी डरसे अपने ऊपर पूरा नियंत्रणकर अपना वह उद्गार प्रकट किया था।

घरमें जानेपर देखा नानी विह्वल हो रो रही हैं। नाना अलग आँसू बहा रहे हैं। मेरे कलेजेमें भी ठंडी हवाके झोंके धक्का देते थे, चित्तमें एक अजीब तरहका अवसाद मालूम होता था, तो भी न मैं चिल्ला रहा था, न आँखोंमें आँसूका नाम था। मैं एक घोर चिन्तामें पड़ गया था। रह-रहकर माँका चेहरा मेरे मानसनेत्रोंके सन्मुख आता। मर जानेकी बातसे चित्त विकल होने लगता, फिर ख़्याल आता, नहीं माँसे भेंट ज़रूर होगी, शायद वह फिर जी जावेगी——मुर्दे जी जाते भी सुने गये हैं; शायद वह यमराजके यहाँसे लौट आवे, मरे हुए आदमी चितापर जी जाते देखे गये हैं।

लेकिन यदि कहीं माँको जला दिया गया हो––नानाने कहा था, कि उसे गंगाजी जलानेको ले गये––, तो फिर ? तो भी मैं निराश नहीं होता था, मुझे विश्वास ही नहीं पड़ता था, कि माँ फिर नहीं आवेगी। ग्यारह वर्षकी अवस्थामें भी लड़के विस्तृत ज्ञान रखनेवाले देखे जाते हैं, लेकिन मेरी परिस्थिति उन लड़कोंकी-सी नहीं थी। मैं एक गाँवमें पैदा हुआ था, और ऐसे नानाके घरमें, जिन्होंने अँगूठा लगानेके डरसे सिर्फ़ अपना हस्ताक्षर भर करना सीखा था। मुझसे अधिक पढ़ा न नानाके गाँवमें कोई था और न कनैलामें। बहुश्रुत, बहुवित्, बहुदर्शी पुरुषोंका दर्शन और संग भी मुझे अप्राप्य था। धार्मिक कथाओंके सुननेका भी अवसर नहीं मिलता था। इस प्रकार मेरे आँसू न 'ब्रह्मज्ञान'के कारण रुके हुए थे, और न किसी और तत्त्व-साक्षात्के कारण। मेरी सान्त्वना और धैर्यका कारण एक भोलेभाले ग्रामीण लड़केका सीधा-सादा विश्वास था। श्राद्धके वक़्त कनैला जानेपर यद्यपि माँके लौटनेका विश्वास कम हो गया था, तो भी कातरता नहीं आने पाई थी। शायद, इसमें बँटा हुआ स्नेह भी कारण हो सकता है। आखिर, सालमें साढ़े ग्यारह महीनेके लिए तो नानी मेरी माँ थीं––और मैं उन्हें माँके ही नामसे पुकारता भी था।

६

एक क़दम आगे

रानीकीसरायकी पढ़ाई समाप्त हो गई। पन्दहासे नज़दीक ३-४ मीलपर निज़ामाबादका मिडल स्कूल पड़ता था, नानाने मुझे वहीं भेजनेका निश्चय किया। यद्यपि मार्च(?)के महीनेमें अभी छात्रवृत्ति-प्रतियोगिताकी परीक्षामें शामिल होना था, किन्तु फ़र्वरी (१६०६)में ही नाना निज़ामाबादमें पहुँचा आये। उस वक़्त वहाँ भी प्लेग था, और स्कूल टौंस नदीके उसपार एक नीलके गोदाममें चला गया था। यद्यपि उस वक़्त तक, नीलकी खेती बन्द हो जानेके कारण आम तौरसे पुराने नील-कारख़ाने गिर-पड़ गये थे, किन्तु इस कारख़ानेके सभी मकान अभी साबित थे। मकानोंके भीतर नीलकी बटियोंके रखने या सुखानेके लिए तहपर तह जमाये. वांसके चांचरोंके तख़्ते भी मौजूद थे। इन्हीं चांचरों पर रातको हम लोग सोते थे।

अभी तक अपने दर्जेमें मैं उर्दूके अकेले-दुकेले लड़कोंमें था, किन्तु यहाँ हिन्दीवालोंका बहुमत होते भी उर्दूवाले भी काफ़ी संख्यामें थे। यहाँका वायुमंडल गाँवसे अलगसा मालूम होता था। मेरे दर्जेमें जनकसिंह, द्वारिकाप्रसाद और दो-तीन और निज़ामाबाद क़सबेके रहनेवाले लड़के थे, सभी उर्दू पढ़ते थे, इसलिए हम सबका उठना-बैठना एक साथ होता था। क़स्बाती लड़के अपनी नागरिकताके घमंडमें, हम सबको दीहाती कहकर चिढ़ाते थे, और हमलोग भी उन्हें कोई न कोई पदवी दिये बिना नहीं रहते थे। यह क़स्बाती और दीहाती संस्कृतिका झगड़ा बहुत दिन तक नहीं चलता था। कुछही महीनोंमें अधिकांश दीहाती लड़के भी क़स्बाती संस्कृतिमें दीक्षित हो जाते थे। हाँ, हमारे निज़ामाबादके गौड़-कायस्थ 'आइन'-'गइन'-वाली जो अवधी बोलते थे, उसे हम नहीं सीख पाते थे।

अभी बाक़ायदा पढ़ाई नहीं हो रही थी। बाहरसे आनेवाले नये लड़के भी बहुत कम आ पाये थे। मिडल-वर्नाक्युलरका इम्तिहान मार्च या अप्रेलमें होता था, इसलिए नये दर्जेकी पढ़ाई उसके बादसे ही होती थी। मेरे क़स्बाती सहपाठी भी छात्रवृत्ति-प्रतियोगिताकी तैयारी कर रहे थे, मैं भी उनके साथ शामिल हो गया। मैं गणितका अच्छा विद्यार्थी था, और दूसरे विषय भी मेरे अच्छे थे। हमारे रानीकी-सरायके अध्यापकका कहना था, कि मैं ज़रूर छात्रवृत्ति पाऊँगा; किन्तु जब मैंने यहाँ अपने साथियोंको घड़ी तथा दूसरे हिसाबको लगाते देखा, और पूछनेपर मालूम हुआ कि यह भी दर्जा ४ के पाठ्यमें है, तो मुझे निराशा-सी हो गई। रानीकीसरायके पाठ्यविषयमें अज्ञता या आलस्यके कारण कितनी ही बातें नहीं पढ़ाई गई थीं। शुरू हीसे मेरे उर्दू पढ़ानेवाले अध्यापक––द्वारिकासिंह, पत्तरसिंह, लालबहादुरसिंह या जगन्नाथराम––सभी ज़बर्दस्ती उर्दू पढ़ाते थे, और इसीलिए निज़ामाबादके साथियोंके मुक़ाबिलेमें मुझे अपनी उर्दू कमज़ोर जँचती थी। अब प्रतियोगिताके लिए समय भी कम रह गया था, इसलिए कमीके पूरा करनेकी सम्भावना नहीं थी, और इसी बीच रानीकीसरायके अध्यापकका सन्देशपर सन्देश आने लगा––प्रतियोगिताकी सफलताका श्रेय उन्हें मिलनेवाला था, इसलिए वह विशेष तैयारी करानेके लिए उकता रहे थे। रानीकीसराय पहुँचनेपर जब मैंने घड़ीके तथा दूसरे हिसाबोंको निज़ामाबादमें लगाये जानेकी बात कही, तो उन्होंने यह कहकर टाल दिया––वे लोग अगले सालका हिसाब लगा रहे हैं। आज़मगढ़से उत्तर मँदुरीमें पोखरेके पासके बड़े बग़ीचेमें सारे आज़मगढ़ ज़िलेके दर्जा ४ में 'क़तई' पास लड़के परीक्षा देने आये। आधे हिसाब वे ही आये, जिन्हें हमारे अध्यापक दर्जा ५ का पाठ्य सम-

झते थे। परिणामके लिए कमसे कम मुझे प्रतीक्षा करनेकी अवश्यकता न थी।

मार्च या अप्रेलमें, जबसे निज़ामाबादमें हमारी बाक़ायदा पढ़ाई शुरू हुई, तब तक प्लेग चला गया था, और स्कूल अपने मकानमें चला आया था। मिडल स्कूलका मकान भी शकल-सूरतमें रानीकीसरायके मकान ही जैसा था। वैसा ही बीचमें बड़ा हाल, चारों तरफ़ बरांडा, खपड़ैलकी छाजनी—हाँ, जहाँ रानीकीसरायमें बरांडेमें कोनोंपर सिर्फ़ दो कोठरियाँ थीं, वहाँ यहाँ चारों कोनोंपर चार कोठरियाँ थीं, और हाल बहुत बड़ा था। हालमें दक्षिण तरफ़ प्रधानाध्यापक मौलवी ग़ुलाम-ग़ौसख़ाँ, बीचमें द्वितीयाध्यापक पंडित सीताराम श्रोत्रिय, और उत्तरी छोरपर तृतीयाध्यापक बा० जगन्नाथरायकी कुर्सियाँ, और तीन तरफ़ तीन बेंचोंसे घिरे तीन मेज़ें थीं—तृतीयाध्यापककी जगह पहिले एक मौलवी थे। उत्तर और दक्षिणवाले अध्यापक क्रमशः दक्षिण और उत्तर मुँह बैठते थे, और श्रोत्रियजी पूरब मुँह। अध्यापकोंकी कुर्सीके पीछे थोड़ासा बायें हटकर तख़्ता-स्याह (ब्लेक-बोर्ड) रहा करता था। लड़के पाठ लेते वक़्त अध्यापकके सामने बेंचोंपर बैठते थे, नहीं तो पूरबवाली दीवारकी जड़में उनके बैठनेके लिए ज़मीनपर दो फ़ीट चौड़े टाटकी पट्टी बिछी हुई थी। हालके पच्छिमवाले बरांडेमें ब्रांच-स्कूल था, जिसमें लोअर और अपरप्राइमरीके लड़के पढ़ते थे। पंडित गंगा पांडे उसके प्रधानाध्यापक, हमारे दूरके रिश्तेमें पड़ते थे, इसलिए कितने ही समय तक मेरी रसोई उनके साथ बनती थी। इस बरांडेके पीछे कुछ खाली ज़मीन थी, जिसमें हारीज़ेंटलबार, पेरेलल्‌बार और कूदनेके लिए एक अखाड़ा था। बारका इस्तेमाल होना शायद ही मैंने कभी देखा था, किन्तु अखाड़ेमें कूदनेका कभी-कभी मुझे मौक़ा मिला था, और लम्बी और ऊँची कुदान में भी काफ़ी कूद लेता था; यद्यपि सबमें प्रथम होनेवाले हमारे सहपाठी सरयूसिंह थे। अखाड़ा कोनेवाली कोठरीके क़रीब था, और उसके बाद ही हरफ़ा-रेवड़ीका एक दरख़्त था; जिसके छोटे-छोटे खट्टे फलोंको हम बड़े चावसे खाते थे। स्कूलके पूर्ववाले बरांडेके बाहर एक लम्बासा पक्का प्लेटफ़ार्म था, जो प्लेटफ़ार्मके ख़्यालसे उतना नहीं बना था, जितना कि चार-पाँच फ़ुट नीचेसे जानेवाली सड़कमें गिरनेवाले पानीकी धारसे स्कूलकी इमारतकी हिफ़ाज़तके ख़्यालसे। शामके वक़्त कभी-कभी हमारा पाठ इस प्लेटफ़ार्मपर भी होता था।

सड़ककी दूसरी तरफ़ दो जगह बोर्डिंगकी कोठरियोंकी क़तारें थीं, जो स्थानीय एक बड़े ज़मींदार सर्दार नान्हकसिंह(?)की सम्पत्ति थी। कोठरियोंके बरांडों, हीमें रसोई बनानेके चूल्हे थे।

नानाने मेरे रहनेका इन्तज़ाम बाज़ारमें एक ठाकुरवाड़ीमें किया था। ठाकुर-वाड़ी क़स्बेके एक व्यापारी, शायद महँगी साहुकी बनवाई हुई थी। पुजारी बूढ़े नाटे, किन्तु काम-काजमें बड़े फुर्तीले एक आचारी साधु थे, जो बात-बातमें साहुको दस सुना देना अपना कर्तव्य समझते थे। पता ही नहीं लगता था, कि ठाकुरवाड़ीके मालिक पुजारीजी हैं या साहु। यद्यपि पुजारीके कथनानुसार, ठाकुरवाड़ीमें क्या लगा था,—मुर्दोंके क़ब्रोंकी खोद कर लाई लाखौरी ईंटें और कुछ चूना सुर्खी; किन्तु वस्तुतः वह एकदम इतनी ख़राब न थी। ठाकुरजी (शायद राम-लक्ष्मण-सीता)की कोठरीके तीन तरफ़ परिक्रमाकी गली, फिर दो कोठरियाँ, सामने सभामंडप—झाड़-फन्नूससे सुसज्जित, जिसके उत्तर-दक्खिनमें कोठेदार बारहदरियाँ, सामने छोटासा पक्का आँगन, जिसके एक कोनेमें मीठे पानीकी पक्की कुइयाँ, आँगनके उत्तर-दक्खिन दो कोठरियाँ। बाहरका दर्वाज़ा बाज़ारकी सड़कपर खुलता था।

यद्यपि मैंनीमें एकाध-महीने कच्ची-पक्की रसोई मैं बना चुका था, किन्तु वह मेरे और नाना-नानीके विचारमें सन्तोषजनक न था; इसलिए, और लड़केको अनुशासनमें रखनेके ख़्यालसे भी मुझे इस ठाकुरद्वारेमें रखना पसन्द किया गया। पुजारीजी पक्के आचारी थे, इसलिए रसोईके भीतर मुझे जानेकी इजाज़त ही कहाँसे हो सकती थी? पानी-बासनका काम भी उनके एक शिष्य किया करते थे। पुजारी-को ग़ुस्सा बहुत जल्द आ जाया करता था, तो भी उनका बर्ताव मेरे प्रति बहुत अच्छा था। पढ़ाई रानीकीसरायकी तरह सारे दिनभर नहीं चला करती थी, वह शुरू होती थी दस बजेसे, खेल-कूद लेकर शामको स्कूलसे छुट्टी मिलती थी। स्कूल ठाकुर-द्वारेसे कुछ दूर था। पुजारी एक क्षण भी चुप-चाप बैठ नहीं सकते थे। स्नान, पूजा, झाड़ू-बहारू, रसोई-अमनिया, दिया-बत्ती, पोथी-पाठ—कुछ न कुछ काम उनको हर वक़्त लगा रहता था। कहनेको मैं अब धर्मस्थानमें था, किन्तु मैं वैसाका वैसा ही कोरा रहा, और मुझपर भक्तिभावकी एक छींट भी पड़ने न पाई। पुजारीजी सिखाने-पढ़ानेकी कभी कोशिश नहीं करते थे। कुछ दिनों बाद हमारे दर्जेका एक राजपूत लड़का भी ठाकुरद्वारेमें रहनेके लिए आ गया, उसके बादसे तो हमारी दुनिया ही अलग हो गई।

तीन-चार मास रहते-रहते मेरा मन ठाकुरबाड़ीसे उदास हो गया। कारण, शायद पुजारीका चिड़चिड़ा मिज़ाज था। नानाने बोर्डिंगमें रहनेकी इजाज़त दे दी। उत्तरके बोर्डिंगमें दक्खिनके छोरवाली कोठरीमें हम दो या तीन लड़के रहते थे। रसोई अध्यापक गंगापांडेके साथ थी। दाल, चावल, तरकारी तो मैं बना लेता था,

किन्तु रोटी पांडेजीको सेंकनी पड़ती थी, उसे मुझपर छोड़नेपर तो उन्हें शायद रोज़ लवणभास्करकी ज़रूरत पड़ती।

निज़ामाबाद पुराना क़स्बा है। कहते हैं, औरंगज़ेबके एक लड़के आज़मशाहके नामसे आज़मगढ़ बसा, दूसरे निज़ामशाहके नामसे निज़ामाबाद। यह मैं उस समयकी सुनी-सुनाई बातोंको कह रहा हूँ। हो सकता है, निज़ामाबाद और पहिलेसे चला आया हो, और वस्ती तो मुसल्मानी समयसे पहिलेकी भी हो सकती है, वहाँके कुछ स्थानोंको रजभरोंके राज्यसे सम्बन्द्ध किया जाता था। किसी समय निज़ामाबाद की बस्ती और दूर तक फैली हुई थी, यह उसके पुराने आबादीके चिह्न बतला रहे थे, जिनमेंसे कितनेकी दीवारें अब भी खड़ी थीं। छोटी-पतली लाखौरी ईंटोंकी इमारतें, मेहराब और क़ब्रें तो जगह-जगह खड़ी और गिर-पड़ रही थीं! कितने ही तहख़ानों, ज़मीनके भीतर बने अलद्दीनके महल जैसे महलों, तालाबोंकी कथायें मशहूर थीं। पुजारीजीके कहनेमें कुछ सच्चाई भी थी, उनका ठाकुरद्वारा ही नहीं कितने ही और भी मकान निज़ामाबादमें इन्हीं पुरानी इमारतोंकी ईंटोंसे बने थे।

क़स्बेमें मुसल्मानोंकी संख्या काफ़ी थी। पच्छिम तरफ़के क़ाज़ी साहेबकी ज़मींदारी यद्यपि बहुत कुछ बिक चुकी थी, तो भी उनकी प्रतिष्ठा बहुत थी। ये लोग शिया थे, और निज़ामाबादका अलम (झंडा) गाड़ीपर रखे बड़े-बड़े तबलके साथ बहुत धूमधामसे निलकता था। क़ाज़ी-परिवारमें कोई प्रसिद्ध व्यक्ति उस वक़्त नहीं था। उनके महल और पक्की चहारदीवारीके भीतर लगे तरह-तरहके फलके बग़ीचे मेरी नज़रमें उस समय दुनियाकी अद्भुत मायासी जान पड़ते थे। क़ाज़ी-परिवारकी सम्पत्ति कैसे नष्ट हुई, इसके बारेमें बहुतसे कथानक प्रसिद्ध थे। कोई कहता, उनके पाख़ानेकी दीवारोंमें अतर पोता जाता, कोई कहता झुंडकी झुंड रंडियाँ उनके यहाँ इन्द्रसभा रचाती थीं। मेरे सामने उनके घर जौनपुरसे एक बारात आई। ख़ूब काग़ज़की फुलवारी, बाजा-गाजा, गैसकी रोशनीका जलूस निकला। नामी-नामी तवायफ़ नाचने आई थीं। शादीके बाद भी दामाद साहेब शायद एकाध महीने तक ससुरालमें रहे। क़ाज़ी-परिवार बादशाही ज़मानेमें शहरके क़ाज़ी (न्यायाधीश) रहे होंगे, इसके कहनेकी अवश्यकता नहीं। हो सकता है, ये लोग जौनपुरकी बादशाहतके ज़मानेमें यहाँ आये हों, और निज़ामाबाद भी उसी समय उन्नतिके शिखरपर पहुँचा हो। निज़ामाबाद टौंस नदीके किनारे होनेसे व्यापारके लिये अनुकूल स्थितिमें था। हो सकता है, पहिले यह व्यापारका भी एक अच्छा केन्द्र रहा हो। यद्यपि रेलके आनेके बाद रानीकीसरायका सितारा ओजपर था, उसकी दूकानें मेरे देखते-

देखते संख्या और धन दोनोंमें बढ़ गई थीं। नये आये मारवाड़ी व्यापारियोंने तो कपड़ेकी थोकबिक्रीका कारबार शुरू करके रानीकीसरायको आसपासके इलाक़ेके व्यापारकेन्द्र बना दिया था। निज़ामाबाद रेलके स्टेशनों--रानीकीसराय और फरिहा--से ४, ५ मील दूर था, इसलिए वहाँ व्यापारिक उन्नतिकी बहुत सम्भावना न थी, तो भी वहाँकी पैंठ बड़ी थी। निज़ामाबाद अपने बेल-बूटा किये काले मिट्टीके बर्तनोंके लिए ज़िले हीमें नहीं प्रान्तमें भी काफ़ी विख्यात था। निज़ामाबादके कुम्हारों-में अधिकांश मेरे नानाके चचाके यजमान थे। कथा-पूजा होनेपर भोजमें मेरा बुलावा ज़रूर होता था, और परनानाकी साली--जिन्हें गाँवभर मौसी कहा करता था--के हाथकी बनी परवलकी तरकारी मुझे ख़ास तौरसे पसन्द आती थी।

निज़ामाबादके पूर्व छोरपर एक और प्रतिष्ठित मुस्लिम-परिवार रहता था। इनके पास अभी काफ़ी ज़मींदारी थी। उनका एक गाँव रानीकीसरायसे पूरब पड़ता था, और घरके एक तरुणको भोटिया (नेपाली?) टाँघनपर क़दम उड़ाते अक्सर मैं पन्दहा और रानीकीसरायके बीच देख चुका था। उसके ही घोड़ेकी सवारीको देखकर, बल्कि रानीकीसरायवाले कालमें कितनी ही बार मेरी इच्छा होती--एक तेज़ घोड़ा रहता, और एक विलायती कुत्ता (यह भाव शायद बा० द्वारिकासिंहकी कुत्तीसे मिला था), घोड़ेको दौड़ाते हुए मैं चलता, और कुत्ता पीछे-पीछे भागता आता।

क़स्बेके तीसरे बड़े रईस सर्दार नान्हकसिंह(?) थे। पुराने बादशाही ज़मानेमें ही निज़ामाबादमें गौड़-कायस्थ और उनके पुरोहित सनाढच ब्राह्मण बस गये थे। ये लोग ज़िलेकी साधारण आबादीमें द्वीपकी भाँति थे। इन परिवारोंको अपनी शादी-ब्याहके लिए दूर-दूर ज़िलोंकी ख़ाक छाननी पड़ती थी। इनमें यद्यपि केशधारी सिख कम थे, किन्तु थे सभी सिख। क़स्बेके भीतर एक संगत (गुरुद्वारा) थी, और बाहर नदीके घाटपर भी एक मन्दिरसा था। संगतके महन्त बाबा सुमेरसिंह थे। संगतमें कभी-कभी कड़ा-प्रसाद (हलवा) बँटता, जिसे लेनेके लिए हम स्कूलके लड़के बराबर पहुँच जाया करते थे। हमारे दर्जेमें पाँच गौड़ लड़के थे, जिनमें जनकसिंह, तथा एक और बाल रखे हुए थे, और बाक़ी तीन बिना बालके। पहिले मैं सिखोंको अलग जाति समझता था, किन्तु जब मालूम हुआ कि मेरे एक केशरहित साथीका ननिहाल सर्दार नान्हकसिंहके यहाँ है, दो साथियोंमें एक सिखका मामा बिना केशका है; तो बड़ा कौतूहल हुआ। पंडित अयोध्यासिंह उपाध्यायका जन्मस्थान होनेके कारण निज़ामाबाद एक साहित्यिक स्थान है, किन्तु उस वक़्त मुझे इसका कोई पता

न था। मुझे इतना ही मालूम था, कि पंडित अयोध्यासिंह क़ानूनगो पहिले निज़ामाबादमें प्रधानाध्यापक थे, हमारे गणितके अध्यापक पंडित सीतारामश्रोत्रिय उनके विद्यार्थी और सजातीय हैं। पंडित अयोध्यासिंह कवि हैं, उनका उपनाम "हरिऔध" है, इससे मैं बिल्कुल अपरिचित था। हाँ, जब अपने एक साथीको अपने पिताकी बनाई कवित्तोंको पढ़ते देखकर मैंने भी कुछ कवित्त-सवैया गढ़ डालीं, तो दूसरे साथियोंने बतलाया--कविता करना बड़े जोखिमका काम है, छन्दमें एक मात्राके भी टूट जानेपर बड़ा पाप होता है। उन्होंने उदाहरणके तौरपर बतलाया--पहिले पंडित सीतारामजी कविता किया करते थे, किन्तु इसी ग़ल्तीके कारण उनके लड़के मर जाते थे। अब उन्होंने कविता छोड़ दी है, तभी यह २, ३ वर्षका लड़का जीवित है। ख़ैर, कविता करनेकी मुझमें अन्तः प्रेरणा तो थी नहीं, जो भयसे उसे छोड़ बैठता, वह तो देखादेखी थी, और वहीं ख़तम हो गई।

निज़ामाबादमें मनोरंजनकी सामग्री काफ़ी थी। शीतला और नदीपार कोई दूसरा मेला लगता था। शीतलाका मेला तो सावनमें हर सोमवारको लगा करता था, जिसमें दूर-दूरकी स्त्रियाँ शीतला देवीको 'कढ़ाई' (पूड़ी-हलवा) चढ़ाने आया करती थीं। पढ़नेके लिए आनेसे पहिले भी मैं एक बार नानीके साथ वहाँ आ चुका था। मन्दिरका स्मरण नहीं, एक बाग़ था, जिसमें कढ़ाइयाँ चढ़ती थीं। शायद लड़कोंके बाल काटे तथा सूअरके छौनोंकी बलि भी चढ़ाई जाती थी। नाचनेवाले लड़के रहते थे, मानता माननेवाली माँयें उन्हें ज़मीनपर बिछे अपने आँचलके कोनेपर नचाती थीं। निज़ामाबादमें रामलीला भी होती थी, और उसका भरतमिलाप तो हमारे बोर्डिंगके पीछेवाले ठाकुरद्वारेके हातेमें होता था। क़स्बेके लाला लोग नाच-गानके भी शौक़ीन थे, स्वयं नाचते नहीं, बल्कि बाहरसे आनेवाली रंडियोंका मुजरा अक्सर कराया करते थे। हम विद्यार्थियोंके लिए इन नाचोंमें जाना आसान काम न था। अगर पता लग गया, तो दूसरे दिन पंडित सीतारामकी छड़ी बरसे बिना नहीं रहती। क़स्बाती लड़कोंसे ख़बर भर मिल जाया करती थी, मैं शायद एक-दो बार ही किसी हातेकी दीवार फाँदकर भीतर पहुँचा था, और खड़ी हुई भीड़के पीछे छिपकर देखता रहा। रानीकीसरायमें रहते एक-दो बार डिस्ट्रिक्ट-बोर्डके ड्रिलमास्टर हमारे स्कूलमें भी आये थे, और उन्होंने कुछ दंड-कसरत सिखलाया था, लेकिन उनके जाते ही कहाँका दंड और कहाँकी कसरत? निज़ामाबादमें तो वैसे किसी चलते-फिरते ड्रिलमास्टरके भी दर्शन नहीं हुए। ज़िलाभरके स्कूलोंका रस्साकशी, ड्रिल, कूद और दौड़का टूर्नामेंट हर साल आज़मगढ़में हुआ करता

था। उस साल हमारे यहाँ के भी १४, १५ लड़के शामिल हुए थे। इसके लिए उन्हें काले गल्ता (आधा रेशमी आधा सूती कपड़ा)के कोट बनवाने पड़े थे। दर्ज़ी हमारे स्कूलके ही कोई भूतपूर्व विद्यार्थी थे, जो जातसे दर्ज़ी नहीं बल्कि अशरफ़ ख़ान्दानसे तअल्लुक़ रखते थे। वे बाहर घूमे हुए थे, और वहीं मशीन चलाने और दर्ज़ीके कामको उन्होंने सीखा था। दावा तो उनका पूरे उस्ताद होनेका था, किन्तु कोटोंके सिलकर आनेपर सभी पछता रहे थे। उनके लम्बे-लम्बे अंग्रेज़ी बाल, तड़क-भड़कवाली पोशाकमें छोटी एड़ीवाला लेडी-शू भी शामिल था, जो मेरी नज़रमें, उस समय अनुचित नहीं था। शायद टूर्नामेंटमें हमारे स्कूलको कोई इनाम नहीं मिला, और मिलता क्या, सिर्फ़ गल्ताका कोट सिला लेनेके लिए !

आरम्भमें अपने क़स्बाती लड़कोंके सामने मैं अपनेको हक़ीर समझता था। उनकी सरौतेकी तरह सरासर चलती ज़बान——सो भी 'आइन रहा' 'गइन रहा' जैसी किसी विदेशी भाषामें——मेरे जैसे गँवारू लड़केपर रोब जमाये बिना कैसे बाक़ी रह सकती ? मैं जनक, द्वारिकाप्रसाद और दूसरे भी कितने क़स्बाती लड़कोंको बहुत तेज़ विद्यार्थी समझता था, किन्तु वह धाक ज़्यादा दिन तक क़ायम न रही। तीन-चार महीना बीतते-बीतते मैं सारे दर्जेमें अव्वल हो गया। गणितमें जहाँ दूसरे लड़कोंकी रूह काँपती थी, वह मेरे लिए बायें हाथका खेल था। इतिहासमें सन्को छोड़कर और बातोंको तो मैं पाठ समाप्त होनेके साथ दुहरा दिया करता। भूगोलके अध्यापक बा० जगन्नाथराय तो कितनी ही बार पाठ सुननेका काम मेरे ऊपर छोड़ दिया करते। बा० जगन्नाथरायके पहिले एक कम-उमरके मौलवी कुछ दिनों तक अध्यापक रहे। सुना जाता था वे अरबी-फ़ारसी भी जानते हैं, किन्तु हमें तो बहारिस्तान और उर्दू व्याकरण भर पढ़नेसे मतलब था। उनके चले जानेपर भाषा पढ़ानेका काम बूढ़े मौलवी ग़ुलामग़ौसख़ाँ करते थे।

मौ० ग़ुलामग़ौस ठिगने-पतले क़दके ६० वर्षके बूढ़े आदमी थे। उनके पट्ट और दाढ़ीके सभी बाल सफ़ेद थे। एक बार किसीने ख़बर उड़ा दी '५६ सालामें सभी अध्यापक हटाये जानेवाले हैं', तो कितने ही महीनों तक हर हफ़्ते उनके बालोंमें खिज़ाब लगता रहा। बेचारोंको बीस रुपया मासिक मिलता था, और उसीके सहारे तीन लड़कों और घरके दूसरे व्यक्तियोंका पालन-पोषण करना था। उनका मझला लड़का इब्राहीम हमारा सहपाठी था। वह और उसका छोटा भाई पिताके साथ रहते थे। बड़ा लड़का यासीन(?) मेट्रिकमें फ़ेल होने लगा, तो मौलवी साहेबने उसे गोरखपुर ड्राफ़्टमैनका काम सीखनेको भेज दिया। १५) महीना तो

उन्हें बड़े लड़केको भेज देना पड़ता था, बाक़ी पाँच रुपयेमें वे कैसे अपना गुज़ारा करते थे, यह समझना मेरे लिए एक पहेली थी। मौलवी साहेबको गुस्सा बहुत कम आता, जब आता तो लड़कोंपर तड़ातड़ छड़ियाँ टूटतीं। हमारी किताबमें जहाँ-तहाँ पुराने पैग़म्बरों, मूसा, दाऊद आदिका भी ज़िक्र आता, फिर तो मौलवी साहेब "कससुले-अंबिया" लेकर बैठ जाते, और पाठ पढ़नेका सारा समय उसीमें बीत जाता।

पंडित सीताराम श्रोत्रिय बड़े गुरु-गम्भीर तबियतके आदमी थे। विद्यार्थी उनका रोब सबसे ज़्यादा मानते थे। गणित और हिन्दीका अध्यापन उनके हाथमें था। उर्दूके विद्यार्थी होंनेसे मुझे गणितकेलिए ही उनके पास जाना पड़ता। गणितमें मैं तेज़ था, इसलिए मार खानेकी नौबत नहीं आती थी। हाँ, एक बारकी जाड़ोंकी बात है। इम्तिहान क़रीब आनेपर विद्यार्थियोंसे दूनी मेहनत ली जाती थी। दिनकी पढ़ाई तो होती ही थी, रातको खानेके बाद लालटेनके किनारे बैठकर हम पाठ याद किया करते। सबकी तरह मैं भी पढ़ने जाता, लेकिन सौ-सौ मनकी नींद मेरे पलकोंपर बैठी रहती। पंडितजी और तृतीय अध्यापक पासमें चारपाई बिछाकर बैठते, कि कोई सोने न पावे। जैसे ही वे लोग वहाँसे हटे, कि बन्दा वहाँसे रफ़ूचक्कर। बोर्डिंगसे ढूँढ़कर पकड़के आनेपर—'पानी पीने गया था'का बहाना करता था। अक्सर दोनों हथेलियोंपर गाल रखकर ज़मीनके पास झुककर मैं ऐसे पढ़ता था, जिसमें सो रहा हूँ या पढ़ रहा हूँ, इसका पता न मालूम हो सके। अध्यापकोंका हुक्म था, कि सोनेवाले लड़केकी नाक देखनेवाला लड़का मल दे। मेरी नाक मलनेकी किसीको हिम्मत न होती थी, इसलिए नहीं कि मैं शरीरसे बलिष्ट था, और पीछे ख़बर लेता; बल्कि मैं दर्जेका सबसे तेज़ लड़का था। किसी काममें व्यस्त रहनेपर पाठ सुनने और सवाल करनेका काम कितनी ही बार मुझको मिल जाता था, और इतिहास, भूगोल, दूसरी भाषा आदि विषय—, जो कि बा० जगन्नाथरायके पास थे——तो प्रायः हर रोज़ ही मेरे हाथमें आते थे। नाक पकड़नेवालेपर दनादन दो-तीन कड़े-कड़े सवाल कर देता। एकका न जवाब देनेपर बेंचके ऊपर खड़ा होना, दूसरेके जवाब न देनेपर यदि बच गये, तो तीसरे तक तो ज़रूर अध्यापकको दृढ़ हो जाता कि लड़का पाठ नहीं याद करता; और बा० जगन्नाथराय जैसे शान्त स्वभावके आदमीको भी छड़ी उठानी पड़ती। यही कारण था, जो कि सहपाठी मुझे छेड़ना नहीं चाहते थे। पं० सीताराम और दूसरे अध्यापकोंको मालूम हो गया था, कि मैं रातको नहीं पढ़ता। लेकिन करते क्या, इतिहास, भूगोल जैसी

रटनेवाली चीज़ें तो मुझे पढ़ातेके साथ याद हो जाती थीं, फिर जवाब देनेमें चूक हो तब न छड़ी खींची जावे। एक दिन पंडितजीने गणितका ऐसा प्रश्न दे दिया, जिसे दो-तीन मास पहिले पढ़कर हम छोड़े हुए थे। आवृत्ति करते थे, किन्तु सारे क़ायदोंकी रोज़-रोज़ आवृत्ति थोड़े ही हो सकती थी। सवालमें ग़लती हुई। और सब लड़के तो बच गये, पंडितजीने 'बड़े तेज़ूख़ाँ बने हैं' कहकर मेरे ऊपर ताबड़-तोबड़ दो-तीन छड़ी जमाई। पढ़नेकेलिए छड़ी खानेका शायद यही एक मौक़ा मुझे निज़ामाबादमें मिला।

मौ० ग़ुलामग़ौसख़ाँको ग़ुस्सा कभी-कभी आता था, किन्तु वह रहता था बहुत कम देर तक। पं० सीतारामका ग़ुस्सा बहुत देर तक रहता था, और विद्यार्थियोंसे ख़ुश होकर बात करते तो उन्हें देखा ही नहीं जाता था। बा० जगन्नाथराय बिल्कुल साधु-पुरुष थे। वे थे भी वैष्णव। उनके गलेमें पतली तुलसीकी कंठी थी। रोज़ स्नान-पूजा करते। साधु-सन्तोंके सत्संगमें रहते। उस वक़्त टौंसके घाटपर छोटीसी शिवलियाके सामने एक भभूत-जटाधारी साधु आये थे। बाबू साहेब शाम-सबेरे रोज़ वहाँ पहुँचते, और महात्माके सत्संग और गाँजा-मंडलीमें शामिल होते थे। उनको ग़ुस्सा नहींके बराबर था। यदि कभी किसी लड़केको मारना भी पड़ता, तो बेमनसे और हल्के हाथों। वे बड़े विचारसहिष्णु थे, जो कि खट्कर्मी भक्त लोगोंमें बहुत कम पाया जाता है। रविवारको बाबू साहेब अलोना व्रत रखते थे, उस दिन वे एक बार पूरी हलवा या रोटी हलवा खाते थे। मेरा उस दिनका नियम था गोश्त पकाकर खानेका, सो भी बाबू साहेबके चौकेसे ३ हाथ दूरवाले तीसरे चौकेमें। वह कभी-कभी सहृदयताके साथ बोलते भी——'अरे केदारनाथ, रविवारको तो मांस न खाया करो।' मैं कहता——'क्या करूँ बाबू साहेब, दूसरे दिन मांस ख़रीदकर लाने, मसाला पीसने और पकानेकेलिए छुट्टी कहाँ मिलती है।' बात भी कुछ सच ही थी, और वे और कुछ नहीं बोलते थे। और विषयोंके साथ मेरी द्वितीय भाषा हिन्दी और भूगोलकी नक़शाकशी भी बा० जगन्नाथरायके पास ही थे। उर्दूकी अपेक्षा मेरे हिन्दीके अक्षर——बनाकर लिखनेपर बड़े सुन्दर होते थे, अतएव उसकेलिए तारीफ़ हो तो कोई ख़ास बात नहीं थी, किन्तु नक़्शा बनानेमें भी जो शाबाशी मुझे मिलती थी, उसे तो मैं भी अनुचित समझता था। जल-स्थलों, प्रान्त-रियासतोंपर रंग-बिरंगी पेंसलें खींचकर मैं सिर्फ़ आँखमें धूल भर झोंक देता था, नहीं तो मेरी सीमारेखायें बिल्कुल ही ग़लत होती थीं। यह बारीकी शायद मुझको ही मालूम होती थी। वस्तुतः नानाकी कितनी ही कथाओंको सुननेके बाद जब मुझे उनके बतलाये शहर

और स्थान नक़शेमें मिलने लगे तो मुझे उसमें एक अजब तरहकी दिलचस्पी पैदा हो गई। नक़शेमें कौन जगह कहाँ है, इसे सचमुच ही मैं कभी-कभी आँख मूँदकर बतला सकता था। हो सकता है, इन्हीं कारणोंसे अपना खींचा नक़शा मुझे सरासर दोषपूर्ण मालूम होता था, जब कि अध्यापक और दूसरे सहपाठी उसकी तारीफ़ करते थे।

सालके अन्तमें जब हम पहुँच रहे थे, तो कितनी ही बार पंडित सीतारामजी दर्जा ६ (यही उस वक़्त मिडलका अन्तिम दर्जा था) और दर्जा ५के विद्यार्थियोंको इकट्ठा गणितके सवाल दे दिया करते थे। नरसिंहराय दर्जा ६ के सबसे तेज़ लड़के थे, और पीछे मिडल परीक्षामें उन्हें सरकारी छात्रवृत्ति मिली, लेकिन एक दर्जा नीचे रहते भी मैं कितनी ही बार उनके बराबर नम्बर लाता था। निज़ामाबादमें अब अधिक विस्तृत क्षेत्रमें (कुछ विशेष चुने हुए विद्यार्थि-मंडलीमें) मेरी प्रतिभाको प्रतियोगिताका मौक़ा मिला, और उससे ज़रूर अधिक फ़ायदा हुआ, किन्तु वह यथेष्ट न था। अख़बारोंको हम जानते न थे। पाठ्यपुस्तकोंके अतिरिक्त यदि कभी "हातिमताई" या "आराइश-महफ़िल" किसीके हाथ लग गई, तो बहुत समझिये। हाँ, शिक्षाविभागकी ओरसे मनाही होनेपर भी पाठ्यपुस्तकोंकी "कुजियाँ" हमारे पास ज़रूर पहुँच जाती थीं।

बरसातके बाद स्कूलकी खपड़ैलको फिरसे छाने और शायद नई कड़ी बदलनेकी भी ज़रूरत पड़ी, इसलिए स्कूल हटाकर एक बड़ी हवेलीमें ले जाया गया। निज़ामाबादके कायस्थ किसी वक़्त बड़ी अच्छी हालतमें थे। अब बहुतोंकी ज़मींदारी बिकबिका चुकी थी। हाँ, उनमेंसे कुछ साधारण क्लर्क या पटवारी जैसी नौकरियोंपर थे, पंडित अयोध्यासिंहके छोटे भाई पं० गुरुसेवकसिंह उपाध्याय डिप्टी कलेक्टर थे; लेकिन पुराने पक्के मकानों और उनके भीतरके सामानसे ही मालूम हो जाता था, कि पहिलेसे अब ज़माना पस्तीका है। जिस घरमें हम गये थे, वह किसी हकीम साहेबका था। आजकल वह हकीमी करते थे, और रोज़ी कमानेकेलिए नहीं, मुफ़्त सेवाके ख़्यालसे। हवेली एक विशाल इमारत थी, जिसमें कितने ही आँगन, दालान और कमरे-कोठे थे। हमारी पढ़ाई कोठेपरके कमरोंमें हुआ करती थी।

मार्च (१६०७ ई०)के आस-पास हमारी वार्षिक परीक्षा समाप्त हुई। छुट्टीमें मैं ननिहाल आया। वहाँ उस वक़्त प्लेग था। नानीने दूसरे ही दिन मुझे कनैलाकेलिए रवाना किया। अब मेरा भी संस्कृतिका तल कुछ ऊँचा हो चुका था। कनैला मेरेलिए निरा ऊजड़ गाँव मालूम होता था। जबसे वह गाँव बसा था, तबसे अब तक शायद मुझसे ज़्यादा पढ़ा-लिखा आदमी उस गाँवमें नहीं पैदा हुआ। मेरे तीन

छोटे भाई श्यामलाल, रामधारी ग्रौर श्रीनाथ पढ़ रहे थे, किन्तु ग्रभी निचले दर्जोंमें। गाँवमें दो-एक ही ग्रौर ग्रादमी थे, जिन्होंने किसी मदर्सेमें शिक्षा पाई हो। इस प्रकार शिक्षितके मनोरंजनका वहाँ कोई साधन न था। कनैलामें ग्रब भी कसरत ग्रौर ग्रखाड़ेका रवाज था, यद्यपि वह ग्रधिकतर बरसात हीमें होता था, जब कि कोई नट ग्राकर ग्रखाड़ा बाँधता, किन्तु मेरी रुचिको उधर जानेका कभी मौक़ा ही नहीं मिला। ग्रामके दिनोंमें यदि पहुँच गया, तो भरोसा पाँडेसे बग़ीचे-ताल-पोखरा ग्रौर ऊसर-के ग्रकेले पीपरके भूतोंकी कथायें सुनता। ग्राश्विनके नवरात्रमें जो पहुँचा, तो किन्नाके बाबूके देवखुर (देवस्थान)पर भूत खेलनेवाली ग्रौरतोंसे 'छोड़ दे' 'क्यों पकड़ा', 'तुम्हें क्या पूजा चाहिए' ग्रादि पूछता, बहुत रात तक मनोरंजन करता। ग्रौर ग्रब ये मनोरंजन कुछ फीके भी पड़ने लगे थे।

कनैलामें एक दो दिन ठहरकर मैं बछवल चला गया। बछवल मेरी ग्राँखोंको कुछ ग्रधिक सभ्य जँचता था, ग्रौर यही कारण था कि पीछे मेरे रहनेके समयमें कनैला ग्रौर बछवल ग्राधे-ग्राधेके साझीदार थे। फूफा महादेव पंडितकी विद्वत्तासे लाभ उठानेके ग्रभिप्रायसे न मैं वहाँ जाता था, ग्रौर न उसके लिए ग्रवसर ही था। मेरा ग्रधिक समय यागेश ग्रौर दूसरे समवयस्क विद्यार्थियोंके साथ खेलने-कूदने, गपशपमें कटता था। इन खेल-कूदोंमें तालमें चरनेवाले घोड़े-घोड़ियोंको पकड़कर चढ़ना भी था। एक दिन मैं ग्रौर यागेश तालसे घोड़े पकड़कर लाने गये। लगामकी जगह शायद रस्सी हम लोगोंके पास थी। यागेश पहिले चढ़े, ग्रौर मैं ग्रपनी घोड़ीपर पीछे। यागेशके घोड़ेको दौड़ते देख मेरी घोड़ी भी दौड़ पड़ी। रोकनेसे वहाँ रुकै कौन ? एक जगह मेंडकी छलांग मारते वक़्त मैं नीचे ग्रा पड़ा। घोड़ीकी एक टाप खोपड़ीके पीछे ज़रासा छूती चली गई। घाव सख़्त नहीं लगी, किन्तु ख़ून बहने लगा। दूसरे दिन जब बुग्राने पूछा तो कह दिया, दालानकी कड़ी लग गई है।

बछवलमें ही रहते पता लगा, कि नानीका प्लेगसे देहान्त हो गया। मिडलके परीक्षा-परिणामके निकल जानेपर निज़ामाबाद जाना पड़ा, लेकिन वहाँ ज़्यादा दिन नहीं रहा। नानाकी शिकारकी कथाग्रों ग्रौर नवाज़न्दा-बाज़न्दाके सैर-सपाटोंने रंग लाना शुरू किया। खाने-पीनेके लिए उस समय मेरे पास ग्राटा-चावल था, उसे बाज़ारमें बेंच डाला। कुल मिलाकर डेढ़-दो रुपये हो गये। मैं सीधे फरिहा स्टेशन पहुँचा। मन ग्रौर जीभपर था बाज़िन्दाका सुनहला वाक्य—

"सैर कर दुनियाकी ग़ाफ़िल ज़िन्दगानी फिर कहाँ ?
ज़िन्दगी गर कुछ रही तो नौजवानी फिर कहाँ ?"

फरिहा स्टेशनसे टिकट लेते वक्त बनारस ही सामने था, क्योंकि उसीको मैंने देखा था। टिकट ले गाड़ीपर बैठा। दिनमें ही किसी वक़्त बनारस पहुँचा। पिताके मामाका मठ तो मालूम था, किन्तु अकेला जानेपर वहाँ प्रश्नोंकी झड़ी लग जाती, इसलिए वहाँ जाना उचित नहीं जँचा। सोच-समझकर उसी मठके बग़लमें जगेसरनाथके मन्दिरमें गया। वहाँ कितने ही संस्कृतके विद्यार्थी रहते थे। पूछनेपर उन्हें बतला दिया, मैं भी संस्कृत पढ़नेके लिए आया हूँ। हमारी जातिके ब्राह्मणों—सरयूपारियों—में नातेदारीसे बाहर कच्ची रसोई खानेका रवाज नहीं, इसलिए अपने हाथसे रोटी बनाई। स्टेशनसे उतरनेसे लेकर बराबर मनमें खिचड़ीसी पक रही थी। नवाज़िन्दा-बाज़िन्दा दुनियाकी सैरके लिए यहाँ तक भगा ला सकते थे, लेकिन आगेके लिए पर कटे मालूम होते थे। पासके पैसे खतम होना चाहते थे। जल्दी निर्णय करना था, नहीं तो लौटने भरका किराया भी समाप्त होनेवाला था। सब सोच-साचकर शाम तक मनने और आगेकी उड़ानको अनुचित बतलाया, और कहा बस, रानीकीसरायका टिकट कटाओ और लौट चलो।

रातकी गाड़ी पकड़कर, और शायद मऊमें ट्रेनको बदलकर जब मैं आगे चला, तो नींदने ज़ोर पकड़ा, और रानीकीसराय पारकर गाड़ी फरिहा पहुँची तो आँख खुली। उतरे, लेकिन टिकटसे एक स्टेशन फ़ाज़िल चले आये थे। पासमें पैसा था भी नहीं। शायद स्टेशनमास्टरने तंग नहीं किया।

रात बिताई, सबेरे पन्दहा जानेमें नानाके सवालोंका डर मालूम होने लगा और मैंने कनैलाका रास्ता पकड़ा।

१०

प्रथम उड़ान

पहिला प्रयास विफल रहा, उसमें मैं असफल रहा; दिलने गवाही दी—तुम नवाज़न्दा-बाज़न्दा बनने लायक़ नहीं हो। लेकिन आगे कुछ ऐसी घटनायें घटीं जिन्होंने फिर मुझे साहस करनेके लिए मजबूर किया।

नानीके मरनेपर अब पन्दहामें नाना अकेले रह गये थे। आमोंके पकनेका मौसिम था मईका मध्य या अन्त, जब मैं अपनी बहिन रामप्यारीके साथ पन्दहा पहुँचा। हमीं

दोनों बहिन-भाई खाना बनाते और घरका इन्तज़ाम करते, नानाके पैसा-कौड़ीका भी मैं ही ख़ज़ानची था। एक दिन मक्खनको पिघलाकर घी बनाया, पिघले हुए घीको बिल्लीके डरसे एक उल्टी नाँदके नीचे दबाना पड़ता था। घीको दबाते वक़्त, अँधेरे घरमें मुझे मालूम नहीं हुआ कि मटकी कहाँ है, नाँदका किनारा मटकीके ऊपर पड़ा। मैं तो नाँद दबाकर निश्चिन्त था, किन्तु दूसरे दिन देखा, तो सारा घी——क़रीब दो सेर——गिरकर ज़मीनमें फैला हुआ है। नाना ग़ुस्सा होंगे, इस डरने मुझपर आतंक जमाया, और फिर बैलकी बिक्रीके आये बाईस रुपयोंको लेकर मैं रानीकीसराय स्टेशनकी ओर चल पड़ा। रास्तेमें शोभितका बाग़ पड़ता था। लाल-पीले आम दरख़्तोंपर पके हुए थे। शायद शोभित हीका आग्रह हुआ——दो-चार आम खाकर जाओ। लग्गी ली और आम तोड़-तोड़कर खाने लगे। रेलका समय नज़दीक जानकर मैं स्टेशन गया। मुझे ख़्याल था, नानाको इतनी जल्दी ख़बर नहीं मिलैगी, क्योंकि मैंने बहिनसे भी अपना इरादा ज़ाहिर नहीं किया था। मामूली कपड़े जो बदनपर थे, उन्हींके साथ निकल पड़ा था। स्टेशनपर पहुँच गया। ट्रेनका लाइनक्लियर हो गया था, इसी समय देखा; नानाकी विशाल मूर्ति बड़ी तेज़ीसे लपकती हुई स्टेशनकी ओर आ रही है। शायद शोभितसे उन्हें मालूम हो गया था कि मैं स्टेशनकी ओर गया हूँ। मैंने सीधे बाज़ार जानेवाली स्टेशनकी सड़क पकड़ी, फिर पक्की सड़क पकड़कर बाजार भर तो धीरे-धीरे, किन्तु उसके बाद तेज़ चलते-दौड़ते दूसरे स्टेशन आज़मगढ़का रास्ता लिया। स्टेशनपर मुझे न पा नानाने न जाने क्या ख़्याल किया। शायद उन्होंने सोचा हो, शोभितने उन्हें चकमा दे दिया। चाहे यह निर्णय न कर पाये हों कि अगले स्टेशनपर पूरबकी ओर गया या पच्छिमकी ओर। ख़ैर, यदि उसी ट्रेनसे वे स्टेशन चले आये होते, तो मेरे पकड़े जानेकी पूरी सम्भावना थी, लेकिन उन्होंने वैसा किया नहीं।

आज़मगढ़ स्टेशन शहरसे बहुत दूर है, और आसपासके लोग उसे आज़मगढ़ न कहकर पासके गाँवके नामसे पल्हनी कहते हैं। रानीकीसरायसे वह चार मीलसे कम ही है——लोगोंके कथनानुसार। सिग्नल गिर चुका था, जब मैं रेलवे-क्रासिंग-पर पहुँचा। स्टेशनपर पहुँच जानेपर जानमें जान आई। सूर्य अस्त हो चुके थे जब कि मैं ट्रेनमें सवार हुआ। टिकट बनारसका लिया, क्योंकि वही रास्ता जाना हुआ था। बनारसमें एकाध दिन ठहरा या आगे रवाना हुआ, इसका कोई स्मरण नहीं। वहाँसे मुग़लसराय और फिर विन्ध्याचल-ज़रूर गया। ये सब पहिलेके देखे स्थान थे। विन्ध्याचलमें शायद पुराने परिचित पंडाके यहाँ गया था। बनारस-

मुग़लसराय-विन्ध्याचल-मुग़लसरायके बीच हीमें मैंने सोलह-सत्रह रुपये ख़र्च कर डाले थे; ज़रूर इस आवा-जाहीमें मैंने कई दिन ख़र्च किये होंगे; क्योंकि गुलबकावली (हिन्दी)की किताब, लोटा-डोरी और एक गमछा छोड़ मैंने सारे पैसे खाने हीपर ख़र्च किये थे। मन जल्दी किसी निर्णयपर नहीं पहुँच रहा था। हिचकिचाहट ज़रूर थी, किन्तु घर लौटना असम्भव था, वहाँ दो सेर घी बरबाद करनेका ही क़सूर न था, बल्कि बाईस रुपये लेकर रफ़ूचक्कर होने, और उन्हें ख़र्च कर डालनेका भी संगीन जुर्म सरपर था। अन्तमें हार-पछताकर मनको निर्णय करना ही पड़ा—चलो कलकत्ता।

ट्रेन मुसाफ़िरोंसे खचाखच भरी थी, मैं किसी तरह उसमें सवार हुआ। किस तरहकी ट्रेन थी यह तो मुझे याद नहीं, किन्तु इतना ज़रूर स्मरण है, शामसे रातभर चलकर सबेरे वह हवड़ा पहुँची। लिलुआमें हमारे टिकट ले लिये गये थे। कलकत्तामें कहाँ जावेंगे, शायद रास्तेमें यह ख़्याल तंग नहीं कर रहा था, क्योंकि समझा था वह भी बनारस ही ऐसा शहर होगा। लेकिन, जब हवड़ाके विशाल स्टेशनपर उतरा, तो वहाँकी अपार भीड़को देखकर मुझे वह एक शहर या बड़ा मेला जान पड़ने लगा। उस वक़्त हवड़ा स्टेशनमें तीसरे दर्जेके मुसाफ़िर जहाँ बैठ ट्रेनका इन्तज़ार करते थे, वह मुसाफ़िरख़ाना दूसरी तरहका था। फ़र्श इतना साफ़ सीमेंटका न था। सिग्नल जैसे अनेक जोड़वाले लोहके ऊँचे खम्भोंपर शायद टीनकी छत थी। उस मेलेमें मेरी अक़्ल गुम हो गई। कहाँ चलना है, इसपर पहिले विचार नहीं किया था, यहाँ आनेपर तरह-तरहकी बोलियाँ, विचित्र वेश-भूषा दिखलाई पड़ रही थीं। सड़कपर जाकर देखे, गंगाके पक्के घाट, पुलपर चलती अपार जनराशि, फिर नदीके आर-पार शहरकी अट्टालिकायें दिखलाई पड़ीं; उन्हें देखकर मनपर एक आतंक छा गया। कहाँ जावें, किसके पास जावें ? बच्चा मामा या जवाहिर मामाके पास जावेंगे—यह किसीसे पूछना अपने हीको भारी हिमाक़त जँचती थी। लाचार, लौटकर मुसाफ़िरख़ानेके एक खम्भेके पास सटकर बैठ गया !

शायद इस तरह चुपचाप बैठे, और अपने कियेपर पछताते मुझे एक युग बीत गये। मैं अथाह समुद्रमें ग़ोते लगा रहा था। समस्याके सुलझनेका कोई रास्ता नहीं दीख पड़ता था। शायद मैं अब भी संघर्षमें डटा हुआ था, या मैदान छोड़कर "कश्ती ख़ुदा पै छोड़ दे लंगरको तोड़ दे" कर रहा था। उसी समय एक गोरा पतला-सा लड़का—मेरी उम्रसे कुछ ही ज़्यादाका—मेरी ओर आया। उसके बदनपर धोती-कुर्तेके अतिरिक्त शिरपर शायद टोपी भी थी। वह भुक्तभोगी था, इसलिए

बिना किसी हिचकिचाहटके मेरे पास चला आया। बात कैसे शुरू की इसकी कुछ याद नहीं। उसने ज़रूर पूछा होगा--कहाँसे आये हो? हम मद्रसा जानेवाले लड़के कुर्तेकी आस्तीनसे सोख्तेका काम लेते थे, शायद उससे उसे अनुमान हुआ हो, कि मैं स्कूलका विद्यार्थी हूँ। अथवा दीहाती चरवाहे और दीहाती विद्यार्थीमें भी अन्तर तो हुआ ही करता है। हमारी बातचीतके बाद यह पता लगा, कि हमारे सहयोगी बा० महादेवप्रसाद मेरी ही तरह हँडिया तहसीली स्कूलके छठे दर्जेके उर्दूके विद्यार्थी थे, और अबके ही साल पाँचवेंसे छठवें दर्जेमें आये थे। याद नहीं नवाज़न्दा-बाज़न्दा-की प्रेरणाकी मार उनके ऊपर भी पड़ी थी, उनके तुरन्त भागकर आनेका क्या कारण हुआ था, यह भी स्मरण नहीं। यह मालूम हुआ, कि वह मुझसे कई दिन पहिले कलकत्ता पहुँचे। मैं तो दो-चार आनेमें ख़रीदकर एक गुलबकावलीका मालिक बना था, और हमारे महादेवप्रसाद अपना सारा बस्ता ही लेते आये थे। मेरी किंकर्तव्यविमूढ़ताको देखकर उन्होंने हिम्मत बढ़ाते हुए कहा--मेरे ऊपर भी वैसे ही बीती थी। लेकिन अब आठ आने महीनेपर हमने वासा किराया ले रखा है। हमारी ही तरह भागकर एक और तरुण साथ ही रहते हैं। महादेवप्रसाद मेरे लिये घोर अन्धकारमें बिजलीके चिराग़ बनकर मिले। नवाज़न्दा-बाज़न्दाकी लगाई आग बुझी नहीं थी, वह राखके बड़े बोझसे दब गई थी। उनकी बातोंको सुनकर मेरी हिम्मत फिर ताज़ी हो गई।

हम लोग वहाँसे उठकर हवड़ा पुल पार हुए। गंगातटवाली सड़कको पकड़कर जगन्नाथघाटकी ओर मुड़े--दिशा तो तबसे आज तक कलकत्तामें मुझे मालूम ही नहीं होती। टकसालके पास गुज़रते वक़्त महादेवप्रसादजीने बतलाया--यहीं रुपये-पैसे ढाले जाते हैं। इससे भी उधर मेरा चित्त इसलिए आकर्षित हुआ, कि हम लोग रोज़ीका कोई सिलसिला ढूँढ़ रहे थे, और मालूम हुआ था, कि वहाँ काम मिलने की सम्भावना है। टकसालसे आगे जोड़ा साखूकी किसी गलीमें पहुँचे। वहाँ आस-पास अधिकतर 'खोलाबाड़ी' (बाँसके चँचरेकी दीवार और खपड़ैलकी छतके मकान) थीं। कलकत्तामें आठ आने महीनेका वासा सुनकर मुझे आश्चर्य नहीं हुआ, क्योंकि अब तक किराये-भाड़ेसे मुझे वास्ता ही कब पड़ा था? आश्चर्य होता भी तो अब वासा देखकर उसके लिए गुंजाइश नहीं रह जाती। वासा नहीं वह खुला हुआ बड़ासा मचान था। शाखू-खम्भे गड़े थे, उनपर कड़ियोंपर बाँसके फट्ठे बिछाये हुए थे। नीचे बड़ी सीड़ थी, किन्तु नीचे हमें रहना न था, वहाँ तो बाँस और शाखूके बल्ले रखे हुए थे। ऊपर भी शायद एक ओर कुछ बाँसके फट्ठे रखे हुए थे। बाँसकी

सीढ़ीसे ऊपर जानेका रास्ता था। सिर्फ़ एक या डेढ़ तरफ़ चाँचरकी दीवार थी, नहीं तो चारों ओरसे 'कोठा' खुला हुआ था। फ़र्शपर मिट्टी भी नहीं थी, सिर्फ़ रसोईकी जगह थोड़ीसी मिट्टी डाली हुई थी, जिसमें चूल्हेकी आगसे वह जल न जावे। वस्तुतः बाड़ीवालेको तो हमसे आठ आना भी नहीं लेना चाहिए था, उतनेका तो हम उसकी चीज़ोंकी रखवाली कर दिया करते थे। वहाँ पहुँचनेपर बीस-बाईस बरसके एक साँवले-पतले-लम्बे जवान मिले। महादेवप्रसादने हमारा परिचय कराया। हम सबमें वही सबसे बुज़ुर्ग थे, उम्रके ख्यालसे, नहीं तो उनके लिए काला अक्षर भैंस बराबर था। वे बस्ती ज़िलेके ब्राह्मण-पुत्र थे। घरमें बहुतसी गाय-भैंसें थीं। हमारे दोस्त शायद अपने भाइयोंमें सबसे छोटे थे, और उनका काम चरवाही करना था। गर्मियों या जाड़ोंमें वे अपने पशुओंको लेकर नेपाल-तराईके जंगलोंमें चले जाते थे। वहाँके दृश्योंको वह बड़े उत्साहके साथ वर्णित करते थे। शेर या हाथीसे साबिक़ा पड़नेकी बात तो उन्होंने नहीं की, किन्तु झाड़ियोंमें उलझ जानेपर भैंसोंकी सींगको उन्हें 'दाव'से काट देना पड़ता था। उनको रह-रहकर अपनी तरुण स्त्री याद आती थी, जो दिनभरके थके-माँदे गोसारमें सोये अपने पतिदेवके पैरोंमें तेलकी मालिश करती थीं।

रसोई कौन बनावे—यह प्रश्न उठनेपर महादेवप्रसादजीके कायस्थ होनेसे उनकी बात ही नहीं उठ सकती थी। रहे बाक़ी दो आदमी, उसमें रसोई बनानेमें मैं कच्चा भी था, साथ ही बस्तीवाले देवता किसी दूसरेके हाथका पका खाना खानेको तैयार न थे। स्कूलकी आबो-हवाने मुझमें कुछ हेरफेर ज़रूर किया था, जिससे कि मैंने आसानीसे एक अज्ञात ब्राह्मणके हाथका भोजन स्वीकार किया।

हमारे पैसे ख़र्च होते जा रहे थे, इसलिए सबसे ज़्यादा फ़िक्र हमें काम ढूँढ़नेकी थी। १४, १५ वर्षके हम दोनों जैसे लड़कोंको नौकरी मिलना आसान काम नहीं था, तो भी हमारा अधिक समय उसीकी तलाशमें बीतता था। मेरा परिचित तो कोई वहाँ मालूम नहीं हुआ, किन्तु महादेवप्रसाद अपने परिचितों—रेलमें पैटमैन या क़ुलीका काम करनेवालों—के पास ले गये। कभी हम जगन्नाथ घाटपर जा बैठते थे। उस वक़्त वहाँ एक अधेड़ साधु आया हुआ था, जो अंग्रेज़ी सर्कार और अंग्रेज़ोंके ख़िलाफ़ कड़े-कड़े शब्द निकालता रहता था। हमारे जैसे कितने निठल्ले लोग उसके गिर्द जमा होकर सुनते रहते थे। उस समय बंगभंगके विरुद्ध सशस्त्र आन्दोलन शुरू हो गया था, किन्तु मेरे जैसेको उस दुनियाका पता ही कहाँ था? सुननेवालोंमेंसे किसी-किसीको कहते सुना—ज़रूर यह कोई जासूस है। हाँ, जासूस

या पागल छोड़ वह तीसरा आदमी हो भी नहीं सकता था। दिनमें एक बार हम हवड़ा स्टेशनपर ज़रूर पहुँच जाते थे, और दो-चार ही दिनके भीतर अपने जैसे किंकर्तव्यविमूढ़ दो और व्यक्तियोंको अपनी चौकड़ीमें भरती करनेमें सफल हुए, इनमें एक आराके ३० वर्षकी उम्रके थे, और दूसरे हम दोनोंके ही समवयस्क तथा थोड़ा-बहुत पढ़े हुए जौनपुर ज़िलेके एक क्षत्रियपुत्र। शायद कोई छठाँ भी आदमी रहा हो।

हमने अपना एक कम्यून् (साम्यवादी समाज) क़ायम कर लिया था। मैं, और मेराका ख़्याल भूल गये थे। जिसके पास जो पैसा था, वह सार्वजनिक ख़र्चके लिए हाज़िर था। तै किया गया कि जिसको भी नौकरी मिले, कमाई सबके ख़र्चमें लाई जावेगी। सबेरे हम मूरी-भूँजापर गुज़ारा कर लेते। दिनमें एक बार शामको दिन रहते ही रोटी बनाकर खा लिया करते थे। दिनमें दो-दोकी जोड़ी बनाकर नौकरीकी तलाशमें घूमा करते। कभी खिदिरपुर डक्में जहाज़से बस्ता उठानेके कामकी तलाशमें जाते, कभी कोयला-डिपोमें कोयलाक़ुलीके कामके लिए। हमारे लिखे पढ़ेका भी वहाँ कोई उपयोग हो सकता है, इससे हम निराश थे; इसलिए जाँगरकी रोज़ीपर ही हमारी आशा थी। खैर, जहाज़-कोयला-माल-गोदामके क़ुलीका तो कोई काम मिला नहीं; और मिलनेपर क्या महादेव और मेरे ऐसे दुधमुँहे छोकरे—जिन्होंने पढ़नेके सिवा हाथसे कभी काम नहीं किया—उस कामको कर भी पाते? अधिकतर मैं और महादेव साथ रहते, हम दोनोंमें बहुत अधिक समानता थी। शायद कभी-कभी अकेले भी घूमने चला जाता। एक बार हवड़ामें बर्न कम्पनीके कारखानेमें कामका पता लगा। क़ुलियोंकी भरती ठीकेदारों द्वारा होती थी, उसने मुझे काम दे दिया। काम था मालगाड़ीके धुरेके दोनों सिरों—जहाँपर गाड़ी रखी जाती है—को तेल और लत्तेसे रगड़कर चमचम करना। वहाँ टीनकी छतके नीचे सैकड़ों लोहार-मज़दूर काम कर रहे थे। जगह-जगह नलकोंसे हवा निकल रही थी, जिनके सहारे पत्थरके कोयलेकी अँगीठियाँ जल रही थीं। हथौड़े और घनकी आवाज़से सारी टीनकी छत गूँज रही थी। मुझे याद नहीं, महा-देवप्रसाद भी उस समय मेरे साथ थे या नहीं। धुरा रगड़नेमें थोड़ी ही देर बाद हाथ दुखने लगता। इधर-उधर निरीक्षकको न देखकर, कुछ सुस्ताते और फिर रगड़, जब उससे भी काम न बनता, तो पाँच-सात बार पेशाब करने चले जाते। मालूम नहीं, दो दिन काम किया या चार दिन। रहनेका इन्तज़ाम एक मिस्त्रीके साथ था। मिस्त्रीकी स्त्री मेरे खाने-पीनेकी ओर बड़ा ध्यान रखती थीं, रसोई मैं ख़ुद

बना लेता था। मेहनत कुछ भी रही हो, किन्तु उससे डरकर नहीं बल्कि वहाँसे जोड़ासाखूमें, साथियोंसे मिलने आया इसी ख़्यालसे, 'गुलबकावली' और लोटा-डोरको भी वहीं मिस्त्रीके यहाँ छोड़ आया था।

इधर आनेपर लौटना भूल गया। साथियोंको छोड़कर जाना पड़ता, शायद यह भी उसमें कारण हुआ। फिर नौकरीकी तलाशमें—और बहुत कुछ निरुद्देश्य चक्कर काटना आरम्भ हुआ। कभी चीतपुर, तो कभी धर्मतल्ला, कभी खिदिरपुर तो कभी नीमतल्ला। दिनमें दस घंटेसे क्या कम घूमते रहे होंगे। दीवारोंपर चिपके बँगला इश्तिहारोंको देखते-देखते न जाने कब बँगला वर्णमाला मुझे याद हो गई। हमारे वासेके बग़लवाले घरोंमें बंगाली गृहस्थ रहते थे। उनके घरोंकी स्त्रियाँ कभी-कभी कुछ बात भी करती थीं, किन्तु मैं बहुत डरता था। मैंने सुन रखा था, बंगालमें बड़ा जादू है वहाँकी औरतें जादू मारकर मेंढा बना लेती हैं। मुझको उस वक़्त इन बातोंपर पूरा विश्वास था, और मैं मेंढा बननेके लिए तैयार न था।

एक दिन मैं अकेला धर्मतल्लासे कहीं आगे जा रहा था। एक डाकिया भी उधर ही जा रहा था। पूछा-पेख हुई। नौकरीकी तलाश कहनेपर कहा—'नौकरी-की क्या कमी है। बस्ता (बोरा) ढो सकते हो?' 'क्यों नहीं, और मेरे और भी साथी हैं?' 'अच्छा तो शामको मेरे वासामें क़ुलीबाज़ारमें आओ।' 'मैं अपने और साथियोंको लेकर आज आऊँगा। हम सब एक ही जगह काम करेंगे, एक ही जगह रहेंगे।' 'अच्छा' कहकर पोस्टमैन चला गया। मैं लौटकर अपने वासेमें आया। वहाँ जौनपुरी साथी मौजूद थे, बाक़ी लोग तलाश-रोज़गारमें ग़ायब थे। शाम होनेवाली थी, और पोस्टमैनसे मिलना ज़रूरी था, इसलिए मैं और ज़्यादा इन्तज़ार नहीं कर सकता था। जौनपुरीको साथ लिये मैं चल पड़ा। खिदिरपुर काफ़ी दूर है। वहाँ जाकर क़ुलीबाज़ारके ढूँढ़नेमें भी दिक़्क़त नहीं हुई। शायद तब तक सूर्य डूब चुके थे। हम लोगोंने पोस्टमैनका पता लगाना शुरू किया। मुहल्लेमें ज़्यादातर देशवाली आदमी थे। वहाँ देशवाली पोस्टमैनका पता लगना मुश्किल न था, किन्तु यदि वह वहाँ हों तब न पता लगे। हम इधरसे उधर पूछ-ताँछमें लगे ही हुए थे, कि बारिश शुरू हो गई मूसलाधार। हमारे सारे कपड़े भीग गये, ऊपरसे दो घड़ी रात बीत चुकी थी। इस समय जोड़ासाखू लौटकर जाना दूरकी बात थी। अन्तमें हमने आसपासके घरवालोंसे रातको रहनेकी प्रार्थना की। दो-चार जगह 'अज्ञात कुलशील'को बास देना अस्वीकृत हुआ; किन्तु आख़िर एक घरवालोंको वर्षा, रात और हमारी उम्र देखकर दया आ ही गई। उन्होंने भीतर बुला लिया। शायद वहाँ

चार-पाँच आदमी रहते थे, सभी पूरबी युक्तप्रान्तके। काम--शायद क़ुलीका करते रहे होंगे। पूछनेपर पहिले तो पोस्टमैंनके न्योतेकी बात कही। घरद्वारके पूछनेपर जौनपुरी साथीने दोनोंका घर एक गाँवमें बतला दिया। फिर तो हमें पुरोहित-यजमानका लड़का भी कहना पड़ा। भागकर आना--हमारी उम्रके लड़कोंके लिए कलकत्ता पहुँचनेका सर्वप्रसिद्ध कारण था। दूसरे दिन घरवालोंने रातका उपदेश जारी रखते हुए कहा--'परदेशमें कलेश होगा, तुम्हारी उम्रके लड़कोंको काम नहीं मिल सकता, घर चले जाओ। घर चिट्ठी लिख दो, रुपया आ जायेगा न ?'

हम दोनों बोल उठे--'ज़रूर।'

"तो यहीं रहो। खाने-पीनेकी चिन्ता मत करो। चिट्ठी लिख दो, रुपया आ जानेपर घर चले जाना।"

शील-संकोचके मारे हम 'नहीं' करके वहाँसे चल देनेकी हिम्मत नहीं रखते थे, साथ ही एक बारके मुँहसे निकल आये झूठ--हम दोनों एक गाँवके हैं--को वापस लेनेकेलिए तैयार न थे। रहनेको रह तो गये, और जौनपुरी भाईके घर चिट्ठी भी लिखकर डाल दी गई, किन्तु मुझे बड़ा तरद्दुद मालूम होने लगा। यदि कहीं इन लोगोंको असली बात मालूम हो गई, तो क्या कहेंगे। चिट्ठीके जवाब आनेका समय जितना ही नज़दीक आता जाता था, उतना ही मैं साथीसे चल देनेका आग्रह करने लगा, किन्तु वह चलनेको तैयार नहीं था। लाचार, एक दिन मैं यह कहकर वहाँसे अकेला चल पड़ा--'मैं तो जाता हूँ, तुमको तरद्दुदमें पड़ना हो तो रहो।' उसके बाद फिर उनसे मुलाक़ात नहीं हुई, इसलिए नहीं कह सकता, उन्होंने क्या किया।

मैं लौटकर हरीसन रोडसे गुज़र रहा था। उस वक़्त आने-जानेकी कोई ख़ास जल्दी थी नहीं। कहीं देखनेकी कोई चीज़ हुई, तो उसे ही थोड़ी देर ठहरकर देखने लगता था। उसी जगह साफ़ धोती, कोट, गोल फ़ेल्ट टोपी लगाये हाथमें छाता लिये एक बूढ़े आदमी मिले। उन्होंने घरबारके बारेमें पूछा, और फिर बेसरोसामानीका पता लगनेपर कहा--चलो, मैं तुम्हें अपना घर दिखला देता हूँ, ज़रूरत हो तो आना, यदि मैं तुम्हारे लिए कुछ कर सकता हूँ, तो करूँगा। उनकी कोठरी राजा बर्दवानके कटरेके तीसरे तल्लेपर थी। पाठकजी--बिन्दाप्रसाद पाठक यही उनका नाम था--की बातपर मुझे विश्वास हो गया, और साथ ही कलकत्तामें मुझे एक अवलम्ब-सा दिखलाई पड़ा। किन्तु पहिले मुझे अपने साथियोंकी ख़बर लेनी थी। जोड़ासाखूकी खुली खोलाबाड़ीमें किसीका पता नहीं था। जौनपुरी शायद क़ुली-

बाज़ारसे टले न थे। महादेवप्रसाद और दूसरे साथी रोज़गारकी तलाशमें गये हुए थे। शाम तक किसीको आया न देख मैं पाठकजीके घरपर गया।

तीसरे तल्लेपर सीढ़ीके पास शायद ६४ नम्बरकी उनकी कोठरी थी। कोठरी ६ हाथ लम्बी चार हाथ चौड़ी रही होगी। बग़लमें सीढ़ीके ऊपर एक थोड़ासा और स्थान था, जो नीचेकी कोठरीसे दो हाथ ऊँचेपर पड़ता था, और उसमें कभी कोई सामान रख दिया जाता था। दर्वाज़ेके पास दो हाथ चौड़ी ज़मीन पानी-गिराने और जूता रखनेके लिए थी, फिर हाथभर ऊँचा बाक़ी कोठरीका फ़र्श था। कोठरीके दूसरे सिरेपर खिड़की थी, और कलकत्ताकी गर्मीमें उसकी हवा बड़ी शीतल और सुखद मालूम होती थी। पाठकजी रसोई मारवाड़ीवासेमें खाया करते, इसलिए कोठरीमें कोयले या धुआँ-धक्कड़की ज़रूरत न थी। उनको हुक्क़ा पीनेकी बड़ी आदत थी, और उसके लिए टिकियोंसे काम चल जाता था। हुक़्क़ाकी जगह मुरादाबादी कली थी। मेरा काम था, कोठरीको साफ़ रखना, नीचे नलकेसे पानी भर लाना—जो कि सारे दिनके लिए एक घड़ा काफ़ी था, और जब पाठकजी घरपर हों तो दो-चार या दस चिलम भरकर देना। चिलमकी बात पहिले मुझे नागवार मालूम होती थी, क्योंकि हमारे सरवरिया ब्राह्मणोंमें इसे घोर पाप समझा जाता था। मुझे तो इसके कारण पाठकजीके ब्राह्मण होनेमें सन्देह भी होता था, किन्तु एक बार रानीकीसरायमें किसी असिस्टेंट इन्स्पेक्टर ब्राह्मणको फ़र्शी गुड़गुड़ाते देखकर इस शंकाका समाधान हो चुका था। धीरे-धीरे पाठकजीको मेरे कुल-शील, पढ़ने-लिखने आदिके बारेमें और भी बातें मालूम हुईं। पाठकजीका बर्ताव मेरे साथ नौकरका-सा नहीं लड़के जैसा होने लगा। उन्होंने पढ़नेका शौक़ देखकर मुझे अंग्रेज़ी पढ़ानी शुरू की।

पंडित बिन्दाप्रसाद पाठक—डाइरेक्टरी और चिट्ठी-पत्रीमें एम्-बी-पाठक लिखे हुए थे—मुरादाबादकी मियाँसाहेबकीगलीके रहनेवाले सारस्वत ब्राह्मण थे। १९०७में उनकी आयु ५५से ऊपर थी। हिन्दी-उर्दूके अतिरिक्त वह अंग्रेज़ी भी जानते थे। फ़ौजी कमसरियटमें वह कन्ट्रक्टरका काम कर चुके थे, और इसी सिलसिलेमें वे पेशावर और आसाममें रह आये थे। पीछे कलकत्तामें उन्होंने दलालीका काम शुरू किया, और कुछ वर्षों तक उनको बड़ी सफलता मिली। बँगला, बग्घी, नौकर-चाकर सब हो गये थे। लाखोंका कारबार करते थे। किन्तु, इसी वक़्त—उनके कथनानुसार नक्षत्रने पलटा खाया—उनका कारबार पट पड़ा। थोड़े ही दिनोंमें बग्घी-बँगले, नौकर-चाकर सब विलीन हो गये, और वह अकेले रह गये। आज कई

वर्षोंसे उनका नक्षत्र पल्टा खाये हुए था। पुराने कारबारके वक़्तके जान-पहिचानी मारवाड़ी सेठ या किसी अंग्रेज़ी कम्पनीका कोई साहेब कभी कोई हल्कासा काम दे देते थे, जिससे तीस-चालीस रुपये महीनेका हिसाब लग जाता था। उसमेंसे ५ रुपया महीना वह मकानका किराया दे देते थे, बाक़ीमें अपना खाना-ख़र्चा चलाते थे। उनके एक मात्र लड़के अपने शहर मुरादाबादमें ही रेलवेमें क्लर्क थे। घरका ख़र्च किसी तरह चला लेते थे, और पिताके ऊपर घर चले आनेके लिए बहुत ज़ोर देते थे, किन्तु पाठक-जी कहते थे—यहाँ समुद्रके किनारे पड़ा हूँ, न जाने किस वक़्त लक्ष्मीकी लहर चली आवे; मुरादाबाद जानेपर तो भविष्यसे इस्तीफ़ा दे देना पड़ेगा।

बस्तीवाले ब्राह्मणके सम्पर्कमें आकर रिश्तेदारीमें ही कच्ची रसोई खानी चाहिए—इस पारिवारिक नियमको मैंने तिलांजलि दी। पाठकजीका छुआ, तथा उनके गौड़ ब्राह्मणोंके वासेका भोजन भी थोड़ेसे मानसिक संकटके साथ मैंने स्वीकार कर लिया; किन्तु मुझे यह सुनकर बड़ा धक्कासा लगा, जब कि मालूम हुआ कि महीने भरसे जिसे मैं रबड़ी समझकर बड़े चावसे खा रहा हूँ, वह दूधमें भिगोई पावरोटी है! पावरोटीको मैं पूरा क्रिस्तानी खाना समझता था। पाठकजीने हवड़ा पुलके पास ले जाकर पावरोटीकी उन दूकानोंको दिखलाया, जिनमें शंखसे सफ़ेद मोटे-मोटे जनेऊ पहिने बंगाली ब्राह्मण पावरोटी बेचा करते थे। मैं पहिले बंगाली-को ब्राह्मण ही माननेके लिए तैयार न था। मैंने समझ लिया, धरम तो चला ही गया, लेकिन सन्तोष करता था—अच्छा यहाँ कलकत्तामें घर-ख़ान्दानका कौन है जो इसे जानता है। इसके बाद तो कितनी ही बार पाठकजीके साथ और अकेले भी मैं हवड़ामें स्टेशनके पासकी एक सँकरी सड़कपर सिक्खोंकी तन्दूरी दूकानोंपर चला जाता, और गर्मागर्म तन्दूरी रोटियाँ 'महाप्रसाद'के साथ छक आता। पाठकजीके साथ एक बार एक साहेबके बँगलेपर जाना पड़ा, बेहराने लेमनेडकी दो बोतलें लाकर सामने रक्खीं, तो मैंने उससे इन्कार नहीं किया। बंगाली हिन्दू भोजना-लयोंमें तो अक्सर जाकर खाना खा आता था। किसी मुसलमान क्रिस्तान होटलमें खाना खाने तो नहीं गया, लेकिन पाठकजीने उसके लिए भी मुझे तैयार कर दिया था, न खाना संयोगकी बात थी।

पाठकजी दिनमें दोपहरको थोड़ा समय छोड़कर बाहर ही घूमते रहते थे, उधर अंग्रेज़ी पढ़नेकी मेरी रुचि कुछ बढ़ चली थी, इसलिए एक दिन वह मुझे ले जाकर विशुद्धानन्द सरस्वती विद्यालयमें दाख़िल करा आये। फ़र्स्ट बुक पढ़नेको मिली। मेरे दर्जेमें अधिकतर मारवाड़ी लड़के थे, एक सहपाठीको सरवरिया

ब्राह्मण कहते सुनकर मुझे यह पता लगा, कि सरवरिया मारवाड़में भी होते हैं। हमारे अध्यापक बलिया ज़िलाके रहनेवाले एक दुबले-पतले सज्जन थे।

धीरे-धीरे कलकत्ताकी नवीनता जाती रही। राजाचौकके नीचेकी दूकानोंकी मसाला, हल्दी, प्याज़की गन्धकी विचित्रता भी लुप्त हो गई। दोतल्लेके बंगाली-वासेकी 'झी' (नौकरानी) चिरदृष्ट होनेसे मेरी ओर जब लौंग बिंधा हरे पानका बीड़ा, अपनी बड़ी-बड़ी आँखोंमें हँसी भरकर बढ़ाती; तो जादूके डरसे मैं उसे अब छोड़ न देता। घरसे चिट्ठी-पत्री भी होने लगी। नानाका बार-बार लौट आनेका तक़ाज़ा था। इस तरह मेरा मन घर आनेके लिए उतावला हो पड़ा। नानाने चिट्ठी लिखी, रुपया भेज दिया। पाठकजी ले जाकर एक दिन हवड़ापर गाड़ीमें चढ़ा आये।

११

अन्यमनस्कता

रानीकीसरायमें रातको उतरा था, इसलिए रातको स्टेशन हीपर रह गया। सबेरे रानीकीसरायके कुछ सहपाठियोंसे भेंट की। मेरी नज़रमें वे बिल्कुल भिन्न-से मालूम होते थे। एक दिन पहिले-पहिल जब मैं पन्दहासे वहाँ पढ़ने गया था, तो वहाँके लड़कोंकी थोड़ीसी विभिन्नता उनकी नागरिकताकी परिचायक मालूम होती थी; और आज चार महीने बाद कलकत्तेसे लौटनेपर वे मुझे नितान्त असंस्कृत अनागरिक मालूम होते थे। मैं अब सफ़ेद धोती, सफ़ेद कुर्ता, फ़ेल्ट टोपी और बूट जूता पहिने हुए था। धूपसे बचने तथा साबुन-तेलसे नहा-धोकर साफ़-सुथरा रहनेका मेरे रंग और चेहरेपर भी ज़रूर असर हुआ होगा। तो भी मैं अपने कुछ पुराने साथियोंसे मिलकर बड़ा प्रसन्न हुआ। मद्रसा देखने गया नहीं, किन्तु रानीसागरपर महावीरजीवाली कुटियाकी अब उतनी रौनक़ न थी। रेलके आनेसे पहिले वहाँ वही छोटासा मन्दिर और बग़लमें एक घर था। वही अब भी वहाँ थे, किन्तु बीचमें वह कुटिया बहुत गुल्ज़ार हो गई थी। बराबर पाँच-सात साधु रहा करते थे। बाज़ार-वाले रसद-पानी देनेमें बड़ी तत्परता दिखलाते थे। वह तत्परता तो शायद अब भी कम न थी, लेकिन मालूम होता है यह परिवर्तन किसी योग्य साधुके न रह जानेके कारण हुआ। वहाँ अब एक अनपढ़ लँगड़ा साधु रह गया था। बन्दरोंकी भरमार अब भी वैसी ही थी।

नानाके सामने जानेमें अब संकोच न था, क्योंकि बीचके चार महीनों और उनके भीतर हुई घटनाओंने उनके दिलसे दो सेर घी गिराने और २२ रुपयेपर हाथ फेरनेवाली बातको भुलवा दिया——इसका मुझे पूरा विश्वास था। नाना मुझको देखकर बड़े प्रसन्न हुए। मुझे पढ़ानेकी उनकी बहुत चाह थी, किन्तु अब मेरी इच्छाके विरुद्ध ज़ोर देना नहीं चाहते थे। यद्यपि मैं सितम्बरके महीनेमें लौटा था, तो भी यदि तुरन्त पढ़नेमें लग जाता तो मिडलकी अगली परीक्षामें बैठ सकता था; यदि उपस्थितिका ख़्याल न किया जाता; किन्तु, न नानाने कहा और न मैंने ही पढ़नेका नाम लिया। मेरा समय अधिकतर पन्दहामें बीतता, कनैला और बछवल भी एकाध बार हो आया था। इसी समय उमरपुरके परमहंसके दर्शनका मौक़ा मिला। दिसम्बर या जनवरी (१९०८ ई०)में एक बार निज़ामाबाद गया। उस वक़्त मेरे साथी परीक्षाकी तैयारी कर रहे थे। मेरे कलेजेमें टीससी लगी, किन्तु अब क्या किया जा सकता था ?

नानाने सर्वेमें गाँवके सर्कारी काग़ज़में अपने नामके साथ मेरा नाम दर्ज करा दिया था, जिसपर उज्र हुआ था, और बन्दोबस्तके डिप्टीने समझाकर हटवा दिया, यह मैं पहिले लिख चुका हूँ। नानीने अपने अन्त समयमें बहुत ज़ोर दिया, कि नातियोंके नाम लिखा-पढ़ी हो जानी चाहिए, ज़िन्दगीका क्या ठिकाना है। उनके जीतेजी हम चारों भाइयोंके नाम नानाने अपनी सारी स्थावर सम्पत्ति हिब्बा लिख दी। ऐसा करके उन्होंने अपने भतीजों, विशेषकर बड़े भाईके लड़कोंको युद्धका अल्टीमेटम् दे दिया। इस वक़्त अभी काना-फूँसी ही हो रही थी, खुला संघर्ष नहीं हो रहा था, तो भी भविष्य संकटापन्न दीख पड़ता था। वैसे नानाके छोटे भाईके दो लड़कों—सूरजबली और नरसिंहका भी नानाकी सम्पत्तिपर उतना ही दावा था, जितना बड़े भाईके लड़कोंका, तो भी वे अपनेको जन-धनमें निर्बल समझते थे, इसीलिए उनसे खटपट नहीं थी। नरसिंह मामा तो मेरे समवयस्क थे, और अब मृत छोटी नानीके संकेतके अनुसार उनकी भावज तथा अपनी मामीके साथ हँसी-मज़ाक़ मेरे मनोरंजनका एक ख़ास साधन बन गया था।

× × ×

धीरे-धीरे जाड़ा बीत गया। गर्मीके महीने और उनके साथ आमोंकी फ़सल खतम हो गई। बेकार रहते मन उकताने लगा, तब जाकर मैंने फिर पढ़ाई शुरू करना तै किया। निज़ामाबादमें नाम लिखानेके बाद देखा, मेरे पुराने साथी अधिकांश पास होकर चले गये हैं। नये साथियोंमें अधिकांश बाहरके स्कूलोंसे आनेवाले अपरि-

चित चेहरे थे, कुछ अबके सालके फ़ेल तथा स्थानीय स्कूलके चौथे दर्जेके पास लड़के परिचित भी थे। अध्यापकोंमें परिवर्तन नहीं हुआ था। मेरे हृदयमें एक प्रकारकी उदासी बनी रहती थी। मैं अपने एक सालके खोये जानेको जिस रूपमें देखता था, मुझे मालूम होता है, जैसे दौड़में मेरी घोर पराजय हुई। दर्जेमें जाते ही पुराने परिचित लड़कोंने मेरी योग्यताको काफ़ी बढ़ा-चढ़ाकर कह दिया था, किन्तु उसको पूरा दिखानेमें मुझे कुछ देर लगानी पड़ी। यही नहीं कि पिछले सवा वर्षके पुस्तक-त्यागसे मैं बहुतसी बातें भूल गया था, बल्कि अबके सालकी कई पाठच-पुस्तकें बदल गई थीं। बहारिस्तानकी जगह एक दूसरी ही किताब आई थी। उक़लैदिस (रेखा-गणित)की जगह ज्यामेट्री आई थी। इतिहासमें भी शायद कुछ परिवर्तन हुआ था। और इन पुस्तकोंके कितने पाठ हो चुके थे, जब मैं फिरसे दाखिल हुआ। रातको न पढ़नेकी 'क़सम' अबके भी मेरी जारी रही, तो भी दो-तीन महीनेके बाद फिर मैं दर्जे और स्कूलका सबसे तेज़ लड़का हो गया।

इधर दो-तीन बरसोंसे मैं मलेरियासे बचा हुआ था। एक दिन पुराने पुजारीके यहाँ गया तो उन्होंने बतासा डाला हुआ तर्बूज़ा खानेको दिया। बोर्डिंगमें उसी दिन राब (पतले गुड़)में डालकर मक्काका लावा खाया। खानेमें दोनों ही अच्छे लगे थे, किन्तु शामको क़ै हुई, उसके बाद जड़ैयाके साथ ज्वर। मालूम हुआ ज्वर या कमज़ोरी अभी कुछ दिन रहेगी, इसलिए मैं पन्दहामें बिना ठहरे कनैला चला आया। मुझे यह सुनकर बड़ा अफ़सोस हुआ कि मेरी बहिन मर गई। मरनेके बाद जो रंज हुआ, उससे मालूम हुआ, कि मैं उसे कितना प्यार करता था। माँकी मृत्यु नानीकी उपस्थितिके कारण सह्य हुई थी, और नानीके वृद्धापनने उनकी मृत्युको अवश्यंभाविनी कहकर सह्य बना दिया होगा, लेकिन बहिनके बारेमें वैसे कोई कारण न थे, इसलिए उसकी मृत्युको मैंने ज़्यादा अनुभव किया। उसका चेहरा-मुहरा माँसे कुछ मिलता था, हाँ उसके बाल काले नहीं कुछ भूरेसे थे। वह किसीसे झगड़ा करना नहीं जानती थी, और संकोचशीला थी। एक बार नानीके मरनेके बाद हम दोनों पन्दहामें थे। किसी बातमें मैंने उसे डाँट दिया—आख़िर बड़ा भाई ही क्या जो छोटेपर कुछ हुकूमत न जताये। रामप्यारी चुपके उठी और कनैला चली गई। मुझे उसका बड़ा अफ़सोस हुआ, और नाना तो पता लगाने १० मील दौड़े-दौड़े कनैला गये। आजी बतला रही थीं—कोई बड़ी बीमारी नहीं थी। ज़रा-ज़रा जड़ैया आ रही थी, वह भी छूटती-सी मालूम होती थी। मुझसे कहा, 'बड़की मैया! ज़रा दालानसे बाहर जाती हूँ'। लौटकर तुरन्त ही आई। पुआलके बिछौनेपर बैठनेके साथ ही

गिर पड़ी। मैं दौड़ी, देखा दो-तीन हिचकी आई, ज़रासा ख़ून मिला कफ़ गिरा, और उसका बदन ठंडा हो गया है।

रामप्यारीको मरे अभी हफ़्ता नहीं बीता था। आमतौरसे अविवाहित छोटे बच्चेका श्राद्ध नहीं होता, किन्तु पिताजी इसे माननेवाले न थे। वह अपनी रामप्यारीके प्रति प्रेम और श्रद्धाको किसी रूपमें दिखलाना चाहते थे।

दो-तीन सप्ताहमें अच्छा होकर मैं फिर निज़ामाबाद चला आया। उस साल वर्षाके शुरू होते हीसे नाना और उनके भतीजोंमें हिब्बाके लिए झगड़ा हो रहा था। उन्होंने एक मुक़दमा दीवानीमें दायर किया था। लेकिन उन्हें वकीलोंने बतला दिया था, कि क़ानून नातीके हक़को मानता है। वे यह भी नहीं साबित कर सकते थे; कि नाना और उनका सम्मिलित परिवार है; क्योंकि इसके ख़िलाफ़ छोटे नानाका नानाके नाम लिखा बैनामा मौजूद था। दीवानीमें पक्ष कमज़ोर देखकर उन्होंने फ़ौजदारी शुरू किया। ज़बर्दस्ती खेत काट लिया। नाना अकेले और बूढ़े थे, बेचारे कहाँ तक ज़ोर लगाते। पिताजीको भी उनकी मददमें आना पड़ा, जिससे उनके घरका काम हर्ज होने लगा। मैं इन ख़बरोंको सुनता था, किन्तु अन्यमनस्कसा रहता था।

परीक्षाके तीन-चार मास रह जानेपर सारे ज़िलेके तहसीली स्कूल अपने यहाँके छठे दर्जे (मिडलके अन्तिम दर्जे)के विद्यार्थियोंका मासिक सम्मिलित इम्तहान लेते थे। आज़मगढ़के किसी प्रेसमें छपकर हर विषयके प्रश्नपत्र हमारे पास आते थे। इस परीक्षासे यह भी पता लगता था, कि कौन स्कूल और उसका कौन विद्यार्थी कितना तेज़ है? सारे ज़िलेके विद्यार्थियोंमें मेरा और मक़बूल(?)का मुक़ाबिला रहा करता था, और सो भी ज़बान(भाषा)को लेकर; क्योंकि जहाँ उर्दूकी नींव मेरी शुरूसे नहीं बन पाई थी, वहाँ मक़बूलको उसकी योग्यता बढ़ानेके अच्छे साधन प्राप्त थे। तो भी अधिक बार मैं ही प्रथम रहता रहा। मक़बूलका मकान तो नहीं मालूम, किन्तु वह आज़मगढ़के तहसीली (मिडल) स्कूलमें पढ़ता था।

जनवरी (१९०९ ई०) तक ही शायद हर तरहसे तंग आकर पिताजीको मेरे चचेरे मामा लोगोंसे सुलह करनी पड़ी थी। उन्होंने देख लिया कि ५ कोस दूर दूसरे गाँवमें जाकर वह लाठी तो लाठी क़ानूनकी लड़ाई भी ठीकसे नहीं कर सकते। उन्होंने यह भी देखी कि हज़ार-डेढ़ हज़ारकी जायदादके लिए पाँच-छै सौ रुपये अभी उनके ख़र्च हो गये हैं। मामा लोगोंने भी ऊँच-नीच सोचा और अन्तमें मेरे फूफा पंच बनाये गये। उन्होंने फ़ैसला दिया कि जायदादके लिए मामा लोग भांजोंको

ग्यारह सौ (?) रुपये दें। नानाकी भावनाका ख्याल करके उन्हें अपने साथ पत्थरके कोल्हूको भी कनैला ले जानेका अधिकार दिया गया। भतीजोंमें बच्चा पाठक और जवाहर तो बराबर कलकत्ता ही अपनी नौकरीपर रहते थे। रामदीहलकी भाइयोंसे पटती कम थी, सीताराम सबसे बड़े भाई मुँहज़ोर बहुत थे, किन्तु असली दिमाग़ था सबसे छोटे रामदीन मामाका। झगड़ेमें रामदीन मामाका ही सबसे बड़ा हाथ था, किन्तु उनके प्रति मेरा भाव सदा सन्मान और प्रेमका था। उसका कारण भी था। उन्होंने रानीकीसराय ले जाकर मेरा अक्षरारम्भ कराया था। वह लोअर-प्राइमरी पास कर कुछ महीने निज़ामाबाद दर्जा ३में पढ़ने गये थे--उस वक़्त रानी-कीसरायमें अपरप्राइमरीके दर्जे नहीं थे, लेकिन उन्होंने कहींसे उर्दू सीख ली थी। किताव आदिकी सहायतासे वह रोमनमें भी लिख लेते थे--और रोमन लिखना उस वक़्त मेरे जैसोंकी नज़रमें अंग्रेज़ी-साहित्यमें पारंगति प्राप्त करना था। दूसरे-तीसरे दर्जेमें पढ़ते वक़्त जब मैं घर लौटता, रामदीन मामा घसीट उर्दू लिखकर मेरे पढ़नेकी परीक्षा करते, और मेरे पढ़ लेनेपर शाबाशी देते हुए नानासे कहते--चाचा! अब केदारनाथके पढ़नेमें कोई हर्ज नहीं है। यह सुनकर मुझे बड़ी ख़ुशी होती। सच पूछो तो रामदीन मामा बचपनके मेरे प्रथम आदर्श थे, और शायद उसीलिए बीचके कड़वाहटके ज़मानेमें भी मेरे भाव ज्योंके त्यों रहे। यह भी हो सकता है, कि पन्दहाकी जायदादके प्रति मेरा कोई आकर्षण नहीं था।

शायद जनवरीका ही महीना था, जब कि मैं पन्दहामें किसी छुट्टीमें आया था। दोनों घरोंमें सुलह हो गई थी। नानासे उनके भतीजों, और ख़ासकर भतीज-बहुओं-का आग्रह था, कि वह वहीं रहें। रामदीन मामाकी स्त्री (पहिली नहीं, जो मेरे बाल्य-स्नेह और श्रद्धाकी आराध्य देवी थीं)से नाना भी बहुत ख़ुश थे, किन्तु उनको डर था, कि किसी दिन कोई ताना न मार दे--ज़मीन बेंच-खोंचकर तो नातियोंको दे दिया, अब यहाँ पड़े हैं टुकड़ा तोड़नेके लिए। नाना कनैला जानेके लिए तैयार बैठे थे, लेकिन अभी गये नहीं थे। एक तरह नानाका घर उनके भतीजोंके सुपुर्द हो गया था, और नाना उन्हींके घर खाना खाते थे। अबकी मैं भी वहीं ठहरा। ऊखका मौसिम था, यद्यपि पत्थरके कोल्हूकी जगह लोहेके कोल्हूका प्रचार हो जानेसे ऊखके शर्बतमें न वह मिठास थी, और न वह सामूहिक कार्य करनेका दिलबहलाव। हाँ, इस समय मुझे एक काम करना पड़ा, जो मेरी स्मृतिको उस दिनकी ओर ले गया, जब कि राम-दीन मामाने ले जाकर रानीकीसरायमें मेरा अक्षरारम्भ करवाया था। बड़े नानाने अपने पौत्र, रामदीन मामाके पुत्र दीपचन्दको मुझे ही ले जाकर अक्षरारम्भ करवा

आनेका आदेश दिया, और मुझे इस आदेशको पालन करनेमें बड़ी ख़ुशी हुई। मालूम होता था, मैं उसके द्वारा एक बड़े ऋणसे उऋण हो रहा हूँ।

लड़कपनसे ही सम्मिलित बड़ा परिवार मुझे बहुत प्रिय लगता था। जब मैं अभी सात ही आठ सालका था, तभी मझगाँवाँके एक राजपूत परिवारके रामफल, बाँके आदि ५, ६ लड़के रानीकीसराय पढ़ने आते थे। मझगाँवाँ पन्दहासे भी मील-डेढ़ मील और आगे है, इसलिए उन्हें रोज़ छै मील आना-जाना पड़ता था। मुझे देखकर रश्क आता था, जब कि वे पाँचों-छओं लड़के एक अँगोछेसे भूँजा या सना हुआ सत्तू खाते थे। मझगाँवाँमें मैं सिर्फ़ एक बार गया था, और उनके घरको शायद नज़-दीकसे देखनेका मौक़ा नहीं मिला। तो भी मुझे यह सुनकर बड़ी ख़ुशी होती थी, कि उनके घरमें चालीस-पचास व्यक्ति हैं, मनभर चावल एक दिनमें खर्च हो जाता है। वह परिवार मुझे आदर्शसा मालूम होता था। मेरे सामने उस परिवारमें अलगा-बिलगी नहीं हुई थी। इसी तरहका एक राजपूत-परिवार कनैलाके पासके एक गाँव....में था। कनैलामें हमारे यहाँ यजमानी नहीं होती थी, और यजमानके नाते था इन्हींका एक परिवार। मैं बहुत छोटा था, जब कि उस परिवारके अन्तिम प्रधानका देहान्त हुआ था, और बाक़ी बचे लोगोंमें सबके विश्वासका पात्र कोई व्यक्ति न रह गया। मेरे चचेरे आजा (दादा) महादेव पाँडे——जिनको मेरे आजा जानकी पांडे बहुत मानते थे——बड़े भाईके मरनेके बाद मुखिया होकर सारे परिवारको इकट्ठा रखकर चलानेमें समर्थ तो नहीं हुए——और शायद इसका बहुत कुछ दोष मेरी आजी-की नीमसी कड़वी ज़बान और क्षुद्रहृदयता थी, किन्तु वे गाँवके प्रधान और आसपासके इलाक़ेके भी एक माननीय पंच माने जाते थे। उक्त राजपूत परिवारके लोग उस वक़्त परिवारके बँटवारेके लिए दौड़-धूप कर रहे थे। महादेव बाबा उन्हें बहुत समझा रहे थे इकट्ठा रहनेके लिए, लेकिन वे उसमें सफल न रहे। मैं समझता हूँ, सम्मिलित परिवारकी मौखिक बर्कतोंको यदि सुननेका मुझे कभी मौक़ा मिला होगा, तो इसी समय। सम्मिलित और बड़ा परिवार, मालूम होता है, मुझे स्वभावतः प्रिय था, यह मैं आज साम्यवादी मनोभावके कारण नहीं कह रहा हूँ। दाल मुझे बहुत नापसन्द थी, चावलको भी मैं खा नहीं सकता था; किन्तु, मुझे तअज्जुब होता था, कि कनैलाके बिरादरीके भोजोंमें मटरकी भी दाल मुझे इतनी स्वादिष्ट क्यों मालूम होती है? साठीका बिल्कुल मोटा-झोंटा भात बार-बार मैं माँगकर क्यों खाता जा रहा हूँ? हो सकता है सम्मिलित बड़े परिवार और सम्मिलित बड़े भोज मुझे इसलिए ज़्यादा आकर्षित मालूम होते हों, कि मेरे नानाके घरमें दो बूढ़े व्यक्ति और

मैं अकेला लड़का था, उसपरसे खेल-कूदमें भी मुझपर कड़े निर्बन्ध थे, और इसीलिए एक ही परिवारमें बहुतसे बच्चोंको देखनेके लिए मैं तरसा करता था।

कुछ भी हो, नानाके यहाँके झगड़ेकी शान्तिसे मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई। बरसोंसे मुझे देखते ही रामदीन मामाके घरकी कितनी ही त्योरियाँ जो चढ़ जाया करती थीं, अब उनमें एक तरहका स्नेह दिखलाई पड़ता था। कह नहीं सकता, उस बार रामदीन मामासे मुलाक़ात हो पाई। वे पढ़ाई छोड़नेके बाद कुछ समय तक घरपर रहे, फिर पोस्टमैन हो गये, रहते ज़िले हीमें थे, किन्तु घरसे दूर। पहिले जब मैं रानीकी-सरायमें पढ़ा करता, तो अतवारकी छुट्टियोंमें उनसे भेंट हुआ करती, किन्तु निज़ामाबाद चले जानेके बाद उसका बहुत कम मौक़ा मिलता था।

× × ×

निज़ामाबादकी पढ़ाईके दिन समाप्तिपर पहुँच रहे थे। नौ महीने पहले सहपाठियोंमें जो अधिकांश अपरिचित चेहरे देखे थे, अब वे सुपरिचित हो गये थे। आज (२१-४-४०) ३१ वर्ष बाद, सो भी २३ सालसे जब कि ज़िले तकको देखनेका मौक़ा मिला, यदि सभी नाम याद नहीं पड़ रहे हों, तो स्मृतिको बहुत दोष नहीं दिया जा सकता। उनमेंसे बहुतसे चेहरे अब भी स्मृति पटपर साफ़ दिखलाई पड़ते हैं, यद्यपि वे ३१ वर्षके पहिलेके उनके लड़कपनके चेहरे हैं, और उनके बलपर आज अपने उन सहपाठियोंको पहचानना मेरे लिए सम्भव नहीं होगा। नई गाँवको बहुत बचपनसे ही पन्दहासे कनैला आते-जाते मैं रास्तेसे कुछ हटकर देखा करता था। वहाँके तीन लड़के मेरे साथ पढ़ते थे। तीनों चचेरे भाई किन्तु एक परिवारके थे। पतले-दुबले तो सभी थे, किन्तु बड़े श्यामनारायण पांडे सबसे ज़्यादा दुबले थे, शायद इस अन्दाज़में उनकी लम्बाई भी कारण रही हो। वह और सबसे छोटे भाई पढ़नेमें अच्छे थे, मझले पढ़नेमें कमज़ोर; किन्तु वे अक्सर हमारे रविवारके 'व्रत' (मांसभोजन) में शामिल हो जाया करते थे। मुझे याद नहीं, कभी इन तीनों भाइयोंसे मुझसे अनबन हुई हो, किन्तु बाक़ी दो भाई ताना दे देते थे—केदारनाथ तो हमारे भाईको फोड़ लेते हैं। मेंहनगरके दो चचा-भतीजे महाब्राह्मण लड़के पढ़ते थे, उनमें भतीजा मेरी उम्रका था, दर्जेमें मेरे बाद तेज़ीमें उसीका नम्बर था। उसका स्वास्थ्य भी अच्छा था, क़द और आयुमें मेरे बराबर होनेपर भी वह बहुत मज़बूत था। मिडल पास करनेके बाद एक बार बनारसमें उनसे भेंट हुई थी, वह वहाँ कोतवालीमें कान्स्टेबल थे।

सारे ज़िलेके मिडलके लड़कोंका इम्तिहान आज़मगढ़के मिशन-स्कूलमें हुआ करता था। यह वही मिशन स्कूल था, जिसके बारेमें रानीकेसरायके आरम्भिक

दिनोंमें नाना कहा करते थे--उर्दू पढ़ जावे, फिर तो जहाँ मैंने एक बार पादरी साहेब (मिशन स्कूलके हेड मास्टर)को फ़ौजी सलाम दिया, कि उसे भरती करवा-कर छोड़ूँगा। उनके फुफेरे भाई इसी स्कूलमें पढ़े थे, जो कि पीछे सबजज बनकर जवानी हीमें मरे थे। स्कूलके पास ही एक घर किरायेपर लिया गया था, जिसमें हम निज़ामाबादी परीक्षार्थी ठहरे हुए थे। याद नहीं हम लोगोंके साथ कौन अध्यापक गया था। दस बजे परीक्षाशालामें हम पहुँचते थे। सारे युक्त-प्रान्तके लिए एक ही तरहके प्रश्नपत्र छपकर आते थे। हम उर्दूवालोंके पर्चे नस्तालीक़में नहीं बल्कि काँटेवाले टाइपमें छपे होते थे। देखनेमें तो ख़ैर वे भद्दे होते ही हैं, साथ ही उनके पढ़नेमें विद्यार्थियोंको दिक़्क़त भी होती है। हम लोगोंकी प्रायः सारी ही पुस्तकें नस्तालीक़में छपी थीं, इसलिए हमारे वास्ते और भी दिक़्क़त थी। और मुझे तो इन कँटीले टाइपोंका गुन और भी नहीं भूल सकता, क्योंकि मेरे जीवन-प्रवाहको एक दूसरी धारामें बहानेमें उनका भी ख़ास हाथ था। मेरे फ़ेल होनेकी तो कोई सम्भावना थी नहीं; हाँ, सवा साल पढ़ाई छोड़कर पहिलेके पढ़ेको भुलवा देने तथा पाठ्य-पुस्तकोंके परिवर्तनके बाद भी लोगोंकी राय थी, कि मुझे सर्कारी छात्रवृत्ति मिलेगी। लेकिन जब इन कटीले टाइपोंमें छपे अनुवादके पर्चेमें 'इलाहाबाद' या 'अल्लाह अल्लाह'मेंसे एककी जगह दूसरा पढ़कर मैंने सारे अनुवाद हीको उल्टा कर डाला, तो मुझे तो पूरा सन्देह हो गया।

परीक्षा देकर मैं कनैला चला आया। अबकी एकसे अधिक बार उमरपुरके परमहंस बाबाकी कुटीपर गया। परमहंस बाबाके बारेमें चारों ओर ख्याति थी, कि वे १२० वर्षके हैं। आसपासके कितने ही बूढ़े आदमी गंगा-तुलसी उठानेके लिए तैयार थे, कि पिछले पचास सालोंसे वे उन्हें उसी सूरतमें देख रहे हैं। परमहंस बाबा अपने जन्मस्थान पोखरा (नेपाल)से काशी विद्या पढ़ने आये थे। वहीं वैराग्य हुआ, और सन्यासी हो गये। बनारसमें जब रेल आई, तो वे राजघाटकी एक गुफामें योगाभ्यास करते थे। किसी अपने भक्तसे उन्होंने रेलसे दूर ले चलनेके लिए कहा, जिसपर वह उन्हें कटहनसे दक्खिनके अपने गाँवमें ले आया। एकाध जगह कुटी बदलनेके बाद आसपासके गाँवोंसे मील-मील पौन-पौन मील दूर मँगई नदीके दाहिने तटको अपने लिए पसन्द किया। जल्दी ही वहाँ उनके लिए कुटी बन गई। एक दो कोठरी और बरांडेवाली खपड़ैलसे छाई मूलकुटी थी। इसके चारों ओर खपड़ैलसे छाई कच्ची चहारदीवारी। इस चहारदीवारीके बाहर एक और बड़ा हाता--मिट्टीके ऊँचे 'खाँवें' (परिखा)से घिरा था, जिसके भीतर दो पोखरियाँ,

एक झोंपड़ी और बहुतसी खाली जगह थी। उत्तरवाली पोखरीमें पक्की सीढ़ियाँ थीं; और इसमें परमहंस बाबाको छोड़कर कोई दूसरा, नहाने-धोनेकी तो बात ही क्या आचमन भी नहीं कर सकता था। पूरबवाली पोखरी सार्वजनिक सम्पत्ति थी। भीतरी चहारदीवारीके दर्वाज़ेके बाहर पूरबमुँहकी एक फूसकी झोपड़ी थी, जिसमें सह्य भक्त लोग बैठा करते थे। हाँ, सह्य भक्त इसलिए कहता हूँ, कि परमहंस बाबा भक्तोंको भी असह्य समझते थे। कुटीके बाहरी हातेके भीतर घुसनेपर भी कितनोंपर मार पड़ती थी। चरवाहे डरके मारे अपने पशुओंको दूर रखते थे। यह डर मारका उतना नहीं था, जितना परमहंस बाबाके सिद्धबलका। आसपासके साधारण लोग ही नहीं, फूफा महादेव पांडे जैसे संस्कृतके धुरन्धर पंडित और कितने ही अंग्रेज़ी पढ़े-लिखे अफ़सर तक उन्हें अगाध पंडित, जीवन्मुक्त योगी और सिद्ध मानते थे। लोग जब दु:ख-सुखमें उनसे वरदान माँगने जाते, और उनके इन्कार करने तथा चले जानेके लिए कहनेपर भी नहीं हटते थे, तो कभी-कभी वह डंडा भी चला पड़ते थे, किन्तु जिसपर डंडा पड़ता था, वह समझता था, हमारा मनोरथ सुफल हो गया।

परमहंस बाबामें दिखलावा नहीं था। वह एकान्तप्रिय थे, और अपनी भीतरी चहारदीवारीसे बाहर शायद ही कभी निकलते थे। भीतरी चहारदीवारीके भीतर इम्लीके कितने ही दरख़्त तैयार हो गये थे, जिनपर चिड़ियोंने क़ब्ज़ा जमा लिया था। शायद यह उन्हें नापसन्द न था, क्योंकि कभी-कभी चिड़ियोंको चहचहाते देख, वह भी उसी तरह नक़ल करके कहते थे—'चूँ चूँ करता है।' एक बार हज़ारों चिड़ियोंने अपना शहर बसाकर बाक़ायदा बहस-मुबाहसा शुरू कर दिया। परमहंस बाबाने इम्लीकी सारी डालियोंको कटवा दिया, और चिड़ियोंको डंडा-कुंडा लेकर भागनेके लिए मजबूर किया।

परमहंस बाबाकी सेवामें दो व्यक्ति बहुत तत्पर थे, एक हरिकरणदास—हाँ यह सन्यासीका नाम नहीं है। हरिकरणसिंह पासके गाँवके एक जवान राजपूत थे। परमहंस बाबाकी सेवाके लिए उन्होंने पहिले तो घरका कारबार छोड़ दिया—किन्तु कुटियासे दूर हटकर, परमहंस बाबा अनन्य सेवकको भी पास रहने नहीं देते थे—रहने लगे। बाबा तो किसीको चेला बनाते न थे, इसलिए हरिकरणसिंहने स्वयं गेरुआ रंग लिया, चुटिया-जनेऊ तोड़ फेंके, और हरिकरणदास बनकर कुटियासे तीन-चार सौ गज़ दूर दक्षिण तरफ़ एक खपड़ैलकी कुटियामें रहा करते थे। परमहंसजीके भोजन तथा भीतरी कुटियाकी सफ़ाई आदिका भार उनके ऊपर था। उनके अतिरिक्त बालदत्तसिंह एक दूसरे भक्त थे। इन्होंने बूढ़ी माँ, स्त्री, तथा घरबार छोड़ वैराग्य

और सन्त-सेवाके लिए परमहंस बाबाकी कुटियापर धुनी रमाई थी। बालदत्तसिंहने कपड़ा नहीं रँगा था। घरमें रहते वक़्त भी वह धार्मिक प्रवृत्तिके आदमी थे, और मेरे पितासे उनकी बहुत पटती थी—दोनोंमें पुरोहित-यजमानका भी नाता था। परमहंस बाबा पहिले ब्राह्मण-क्षत्रियके घरके बने भोजनको खा लिया करते थे, एक बार किसी स्वच्छन्दवृत्ति स्त्रीने परमहंसजीको खिलाकर पड़ोसियोंको ताना मारा—'तू क्या कहैगी, मेरे हाथकी रसोई तो परमहंस बाबाने स्वीकार की।' इसीके बाद किसीके घरकी रसोई खाना उन्होंने छोड़ दिया। यह नये स्थानपर आनेसे बहुत पहिलेकी बात है। मामूली फल-फूल छोड़कर, बाक़ी भोजन वह सिर्फ़ एक व्यक्तिका स्वीकार किये हुए थे। खजुरीके एक राजपूत ज़मींदारको इसका सौभाग्य प्राप्त हुआ था। उनकी ओरसे एक दूध देनेवाली भैंस बराबर आया करती थी। बालदत्त भैंसकी सेवा द्वारा परमहंसजीकी सेवा करते थे। गोभी-आलूकी गाढ़ी तरकारी, रोटीसे नहीं ख़ाली खानेके लिए, और दूधमें भिगोया धानका चूरा परमहंस बाबाका प्रधान भोजन था। ऊखका रस भी उन्हें पसन्द था, इसके लिए लकड़ीके बेलनका कोल्हू बाहरी हातेकी मँड़ैयाके सामने गड़ा हुआ था।

मेरे पिता धार्मिक आदमी थे, किन्तु अन्ध श्रद्धा उनमें बहुत कम थी। सिसवाके पौहारी बाबाकी कनैला और आसपासके गाँवोंमें बड़ी पूजा होती थी; किन्तु पिताजी साधारण शिष्टाचार भरका उनसे सम्बन्ध रखते थे। इसी तरह आज़मगढ़के पासके एक कबीरपंथी साधु भी दो-तीन अनुयायियोंके साथ हरसाल गाँवमें अनाज जमा करने आते थे। गाँवके बीचमें एक पुराना पीपलका वृक्ष था, जिसे गाँवकी स्थापनाके समय ही रोपा गया बतलाया जाता था। गाँवके पासका पोखरा भी तभी खोदा गया था, किन्तु पानी नहीं निकल रहा था। कहते हैं, उसी समय गोविन्दसाहेब एक सिद्ध फ़क़ीर कनैला पहुँचे। उन्हींके वरदानसे पोखरेमें पानी निकल आया, और उन्हींने अपने हाथसे यह पीपल लगाया था। इस पीपलको भी 'गोविन्द साहेब' कहा जाता था। उस विशाल वृक्षकी घनी छाया गर्मियोंमें बहुत शीतल मालूम होती थी, गाँव भरके कितने ही आदमी उसके नीचे या पासके सुखदेव पांडेके बैठकमें बैठे रहते थे। रामायण और फाग-मंडलीके जुटनेका यही स्थान था। कबीरपंथी महात्मा भी आकर यहीं ठहरते थे। परमहंस बाबाकी बात दूसरी थी। दूसरे सन्त-महात्माओंसे गाँवके लोग तभी खुश रहते थे, जब वे प्रसाद बाँटनेमें उदार देखे जाते। पौहारी बाबा तिन्नीके चावलके भातमें घी-साग-तरकारी आदि मिलाकर चूँचूँका मुरब्बा बाँटते थे, कबीरपंथी महात्मा नारियल-गिरीके टुकड़े।

पिताका अनुराग इन महात्माओंमें न था, किन्तु परमहंसजीके वे बड़े भक्त थे। बाल-दत्त और पिताजीके कारण मैं भी वहाँ आने-जाने लगा। शायद हरिकरणदाससे एकाध बार बात करनेका भी मौक़ा लगा था, और मुझे साधु-जीवनकी ओर हल्कासा आकर्षण भी हुआ, किन्तु भविष्यके गर्भमें जो था, उसका अभी कोई आभास न दिखलाई पड़ता था।

परीक्षा देकर आनेके बाद दो सप्ताहसे ज़्यादा घरपर नहीं रह सका। तबियत लग नहीं रही थी।

१२

दूसरी उड़ान

'सैर कर दुनियाँकी ग़ाफ़िल'का मंत्र चैन नहीं लेने दे रहा था। पहिली उड़ानके लिए घीका गिरना और नानाकी डाँटका डर भी कारण था, किन्तु अबकी बारके लिए उसकी अवश्यकता न थी। रास्तेके लिए पैसेकी ज़रूरत होती है, यह तो मैं शैशवसे जानता था, जब कि सुना था कि नाना अपने पिताके रखे सौ रुपयोंको लेकर सुदूर दक्षिण-हैदराबादकी ओर चंपित हुए थे। मुझे अबकी बार एक या दो रुपये तथा रुपयोंकी मालावाला ज़ेवर हाथ लगा। मालाको तो प्रश्नोत्तरके डरसे मैं नहीं बेंच सका, और आठ महीने बाद उसे वैसा ही लौटा लाया, लेकिन रुपयोंने कलकत्ता पहुँचनेमें मदद दी। रेलका टिकट शायद मुग़लसराय ही तक ख़रीदा जा सका, बाक़ी सफ़र टिकटके बिना ही तै हुआ। शायद रास्तेमें कोई टिकट-चेकर नहीं मिला। लिलुआमें कैसे जान बची, इसका भी स्मरण नहीं। दो साल पहिलेके कलकत्ता आने और अबके आनेमें बहुत अन्तर था। अब मैं वह पुराना सीधा-सादा चौदह वर्षका गँवार लड़का न था, जिसकी अक़्ल हवड़ाके मुसाफ़िरख़ाने हीको देखकर ख़ब्त हो जाती। मुझे पुरानी यात्राके तजर्बेके अतिरिक्त यह भी मालूम था, कि मेरे मेहरबान पाठकजी कलकत्तामें मौजूद हैं।

पाठकजी अब भी अपनी उसी कोठरीमें रहते थे। अभी भी उनके लिए लक्ष्मीकी लहरका कहीं पता न था। हाँ, अपना ख़र्च किसी न किसी तरह चल जाता था। आज़मगढ़में अभी कैरियाँ देखकर आया था, किन्तु यहाँ कलकत्तामें पके आम बिक रहे थे। उस वक़्त पाठकजी ग्रेट ईस्टर्न होटलको चटनी-मुरब्बेके लिए आम देनेका

ठीका लिये हुए थे। मुझे आतेके साथ ही काम मिल गया। बाज़ारमें आमोंको गिनवाने तथा होटलमें उन्हें सँभलवानेमें मैं भी उनकी सहायता करता था। आमोंका काम ख़तम हो जानेपर हवड़ामें रेलवेका कोई उच्च कर्मचारी पेंशन लकर विलायत जा रहा था। पाठकजीने उसकी कोठीकी चीज़ें नीलाम ली थीं। पाठकजीके पास, वस्तुतः, उनके ख़रीदनेके लिए भी रुपया कहाँ था, रुपया किसी मारवाड़ी सेठका था, नफ़ेमें कमीशन पाठकजीको भी कुछ मिलनेवाला था। कोठीसे सामान लानेमें मुझे भी सहायता करनी पड़ी। उसी वक़्त मुझे मालूम हुआ, अंग्रेज़ोंकी तरह रहनमें कितने सामानकी अवश्यकता होती। दर्जनों तो छुरियाँ थीं। काँटे, छोटे-बड़े-चम्मच, प्याले, चायदानियों, प्लेटों, तश्तरियों और खाना परोसन तथा खानेके न जाने कितने बर्तन थे। सूती-ऊनी कपड़ोंके बीसियों सूट थे। कुर्सी-मेज़ आदिके साथ एक मलाईका बर्फ़ जमानेकी मशीन भी थी। सामान लदवाकर लाया गया। कुछ चीज़ें तो थोक ही बेच दी गईं, किन्तु कपड़ोंमें से कितनोंको पाठकजीने मेरे वास्ते फेरीके लिए छोड़ रखा। चन्द दिनों मैंने उन कपड़ोंकी फेरी भी की। कालेज स्क्वायरके जैसे लोहेके कठघरोंपर उन कोटों, क़मीज़ों और पतलूनोंको टाँग देता था, और फिर गाहकोंके आनेकी बाट जोहता था। गाहक मेरे पास शायद ही कभी आये। मैं समझता था, बिक्रीमें भी हाथ-हाथकी बात होती है, किन्नाको मछली और आम मारनेमें अधिक सफलता प्राप्त करते देख ऐसा ही मैं समझा करता था। मुझे उस वक़्त ख़्याल नहीं आता था, कि जिन लोगोंके सामने मैं इन सूटों—अधिकांश ज़ीनके—को फैलाये हुए हूँ, उनमेंसे एक भी तो, इनाम देनेपर भी उन्हें पहिनकर बाज़ारमें चार क़दम चलनेके लिए तैयार नहीं हो सकता। हार मानकर फेरीका काम बन्द करना पड़ा।

मारवाड़ी सेठोंके कामके लिए पाठकजीको साहेब लोगोंके पास अक्सर आना-जाना पड़ता था। हवड़ा स्टेशनके मालगोदामके सुप्रेंटेंडेंट या असिस्टेंट सुप्रेंटेंडेंटसे उनका परिचय था। वह एंग्लो-इंडियन था। पाठकजीके कहनेपर उसने मार्कामैनका काम मुझे दे दिया। मुझे अभी काम सीखनेको मिला था, और मुफ़्त भी वहाँ कितने ही बंगाली तरुण काम करते या करनेके लिए लालायित थे। उम्मीदवारोंको भी रोज़ कुछ न कुछ आमदनी हो जाती थी, और नौकरी मिल जानेपर तो वह ख़ासी आमदनीकी नौकरी समझी जाती थी। काम था बिल्टी देखकर सफ़ेद या काली स्याहीसे मालपर भजने और पानेवाले स्टेशनोंके संकेताक्षर तथा बिल्टीके नम्बरको अंग्रेज़ीमें लिख देना। इसके लिए बहुत ज़्यादा अंग्रेज़ी जाननेकी

ज़रूरत न थी। माल बहुत पड़ा रहता था, जब तक मार्का न पड़ जावे तब तक माल रवाना नहीं हो सकता था, इसीलिए हर एक माल भेजनवाला मार्का बाबूकी भेंट-पूजाके लिए तैयार रहता था। मुझे छोड़ सभी मार्काबाबू बंगाली थ। वह पुराने और उम्रमें मुझसे बहुत बड़े थे। पैसा मिलनेवाला मार्का कभी मेरे पास नहीं आया। मुझे उस आमदनीकी उतनी चिन्ता भी न थी, क्योंकि भोजनके लिए मैं निश्चिन्त था। पाँच-सात दिन बाद मालूम हुआ, मेरे नज़दीकी चचा जयमंगल भी उसी गोदाममें क़ुलीका काम करते हैं। वह कभी-कभी चीनीका शर्बत पिलाते थे। जब लाखों मन चीनीको वहाँसे गुज़रना था, तो शर्बतका कौन दुःख ? एकाध फटे बोरे निकल आनेसे लखपती व्यापारियोंका दीवाला थोड़े ही निकलनेवाला था।

दो-तीन सप्ताह बीतते-बीतते मेरा मन वहाँसे ऊब गया। काम मैं अच्छी तरह करने लगा था, किन्तु वहाँ दिलबहलावके लिए कोई साथी न था। दूसरे बाबुओंसे भाषा-भेदके कारण भी शायद घनिष्टता न पैदा हो सकती थी, लेकिन उससे भी अधिक कारण था उनका मेरे रहनेको भीतर ही भीतर नहीं पसन्द करना। साहेब-की ओरसे भेजे जानेके कारण वह मेरा कुछ कर नहीं सकते थे, किन्तु उनके अलग-थलगपनने ख़ुद मेरे ऊपर असर डालना शुरू किया। यदि जीविका और रुपये कमाने-की फ़िक्र होती, तो उस एकान्तताको सह्य भी कर लेता, और कुछ महीने रहनेके बाद शायद कुछ दोस्त भी बन जाते, इस प्रकार हवड़ा मालगोदामकी मार्कामैनी अचल हो जाती; लेकिन क्या करूँ स्वभावसे मजबूर था। काम छोड़कर मैं चला आया, उसके बाद भी साहेबने पाठकजीसे मुझे भेजनेके लिए कहा, किन्तु मैं नहीं गया।

पाठकजी मुरादाबादके रहनेवाले थे, यह कह चुका हूँ। उनकी और उनके शहरके कुछ दूसरे साथियोंकी बोली सुनकर मुझे पता लगा, कि किताबोंसे पढ़ी और माँके दूधके साथ बोली जानेवाली हिन्दीमें कितना अन्तर है। कह नहीं सकता, पहिलेके चार और अबकीके आठ मासके सहवासमें मैं भी पाठकज़ीकी-सी हिन्दी (या उर्दू कहिये) बोलने लगा था, किन्तु दोनोंके उच्चारण और मुहावरेकी बारीकियोंको तो ज़रूर समझता था। पाठकजीके हाथमें था ही क्या, किन्तु पैसा होनेपर वह बहुत उदार हो जाते थे, साथियोंकी मदद करनेमें। मैं तो उनका पोष्यपुत्रसा हो ही गया था, उनके शहरके एक व्यक्ति—जिनका नाम तो कुछ दूसरा था, किन्तु एक आँखके धनी होनेके कारण सब लोग उन्हें 'नवाब', 'नवाब' कहा करते थे—को कितनी ही बार वह सहारा देते थे। 'नवाब' साहेब दस-बारह वर्षसे कलकत्तामें रहते थे। कचालू फ़र्स्ट क्लासका बनाते थे। सवा रुपयेकी घुइयाँ, आलू, केला, अमरूद, नींबू,

मसाला आदि चीज़ें लगती थीं। सबेरेसे दोपहर तक चीज़ोंको तैयार करनेमें लगता था। बारह बजे बाद नवाब साहेब अपना ख़ोंचा लेकर निकल जाते तो शाम तक तीन-साढ़े तीन रुपये तो धरे हुए थे। डेढ़-दो रुपये रोज़ कमा लेना 'नवाब'के लिए बायें हाथका खेल था, लेकिन नवाब पूरे नवाब-मिज़ाज थे। रुपये हाथमें आते ही उन्हें काटने लगते थे। सट्टेके पीछे वे मरते थे। अफ़ीम, चाँदी ही नहीं पानीका भी जुआ कलकत्तामें होता था। तुलापट्टीमें किसी मारवाड़ी सेठके छतका पनाला बह निकलता, और पानीके खेलामें पैसा लगानेवालोंके पौ बारह हो जाते। रुपया पास हो और नवाब सट्टेके बाड़ेमें न जावें, यह असम्भव बात थी। और फिर सट्टा करते उनको इसका भी ध्यान नहीं रहता था, कि ख़ोंचेके लिए माल ख़रीदनेभर का पैसा तो बचा रखें। दस-पाँच दिन ख़ोंचा लगाते, कुछ पैसे जमा होते, फिर मूलसहित सट्टेबाज़ीमें हार आते। दो दिन चार-दिन भूखे पड़े हैं, मारे-मारे फिर रहे हैं, किसी साथीने सवा रुपयेका इन्तिज़ाम कर दिया, और फिर खोंचा उन्होंने उठाया। दो-तीन हफ़्ते बाद फिर वही रफ़्तार-बेढंगी। पाठकजी नवाबकी बराबर फ़िक्र रखा करते थे। पैसा देकर मदद करनेसे स्थायी फ़ायदा न होते देख, एकाध बार तो वह नवाबको अपने यहाँ लिवा लाये। नवाब कोयलेके चूल्हेपर ऊपरवाली आले-जैसी कोठरियामें कचालूका सामान तैयार करते। जीरा, धनिया और क्या-क्या मसाले भूनते और पीसते, जिनकी सुगन्ध बड़ी सोंधी लगती। मुफ़्तका और सो भी मात्रासे अधिक खानेको मिल जानेके कारण मुझे उस कचालूका वह मज़ा न आता था, जो कि पैसा गिन-गिनकर दोना-दोना लेकर खानेवालोंको। नवाबके एक और दोस्त थे, शायद मथुरिया चौबे। मछुआ बाज़ारमें उनकी मिठाईकी दूकान थी। मिठाई अच्छी बनाते थे, लेकिन जब सट्टेकी सनक चढ़ती, तो जोड़-जाड़कर सारी पूँजी तक स्वाहा कर आते। ख़ैरियत यही थी, कि उन्होंने एक रखेलिन रखी थी, और वह किसी तरह दूकानको बिल्कुल उजड़ जानेसे बचा लेती थी।

नवाबके दोस्तोंमें मुरादाबादका ही एक ब्राह्मण नौजवान था। दोनों साथ ही कलकत्ता पहुँचे थे। वह देखने-बोलनेमें बंगाली मालूम होता था। बंगालका किसी भी ज़िलेका कोई मेला उससे छूटता नहीं था। कोई भी छोटी-मोटी चीज़ बेचकर उसीके सहारे वह अपना राह-ख़र्च निकाल लेता था। और वह चीज़ भी बाज़ वक़्त उसका अपना आविष्कार होती। उस समय वह चार-चार पैसोंमें मोहिनी हार बेच रहा था। ताँबेका चमकता पतला तार बाज़ारसे लेकर चर्ख़ेके तकुयेपर लपेट-कर बाहरको खिसकाता जाता, फिर अपेक्षित लम्बाईका हो जानेपर तोड़कर तागा

पिरो बाँध देता, बस यही मोहिनी हार था। कुछ देरके लिए, और पसीना न लगे तो जाड़ोंमें पाँच-सात दिनके लिए उसका रंग, सचमुच, गिन्नीके सोने जैसा होता। उसके बनानेमें धेलेसे भी कम ख़र्च आता, फिर चार पैसे में बेचनेमें उसको नफ़ा ही था। वह जब घूमकर आता, तो पाठकजीके यहाँ ज़रूर आता, और उस वक़्त अपनी ताज़ी यात्राओंका विवरण सुनाता।

मार्कामैनी छोड़नेके बाद दो-तीन सप्ताहसे ज़्यादा मैं बेकार नहीं रहा। इसके बाद बनारसके सुँघनी साहुकी कलकत्तावाली दूकानमें नौकरी मिल गई। 'प्रसाद' जीका ख़ान्दान अपनी मशहूर बनारसी सुँघनीके लिए कितने ही सालोंसे 'सुँघनी साहु'-के नामसे मशहूर है। उन्हींके चचा गिरिजाशंकर साहुने अपनी एक शाखा तुलापट्टी-में चीतपुर रोडके नुक्कड़के पास खोली थी, दूकानका नाम उनके दो लड़कोंके नामपर भोलानाथ-अमरनाथ था। जिस वक़्त मैं नौकर रखा गया, उस वक़्त मालिकोंमेंसे कोई वहाँ नहीं था। मुझे काम मिला था, चिट्ठी-पत्री लिखना, तथा हफ़्तावार जमाख़र्चको उतारकर बनारस भेजना। बही-खाता लिखनेवाले एक अधेड़ मुंशीजी थे। दूकानपर एक रुपयेसे अस्सी रुपये सेरकी जहाँ सुँघनी बिकती थी, वहाँ कई तरहका ज़र्दा, किमाम और सुर्ती-गोलियाँ भी थीं। इनके अलावा ख़मीरेकी ख़ुशबू-दार तम्बाकू वहाँकी ख़ास चीज़ थी। दूकानमें बेचनेके लिए तीन या चार और नौकर रहते थे। हिन्दी-उर्दू चिट्ठियोंके अलावा पाठकजीने एक अंग्रेज़ी चिट्ठीका मज़मून लिख दिया था, जिसे यंत्रवत् कापी करके मैं रोज़ २५, ३०की तादादमें पुरानी डाइरेक्टरीसे पता देखकर भारतके भिन्न-भिन्न राजा-रईसोंके पास भेजा करता था। उस वक़्त मेरा ध्यान तो जाता ही क्या, दूसरोंका भी ख़्याल इधर नहीं गया, कि किसी नौसिखियासे चिट्ठी लिखवानेकी जगह पत्र ज़्यादा प्रतिष्ठित और आकर्षक होता, यदि उसे अच्छे लेटर-पेपरपर छपवाकर भेजा जाता। तो भी सभी तीर ख़ाली नहीं जाते थे। कुछ आर्डर आही जाते थे। कहीं-कहीं शिकायत आती थी, कि सुरती गोली और काला ज़र्दा पहिले कुछ दिनों तक खानेमें अच्छा रहता है, फिर स्वाद फीका पड़ जाता है। हम लोग जानते थे, कि जब तक अतरकी तरावट रहेगी, तब तक स्वाद बना रहेगा। पीछे हम मोटे काँचकी शीशियोंमें ठंडी जगह रखनेकी हिदायतके साथ भेजा करते थे।

कुछ ही दिनों बाद बूढ़े साहु गिरिजाशंकरजी भी आ गये। उनका रंग गेहुआँ, क़द ठिगना और कुछ मोटा था। उमर ५५के आसपास होगी। उनके लिलारमें आँवलेके बराबरकी मंसविर्द (मांसवृद्धि) थी, जिसपर किसी चिकित्सक गुनीके

परामर्शानुसार वह टिन्चर लगाया करते थे। घुटने तककी धोती, सिरपर सफ़ेद दुपलिया टोपी, बदनपर सफ़ेद चादरके अतिरिक्त एक लाल चारखानेकी अँगोछी भी कन्धेसे लटका करती थी। दोपहरके बाद साहुजी दूकानपर आते, सन्ध्या होते ही टहलने निकलते, और उस वक़्त अक्सर मैं साथ रहता। टहलनेकी जगहें भी उनकी बहुत सीमित थीं। बहुत दूर गये तो बड़े डाकख़ाने तक। उनको दमेका रोग था। मुझे किसी तरह मालूम हो गया था, कि दमेका एक सिगरेट होता है। मैंने साहुजीको परामर्श दिया, और बी० के० पालके यहाँसे एक डिब्बा ख़रिदवा भी दिया। पीतेके साथ उससे आराम होता था। साहुजीकी दृष्टिमें मैं बड़ा होशियार और स्वामिभक्त नौकर जँचने लगा। टहलनेके बाद अक्सर वे अपने एक सम्बन्धी—जिनकी अफ़ीम चौरस्तेपर हलवाईकी दूकान थी—के घर चले जाया करते थे। वहीं शौच होते, कुछ बैठक और मुगदर भाँजते, फिर दूकानपर आते। फिर दूकानके बग़लके चबू-तरेपर आसन लगाकर बैठ जाते, और बाज़ारसे ख़रीदकर उनके लिए भोजन आता। शामके भोजनपर बीस-चौबीस गंडे लगते—उसमें रबड़ी, दूध, मिठाइयाँ, पूड़ी और फल शामिल होते थे। हाँ, एक बात भूल गया, गिरिजाशंकर साहुकेलिए अठन्नी भर अफ़ीम हर शाम ज़रूरी थी।

नित्य नियमसे छुटकारा ले रातको नौ या दस बजे जब वह अपने वासस्थानपर जाते, तो मैं उनके साथ रहता। वासस्थान पर चीतपुर रोडसे बहुत आगे जाकर छोटी-बड़ी सड़कोंसे होकर जाना पड़ता था। दूकान और वासा दोनों मकान किरायेके थे, किन्तु साहुने सारे मकानको मालिक-मकानसे किराये पर ले लिया था, और अपनी तरफ़से किरायेपर लगा रखा था; इस तरह किरायेका बोझ उनके ऊपर बहुत हल्का पड़ता था। उनके किरायेदारोंमें एक रंडी भी थी, जो दूकानके कोठेपर रहा करती थी।

चीतपुर रोडका वह हिस्सा, जो हमारे सामने गुज़रता था, रंडियोंके कोठोंसे भरा था। अपने गुंडोंके लिये भी यह मुहल्ला बहुत मशहूर था। एक बार अंधेरा होते ही गुंडोंके दो दलोंमें मार हो गई। मारके वक़्त पुलीसके सिपाहीका पता नहीं था। छूरे और लाठियाँ चल रही थीं। हम लोग अपनी दूकानसे देख रहे थे। मरा तो कोई नहीं, हाँ, घायल कई हुए। लड़ाई समाप्त होनेके बाद एक गुंडा हमारे साथियोंमेंसे एक—जो उसीके हमजिन्स मालूम होते थे—से कह रहा था, 'गुरु, क्या कहते हो, आदमी हों तब न लड़ें। सालेने न जाने कहाँसे देव मँगाये थे।' दोनों तड़ोंमें एकका सर्दार मुसल्मान था, और दूसरेका एक अहीर। था मुसल्मान सर्दार—लेकिन उसके दलमें हिन्दू भी शामिल थे, उसने कई बार अहीरके दलको पीट

भगाया था, इसीलिए अबकी बार उसने मिर्ज़ापुर-अकोलीके लड़ाके बुला मँगवाये थे ।

एक दिन टहलते वक़्त साहुकी नज़र माजूनकी बर्फ़ियोंपर पड़ी । उन्होंने खरीद-कर खुद खाया, और एक टुकड़ा मुझे भी दिया । मुझे वह कलाक़न्दकी खुशबूदार बर्फ़ी बहुत मीठी लगी, और ज़रासे टुकड़ेपर क़नायत करनेके लिए मन तैयार नहीं हुआ । साहु जब थोड़ी दूरपर किसी परिचितसे बात कर रहे थे, मैंने जा एक या दो पूरी बर्फ़ी खरीदकर खा ली । भाँगका नशा ज़ोर करने लगा । ख़ैर किसी तरह मैंने साहुजीको उनके वासेपर पहुँचाया । लौटते वक़्त मेरा तालू सूखा जा रहा था । उसी वक़्त कोई कुल्फ़ीका बर्फ़ बेचनेवाला आ गया । मैंने एक कुल्फ़ी खाई, दो खाई, लेकिन तालूका सूखना अब भी बन्द न हुआ । आखिर उसकी हँडियामें जितनी कुल्फ़ियाँ थीं, उनको खाकर मैं अपने वासस्थानकी ओर चला ।

इसके बाद मुझे एक बारकी ज़रासी क्षीण स्मृति है, कुछ आदमी मुझे उठाकर सीढ़ीके रास्ते उतार रहे हैं । एकाध युगके बाद मालूम हुआ, मैं किसी स्वप्न-जगत्में आ गया हूँ । कोई अच्छा साफ़ हवादार कमरा है, जिसमें छतसे लटकते सुन्दर बिजली के लेम्प जल रहे हैं । छतसे लटकते अनेक पंखे मद्धिम चालसे चल रहे हैं । दर्वाज़ेमें शीशे जड़े हैं, दीवारें कपूर जैसी सफ़ेद हैं । मुझसे दूर कमरेके बीचमें किन्तु एक सिरेके पास एक मेज़ है, जिसके पास दो-तीन कुर्सियाँ हैं, उनमेंसे एकपर एक स्वर्णकेशी महाश्वेता अप्सरा शिरमें सफ़ेदसी कोई रूमाल या क्या लपेटे चुपचाप बैठी है । मुझे वह स्वप्न अच्छा लगा, लेकिन ठोसपनका भाव होते ही जिज्ञासायें तरंगित होने लगीं । उसके बाद फिर मानो स्वप्न गम्भीर निद्रामें परिणत हो गया ।

दूसरे दिन वह चीज़ें स्वप्नकी नहीं ठोस जगत्की दिखलाई पड़ीं और मुझे मालूम हुआ, कि मैं मेडिकल कॉलेज अस्पतालमें हूँ । मेरी पंक्ति और सामनेकी पंक्तिमें कई और चारपाइयाँ हैं, जिनमें मरीज़ लेटे हैं । कुछ दिन चढ़े मेरी चारपाई के गिर्द क़नात घेरी गई । एक एंग्लो-इंडियन नर्सने अस्फंज और साबुनसे शरीरके कुछ भागको धोया, पौडर लगाया । मेरी आँख खुली और मुझे होशमें देखकर वह मुस्कराकर बोली—'बाबू, अच्छा हो जावेगा ।'

शामको पाठकजीके आनेपर मालूम हुआ, मैं उस रात घरपर पहुँचते-पहुँचते बेसुध हो गया, और उसके बाद दस्तपर दस्त होने लगे । सबेरे बेहोशीकी हालतमें ही मेडिकल कालेज अस्पतालमें पहुँचाया गया । मुझे याद नहीं, कितने दिन बाद मुझे होश आया । मेरे बचनेकी आशा लोग छोड़ चुके थे । कुछ देर बाद साहु गिरिजा-

शंकर भी आये। उसके बादसे पाठकजी तो रोज़, और साहुजी हर दूसरे-तीसरे दिन देखने आते थे।

नर्सें वहाँ सभी एंग्लो-इंडियन थीं। बेहोशीमें जो दवा-दारू पीते रहे वह तो था ही, अब होश-चेतमें भी वह दूध, और पीछे दूध और पावरोटी खिलाने लगीं। पाठकजीने रास्ता पहिले दिखला दिया था, इसलिए वहाँ उज्रका कोई सवाल ही नहीं था। नर्सोंमें एकसे मुझसे धीरे-धीरे अधिक घनिष्टता हो गई थी; जिससे अस्पताल छोड़ते वक़्त ज़रासा अफ़सोस भी मालूम हुआ।

मेरी बग़लमें एक चीनी बीमार था। उसको तश्तरीमें छुरी-काँटेसे अंग्रेज़ी खाने खाते देख मेरी भी जीभ लुटपुटाने लगी, लेकिन डाक्टरने अभी भारी खाना मना कर दिया था। खाने लायक़ होनेपर छुरी-काँटा ख़्यालसे उतर गया, और उसकी जगह अस्पतालके ब्राह्मण रसोइया मछरी भात दे जाया करते। दो हफ़्ता या अधिक अस्पतालमें रहनेके बाद मैं वहाँसे चला आया।

शरीरमें ज़रा बल आनेपर घर याद आने लगा, और अक्तूबर या नवम्बरके महीनेमें कनैला चला आया। चले आनेके लिए सुँघनीसाहुकी कई चिट्ठियाँ आईं, लेकिन अब तो मैं दूसरे रास्तेपर लुढ़क रहा था।

द्वितीय खंड

तारुण्य

१

वैराग्यका भूत

कनैला पहुँचनेपर नाना भी यहीं मिले। वह पन्दहासे पत्थरका कोल्हू लेकर चले आये थे। उन्हें मेरी बहुत चिन्ता थी। किन्तु वह कहा करते थे—"छ महीने-का कुत्ता बारह बरसका पुत्ता। हुआ सो हुआ गया सो गया।" और मैं तो सत्रहवें बरसमें था। मुझे यह देखकर अफ़सोस होता था, कि नानाको कनैलाका रहना उतना अनुकूल नहीं मालूम होता। खाने-पीनेमें उनकी वह स्वच्छन्दता नहीं रही; साथ ही वह अनुभव करते थे कि उन्हें लड़कीकी ससुरालमें ज़िन्दगीका अन्तिम भाग बिताना पड़ रहा है,—जिसके ग्रामकी सीमामें धर्मभीरु पिता पानी तक नहीं पीता।

कलकत्ताके लिए रवाना होनेसे पहिले परमहंसजीके दर्शनोंने मनमें कुछ भाव पैदा किये थे, जो अब तक सुप्त थे, लेकिन अब वे जागृत होने लगे। मैं फिर परमहंस बाबाकी कुटीपर जाने लगा। वह तो मुझे क्या किसीको उपदेश दिया नहीं करते थे, महादेव पंडित जैसे विद्वान् भी जाते तो शायद उपनिषद्का कोई वाक्य उनके मुँहसे निकल आया तो निकल आया, नहीं तो जो ही बात ज़बानपर आई बच्चोंकी तरह दुहराते गये। हाँ, हरिकरणदासने ज्ञान फूँकना शुरू किया। वह संस्कृत नहीं जानते थे, हिन्दी भी तेरह-बाईस ही, किन्तु बराबर लगे रहनेसे विचारसागर, विचारचन्द्रो-दय, अष्टावक्रगीता-हिन्दीटीका जैसे ग्रंथोंको पढ़ते और बहुत कुछ समझ लेते थे। मैं भी उनके पास बैठकर उन ग्रंथोंको पढ़ता, और उनसे वार्तालाप करता। धीरे-धीरे मेरी "आँखोंका पट्टर" खुलने लगा, "एकश्लोकेन वक्ष्यामि, यदुक्तं ग्रन्थकोटिभिः।

ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मैव नापरः ।" मुझे कण्ठस्थ हो गया । उसी वक़्तके याद हुए श्लोकोंमें है--

"तावद् गर्जन्ति शास्त्राणि जम्बुका विपिने यथा ।
न गर्जति महाशक्तिर्यावद् वेदान्तकेसरी ॥"

वेदान्तकी हिन्दी पुस्तकें समाप्त हो गईं । हरिकरण बाबाने बतलाया, कि और ग्रंथोंके पढ़नेके लिए तुम्हें संस्कृत पढ़ना चाहिए; उनका यह विचार मेरे मनमें घर कर गया । मैंने घरवालोंके सामने अपना विचार प्रकट किया । पिता और नाना अब भी अंग्रेज़ी पढ़ानेके पक्षमें थे, अभी भी मेरे सम्बन्धकी पुरानी वासना उनकी छूटी न थी । दूसरे इधर कुछ महीनोंके मेरे चाल-व्यवहारने उन्हें और शंकित कर दिया था । मैंने सन्ध्या सीख ली थी, दिनमें तीन बार नहाकर सन्ध्या करता । कुशकी आसनी बराबर साथ रहती । सिर्फ़ एक वक़्त और सो भी अपने हाथसे बनाकर भोजन करता । धार्मिक पुस्तकोंके पढ़ने या परमहंस बाबाके दर्शन तथा हरिकरण बाबाके सत्संगमें समय बिताता । हँसी-मज़ाक़की तो बात क्या किसीसे बात-चीत करना भी मुझे पसन्द न था । इन बातोंको देखकर घरके लोग बड़े चिन्तातुर थे, संस्कृत पढ़नेका मतलब वे समझते थे, वैराग्यके बिरवेमें पानी सींचना । बछवल बीच-बीचमें मैं जाया करता था, वहाँ यागेश और पुराने मित्र तथा कालिकादास एक साधु, मेरे विचारोंसे कुछ सहानुभूति दिखलाते थे । मैंने फूफाजीसे संस्कृत पढ़नेका आग्रह किया, किन्तु उन्हें घरवालोंका मनोभाव मालूम था, वह आनाकानी करने लगे । पीछे बहुत पीछे पड़नेपर उन्होंने कहा--संस्कृत पढ़नेको मैं तो हानिकारक नहीं समझता, किन्तु तुम्हारे घरके लोग नहीं चाहते, अच्छा हो, तुम बनारसमें पढ़ो, मैं अमुक दिन वहाँ जा रहा हूँ, साथ लिवाते चलूँगा, और अपने एक सहपाठी पंडितको सपुर्द कर आऊँगा । मुझे उनकी राय बहुत पसन्द आई ।

निश्चित दिनसे एक दिन पहिले मैं बछवल पहुँच गया । लेकिन, दूसरे दिन प्रस्थानवेलासे पहिले ही मैंने चचा साहेब (प्रताप पांडे)को वहाँ पहुँचा देखा । उन्होंने फूफाजीको पिताजी, नानाजीकी राय तथा मेरे उग्र वैराग्यकी बात बतलाकर कहा कि उसे बनारस न ले जावें, बल्कि समझावें कि आज़मगढ़में नाम लिखाकर अंग्रेज़ी पढ़े । फूफाजी उनकी बातसे सहमत हुए, और मेरे दिलको बड़ा धक्का लगा, जब कि उन्होंने अपना निर्णय सुनाया ।

मेरी वृत्तियाँ इस वक़्त अन्तर्मुखीन थीं । वेदान्त और धर्मसम्बन्धी पुस्तकोंका स्वाध्याय तथा सत्संग बस यही काम था । खानेके समय--जो कि दिनमें सिर्फ़

एक बारका था--को छोड़ बाक़ी वक़्त परमहंस बाबाकी कुटीपर ही गुज़रता था। पुस्तकोंका बड़ा अकाल था। मेरे घरमें पहिले तो पढ़ने-लिखनेका रवाज न था, पिताजीकी जमा की हुई विनयपत्रिका और रामायण थे, जिनसे, वेदान्ती होनेके कारण मेरा उतना अनुराग न था। एक दिन घरके भीतर घूमते एक पुरानी पिटारीमें कुछ पुरानी पुस्तकें मिलीं। मालूम हुआ वह हमारे पिताके फूफाकी पुस्तकें हैं। किन्तु उनमें ज़्यादातर फलितज्योतिषकी छोटी-मोटी पुस्तकें, दुर्गासप्तशती तथा एकाध स्तोत्र पाठ थे। उनमेंसे दाल्भ्य-स्तोत्रका बहुत दिनों तक मैं पाठ करता रहा। चाणक्यनीति और भर्तृहरि वैराग्यशतक कुछ दिनके लिए हाथ लगे थे, मैंने श्लोकोंको एक कापीपर लिख डाला, और भाषाटीकाके सहारे कितनोंके अर्थोंको भी समझ डाला।

हरिकरण बाबा दो ही तीन साल पहिले बदरीनाथ हो आये थे। वैराग्य और अरण्यवासकी बात रोज़ चलती ही थी। एक दिन उन्होंने अपनी बदरीनाथयात्राका वर्णन किया। ऊँचे-ऊँचे पहाड़, हरे-हरे देवदार, सफ़ेद-सफ़ेद बर्फ़, ठंडे पानीके चश्मे तो आकर्षक मालूम हुए ही, क्योंकि वे मेरी पर्यटनकी सतत-उपस्थित लालसा-को जगाते थे; किन्तु, सबसे अधिक खिंचाव जिस बातने किया, वह थी एक बाल-रूपी योगीकी, जिनके दर्शन हरिकरण बाबाको देवप्रयागके आगेके पहाड़ोंमें किसी निर्जन स्थानपर पहाड़से उतरकर आते वक़्त हुए थे। वह बतला रहे थे--महापुरुष-का शान्त स्वरूप, दिव्य ललाट, छोटी-छोटी पिंगल जटायें थीं। जान पड़ता था कोई दूसरे ध्रुव हैं। उनके पास एक कमंडलू, एक मृगचर्म और एक लँगोटीके सिवा और कुछ न था। वह ज़रा देरके लिए बैठ गये। उनके मुँहसे वेदान्तवाक्य फूलकी तरह झड़ते थे। उनके कमंडलूमें मुठिया तालेकी तरहकी एक गोल चीज़ थी, उन्होंने किनारेपर ज़रा हाथ लगाया, कि डेढ़ हाथ लम्बी चमकती तलवार लपलपाने लगी। तलवारका हमारे वैराग्य और वेदान्तप्रसंगसे कोई खास सम्बन्ध न था, किन्तु उस वक़्त मुझे वह बात अप्रासंगिक नहीं मालूम हुई।

होलीमें मैं मुहर्रमी सूरत ही लिये फिरा। चैतका महीना (१९१० ई०) आ गया। सर्दी खतम हुई। थोड़ेसे कपड़ेमें भी अब गुज़ारा हो सकता था। हाल हीमें सुनी बदरीनाथकी यात्रा और हरिकरण बाबाके 'तपस्वी ध्रुव'की कथाने मुझे रास्ता दिखला दिया था। मैं सोच रहा था, अंग्रेज़ी--म्लेच्छ भाषा मुझे पढ़नी नहीं है, संस्कृत पढ़ने केलिए बछवल और बनारसका रास्ता बंद है, फिर कहाँ जाया जाय। आखिर एक दिन मैंने हरिकरण बाबासे उत्तराखंडकी ओर जानेका अपना

इरादा प्रकट किया, उन्होंने उसका समर्थन किया, कालिकादासकी भी वही राय हुई। यागेशको मेरे वैराग्य और वेदान्तसे कोई वास्ता नहीं था, उनका मुझसे प्रेम था, और देशाटन उनके लिए भी थोड़ी-बहुत आकर्षक चीज़ थी।

उसी वैराग्यकी आँधीके जमानेमें एक दिन मेरे उस्ताद मौलवी ग़ुलामग़ौसख़ाँ अपने घर मेंहनगरसे कनैला आये। अब वह बुढ़ापेके कारण नौकरीसे अलग हो गये थे। घरवालोंकी शिकायतोंको सुनकर उन्होंने मुझे अपने कर्त्तव्यपर सर्मन देना शुरू किया। शिष्टाचारके नाते ही मैं उसे बर्दाश्त कर सका, नहीं तो वैराग्य और वेदान्त-का पारा जितना चढ़ा हुआ था, उसमें उनकी सारी बातें मुझे हेच और असह्य मालूम होती थीं। मौलवी साहेब मेरे मिडल पासके सर्टीफ़िकेटको लेकर देने आये थे, जिसमें दो एक रुपयोंके मिलनेकी आशा थी, और वह उन्हें मिले भी।

इधर महीने भरसे बीच-बीचमें मैं दो एक दिनके लिए परमहंस बाबाकी कुटिया—अर्थात् हरिकरण बाबाकी कुटिया—, या बछवलमें रह भी जाता था, जिससे लोग घरसे एकाध दिनकी अनुपस्थितिमें घबराते नहीं थे। कनैलामें पहिलेपहिल अबकी साल प्लेग आया था। गाँव भरके लोग झोंपड़ियोंमें निकले हुए थे, और मौतकी शंकासे भयभीत थे, किन्तु मुझे उसका हर्ष-विस्मय न था। रोज़की तरह एक दिन फिर मैं दक्षिणकी तरफ़ परमहंस बाबाकी कुटीकी ओर चला। बदनपर एक धोती, एक कोट और गमछा, बग़लमें अपने हाथकी बुनी कुशकी आसनी थी। घरवालोंने समझा कोई ख़ास बात नहीं है। उसी शामको मैं बछवल चला गया। बछवलमें फूफाके घर नहीं, बल्कि कुटीपर कालिकादासके पास। वहीं रातको यागेश आ गये। फूफाजीके विद्यार्थी अक्सर कुटीपर आया करते थे, मालूम नहीं कैसे मैंने उनकी नज़र पड़नेसे अपनेको बचाया। मैंने दोनों जनोंसे अपना संकल्प प्रकट किया। दोनोंने प्रोत्साहन दिया। पहिली दो उड़ानोंमें पंख रुपयेके थे, उनके बिना मैं अपनेको पंगु समझता था, किन्तु अबके वैराग्यका संबल साथमें था। हर वक़्त यह श्लोकांश जिह्वापर था—"का चिन्ता मम जीवने यदि हरिर्विश्वम्भरो गीयते।" पानीके लिए मेरे पास कोई बर्तन नहीं था, कालिकादासने अपना नया सुन्दर लौकी-का छोटासा कमंडलू दे दिया। सबेरे अँधेरा रहते ही जब मैं चलने लगा, तो सिर्फ़ आधपाव गुड़की डली भर साथ ले जानेको मैं तैयार हुआ। साथमें संबल लेकर चलना, मुझे अपने वैराग्यके साथ परिहास करनासा मालूम होता था।

मैंने पैदल ही अयोध्या होते हरद्वार जानेका इरादा किया था, मेरा इरादा तुरन्त साधु बननेका न था, और न तुरन्त योगमें लग जाना ही चाहता था। मैंने तै किया

था, पहिले संस्कृत और वेदान्तके ग्रंथोंको खूब पढ़ूँगा, उसके बाद सन्यासी हो जाऊँगा। ९, १० बज रहे थे, जब मैं सिधारीका पुल (टौंसपर, आज़मगढ़के पास) पारकर रहा था। देखा, पुलके नीचे नदीके किनारे बैठे मेरे भितिहरावाले नाना (प्रताप चचाके ससुर) दातुवन कर रहे हैं। मैंने ख़ुदाका हज़ार शुक्र किया, जो वह पुल या सड़कपर नहीं मिले, नहीं तो 'कहाँ'का जवाब देना मेरे लिए आसान न था। और वह जा रहे थे कनैलाको ही। वह बहुत बूढ़े थे, पुलपर जाते देखकर मुझे पहिचान नहीं सकते थे। आज़मगढ़ शहरसे मैं सीधे गुज़र गया। चैत्र शुक्ला अष्टमी थी, गर्मी काफ़ी थी, इसलिए सड़कपर किसी बाग़ या कूयेंपर थोड़ी देरके लिए विश्राम मैंने ज़रूर किया। आधपाव गुड़ खाकर, सो भी चौबीस घंटेके निराहारके बाद, पैदल मंज़िल तै करना, फिर भूख क्यों न लगे? सड़कके किनारेवाले दरख़्तोंपर पकी गूलरें थीं, उनसे दोपहरके भोजनका काम चल गया।

घंटा भर दिन रह गया था, जब मैं मँदुरीके पोखरेपर पहुँचा। यह वही पोखरा था, जहाँ चार साल पहिले मैं छात्रवृत्तिकी प्रतियोगिताका इम्तिहान देने आया था। उस वक़्त यहाँ डिप्टी लोगोंके तम्बुओं, विद्यार्थियों, अध्यापकों और अभिभावकोंकी भीड़के कारण मेला लगा हुआ था, आज वहाँ सिर्फ़ वही विशाल पक्का पोखरा, और घना बाग़ था। घने बाग़के अँधेरेमें पहुँचनेपर मेरे मनमें कुछ चंचलता, कुछ टीससी उठने लगी। मैं पोखरेपर थोड़ी देरके लिए बैठ गया। दिनभरकी भूख और गूलरके फीके फल याद आने लगे। सिरपर आ पहुँची रात और अपरिचित स्थानका चित्र नज़रोंके सामने खिंचने लगा। मनने धमकाना शुरू किया—बेपैसे-कौड़ी, बेगाने देशमें इस तरह पैदल घूमना हँसी-ठट्ठेकी बात नहीं है। वैराग्यने कुछ कहना चाहा, किन्तु उसे यह कहकर दबा दिया—'फिर, क्यों नहीं हवा-पानी पीकर रहे, क्यों गूलरोंपर ढेले फेंके?' मनने ठंडे दिलसे समझाया—'भितिहरा यहीं कहीं पास हीमें है, चले चलो, अब भी कुछ बिगड़ा नहीं है।' वैराग्यकी तरफ़से—'भितिहरा कभी नहीं गये'—उज़्र पेश करनेपर, यह कहकर चुप कर दिया गया—'सगे चचाकी ससुराल है। नाना नहीं हैं, किन्तु मामा तो परिचित हैं ही।'

दिनभरकी आपबीतीका काफ़ी असर पड़ चुका था, इसलिए भितिहरा जानेवाली सलाह मुझे माननी पड़ी। भितिहरा वहाँसे मील-डेढ़ मील रहा होगा। रब्बीकी फ़सल कट गई थी, जगह-जगह खलियानोंमें लोग थे, उनसे पूछते मामाके घर पहुँचनेमें दिक़्क़त नहीं हुई। मामाके गाँवके पहिले एक छोटासा पोखरा मिला, वहाँ पहुँचनेपर मेरा ध्यान अपने कमंडलूकी ओर गया। कमंडलूके साथ मामाके

यहाँ जाना——बैठे-बिठलाये आफ़त मोल लेनी थी। अभी भी वैराग्यको अन्तिम उत्तर नहीं दिया गया था, मँदुरीके पोखरेका निर्णय अस्थायी था। अन्तिम निर्णयको रामनवमीके दिन और भितिहराके वासपर छोड़ा गया था। मैंने पासके पोखरेमें कमंडलूको इस ख़्यालसे डाल दिया, कि ज़रूरत पड़नेपर उसे फिर ले सकूँगा।

मामाने मेरे आनेपर बड़ी प्रसन्नता प्रकट की। थोड़ी ही देरमें घरसा हो गया। घरमें मामी और मामा दो व्यक्ति थे, नाना कनैला गये थे। कहाँ और कैसेका सवाल नहीं हो सकता था, क्योंकि मामाके यहाँ आना भी तो एक ज़रूरी कर्त्तव्य था। दूसरे दिन रामनवमी थी। साधारण हिन्दू गृहस्थके यहाँ भी उस दिन पूड़ी, हलवा बनता है। स्वयंपाकी और दूसरे खट्रागको छोड़कर मैंने मामीके हाथके भोजनको स्वीकार किया।

भोजन और विश्रामने वैराग्यको फिर शक्ति प्रदान कर दी, और रातको ही मैंने निश्चय कर लिया—'यात्रा जारी रखनी होगी।' दूसरे दिन गप-शपके साथ मामासे पटसन माँगकर सीखनेके बहाने मैंने रस्सी बटनी शुरू की, क्योंकि रास्तेमें कमंडलूके साथ रस्सीकी भी ज़रूरत पड़ती। मामा मेरे ऊट-पटांग बटनेको देखकर हँसते, और ख़ुद बँट देनेका प्रस्ताव करते थे, किन्तु मैं सीखनेके बहाने उसे टाल देता। शामको मैंने कह दिया था, कि कल मैं घर लौटना चाहता हूँ।

मेरा सत्रहवाँ वर्ष पूरा हो रहा था, और मैं अब बच्चा न था, तो भी सबेरे चलते वक़्त मामाने एक आदमी साथ कर दिया। उन्हें मेरी गतिविधिपर कुछ सन्देह हो गया था। पाथेयके लिए गुड़मिश्रित सत्तू और भूँजा था। मामा पहुँचानेके लिए आये, बहुत आग्रह करके मैंने गाँवके बाहरसे ही उन्हें लौटा दिया। अब मुझे साथवाले आदमीसे पिंड छुड़ाना था। १७, १८ मील दूर बेगारमें कनैला जाना उसके लिए भी कोई शौक़की चीज़ न थी, जब मैंने उसके सामने लौट जानेका प्रस्ताव किया, तो वह तुरन्त मान गया। मैंने ख़ुशीमें पाथेयमेंसे थोड़ासा सत्तू रखकर बाक़ी उसीको दे दिया। पोखरेमें जाकर देखा, तो वहाँ कमंडलू कहीं तैरता नहीं दिखलाई पड़ा। चारों तरफ़ घूमकर एक-एक कोनेको छान डाला, किन्तु वहाँ कमंडलू हो तब न दिखाई दे। मैंने सोचा था, कमंडलू साधुओंकी चीज़ है, इसे चोर-चहरी कोई भी नहीं पूछता; लेकिन मुझे लड़कोंका ख़्याल नहीं आया, जिनके लिए लौकाका कमंडलू फ़ुटबाल या निशानेका काम दे सकता है। मैं पछताने लगा——क्यों नहीं कीचड़में दबा दिया। अब दिनभरकी मेहनतसे बटी रस्सी भी बेकार थी, किन्तु रस्सीको मैंने फेंका नहीं।

मैं फिर पच्छिमकी ओर मुड़ा, और फिर आज़मगढ़से अयोध्या (फ़ैज़ाबाद)

वाली पक्की सड़कपर आ गया। दोपहरको स्नान और सन्ध्याकी ज़रूरत पड़ी। सड़कके किनारे एक स्कूल दिखलाई पड़ा। मास्टरसे लोटा-डोर लेकर स्नान किया। एक धोतीमें नहाते नहीं बनता था, इसलिए उसे फाड़कर दो लुंगियाँ बना लीं। सत्तू खाकर फिर चला। अब तो अयोध्यामें रामनवमी करनेकी आशा न थी, इसलिए बड़ी मंज़िल मारनेकी चालसे नहीं चल रहा था। दोपहरकी गर्मीमें सुस्ताता और सहयात्रीके अभावमें अपने ही मनसे बात-चीत करता चलता रहा।

सूर्यास्तको आते देख रातको ठहरनेका इन्तिज़ाम करना ज़रूरी था, और उससे भी ज़रूरी था लोटा-डोर माँगकर स्नान-सन्ध्या करना। सड़कके पास एक छोटासा गाँव था, एकाध ही घरके बाद एक कुआँ था, जहाँपर कुछ स्त्रियाँ पानी भर रही थीं। उनके घाँघरे और ओढ़नीको देखकर मुझे मालूम हो गया, कि मैं अब फ़ैज़ाबाद ज़िलेमें हूँ। पासके घरसे लोटा-घड़ा मिलनेमें दिक़्क़त नहीं हुई। स्नानके बाद कुशासनीपर बैठ मैं सन्ध्या करने लगा, कुछ कंठस्थ स्तोत्रोंका पाठ भी हुआ। फिर कूयेंसे ज़रासा हटकर आसनी बिछा निश्चिन्त बैठ गया। धीरे-धीरे पश्चिमके सूर्यकी लाली अँधेरेकी कालिमामें परिणत होने लगी। पानी भरनेवाली स्त्रियोंमेंसे कुछ मुझे ग़ौरसे देख रही थीं। मेरी आयु, मेरी शकल-सूरत, मेरी पूजा-प्रार्थना सभी अपनी ओर ध्यान आकर्षित करनेकी चीज़ें थीं। दो स्त्रियोंने आकर घर-द्वार कहाँ जा रहे हो पूछा; फिर कहा—भोजन नहीं बनाओगे? मैंने तै किया था,—जिसे नहीं बताना चाहता वैसी बातको न बताऊँगा, किन्तु जो बात कहूँगा सच्ची-सच्ची कहूँगा। जब उन्होंने देखा कि मेरे पास न खानेका सामान है और न बर्तन-ईंधन। तीन-चार औरतें अपने घरसे आटा-दाल-नमक, कंडा-हँडिया ले आईं। कंडाका 'अहरा' बनाना मैं जानता नहीं था, इसलिए एक स्त्रीने उसे बना दिया। आग सुलगनेपर मैंने चावल-आटा-नमक इकट्ठा ही हँडियामें डाल दिया। उन्हें आश्चर्य हुआ। मैंने यह कहकर समाधान कर दिया, कि आखिर पेटमें जाकर तो सब एक हो ही जावेंगे। अधिक आया हुआ सामान डलियोंमें पड़ा था। उन्होंने उसे बाँध लेनेके लिए कहा। मैंने कहा—"मैं सामान बाँधता नहीं।"

"कल काम आवेगा।"

"आज क्या यहाँ मैं बाँधकर लाया था।"

जहाँ तक मुझे याद है, स्त्रियोंके अतिरिक्त किसी पुरुषसे वहाँ मेरी बात-चीत नहीं हुई। मालूम होता है "किसी माँ-बापके कोमल तरुण लड़के"को देखकर स्त्रियोंके चित्तमें करुणा उमड़ आई थी।

दूसरे दिन भिनसारे ही सड़कसे यात्रियोंके चलनेकी आवाज़ आने लगी। लोग अयोध्यासे रामनवमीका मेला करके लौट रहे थे। रातकी 'विश्वम्भरकी कृपा' देख वैराग्यके गल्बेने और ज़ोर पकड़ा। मालूम होता था, पहिला क़िला फ़तेह कर लिया। मालूम नहीं उसके बाद कितने दिनोंमें अयोध्या पहुँचा। कैसे खाता-पीता रहा इसका भी स्मरण जाता रहा। एक दिन दोपहरको एक गाँवमें गया। वहाँ कूयेंपर दो आदमी ढेकली चला रहे थे। स्नान-सन्ध्याके बाद उन्होंने सत्तू और नमक लाकर सामने रखा। माँगना मुझे आता न था, न सीखनेकी हिम्मत रखता था।

दर्शननगरके पहिलेके बड़े तालाबपर मुझे कोई साधु मिला, वह भी अयोध्या जा रहा था। उसीके साथ मैं भी रातको बाबा रामप्रसादकी छावनीमें ठहरा।

दूसरे दिन सरयूका स्नान और अयोध्या देखना था। वेदान्ती होनेके कारण देवताओंकी भक्ति मेरे लिए उतनी आकर्षक न थी। सबेरे स्नान करके जब मैं सरयूकिनारे घूम रहा था, तो एक चलते-पुर्ज़े साधुने मेरे पास आकर बात करनी शुरू की। फिर चेला होनेका परामर्श दिया। मैंने कहा——मैं पहिले संस्कृत और वेदान्त पढ़ना चाहता हूँ, पढ़ लेनेके बाद साधु बननेके बारेमें निश्चय करूँगा। साधु खुद संस्कृत पढ़ा-लिखा न था, इसलिए मुझपर कोई प्रभाव न डाल सका। अयोध्या-को मैं घरसे बहुत दूर नहीं समझता था, इसीलिए काशीकी तरह यहाँके रहनेको भी अपने लिए ख़तरनाक समझता था।

अयोध्यामें किन-किन जगहोंका दर्शन किया, इसका मुझे स्मरण नहीं। एक रात गोंडा ज़िलेके आये यात्रियोंके साथ जन्मस्थानके पासके किसी मठमें ठहरा था। उन यात्रियोंमें एक-दो देहाती साधु और कुछ गृहस्थ थे। दूसरे दिन जब वे घरको लौटते वक़्त फ़ैज़ाबादकी ओर चले, तो मैं भी चल पड़ा। फ़ैज़ाबादमें किसी सेठकी सदावर्त लगी थी, उस मंडलीके साथ मैं भी वहाँ इन्तज़ार करता रहा, और सदा-वर्त लेनेपर एक बूढ़े साधुने मेरा भी भोजन बना दिया। मुझे सबसे ज़्यादा तरद्दुद था एक जलपात्रका। बूढ़े साधुने कहा, हमारी कुटियापर बहुतसे कमंडलू हैं, यदि वहाँ चलो तो तुम्हें हम एक नहीं दो कमंडलू दे देंगे। कमंडलूसे निश्चिन्त होनेका मतलब था, बार-बार लोगोंसे लोटा-डोर माँगते रहनेसे मुक्त होना। मैंने बूढ़े साधु-की बात मान लीं और उनकी कुटियापर जानेके लिए राज़ी हो गया।

हमें नावपर सरयू पार करना पड़ा। पार होते-होते धूप बहुत तेज़ हो गई, और दोपहरको नंगे पैर जलते बालूपर चलना बड़ी तकलीफ़की बात थी। सरयूपार

नज़दीक कोई गाँव नहीं था। दियारेमें जहाँ-तहाँ झाऊके दरख़्त थे, और कहीं-कहीं गाय-भैंसें चर रही थीं। एक बजेके क़रीब जब एक अहीरकी झोपड़ीमें हमारा क़ाफ़िला ठहरा, तो मुझे बड़ा सन्तोष हुआ। अहीर बूढ़े बाबाका 'सेवक' था। बैठतेके साथ ही गाढ़ा मट्ठा आया, 'नेकी और पूछ-पूछ'—मैंने पेट भरकर पिया। बूढ़े बाबा वैष्णव साधु और ब्राह्मण दोनों थे, और वह दूसरेके हाथकी बनाई रसोई नहीं खाते थे। 'पक्के' साधुओंकी भाषामें तो उन्हें साधु भी नहीं कहा जा सकता था, क्योंकि वह अपने ही गाँव तथा अपने ही घरमें रहते थे। उनकी स्त्री-बच्चे सब मर गये थे, सिर्फ़ एक विधवा बहू थी। शायद विधवा बहूकी रक्षाके लिए ही वे घर छोड़ना नहीं चाहते थे।

रसोई बनी, भोजन हुआ, कुछ विश्राम किया गया, और उसके बाद हम फिर रवाना हुए। आगेकी यात्रा बहुत आरामसे होती रही। हर तीन-चार मीलपर, बूढ़े बाबाके परिचित साधुओंकी कुटियाँ थीं, हमारी ३, ४ आदमियोंकी जमात वहाँ पहुँचती। दंडवत्-प्रणाम होता। बूढ़े बाबा जौ या गेहूँकी रोटी, घीसे बघारी अरहरकी दाल, आलूकी तरकारी और आमकी चटनी बनाते; भोजन बड़ा स्वादिष्ट मालूम होता। मैं क्या करता रहता यह स्मरण नहीं। अपनी पुस्तकों और विचार-मालाओंके अतिरिक्त साधुओंसे बातचीत भी करता रहता था, ज़रूर। इधरके गाँवोंकी दीवारें, टट्टी और छतें फूँसकी होती थीं। कारण पूछनेपर स्थानीय साधुने बतलाया——बरसातके दिनोंमें यहाँ बाढ़ आ जाती है, सरयूका पानी पाँच-पाँच, दस-दस मील तक फैल जाता है, मिट्टीकी दीवारें तो उसमें गल जायें। बाढ़के वक़्त रहनेकी बात पूछनेपर उन्होंने बतलाया——"दरख़्तोंपर मँचान बाँध कर।"

"और खाना ?"

"सत्तू, वहाँ आग कहाँ जलाई जा सकती है ?"

"और पाख़ाना ?"

"पानी हीमें, आपद् धर्म ठहरा।"

यह भी पता लगा, कि बाढ़ सारी बरसात भर नहीं रहती, दस-पाँच दिनमें चली जाती है। बाढ़के तजर्बेके लिए मेरा मन भी ललचाया, लेकिन मैं तो दूसरी ही मुहिमपर निकला था।

बूढ़े बाबाके गाँवसे पहिले पासका गाँव (शूकरक्षेत्र) मिला। बराह भगवान्के मन्दिरमें ही डेरा पड़ा। बाराहमन्दिरकी बहुत धुँधलीसी स्मृति है। मन्दिरके सामने शायद चहारदीवारीसे घिरा हाता था। बाराहक्षेत्रसे आगे जानेपर सरयू नदी——

घाघरा नहीं—को हमने पैदल ही पार किया। धोती भीग गई थी। बूढ़े बाबाका गाँव कैसा था, उनका मकान कैसा था, उनकी बहू कैसी थी—इन बातोंका कोई प्रतिबिम्ब स्मृति-पटपर अंकित नहीं मिलता। दूसरे ही दिन या एक-दो दिन बाद मैं जब चलने लगा, तो बूढ़े बाबाने लौकाका एक गोलमटोल कमंडलू दिया। मुझे सूरतसे क्या मतलब, कामके लिए वह काफ़ी अच्छा था। रास्तेके लिए संयुक्त-प्रान्तकी मुख्य-मुख्य सड़कोंका मुझे स्मरण था। मैं वहाँसे बहरामघाट रेलवे-पुल पार हुआ। मालूम नहीं कौन कब, किन्तु शायद जगजीवन साहेबका कोटवा और लोधेश्वर तो ज़रूर ही मेरे रास्तेपर पड़े। नित नये गाँव, नित नये-नये मेज़बानोंके चेहरे सामने आते थे। माँगना न जानता था, और न उसकी ज़रूरत थी। कोई न कोई गृहस्थ खानेके लिए ज़रूर पूछता, और 'विश्वम्भरकी कृपा' समझकर मैं दाताके उपकारकेलिए उतना कृतज्ञ होनेकी ज़रूरत नहीं समझता था। कुछ दिनों बाद दोपहरको सड़कके किनारेके कच्चे ग्रामोंपर रह जाता था, कमंडलू पास होनेके कारण स्नानकेलिए अब मैं गाँवका मुहताज न था। हाँ, रातको ज़रूर किसी साधुकी कुटिया या गृहस्थके द्वारपर पहुँचता।

मैं मुरादाबाद तक पैदल ही गया। जिसमें बीस-पचीस दिन लगे थे, किन्तु रास्तेकी घटनायें इतनी साधारण थीं, कि उनमेंसे बहुत कम याद हैं। बिसवाँ मेरे रास्तेपर पड़ा था, और शायद वहाँ एक बड़े महन्तके मठमें ठहरा था। महमूदाबाद शामको पहुँचा था, और वहाँ एक उदासी साधुके स्थानमें रातभरके लिए ठहरा। मिसरिखके पोखरे पर बाटी लगी थी। पोखरेमें पानी बहुत कम था, उसके एक कोनेमें एक कुआँ दिखलाई पड़ता था। नीमसारके कुंडके बारेमें कहा जाता था, कि उसके पानीका थाह नहीं, वह पाताललोक तक चला गया है। उसकी एक ओरसे थोड़ा-थोड़ा पानी बह रहा था। हरदोईमें कचहरीके पास विलायती दरख़्तोंपर लाल फूल खिले हुए थे। शाहजहाँपुरसे कुछ मील पहिले बनारस ज़िलेके एक तीर्थाटक ब्राह्मण मिले। साथ-साथ कुछ मील चलनेपर सलाह हुई, साथ ही चलनेकी। वह भी हरिद्वार और बदरीनाथ जा रहे थे। मुरादाबाद तक हम दोनों साथ रहे। ब्राह्मणके साथ छूत-छातका ख़्याल मेरा बिल्कुल नहीं था, ब्राह्मण देवता रसोई बनाते थे, खाने-पीनेकी चीज़ माँग-जाँच भी लाया करते थे। बरेलीमें बादशाह एडवर्डके मरनेके कारण उस दिन बाज़ार बन्द थे। रामपुरमें पाठकजीके साले रहते थे, जिन्हें कलकत्तामें मैंने देखा था। उनसे मिलने गया। मुझे वैराग्यसे डिगानेके लिए उन्होंने कोशिश की, किन्तु अब मैं उस अवस्थासे बहुत

आगे पहुँच चुका था। उन्हींसे मालूम हुआ, कि पाठकजी कलकत्ता छोड़कर घर चले आये हैं, और अब मुरादाबाद हीमें रहते हैं।

मुरादाबादमें हम सीधे मियाँसाहेबकी गलीमें गये। पाठकजीको मुझे देखकर बड़ी प्रसन्नता हुई, किन्तु मेरे बाने और साथके तिलकधारीको देखकर उन्हें बेचैनी हुई। रात बीतनेपर सबेरे देखा तो बनारसी दोस्त ग़ायब हैं। ढूँढ़नेमें इधर-उधर परेशान देखकर पाठकजीके लड़केने मुस्कुराते हुए कहा—हमने उसे रवाना कर दिया। पहिले आनाकानी करते थे, किन्तु जैसे ही कहा—'दूसरेके लड़केको भगाये लिये जा रहे हो, जा रहे हैं पुलीसको रपट करने;' बस इतने हीमें बच्चाका होश ठीक हो गया। आप यहाँ रहिये, और हम लोगोंको भी ज्ञान-वैराग्य सिखलाइये। खैर, मुझे अभी जल्दी भागनेकी नहीं पड़ी हुई थी। पाठकजीका परिवार सभ्य नागरिक परिवार था, और पाठकजीके आग्रहको मैं जल्दी ठुकरा नहीं सकता था। नगरके एक धनी सेठ थे। पाठकजी उनके दर्बारमें आया-जाया करते थे। दो भाइयोंमें बड़े भाईको भी ज्ञान-वैराग्यकी बीमारी लगी हुई थी। मुझसे मिलकर उन्होंने बहुत प्रसन्नता प्रकट की, और अपने ही यहाँ रहनेके लिए कहा। मुरादाबादके दस-पन्द्रह दिन अधिकतर उनके ही यहाँ बीते। विरक्त सेठने कई दरियाई नारियल जमा कर रखे थे। कह रहे थे—'देखिये, दस नारियल हैं, मैं सोच रहा हूँ, दस सन्यासी हो जायें तब हम साथ निकलें। दो तो हो ही गये, आठ और आ जावेंगे।' गर्मी खूब पड़ रही थी, लेकिन सेठ (साहु)जीके बैठकेमें ख़सकी टट्टियाँ लगी थीं। मेरे खाने-पीने, रहने-सहनेका अच्छासे-अच्छा इन्तिज़ाम था, और सेठजी समझते रहे होंगे, कि अब यह जानेवाला नहीं, बस सिर्फ़ आठ और मूर्तियाँ चाहिएँ।

सेठजीके छोटे भाई और ख़ासकर उनकी माँ बड़े बेटेके रवैयेसे पहिले हीसे बहुत परेशान थीं, मुझे डटकर सत्संग करते देखकर उनका भय और बढ़ गया। मैं अब उकताने लगा था। सेठजीकी दसवाली स्कीम मुझे फीकी लगने लगी, और ज्ञान-वेदान्तमें तो वे मेरे पासंगके बराबर भी न थे। मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई, जब एक दिन सेठजीकी माँ और छोटे भाईने बड़ी मिन्नत करते प्रस्ताव किया—'आप यहाँसे हरद्वार चले जायें। वहाँ जानेकेलिए रहनेके लिए जो कुछ जरूरत हो, हम उसका इन्तिज़ाम कर देंगे।' मैंने देखा उनके द्वारा मैं सेठजी और पाठकजी दोनोंसे बचकर निकल सकता हूँ, जिसकी इधर कुछ दिनोंसे मुझे बड़ी फ़िक्र थी। मैंने कहा, एक लुटिया (कमंडलू अब सड़ने लगा था) और हरद्वार तकका टिकट मुझे चाहिए, और कुछ नहीं।

२

हिमालय (१)

हरिद्वार स्टेशनपर उतरते वक़्त मेरे पास दो-चार आने पैसेसे अधिक नहीं रहे होंगे, किन्तु अब मेरे लिए पैसे-कौड़ीके बिना अजनबी जगहमें जाना चिन्ताकी चीज़ नहीं थी। गंगामें स्नान करने गया। उस गर्मीमें दिल कहता था, पानीमें बैठें, किन्तु पानीमें घुसनेपर वह सर्दीके मारे काटे खाता था। हरिकी पैंडीके पास कहीं कुछ पेट-पूजा की, और फिर चला किसी पंडितकी खोजमें। आख़िर हरिद्वार आनेका मेरा मतलब सिर्फ़ तीर्थ और तपस्या करना नहीं था, मैं वहाँ आया था संस्कृत पढ़नेके-लिए। एकाध जगह लोगोंसे पढ़ने और पंडितके बारेमें पूछा। लेकिन जब घर बनारसके पास बतलाया, तो उन्होंने कहा——यह चले हैं यहाँ हरिद्वारमें संस्कृत पढ़ने। सारी दुनिया जाती है बनारस संस्कृत पढ़ने, और इनकी उल्टी धार। पासके दूसरे आदमीने कहा——अरे भाई, यह पढ़नेवाले देवता नहीं हैं, आये हैं छत्रोंके टुकड़े तोड़ने। एक आदमीने विष्णुतीर्थ (?) पर विष्णुदत्त (?) पंडितका नाम बतलाया। तलाश करते वहाँ पहुँचा। आवाज़ लगाई। कोठेपरसे एक अधेड़ आदमी बोल उठा——"कौन, किसको चाहते हो ?"

"मैं पंडित विष्णुदत्तसे मिलना चाहता हूँ।"

"ऊपर चले आओ, मेरा ही नाम विष्णुदत्त है।"

पंडितजी बहुत अच्छी तरह मिले। मेरी और उनकी उम्रके बीच जितना शिष्टाचार दिखलाना चाहिए, उससे अधिक शिष्टाचार दिखलाया। पढ़नेकी बात कहनेपर कहा——कोई पर्वा नहीं हम पढ़ायेंगे। तुम दूरके विद्यार्थी हो, खानेके लिए चिन्ता मत करना, हमारे चौकेमें खाना।

इतनी सफलतापर मेरे आनन्दकी सीमा न थी।

दो-तीन घंटे बाद पंडितजीने क़लम, दवात और कापीके साथ एक मोटीसी पुस्तक मेरे सामने ला रखी। बोले——"इस पुस्तककी खेमराज श्रीकृष्णदासके प्रेससे माँगपर माँग आ रही है, इसे तुम रोज़ नक़ल किया करो।"

मुझे और हर्ष हुआ, समझा——मुफ़्तकी नहीं कमाकर रोटी खाना सबसे अच्छा है। एक दिन, दो दिन तो मैं संकोचमें पड़ा रहा; समझता था, पंडितजी ख़ुद पढ़नेके-लिए कहेंगे। जब उधरसे कोई बात ही चलती न देखी, तो मैंने पढ़नेके बारेमें कहा।

'हाँ, बहुत अच्छा' कहकर दो दिन और टाला। उधर दिनमें आठ घंटा बराबर क़लमघिसाई करनी पड़ रही थी। फिर कहनेपर बड़े मीठे स्वरसे कहा--'जल्दी क्या पड़ी है, किताबको जल्दी भेजना है, इसे लिखकर ख़तम कर डालो, फिर पढ़ाई शुरू करना, तब तक मेरी पुस्तकोंमेंसे जो रुचे, पढ़ते रहो।'

पंडितजीकी पुस्तकोंमें मेरे कामकी कोई पुस्तक न थी। छुट्टी मिलनेपर दो-एक घंटे बाहर घूमने जाता। कोशिश यह भी करता था, कि कहीं दूसरी जगह पढ़नेका सिलसिला लगे तो वहाँ चला जाऊँ। एकाध स्थानका पता भी लगा, तो बनारसकी ओरसे आना मेरे आवारापनका सबसे बड़ा प्रमाण था, और कोई मुझे विद्यार्थीके तौरपर स्वीकार करनेको तैयार न था। पहिले ही साधु बन जानेके मैं बिल्कुल खिलाफ़ था, इसलिए मठोंमें न मैं गया, न किसी साधुकी मेरी ओर नज़र गई। अख़बारसे मैं कोरा था। निज़ामाबादके अन्तिम वर्षमें "सरस्वती"के एकाध अंक देखे थे, पढ़े थे--इसमें सन्देह है।

सात-आठ दिन रहनेके बाद पंडितजीका रहस्य खुलने लगा। उनको संस्कृतसे कोई वास्ता न था। 'व्रतार्क' (यही उस पुस्तकका नाम था)को छपवाकर प्रेसवालोंसे कुछ रुपया और साथ ही तीर्थपर आये भक्तोंपर अपनी विद्वत्ताकी धाक जमाना उनका काम था। रसोइया रो रहा था--छै महीने हो गये, एक पैसा तनख्वाह नहीं दी। खाना खिलानेकी यह हालत थी, कि उनकी आठ-नौ वर्षकी लड़की ही छोटी होनेसे पेटभर खानेको पाती हो तो हो। लड़कीके सिवा पंडितजीके घरमें और कोई न था। शामके वक़्त छतपर बैठकर खाने और रातको वहीं सोनेमें मुझे और नफ़रत आती थी, जब देखता था कि उसी छतपर कुछ दूर हटकर महीनोंका पाख़ाना सूख रहा है।

अपनी सफलतापर फूला न समाता हरिद्वार पहुँचनेके दूसरे ही दिन मैंने यागेशको 'गद्यकाव्य'में एक पोस्टकार्ड लिखा था। उस आनन्दातिरेकमें पत्रमें कवित्व आ जावे तो कोई आश्चर्य नहीं। पत्र सीधे यागेशको लिखा था या कालिकादासके पतेसे, यह याद नहीं। कोई दूसरा पत्रको न पढ़ ले, इसके लिए सारे पत्रको लिखकर, फिर उसे इतिसे अथकी ओर करके उलट दिया था। मुझे जहाँ तक ख्याल है, मैंने चलते वक़्त यागेशको बतलाया नहीं था, कि मैं इस तरहका सांकेतिक पत्र लिखूँगा। वाक्योंको उलटकर कहनेकी दीहाती स्कूलोंमें चाल थी, शायद इसीसे यागेशको पत्रके पढ़नेमें दिक़्क़त न हुई। पत्रमें मैंने अपने यात्रानन्दका आकर्षक वर्णन करते हुए, उन्हें भी उसमें सहभागी बननेके लिए निमन्त्रण दिया था।

मेरा पत्र यागेशके पास आया है, यह रहस्य धीरे-धीरे खुल गया। यागेशके हाथसे उनके चचा महादेव पंडित पत्र लेनेमें सफल हुए। पहिले तो उसका कोई अर्थ नहीं मालूम हुआ, किन्तु पीछे उन्होंने भी संकेत ढूँढ़ निकाला। अब यागेशके ऊपर निगरानी रख दी गई। यागेश मेरे पत्रको पाकर चलनेका बहुत कुछ निश्चय कर चुके थे, और जब निगरानी देखी, तो उनका इरादा और पक्का हो गया। वह निकल भागनेकी फ़िक्रमें पड़े।

पंडितजीने अपनी रोटियोंके लिए लिखानेका काम लेकर यदि किसीके पास मेरे पढ़नेका प्रबन्ध भी कर दिया होता, तो भी मैं उनके पास बना रहता; किन्तु जिस स्थितिमें बेवक़ूफ़ बनाकर वह रखना चाहते थे, वह मुझे सह्य नहीं थी। उस वक़्त बदरीनाथके यात्री आने लगे थे। हरिद्वारमें पढ़ाईसे निराश हो जानेपर मैंने सोचा, पढ़ाईके लिए फिर बनारस ही लौटना होगा, लेकिन अब जब यहाँ आ गया तो बदरीनाथ भी हो आना चाहिए।

एक दिन सबेरे मैंने पंडितजीसे रुख़सत ली। भीमगोड़ा होते हृषिकेश पहुँचा। अयोध्यासे मुरादाबादके सफ़रमें सदावर्तों और धर्मशालाओंसे मैं परिचित हो गया था। भीख माँगना तो मुझे अपने बसकी बात नहीं मालूम होती थी, किन्तु सदावर्तमें भीख माँगनेकी ज़रूरत नहीं, वहाँ तो नियमित अन्न या पैसा पाना हर भिखमंगा अपना अधिकार समझता है। रास्तेमें मालवाके एक साधु मिल गये। यात्रामें एकसे दो अच्छे होते हैं, यह बनारसी तीर्थाटकके साथ रहकर मैंने अनुभव कर लिया था। दोनों बात करते चले, और हृषिकेशमें जाकर कालीकमलीवालेकी धर्मशालामें ठहरे। पहिलेके कालीकमलीवाले बाबाके "पक्षपातरहित अनुभवप्रकाश"को मैं पढ़ चुका था, किन्तु मुझे यह नहीं मालूम था कि कालीकमलीवालेकी इतनी धर्मशालायें और इतने सदावर्त उत्तराखंडमें फैले हुए हैं।

मेरे साथी मालवी बाबा देखनेमें पतले-दुबले तथा पचाससे ऊपरके थे, किन्तु चलने—काम करनेमें मुझसे ज़्यादा मज़बूत थे। दो-तीन उतराई-चढ़ाईमें जहाँ मैं टें बोल जाता, वहाँ वह हाथमें लाठी, पीठपर बिस्तरा, बग़लमें झोली लिये धीरे-धीरे चलते ही जाते। दिनकी मंज़िल पूरी करके जब हम किसी धर्मशाला या चट्टी-पर पहुँचते, तो मैं तो लेट जाता, और ज़रा भी हिलने-डोलनेकी इच्छा नहीं रहती, किन्तु वह लकड़ी जमा करते, आग सुलगाते, खाना बनानेमें लग जाते। थोड़ी देर सुस्तानेके बाद लज्जित होकर मैं उठ खड़ा होता और उनके काममें सहायता देने लगता। हमने हृषिकेशमें ही कालीकमलीवालेके छत्रसे अगले छत्रकी दो चिट्ठियाँ

ले ली थीं—जिसमें एक आदमी दो बार सदावर्त न ले ले, इसके लिए कालीकमलीवालेने एक चट्टी या धर्मशाला पीछेसे छपी चिट्ठी ले जानेका तरीक़ा निकाला था, चिट्ठीको देते ही उसमें छपी सदावर्तकी चीज़ें मिल जाती थीं। सदावर्तकी जगह हर रोज़ नहीं मिलती थी, ऐसी स्थितिमें हमें तीर्थयात्री दाताओंपर भरोसा करना पड़ता था, और उनकी काफ़ी संख्या हमारे साथ-साथ चल रही थी। माँगने-जाँचनेका काम मुझसे होता भी नहीं, और उसके लिए मालवी बाबा जैसे एक्सपर्ट वहाँ मौजूद थे।

देवप्रयाग पहुँचते-पहुँचते मेरे भी पैर और फेफड़े कुछ मज़बूत होने लगे। देवप्रयागमें अलकनन्दा उस पार हम एक या दो दिन ठहरे। भागीरथीकी धारपर पारवाले गाँवोंमें जानेके लिए रस्सीका झूला बना हुआ था, एक बार मैं उसपरसे जाकर आर-पार हो आया और यह उस वक़्तके लिए साधारण बहादुरीकी बात नहीं थी।

देवप्रयागमें सलाह हुई सीधे केदार-बदरी होकर चला जाना क्या, आये हैं तो जमनोत्री, गंगोत्री भी होते चलें। प्रस्ताव मालवी बाबाकी तरफ़से हुआ, और मैंने एवमस्तु कहा। देवप्रयाग छोड़नेके बाद पहिली चढ़ाई जब शुरू हुई, और उठते-बैठते घंटों चढ़े चले जानेपर भी चढ़ाईका अन्त नहीं दिखलाई पड़ा; तो अपने निर्णय पर मुझे बहुत पश्चात्ताप होने लगा। लेकिन "अब पछताये होत का।" यह बात १९१० की है; उस समय देवप्रयागसे टेहरीका रास्ता, पगडंडीका था।

चढ़ाई इतनी कड़वी मालूम हुई, किन्तु उसके खतम होनेके बाद फिर इन्द्रियाँ शान्त हो गईं। अब कुछ आदत पड़ती जा रही थी, इसलिए चलनेके बाद चौबीस घंटा दर्द बनी रहनेवाली बात न थी। ऊपर डाँडेपर ठंडी हवा, और पके करौंदे, तथा तूत जैसे सुनहले फल—जिसके पौधे कँटीले थे—खानेमें मज़ा आने लगा। वहाँकी प्रकृतिका सौन्दर्य पीछेकी चकाचौंधके कारण भूल गया, किन्तु इतना याद है, वहाँ जंगली अनार थे, जो खानेमें अधिक खट्टे थे। कितनी ही दूर जानेपर उतराईमें वर्षा शुरू हो गई। हम लोग, एक पनचक्कीघरमें चले गये। वहाँ वर्षासे बचनेके लिए घर तथा खाना बनानेके लिए पासमें पानी भी मौजूद था। ईंधनकी कमी न थी। अपने राम तो आज खाकर हँडिया ही फोड़ देते, किन्तु मालवी बाबाको देशाटन करते युग बीत गये थे। वह तीनों धाम हो आये थे, और उनमेंसे एक या दो को तो एकसे अधिक बार। वह अच्छी तरह समझते थे, मौक़ापर गाँठका बँधा गुड़ जितना काम देता है, उतना वेदान्त-वैराग्य नहीं। एक शाम, दो शामके लिए आटा-आलू-मिर्च-मसाला उनकी झोलीमें बराबर रहता था। आस-पास मील आध-मील—सो भी पहाड़ी चढ़ाई-उतराईके साथ—कोई बस्ती न थी, तो भी हम

निश्चिन्त थे। मालवी बाबाने अपना छोटा तवा, थाली-बटली निकाली। पानी लाने, बर्तन मलनेमें अब मैं भी सहायता करता था। रोटी उतनी अच्छी तरह तो नहीं सेंक सकता था, किन्तु दाल-तर्कारी बनानेमें कोई त्रुटि नहीं होती थी। मालवी बाबा किस जातके हैं, इसे न मैंने कभी पूछा, न पूछनेकी ज़रूरत समझी। यद्यपि वेदान्तके 'खानेके दाँत और दिखानेके और'के अनुसार व्यवहारावस्थामें हज़ारों पाखंडोंका पालन करना अन्तःकरणकी शुद्धिके लिए आवश्यक समझा जाता है, किन्तु वेदान्तसे पहिले कलकत्ताके पाठकजीका मन्त्र भी तो मुझे लग चुका था।

कितने दिन बाद टेहरी पहुँचे। वह कैसी बस्ती है, यह मुझे याद नहीं। राजकीय धर्मशालामें हम लोग ठहरे थे। मालवी बाबा कहने लगे—तीरथका फल पूरा नहीं मिलता, जब तक कि वहाँके राजाका दर्शन भी न कर लिया जावे। 'तीरथके फल'को मैं बिल्कुल तुच्छ समझता था, यह तो नहीं कह सकता; किन्तु उसमें देशाटनकी वासना बहुत ज़्यादा मात्रामें थी, इसमें तो सन्देह नहीं; और उस दृष्टिसे राजाका दर्शन एक आवश्यक चीज़ थी। हम लोग बस्तीसे बाहर किसी बाग़के पास खड़े हुए। हमारी तरहके कुछ और तीरथप्रवासी लोग वहाँ खड़े थे। राजा साहेब सामनेके पहाड़पर अपने ग्रीष्मावाससे आये, उनकी बग्गी हमसे चार क़दमपर खड़ी हुई। हम सबोंने राज-दर्शन पाया। राजाकी क्या उम्र थी, कैसा चेहरा-मुहरा था, यह मुझे बिल्कुल याद नहीं। हाँ, लौटते वक़्त साथी लोग बातचीत कर रहे थे, कि महाराजाका शादी-सम्बन्ध नेपाल राजवंशके साथ है।

टेहरीसे धरासूकी यात्रामें कोई स्मरणीय घटना नहीं घटी। दोपहरसे पहिले किसी-न-किसी गाँवमें हमें मट्ठा मिल जाया करता। कुछ सदावर्त, और कुछ माँग-जाँचकर हमारे दोनों शामके भोजनका काम चल जाता। अब सर्दी भी पड़ रही थी, और आगेकी सर्दीमें मेरे पास कोई कम्बल ज़रूर रहा होगा, किन्तु मुझे जहाँ तक याद है, नीचेसे कम्बल मैं साथ नहीं लाया था; कम्बल मिला होगा तो हृषिकेश या टेहरीमें ही। धरासू पहुँचते-पहुँचते मालूम होने लगा, कि अब मालवी बाबाके साथ और अधिक रहनेमें कड़वाहटके साथ अलग होना पड़ेगा। धरासूसे यमुनाके तट तक पहुँचनेका दृश्य कैसा था, यह तो नहीं कह सकता, लेकिन यमुनाके किनारे पहुँचनेपर मालूम होता था, नाटकका एक नया पटोद्घाट हो गया। उपत्यका अधिक चौड़ी थी। यमुनाका नीला जल दूर तक फैला हुआ अनवरत कल-कल करता चल रहा था। आपादमस्तक हरियालीसे लदे विशाल पर्वत अपनी छायासे उपत्यकाको ढाँके हुये थे, जिससे प्रकृति बड़ी स्निग्ध मालूम होती थी, यद्यपि अभी कुछ दिन

था। इधर विशेष कर धरासूसे इस तरफ़ जमनोत्रीके यात्री बहुत कम होते थे, और रास्तेकी मरम्मत और चट्टियों (पड़ावकी दूकानों)का अभाव था, इसीलिए हम लोगोंने जंगलात मुहकमेके क़ुलियोंके डेरेके पास यहीं ठहरना पसन्द किया।

हमारे डेरा डाल देनेके थोड़ी देर बाद एक और भी मूर्ति हमारी बग़लमें आकर रुकी, जिसकी शकल-सूरत और बातचीतने बहुत जल्द ही मेरे ध्यानको अपनी ओर आकर्षित किया। उसका रंग गोरा, चेहरेपर कम मांस, नाक नुकीली, आँखें चमकीली, मुँहपर घनी काली मझोले परिमाणकी दाढ़ी, शिरपर काले केशोंका छोटासा जूट था। उसके पास बहुत कम सामान था—एक पशमीनेकी नारंगी रंगकी अलफी (लम्बा कुर्ता), एक कम्बल, छोटीसी झोली, पीतलका कमंडलू (डोल जैसा), एक गमछा, दो लँगोटीके सिवा एक लम्बा "रोज़"का लाल डंडा भर उसके पास था। उसके आनेके साथ ही एक बड़े-बड़े बालोंवाला मटमैला सफ़ेद कुत्ता इधर-उधर सूँघकर मालिकसे पाँच क़दम दूर जाकर बैठ गया।

ब्रह्मचारी—उस व्यक्तिका नाम याद नहीं रहा—की ज़बान और रोम-रोम चुप रहना जानते ही न थे। उसने आते ही प्रश्नोंकी झड़ी लगा दी—"कहाँसे आये महात्मा?" "कैसा रास्ता है?" "हाँ, आप मालवा उज्जैनके रहनेवाले हैं, मैं उज्जैनके चढ़ाव-पर गया हूँ।" "और आप—आप तो बहुत अल्पवयस्क मालूम होते हैं; यह आपके पढ़नेका समय है?" "अच्छा, आपका जन्मस्थान बनारसके पास है? बनारस मैं दो वार गया हूँ। मणिकर्णिका-स्नान और विश्वनाथके दर्शन किये हैं। काशी विश्वनाथकी नगरीका क्या कहना है? हिमालयके बाद यदि कोई स्थान मुझे प्रिय लगता है, तो काशीपुरी ही, लेकिन वर्षोंसे हिमालयमें घूमते रहनेके कारण वहाँकी गर्मी बर्दाश्त नहीं होती, मैंने पिछली वार कुछ महीने रहना चाहा, किन्तु फागुनके बाद रहना नामुमकिन हो गया।"

वह बड़े आत्मविश्वासके साथ, शुद्ध संस्कृत हिन्दीमें अप्रयास धाराप्रवाह बोलते जा रहे थे। उनका जन्मस्थान बरैली-मुरादाबादकी तरफ़का मालूम होता था। उनकी भाषामें कितने ही उर्दूके शब्द भी आते थे, जिनका उच्चारण बहुत शुद्ध था। 'आपका आना किधरसे हो रहा है'—पूछने पर बोले—

"मैं हरिद्वारकी ओरसे नहीं आ रहा हूँ। यहाँसे पच्छिम रामपुर-कुल्लू-चंबा-जम्मू-कश्मीर मेरी विचरणभूमि है। जाड़ोंमें कुल्लूमें रहा। मणिकर्ण नाम सुना है? नहीं सुना होगा। बहुत कम लोगोंको पता है। बड़ा जागता तीर्थ है। जमनोत्रीमें तो एक गर्म कुंड देखोगे, वहाँ अनेक। यहाँ तो पानीमें रोटी आलू डालनेपर पकते हैं, वहाँ

पानीपर वर्तन रखकर पका लो। पार्वतीजीके कानकी मणि गिर गई, इसीलिए स्थानका नाम मणिकर्ण पड़ा।....हाँ, ठीक मणिकर्णिका नाम भी काशीमें पार्वती-जीकी मणि खो जानके कारण ही पड़ा, किन्तु यहाँ उबलते हुए पानीके चश्मे बतलाते हैं, कि त्रिशूलीके त्रिशूलने मणिको खोज निकालनेमें कितना प्रयत्न किया।....नहीं बूढ़े बाबा, कहनेकी बात है—'जो जाय कुल्लू, हो जाय उल्लू।' कुल्लू-चम्बामें सुन्दरता बहुत है इसमें शक नहीं।....मैंने कातिक मेला रामपुरमें किया था। एकसे एक कम्बल आते हैं, लेकिन भारी होते हैं। राजाने बहुत कहा—'ब्रह्म-चारीजी! जाड़ोंके लिए कुछ कपड़े ले लें।' जानते हैं, बोझ लादे-लादे फिरना मुझे सबसे ज़्यादा तकलीफ़देह मालूम होता है। बीहड़से बीहड़ पहाड़ोंको मैं कुछ नहीं समझता।....धरासूसे इधरका रास्ता मैंने नहीं देखा, तब भी वहाँ कुछ तो राजकी ओरसे रास्तेकी मरम्मतपर ख़रच करना पड़ता होगा। मैंने तो ऐसे रास्ते पार किये हैं, जहाँ रास्तेके चिह्न बनानेका काम आदमियोंके पैरोंने किया है। नदियोंको आरपार बाँधे एकहरे रस्सेके सहारे पार करना होता है।....हाँ, यह कम्बल और पट्टूकी अलफी रामपुरके राजाकी दी हुई हैं। दोनों हल्के हैं, किन्तु खूब गर्म हैं। पट्टू—यह पशमीनेका पट्टू है। बर्फ़ीली जगहकी बकरियोंके बालोंके भीतर पशम उगती है।....हाँ, बहुत कोमल है। असली पशमीनेकी परख है,—मलमल जैसे पतले पशमीनेको चार परत करके जमे घीपर रख दिया, और आध घंटेमें वह पिघल गया।....हाँ, रामपुरका राजा तो बड़ा है, इधर पहाड़में चार-चार गाँवके राजा हैं।....पहाड़ी लोग बड़े सच्चे होते हैं, अब तो देशी लोगोंके संसर्गसे वे भी कुछ चालाक होते जाते हैं, नहीं, तो झूठ-चोरीका तो ये नाम भी न जानते थे। साधु-सन्तोंमें बड़ी श्रद्धा रखते हैं। ....हाँ, बूढ़े बाबा, बदरी-केदारकी सड़कोंपर चट्टियोंमें दूकान करनेवाले कहाँ तक अपनी श्रद्धा क़ायम रखेंगे, वहाँ तो रोज़ सैकड़ों साधु-सन्त आते-जाते रहते हैं।....हाँ, यह झोली—इसमें यह देखो एक गाँजेकी चिलम, साफ़ी, दियासलाई और कुछ गाँजा-तम्बाकू है।....एक कमंडलू काफ़ी है प्यास लगी पानी, गाँव रहा तो छाछ या दूध माँग लिया।....रोटी बनानेकी ज़रूरत क्या? भोजनके समय चार घरोंमें घूम गये, चार रोटी मिल गई, खा लिया।....यह कुत्ता रामपुर रियासतसे मेरे साथ आ रहा है। बड़ा ईमानदार है। रोटी बनाकर नहाने-धोने, कुल्ला-गलाली करने चले जाइये, यह बैठा रोटीकी रखवाली करता रहेगा। मजाल है कोई कुत्ता पास फटक जाये।....हाँ, बड़ा तगड़ा है। रोटी सामने रख दीजिये, कनखियों ताकता रहेगा, लेकिन जब तक मुँहसे

'खाओ' न कहें, तब तक भूखा भले ही मर जाये, रोटीमें मुँह न लगायेगा। यह कुत्ता साथीका काम देता आ रहा है।...."

ब्रह्मचारीकी बातें मैं बड़े चावसे सुन रहा था। मन कह रहा था—यह है आदमी बाज़ंदा-टाइपका। काश! मुझे भी इसी तरह उड़ते-फिरते रहने के लिए पर मिलता। शाम होनेसे पहिले वह थोड़ी देरके लिए टहलने निकल गये, और देखा ठीकेदारका मुंशी 'जी महाराज', कहता पीछे-पीछे आ रहा है। ब्रह्मचारीने उससे कहा—'देखो, यह दो सन्त सूखी रोटी बना रहे हैं। इनके लिए पावभर घी और कुछ तरकारी-सरकारी तो भिजवाओ। अच्छा लो, पहिले एक चिलम गाँजा तैयार करो। 'दम लगे, बला भगे।'

चिलम तैयार हुई। तम्बाकूके धूयेंसे पीली पड़ गई भिगोई साफ़ी (रूमाल)को पीतल जड़ी काठकी लम्बी चिलममें लपेटते हुए ब्रह्मचारीने दूर तककी वनस्थलीको गुंजाते हुए कहा—"लेना हो शंकर।....आ जा कैलाशके राजा।" और फिर दम खींचते हुए मालवी बाबाकी ओर मुँह कर कहा—"आ जाओ बूढ़े बाबा, दम लगा जाओ। रोटी बनती रहैगी, रात तो अपनी है।"

दम लगाकर मुंशीजी हमारे लिए घी-तरकारी दे गये। ब्रह्मचारीजीका न्योता ठीकेदारके यहाँ था, वह एक-दो चिलम और फूँककर वहाँ चले गये और काफ़ी रात गये लौटकर आये। कह रहे थे—"सुल्फा (चरस) और बालूचर (गाँजा) यहाँ पहाड़में कहाँ? यहाँ तो जंगलकी भाँग और जंगलका गाँजा। भंगके रसको मल-मलकर हाथमें लपेट लेनेपर उससे सुल्फेका काम लिया जा सकता है। बहुत रात गये तक वार्तालाप जारी रहा, ज़्यादा बात ब्रह्मचारी ही करते थे। मालवी बाबा तो शायद ही कभी बोलते थे, मैं भी ज़्यादातर 'हाँ' 'हाँ' और कभी-कभी जिज्ञासाके दो-एक शब्द बोल देता था।

सबेरे हम तीनोंने रास्ता पकड़ा। रास्ता यमुनाके बायें तटसे ऊपरकी ओर जा रहा था। दोपहरको एक पनचक्कीके पास रसोईका तारघाट लगा रहे थे, तब ब्रह्मचारीको मालूम हुआ, कि कुत्ता ग़ायब है। वह उसकी तलाशमें तीन-चार-मील पीछे देखने गये, लेकिन नहीं मिला। वह आज गर्मीसे परेशान मालूम हो रहा था। जहाँ पानी दिखलाई पड़ता, वहीं वह अपने शरीरको भिगोने जाता। ब्रह्म-चारी कह रहे थे, जिस गाँवसे कुत्ता उनके साथ चला था, वह और ज़्यादा ठंडा था। कुत्तेको अपना गाँव याद आया और वह उधरको लौट गया। यही निष्कर्ष हम लोगोंने भी निकाला।

हम जितना ही आगे बढ़ते गये, पर्वतकी हरियाली और पानीके झरने भी बढ़ते गये। जमनोत्रीके पंडोंके गाँवमें हम लोग शामको पहुँचे। वहाँ चमड़ेकी रस्सियोंसे मढ़े बाजे एक चिकनी समतल जगहमें रखे थे। लोगोंने बतलाया, आज स्त्री-पुरुषोंका नाच होगा। मुझे यह कुछ अजीबसा मालूम हुआ, क्योंकि मेरी समझमें आया पंडे लोग सपरिवार नाचेंगे। गृहस्थ स्त्री-पुरुषोंके सम्मिलित नाचको हमारे गाँवों और शहरोंमें नीची निगाहसे देखा जाता था। मुझे याद है, जब मैं नौ-दस वर्षका था, उस वक़्त मेरे समवयस्क तथा रिश्तेमें भाई जगमोहनका ब्याह हो रहा था। जग-मोहन—प्रसिद्ध बहादुर चोर घुरबिन अहीर—का पोता था, पीछे वह गाँवका सबसे बलवान् पुरुष, तथा बिरहा गानेमें कई गाँवमें अद्वितीय जवान हुआ। बारात जानेसे दो-तीन दिन पहिले ही शादीमें स्त्रियोंके पूजा-कुलाचार शुरू होते हैं। सारे दिन और रातमें भी बहुत देर तक नगारा बजता रहता है। अहीर बड़ी खुशदिल जाति है। गाय-भैंस पालना, खेती करना—और खूब तन-मन लगाकर—उसके बाद मनोरंजनका सामान भी होना चाहिए। वह मनोरंजन था—बिरहा, लोरिकीका गाना, तथा गाहेबगाहे नाचना। नाचमें तरुण स्त्रियाँ भी उस वक़्त शामिल होती थीं। जगमोहनकी माँ किसी कामसे बाहर आई। गाँवके किसी देवरने ताना मारा, जिसको वह बहादुर अहीरिन कैसे सह सकती थी। वह ललकारकर मैदानमें उतरी और तब तक नाचती रही, जब तक कि सामनेका मर्द थककर भग नहीं गया। मुझे याद था, उस दिनका वह नाच और साथ ही वह प्रसन्नता भी जो उसे देखकर हुई थी। आज यद्यपि कनैलासे चला हुआ शुष्क वैराग्य हिमालयकी भूमिमें कुछ सरस हो चला था, तो भी पंडे स्त्री-पुरुषोंके नाचकी बात न जाने कैसी जान पड़ी।

दूसरे दिन चलकर यमुनाके किनारे वहाँ पहुँचे, जहाँ दो चट्टानोंके ऊपर लकड़ीके ठट्ठरका पुल बना हुआ था। वहाँ चट्टानपर कुछ लाल खून लगा हुआ था। जिज्ञासाका समाधान हुआ—कोई गिर गया, उसका सर फट गया। मुझे सन्तोष नहीं हुआ, क्योंकि यह कोई उतनी कठिन जगह नहीं थी, आगे ज़रूर कितनी ही जगह कुछ कठिन रास्ते आये। वृक्षोंके तनों और शाखाओंसे हरे कपासके बड़े-बड़े फाहेसे लटक रहे थे—बर्फ़ पड़नेवाली जगहके वृक्षोंका यह चिह्न है। लेकिन ये वृक्ष उतने सुन्दर नहीं जँचे जितने कि देवदार। हम लोगोंने भगवानको बहुत धन्यवाद दिया, जब कि बिना पानी-बूँदीके हम जमनोत्री पहुँच गये। आखिरके दो मील तो तै करनेमें सचमुच पानी बरसनेपर बहुत मुश्किल हो जाते।

जमनोत्री ऊँचे पहाड़ोंसे घिरी एक छोटीसी जगह मालूम हुई, जो एक तरफ़से

खुली हुई थी, और पानी उधरसे ही बह रहा था। थोड़ी दूरपर सैकड़ों फ़ीट ऊँचे बर्फ़से सद्योजात दो धारायें गिर रही थीं, जो चन्द ही क़दमोंपर मिलकर एक हो जाती थीं। बायें वाली धाराके बायें थोड़ी ही दूरपर तथा पहाड़की जड़में, पत्थरोंमें, हाथ-डेढ़ हाथ लम्बा, उतना ही चौड़ा, और हाथभरसे कुछ अधिक गहरा एक कुंड था। पानी उसके मुँह तक भरा न था। यही जमनोत्रीका तप्तकुंड था। कुंडके किनारेसे सूत जैसी एक धार पिचकारीकी तरह छूट रही थी। इस गरम पानीमें ही खाना पका-कर खाना तीर्थयात्री लोग धर्म समझते थे। हमने भी अँगोछेमें आलू बाँधकर कुंडमें डाल दिया, छोटी-छोटी रोटियाँ बनाकर कड़ाहीके घीमें पूड़ियोंकी तरह उस पानीमें डालते जाते थे। पकी रोटीकी पहिचान थी, उसका ऊपर उतरा आना। कुंड तथा बर्फ़ीली धारके कुछ पानीको ले जाकर एक कुंडमें मिलाया गया था, यहीं यात्री स्नान करते थे। वहाँकी सर्दीमें घंटों उसीके भीतर पड़े रहनेका मन करता था। जम-नोत्रीमें यमुनाजीका मन्दिर कैसा था, यह तो याद नहीं, किन्तु वहाँ एक या दो दूकानें थीं, जिनमें खानेकी चीज़ें मिल जाती थीं।

जमनोत्रीसे मालवी बाबा और मेरा साथ छूट गया। ब्रह्मचारीकी निर्द्वन्द्वता, उसकी दुरूह स्थानोंमें हुई यात्राओं, और भाषणकी विचित्रता, तथा अधिक संस्कृत व्यवहार मुझे अपनी ओर आकृष्ट करनेमें ज़्यादा सफल हुए। जमनोत्रीसे चलते वक़्त हमारे साथ एक तीसरा व्यक्ति बहराइच ज़िलेके एक अधेड़ मुराव (कोइरी) भगत थे। चलनेमें अब मैं वही आदमी न था, जो कि हृषिकेशसे सर लटकाये मुर्दोंकी तरह ज़बर्दस्ती रस्सी बाँधकर खींचा जाता-सा ऊपरकी ओर घसीटा जा रहा था। मेरे भी पैर अब फुर्तीमें ब्रह्मचारीके पैरोंका मुक़ाबिला करनेको तैयार थे। पाँच-चार मील चलते-चलते हम लोग आजके चले सभी यात्रियोंको छोड़कर आगे बढ़ गये।

हिमालयकी इस यात्राका वर्णन मानस-पटलपर अंकित सिर्फ़ उन प्रतिबिम्बोंके सहारे कर रहा हूँ, जो आजसे तीस वर्ष पहिले पड़े थे। उसके बाद फिर इस रास्ते जाना नहीं पड़ा, जिसमें कि धूमिल पड़ते उन प्रतिबिम्बोंके रंगको चटक करनेका मौक़ा मिलता। मैंने उस वक़्त कोई नोट भी नहीं किया था, और न आज (२३-४-४०)-जेलमें लिखते वक़्त मेरे पास कोई नक़शा या पथप्रदर्शिका किताब है; जिससे मैं रास्ते और दूरीके बारेमें कुछ विशेष ज्ञान प्राप्त कर सकूँ। स्मृति प्रमाण नहीं है, यह भारतके एक सर्वोच्च नैयायिकका कथन है, अतः पुराण बाल्यस्मृतिके सहारे लिखा गया यह मेरा वर्णन कितनी ही जगह वस्तुस्थितिसे विपरीत हो सकता है।

ख़ैर, मालूम नहीं कितने मील चलनेके बाद, हम तीनों एक जगह ठहरे। भोजन

बनानेका काम मेरे ऊपर था। मुराव भगत पानी ला देते, आटा गूँथ देते। ब्रह्मचारी तर्कारी बनानेमें सहायता करते, जंगलसे न जाने कौन साग वह ला देते। पानीके किनारे एक बालिश्तसे कम ही आँकुर जैसा एक डंडी-पत्तेका पीलापन लिये हरा साग खानेमें बहुत अच्छा लगता था। उस दिन शामको ही पता लग गया था, कि कुछ मीलपर गंगोत्रीके दो रास्ते फूटनेवाले हैं, एक तो पुराने रास्तेसे धरासू होकर गंगाके किनारे-किनारे उत्तरकाशी और फिर गंगोत्रीको, दूसरा यहींसे उत्तरकाशीको जायेगा। नये रास्तेसे दो या तीन दिनकी बचत थी, लेकिन उसका लोभ न मुझे था, और न ब्रह्मचारी हीको। हम लोग "बरस दिनके रास्तेसे छै महीनेके रास्ते"को ज़्यादा पसन्द करते थे, क्योंकि पता लगा यह रास्ता ज़्यादा सुनसान, ज़्यादा अल्प-प्रचलित और ज़्यादा ख़तरनाक है। मुराव भगतसे पूछनेपर उन्होंने भी छोटे रास्तेसे चलना पसन्द किया।

पहिले रास्तेको छोड़कर हम बायेंको मुड़े। ७ बजेके पहिले आख़िरी गाँव ख़तम हो गया। मालूम हुआ अब इसके बाद दूसरा गाँव १८ या २० मीलपर आवेगा। पहिलेके दिन होते, तो दिल काँप जाता। रास्तेमें ज़्यादा चढ़ाई-उतराई नहीं थी, किन्तु आदमियोंके पैरोंसे बने रास्ते——जिनपरसे कि हम चल रहे थे——को छोड़कर दूसरा मानवचिह्न कहीं नहीं दिखलाई पड़ता था। विशालकाय वृक्ष उनके नीचे उगी रंग-बिरंगी बूटियाँ जिनकी मादक गन्ध लेकर हवा चारों ओर बिखेर रही थी। बिल्कुल साँपके फन जैसे एक पौधेको दिखलाकर जब ब्रह्मचारीने कहा, कि इसकी जड़में साँप रहता है, तो मुझे बिल्कुल विश्वास हो गया। वहाँ किसी वेदान्तीको रज्जुमें सर्पके भ्रमकी ज़रूरत न थी, वह बूटी तो सोलहो आने फन जैसी मालूम होती थी। कुछ मील चले जानेपर एक जगह धूनी सुलग रही थी। लकड़ीका बड़ा कुन्दा अब भी जल रहा था। हमने खाना बनानेके लिए अभी बहुत सवेरा समझा। ब्रह्मचारीने झोली खोली, चिलम तैयार हुई। जनशून्य काननको 'बम्-शंकर'से प्रतिध्वनित करते हुए दम खींची, एक बालिश्त तो नहीं, किन्तु चार अंगुल ऊँची लपट चिलमसे ऊपर निकली; "लो हो भगत!" कहते हुए साथीको दिया। दो बार चिलम परिवर्तनके बाद चिलमको ज़मीनपर आहिस्तेसे पटका, गिट्टकको फिर उठाकर उसके भीतर रख उन्होंने साफ़ीसे लपेट, झोलीमें रखा और हम फिर रवाना हुए। ग्यारह बजेके क़रीब बड़े वृक्षोंवाला जंगल ख़तम हो गया। अब लुकाट या गुलायचीके पत्तों जैसे पत्तेवाले केवड़ेकी भाँतिके छोटे-छोटे और उसी तरह नीचे टेढ़े-मेढ़े हो गये दरख़्त मिलने लगे। ब्रह्मचारीने कहा, अब हम असली बर्फ़की जगह आ गये। आस-

मानमें जब-तब बादल दिखलाई पड़ जाते थे, किन्तु उनकी हमें उतनी पर्वा न थी। हम लोग सूखी लकड़ीकी तलाशमें थे, वह मिल न रही थी, और उधर भूख तेज़ होती जाती थी। एक बजे तक जब वही टेढ़ा-मेढ़ा पतला वृक्ष मिलता गया, तो लाचार हमने कुछ सूखीसी दीख पड़ती लकड़ियोंको इकट्ठा किया। सूखी पत्ती थी नहीं, जिससे कि दियासलाई बालकर आग सुलगाते। मुराव भगतके पास बिछानेकी चट्टी थी। एक बालिश्त काटकर सुलगाया। चट्टी तो सुलग गई, किन्तु लकड़ी बिल्कुल बहरी थी, कुछ नहीं सुन रही थी। जब हमारी एक डिबिया दियासलाई और मुराव भगतकी सारी चट्टी ख़तम हो गई, फिर भी आग न जली, तो हार मानकर उस प्रयत्नको छोड़ना पड़ा। उस वक़्त मालवी भगत मुझे याद आये। वह होते तो उनकी झोलीमें कोई खानेकी चीज़ ज़रूर निकल आती। आटा, आलू कुछ घी भी हमारे पास था, किन्तु उनके लिए आगकी ज़रूरत थी। उस वक़्त मुराव भगतने कहा—मेरी झोलीमें गुड़मिला पावभर सत्तू है, और तो रास्तेमें खर्च हो गया, बस इतना ही बाक़ी है। हमारे जानमें जान आई। मुराव भगतको शाबाशी दी। सत्तूको लेकर ठीक तीन हिस्से किये गये। ब्रह्मचारीने लुटियामें घोलनेसे मुझे मना कर दिया। कहा—'मैं कमंडलूमें सत्तू घोलकर पी लेता हूँ, फिर इसी कमंडलू भर पानीमें सत्तू घोलकर पियो। पेट जितना ही भरा रहेगा, उतना ही पैर आगे पड़ेगा। सत्तू क्या, मालूम होता था जैसे देवताओंने अछूता अमृत अभी-अभी स्वर्गसे भेजा है।

दो घंटा और चलनेके बाद एक सूनी मड़ैया पहाड़की रीढ़पर दिखलाई पड़ी। अगली रात जहाँ हम ठहरे, वहाँ पहिलेसे पहुँचे साधुने कहा—"मैं रातको उसी मड़ैया-में ठहर गया था। कभी-कभी उसमें गोरखिये रहते हैं, लेकिन उस शामको कोई नहीं था। शामको जब मैंने रीढ़की दूसरी ओर पचास क़दम नीचे देखा कुछ भालू और उनके बच्चे किसी चीज़की जड़ खोदकर खा रहे हैं, तो मेरी साँस उल्टी टँग गई। मैं चुपचाप आकर झोपड़ीके एक कोनेमें पड़ रहा। रातको नींद कहाँ आवेगी, मालूम होता था, भालू अब आते हैं, और फिर मैं यहाँका यहीं।"

ख़ैर, यदि हमको उस झोंपड़ीमें रात बितानी पड़ती, तो हमें उतना डर न होता, हम अकेले नहीं तीन थे, जिसमें मुराव भगतके पास डंडेमें खन्ती, ब्रह्मचारीके पास नोकदार लोहा मढ़ा लम्बा डंडा था, मैं निहत्था ज़रूर था, और इस कथाके बाद मैं भी बराबर एक डंडा साथ रखने लगा। उतराई शुरू हुई—पहिलेका अधिक रास्ता पहाड़की रीढ़पर था, समतल भूमिपर मालूम होता था, फिर आदमियों और पैरोंसे

कटे तथा पानीके बहावसे गहरे हो गये रास्ते अधिक मिलने लगे। भूखका ज़ोर तेज़ीपर था, वह सत्तू तो लाल तवेपरकी दो बूँदें थीं, तो भी अब रास्तेसे नज़दीक गाँव होनेकी सम्भावना थी, इसलिए मन सन्तोष करनेके लिए तैयार था। चार-साढ़े चार बजेके क़रीब हम गाँवमें पहुँच गये।

धर्मशाला तो नहीं थी, किसी गृहस्थका सूना घर रहा होगा, जिसमें हम लोग ठहरे। हमारी अँतड़ियाँ ऐंठ रही थीं, पैरोंकी ओरसे कोई शिकायत न थी। ब्रह्मचारी एक मिनटके लिए भी बिना रुके—'तुम लोग आराम करो, मैं तुरन्त आता हूँ" कहकर चले गये। मुश्किलसे पन्द्रह-बीस मिनट गुज़रे होंगे कि एक सेर भुना हुआ गर्मागर्म गेहूँ और आधपाव गुड़की डली लिये ब्रह्मचारी हाज़िर हुए।

"खाओ ! ख़ूब खाओ ! रोटीकी फ़िक्र मत करो, अभी दिन बहुत है। मैंने तो चाहा कुछ मट्ठा भी मिल जावे, तो अच्छा, किन्तु शाम—मट्ठेका समय नहीं। ....मैं सीधा गाँवके प्रधानके घर गया। संयोगसे वह नेपाली निकल आया।.... नेपालका बाशिन्दा है, अब शादी करके यहीं रह गया है। मैंने कहा—प्रधान, तीन-तीन सन्त आज सारे दिन भूखे चले आ रहे हैं। जो कुछ तैयार हो, पहले तो वह दो। सत्तूके लिए गेहूँ भुने जा रहे थे, उसने यह लाकर रखा। गुड़ पहाड़में मोतीके भाव बिकता है। उसके घर बस इतना ही था।....अभी खा लो। मुझे बात करनेकी फ़ुर्सत कहाँ थी। तुम्हारी अँतड़ियाँ क्या कह रही थीं, यह मुझे मालूम था।....अब जाऊँगा। आज शामको खीर-परावठे खानेकी तबियत करती है।....दूध क्यों नहीं मिलेगा।"

शामको सचमुच चार सेर दूध लिवाये ब्रह्मचारी पहुँचे। प्रधान भी आया था, किन्तु उसकी शकल-सूरत याद नहीं पड़ती। चीनी नहीं थी, गुड़ हम सफ़ाचट कर चुके थे, किन्तु चीनी विना भी वह गाढ़ी निर्जल खीर जिसमें दूधसे चौथाई भी चावल नहीं पड़ा था, बहुत मीठी लगती थी।

दूसरे दिन घंटा बीतते-बीतते धरासूवाली सड़कपर पहुँच गये। उसी दिन हम उत्तरकाशी पहुँच गये। बादल और हवाके कारण काफ़ी सर्दी लग रही थी, किन्तु धर्मशालेमें गुड़ और चायकी सदावर्तने उसके भगानेमें बड़ी सहायता की। उत्तरकाशी गंगाके किनारे एक खुली भूमिमें बसी मालूम पड़ी। शिवमन्दिर काफ़ी बड़ा और सफ़ेद था, पासमें धर्मशाला या घर भी अच्छा ख़ासा था। सदावर्त तो ज़रूर ही होगी। कहाँ ठहरे, कितने दिन ठहरे, बाज़ार और बस्ती कितनी बड़ी थी, यह स्मरणके बाहरकी बात है।

वहाँसे गंगोत्री कितने दिनमें पहुँचे, यह याद नहीं आता। इतना मालूम हुआ कि हमारा रास्ता गंगा--जिसकी उपत्यका देवदारोंके शुरू होने तक बहुत चौड़ी हो गई थी--के दाहिनेसे था। इधरके गाँवों में अखरोटके बड़े-बड़े दरख्त थे, जिनमें हरे-हरे फल लगे थे, और मैं समझता था, कि जब इनका रंग पीला पड़ जावेगा, तो लड़के आमकी तरह लेकर चूसते होंगे। देवदारोंके आनेसे पहिले ही एक सड़कके किनारे कुछ गदहे चर रहे थे, जो मामूलसे कुछ ज़्यादा बड़े थे। थोड़ी ही दूरपर रास्तेसे ज़रासा हटकर एक छोटासा तम्बू खड़ा था। ब्रह्मचारी हमें भी साथ लिवाये वहाँ गये। 'लामा' 'लामा' कह तम्बूवालेसे बात करने लगे। मालूम हुआ वह तिब्बतका नहीं नेपालका बाशिन्दा है, व्यापारके लिए आया हुआ है। ब्रह्मचारीने जब महाराना जंगबहादुरका नाम लिया, तो हँसीसे मुखकी रेखाको कान तक बढ़ाते, आँखोंको गालोंके भीतर अन्तर्धान करते 'लामा'ने एक हाथको मुट्ठी बाँधकर ऊपर खींचते हुए जंग-बहादुरके असिबलका नाट्य किया। उसका शरीर छै फ़ीटसे कम न रहा होगा, और उसीके अनुसार उसके शरीरकी चौड़ाई भी थी। मुझे तो वह बचपन की कहानियोंमें सुना दानव मालूम होता था। उस वक़्त मेरी धारणा हो गई थी, कि तिब्बतके सबसे छोटे आदमी ऐसे होते हैं। ब्रह्मचारीने चलते वक़्त लामासे 'चोरा' और जिम्बूकी बूटियाँ माँगीं, जिनमें पहिली सूखी पतली जड़सी मालूम होती थी, और दूसरी किसी चीज़का हरा पत्ता था। उसी शाम आलूकी तरकारी, घीमें उसी बूटीमेंसे एकका छौंक देकर बनाई गई। लालमिर्च, नमक और घीके अतिरिक्त उसमें दूसरा कोई मसाला नहीं पड़ा था, किन्तु स्वादके बारेमें क्या कहना, उस वक़्त कहना तो गुनाह होता, किन्तु मालूम होता था रामदीन मामाने डाकखानेके अपने अफ़सरकी दावतके लिए बकरीके पट्ठेका मसालेदार मांस तैयार किया है।

शामके वक़्त हम देवदारोंकी छायामें पहुँचे। सामनेके अस्ताचलकी आड़में सूर्यके चले जानेसे, अन्धकार नहीं बढ़ रहा था, बल्कि मालूम होता था, सूरजके डरसे देवदारोंकी घनी हरी छायाके नीचे छिपा अन्धकार सूर्यके बलको कमज़ोर देखकर धावा बोल रहा है। देवदारका विशाल वृक्ष, शिवालेके शिखर जैसा उसका नुकीला शिखर, सहस्रों भुजाओंकी तरह समकोणमें फैली उसकी शाखायें, हरी फुलकारीकी पतली रेखाओं जैसी उसकी लम्बी-लम्बी पत्तियाँ और उसपरसे देवदारु जैसा आकर्षक नाम--देवदारुके सौन्दर्यने उस दिन अपनेलिए 'वृक्षश्रीका मापदंड' होनेका जो निर्णय स्वीकार कराया, उसे तीस साल बाद भी फिरसे विचार करनेकी मुझे ज़रूरत नहीं पड़ी। उस दिन उसके नीचेसे भीनी-भीनी निकलती खुशबूका जो आघ्राण

मैंने किया था, वह देवदारसे सैकड़ों मील दूर रहते आज भी मुझे ताज़ा मालूम होती है।

आज जहाँ ठहरे थे, उसके आसपास जंगलातके ठीकेदारके आदमी देवदारके स्लीपर चीर रहे थे।

दूसरे दिन हम अधिकतर देवदारकी छायामें चलते गये। किसी नदीको आर-पार होना पड़ा याद नहीं। हाँ, एक जगह ऊपरके जानेवाले रास्तेको छोड़ दाहिनी ओर नीचेसे उतरने लगे, उस समय सुना कि ऊपरका रास्ता एक भयानक पुलपरसे गुज़रता है, इसीलिए हम नीचेके रास्तेसे चल रहे हैं। कितनी ही दूर उतरनेके बाद काठका एक पुल आया, और उससे हम भोट गंगाको पार कर गये। अब फिर चढ़ाई शुरू हुई, और काफ़ी दूर तक, किन्तु अब हम अभ्यस्तसे हो गये थे। आगे कहीं चौकीदारका घर मिला, जिसने हमें ख़बरदार किया, कि आग जहाँ-तहाँ न जलावें, जंगलमें आग लग जानेका डर है।

गंगोत्रीमें हम जिस घरमें ठहरे, उसमें सिर्फ़ साधु ही साधु थे, जिनकी संख्या आठ-नौसे ज़्यादा नहीं रही होगी। बीचमें बड़े-बड़े लक्कड़ोंकी धुनी जल रही थी, और उसके किनारे अपने-अपने आसनोंपर सन्त लोग बैठे हुए थे, उनमें कुछ शिरमें लम्बी पिंगल जटा, देहमें अखंड भभूत और माला-लँगोटीके सिवा नंगे-मादरज़ाद थे, किसीके गर्दन तक पहुँचे भूरे बाल तथा कानमें स्फटिककी मुद्रा, किसीकी लाल लँगोटी और गर्दनमें काली ऊनकी माला, किसीका सर घुटा और बदन में लम्बी अलफी। वेश-भूषामें भेद रहते भी एक बात सबमें साधारण थी, वह थी गाँजेकी साफ़ी, और लम्बी चिलम। गाँजेकी एक चिलम हाथसे हाथमें बदली जाती थी, और उधर दूसरी चिलम तैयार हो रही थी। मालूम नहीं वहाँ गाँजा महँगा मिलता था या सस्ता, अथवा नेपालकी शिवरात्रिकी भाँति सदावर्तमें मिलता था। चाहे कुछ भी हो, झोलीसे गाँजा निकालकर देनेमें हर सन्त होड़ लगाये हुए था। गंगोत्री एक तीर्थमार्गका अन्तिम छोर था, इसलिए हर एक धर्मेच्छुक गृहस्थ वहाँ साधुओंको कुछ भोजन और दानदक्षिणा दिये बिना नहीं रहता था। मैं नहीं समझता, दो या तीन जितने दिन हम वहाँ रहे, हमें कभी रसोई बनानी पड़ी थी। रोज़ किसी न किसी माई-दाताकी ओरसे पूड़ी-हल्वा, पूआ, मिठाई वनके चली आती थी।

अब इधर मैं सन्तोंको बहुत नज़दीकसे देख रहा था, और उनकी धुँआधार चिलमों-में अभी मैं शामिल न हुआ था, उन्हें ब्रह्म-वेदान्तकी चर्चामें लीन भी मैं नहीं देखता था, तो भी मुझे उनसे घृणा और उदासीनता नहीं हुई। यह बात नहीं कि वेदान्त

और वैराग्यको मैं भूल गया था। जान पड़ता है, उनका बेफ़िक्रीका स्वच्छन्द जीवन, उनकी एक तलपर आपसमें मिल बैठनेकी भेदभावशून्य चाल, उनकी खाने-खर्चनेमें उदारता, उनकी मार्गके कष्टोंको आवाहन करनेकी बेक़रारी और उनकी कलसे बेफ़िक्री इतनी ठोस चीज़ें थीं, जिनके कारण तस्वीरके दूसरे रुखपर मेरा ध्यान ही नहीं जाता था। छीलनेपर मैं अन्दरसे क्या कहूँ, यह तो मुझे पता न था।

गंगोत्रीसे गंगनाणी तक हमें फिर लौटकर आना पड़ा। अबकी बार लकड़ीके बिना कटघरेवाले पतले पुलसे हम गंगापारके गर्मकुंडमें नहा भी आये। मालूम नहीं उसी पुलसे या उससे नीचे किसी और पुलसे पार होकर हमने केदारनाथका रास्ता पकड़ा। महीना शायद आषाढ़का होगा, नदीके ऊपरके खेत कट चुके थे। खेतोंमें गेहूँके लम्बे डंठल खड़े देखकर मुझे माजरा समझमें नहीं आया, पीछे मालूम हुआ, यहाँ बालें ही काटी जाती हैं——वर्षाका डर होनेसे बालें तो घरमें भी छिपाई जा सकती हैं। बूढ़ेकेदारनाथकेलिए हमें बराबर ऊपरसे ऊपर चलते रहना पड़ा।

बूढ़ाकेदार बहुत बड़ी बस्ती न थी; हाँ, उसके पास खेत बहुत थे। मन्दिरका स्मरण नहीं, यह याद है कि ब्रह्मचारीके लेक्चरोंसे प्रभावित हो एक दिन रातको रोटीके वक़्त मैं मधूकरी माँगने गया था। एक या दो द्वारोंपर गया, और हर घरसे छोटी-बड़ी एक-एक रोटी मिली, इसी वक़्त कुत्ते भूँकते हुए टूट पड़े, वहींसे मैं उल्टा लौट पड़ा; और उसके बाद फिर कभी मधूकरी माँगनेका नाम नहीं लिया।

बूढ़ाकेदारके आगे मेरी तबियत कुछ अस्वस्थ हो गई। ज्वर आने लगा। एक या दो दिन आगे जानेपर मैं ब्रह्मचारीके साथ पैर मिलाकर चलनेमें असमर्थ था। ब्रह्मचारीको मैंने अपनी अवस्था बतलाई थी, किन्तु उनको उसका ख्याल न हुआ। एक दिन मैं ४, ५ मील जाते-जाते आगे चलनेमें असमर्थ हो गया। पासमें एक ब्राह्मण-का घर था। नीचे गाय-बैलके बाँधनेका स्थान, और ऊपर आदमियोंके रहनेकी साफ़-सुथरी कोठरियाँ। घरके चारों ओर निकला बरांडा था। घरमें कोई नौजवान लड़का था, मेरी अवस्था देखकर उसने घरमें बुलाया। मुश्किलसे मैं सीढ़ीके ऊपर चढ़ पाया। वहीं बरांडेमें कम्बल बिछाकर पड़ रहा। थकावट दूर होनेपर कुछ चित्त स्वस्थ मालूम होने लगा। वहीं घरमें मैंने तुलसीकृत रामायण देखी।——रामा-यणकी चौपाइयाँ यहाँ भी पढ़ी जाती हैं! दो घंटेके विश्रामके बाद ब्रह्मचारी के आगे बढ़नेकी चिन्ता बढ़ने लगी। मैंने हिम्मत करके चलना ही पसन्द किया। मुश्किलसे मील भर जा सका हूँगा, कि पैरोंने फिर आगे बढ़नेसे जवाब दे दिया। चढ़ाईका रास्ता होनेके कारण शरीरको ऊपर ढकेलना बड़ा कष्ट-साध्य मालूम हो रहा

था। आगे गाँव दूर होनेके कारण रास्तेसे थोड़ा नीचे गाँवकी एक सूनी चौपालमें कम्बल डालकर पड़ रहा। थोड़ी देरमें प्यास बढ़ी तो सामान वहीं छोड़ वहाँसे कुछ दूर चश्मेपर पानी पीने गया। इसी बीच ब्रह्मचारी आये। उन्होंने मेरे आनेका भी इन्तिज़ार नहीं किया, पूछ-ताछकी तो बात ही क्या, अपना कम्बल——जिसे मैं ही ढो रहा था——लेकर चले गये। मुझे इस व्यवहारसे अफ़सोस तो हुआ, लेकिन करता क्या ? ब्रह्मचारीसे उसके बाद फिर मुलाक़ात नहीं हुई। मैं अब उतनी तेज़ी चालसे चल भी नहीं सकता था।

दूसरे दिन रास्तेमें कोटाके तीन-चार गृहस्थ मिले। उनकी बड़ी तथा एक तरफ़ तिर्छी बँधी छींटकी पगड़ी, एड़ी तक पहुँचती दोकच्छी धोती और कानोंमें मोतीकी बालियाँ अब भी याद हैं। मंडलीके मुखियाकी बग़लमें कानवासकी एक छोटीसी मशक लटक रही थी। उन्होंने अपने साथ भोजन बनाते-खाते चलनेकेलिए कहा। धर्मशाला-सदावर्तसे दूरके उस पथपर भिक्षा-भीरु व्यक्तिको इससे बढ़िया क्या बात हो सकती थी। हमारा एक पड़ाव गोरखियोंके झोपड़ोंमें पहाड़की रीढ़पर पड़ा। मैंने रसोई बनाई——नमक डाले आटेकी रोटी और उड़दकी दाल....। बात छिड़ गई थी जंगलके बघेरोंकी। हमारे चारों ओर जंगल था, उसमें रीछ और बघेरे रहते थे। गोरखिया (चरवाहा) कह रहा था—बघेरेका बाप कोकी (जंगली कुत्ता) है। वे पचास-पचीसका गिरोह बाँधकर चलते हैं, और एक साथ हमला कर देते हैं। बघेरा भी उनसे नहीं बच सकता, गाय-भैंसकी तो बात ही क्या ?

तिरयुगीनारायणसे पहिले वृक्ष-रहित किन्तु घाससे ढँके पहाड़ोंपर पैरके अँगूठे जितनी मोटी काली-काली जोंकें दीख पड़ीं। जोंकसे मैं नहीं डरता, कितने लोग तो नन्हीं-नन्हीं जोंकोंसे भय खाते हैं, उनका तो दम ही इन डबल जोंकोंको देखकर निकल जावे।

तिरयुगीनारायण केदारनाथके रास्तेसे थोड़ा ऊपर हटकर है, किन्तु हर एक यात्रीकेलिए वहाँ जाना आवश्यक है, इस प्रकार वह प्रधान रास्तेपर है। यहाँ काली कमलीवालेकी सदावर्त थी, किन्तु कोटेवाले सेठके साथ रहनेके कारण इस वक़्त मुझे सदावर्तकी ज़रूरत नहीं थी।

तिरयुगीनारायणसे उतराई उतरकर फिर केदारनाथकी प्रधान सड़कपर आये। नदी पार करते वक़्त झूलेका पुल टूटा मिला। बग़लमें अस्थायी रस्सीका झूला बँधा था। यात्री लोग सुनी-सुनाई बात कह रहे थे कि एक बार ही बहुतसे आदमी चढ़ गये, इसलिए लोहेके तारवाला झूला टूट गया; कितने ही आदमियोंकी तो लाश

तक नहीं मिली। उस रात हम गौरीकुंडमें ठहरे। वहाँके पीले गन्धकी ठंडे चश्मे, तथा साँवले गर्म पानीके चश्मेमें लोग स्नान कर रहे थे। एक अच्छी धर्मशाला पासमें थी, जिसमें कोई नेपाली रानी ठहरी हुई थीं। लोग भिक्षा माँगने जा रहे थे। भिखमंगोंका क्या एकको जहाँ कुछ मिला कि दूसरे पचीस चल पड़े, आख़िर दाताकी श्रद्धा और थैलीका भी कोई परिमाण होता है। देखा-देखीमें मैं भी क़िस्मत-आज़-माईमें शामिल हो गया। 'रानीजी कुछ मिल जावे'—संकोच और शर्मसे भरी आवाज़में कितनी ही बार कहा होगा। यह भी स्मरण नहीं कि रानीजीकी ओरसे क्या क्या दिलवाया गया था। जीवनमें दीनताके साथ भिक्षा माँगनेका यही मेरा आदिम और अन्तिम प्रयास रहा।

गौरीकुंडसे चढ़ाई चढ़ते हुए लामबगड़ पहुँचे। यहाँसे केदारनाथ पाँच-छै(?) मील है। केदारनाथकी सर्दीको इतना बढ़ा-चढ़ाकर लौटे यात्री सुनाते थे, कि नये जानेवाले घबरा जाते थे। अधिकांश यात्री दोपहरको भी लामबगड़ पहुँचनेपर वहाँसे आगे नहीं जाते। डंडा-कुंडा वहीं रखकर साधारण कपड़ेके साथ केदारनाथजीके दर्शन करके शाम तक लामबगड़ लौट आनेको हर एक यात्री पसन्द करता था। मेरे पास उतना सामान भी न था, जिसमेंसे कुछ छोड़ जाता, और दूसरे मैं यमुनोत्रीकी मार खाये हुए था, जिसका रास्ता और भी बीहड़ समझा जाता है।

लामबगड़से रास्ता नदी (मन्दाकिनी)की दाहिनी ओरसे चढ़ाई ही चढ़ाईका था, किन्तु चढ़ाई उतनी कड़ी न थी। कुछ आगे जानेपर उपत्यका भी और चौड़ी हो गई। बर्फ़ पिघल चुकी थी, वर्षाके शुरू हो जानेसे पहाड़ोंमें चारों ओर हरियाली ही हरियाली दिखलाई पड़ती थी। लामबगड़से कितना आगे तक वृक्ष मिले, नहीं कह सकता; किन्तु, अन्तमें वृक्षहीन घाससे ढँकी भूमि थी। चढ़ाई सीधी न होनेपर भी साँस बहुत फूल रही थी, लोग कह रहे थे, यह विषैली जड़ी-बूटियोंका प्रभाव है। मेरे भूगोल पाठने इसको प्रदेशके उन्नतांशसे जोड़ा या नहीं इसका पता नहीं। केदारनाथ बस्तीके पास पहुँचनेपर पुलसे हमें मन्दाकिनीके बाईं ओर आना पड़ा।

संयोगसे हमारे कोटेवाले सेठ किसी पंडाके मकानमें न ठहर, कालीकमलीवालेकी धर्मशालामें ठहरे। बस्तीके दूसरे मकानोंसे वह अधिक साफ़ और आरामदेह थी। दोमहला मकान था, और शायद टीन या स्लेटसे छाया हुआ। सीढ़ीसे उतरनेपर दाहिना भाग—जो बायेंसे कम था—ऊपर-नीचे दोनों धर्मशालाके कर्मचारियोंके लिए सुरक्षित था, और बायाँ यात्रियोंकेलिए। शायद हम लोग बायेंवाले निचले भागकी किसी कोठरीमें ठहरे। अब हम प्रधान यात्रापथपर चले आये थे, जहाँ

धर्मशालायें और सदावर्त सुलभ थे। मैं रसोई बनाते हुये सेठोंकी मंशासे चलना पसन्द न करता था। मुझे साधुओंकी मस्तानी यात्रा ज़्यादा पसन्द थी; इसलिए यहाँसे रसोईदारीके कामको छोड़ना तै किया। उसी दिन रातको ऊपर बरांडेमें रामायणकी कथा हो रही थी। शायद उसे पहिले दो-तीन साधुओंने शुरू की। गाना नहीं अर्थ-सहित चौपाईका थोड़ा स्वरसे पाठ। पाठ शायद कोई दूसरा करता था, अर्थ मैं कर रहा था। उत्तरकांडका ज्ञानदीपक प्रकरण था। थोड़ी देर बाद कुछ और महात्मा शामिल हो गये, जिनमें सदावर्तके अध्यक्ष उदासीन बाबा धर्मदास भी थे। थोड़ी देर चुप रहनेके बाद अर्थ करनेका काम उन्होंने अपने हाथमें ले लिया। अर्थ करते वक़्त वह बीच-बीचमें उपनिषद्‌की श्रुतियाँ बोलने लगे। उन्होंने आत्माके स्वरूपको जब 'अणुवो रणियान महितो महियान' श्रुतिवाक्यसे प्रतिपादन करना शुरू किया, तो मेरे ऊपर उनकी विद्वत्ताकी जो धाक पड़ी, उसे वर्णन नहीं कर सकता। मुझे क्या मालूम था, कि वह इतना अशुद्ध उच्चारण कर रहे हैं, और जिन श्रुतियोंको वह मौक़े-बेमौक़े फर-फर दुहरा रहे हैं, वही उनकी बिना अर्थ समझे तोतेकी तरह रट रक्खी ज़िन्दगी भरकी पूँजी हैं।

कथा समाप्त होनेपर महात्मा धर्मदासने मुझसे कुछ प्रश्न किये। साधु बननेके बारेमें पूछनेपर मैंने कहा—"साधु तो मुझे ज़रूर बनना है, किन्तु पहिले संस्कृत और वेदान्तग्रंथोंको पढ़ लेनेके बाद।" उन्होंने कहा—"तो फिर हृषिकेश या हरिद्वारमें तुम रह क्यों नहीं गये ?" "पढ़नेका सिलसिला कोई लगता दीख न पड़ा"—उत्तर देनेपर, बोले—"दो-चार दिन रहकर तलाश करनेपर लग जाना मुश्किल न था। अच्छा, तो तुम दो-चार दिन यहाँ मेरे पास रहो, कल जानेका इरादा छोड़ दो; फिर हम इसके बारेमें बातचीत करेंगे।" मेरे पासका कम्बल केदारनाथकी सर्दीके लिए काफ़ी न था, इसलिए उन्होंने एक मोटी लोई दी। रातको मैं अपने साथियोंके यहाँ सो गया।

दूसरे दिन हमारे सेठ तो चले गये, और मैं ऊपर धर्मदासजीके बैठनेके स्थानमें गया। एक बरांडा था, जिसके पीछे दो कोठरियाँ थीं, जिनमेंसे एकमें सदावर्तमें दिया जानेवाला सामान—सारे सामानकेलिए नीचे गोदाम था—रहता; दूसरी कोठरीमें यात्रियोंके रात भरकेलिए उधार दिये जानेवाले लोई-कम्बलोंके अतिरिक्त धर्मदास-जीका बिस्तरा था। दिनमें वह अधिकतर बाहर बरांडेमें अपनी कोठरीके सामने मोटे गद्देवाले आसनपर मोटी पट्टीके कोट-पाजामा तथा कनटोपको ओढ़े-पहिने लोईसे शरीरको ढाँके पड़े रहते। ज़रा भी हवा होनेपर सामनेके जँगलेको बन्द कर देते,

जिससे वहाँ अँधेरा छा जाता। सामने अँगीठीमें निर्धूम कोयलेकी आग भी पड़ी रहती। धर्मदासजी गाँजा-तम्बाकू नहीं पीते थे। गुड़-घी-आटा-चावल-दालके साथ चाय भी यद्यपि सदावर्तमें बाँटी जाती थी, किन्तु वे चायके भी ज़्यादा आदी न थे, हाँ कभी-कभी एकाध गिलास पीते ज़रूर थे। सीढ़ीके पासवाले वरांडेके बाक़ी आधे भागमें सदावर्तमें दी जानेवाली चीज़ोंको रखे बाँटनेवाले नौकर बैठते थे—जिनमें एकका नाम था नत्थूराम और दूसरेका याद नहीं।

३

हिमालय (२)

अगले दो-तीन दिनके वार्तालापमें तै हुआ, कि मुझे पढ़नेके लिए फिर बनारस नहीं लौटना चाहिए। घरका ख़तरा मेरे दिलमें बना ही हुआ था। धर्मदासजीने कहा—"यात्राका समय सितम्बर-अक्तूबर तक समाप्त हो जावेगा, फिर मैं हृषिकेश चलूँगा। उसी वक़्त तुम भी चलना। बल्कि तुम्हारा बदरीनाथ दर्शन बाक़ी रहता है, वहाँ होते आ जाना। हृषिकेशमें मैं तुम्हारे संस्कृत पढ़नेका प्रबन्ध कर दूँगा। फिर पढ़कर तुम्हारी इच्छा हो तो साधु बन जाना।"

मुझे और क्या चाहिए था?

केदारनाथकी सर्दी सचमुच सख़्त थी, गंगोत्री और यमुनोत्री उसके मुक़ाबिलेमें कुछ न थे। पहिले दिन तो बर्फ़से तुरन्त पिघलकर आये मन्दाकिनीके जलमें मैं भी नहा आया था, दूसरे दिन नहानेकेलिए जाते देख धर्मदासजीने आदमी साथ कर दिया, जो मुझे पूरब ओरकी पहाड़ीकी जड़में अवस्थित स्वच्छ स्फटिक जैसे पानीके चश्मे पर ले गया। वहाँपर भी मैं एक ही दो दिन नहाने गया, पीछे देखा बाबा धर्मदास और उनके दोनों कर्मचारी सबेरे गर्म पानीसे हाथ-मुँह धोकर मंत्र स्नान कर लेते हैं। उन्होंने मुझसे कहा भी—'यहाँकी सर्दी साधारण नहीं है। एक-दो दिनकी बात हो तो कोई पर्वा नहीं, ज़्यादा ठंडे जलमें नहानेपर बीमार हो जानेका डर रहता है।' उनके ब्राह्मण कर्मचारीने अपने अध्यक्षकी बातका समर्थन करते हुए कहा—"नीचे देशमें गंगाजलसे जितनी पापशुद्धि नहीं होती, उतनी यहाँ कैलाशखंडकी हवाके शरीरमें लगनेसे हो जाती है।"

'बिल्लीके भाग्यसे छींका टूट गया'—तीन-चार दिनके हिमजलमें शरीर भिगोनेसे कैसा कष्ट हो रहा था, यह मैं ही जानता था। उसके बाद मैंने भी सहवासियोंका अनुकरण शुरू कर दिया। बाबाने मेरे लिए भी सफ़ेद पट्टीका एक मोटा कोट, ऊनी पायजामा, गर्म कनटोप दे दिया। चलने-फिरनेके लिए गर्म मोज़ा और लाल लोधियानवी जूता भी मिला।

बाबा धर्मदास पंजाबी थे, लेकिन भारतके बहुत भागोंमें घूमे हुए थे। आयु उनकी ५४, ५५की रही होगी। बोलने-चालनेमें वे बहुत चतुर थे। उस दिन कथा बाँचनेमें चाहे श्रुतियोंके उच्चारण करते वक़्त भले ही सरस्वती उनकी जिह्वापर बैठ गई हों, किन्तु बादमें वह पंडिताई नहीं दिखलाना चाहते थे। साफ़ स्वीकार करते थे, कि मैंने संस्कृत नहीं पढ़ी है। विचारसागर, रामायण, योगवाशिष्ट जैसे कुछ भाषाके ग्रंथ भर पढ़े हैं। इस साफ़गोईका मुझपर बहुत असर पड़ा।

हरिद्वारके बादसे, या शायद पहिले हीसे मेरी त्रिकाल सन्ध्या मद्धिम पड़ी थी। यह क्यों?—यात्राकर्षणने वैराग्यपर अपना असर डाला होगा, या साधुओंकी रहन-सहनसे अतिवादिता ढीली पड़ी थी, अथवा लगातार चलते रहनेसे फ़ुर्सत कम मिलती थी। केदारनाथमें अब कुछ महीनोंके लिए स्थिर रहना था, इसलिए यहाँ फिर जीवन-चर्यामें कुछ परिवर्तन करना था। रामायण, विचारसागर, गुरुमुखी पंचीग्रंथीके सिवाय बाबाके पास एक भाषाटीका शिवपुराण था। गुरुमुखी एक नई लिपि थी, किन्तु दो-तीन दिनमें ही पंचग्रंथीके "१ ओम् सतिगुरुप्रसाद... "को मैं पढ़ने लगा। विचारसागर और रामायण कई बारके पढ़े हुए थे, इसलिए उनपर ज़्यादा समय नहीं दे सकता था; हाँ, दोपहरके खानेके बाद दो-तीन घंटा शिवपुराणका पाठ चलता था। संस्कृतके श्लोक पढ़ जाता, फिर उसकी हिन्दी-टीकाको। यत्र तत्र ही संस्कृतका कोई शब्द समझमें आता था, किन्तु हिन्दी भाषान्तरसे काम चल जाता था। कथाके वक़्त बाबाजीके अतिरिक्त दो-एक ग्रामवासी पंडा और कर्मचारियोंमेंसे भी कोई रहता था। खैर, वहाँ कथा सुनानेसे मुझे विशेष प्रयोजन नहीं था, मैं कथाका रसास्वादन ले रहा था। अनजाने बेलके वृक्षसे गिराये पत्तोंके विस्मृत अलक्षित शिवलिंगपर पड़ जानेसे घोर पापीको शंकरके दूत स्वर्ग ले जानेके लिए आये—इस कथाने मेरे दिलमें शंकरके प्रति श्रद्धातिरेक पैदा किया हो, सो बात नहीं थी। मुझे तो उसके पढ़नेमें उसी तरहकी दिलचस्पी पैदा हो रही थी, जैसी "हातिमताई" और "आराइशे-महफ़िल"को कई वर्ष पहिले बछवलमें पढ़ते वक़्त।

पुस्तकपाठ और बाबासे यात्रा तथा वेदान्तपर बातें सुननेके अतिरिक्त मेरा काम

था, आसपासके पहाड़ोंपर घूमने जाना। सारी निचली उपत्यका और पूरबवाली दूर तक चली गई अधित्यकामें हरी घास तथा रंग-बिरंगे फूलोंसे लदी जड़ी-बूटियोंका क़ालीन बिछा हुआ था। अक्सर नाथूरामके साथ मैं घूमने जाता था। उपरली अधित्यकापर, कितनीही बार नीचेकी ओर वहाँ तक गया, जहाँ छोटे-छोटे वृक्ष शुरू हो जाते हैं। ऊपरकी ओर सत्पथ शुरू होनेवाले चट्टानोंसे बहुत आगे तक कई बार गया। पहिली बार हम दोनों उधर जा रहे थे, तो भेड़ोंके झुंडसे एक अधेड़ आदमीने आवाज़ दी। नाथूराम गये। लौटकर बोले—"इधरसे आगे जाना मना है। पाण्डव लोग इसी रास्ते हिमालय गलने गये थे। कितने लोग इधरसे जाया करते थे—रास्तेमें गल गये, तो मरनेके बाद, नहीं तो सशरीर ही स्वर्ग पहुँच जाते। ....हाँ, स्वर्ग इधर ही है। प्रधान पूछ रहा था, आप सत्पथ तो नहीं जाना चाहते। सर्कारकी ओरसे मनाही है।"

'सत्पथ'का शौक़ीन तो मैं नहीं था। 'स्वर्ग इधर ही है'के ख़िलाफ़ मेरे भूगोल-ज्ञानने कितना विद्रोह किया था, यह मुझे याद नहीं। हमने एक बड़ी चट्टानपर त्रिशूल तथा दूसरे चिह्न बने देखे। नाथूराम कह रहे थे, कि पुराने सत्पथ-यात्री यह अपना चिह्न छोड़ गये हैं। लौटते वक़्त हम सुन्दर-सुन्दर फूलों और पत्तियोंका गुच्छा बना-कर लाते थे।

पहिले रोज़, और पीछे सोमवारके सोमवार मैं केदारनाथके दर्शनको जाता था। मन्दिर पत्थरका तथा अबतकके हिमालयमें दिखाई पड़े मन्दिरोंसे बड़ा था। कलश और शिखरकी धातु याद नहीं, किन्तु मन्दिर शिखरवाला था। शायद मन्दिरके बाहर सभा-मंडप न था। भीतर लिंगके स्थानपर अनगढ़ पत्थरका महिषपृष्ठाकार लिंग था। कथामें सुना भी था, कि शंकरजीको भैंसाका रूप धरके इसी उपत्यकामें चरनेकी बात सुन पांडव पकड़ने आये। भीम दोनों पहाड़ोंपर पैर रखकर खड़े हो गये, जिसमें कि पैरोंके नीचेसे जो भैंसा न जावे, उसे शंकरजी समझकर पकड़ लिया जावे। शंकर सचमुच ही हिचकिचा रहे थे। पांडव लपके पकड़नेको, किन्तु उसी जगह शंकर अन्तर्धान होने लगे, पीठ भर धरतीमें डूबनेको रही, वही यह केदारनाथ महादेव हैं, जो द्वादश ज्योतिर्लिंगोंमें एक हैं। शंकरका चढ़ा प्रसाद—शिव-नैर्माल्य—खाना वर्जित है, यह मैं लड़कपनसे सुनता आया था; किन्तु यहाँ अक्सर शिवजीके प्रसादको रावल (केदारनाथके दक्षिणी प्रधान-पुजारी)के यहाँसे आते देख मैंने बाबासे पूछा, तो उन्होंने कहा—ज्योतिर्लिंग और नर्मदेश्वर (नर्मदा नदीसे निकले)के प्रसादके ग्रहण करनेमें कोई हर्ज नहीं है। मन्दिरके रावलजीकी

भाँति कालीकमलीवाले बाबाकी सदावर्तके अध्यक्ष बाबा धर्मदास भी केदारनाथके प्रमुख व्यक्तियोंमें थे। रावल भी अक्सर उनके यहाँ आया करते थे। सावनके महीनेमें केदारनाथकी पूजा ख़ास तौरसे की जाती थी। उस वक़्त एक तरहका कमल ("हिमकमल") बहुत चढ़ाया जाता। हमारे बाबा भी आदमी भेजकर हर सोमवारको टोकरे भर कमल मँगवाते, और बड़ी भक्तिभावसे चढ़ाते थे। "परसे तुहिन तामरस जैसे"—यह चौपाई मुझे याद थी, और यहाँ हिमालयमें कमल होनेपर मुझे बड़ी आपत्ति थी; किन्तु लोग उसे कमल ही कहने का आग्रह करते थे, और बतलाते थे, कि बर्फ़के गल जानेपर पच्छिमवाले पहाड़के पीछे एक विशाल झीलमें वह पैदा होते हैं। पच्छिमवाली झीलको देखने तो मैं नहीं जा सका, किन्तु उत्तर तरफ़ एक दिन नाथूरामके साथ बहुत दूर तक गया था। वहाँ, हवाके पतली होनेके कारण साँस लेनेमें तकलीफ़ होती थी। हम उस बर्फ़को भी पार कर गये, जिसके नीचेसे मन्दाकिनीकी धार आ रही थी। आगे एक ईषद्-हरित साफ़ पानीकी छोटीसी झील मिली। मैं थक गया था, इसलिए एक चट्टानके ऊपर लेट गया, और नींद भी आ गई; किन्तु नाथूराम आगे घूमने गये। उनके लौट आनेपर हम लोग साथ ही बस्तीमें लौटे।

केदारनाथमें जानवरोंमें गाय-बैलके अतिरिक्त टट्टू और कुत्ते भी काफ़ी थे, टट्टू सामान लानेके लिए थे। डंडी, झप्पान या खटोलेपर तो किसी-किसीको चढ़े मैंने ज़रूर देखा था, किन्तु घोड़ेपर चढ़े किसी यात्रीको देखा हो इसका ख़्याल नहीं आता। कुत्तोंकी गर्दनोंमें चार-छै अंगुल चौड़े लोहे या पीतलके पट्टे थे। लोग बतला रहे थे, इसके रहनेसे कुत्ता बघेरेके क़ाबूमें नहीं आता।

केदारनाथमें रहते मुझे दो या तीन हफ़्ते हो गये थे, इसी समय मैंने अँधेरी जगहमें अपने आसनपर बैठे देखा, एक साधूके साथ एक लड़का—हाँ, दूसरा नहीं मेरा बालसाथी यागेश—सदावर्त लेने आया। उसके पास दोसे अधिक पुर्ज़ियाँ थीं। सदावर्त देनेवाला कर्मचारी बिना आदमी देखे, सदावर्तका सामान देनेके लिए तैयार नहीं हुआ। साधुने यागेशको साथियोंके पास उन्हें लिवा लानेकेलिए भेजा। यागेशके सीढ़ीसे उतर जानेके बाद मैं भी चुपकेसे उतरकर पीछे हो लिया। यागेशके पास एक धोती, एक सूती कुर्ता या कोट था, सिर और पैर नंगे थे; और मैं शिरसे पैर तक गर्म कपड़ोंसे लदा था। दो-तीन सप्ताहके निश्चिन्त रहने तथा खाने-पीनेके आरामके साथ शरीरमें वैसे ही नया ख़ून आ गया था, ऊपरसे सम्भ्रान्त पोशाक और लोधियानवी लालजूती और भी बतलाती थी, कि कोई अमीरका लड़का है। यागेश जब अपने साथियोंके रहनेकी जगहपर पहुँच गये, तब मैंने कहा—'यागेश !'

यागेशने पीछे मुड़कर मुझे देखा। दोनों तरफ़के आनन्दका ठिकाना न रहा। हममेंसे किसीकी आँखोंमें आनन्दाश्रु आये––नहीं कह सकता। और बात करने को तो अब सारा समय अपना था, इसलिए उस प्रसंगको बिना छेड़े मैंने उन्हें साथ चलनेके लिए कहा। यागेशने सदावर्तसे लाये सन्देशको अपने साथियोंसे कहा या नहीं, किन्तु जब उन्होंने उनसे कहा––'मेरे भाई मिल गये, इन्हींकी खोजमें मैं घरसे निकला था, वह बाहर खड़े हैं।' मुखिया साधुने झाँककर मुझे देखा, तो घबड़ाये हुए जाकर यागेशके गलेसे कंठी उतारने लगा, उतारनेमें देर देखकर उसे तोड़ लिया। ज़िक्र करनेपर यागेशसे जब मैंने कारण पूछा, तो बतलाया––वह घबरा गया, कि कहीं इनका भाई ज़बर्दस्ती चेला बनानेकी बात पुलीससे कहकर फँसा न दें। हम लोग उसके भोले-पनपर हँसते धर्मशालाकी ओर चले। मैंने कर्मचारीको कह दिया––'हाँ, इन्हें पुर्ज़ीके मुताबिक़ सदावर्त दे दो, मेरा यह भाई इन्हींके साथ आया है।' मैं भी तो उनका उपाध्यक्षसा था, फिर वह मेरी बात क्यों न मानते।

कुछ खिलाने-पिलानेके बाद यागेशने सारा क़िस्सा सुनाया। कैसे मेरी उल्टी चिट्ठीको उन्होंने पढ़ा, और कैसे अचानक आकर फूफा साहेबने वह चिट्ठी उनसे छीन ली। कैसे बेसरोसामानीकी हालतमें वह आँख बचाकर घरसे निकले, कैसे कहीं थोड़ी दूर रेलपर और कहीं थोड़ी दूर पैदल चलते हरिद्वार पहुँचे। कैसे विष्णुदत्त पंडित(?)ने मेरे बदरीनाथसे लौटकर वहीं आनेकी बात कह उन्हें भी रखना चाहा, और मेरी तरह वह भी पंडितजीकी बनावटी बातोंसे असन्तुष्ट हो चलनेपर मजबूर हुए। रास्तेमें उन्हें ग़ाज़ीपुर ज़िलेकी यह गृहस्थ-साधु-मंडली मिल गई, और उसके साथ वह यहाँ तक पहुँचे। मैं ही समझता था, यागेशको कितना कष्ट हुआ होगा, खासकर मेरे जैसा उनके पास वेदान्त और वैराग्यका बल न था, वह मेरे प्रेम और कुछ देशाटनके लोभसे खिंचकर ही इतने कष्टको सहनेकेलिए तैयार हुए थे। मैंने भी अपना यात्राविवरण कह सुनाया। बाबा धर्मदाससे मैंने सारी कथा कही। उन्होंने कहा––'अच्छा है, दोनों भाई चलो हृषिकेश, वहीं संस्कृत पढ़ना, और साधु बन जाना।' साधु बननेके बारेमें मैं तो कुछ 'ननु' 'न च' भी करता था, किन्तु यागेश अपनेको एकदम तैयार ज़ाहिर करते थे। हाँ, वह मेरे सामने ज़रूर कहते थे––'माँ याद आती है, भैया! चलो घर चले चलें।' किन्तु, मुझपर तो दूसरी ही सनक सवार थी। मैं कोमल किन्तु स्थिर शब्दोंमें यागेशको उस बातसे रोकता था।

केदारनाथमें भुना चना रुपयेका दो सेर, अर्थात् क़रीब-क़रीब घीके बराबर बिकता था। इससे भी ज़्यादा आश्चर्यकी बात मुझे यह मालूम हुई, कि आटा और

पूड़ी दोनों एक भाव—शायद छै आने सेर—बिकते थे। कारण पूछनेपर बतलाया गया—सभी हलवाई चढ़ा-ऊपरी कर रहे हैं, और इसमें घाटा भी नहीं है, क्योंकि पूड़ी आटेसे डचोढ़ी हो जाती है, और उसी वृद्धिमें घीका दाम तथा थोड़ा नफ़ा भी निकल आता है। पूड़ी खाकर पेटकी ख़राबीको मैंने देख लिया था। केदारनाथमें पहाड़ी लोग भी उससे डरते थे। सबेरेके वक़्त हम हलवा बनाते थे, घी-गुड़-आटेकी वहाँ कमी न थी। हलवा बनानेकी कला मुझे बाबा धर्मदासने बताई थी। यागेशके आ-जानेपर तो हम दोनों बना लिया करते थे। बाक़ी वक़्तका खाना दोनों कर्मचारियोंमेंसे कोई बनाता था। दोपहरको क्या खाते थे, यह तो याद नहीं, किन्तु रातको खाना खाने हम नीचे जाते थे। केदारनाथमें अरहर या उड़दकी दाल नहीं मिलती थी, न भात ही सीझता था; हमारी दाल मसूरकी होती। तरकारीके लिए आलूकी फ़सल तैयार होनेमें देर थी, उसकी जगह प्याज़की तरकारी बनती थी। कभी-कभी जंगलका कोई साग भी बन जाता। रोटीमें घी चुपड़कर खानेसे डरते थे, उसकी जगह आटा गूँधते वक़्त कुछ घी मिला दिया जाता। दालको घीसे छौंकनेमें कोई आपत्ति न थी। सामग्रीके परिमित होनेपर भी भोजन सुस्वादु होता था।

यागेशके आनेके बाद हम एक मास या अधिक केदारनाथमें रहे। दिनचर्यामें शायद कोई परिवर्तन नहीं हुआ। जाड़ोंमें बदरीनाथ केदारनाथकी सारी बस्ती उजड़कर नीचे चली आती है, यात्रियोंका आना रुक जाता है, वहाँकी भूमि सारे मन्दिर-मकान बर्फ़से ढँक जाते हैं, और जानकारोंके कहे अनुसार—छै महीनेका भोग-आरती देवता लोग किया करते हैं, पंडा लोग उसके लिए सामान मन्दिरमें बन्द कर जाते हैं; पट खुलनेपर देखा जाता है, सारी सामग्री ख़तम हो गई है, मन्दिरसे धूपकी ताज़ी सुगन्ध आ रही है। अब पट बन्द होनेमें तीन-चार सप्ताह बाक़ी थे—इतना ही समय जिसमें कि इधर हम बदरीनाथ होकर ऋषिकेश लौटते, और उधर बाबा धर्मदास भी सदावर्त-धर्मशाला बन्दकर वहाँ पहुँचते।

पूर्व-निश्चयके अनुसार एक दिन पहिनने-ओढ़नेके कपड़े तथा रास्तेके खर्चके लिए पैसे देकर बाबाने हमें बदरीनाथकी ओर रवाना किया। चलते वक़्त मुझे ज़रा भी विश्वास न था, कि बाबा धर्मदाससे यह आख़िरी मुलाक़ात है। पिछले डेढ़-दो महीने मुझे बहुत कम ही चलना-फिरना पड़ा था, किन्तु रास्ता अभी बहुत दूर तक नीचेकी ओरका था। गुप्तकाशीके पास तक हम श्रीनगर-केदारनाथके रास्तेसे आये। गुप्तकाशीके छोटे गाँव तथा साधारण मन्दिरको देखकर तो मुझे काशी नामके साथ परिहाससा मालूम हुआ। उतराई उतर, नदी पार हो आगे बढ़े। ऊषीमठको

देखकर, पहिलेके पढ़े हुए सुखसागरके बाणासुर और उषाकी कथा याद आ गई। वहाँसे और आगेके एक पड़ावकी अब भी स्मृति है, वहाँ भैंसों-गायोंका गोष्ठ था। मच्छर बहुत लगते थे, और बनारसकी ओर 'ही' कहकर जैसे भैंसको पुकारते हैं, वहाँ उसकी जगह 'डी' या कोई दूसरा शब्द इस्तेमाल करते थे। तुंगनाथ जानेकी लालसा तो थी, लेकिन जब उसके लिए दुरूह पर्वतपथसे आधे आसमानपर चढ़नेकी बात सुनी, तो वह ढीली हो गई। चमोलीके पास गंगाका लोहेका झूला उसी साल टूट गया था, और लोग बग़लमें बने रस्सेके झूलेसे पार हो रहे थे। लोहेके झूलेके बारेमें तो उतना नहीं किन्तु इस विशाल रस्सीके झूले को देखकर मैं पहाड़ियोंकी चतुराईको बहुत सराहता था।

यहाँसे आगे हम हरिद्वारसे सीधे बदरीनाथ जानेवाले रास्तेपर थे। यहाँ सड़क काफ़ी चौड़ी थी। बरसातसे कहीं-कहींके पुल टूट गये थे, किन्तु मालूम होता था, सरकारकी ओरसे सड़ककी मरम्मतपर काफ़ी ध्यान दिया जाता है। चट्टियाँ और गाँव भी ज़्यादा थे। कहीं-कहीं पके आड़ू खानेको मिले। थके-माँदे जिस किसी चट्टीपर पहुँचते, तो यागेश झट कह उठते—'भैया! खिचड़ी बना न लें।' मेरे बदनमें आग लग जाती। बालपनके शत्रुभोजनोंमें खिचड़ीका स्थान अभी ज्योंका त्यों था, यद्यपि बछवलमें मैं खिचड़ी खा लेता था, क्योंकि वहाँ बघारे हुए सिर्के और आमकी फारीके साथ उसे हमजोलियोंके साथ बैठकर खाना होता था। मैं यागेशको डाँट देता; यद्यपि मेरी समझमें पीछे आता था, कि यागेश मुझे चिढ़ानेकेलिए वैसा नहीं कहते हैं। खिचड़ी बननेमें कम मेहनत और जल्दी होती है, इसी ख्यालसे उनका वह प्रस्ताव होता—साथ ही खिचड़ी उन्हें रुचती भी थी, इसमें सन्देह नहीं। मालूम नहीं, बदरीनाथके रास्तेमें ऊपर जाते वक़्त कभी हमारी तबियत ख़राब हुई थी। जोशीमठ (ज्योतिर्मठ)की कोई ख़ास बात याद नहीं है, उसका यह महत्त्व भी दिलपर अंकित न था, कि वह वेदान्तके आचार्य शंकराचार्यके चार प्रधान मठोंमेंसे एक यही है।

जोशीमठसे आगे उतराई उतरकर कोई नदी पार करनी पड़ी, फिर अलकनन्दाके किनारे ही किनारे बदरीनाथ तक गये। बदरीनाथसे कुछ मील पहिले ही पर्वत वृक्षोंसे शून्य हो गये थे, आगे हरी घास थी। पहाड़ोंकी दूरकी चोटियोंपर बर्फ़ दिखलाई पड़ती थी, नहीं तो और कहीं उसका नाम न था।

बदरीनाथकी कालीकमलीवाली धर्मशाला केदारनाथकी अपेक्षा बड़ी थी। वहाँके अध्यक्ष एक ग़रीबदासी साधु थे। उनका महंतों जैसा लम्बा क़द, गोरा रंग, मोटा बदन था। सिर-दाढ़ी मुंडी तथा शरीरपर गेरुआ कपड़ा था। उमर ३५-४०

सालकी होगी। धर्मदासजीसे यह ज़्यादा पढ़े-लिखे थे, किन्तु उसे विशेष जाननेका मुझे मौक़ा नहीं मिला। केदारनाथसे हम उनके लिए चिट्ठी लाये थे, और उन्होंने ठहरने और भोजन आदिका ठीक प्रबन्ध कर दिया। लेकिन जब उन्हें मालूम हुआ, कि हम ऋषिकेश लौटकर बाबा धर्मदासके साथ रहनेवाले हैं, तो उन्हें यह बात पसन्द न आई। उन्होंने हमें मना करना शुरू किया—"पढ़नेवाले नौजवानोंको साधुओंके फेरमें नहीं पड़ना चाहिए। बाबा धर्मदास ख़ुद पढ़े-लिखे नहीं हैं, वह विद्याकी क्या क़द्र करेंगे। चेला बना लेंगे और कहेंगे 'मूँड दिया माँग खाओ'।" उनका उपदेश चलता ही रहा, उसमें कितना अंश हमारे प्रति सद्भावनासे प्रेरित था, और कितना ईर्ष्यासे यह मैं नहीं कह सकता। मैं बराबर उनकी सम्मतिको अपने भीतर जानेसे रोकता था, किन्तु यागेश तो मानों उससे भी पहिलेसे इस बातकेलिए तैयार बैठे थे। उन्होंने भी ज़ोर देना शुरू किया—"नहीं, भैया ! चलो बनारस ही, साधुओंका ठिकाना नहीं। असहमत होनेपर न जाने क्या कर बैठे। ऋषिकेश हमने देखा नहीं है क्या ? वहाँ कहाँ पंडित हैं ?"

बदरीनाथकी बस्ती बड़ी थी। मकान संख्यामें अधिक तथा अच्छी तरहके बने थे। छतोंपर खपड़ैलकी जगह लकड़ीके पटरे थे, जिनके नीचे भोजपत्रकी छाल बिछी थी। तप्तकुंडके होनेसे यहाँ नहानेकी बड़ी मौज थी। बदरीनाथके मन्दिर और मूर्त्तिका मुझे कोई स्मरण नहीं। वहाँ दाढ़ी-मूँछ रहित लाल मुँहवाले कितने ही मज़दूर और उनकी स्त्रियाँ दीख पड़ीं। लोग उन्हें मारछा कह रहे थे। गंगोत्रीके पास मिले लामासे उनकी सूरत कुछ मिलती थी, यद्यपि वे उतने क़द्दावर न थे; तो भी उस वक़्त इन नरनारियोंको देखकर मुझे कोई ख़ास जिज्ञासा नहीं पैदा हुई। सुना, इनकी बस्तियाँ और ऊपर तक हैं। कुछ मीलपर वसुधारा तीर्थ था। एक बार जानेकी इच्छा हुई, किन्तु न जाने क्यों नहीं जा सके। बदरीनाथमें बस्तीसे बाहर ज़्यादा नहीं घूमे-फिरे। धर्मशालाके रसोईघरमें एक बड़ा तवा था, जिसपर एक साथ दस-बारह फुलके डाले जा सकते थे। ऐसे तवेके देखनेका यह पहिला अवसर था, इसलिए कुछ कौतूहल हुआ। यहाँ शीरा-पूड़ीकी जगह शीरा-रोटीका भोज होता था, मालूम होता है यहाँवाले भी पूड़ीसे वैसे ही डरते थे, जैसे केदारनाथवाले। बदरीनाथमें तीन-चार दिनसे अधिक हम नहीं ठहरे। अध्यक्ष महाशयके उपदेशोंके कारण मेरा मन वहाँ नहीं लगता था।

केदारनाथ छोड़ते वक़्त तक तै नहीं हो पाया था, कि हमें बाबा धर्मदासके पास नहीं रहना है। यह बात पहिले तै हुई होती, तो उनसे हम कहकर आये होते, किन्तु

अब तो उनसे मुलाक़ात ऋषिकेश हीमें हो सकती थी। यागेश मुझे वहाँ तक जाने देनेके लिए तैयार न थे। उन्हें डर था, और इसमें सच्चाई भी थी, कि एक बार ऋषिकेश पहुँच जानेपर मैं वहाँसे न हटूँगा——बनारस जानेसे मैं ज़्यादा शंकित था। यद्यपि हमें उस वक़्त मालूम न था, और बदरीनाथवाले महात्मा साफ़ इन्कारी थे, तो भी ऋषिकेशके साधुओंमें संस्कृतज्ञ कुछ अवश्य थे। बदरीनाथमें ही ऋषिकेश न जानेकी बात न तै हो पाई, किन्तु उसके अन्तिम निर्णयकेलिए अभी काफ़ी समय था। ऋषिकेश और रामनगरका रास्ता अभी कई दिनों तक सम्मिलित था।

चमोलीके पास तक हम अपने गये रास्तेसे लौटे। अलकनन्दाके रस्सीवाले पुलपर चलते वक़्त कुछ रोमांच होता था, ख़ासकर नीचे धारकी ओर नज़र करनेपर; किन्तु वह रोमांच उतना भय-संचार करनेवाला न था, जितना कि गंगोत्रीसे लौटते वक़्त भैरवघाटीमें भोटगंगाके ऊपरके पुलसे सैकड़ों फ़ीट नीचे सफ़ेद पतली धार तथा हिलते हुए लोहेके पुलको देखकर होता था। शायद जब नन्दप्रयागसे हरिद्वारवाला रास्ताछूटा, तब तक मैं भी बनारस लौटनेकेलिए तैयार हो चुका था। हम जितना ही नीचे उतरते जाते थे, उतनी ही गर्मी बढ़ती जाती थी, और पहाड़ोंपर गाँव भी अधिक दिखलाई पड़ते थे। चलनेकी गति हमारी तेज़ होती गई और अन्तिम दिन——जिस दिन कि रामनगर पहुँचे——हम एक दिनमें चालीस मील चले।

४

काशीको

रामनगरमें, अब हम मैदानमें थे। बरसात अभी-अभी समाप्त हुई थी, किन्तु धरतीपर अब भी उसका असर बाक़ी था। पहाड़से उतर आनेपर भी अभी हम तराईमें थे; यहाँ चरागाहके सुभीतेके कारण गायें ज़्यादा पाली जाती थीं। हम सड़क पकड़े पैदल ही काशीपुरकी तरफ़ चले। ठंडी जगहसे आनेके कारण धूप बहुत सख़्त मालूम होती, और प्यासके मारे तो मुँह हर वक़्त सूखा रहता। गाँवसे दूर किसी समृद्ध आदमीने मुसाफ़िरोंकेलिए एक धर्मशाला बनवा रखी थी। उसके हातेमें अमरूद पके हुए थे। दूसरे भोजनके स्थानपर वह अधपके अमरूद हमें अच्छे लगते थे। धर्मशालामें ठहरे यात्रियोंको मट्ठा पीते देखकर उनके बतलाये अनुसार हम

भी मट्ठा लेने गये, गृहस्थके घर वह घड़ेका घड़ा तैयार था। गायें ज़्यादा थीं, मट्ठा घरभरके पीनेसे ख़तम होनेवाला थोड़े ही था।

रास्तेमें ठहरते या कैसे एक दिन शामको हम काशीपुर पहुँचे। उसी दिन भादोंकी कन्हैयाजीवाली अष्टमी थी। एक भगत बड़ी श्रद्धा दिखलाते हुए अपने घर ले गये। भूख तो लगी थी, किन्तु आधीरातको कृष्णजन्म हो जानेपर पेट भर प्रसाद मिलेहीगा, इस आशापर हम बैठे रहे। भगतजीके यहाँ काफ़ी रोशनी बल रही थी। एक तरुण साधु पिटारीमें कई साँप लिये हुए आया, उसने उनमेंसे किसीको शिरपर, किसीको गलेमें, किसीको हाथमें लपेटकर शंकर बनके दिखलाया। मनोरंजन होते-हवाते आधीरात बीत गई, कन्हैयाजीका जन्म भी हो गया, किन्तु वहाँ एक चम्मच चरणामृत और चुटकी भर पँजीरीके सिवा और कुछ न था। भूखके मारे नींद नहीं आई। सबेरे बासी सूखी रोटियाँ सो भी आधपेट मिलीं। कहीं उसी तरहके 'श्रद्धालु भगत' दूसरे न आ मिलें, इसलिए हमने जितना जल्दी हो सका क़स्बेसे बाहर हो ठाकुरद्वारका रास्ता लिया। हम दोनोंके अतिरिक्त शायद कोई तीसरा भी सहयात्री था। किसी कूएँपर ज़ंजीर या रस्सीके साथ बँधी हुई डोलको देखकर मुझे यह प्रथा बड़ी अच्छी मालूम हुई, यद्यपि वह स्वयंप्याव मुसलमानों हीके लिए था।

ठाकुरद्वारमें कुछ बड़े धनी वैश्य परिवार रहते हैं। उनके बड़े-बड़े पक्के घरोंको सिर्फ़ बाहरसे देखते हम लोग सीधे मन्दिरमें गये। वहाँ ही आगन्तुकोंके उतरनेका इन्तिज़ाम था। रातको तो मैं सो गया, लेकिन यागेश जगे थे, और एक नौजवान साधुके नाचने-गानेकी बड़ी तारीफ़ कर रहे थे, शायद ठाकुरद्वारमें जन्माष्टमी आज थी—सभी पर्व हिन्दुओंके दो दिन पड़ा भी तो करते हैं?

ठाकुरद्वारसे हम मुरादाबाद आये और शायद पैदल ही। वहाँ रामगंगाके किनारे एक वैरागी साधुके मठमें ठहरे। पाठकजीसे भेंट हुई। मैंने बतलाया कि किस तरह हरिद्वारसे हताश होकर हम बनारस लौटे जा रहे हैं, साथ ही बाबा धर्मदासका भी ज़िक्र आया। पाठकजीने बातों-बात यह ज़िक्र दसकमंडलू जमा करके साथ चलनेवाले नौ दूसरे साथियोंके इन्तिज़ारमें वैराग्य सेवन करनेवाले साहुजीसे कह दिया। उनके भाई और माँके षड्यन्त्रमें पड़कर बिना सूचनाके मेरा भाग जाना उनको बुरा लगा था, अब उन्होंने समझा, बाबा धर्मदासको बिना कहे चला आना मेरा अक्षन्तव्य अपराध था। मेरी अनुपस्थितिमें उन्होंने मठके बूढ़े महन्तसे आकर कहा, कि इन दोनों लड़कोंको अपने मठमें न रहने दें। ख़ैर! हम लोग वहाँ बसनेके

लिए नहीं गये थे, इसलिए हम हर वक़्त चलनेको तैयार थे। महन्त कह रहे थे--शहरके बड़े आदमी हैं, उन्हें नाराज़ करना अच्छा नहीं है।

फिर वही सीधी सड़क पकड़ी, जिससे ४ महीने पहिले मैं गुज़रा था। नहीं मालूम होता था, सिर्फ़ चार महीने तबसे गुज़रे हैं, आख़िर घटनायें कालकी माप हैं, और उनकी संख्या बहुत अधिक ज़रूर थी। रामपुरमें गोर्खा पल्टनमें ठहरे। सिपाहियोंने खाने-पीनेका इन्तिज़ाम किया। बरेलीमें स्टेशनके पासकी पक्की धर्मशालामें ठहरे। उसी धर्मशालाके एक भागमें रेलवेके दारोग़ा (सब-इन्स्पेक्टर)का परिवार रहता था। दारोग़ा साहेबके भाई वहाँ बराबर रहते थे। पासमें आसन गिरानेसे परिचय ज़्यादा बढ़ा। वह उन्नाव ज़िलेके पुरवा तहसील और शायद पुरवा क़स्बेके ही रहनेवाले राजपूत थे। उनके घरके लोग पल्टनमें भी नौकर थे। ख़ुद हमारे दोस्त भी काली तथा फाड़कर दोनों तरफ़ सँवारी अपनी दाढ़ी और खड़ी मूँछोंमें पलटनिहा सिपाही ही जैसे मालूम होते थे। याद नहीं, हम लोगोंका भोजन धर्मशाला-की ओरसे आता था, या दारोग़ाजीके यहाँसे।

दो-एक दिन बाद वहाँ एक नेपाली साधुओंका क़ाफ़िला आया। वे लोग हिंगलाज-की भवानी (कराचीसे आगे बलूचिस्तानके रेगिस्तानमें)का दर्शन करके लौटे थे। काफ़िलेका प्रधान पुरुष स्वामी पूर्णानन्दसे हिंगलाजकी भवानीके तेज और उससे भी अधिक ऊँटके ऊपर पथचिह्न-शून्य मरुभूमिपर अटकलसे पथप्रदर्शकके इशारेपर दिनों चलते जानेका वर्णन सुनकर एक बार जीभमें पानी भर आया। क़ाफ़िलेके मुख्य-सर्दार स्वामी पूर्णानन्द नहीं उनकी 'गुरुभाई' एक पचास वर्षकी अवधूतानी थीं। स्वामी पूर्णानन्द मुँह और शिरपर केश नहीं रखते थे, लेकिन अवधूतानीकी जटायें छै-छै फ़ीटकी थीं। उनके गलेमें बड़े-बड़े रुद्राक्ष और हिंगलाजके पतले-पतले सफ़ेद पत्थरों या सीपोंकी कई मालायें थीं। शरीरपर उनके भी पूर्णानन्दकी तरहकी स्वच्छ गेरुआकी ब्रह्मगाँती थी। पूर्णानन्द नेपालकी बहुतसी बातें सुनाते थे, राज-नीतिक नहीं, प्राकृतिक और धार्मिक। नेपाल देखनेकी सूक्ष्म लालसा उसी वक़्त मेरे मनमें प्रविष्ट कर गई, जिसे पूर्ण होनेकेलिए तेरह बरसोंका इन्तिज़ार करना पड़ा। मैं बनारसकी ओर ही जा रहा था, इसलिए उनसे भी पता पूछा। उन्होंने अपना स्थान मणिकर्णिका पर 'दत्तात्रेयकी पादुका' बतलाया।

जिस धर्मशालामें हम ठहरे थे, उसकी बग़लमें एक और धर्मशाला किसी पेंशनर ज़िलाजज (नाम शायद शिवनाथ)की बनवाई हुई थी। उसमें एक विद्वान् सन्यासीकी ख़बर सुनकर मैं एक दिन उनका दर्शन करने गया। वह गेरुआ कपड़ा पहने एक

आसनपर बग़लमें डंडा लिये बैठे थे। बीच-बीचमें वह अपने डंडेको धरतीमें पटकते थे। लोग बतला रहे थे—चित्तको एकाग्र करते हैं, जब चित्त इधर-उधर जाने लगता है, तो डंडा पटकते हैं। वह शायद बातचीत नहीं करते थे, या मुझसे उन्होंने बात नहीं की। उनके पास कुछ छपी पुस्तिकायें रखी थीं, जिनमें उठाकर एक उन्होंने मुझे दे दी। वह बहुत सरल संस्कृतमें थी, जिसे मैं भी समझ लेता था। उसमें अहिंसाका माहात्म्य दर्शाया गया था। साधु नाम खुन्नीलाल शास्त्री मुझे उस वक़्त अर्थहीनसा मालूम हुआ, किन्तु पीछे मालूम हुआ कि हिन्दी भाषाभाषी प्रान्तोंमें बौद्धधाराको पुनः प्रवाहित करनेवालोंमें उनका ख़ास स्थान था।

मैं रोज़ वहाँसे चलनेको कहता, किन्तु दारोग़ाजीके भाईका आग्रह देखकर रुकना पड़ता। उनके आग्रहको यागेशका समर्थन प्राप्त हो जाता, इसलिए पलड़ा उधर भारी रहता। इसी तरह करते एक सप्ताहसे अधिक हो गया। आख़िर एक दिन मैंने उनकी एक न मानी, यागेशको भी डाँट दिया, और हम रेलसे पीली-भीतकेलिए रवाना हुए। उस वक़्त तक मुझे मालूम नहीं था, कि यागेशसे मिलकर वहाँ एक षड्यन्त्र रचा जा रहा है। पहिले कह चुका हूँ, कि यागेशपर वैराग्यका भूत सवार न था, वह इस कष्टमय यात्रामें मेरे स्नेह तथा कुछ देशाटनके लोभसे शामिल हुए थे। इतने दिनों घरसे बाहर रहते उनको अपने घरका और ख़ासकर माँका मोह लगने लगा था। उन्होंने चुपकेसे हमारी सारी बातें दारोग़ाजीके भाईको बतला दी थीं। उन्होंने, शायद पुलीसकी मार्फ़त, बछवल सूचना दे दी थी। वह बछवलसे किसीके तुरन्त आ पहुँचनेके इन्तिज़ारमें हमें रोके हुए थे। इस यात्रामें तीन ऐसे अनचाहे प्रयत्न मुझे लौटा लानेकेलिए हुए। पहिले, भितिहरा होकर जाने-की ख़बर सुनकर पिताजी अयोध्या पहुँचे, और उनको एक मौनीने यह कह ठगकर अपना गृहस्थ शिष्य बना लिया—'हाँ, आपका लड़का यहाँ आया था। मुझसे गुरुमन्त्र लिया। बदरीनारायण गया है, वह ज़रूर लौटकर आयेगा।' हरिद्वारसे आई मेरी चिट्ठीको देखकर फूफाजीकी सम्मतिसे नाना चल पड़े, वह भी बदरीनाथ होकर लौट आये और मेरा पता न पा सके। अब यह तीसरा वार था। वस्तुतः यदि मैं एक दिन और रह गया होता, तो यागेशके पिता श्री सहदेव पांडेने बरैली हीमें हमें पकड़ लिया होता। पीलीभीतमें भी जिस मठमें हम कुछ घंटोंकेलिए ठहरे थे वहाँभी हमारे हटनेके एकाध ही घंटे बाद वह पहुँचे थे, और अन्तमें उन्हें भी ख़ाली हाथ बछवल लौट जाना पड़ा।

पीलीभीतमें जब हम शहरसे गुज़र रहे थे, तो एक भद्र पुरुषने बुलाया। बदरी-

नारायणसे लौटे आ रहे हैं—सुनकर पूड़ी-मिठाई मँगवाकर भोजन करवाया। हम लोगोंने शहरके बाहर एक मठमें कुछ देर जाकर विश्राम किया। अधिक समय उसी देखे हुए रास्तेमें गुज़ारनेकी अपेक्षा जल्दीसे जल्दी बनारस पहुँच पढ़ाई शुरू करनेकी मुझे चिन्ता लगी हुई थी। किन्तु प्रश्न था, रेलके किरायेका। मालूम हुआ राजा ललिताप्रसाद यहाँके एक बहुत धनी पुरुष हैं। दिमाग़में न जाने कहाँसे बात समाई कि राजा साहेबकी प्रशंसामें एक कविता पेश करूँ, शायद भाग्य खुल जाये। मनमानी तुकबन्दी जोड़ी, फिर एक साफ़ काग़ज़पर लिखा, और राजा साहेबके दर्बारमें हाज़िर हुए। क्या कहकर 'कविराज'ने डेवढ़ीदारोंको अपने 'पधारने'की सूचना दी थी, यह याद नहीं। किसी दर्बारमें जानेकी उन्हें ज़रूरत नहीं पड़ी। शायद लिखित कविताको भीतर भेज देना पड़ा था, या राजा साहेबने बाहर निकलकर उसे ले लिया था। उम्मीद करके चले थे, बनारसकेलिए दो रेलके टिकटोंकी, लेकिन 'कविराज'को वहाँ धेली मिली। लौटते वक़्त हमें फिर वही बूढ़े सज्जन दिखलाई पड़े। पूछनेपर हमने कहा—हम बनारस जाना चाहते हैं, यदि आप वहाँ तकका टिकट दिलवा दें, तो अच्छा। उस वक़्त तो उन्होंने इन्कार किया; किन्तु जब हम स्टेशनपर गोलागोकर्णनाथकी गाड़ीका इन्तिज़ार कर रहे थे तो, उनका आदमी आया। 'कहाँ जाओगे' पूछनेपर हमने बतलाया—जाना तो चाहते थे अयोध्या तक, किन्तु टिकटका पैसा नहीं है, इसलिए गोलागोकर्णनाथ जा रहे हैं। शायद गोलागोकर्णनाथका टिकट भी हम कटा चुके थे। उसने टिकट बदलवाकर फ़ैज़ाबाद तकके दो टिकट हमारे लिए ख़रीद दिये।

फ़ैज़ाबादसे अयोध्या जा हमने शायद एक ही दिनमें दर्शन-पर्शन ख़तम कर आगेका रास्ता नापा। रास्तेमें पैकोलीके पौहारीजीके मठमें भंडारा था। हमें भी एक-एक अँगोछा दो या तीन बड़े-बड़े लड्डू बाँधकर मिला। अब हमारा रुख़ था बनारसकी ओर, जौनपुरके रास्ते पैदल।

अब भी हम लोगोंमें लड़कपन था। एक दिन हम रास्तेसे जा रहे थे, तो एक आदमी भी कुछ मीलोंसे उसी रास्ते चला आ रहा था। उसके शरीरमें एक-दो घाव थे, जो अभी हालके मालूम होते थे। हमने उससे कहा—क्यों किसीको मारकर भागे जा रहे हो क्या? उसने जवाब नहीं दिया। दूसरी या तीसरी बार दुहरानेपर वह हमें मारने दौड़ा। अब परिस्थितिकी गम्भीरता मालूम हुई, और बोलते तो वह मारे बिना नहीं छोड़ता। वस्तुतः वह मारपीट करके ही भागा था, शायद पुलीसके डरसे।

खेतासरायके पहिले एक बाग़से हम लोग गुज़र रहे थे, उस समय कुछ औरतें आपसमें कह रही थीं—'हे ! वहाँ पुलपर एक चाईं लेटा पड़ा है।' आगे और क्या कहा, यह तो मुझे स्मरण नहीं रहा, किन्तु चाईंका नाम सुनते एक पुरानी बात याद आई और मन कुछ शंकित हो उठा। रानीकीसरायमें मैं जब पढ़ा करता था, तो प्रयाग माघ-स्नानकेलिए पैदल जानेवाले हज़ारों यात्री—स्त्री और पुरुष दोनों—उसी सड़कसे गुज़रते थे। पुरुषोंके पीठपर और स्त्रियोंके शिरपर आटा-सत्तूकी गठरी होती, हाथमें लोटा-डोरी, कन्धेपर कम्बल या पिछौरी। पैरोंमें जूते बहुत कमके होते। इन्हीं प्रयाग-यात्रियोंके एक गिरोहमें पन्दहाके भी कुछ व्यक्ति जा रहे थे, जिनमेंसे एकने यह कथा कही। वह बात भी जौनपुर ज़िलेके ही किसी स्थानकी थी। रातको सैकड़ों यात्रियोंका एक गिरोह किसी बाग़में ठहरा हुआ था। इतनी बड़ी संख्यामें होनेसे मारकर उनकी चीज़ तो छीनी नहीं जा सकती, और रेलसे पैसा बचानेके ख्यालसे पैदल चलनेवालोंके पास सम्पत् ही क्या रहेगी ? लेकिन साधारण ग़रीब चोरकेलिए उनके सत्तू-आटेकी गठरी, और कपड़े भी बहुत हैं। एक चाईं दरख़्तपर शायद शाम हीसे चढ़कर बैठा था, या मौक़ा देखकर चढ़ गया। रातको जब सब सो गये, तो उसने गठरीको फाँसकर ऊपर उठा लेनेकेलिए कई मुँहका लोहेका काँटा रस्सी-के सहारे नीचे गिराया। संयोगसे काँटेका एक छोर किसी गठरीमें न फँसकर एक बूढ़े आदमीकी कमरमें लिपटी धोतीमें पड़ा। गठरी जानकर चाईंने काँटेको ऊपर उठाया। धरती छोड़ देनेपर बुड्ढेकी नींद खुली। एक-दो और हाथ उठनेपर उसने ज़ोरसे आवाज़ देकर साथियोंसे कहा—'भाइयो ! बहिनो ! कहा-सुना माफ़ करना। प्रयागराजका फल यहीं मिल रहा है। भगवान् डोरी लगा लिये हैं और इसी देहसे उठाये लिये जा रहे हैं।' चाईंको अपनी ग़लती मालूम हुई, वह रस्सी छोड़कर उतर भागा। बूढ़ेका शिर फूटा, कमर टूटी, और उसे फिर संसारमें लौटआना पड़ा। चाईं मेरे लिए एक अत्यल्प परिचित शब्द था, और उसके कानमें पड़नेपर यह कथा याद आनेसे हँसी छूट रही थी। डर तो था नहीं क्योंकि अभी दिन था, बस्तीसे हम दूर न थे। वहाँ पुलपर सचमुच किसी आदमीको लेटे देखा।

जौनपुर ज़िला पार होकर हम बनारस ज़िलेमें प्रविष्ट हुए थे, पिंडराके आसपास कोई जगह थी। यागेश बग़लके गाँवसे मक्काका दाना भुनाकर ले आये। गुड़के साथ हम दोनोंने खाया। खाते वक़्त मुझे याद नहीं रहा, कि निज़ामाबादमें गुड़लावा खानेपर मुझे मलेरियाने पकड़ा था, और तबसे उसकी तरफ़ नज़र करते ही फिर देहमें गर्मी और हृदयमें कपकपी होने लगती है। खानेके बाद क़ै हुई कि नहीं, किन्तु

थोड़ी दूर जानेके बाद मुझे जड़ैयाने आ घेरा। कपड़ा ओढ़कर वहीं सड़ककी बग़लमें पड़ा रहा। जड़ैयाके कम होनेपर बुख़ार बढ़ा, किन्तु हम हिम्मत करके थोड़ी दूरपर बाईं ओर एक कुम्हारके घरमें चले गये। रात भर वहीं पड़े रहे। बनारससे पहिले ही, शायद, यागेशको भी जड़ैया आने लगी, लेकिन, सबेरेके वक़्त, उसके आनेसे पहिले हम कुछ चल लिया करते थे। याद नहीं कितने दिनोंमें बनारस पहुँचे।

बनारस पहुँचनेपर सबसे पहिले एडवर्ड अस्पतालमें हम मलेरियाकी दवा लेने गये। शीशीमें कुइनैन और क्या-क्या मिलाकर एक ज़हरसे भी कड़वी दवा मिली, जिसमेंसे कुछ हमने वहीं पी लिया। उस जूड़ीसे परास्त अवस्थामें गंगा-स्नान क्या किया होगा। हाँ, जैसे-कैसे हम अस्सीके तुलसीघाटपर पहुँचे। किसीसे पाठशाला और पढ़नेके बारेमें पूछ रहे थे, कि एक पतले नाटेसे अधेड़ व्यक्ति——जिनके मुँहपर चेचकका दाग़, शिरमें त्रिपुंड् विभूति, कानोंमें पतले और गलेमें बड़े-बड़े रुद्राक्षोंकी माला पड़ी थी——हाथमें छोटेसे ताँबेके घड़ेमें गंगाजल लटकाये नीचेसे वहाँ आ पहुँचे। उन्होंने भी 'कहाँ' और 'कैसे' पूछा। पढ़नेकी बात सुनकर बोले——आओ हमारे साथ। बनारसको उससे पहिले मैंने नाममात्र देख पाया था, और उसके इस हिस्सेमें तो आया भी नहीं था। जिन गलियों और सड़कोंसे घूमता उस दिन मैं मोतीरामके बग़ीचेमें पहुँचा, उनसे होकर तुलसीघाटपर स्नान करने तथा तैरने जाना पिछले दो वर्षोंमें रोज़का कामसा हो गया, किन्तु उस आद्यपरिचयके दिन उनका जैसा अजीबसा रूप देखा था, वह पीछे लुप्त हो गया।

मोतीरामका बाग़ दुर्गाकुंडसे जानेवाली उसी छोटी सड़कपर है, जिसपर भास्करानन्दकी समाधि और कुरुक्षेत्रका पत्थरके घाटवाला तालाब——जो सदा ही जलशून्य रहा करता है, सिवाय सूर्यग्रहणके, जब कि काशीमें ही कुरुक्षेत्रका पुण्य लूटनेकेलिए पानीका कोई प्रबन्ध कर लिया जाता है। मोतीरामका बाग़ कुरुक्षेत्रके तालाबसे सटे ही पूरब तरफ़, तथा उक्त सड़कसे थोड़ा उत्तर हटकर है। बाग़के चारों तरफ़ लाखौरी पतली ईंटोंकी चहारदीवारी थी, तीन छोटे-छोटे दर्वाज़े थे, जिनमें पूरबका दर्वाज़ा हमारे आजके मेहरबान——चक्रपाणि ब्रह्मचारी——के दख़लमें था, और उसे बन्दकर उन्होंने उसे एक कोठरीके रूपमें परिणत कर दिया था। बाग़ जैसा छोटासा था, वैसे ही उसके घर भी छोटे-छोटे थे। मालूम होता था, ये किसी वामन-द्वीपके आदमियोंके रहनेकेलिए बनाये गये हैं। ख़ैर, बग़ीचे और उसके निवासियोंका वर्णन फिर किसी दूसरे समयकेलिए। चक्रपाणि ब्रह्मचारी हमें अपने स्थानपर ले गये। उस घरमें उनकी दो कोठरियाँ, पूरब ओरका बरांडा——जो उन कोठरियोंके

लिए हॉलसा था और कोठरियोंके बीचका रास्ता, जिसके पूरबी छोरपर बाग़का मूल पूर्वद्वार था--यह सभी एक ही पक्की छतके नीचे थे। चक्रपाणि ब्रह्मचारी निराकार उपासी परमहंस नहीं थे वह साकार-साधक थे। उनके पास एक गाय सदा रहती थी, और उस वक़्त एक अच्छी जातिकी सर्वकृष्णा गौ उनकी सेवाकी अधिकारिणी थी। गायको पानीसे बचानेकेलिए घर चाहिए, खिलानेके लिए भूसा और उसके रखनेका स्थान चाहिए--गोशालाका स्थान तो ब्रह्मचारीजीने मूल कुटीसे दक्खिन टिन गिराकर बना लिया था, और भुसागारका काम उनका पीछेवाला 'हॉल' देता था। कुटीकी पच्छिमी दीवार तथा कोठरियोंके सामने एक और टिनका ओसारा पड़ा था, जिसमें ब्रह्मचारी और उनके सहवासी विद्यार्थियोंके चूल्हे थे।

उनके साथ दो-चार दिन रहनेके बाद हमें मालूम हुआ, कि चक्रपाणिजीको अपने आसपास विद्यार्थियोंको रखनेका एक व्यसनसा है। वह धनी नहीं थे, हाँ, अपने ख़र्चकेलिए उनको कोई कष्ट नहीं था, शहरमें उनके कई दायक थे। उस परिमित आमदनीसे भी यथाशक्ति वह विद्यार्थियोंकी सहायता करते थे। उनको यह भी लोभ नहीं था, कि विद्यार्थी उनकी गायकी सानी-पानी कर देंगे, उनके काममें सहायता कर देंगे। ज़्यादासे ज़्यादा यही स्वार्थ उनका कहा जा सकता था, कि लोग जानें कि ब्रह्मचारी चक्रपाणिके साथ पाँच विद्यार्थी रहते हैं। चक्रपाणि ब्रह्मचारीका जन्म कुरुक्षेत्रके पास किसी गाँवमें गौड़ ब्राह्मणकुलमें हुआ था। देशके नदियों और तालोंका पानी जैसा सिमिट-सिमिटकर समुद्रमें पहुँचता है, वैसे ही भारतके दूर और नज़दीकके सभी प्रान्तोंके कोने-कोनेके गाँवोंसे ब्राह्मणोंके विद्याकाम लड़के बनारस पहुँचते हैं। यही काफ़ी कारण था, बालक चक्रपाणिके भी बनारस पहुँचनेका। बनारसमें वह पढ़नेकेलिए आये थे, किन्तु बुद्धि उनकी तेज़ न थी, इसलिए उसमें वह अधिक प्रगति नहीं कर सके। व्याकरणमें लघुकौमुदीके कुछ पन्ने ही वह पढ़ पाये थे; हाँ, रुद्री, तथा शुक्ल यजुर्वेद-संहिताके कितने ही अध्याय उन्होंने स्वरसहित किसी वैदिकसे पढ़े थे। वैदिकोंकी यज्ञयागकी पुरानी प्रणाली, तथा शंकरकी सगुण पूजा-उपासनामें उनकी बड़ी श्रद्धा थी। शंकराचार्यको भी वह शिवावतार तथा वेदोन्नायकके तौर पूजते थे, न कि वेदान्तके संस्थापकके तौरपर। वेदान्तपर उन्हें मैंने कभी बात करते नहीं पाया, किन्तु दण्डी स्वामियों तथा हमारे बाग़की महान् विभूति ब्रह्मचारी मंगनीरामको वह बड़ी पूज्य दृष्टिसे देखते थे।

उनके समयका बहुत भाग कृष्णाकी सेवामें अर्पित होता था। सहवासी विद्यार्थियोंके कहनेके अनुसार कृष्णा राज्य भोग रही है, और चक्रपाणि ब्रह्मचारीसे पूर्व-

जन्मका ऋण उतरवा रही है। घास-भुस-कराईके अतिरिक्त रोज़ दो-तीन सेर अन्न उसे मिल जाता था। उसके बोतलसे चमकते सारे शरीरमें कहीं हड्डी दिखलाई नहीं पड़ती थी, रोयें मालूम होते थे, भैरवजीके रेशमी काले गंडोंके बिना गुँथे छोर हैं। सबेरे उठते ही कृष्णाकी सानी-पानी तथा दूध दूहनेका काम खतमकर ब्रह्मचारी गंगाजी (तुलसीघाट) स्नान करने चले जाते थे। वहाँसे लौटनेपर आसनपर बैठ, आँखोंमें चश्मा लगा (उस वक़्त उनकी आयु ४५से ऊपर थी) कुछ पाठ और पूजा करते—शायद नर्मदेश्वरकी दो-एक गोलियाँ उनकी पूजामें थीं। फिर फूलझारी लिये उत्तरकी तरफ़के शिवालयमें शिवजीको फूल-बेलपत्र चढ़ाते (बाग़में बेलके काफ़ी वृक्ष थे), और अन्तमें गोस्तोत्रके सस्वर पाठपूर्वक कृष्णाके शिरमें चन्दनकी टीका शिरपर फूल रखे जाते, फिर ब्रह्मचारीजी उसके अगले खुरपर शिर रखकर प्रणाम करते। नर्मदेश्वरकी आरती उतारते वक़्त कृष्णाकी भी आरती उतारना आवश्यक था। कृष्णाकी इतनी सेवा, और इतनी भक्ति करते भी कभी खाने-पीने, खासकर दूध देनेमें हाथ-पैर चलानेपर ब्रह्मचारीको ग़ुस्सा भी चढ़ आता था, और फिर वह, एक-दो डंडे जड़ देनेसे भी बाज़ नहीं आते थे। मैं ख़्याल करता था—देवता भी यदि चौबीस घंटा उनके साथ बस जायें, तो उनको भी इसी तरहके बर्तावका सामना करना पड़ेगा।

मोतीरामके बाग़में आते ही हमारी जड़ैया न जाने कहाँ चली गई। चक्रपाणि ब्रह्मचारीका आतिथ्य पाँच-सात दिनसे ज़्यादा हमने स्वीकार न किया होगा, कि पिताजीके घरसे आ जानेके कारण या यागेशकी प्रेरणासे हम स्वयं घर चले गये, यह निश्चय करके कि लौटकर यहीं पढ़ने आना होगा। लेकिन इस निश्चयमें यागेश साथ नहीं थे, क्योंकि उन्हें वैराग्य और पढ़ना दोनोंका रोग न था। घरवालोंको अब अपनी ग़लती मालूम हो गई थी, इसलिए हमारे संस्कृत पढ़नेमें बाधा डालना नहीं चाहते थे। बनारस पढ़नेसे ३ मीलपर बछवल पढ़ना और सुरक्षित है, यह सोच उन्होंने बछवल जाकर पढ़नेका परामर्श ही नहीं दिया, बल्कि चचा साहेब तीन-चार महीनेके खानेको आटा-दाल लिवाये मुझे एक दिन वहाँ पहुँचा भी आये। फूफा साहेबने जब आटा-दालकी बात सुनी, तो चचाको बहुत फटकारा—"यहाँ हमारे पास खानेकेलिए अन्न है, एक लड़केके और बढ़ जानेसे वह घटेगा नहीं।"

अक्तूबर (१६१० ई०)में एक दिन शुभ मुहूर्तमें मिश्री-मेवाकी भेंटके साथ-साथ सरस्वतीकी पूजा करके फूफाजीसे मैंने लघुकौमुदी शुरू की। उस वक़्त यह स्मरण आनेपर बड़ा अफ़सोस आता था, कि आठ वर्ष पहिले (१६०२ जुलाई) मैंने यहीं सारस्वत शुरू किया था, काश वही क्रम जारी रहता तो आज मैं कहाँ होता?

स्मरणशक्तिने अब भी मुझे जवाब नहीं दिया था, लेकिन मेहनत करनेसे जी चुरानेकी आदत भी उसके साथ थी। १९०२ ई० में किसीने नहीं कहा था, कि याद करना दुर्गुण है, लेकिन बीचके वर्षोंमें कितने ही प्रामाणिक मुखोंसे 'रट्टूपीर'की निन्दा सुनी थी। उसका असर पड़े विना नहीं रह सकता, विशेषकर जब कि वह मेहनतसे बचनेका एक सम्मानपूर्ण रास्ता निकाल देता था। दूसरे लड़के चिल्ला चिल्लाकर पचासों बार रटते हुए अपने पाठको याद करते थे, मैं मनमें कुछ देर आवृति करके उसे याद कर लेता था। इसमें समय कम लगता था, किन्तु मुझे सन्देह रहता था, कि चिल्लाकर रटनेसे स्मृति ज़्यादा ठोस रहती है। लघुकौमुदीके साथ मैंने हितोपदेश भी शुरू कर दिया था।

बछवलमें रहते बाल्यकालके बछवलकी कुछ मधुर स्मृतियाँ याद आती थीं। पहिली बार मैं आया था बरसातमें मक्काकी फ़सलके समय। हम कई छोटे-छोटे बहिन-भाई मचानपर जाते, चिड़ियोंसे मक्काके खेतकी रखवाली करने। शायद लड़कियाँ ज़्यादा थीं, या उनका प्रभाव ज़्यादा था। वह गाना शुरू करतीं 'सबके सिपहियनके लालि-लालि अँखिया, हमारि काहे कुचुरी ए दीदी बहिनी ?" (सबके सिपाहियों-पतियोंकी लाल-लाल आँखें हैं, किन्तु हमारे (की) क्यों छोटी बदसूरतसी ?), मैं और यागेश भी उसे दुहराते। हमें क्या मालूम था, कि यह लड़कियों-स्त्रियोंका गाना है, लड़कों-पुरुषोंको उसे नहीं गाना चाहिए। बछवलसे लौटकर कनैला जानेपर एक दिन अकेले मचानपर बैठे मैंने तान लेना शुरू किया, और उसे विद्या बाबाने सुनकर मज़ाक़ करना शुरू किया—'कौन लड़की गीत गा रही है'; तब मुझे अपनी ग़ल्ती मालूम हुई। फिर एक बार गर्मीके दिनोंमें—जिस साल (१९०७ ई०) नानी मरी थीं—आया था, उस वक़्त फूफाके पास आजसे ज़्यादा विद्यार्थी थे। रामस्वरूप एक हृष्ट-पुष्ट गोरा तरुण विद्यार्थी था, वह 'चन्द्रिका' पढ़ता था। दोपहरके वक़्त गरुड़पुराणकी साँची पन्नेवाली पोथीको सामने रख व्यासकी तरह पलथी मार वह मधुर स्वरसे आधे गीतके रागमें उसका पाठ करता, साथ ही अर्थ करता जाता, वह कितना अच्छा लगता! रामस्वरूप अब मर चुका था, इसलिए और अफ़सोस होता था। पहिलेके बहुतसे विद्यार्थी बछवल छोड़कर या तो घर बैठ गये थे, या बनारस पढ़ने चले गये थे। अतीतकी निशानी राजाराम अब भी वहाँ मौजूद थे, यह एक सन्तोषकी बात थी। पहिली बार जब मैं आया था, तो फूफा और उनके छोटे भाई (यागेशके पिता सहदेव पांडे) एक साथ रहते थे, किन्तु अब दोनों अलग-अलग हो गये थे। आम तौरसे यह अलगाबिलगी कड़वाहट पैदा हो जानेके बाद

होती है, वही बात इन दोनों घरोंमें भी थी; किन्तु, मेरा दोनों घरोंसे एकसा स्नेह-सम्बन्ध था। एक घरमें मेरी अपनी बुआ बरता थीं, जो मुझपर बड़ा स्नेह रखती थीं—जिनके परिमार्जित तथा संस्कृत वार्तालाप, व्यवहारको मैं अपने अभिमानकी बात समझता था; दूसरे घरमें यागेश जैसा मेरा अनन्य बालमित्र। दोनों घरोंमें आपसका चाहे कैसा ही सम्बन्ध हो, किन्तु मैंने उनमें कभी भेद नहीं किया। यागेशके प्रेमके कारण उनकी माँ भी मुझे वैसा ही मानती थीं। उनके बारेमें मालूम हुआ, जब यागेश मेरे साथ मारे-मारे फिर रहे थे, तो उस वक़्त उनके घर हर भिखमंगेको दूनी-तिगुनी भीख मिला करती थी, इसलिए कि उनकी माँको उसी तरह किसीके द्वारपर जाते अपने ज्येष्ठ पुत्रकी सूरत दिखलाई देने लगती थी।

बछवलमें मैंने दो-ढाई महीने निश्चिन्त पढ़ने पाया होगा, कि फिर दिमाग़में खुराफात शुरू हुई। प्रयागमें बड़े धूमधामसे प्रदर्शनी हो रही थी। गवर्नमेंट उसपर खूब पैसे ख़र्च कर रही थी। सलाह हुई प्रदर्शनी देखी जाये। पैसेकी कमी?—पैदल?——शालिग्रामको भूनकर ख़ज़ानेवालेकेलिए बैंगन भुननेमें हिचकिचाहट? यागेश, मैं, फूफाके एक विद्यार्थी विश्वनाथ और शायद चौथा भी कोई। सलाह हुई—सब कनैलासे अमुक दिन सबेरे परमहंस बाबाकी कुटीपर आओ। यागेश वहीं मिले। फिर साथ खड्गपुरमें विश्वनाथको लिवाते पैदल ही चल पड़े। योजनामें कोई बाधा नहीं हुई। कुहरा पड़ रहा था, जब कि कुछ देरकी प्रतीक्षाके बाद यागेश परमहंस बाबाकी कुटीपर मिले। विश्वनाथ घरके खाते-पीते आदमी थे, किन्तु सिर्फ़ यजमानीके भरोसे; उनके घर खेतीका काम नहीं होता था, इसलिए वह शरीरसे बहुत कमजोर थे, यद्यपि आयुमें हम दोनोंसे बड़े। भाला होते हुए हम औंढियार, फिर रेलकी सड़क पकड़े सारनाथ पहुँचे। अब तक सारनाथकी धमाखको दूरसे ही देख 'लोरिक कुदान' मुँहसे निकालकर हम सन्तोष कर चुके थे। अबकी हम धमाख देखने गये। उस वक़्त पीला कपड़ा पहिने कुछ बर्मी भिक्षु भक्तिभावसे प्रणाम कर रहे थे। उनमेंसे एक वृद्धने हमारी ओर देख हाथसे आँखोंकी ओर इशारा करके कहा—'चक्खु', 'चक्खु', मैं भला क्या अर्थ समझता। हाँ, उस बार यह मालूम हुआ, कि 'धमाख' 'लोरिक-कुदान' ही नहीं है, बल्कि दूरदेशके लोगोंका तीर्थस्थान भी है। अभी सारनाथका जादूघर नहीं बना था, खुदाईमें निकली मूर्तियाँ जैनमन्दिरके पीछेवाले चार-दीवारीके घिरावेमें रखी हुई थीं। वहाँ एक काले रंगके आदमी थे, पूछनेपर उन्होंने अपनेको सिंहाली बतलाया। उन्होंने बुद्धकी मूर्तियोंको दिखलाया। एक ठोस मन्दिर-प्रतीकके चारों ओर नंगी मूर्तियोंके बारेमें पूछनेपर उन्होंने हँसकर कहा—

जैनमूर्ति हैं। पुरातत्वकी वस्तुओं और मूर्तिकलासे यह पहिला साक्षात्कार था। मैंने समझा, सिंहलके सभी लोग उन्हींकी तरह हिन्दी जानते होंगे। शायद वह कलकत्तामें रहते थे।

बनारसमें बिना ठहरे ही हम गंगापार चले गये, रामगढ़के रास्ते या राजघाटके, सो याद नहीं। चुनारमें हम सूर्यास्तके बाद पहुँचे, इसलिए क़िलेके भीतर भर्तृहरिकी समाधिके दर्शनकी बड़ी उत्सुकता रखते भी वैसा नहीं कर सके। जाना था प्रयाग, किन्तु हम चुनार-मिर्ज़ापुर-विन्ध्याचलका चक्कर क्यों काट रहे थे? ——मटरगस्ती और क्या? हम प्रयाग पहुँचे। प्रदर्शनी देखी। कुश्ती और हवाई जहाज़पर चढ़ाकर घुमाना——ये दो आकर्षक चीज़ें थीं, किन्तु उनकेलिए हमारे पास पैसे न थे। प्रयागसे हम लोग अलग-अलग हो गये, या साथ लौटे, यह याद नहीं। यह भी नहीं कह सकता, कि बछवलकी पढ़ाई समाप्त कर मैंने किस वक़्त प्रस्थान किया।

मार्च (१९११ ई०)में मैं निश्चित रूपसे बनारसमें था। उसी वक़्त एक और दीर्घ-यात्राका प्रयत्न किया गया। पन्दहामें किसीसे सुन रखा था, कि वह पैदल ही वहाँसे कलकत्ता गया था। मुझे भी उसके तजर्बेसे फ़ायदा उठानेका ख़्याल आया। अस्सीपर जगन्नाथमन्दिरमें पंडित मुखराम पांडे——फूफाजीके पुराने विद्यार्थी——रहते थे, मैं उन्हींके पास पढ़ने जाया करता था, वैसे रहता था चक्रपाणि ब्रह्मचारीके ही पास। जगन्नाथजीके पुजारी मुखराम पंडितके जन्मस्थान वीरपुर और कनैलाके बीचके एक गाँवके रहनेवाले थे। उनके भाई दशरथ लघुकौमुदीके विद्यार्थी तथा मेरे समवयस्क थे। हम दोनोंकी सलाह हुई——अबके पैदल कलकत्ता देखना चाहिए। एक दिन हम दोनों ग़ायब हो गये। राजघाट-मुग़लसराय होते पुरानी बादशाही (शेरशाहवाली) सड़क पकड़े चले। चँदौलीमें शाम हो गई। हम लोग कहाँ ठहरे यह याद नहीं। दिनमें पासके खेतोंके मटर-चनेकी फलियोंसे काम चल गया। कर्मनाशाकी धारको हमने बड़े आश्चर्यसे देखा, क्योंकि सोलह आना नहीं तो दस-बारह आना हमें ज़रूर विश्वास था, उसके पानीके छूनेसे कर्म (पुण्य)के नाश हो जानेका। दुर्गावतीमें हम सबेरे दस बजे पहुँचे थे, दशरथ मुझसे कुछ पीछे आये। भूख-प्यास तो जो थी सो थी ही; हम लोगोंके पैरोंके तलवे कट गये (हम नंगे पैर थे) और दशरथका पैर फूल गया था। बड़े दीन-बदनसे दशरथने कहा——अब लौट चलना चाहिए। हम लौटकर फिर बनारस पहुँच गये।

५

बनारसमें पढ़ाई (१)

मोतीरामका बाग़ प्राचीन नहीं तो मध्यकालीन मुनि-आश्रमसा था। इस आश्रम-की कुटियाँ बाग़को चारों ओरसे घेरनेवाली चहारदीवारीसे सटकर बनी थीं, और एकको छोड़ सभी आकार-प्रकारमें घरोंदे जैसी थीं। ब्रह्मचारीके उत्तर चार ही पाँच हाथके फ़ासिलेपर एक दंडी स्वामीकी कुटी थी, जिनके भतीजे बनमाली मेरे समवयस्क दोस्तोंमें थे। उनसे और उत्तर ब्रह्मचारी जगन्नाथ पंजाबी थे, जिन्हें ज़िन्दगी भर हिन्दी बोलने न आई और बराबर मतलबको मतबल और चाक़ूको काचू कहते रहे। उन्हें भी गाय पालनेका शौक़ था, किन्तु चक्रपाणि ब्रह्मचारी—जिनसे उनकी कभी-कभी कहा-सुनी हो जाती थी—का कहना था, कि वह सब मेरी ईर्ष्यासे करते हैं। जगन्नाथ ब्रह्मचारी क्रोधमें दूर्वासाके द्वितीय अवतार थे। उनके आगेसे चहारदीवारी पच्छिम ओर मुड़ती थी, और आधी दूरसे आगे जाकर पक्का कुँआ और शिवालय मिलता था। इसीके पास सहारनपुरके रहनेवाले एक महात्मा रहते थे, बुढ़ापेने उनकी कमरको टेढ़ी कर दिया था, और वह अनन्त काशीवासकी प्रतीक्षामें थे। उनकी कुटियासे पश्चिम चहारदीवारीके साथ ख़ाली ज़मीनमें जानेकी ज़रूरत नहीं, वहाँसे दक्खिन घूमनेपर हम बग़ीचेके केन्द्रमें पहुँचते थे, जहाँ बड़े-बड़े वृक्षोंकी छायामें ऊँचे पक्के चबूतरेपर टीनकी छत थी। गर्मियोंमें वहाँ बैठनेमें बड़ा आनन्द आता था। वहाँसे पश्चिम चन्द ही क़दमपर उत्तरमुँहकी एक छोटी कुटिया थी, जिसमें एक अत्यन्त वृद्ध सन्यासी रहते थे, जिनके सौ वर्षसे अधिकके होनेमें मुझे कभी सन्देह नहीं हुआ। अक्सर कई-कई दिन तक उनको पाख़ाना नहीं होता था, और उसकेलिए पिचकारी लगानेकी ज़रूरत पड़ती। वह चल फिर नहीं सकते थे। सभी इन्द्रियोंने—मनके साथ—जवाब दे दिया था। इस कुटीसे थोड़ा ही आगे पच्छिमके घरोंकी पाँती शुरू होती थी, और यह थी छत्रोंकी पाँती। पहिला छत्र था ग़ाज़ीपुरके किसी मारवाड़ी सेठका। उसमें कुछ भोजन भी वितरण होता था, किन्तु उससे ज़्यादा इसका नाम अपने अपक्व अन्नके वितरणके कारण था। बनारसके आसपास बहुत दूरतक सरयूपारी ब्राह्मण ही रहते हैं, इसलिए वहाँके पंडितों और विद्यार्थियोंमें उनकी संख्याका अधिक होना स्वाभाविक है। कनौजियोंकी तरह सरयूपारी भी 'आठ कनौजिया नौ चूल्हा'के माननेवाले हैं।

बनारसमें पक्व अन्न देनेवालोंकी अपेक्षा अपक्व (सूखा) अन्न देनेवाले छत्रोंकी संख्या कम है, इसलिए भी इस छत्रका महत्त्व ज़्यादा था। किन्तु इससे भी बढ़कर इसकी ख्याति बनारसमें अपने दानपात्र विद्यार्थियोंकी योग्यताके कारण थी। वहाँ परीक्षाके बाद चुनकर विद्यार्थी स्वीकार किये जाते थे। उन्हें महीनेके ख़र्चकेलिए गेहूँ, दाल, तथा नमक, दियासलाई, ईंधन आदिका दाम दिया जाता था। इस छत्रके बाद पटियालाके एक ब्राह्मण रविदत्त पंडितका छत्र था। इनके पिता अच्छे पंडित थे, पंजाबमें उनके गृहस्थ शिष्योंकी काफ़ी संख्या थी, और उन्हींकी सहायतासे यह रोटी-छत्र चलता था, जिसमें उस तरफ़के कुछ विद्यार्थी भोजन करते थे। उसके दक्खिन दक्खिनवाले दर्वाज़ेके पास सन्यासी-ब्रह्मचारियोंका एक रोटी-छत्र था, जिसमें एक-दो विद्यार्थी भी रहते थे। चहारदीवारीके साथ पूर्वमुख घूमनेपर कुछ क़दमोंपर ऊँची कुर्सीपर एक अच्छी ऊँची पक्की बारादरी थी, जिसके दोनों सिरोंपर दो हवादार कोठरियाँ, तथा सामने काफ़ी चौड़ा पक्का चबूतरा था। आरम्भमें बाग़के साथ ही यह इमारत बनी थी; शायद कूएँके पासवाला शिवालय भी उसी वक़्तका हो, किन्तु बाक़ी कुटियाँ तो ज़रूर पीछे की थीं। बाग़में कुछ बेल-आमके बड़े दरख़्तोंके अतिरिक्त काग़ज़ी नींबूके दरख़्त ही ज़्यादा थे, और सालमें उनसे कुछ आमदनी हो जाती थी।

हाँ, तो जिस बारादरीके पास जाकर हम रुक गये, उसका उस समयकी काशीमें बड़ा महत्त्व था। उसीमें ब्रह्मचारी मंगनीराम रहते थे। पतला गोरा शरीर, छोटी चुटिया, केश-श्वश्रू श्वेत, कमरसे घुटने तक एक गेरुआ अँगोछेका आवरण, शायद देहमें एक श्वेत जनेऊ—यही थी मंगनीराम ब्रह्मचारीकी मूर्ति। इस वेषमें जो कुछ दिखावा हो, बस इतना ही उनमें दिखावा था, नहीं तो उनमें कृत्रिमता छू नहीं गई थी। न उन्हें धर्मोपदेशका मर्ज़, न योग-ध्यान चर्चाका व्यसन, न वेदान्त-उपनिषद्‌की सनक, न पूजा-पाठकी आसक्ति थी। या तो वह उसी चौतरेपर टहला करते, या कोठरीमें बैठे पुस्तक देखते। आम दर्शकोंकी भीड़ वहाँ नहीं लगती थी, किन्तु कभी-कभी कोई-कोई गम्भीर जिज्ञासु वहाँ पहुँच जाते। प्रणाम करनेपर, स्वाभाविक हासकी रेखा मुखपर लाकर वह 'नारायण' कह दिया करते। बहुत ही कम बोलते, किन्तु मौनी नहीं थे। लोग उन्हें बहुत कम दिक़ करते। उनके आसपास कोई साधक या परिचारक नहीं रहते। उनको बवासीरका रोग था। जौकी रोटी, मूँगकी दाल खाते थे, जिसे रोज़ एक पंजाबिन बुढ़िया बनाकर पहुँचा जाती। आषाढ़-पूर्णिमा (गुरुपूर्णिमा)के दिन उनके यहाँ ज़्यादा भीड़ रहती। जिनकी पूजाकेलिए उस दिन ख़ुद शिष्योंकी भीड़ रहा करती, वैसे दिग्गज शिवकुमार शास्त्री जैसे पंडित भी उस दिन

फल-फूल-लिये वहाँ मंगनीराम ब्रह्मचारीकी पूजा तथा परिक्रमा करते आपको मिलते, यदि आप उस समय वहाँ रहते तो। मंगनीराम ब्रह्मचारीके प्रति श्रद्धा जिन व्यक्तियोंके हृदयमें थी, वह साधारण राह चलते आदमी नहीं थे। भास्करानन्द और तैलंग स्वामीके पीछे मरनेवाले वहाँ नहीं पहुँच पाते थे। वह निराकांक्ष थे, प्रदर्शन-शून्य थे। मंगनीराम ब्रह्मचारी विद्वान् थे, वेदान्त और उपनिषद्के खास तौरसे; किन्तु उनकी विद्या 'विवादाय' क्या होती, उसकी ख्याति तो हृदयसे हृदय तक ही पहुँचकर रह जाती थी। उनके विद्याध्ययनके बारेमें कहा जाता था, कि सूखी पत्तियोंकी क्षणिक प्राप्त रोशनीके सहारे उन्होंने पाठ याद किये थे। मैं बराबर ही उधरसे गुज़रता था, और नज़र पड़नेपर प्रणाम करता, उत्तरमें 'नारायण' सुननेको मिलता। पढ़नेवाले विद्यार्थियोंमें मेरी भी ख्याति थी, इसलिए मुझसे तो नहीं, किन्तु चक्रपाणि ब्रह्मचारीसे मेरे बारेमें वह कभी-कभी पूछ लिया करते थे।

मंगनीराम ब्रह्मचारीकी कुटियाके आगे फिर कोने ही पर पूरबवाली चहार-दीवारीके साथ एक कुटिया थी।

यह था मोतीरामका बाग़, जो किसी पंजाबी ब्राह्मण मोतीरामकी सम्पत्ति थी, किन्तु उस वक़्त किसी दूसरेके हाथमें चला गया था।

मोतीरामके बग़ीचेके आश्रमवासियोंका ज़िक्र मैं कर चुका। इनके अतिरिक्त वहाँ कुछ विद्यार्थी भी रहते थे, जिनको दो वर्ष बाद भी पाया जाना मुश्किल था। हमारे गिरोहमें अर्थात् चक्रपाणि ब्रह्मचारीके साथ रहनेवालोंमें सीतापुर ज़िले(?)के वंशीधर थे। बहुत सीधे और हँसमुख, यदि ओठोंको सी भी दिया जाता, तो हँसी फाड़कर निकल आती। कोई समय था, जब व्याकरण आरम्भ करते वक़्त विद्यार्थी सारस्वतसे शुरू करता, पूर्वार्ध समाप्त हो जानेपर सिद्धान्तचंद्रिकासे कुछ गम्भीर क़दम आगेको बढ़ाता। लेकिन इस प्रक्रियामें दोष यह था, कि विद्यार्थीको तीन तरहके सूत्रोंको कंठस्थ करना पड़ता, जो कि 'रटन्त विद्या घोषन्त पानी' के ज़मानेमें निर्दोष भले ही रहा हो, लेकिन अब जब कि 'रटन्त'में यावच्छक्य मितव्यता दिखलाने हीमें बहादुरी समझी जाती थी, प्रादेशिक व्याकरणोंकी जगह सर्वत्र-प्रचलित पाणिनीय व्याकरण परीक्षा और व्यवहार दोनोंकी दृष्टिसे अधिक उपयोगी था। ऐसे समय सारस्वत-चन्द्रिकाके रास्ते कौन जाना चाहेगा? वंशीधर चन्द्रिका समाप्त कर रहे थे। खाने-पीनेका काम तो छत्र-वत्रसे चल जाता था, किन्तु ऊपरसे भी कुछ पैसोंकी ज़रूरत होती, जिसकेलिए अबके उन्होंने भागवतपुराणकी पोथी ख़रीदी थी—बाहर

जायँगे, कहीं कभी कथा लग गई, तो बीस-पचीस नक़द तो मिल ही जावेंगे, इसी भावनासे प्रेरित होकर।

कुछ समय बाद उनके मातुलपुत्र अर्जुन भी आ गये। लम्बा-धड़ंगा शरीर, उम्र तेईस-चौबीस, अक्षरसे भेंट नहीं। लोग कह रहे थे 'बूढ़ा तोता क्या रामराम कहेगा', किन्तु चक्रपाणि ब्रह्मचारीने रख लिया। बेचारेकी स्मरणशक्ति भी बहुत क्षीण थी, इसलिए बहुत प्रगति नहीं कर सके। एक दिन हँसीमें हम दोनों एक दूसरेके हाथ पकड़ रहे थे, उसी वक़्त मेरा दाहिना पैर कुछ बेक़ाबू पड़ गया, अपने और अर्जुनके बलको लिये मैं उसीपर गिर पड़ा। कुछ आवाज़ हुई, और घुटनेसे पैर 'टूट गया'। ब्रह्मचारीको रामनगरका एक मल्लाह मालूम था, जो हड्डी बैठानेमें काफ़ी ख्याति रखता था, चक्रपाणि खास तौरसे गुणग्राही थे। नावपर मुझे वहाँ ले जाया गया। संयोगसे वह घाटपर ही मिला। हाथसे पकड़ उसने झटका दिया, 'तड़'से आवाज़ हुई। कहा—जाओ ठीक हो गया। और सचमुच ही ठीक हो गया, यद्यपि ब्रह्मचारी और दूसरोंके अनुसार मैं वहाँसे अपने पैरों 'दौड़ा' क्या चल-कर भी नहीं आ सका। उस खेलकी निशानी अब भी मेरे दाहिने पैरके घुटनेमें एक चलती-फिरती कौड़ी है, जो कभी बैठते वक़्त सिमटनेवाले चमड़ेके बीचमें आ जाने पर तकलीफ़ देती है।

वनमाली मेरे पहुँचनेसे पहिलेसे वहाँ रहते थे, और मेरे चले आनेके बाद भी कुछ महीनों तक रहे। वह भी लघुकौमुदी पढ़ते थे, किन्तु उसे हम दोनों एक गुरुके यहाँ नहीं पढ़ते थे। हाँ, वेदका स्वर अध्ययन हमने साथ ही एक गुजराती वैदिक ब्रह्मचारीसे आरम्भ किया था, जो कि अस्सी नालेके पार एक बग़ियामें शीतलदासके अखाड़ेके उसपार रहते थे। एक समय हाथ उठा-उठाकर एक स्वरसे "हरिहि ओ-ो-ो-म्-मा। गणा-ा-ना-ां त्वा-ा" पढ़नेमें कम मनोरंजन नहीं होता था, यद्यपि उस समय—हम यजुर्वेदकी पवित्र ऋचाओंका पाठ कर रहे थे, इससे ज़्यादा ज्ञान नहीं रखते थे।

व्याकरण पढ़ने मैं पंडित मुखराम पांडेके पास जाता था, जो पहिले जगन्नाथ-मन्दिर और पीछे 'पुष्कर'के किनारे छोटे गूदर (मठ)के छतकी कोनेवाली अकेली कोठरीमें रहते थे। पंडित मुखरामजी फूफा साहेबके योग्य विद्यार्थियोंमें थे, और उनके सम्बन्धके कारण वह मुझे साधारण विद्यार्थीसे अधिक मानते थे। यद्यपि सरयूपारी ब्राह्मणोंमें दूसरे ब्राह्मणका भी छूआ खाना जाति-नियमके विरुद्ध समझा जाता है, लेकिन मैं उन नियमोंकी पहिले हीसे अवहेलना कर चुका था, अब फ़र्क़ इतना ही

था, कि उन्हें खुल्लमखुल्ला तिरस्कृत कर रहा था। पढ़नेमें कितना ज़ोर लगा रहा हूँ, यह तो मैं ही जानता था, किन्तु दूसरे सभी लोग मुझे अच्छा विद्यार्थी समझते थे—हितोपदेश आदिके अर्थ लगानेमें मैं भी अपने समकक्ष विद्यार्थियोंसे अपनेको आगे पाता था ज़रूर। खैर, इस सार्वजनिक राय का चक्रपाणि ब्रह्मचारीपर बहुत अच्छा असर हुआ था, और वह मेरी शारीरिक आवश्यकताओंपर बहुत ध्यान रखते थे। रसोई मेरी उन्हींके साथ बनती थी। उनकी कृष्णाका दूध वैसे भी गाढ़ा होता था, ऊपरसे औटाये दूधमें आधा छटाँक घी डालना वह न भूलते थे। मुझे वैसा दूध बिलकुल पसन्द न था, किन्तु करता क्या स्नेहका बलात्कार सहना पड़ता। मोतीरामके बग़ीचेके निवासियोंको महीनेमें दस दिन तो कमसे कम निमन्त्रणमें जाना ही पड़ता था, और मेरा तो आधा-आधा था, मैं वेदपाठी जो था, पंक्तिमें परोसते वक़्त वेदपाठका ब्राह्मणोंमें बड़ा महत्त्व समझा जाता था। निमन्त्रणका मतलब साधारण दाल-रोटीका भोजन नहीं पक्वान्न—पूरी, खीर, हलवा यह तो मामूली भोजमें होता, नहीं तो-पूआ, लड्डू, जलेबी आदि कई तरहकी मिठाइयाँ, दही, रायता और क्या-क्या तरकारियाँ, और कितनी ही जगह तो दूधको भी केसरसे पीला रंगकर दिया जाता था। कितनी ही बार भोज हमारे बग़ीचे हीमें होता था। यदि कभी सम्मिलित निमन्त्रणमें जाना हो, तो पंडित रविदत्तका भांजा उस दिन ठंढाईके साथ पिसी भाँग जबर्दस्ती पिला जाता, जिसका मतलब था, उस दिन शाम और रात की पढ़ाई भी ख़तम। इसमें शक नहीं, मोतीराम-बग़ीचेके विद्यार्थियों—जिनकी संख्या एक दर्जनसे ज़्यादा न थी—को जितना खाने-रहनेका सुभीता था, उसके अनुसार पढ़ाईमें वह तत्परता नहीं दिखलाते थे।

गर्मीके महीनोंमें आम तौरसे बिहार-युक्तप्रान्तके विद्यार्थी अपने घर चले जाते और फिर आषाढ़-पूर्णिमाके आसपास लौटकर आते। बनारसकी गर्मीसे गाँवकी गर्मी कुछ कम भी रहती है, दूसरे गर्मीके मारे पढ़ाई अच्छी नहीं होती, और परीक्षा दिये हुए विद्यार्थियोंकी पढ़ाई परीक्षाफलकी प्रतीक्षामें रुकी रहती थी। पंडित मुखरामजी भी घर चले गये थे, किन्तु मैं तो बनारसमें सिर्फ़ विद्या पढ़नेकेलिए नहीं रहता था, बल्कि उसमें गृहसे विरक्तिका भी अंश काम कर रहा था। मोतीरामके बाग़के तीन-चार मासके वास, तथा यजुर्वेद और शिवभक्तोंके संसर्गमें आकर मेरे दिलमें एक और ख़ब्त सवार हुआ, वह था वैष्णव-मतविरोधी शिवभक्ति। ३२ मणियोंका बड़ा रुद्राक्षका कंठा गलेमें रहता, और शिरका भस्म त्रिपुंड रातको ही सो जानेपर मिटता। रुद्राष्टाध्यायीके बहुतसे अध्याय तथा महिम्नस्तोत्र पारायण करते ही

करते याद हो गये थे। हर सोमवारको नियमसे विश्वनाथका दर्शन करने जाता। गर्मियोंमें चक्रपाणि ब्रह्मचारी नियमसे मंगलकी शामको दुर्गाजीके सामनेके कूयेंपर पानी पिलाने जाते, लेकिन न जाने नज़दीक होनेसे या क्यों, वहाँ मैं बहुत कम दर्शन करने गया। बनारसमें वैष्णव (रामानुजीय, निम्बार्कीय, आदि) शायद ही कभी दिखलाई पड़ते हैं, किन्तु पिताजीके गलेमें ठगकर अयोध्याके वैरागीके हाथकी बँधी कंठीको देखकर मुझे कुछ ग़ुस्सासा आ गया था, नहीं तो कारण नहीं मालूम होता, क्यों वैष्णवोंके ख़िलाफ़ पुरानी गाली-गलोजकी पुस्तकोंको खोजता फिरा—'चक्रांकित मतनिरूपण' तथा दो-एक और इस तरहके खंडन-मंडनके ग्रंथोंको मैंने बड़े प्रयत्नसे खोज निकाला था। मेरे बार-बारके कहनेसे पिताजीको अपनी कंठीतोड़कर फेंकनी पड़ी।

सब मिलाकर देखनेसे मैं अपने समयका उपयोग कर लेता था, यद्यपि उससे सन्तुष्ट नहीं था। गर्मी थी, बनारसकी। दोपहर तो किसी तरह काट लेता, शामको चार बजते ही गंगाकिनारे दौड़ता। और फिर दो घंटा गंगामें तैरना और खेलना। कभी तैरकर उस पार नहीं गया, किन्तु वह किसी साथीके अभावके कारण, नहीं तो अस्सीपर आधी धारसे आगे तो रोज़ ही मैं पहुँच जाता था।

गर्मियोंमें रघुवंश, बाल्मीकीय रामायण तथा दूसरे सरल काव्यग्रंथ बहुत मन लगाकर पढ़े, इसका परिणाम यह हुआ कि संस्कृत भाषा का पढ़ना अब मुझे अँधेरी कोठरीमें टटोलनासा नहीं था। एक दिन कूयेंपरवाले बाबाने सत्यनारायणकी कथा मुझसे करवाई—इस कथाका वहाँके समाजमें उतना मान न था—मैं साथ-साथ अर्थ कहता गया, लोगोंने बड़ी तारीफ़ की। साथी विद्यार्थी मंडलीको तारीफ़ करना ही था, क्योंकि खेलका खेल और मुफ़्तका प्रसाद।

आषाढ़ आ जानेपर फिर विद्यार्थी लोग जुटने लगे। मुखराम पंडित भी आ गये। उनकी राय हुई, कलकत्ताकी व्याकरण प्रथमा परीक्षा दे देनेकी, मैंने भी स्वीकार किया। उनको अन्नवृत्ति मोतीराम-बग़ीचेके उसी प्रसिद्ध अन्नछत्रसे मिलती थी। छत्रके निरीक्षक एक दिन नये छात्रोंकी भरतीके लिए आये थे। बहुतसे छात्र उम्मीदवार थे, मैं भी गया; अक्षर देखा, कुछ प्रश्न पूछे, इसके बाद मेरा नाम वृत्ति पानेवालोंमें दर्ज कर लिया गया। चक्रपाणि ब्रह्मचारी और निमन्त्रणोंकी कृपासे मुझे उसकी उतनी ज़रूरत भी न थी, किन्तु घर आई लक्ष्मीको कौन लौटावे ?

बनारसमें रहते वक़्त मैंने बरैलीमें मिले स्वामी पूर्णानन्दको भी ढूँढ़ निकाला। दत्तात्रेय-पादुकाका मिलना मुश्किल न था, किन्तु पूर्णानन्दजी उस वक़्त वहाँ न थे। उनके

गुरुको देखा। बड़ी-बड़ी जटायें, नंगे मादरज़ाद धुनीके पास बैठे गाँजे-सुल्फ़ेकी चिलम-पर चिलम उड़ाये जा रहे थे। उनके चारों ओर 'जीमहाराजियों'की पलटन बैठी हुई थी। एक दिन कह रहे थे--"आज गया था विश्वनाथका दर्शन करने। पंडेने कहा--बाबा कुछ चढ़ाते नहीं। इन्द्रियमेंसे निकालकर एक चवन्नी गिरा दी। पंडा लालपीली आँखें करने लगा। मैंने कहा--'अबे आँखके अन्धे, यही है विश्वनाथ'। दूसरे पंडेने उसे डाँटा--"चीन्हते नहीं किस महापुरुषसे बात करते हो?"

मंडली बोल उठी--"दयालू! सबको आँख थोड़ेही मिलती है....।"

वर्षा शुरू होनेसे पूर्व ही स्वामी पूर्णानन्दजी आ गये। उनके गुरुके प्रति तो मेरी श्रद्धा नहीं जगी थी, किन्तु कुछ नेपालके जन्म होने तथा कुछ उनकी शान्त प्रकृतिके कारण पूर्णानन्दजीसे मुझसे ज़्यादा रब्त-ज़ब्त रहा; उसमें सहायक हो गया था मेरा मन्त्र-तन्त्रकी ओर नया उत्पन्न हुआ आकर्षण। मुझे लोगोंने बतलाया था, कि नेपालकी तरफ़ अच्छे-अच्छे मन्त्रवेत्ता रहते हैं। मैं पूर्णानन्दजीके पास उसी मन्त्र-तन्त्रकी खोजमें बार-बार जाता। वह भी धीरे-धीरे मेरी श्रद्धाको उस ओर अधिक बढ़ाते ही जाते थे। 'जिन खोजाँ तिन पाइयाँ'के अनुसार क्रमशः लिखित, मुद्रित तन्त्रों और पटलोंकी काफ़ी संख्या मुझे मिली। ख़ैर, और जो हुआ सो तो कहने ही जा रहा हूँ, इन तन्त्रोंमें मनके एकान्त-रत होनेसे संस्कृत भाषाका ज्ञान स्वयं बढ़ता जा रहा था--यह तो नक़द लाभ था। एक पुस्तकसे रसायन--ताँबेका सोना बनाना--की अच्छी विधि देखकर मैंने उसका प्रयोग करना चाहा। हड़ताल, सोना-मक्खी और क्या-क्या चीज़ें बंगाली टोलाकी किसी दूकानसे खरीदीं। बनारससे बछवलको अधिक एकान्त और अनुकूल समझा--और वहाँ मेरे अनुमोदक, समर्थक यागेश भी थे, जो हर बातमें 'हाँ, भैया ठीक तो है' कहनेकेलिए तैयार थे। मन-सवा-मन कंडेमें रसायनको फूँका गया, लेकिन ताँबेका सोना कहाँ बननेवाला था। लेकिन 'एक तावकी कसर'पर श्रद्धा टूट थोड़े ही सकती थी।

बनारस लौटनेपर फिर पढ़ाईके साथ-साथ वह ख़ब्त जारी रहा। स्वामी पूर्णानन्दने 'अनंगरंग' नामक एक गोर्खा (नेपाली) भाषाकी हस्तलिखित पुस्तक दी, थी तो कामशास्त्रकी पुस्तक (लोदी शासनकालमें संस्कृत भाषामें लिखे ग्रंथका अनु-वाद) किन्तु उसमें जड़ी-बूटियाँ भी कितनी ही दी हुई थीं। मैंने उतारते वक़्त गोर्खाभाषामें न लिख, हिन्दीमें लिख डाला, यह मेरा अनुवादका पहिला प्रयत्न था। उस पुस्तकमें उल्लिखित सुगन्धित तेलको मैंने तिलके तेलमें अपेक्षित सामग्री डाल बोतलमें बन्दकर धूपमें कई दिनों तक रखकर बनाया, मगर कुछ भी सफलता न हुई,

यह तो नहीं कह सकता; किन्तु, इतना ज़रूर था, कि उससे अधिक अच्छा तैल आधे ही दाममें बाज़ारसे मिल सकता था।

मन्त्र-तन्त्रके फ़िराक़में हैं, यही नहीं बल्कि ख़ुद उसके विशेषज्ञ हैं, इस तरहकी मेरी ख्याति धीरे-धीरे हमारी परिमित विद्यार्थी-मंडलीमें बढ़ी। एक बड़े ज्योतिषीके यहाँ उनका स्वदेशी विद्यार्थी रहता था, उसको मेरी मन्त्रशक्तिको अनुभव करनेका अवसर मिला। बेचारेने दक्षिणाके एक-एक दो-दो पैसे जमा करके भागवतकी पोथी खरीदी थी। अभी दो-तीन दिन भी चौकसे लाये नहीं हुए थे, कि किसीने उसे झटक लिया। बहुत चिन्तातुर मेरे पास आकर गिड़गिड़ाने लगा। मैंने बड़ी गम्भीर मुख-मुद्राके साथ कहा—'घबरानेकी क्या बात है। पुस्तक हज़म हो जायेगी, यह हो नहीं सकता। आप जाइए लोलार्क कुंडपरकी देवीके चबूतरेकी एक ईंट उलट दीजिए, और इस मन्त्रका सवालाख जप कीजिए। लेकिन पहिले पास-पड़ोसके रहनेवालोंको जतला दीजिए, कि आप भयंकर पुरश्चरण करने जा रहे हैं। देवीकी ईंटको उलटना और इस अमोघ मन्त्रका जाप ठट्ठा नहीं है। यदि नौसिखिये चोरको अक़ल होगी तो सँभल जायेगा। हाँ, आप अपनी कोठरीमें ताला बिना लगाये, कभी-कभी बाहर-भीतर चले जाइयेगा।'

विद्यार्थीने मेरे कहे अनुसार किया। शामको बड़े प्रसन्न वदन दौड़ा हुआ मेरे पास आया, और टोकरेके टोकरे धन्यवाद देने लगा—"आपकी कृपासे, बस आपकी कृपासे, नहीं तो पुस्तक मिलनेवाली न थी? मैं कोठरीमें बिना ताला लगाये बाहर गया था, शामको लौटकर देखा पुस्तक किवाड़के भीतर रखी पड़ी है। मैं जाप भी शुरू नहीं कर पाया था। ईंट उलटनेने ही ग़ज़ब ढा दिया। अब नाम लेनेसे क्या मतलब? जिसने पुस्तक हजम करनी चाही थी, उसका भी पता लग गया। बच्चूको दो ही दस्त तो आये, और फिर मेरी पोथीको कौन घरमें रखता। मैं आपका सदा कृतज्ञ रहूँगा। मन्त्रबल इसे कहते हैं! ...."

उक्त विद्यार्थीका पढ़ने-लिखनेसे बहुत कम ही सरोकार रहता था। छत्रों और निमन्त्रणोंसे भोजन करना, और फिर इधर-उधर मुसाहिबी करना तथा गप्पें मारना। ऐसे आदमी द्वारा मेरा नाम दूर तक—उच्च-मध्यम हल्क़ेमें नहीं निम्नमें ही सही—फैलनेकी सम्भावन्ना थी, जिससे मैं सबसे डरता था। मैंने उसे बहुत समझाया और कुछ धमकाया भी, तब वह अपनी ज़बानपर कुछ संयम कर सका। एक दिन वह बड़ी नम्रतासे मुझसे कह रहा था—"मैं आपके मन्त्रकी बात किसीसे नहीं कहता। ....हमारे ज्योतिषीजी—जानते ही हैं, वह मेरे ऊपर कितनी कृपा रखते हैं।

....उनकी बहिन बेचारी निस्सन्तान हैं। बहुतसे अनुष्ठान हुए, दवा-दारू भी की गई, किन्तु उनका बन्ध्यात्व गया नहीं। पति-पत्नी सिर्फ़ दो व्यक्ति हैं। उनकी बड़ी लालसा है, कि आप कुछ उनकेलिए अनुष्ठान बतलावें।"

"तो आपने उनके पास तक बात पहुँचा ही दी ?"

"आप नाराज़ मत हों, मैंने अपने ओठोंको सी दिया है; किसीसे ज़िक्र तक नहीं करता, किन्तु ज्योतिषीजीके परिवारका और मेरा सम्बन्ध आप जानते हैं। और फिर आपके समझानेसे पहिले जो बात मुँहसे निकल चुकी थी, उसे कैसे वापस करता ?"

मेरे दोस्तका तक़ाज़ा बढ़ता ही गया—वह आपसे ख़ुद बात करना चाहती हैं, अनुष्ठानमें जो ख़र्च लगे, उसे देनेकेलिए तैयार हैं। मैंने तन्त्रकी पुस्तकोंमें वन्ध्याके पुत्रयोगके कितने ही प्रयोग देखे थे, किन्तु मैं यह व्यवसाय नहीं करना चाहता था। संकोच तो उस वक़्त हज़ार गुना ज़्यादा था, यद्यपि मन्त्र-तन्त्रका प्रयोग कहाँ तक खींचकर ले जा सकता है, इसका भी मुझे पता न था। एक दिन विद्यार्थीने रोनी-सूरत बनाकर कहना शुरू किया—"उस घरमें मेरा विश्वास चला जानेको है। आप एक बार चलकर, चाहे असाध्य ही क्यों न कह आयें, किन्तु चलें ज़रूर। नहीं तो मुझे झूठा बनाया जा रहा है।...."

पोथीमें वन्ध्योपचार पढ़ लेनेसे समस्याका सांमुख्य थोड़े ही किया जा सकता है। मैं गया। उमरने चाहे जो भी ख़िलाफ़ फ़ैसला दिया हो, किन्तु मैंने अपनेको नौसिखिया साबित नहीं किया। मैंने इतना ही कहा,—'उपचार मैंने पढ़े हैं, किन्तु किसी गुरुकी देख-रेखमें मैंने उनका प्रयोग नहीं किया है, और मन्त्र-विद्यामें बिना गुरुके निरीक्षणमें कुछ करना ख़तरनाक है।'

मेरी साफ़गोईका स्त्रीपर अच्छा असर पड़ा, मेरी जान भी बच गई।

स्वामी पूर्णानन्दके पास जब-तब जाना मेरा अब भी हो रहा था। मन्त्र-तन्त्रके ग्रन्थोंके पढ़नेसे उनकी 'गुरुभाई' अवधूतानीपर मुझे सिद्धायोगिनीका सन्देह हो रहा था, किन्तु अवधूतानी कुछ ही दिन रहकर नेपाल चली गई थीं। यजुर्वेद पढ़ते देख, स्वामी पूर्णानन्दने मुझे नेपाली काग़ज़पर लिखी एक अपूर्ण यजुर्वेदसंहिता प्रदान की, जिसे कुछ वर्षों पीछे मैं न सुरक्षित समझ लालचन्द पुस्तकालय (डी० ए० वी० कालेज, लाहौर)को भेंट कर दिया। मन्त्र-तन्त्रपर श्रम और श्रद्धा पराकाष्ठाको पहुँच रही थी, कोई विशाल प्रयोग करना अब मेरे लिए अनिवार्य हो गया था। मैंने पूर्णानन्दजीसे—यह कह दूँ, पूर्णानन्दजीने कभी मुझसे गुरुवत् मनवानेकी आशा न रखी,

और न मैंने वैसा किया—किसी मन्त्र या देवताकी सिद्धिकेलिए प्रयोग बतलानेका आग्रह शुरू किया। क्वारका नवरात्र जितना ही नज़दीक आता गया, उतना ही मेरा आग्रह बढ़ता गया, और उन्हें मेरी प्रार्थना मंजूर करनी पड़ी।

नवरात्रमें पंडित मुखरामजी घर जानेवाले थे, इसलिए मन्त्रसिद्धिकेलिए सबसे उपयुक्त स्थान उनकी कोठरी थी। छोटे गूदरमें वही एक कोठेपरकी कोठरी थी, और थी एक कोने (पूर्व-उत्तर)में। मन्दिर, रसोईघर तथा साधुओंके रहनेके स्थान पच्छिम तरफ़में थे, जो वहाँसे काफ़ी दूर पड़ते थे। हमारी कोठरीके नीचे रहनेवाले विद्यार्थी भी घर चले गये थे। थी वहाँ वह दुहरी कमरवाली दुबली पतली अस्सी बरसकी बुढ़िया, जिसे चिढ़ानेमें विद्यार्थियोंको बहुत मज़ा आता था, और वह भी आपेसे बिना बाहर हुये चुन-चुनकर गालियाँ सुनाती—"गुलामका बेटा, ..." बुढ़िया माई अच्छी बात भी लड़कोंके मुँहसे सुननेको तैयार न होती, सिवाय उस समयके जब कि नारियलपर चिलम रखकर धूमपान सेवन करतीं। तीसों बरस हो गये थे बुढ़ियाको इसी मठमें रहते। बूढ़े महन्त वंशीदासने उसे तरुणी विधवाके तौर पर मुज़फ़्फ़रपुर ज़िलेसे लाकर आश्रय दिया था। वंशीदास अभी भी जीवित थे, किन्तु बुढ़ापेके कारण अब वह आँख-कानके साथ मठकी अध्यक्षताको भी खो चुके थे। बुढ़िया उन्हें भी पचास गालियाँ देती, किन्तु वहाँ सुननेवाला कौन था। खाना-पानी देनेमें अब भी वह वंशीदासकी सहायता करती।

हमारी मन्त्र-साधनावाली कोठरीके ठीक नीचे ही बुढ़िया रहती थी, किन्तु उससे बाधाका डर न था। स्वामी पूर्णानन्दके अतिरिक्त चक्रपाणि ब्रह्मचारी ही दूसरे व्यक्ति थे, जो मेरी मन्त्रसिद्धिकी बात जानते थे। उनके ज़िम्मे एक बार सिर्फ़ रातको कृष्णाका आधसेर गर्म दूध ला देना था, जिसे वह सेर भरसे जलाकर छटाँक घीके योगके साथ लाते थे।

पंडित मुखरामजीकी पुस्तकें यत्नसे एक तरफ़ रख दी गईं, उनकी संख्या ज़्यादा नहीं थी। और सामान नीचे कोठरीमें रख आये। उस स्वच्छ कोठरीमें सिर्फ़ मेरा आसन था। बीचमें, पक्के फ़र्शपर ज़मीनसे उभड़ा गंगाकी चिकनी मिट्टीसे मैंने सुन्दर षट्कोण बनाया, जिसके केन्द्रमें 'ओं' और छओं कोनोंपर 'श्रीं ह्रीं क्लीं फट् स्वा हा' मिट्टीके उभड़े हुए सुन्दर अक्षरोंमें रचकर लिखा। सबेरेके वक़्त अँधेरा रहते ही मैं गंगा-स्नान कर आता, और बग़लकी फुलवाड़ीसे थोड़ा फूल लेकर धूपदीपके साथ 'चक्र'की पूजा करता, और फिर पूर्णानन्दके बतलाये 'श्रीं ह्रीं क्लीं' मन्त्रका रुद्राक्ष-मालापर जप करने लगता। उन्होंने बतलाया था, कि पूरे नियमके साथ ९ लाख

जप करनेपर दुर्गा सिंहवाहिनीका साक्षात् दर्शन होगा, वह 'वरंब्रूहि' कहेगी, फिर धन, बल, बुद्धि, विद्या जो माँगना हो माँग लेना। मैंने पहिले अल्पश्रम साध्य यक्षिणी या किसी दूसरे छोटे-मोटे देवता--हनूमान आदि--की सिद्धि करनी चाही थी, किन्तु पूर्णानन्दकी राय हुई--कुछ श्रम भले ही अधिक करना पड़े, किन्तु आद्याशक्तिकी सिद्धि अर्थ-धर्म-काम-मोक्ष चारों फलोंकी साधक होगी।

दिनभर पच्छिम, दक्खिनके दोनों दर्वाज़े बन्द रहते और मैं अपने जपमें तन्मय रहता। शायद वृद्ध विद्यार्थी पंडित रामकुमारदास पूजाके बारेमें जानते हों, किन्तु उन्होंने कभी बातचीत करनी नहीं चाही। रातके कुछ घंटे सोनेके सिवाय बाक़ी समय जप और पूजामें बीतता। शामके वक़्त ब्रह्मचारी दूध देने आते, उनके सिवाय किसी आदमीका दर्शन नहीं, बात तो उनसे भी एक या दो शब्द तक परिमित थी। पाँच-छै दिन तक तो कोई बात ही नहीं, सातवाँ दिन भी बीता, सिंहवाहिनीके वाहनकी घंटीका भी कहीं पता न था। रातको छतपर नज़र गड़ाये जब लेटता, तो लोहेकी कड़ियोंपर पड़ी पत्थरकी पटियोंके खुरदरापनके कारण उठ आई रेखायें, टिमटिमाते घीके चिराग़की रोशनीमें कुछ ज़्यादा स्पष्ट होने लगतीं। जहाँ-तहाँ उनमें कुछ चेहरोंका आकार निकलता दिखलाई पड़ता, किन्तु रेखाओंका ख़्याल आते ही वे चेहरे विलीन हो जाते। आठवाँ अहोरात्र भी बीत गया, इस दिनके सूर्यास्तसे दिल धड़कने लगा। आज पूजाकेलिए विशेष सामग्री जमा की गई थी, जिसमें और चीज़ोंके अतिरिक्त कितने ही धतूरके पक्के फल भी थे। मैंने भक्तिभावसे गद्‌गद् हो स्तुति-पुरस्सर जगदम्बाकी पूजा की। 'कुपुत्रो जायेत क्वचिदपि कुमाता न भवति' को बड़े भावावेशके साथ कई बार दुहराया। जपके शेष भागको भी समाप्त किया। चित्त भगवतीके गुणोंके चिन्तन, कान उनकी नूपुरध्वनिके श्रवण, और नेत्र दिशाओंको जब-तब निहारनेमें लग्न थे। धीरे-धीरे दिन बीत चला। शाम हुई। अँधेरा होते ब्रह्मचारी दूध दे गये, मैं उनसे एक शब्द भी नहीं बोला। उनके चले जानेके बाद मेरे मनमें प्रतिक्रिया शुरू हुई। मैंने सारी विधियोंका पूर्णरूपेण पालन किया। किसी सामग्रीमें कमी नहीं रही। मन्त्रका उच्चारण बिल्कुल शुद्ध-शुद्ध किया। मन्त्रका प्रभाव तो अमोघ है, फिर क्या कारण है, जो जगदम्बाने दर्शन नहीं दिया? बहुत 'सोचने-विचारने'के बाद मैं इसी निर्णयपर पहुँचा, कि इस असफलतामें मेरा अभागा जीवन ही कारण है और तै किया कि इस जीवनके रखनेसे लाभ नहीं? उसी वक़्त मैंने दो चिट्ठियाँ लिखीं। एकमें लिखा कि मेरी लाशको मणिकर्णिकापर फूँक दिया जावे, दूसरेमें पिताजीको अभागे पुत्रकेलिए शोक न करनेकी प्रार्थना की

गई थी। दोनों चिट्ठियोंको शायद धोतीके खूँटसे या जनेऊमें बाँधा था। मैंने पूजामें चढ़ाये धतूरके फलोंमेंसे दोके सारे बीजोंको मिश्रीके साथ कूटा, और इस अर्ध-अवलेहको पानीके सहारे निगल गया। इसके बाद बिछोनेको कोठरीसे बाहर पच्छिमकी छतपर बिछाकर पड़ रहा।

उसके बादकी अवस्थाके बारेमें सहवासी कह रहे थे—उनमेंसे एक, शायद पं० रामकुमारदास, ऊपर पेशाब करने आये, तो उन्होंने मुझे छतपर लोटते देखा। दूसरोंकी सहायतासे वे मुझे नीचे ले गये। मैं कुछ समय तक बोलता-चालता न था, पीछे विक्षिप्तसी बातें कर रहा था। मुझे याद है, धतूरेके खानेके बाद क़ै आई थी, और पेटके भीतरका बहुतसा अंश निकल गया था। दूसरी बात ख़्याल पड़ती है—ख़ूब दिन निकल आया था; मुझे कई आदमी ज़ोरसे पकड़कर रक्खे हुए थे, मैं उनसे आदमीके तौरपर पेश आनेकेलिए विनती कर रहा था।

उसी दिन अचानक यागेश आ गये। उस अवस्थामें भी यागेशको देखकर मैं ठंडी बातें करने लगा। मैंने कहा, मुझे तालाबपर ले चलो, मैं ख़ूब मुँह तथा शिर धोना चाहता हूँ। यागेश मुझे पक्की सीढ़ियोंसे उतारते पुष्करपर ले गये। मैं उसमें कूद पड़ा। देखनेवाले घबराये, यागेश वैसे ही कपड़ा पहने कूद पड़े, और उन्होंने जाकर मुझे पकड़ा। मैं वस्तुतः गर्मीसे व्याकुल था, इसीलिए कूदा था। बाहर निकाला गया।

दूसरे दिन शाम तक मैं होशमें आ गया या तीसरे दिन, इसका मुझे कुछ पता नहीं। वहाँसे मुझे मोतीरामके बग़ीचेमें लाया गया। अब मैं बहुत कुछ प्रकृतिस्थ था। कुछ उकताया हुआसा था, किन्तु अक़लकी बातें करता था। साथियोंको कहा—मैंने बहुत सारा धतूरा खा डाला है। पेटमें ज्वाला फूँके हुए है। जले तम्बाकू कोयला पीसकर पिलाओ, जिसमें पेट साफ़ हो जावे। शायद लोगोंने दिया भी, किन्तु पेटमें अब तक कोई चीज़ रक्खी हुई थोड़े ही थी। इस सारी हालतमें न कोई डाक्टर बुलाया गया न वैद्य, भूतप्रेत झाड़नेवाला आया हो तो उसकी ख़बर नहीं।

रातको बाग़के बीचवाले चबूतरेसे चाँदनी रातमें नींबुओंकी ओर देखता। उसकी डालियाँ धीरे-धीरे बढ़ने लगतीं, और अन्तमें हथियारबन्द हज़ार पैदल तथा घुड़सवार पल्टनोंकी पंक्तिमें परिणत हो जातीं। वह मार्च करते मेरी तरफ़ आतीं, जब पाँच-सात क़दम रह जाता और मैं हटनेके तरद्दुदमें पड़ जाता, तो वह फिर पीछे हटकर छोटी-छोटी पत्तियाँ बन जातीं।

इस प्रकार प्राणोंकी बाज़ी लगाकर मैंने मंत्र-साधना की।

६

बनारसमें पढ़ाई (२)

और तरहसे अच्छा हो जानेपर भी पुस्तकोंके अक्षर मुझे पुती हुई हल्की स्याही जैसे मालूम होते थे। यागेशके साथ मैं घर चला गया। हफ़्तों बाद भी आँखोंकी रोशनीकी वही हालत रही। इसी बीच कलकत्ताका परीक्षा-पत्र भरनेका समय भी बीत गया। अक्षर जब फिर पढ़ने लगा, तो मैं फिर बनारस (अक्तूबरमें) चला आया।

अब मुझमें कुछ परिवर्तन था। यह तो नहीं कह सकता, कि मन्त्र-तन्त्र, देवी-देवतापर मेरा विश्वास उठ गया। उसकी सम्भावना कहाँ थी, जब कि मेरे आसपासके विद्वान्-मूर्ख सब उस विश्वासको बढ़ानेमें सहायक थे। हाँ, अब फिर वैसे तजर्बोंकेलिए मैं तैयार न था। धार्मिक वायुमंडलमें उड़नेके साथ ठोस पृथिवीपर भी पैर रखना चाहिए, इधर भी मेरा ख़्याल गया। साधुओं और त्यागियोंके समाजमें भी अंग्रेज़ी जाननेवालेकी क़दर होते देख, मैंने तै किया, कुछ समय उसकेलिए देनेको। आनन्द-बाग़में एक तरुण ब्रह्मचारी रहते थे, जिनके बारेमें हमारे चक्रपाणि ब्रह्मचारीका कहना था, वह सब पास कर गये हैं, 'विलायत तक की विद्या'। मैं एक दिन गया, तो देखा भास्करानन्दकी समाधिसे पूरबवाले मकानमें सीढ़ियोंके सिरेपर लिखा था, 'कृपया आनेका कष्ट न उठाइए।' मैं वहींसे लौट आया। लेकिन ब्रह्मचारी चक्रपाणि किसी तरह उनके पास पहुँच गये। इतना ही नहीं उन्होंने उनसे वादा ले लिया, कि वे मुझे अंग्रेज़ी पढ़ायेंगे। अपनी जगह बुलाकर पढ़ानेकी जगह उन्होंने शामको टहलनेकेलिए निकलनेपर मेरे वासस्थान——उस वक़्त मैं स्वामी अनन्ताश्रमके लिमडी-छत्रमें रहता था——में आकर पढ़ाना स्वीकार किया। मैं कई महीने उनसे पढ़ता रहा, जिसमें छठीं क्लास तक पढ़े जानेवाले सभी रीडर समाप्त कर डाले।

तन्त्र-मन्त्र और पूजा-पाठके अभावमें समयकी भी काफ़ी बचत थी। उस समयको संस्कृत और अंग्रेज़ीके अतिरिक्त हिन्दी पुस्तकों और समाचार-पत्रोंके पढ़नेमें भी लगाना शुरू किया। अख़बारोंका शौक़ 'विदेशयात्रा'वाले मुक़दमेसे बनारसमें फैली सन्सनीके कारण हुआ था। बाबू श्रीप्रकाश विलायतसे लौटकर आये थे, उनकी अग्रवाल-बिरादरीने उनको जातिच्युत किया था, इसलिए जातिके पंचोंपर मानहानिका मुक़दमा दायर हुआ था। पंचोंकी तरफ़से पं० शिवकुमार शास्त्री जैसे

धुरंधर पंडित समुद्रयात्राके विरुद्ध साक्षी पेश किये जाते थे। मुक़दमेकी कार्रवाई अख़बारोंमें छपती थी। कचौड़ीगलीमें अन्नपूर्णाकी ओरवाले छोरके पास एक अख़बारके पन्ने टँगे रहते थे, जिसे मेरे जैसे बिना पैसा-कौड़ीके अख़बार पढ़नेके शौक़ीन पढ़ा करते थे। बढ़ते-बढ़ते यह शौक चौक जाते वक़्त कारमाइकल लाइब्रेरी तथा रींवाकोठीके एक तरुण विद्यार्थी तक ले जाने लगा। दुर्गाकुंडपर भी पुस्तकों और हिन्दी अख़बारोंका अड्डा निकल आया। वहाँ ही पहिले-पहिल "सरस्वती"का परायण मैंने शुरू क़िया था। उस वक़्त खन्नाके अमेरिका-भ्रमणपर लेख निकल रहे थे। स्वामी सत्यदेव परिव्राजकके एक-दो व्याख्यान (गिने-चुने तरुणोंके सामने गोदौलियाके पास एक कोठरेपर, अपने निवासस्थानपर दिये गये) भी सुननेको मिले।

इसी समय फुसलाकर टापूमें भेज देनेवाले अरकाटियोंसे सावधान रहने तथा टापूके कष्टके सम्वन्धमें छपे उनके हैंडबिल पढ़नेको मिले। इस सम्बन्धके, मालूम होता है, कई लेख पढ़नेको मिले, तभी तो मैं किसी अरकाटीसे भिड़न्त करनेकेलिए डोलता-फिरता था। एक दिन मैं दशाश्वमेधसे सिकरौड़ जानेवाली सड़कपर कहीं जा रहा था। एक आदमीने आकर मुझसे पूछा—"नौकरी करना चाहते हो ?"

"क्या नौकरी ?"

शायद मेरे शिरपर चन्दन था, अथवा विद्यार्थीके वेषसे वह समझ गया, कि मैं ब्राह्मण हूँ। बोला—"बाबूकी रसोई बनानी है ?"

"कितना रुपया मासिक मिलेगा ?" मैंने मनोरंजनकेलिए, किन्तु संजीदगीके साथ पूछा।

"बीस रुपया महीना, किन्तु बनारससे बाहर कुछ दूर जाना पड़ेगा।"

अब मुझे निश्चय होगया, कि वह अरकाटी है। मैंने और इत्मीनानसे कहा—"भाई, तुम्हारी बड़ी नेकी मानूँगा, नौकरीकी तो तलाशमें मैं पाँच दिनसे मारा-मारा फिर रहा हूँ।"

फिर वह नौकरी, और उसके आराम तथा कमाईके सम्वन्धमें बातें करते इंग्लिशिया लाईनमें मुझे वहाँ ले गया, जहाँ मेहतरोंके झोंपड़ेंके सामने आज जौहरीका बँगला है। उस वक़्त ईंटोंकी चहारदीवारीसे घिरा एक बाग़ था, जिसके दक्खिनमें पक्की सड़ककी ओर कुछ पक्के साधारणसे घर थे। भीतर जानेपर मैंने देखा, वहाँ दर्जनों दीहाती बैठे हुए हैं, जिनमें एक मेरी उमरका लड़का भी था। मैंने उससे पूछा—'कहाँ घर है ?' जवाब मिला—'आज़मगढ़ ज़िलामें देवकली।' देवकली ! मेरे

गाँवसे बहुत नज़दीक है। फिर पूछा—'यहाँ कैसे बैठे हो ?' 'नौकरीकेलिए। बाबू अच्छी नौकरी दिलवा रहे हैं।'

मैं नौसिखिया था, अपनेको रोक न सका, और उत्तेजित हो मैंने लड़केसे कहना शुरू किया—

"बाबू अच्छी नौकरी दिलवा रहे हैं ! वह तुम्हें दस रुपयेपर बेंच रहे हैं, बेंच। हाँ, मिरिच, डमरा टापू समुन्दर पार भिजवा रहे हैं, जहाँ न धरम. . . .।"

मेरा स्वर कुछ ऊँचा था, साथ ही लड़का भयभीत होकर जिस तरह मेरे पास आकर मेरी बातें सुनने लगा, और आसपासके दो-एक और आदमी आने लगे, उसे देख मेरे अरकाटीका ध्यान मेरी ओर हुआ; और मेरे मुँहसे निकलती बातोंको सुनते ही आगबगूला हो मेरी ओर लपका। मैं चार छलाँगमें बाग़के बाहर हो गया। सौभाग्यसे दर्वाज़ा उस वक्त खुला था। उसने ताबड़तोड़ कई ढेले चलाये, किन्तु मैं बेतहाशा भागता वहाँसे बँच निकला। अरकाटी, अधिकतर शहरके गुंडोंमेंसे होते थे, इसलिए मारपीट करना उनके बायें हाथका खेल था। यदि मैं पकड़ा गया होता, तो खूब मरम्मत हुई होती।

खतरेके क्षेत्रसे बाहर आ जानेपर मुझे अब फ़िक्र पड़ी, कैसे उस लड़केका उद्धार किया जावे। उस वक़्त राजनीतिकी हवा तक भी मुझसे छू नहीं गई थी। मैं अरकाटियोंके धोखे और टापूमें होते अत्याचारोंको पढ़कर समझ रहा था, अरकाटीसे उस लड़केके बचानेका मतलब है, क़साईको एक गायसे बचा लेना। मैंने सोचा सेन्ट्रल हिन्दू कालेजमें आज़मगढ़ ज़िलेके रामजीलाल (बछवल) तथा दूधनाथ पांडे पढ़ते हैं; यदि उनसे कहूँ, तो शायद अब भी लड़केको बचाया जा सके। ये तथा दूसरे नौजवानों और शायद आराके देवेन्द्रकुमार जैन (जो कालेजके होस्टलमें रहते थे)के पास भी मैं पहुँचा। अपने आवेगका कुछ अंश उनके भीतर भी प्रविष्ट करानेमें मैं सफल हुआ, और मुझे तथा शायद रामजीलालको बग़ीचेकी ओर भेज उनमेंसे कुछ एनी-बेसेंटसे मदद लेनेकेलिए बहुत आशाके साथ गये। हम तीनों फिर उसी बग़ियाके पास वाली सड़कपर आये। हममेंसे एक सूचना देने तथा दूसरे साथियोंको लाने लौट गया और दो आदमी—मैं और शायद रामजीलाल—पहरा देनेकेलिए रह गये; जिसमें कि लड़केको दूसरी जगह भगाया न जा सके। हम लोग बड़ी सड़कपर टहलते थे। शाम होने लगी, तो दो-तीन अरकाटियोंने छतपरसे ईंटें चलानी शुरू कीं। अब और अधिक वहाँ रहना बेसूद था, क्योंकि हिन्दूकालेजसे भी कोई खोज-ख़बर लेने नहीं आया। जब हम वर्तमान भारतमाताभवन—जो उस वक़्त अस्तित्वमें नहीं आया

था--के आगेवाले घर, जो बहुत दिनों तक काशीविद्यापीठके विद्यालय-विभागका छात्रावास रहा, और उस वक़्त वहाँ कितने ही कालेजके विद्यार्थी रहते थे--के सामनेसे गुज़रे, तो हमारे साथीका ख़्याल हुआ, यहाँसे कुछ विद्यार्थियोंको लेकर हाकीकी कुबड़ीके बलपर मारकर लड़केको छीन लावें, किन्तु उस वक़्तका भारत आजका भारत नहीं था। कालेज जानेपर पता लगा--बेसेंट साहिबाने मदद देनेकी जगह शान्त रहनेका एक संक्षिप्त सर्मन झाड़कर अपना कर्तव्य पालन कर लिया।

मेरे सार्वजनिक कार्यका आरंभ पहिलेपहिल इस वक़्त (नवंबर १९११ ई०) हुआ, यद्यपि उस वक्त उसके पीछे ज्ञान और निरन्तर कार्यशीलताका अभाव था।

दिसम्बरमें बादशाह जार्जकी दिल्लीमें राजगद्दी हुई। बनारसमें भी उस दिन बड़ी तैयारी थी। क्वीन्स कालेजके सामनेसे पल्टन और रामनगर राज्य--जो अभी तक ज़मींदारी थी--के मशक बाजा बजानेवाले सिपाहियोंका जलूस बहुत सजधजके चल रहा था। राजा मुंशी माधवलालकी कोठी खूब सजाई गई थी। शहरमें और जगह भी तैयारी थी। अस्सी मुहल्लेमें उतनी चहल-पहल न थी, इसका कारण शहरसे अलग-थलग रहना भी हो सकता है। वस्तुतः हिन्दूविश्वविद्यालयके बननेके पहिले अस्सी शहरका बाहरी छोर मालूम होता था। हम लोगोंकेलिए यह जलूस और बाजा-गाजा एक बड़ा तमाशा था। उस समय अंग्रेज़ोंके प्रति राजनीतिक वैमनस्यका कोई भाव उस समाजमें नहीं देखा जाता था, जिसमें कि मैं घूमता था। हाँ, अंग्रेज़ विधर्मी, म्लेच्छ हैं, इस भावसे कोई मुक्त नहीं था।

१९१२का नया वर्ष शुरू आया, उसके साथ-साथ मेरे ज्ञान और दृष्टिका विकास भी होता जा रहा था। लघुकौमुदीके बाद मैंने सिद्धान्तकौमुदी शुरू की थी। कई सरल नाटक और काव्य--कुछ किसीके साथ और कुछ खुद समाप्त किये थे। अंग्रेज़ी ब्रह्मचारी पढ़ा रहे थे, और हिन्दीका अपने हीसे स्वाध्याय चल रहा था। इस समयके मेरे पढ़ानेवालोंमें पंडित मुखराम पांडेके अतिरिक्त पंडित शिवमंगल दूबे, पंडित चानन-राम, एक काव्यतीर्थ वैरागी (जो अस्सीपर पंडित अनन्तरामके मकानके पीछे रहते थे), गुजराती ब्रह्मचारी तथा एक-दो और सज्जन थे। मित्रोंमें थे, बनमाली के अतिरिक्त रीवाँकोठीमें रहनेवाले पुरोहितपुत्र गिरिशंकरजी(?)और छोटे-गूदर-वाली सड़कपर रहनेवाले कविजीके ज्येष्ठ पुत्र(?) जो अच्छे विद्वान् होकर जवानी हीमें मर गये। पंडित शिवमंगलजी नगवामें पढ़ते थे, और खुद स्याद्वादविद्यालयमें पढ़ाने जाते थे। एक दिन मैं भी उनके साथ स्याद्वाद विद्यालय गया। पंडितजी पढ़ा रहे थे, मैं टहलता हुआ आँगनमें, और फिर पट खुला देख मन्दिरमें गया। पुजारी

दौड़ा हुआ आया—'आपको मन्दिरमें नहीं आना चाहिए, यह जैनमन्दिर है ?'

"क्यों ?"

"जैनमूर्त्तिके दर्शन करनेसे पाप लगता है।"

"तो तुम पूजा क्यों करते हो ?"

"हम तो पेटकेलिए. . . .।"

यह भी मेरेलिए एक नया अनुभव था। इस अनुभवके बाद सुना—"नवेदद् याविनीं भाषां न गच्छेद् जैनमन्दिरम्।"

गर्मियोंमें अबके भी मैं बनारससे बाहर नहीं गया। उसी वक़्त अस्सीपर एक और नई मूर्त्ति पधारी, जिसने पक्की बावड़ीके दक्खिनवाले घरमें डेरा डाला। सारी विद्यार्थिमंडलीमें—और पंडित-मंडलीमें भी समझिए—तहलका मच गया, बड़ा अगाध पंडित, भारी कवि, सूक्ष्मतार्किक, महान् नास्तिक रामावतार शर्मा आया है। वह वेदको नहीं मानता, वह भगवान्को नहीं मानता, वह पुण्यपापको नहीं मानता। सैकड़ों दूसरे व्यक्तियोंकी भाँति भी मुझे वह अजूबासा आदमी सुन पड़ा। पहिली बार मुझे उनके दर्शन हुए, जगन्नाथ-मन्दिरके बाहरवाले फाटकके सामने किन्तु सड़कके दूसरे किनारेपर। एक धोती पहिने हुए थे, एक धोती और शायद अँगोछा भी हाथमें था। एक कन्धेपर दो-तीन वर्षकी एक लड़की बैठी थी, जिसे सँभालनेके-लिए दूसरा हाथ उठा हुआ था। पाँच-सात आदमी—जिनमें तरुण विद्यार्थी ही अधिक थे—घेरे हुए थे। व्याकरण या न्यायपर शास्त्रार्थ नहीं हो रहा था, बल्कि बात हो रही थी किसी पौराणिक गप या ऋषिके असम्भव चमत्कारपर। पंडितजी स्नानकेलिए गंगाके रास्तेमें थे। एक दिन मैं उनके बैठकेमें पहुँचा—बैठका भी दो दर्वाज़ोंकी एक सामान्य कोठरी थी, और वह फ़र्श ही पर बैठे हुए थे। वहाँ, हमारे वह काव्य-तीर्थ वैरागी तरुण भी थे। पंडित रामावतारजीका दर्बार सबकेलिए उन्मुक्त था इसलिए हम लोग निस्संकोच पहुँच जाते थे। शायद फेरीवालेसे कुछ क़लमी आम खरीदकर अभी-अभी वह घरमें भेज रहे थे—हाँ, सुना कि पंडितजीकी दो स्त्रियाँ हैं। वैरागी तरुणसे मज़ाक़ करते हुए कह रहे थे—"भाई! सात-सात दिनके उपवासके बाद भी हमें तो इन्द्रियोंपर संयम रखना मुश्किल मालूम होता है, और तुम लोगोंका आजन्म ब्रह्मचर्य! असम्भव।"

आगे स्वामी मुद्गरानन्दकी बात शुरू हो गई। वह छींक देते थे, तो दनादन हाथी निकल आते थे। पुराणकी गप्पोंका मज़ाक़ करते हुए शर्माजी इन कथाओंको कहते थे। उनकी बातोंको तीन-चार बारसे अधिक सुननेका मुझे मौक़ा नहीं मिला,

और उनका मुझपर सिवाय क्षणिक मनोरंजनके कोई स्थायी प्रभाव हुआ, यह मुझे ख्याल नहीं। शायद मैं अभी उसकेलिए आरम्भिक तैयारीसे वंचित था, अथवा उनकी बातें मुझे विशृंखलित तौरसे जबतब थोड़ी देरकेलिए सुननेको मिलीं।

मई या जून पहुँचते-पहुँचते मेरा भी स्कूलमें नाम लिखाना तै हो गया। मेरे रीवाँ-वाले साथी हाल हीमें खुले दयानन्द-स्कूलकी नवीं क्लासमें नाम लिखा चुके थे, मुझे भी उनकी सम्मति हुई, उसी स्कूलमें प्रविष्ट होनेकी। संस्कृत पढ़नेकेलिए तो फ़ीसकी जरूरत नहीं थी, वहाँ तो बल्कि छात्रवृत्ति भी मिल जाया करती थी, किन्तु यहाँ प्रश्न आया फ़ीसका, किताबोंके दामका। मैं घरके भरोसे नाम लिखाने नहीं जा रहा था, और न कोई दूसरी आमदनीका स्थायी रास्ता था। किसीने कहा, स्कूलके मैनेजर पंडित केशवदेव शास्त्रीके नाम कोई सिफ़ारिशी चिट्ठी ले जाओ, तो शायद फ़ीस माफ़ हो जावे। यह भी पता लगा, कि स्याद्वादविद्यालयके मैनेजर नन्दकिशोरजी पंडित केशवदेवके दोस्त हैं। नन्दकिशोरजीसे मेरी भी जबतबकी देखा-देखी थी, उन्होंने चिट्ठी लिखकर दे दी। पंडित केशवदेव शास्त्रीने आधी फ़ीस माफ़ करनेके-लिए हेडमास्टरको लिखा। इस प्रकार दयानन्दस्कूलमें परीक्षा लेकर सातवें दर्जेमें मेरा नाम लिखा गया। उस वक़्त स्कूल किरायेके मकानमें गोदौलिया गिरिजासे सिकरौड़ जानेवाली सड़कपर थोड़ा गलीमें था। पंडित केलकरजी उस वक़्त हेडमास्टर थे, और अभी वह हिन्दूकालेजमें एम० ए०में पढ़ रहे थे। मेरे अध्यापकोंमें एक बंगाली थे, जिन्हें दाढ़ीकी समानतासे हम 'किंग जार्ज' कहा करते थे, और एक सीधे-साधे बूढ़े पंडितजी संस्कृतके अध्यापक थे। दर्जेमें कुल छै या सात लड़के थे, जिनमें एक चन्द्रावतीके पासके राजपूत उम्रमें हम सबसे बड़े थे। संस्कृतमें कुछ पूछना ही नहीं था, मैं कालेजकी पढ़ाईके बराबर पढ़ चुका था। गणितमें बीजगणित नई चीज़ थी, किन्तु उसमें भी मेरा लोहा सहपाठी तुरन्त मान गये। अंग्रेज़ी—खासकर उसका व्याकरण मेरा कमज़ोर था, और एक दिन परीक्षा लेनेके बाद मास्टरने इसकेलिए बहुत ताकीद भी की। हमारे दर्जेमें एक मोटासा बंगाली लड़का था, जिसकी तबि-यत पढ़नेमें बिल्कुल नहीं लगती थी, और वह बराबर गप्पोंमें लगा रहता—'कलकत्ता गया, तो मुग़लसरायमें किल्नरके यहाँ यह खाना खाया, वह बोतल उड़ाई।' एक और साँवले मुंशीजी थे, जिनके सुन्दर अक्षरोंको देखकर मुझे रश्क आता था। धर्मशिक्षाका घंटा मुक़र्रर था, और वह रोज़ नियमित रूपसे हुआ करती थी, लेकिन शायद ही एकाध दिन भूल-भटककर मैं उधर गया हूँगा। मुझे उनकी बातें बच्चोंकी बकवाससी मालूम होती थीं।

पहिले गिरिजाशंकरके साथ मैं नित अस्सीसे वहाँ पढ़ने जाता, फिर दूर समझकर ख्याल हुआ कहीं नजदीक ही रहनेका। इधर यागेश एकाध बार प्रयागसे आये, तो उन्होंने भी तै किया, आकर पढ़नेका। गोदौलिया गिरिजासे थोड़ा पूरब, गलीमें एक सन्यासीका मठ था। सन्यासी बाबा, कनैलासे दो मील पूरबवाले गाँव दौलताबादके ब्राह्मणोंके गुरु थे। उनसे कहनेपर बड़ी खुशीसे उन्होंने हमारेलिए एक अच्छी कोठरी रहनेको दे दी, जिसमें एक आलमारी भी थी। हमने अपनी पुस्तकें, कपड़े-लत्ते खूब सजाकर रक्खे। यागेशको वेस्ट-एंड-वाच—शायद बहुत भारी मालूम हो रही थी—इसलिए वह भी उसीमें रखी गई। खानेकेलिए एकाध महीनेका पैसा तो हम लोगोंके पास ज़रूर रहा होगा, तब तो हम वहाँ नये घरमें बसने जा रहे थे। एक ही दिन उस घरमें रहने पाये, दूसरे दिन देखा तो घड़ी ग़ायब। कौन ले गया—बिना देखे यह कहना तो मुश्किल था, किन्तु लेनेवाला घरका ही कोई आदमी रहा होगा, इसमें तो सन्देह नहीं। पूछ-ताछसे हाथसे निकली चीज़ कैसे लौट आ सकती है? यागेश का मन फीका, मेरा भी उदास। यागेश फिर प्रयाग चले गये, मैं फिर मोतीरामके बाग़से स्कूलका रास्ता रोज़ नापने लगा।

पंडित चन्द्रभूषणजी सेंट्रल हिन्दू कालेजके संस्कृत-विभाग (रणवीर पाठशाला)के प्रिंस्पल और बनारसके प्रधान वैयाकरणोंमें थे। मेरे अध्यापक पंडित मुखरामजी उनके विद्यार्थी थे। उस वक़्त भी उनका शब्देन्दु (?) शेखरका कुछ पाठ चल रहा था। एक बार उनके साथ मैं भी पंडित चन्द्रभूषणजीके पास चला गया। पुराने पंडितोंकी सादगीका क्या कहना? उनकेलिए विद्यार्थी उनके घरका एक व्यक्ति होता था। पंडितजी चारपाईपर बैठे बात कर रहे थे। ख्याल आया—गायके सामने भुस नहीं है। बोल उठे—'मुखराम! गायके सामने भुस नहीं मालूम होता।' 'डाल आता हूँ गुरूजी!' कहकर पंडित मुखरामजी उठना चाहते थे। मैं बोल उठा—'आप बैठें, मैं जा रहा हूँ।' मैं उठ खड़ा हुआ। भुसागारमें उस सूर्यास्तके समय कुछ और अँधेरा था। पंडितजीने अपनी छोटी लड़कीको आवाज़ दी—'तुषारे! ओ तुषारे! अरे बोलती क्यों नहीं? ....लालटेन दिखला दे, गायको भुस डालना है।' भुस डालकर मैं गया। उसके पहिले मेरे बारेमें गुरु-शिष्यमें क्या बातचीत हुई थी, सो तो मैंने नहीं सुन पाया। अब कह रहे थे—

"....लड़का होनहार मालूम होता है। वृत्ति कहींसे मिलती है या नहीं?"

"नहीं, गुरुजी! इस वक़्त तो नहीं मिलती।"

"भला, वृत्ति बिना पढ़ने-लिखनेवाला विद्यार्थी क्या पढ़ेगा? ....अबके

भरतीके वक़्त ले आओ। वृत्तिका प्रबन्ध करना होगा।"

इन्हीं दिनों मुझे एक सिन्धी नौजवान मिला। उसके बदनपरका कपड़ा फट गया था। राह चलते मुझसे बातचीत हो गई। उसने बतलाया—घर छोड़कर भाग आया हूँ। मैंने उसे अपना कुर्ता दे दिया। मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई, जब मैंने दो दिन बाद देखा, उसने आठ आने किरायेपर मकान ले पकौड़ियोंकी दूकान कर ली है, और आर्थिक तौरसे स्वतन्त्र है। वह मेरे पहिले व्यवहारका बहुत कृतज्ञ था। उसने आप बीती कहते हुए बतलाया, कि जैसे उसका पिता एक धनी सेठ है। उसने पिताके रुपयोंको जवानीकी शौक़ोंमें बर्बाद किया, और भागकर यहाँ आया है। उसका अमीरी जीवनसे पकौड़ी बेचने तक उतर आना ज़रूर मुझे साहसका काम मालूम हुआ।

छोटे गूदरमें उस वक़्त कई सेवकोंके साथ कहींके एक बड़े महन्त ठहरे हुए थे। जहाँ कि महन्तजी ठहरे थे मेरा उधर जाना बहुत कम हुआ करता था। पंडित मुख-रामजीकी कोठरी अलग-थलग थी, और मेरा मतलब उनके ही पास तक था। एक दिन रातके सात बजे पंडित रामकुमारदासके शिष्य मुझे बुलाने आये—'चलिए आपको गुरुजी बुलाते हैं।' गया, देखा एक ठिगने, गोरे, अधेड़ भद्र पुरुष, सफ़ेद विनीतवेष धारण किये, एक चौकीपर बैठे हुए हैं, उनके आसपास दो-चार साधु खड़े या बैठे हैं। पंडित रामकुमारजीने एक काग़ज़ मेरी तरफ़ बढ़ाते हुए कहा—'यह काग़ज़ पढ़ तो दीजिए।' मैंने काग़ज़को हाथमें लेकर देखा, वह किसी अदालती फ़ैसलेकी बाक़ायदा नक़ल थी। मेरा मन पहिले तो घबराया—'अभी तीन दिनसे मैंने अंग्रेज़ी शुरू की है, भला अदालतका फ़ैसला मैं कैसे पढ़ सकूँगा।' लेकिन मैंने अपनी घबराहटको बाहर प्रकट होने नहीं दिया। काग़ज़को खोलते हुए कहा—'अदालती काग़ज़के पढ़नेका मेरेलिए यह प्रथम अवसर है, उसकी एक खास भाषा होती है, और मैंने तो अभी हालमें अंग्रेज़ी शुरू की है।'

फ़ैसलेको मैंने एक बार खुद पढ़ा। कुछ अर्थ तो समझमें आया, किन्तु वहाँ बहुतसे शब्द मेरेलिए कोई अर्थ नहीं रखते थे। मैंने भावार्थको कुछ नमक-मिर्च लगाकर सुना दिया। महन्तजी उछल पड़े—"देखा, महन्त रामकिसुनदास! तुमने, देखा पंडित रामकुमारदास! तुमने, सदर-आलाने इनका फ़ैसला लिखा है। बाबू लोग अब सात जनममें भी मठका कुछ बिगाड़ नहीं सकते!"

"हाँ, ठीक सरकार, आपका अक़बाल है"—पास बैठी मंडली बोल उठी।

मैं दो-चार मिनट वहाँ बैठा रहा, इसके बाद मोतीरामके बाग़ चला गया।

अगले दिन पंडित रामकुमारदास पंडित मुखरामजीके सामने कह रहे थे—"यह छपरा ज़िलेके एक बहुत प्राचीन और भारी मठ परसाके महन्त हैं। लाखोंकी सम्पत्तिके स्वामी हैं। एक बड़ा मन्दिर बनवाने जा रहे हैं, उसीकेलिए खुद देखकर पत्थर ख़रीदने आये हैं। केदारनाथजीने जो रात फ़ैसला पढ़ा, वह परसाके बाबू लोगोंकी ओरसे महन्तजी के ख़िलाफ़ दायर किये हुए मुक़दमेका था। महन्तजीके एक शिष्य रामउदारदास थे—जो अभी हाल हीमें मरे हैं। महन्तजीने अपने बाद उनको महन्ती लिख दी। बाबू लोग उन्हें नहीं चाहते थे। यही झगड़ेकी जड़ थी। दीवानीके अलावा फ़ौजदारीके कई मुक़दमे चल रहे थे। महन्तजीका पचास हजार रुपया उसमें खर्च हुआ है।...."

मेरा तो हर रोज़ पंडित मुखरामजीके पास जानेका काम था, और महन्तजी कई दिनों तक वहाँ ठहरे रहे। पंडित रामकुमारदासजी अकेले मिलनेपर भी जब-तब परसा-मठकी चर्चा चलाने लगे। फिर कहा, महन्तजीके योग्य और प्रिय शिष्य मर गये। उन्हींकेलिए इन्होंने सारा झगड़ा किया था। महन्तजी बहुत अफ़सोसमें रहते हैं। मुझसे कह रहे हैं—'बनारसमें तुम रहते हो, मेरेलिए कोई अच्छा पढ़ा-लिखा तरुण शिष्य नहीं ढूँढ़ देते।'

शुरू-शुरूमें जब इस तरहकी बातें हुईं, तो मैं अपनेको अन्य पुरुष समझता था। मैं समझता था, पंडित रामकुमार महन्तजीकेलिए चेला खोज देनेमें मेरी भी सहायता चाहते हैं। दो-तीन दिन बाद आख़िर एक दिन वह खुल ही पड़े—"केदारनाथजी! आपने उस दिन फ़ैसला जो पढ़कर सुनाया, उसके बादसे महन्तजीको दूसरा कोई जँचता ही नहीं। मैंने एकाध विद्यार्थियोंका नाम लिया था, लेकिन वह तुम्हारे बारेमें पूछते हैं। तुम भी तो घरसे वास्ता नहीं रखते। साधु होनेकी बात भी करते रहते हो?"

यदि वैष्णवके यहाँ चेला होनेकी बात सालभर पहिले उन्होंने मुझसे की होती, तो ग़ुस्सेसे मेरा रोम-रोम जल उठता, किन्तु पिछली मन्त्रसाधनाके बादसे मैं वह उग्र वैष्णवपन्थ-वैरी नहीं रह गया था। मैंने सीधे इन्कार न करते हुए कहा—

"मैं पढ़ रहा हूँ। आप जानते हैं, मैंने स्कूलमें नाम लिखाया है। अंग्रेजी और संस्कृत दोनोंको दत्तचित्तसे पढ़ना चाहता हूँ।"

"तो इसमें कौनसी बाधा है। वहाँ तो आपको और अनुकूलता होगी। पढ़ानेके लिए पंडित और अध्यापक रक्खे जा सकते हैं, यहाँ ही आकर पढ़ सकते हैं। देखते नहीं, इन्हींके एक शाखामठ बगौराके महन्तके शिष्य....यहाँ पढ़ रहे हैं?"

"परतन्त्रता होगी। महन्तजीके स्वभावसे परचित नहीं हूँ।"

"महंतजी बेचारे बहुत सीधे-सादे व्यक्ति हैं। सबेरेसे ग्यारह बजे तक लगातार, पूजा-पाठमें रहते हैं। बारह वर्षसे ज्यादा हो गये, इन्हें अन्न छोड़े, सिर्फ़ फलाहार करते हैं। इतने बड़े महंत, जिसकी पन्द्रह हज़ार सालाना नक़द तथा उसीके क़रीब ग़ल्लेकी आमदनी हो, ऐसा तपस्वी जीवन व्यतीत करें! मुझे तो सिर्फ़ इस बातका लालच है, कि तुम्हारे ऐसा विद्याव्यसनी यदि परसाका महंत हुआ, तो विद्याव्यसनियों और विद्यार्थियोंकी क़दर करेगा।"

"लेकिन मुझे बात कुछ जँचती नहीं है।"

"मैं अभी फ़ैसला करनेकेलिए नहीं कहता। आप इसपर विचार कीजिए। अभी महंतजी पाँच-सात दिन और रहेंगे। पत्थरका एक बड़ा मन्दिर बनवाने जा रहे हैं, दशाश्वमेधपर कई बार पत्थर देखने गये, किन्तु उनकी पसन्दके पत्थर वहाँ बहुत कम हैं। मैं आपसे कहूँगा, परसामठ आपकेलिए सबसे अधिक अनुकूल होगा। आप तो कह चुके हैं, साधु ज़रूर होंगे; फिर ऐसे स्थानमें क्यों न हों, जहाँके बारेमें हम कुछ दावेसे कह सकते हैं।"

"ख़ैर, मैं सोचकर जवाब दूँगा।"

यह प्रस्ताव तो मेरे सामने बिल्कुल नया था, किन्तु पढ़ाईमें आनेवाली आर्थिक कठिनाइयों—विशेषकर अंग्रेज़ी स्कूलमें नाम लिखानेके बादवाली—को हल करनेका यह भी एक रास्ता है, इसपर मैंने विचार नहीं किया था। अब मैं पंडित रामकुमारके प्रस्तावपर ज़्यादा ध्यानसे विचार करने लगा। मेरेलिए दिक़्क़त यह थी, कि बनारसमें उस वक़्त कोई ऐसा व्यक्ति नहीं था, जिसके सामने इस रहस्यप्रश्नको खोलकर रख सकूँ। वैरागीका चेला होना—चक्रपाणि ब्रह्मचारीको कभी पसन्द न आता। पंडित मुखरामजी घर और फूफाजीके सम्बन्धके कारण भी, सुनते ही इसका विरोध ही नहीं करते, बल्कि हर तरहकी बाधा उपस्थित करते। यागेश उस वक़्त वहाँ थे नहीं, होते भी तो वह वैराग्य और आश्रमपरिवर्तनमें मुझसे सहमत न थे। इस प्रश्नपर निर्णय मुझे अकेले ही सोचकर देना था।

आर्थिक कठिनाइयाँ मेरी कोई इतनी ज़्यादा नहीं थीं। घरवालोंसे मदद माँगना यद्यपि मैं अपने आत्मसम्मानके ख़िलाफ़ समझता था, तो भी ब्रह्मचारी चक्रपाणिकी कृपासे मैं भोजन और रहनेसे निश्चिन्त था। चार-पाँच रुपये मासिककी वृत्तिके प्रबन्धकी बातें कई जगहसे चल रही थीं, और उनके होनेमें बहुत देर न थी। पंडित चन्द्रभूषणकी बात कह चुका हूँ। एक वृद्धा रानीके यहाँ पूजा करनेकी माँग आई—

मैं कुछ वैदिक भी हो गया था। धर्माध्यक्षने पसन्द करके अन्तमें स्वीकृतिकेलिए रानी साहिबाके सामने ले जानेको कहा। पता लगा, जब तक रानी स्वयं देखकर पसन्द नहीं कर लें, तब तक रखा नहीं जा सकता। रानीने देखा, एकाध बात पूछी और अपनी स्वीकृति दे दी। रानीके सम्बन्धकी बहुतसी अफ़वाहें, सुन चुका था, और अब वह बातें और स्पष्ट होने लगीं, इसलिए मैं फिर वहाँ नहीं गया। एकाध जगह किसी (दुर्गाजीके एक पंडे)के लड़केको पढ़ानेकी भी बात चल रही थी। इतना होते भी आर्थिक अनुकूलताका हाथ मेरे निर्णयमें नहीं था, यह मैं नहीं कह सकता। मुझे याद है, उस वक़्तका एक उदाहरण। अस्सीपर रहनेवाला एक साधारण विद्यार्थी कीनारामी रामगढ़ (?) गद्दीके महंतका चेला होने जा रहा था। पहिले उसे कोई नहीं पूछता था, किन्तु अब वह पीताम्बरी पहिने तिवारीजीके सड़कपरके कमरेमें रहा करता था। लेकिन आर्थिक सुभीतेसे भी ज़्यादा जिस बातने परसाके पक्षमें मुझे निर्णय देनेपर ज़ोर दिया, वह था घर और घरवालोंकी पहुँचसे दूर, पृथिवीके दूसरे छोर——हाँ, छपरा ज़िला उस वक़्त मेरेलिए कुछ वैसा ही अपरिचितसा था——पर चला जाना, एक नई जगह नये लोकका अनुभव प्राप्त करना। महंतजीके पूजापाठने तो नहीं, लेकिन उनके सीधे-सादे स्वभावने भी मुझपर कुछ असर डाला, यद्यपि उस वक़्त मैं यह नहीं जानता था, कि वह संस्कृत नहीं जानते।

दो-चार दिन सोचने-विचारनेके बाद, अन्तमें मैंने अपनी स्वीकृति दे दी। महंतजी बहुत प्रसन्न हुए। पंडित रामकुमारके प्रति उन्होंने बड़ी कृतज्ञता प्रकट की।

बनारससे चलनेमें मुझे इस बातका भी ध्यान था, कि घरवालोंको, मैं कहाँ गया, उसका पता न लगने पावे, सदाकेलिए नहीं तो कमसे कम काफ़ी समयकेलिए; और इसकेलिए पंडित मुखराम और ब्रह्मचारी चक्रपाणिसे अपने निर्णय तथा महंतजीके सम्बन्धको गोप्य रखना बहुत ज़रूरी था। पंडित मुखरामजी क्वारके नवरात्रमें घर जानेवाले थे, इसलिए इसी समयको प्रस्थानकेलिए मैंने सबसे अधिक अनुकूल समझा।

किस दिन मैं बनारससे प्रस्थान करूँगा, छपरा स्टेशनपर किस ट्रेनसे पहुँचूंगा, और स्टेशनपर आदमीके न मिलनेपर मुझे कहाँ पहुँचना चाहिए——सभी बातें महंत-जीसे मिलकर तै कर लीं।

७

परसामें साधु

(१९१२-१३ ई०)

उस दिन (सितम्बर १९१२ ई०) मेरी ट्रेन छपरा (भगवान बाज़ार) स्टेशनपर शामको पहुँची थी। याद नहीं, महंतजीका आदमी बनारससे ही साथ आया था, या यहाँ स्टेशनपर मिला। पंचमन्दिरके पीछे परसामठकी छावनीमें पहुँचनेमें मुझे कोई दिक़्क़त नहीं हुई। महंतजी बहुत प्रसन्न हुए। उनके परिचारक तथा मुसाहिब बड़ा सन्मान दिखला रहे थे। बनारसमें एक अकिंचन विद्यार्थीकी तरह मैं नहीं रहता था। यद्यपि कपड़े-लत्तेमें तड़क-भड़क नहीं थी, किन्तु उसको तथा मेरे चेहरेको देखनेसे आदमी समझ सकता था, कि मैं काफ़ी आरामके साथ रहनेका आदी हूँ। महन्तजीने अपने आदमियोंको कह रखा था, कि मुझे किसी बातका कष्ट न होने पावे। अपने साईसके लड़के रामदासको मेरेलिए ख़ासतौरसे खवास नियत किया। छपराके उस आरम्भिक जीवनकी घटनाओंमें 'खोवाकी दही'का शब्द मेरे कानोंमें अजनबीसा मालूम हुआ। मैं सोचने लगा—दही दूधसे बना करती है, खोवा हो जानेपर तो दूध अपनेही सूख जाता है, फिर दही कैसे बनेगी? दूसरी बात नईसी मालूम हुई, उस क़ुलीका नाम दहाउर, जिसने मेरा सामान स्टेशनसे परसा-छावनीमें पहुँचाया था।

छपरामें एक-दो दिनसे ज़्यादा नहीं रहा। याद नहीं, मैं स्टेशनसे दूर भी कहीं गया। शायद पंचमन्दिरके बाबू ठाकुरप्रसादके घर गया होऊँ, उनसे मुलाक़ात तो ज़रूर हुई होगी, क्योंकि महन्तजीके मुक़दमेमें उन्होंने मुख़्तारके तौरपर ही उनका काम नहीं किया था, बल्कि ज़रूरत पड़नेपर धन—हाँ क़र्ज़के तौरपर—ही नहीं, लाठीसे भी बाबू लोगोंके विरुद्ध महन्तजीकी मदद की थी। महन्तजी उनके बड़े कृतज्ञ थे, क्योंकि वह जानते थे, कि मुख़्तार ठाकुरप्रसाद जैसा सहायक नहीं मिला होता, तो क़ानून उनकी रक्षा नहीं कर सकता था।

हम लोग छपरासे एकमा रेलसे गये। महंतजी सेकंड क्लासमें थे, नहीं कह सकता मैं किस क्लासमें गया। एकमा प्लेटफ़ार्म, और स्टेशनसे बाहर खड़े पीठपर मुर्ग़ा बाँधे घोड़ोंके एक्कोंका झुंड उस दिन कुछ विचित्रसा मालूम हुआ। महंतजीके साथ

सामान काफ़ी था, और नौकर-चाकर भी काफ़ी। मेरे पास दो-चार किताबें, धोती-चादर, बदनपर सफ़ेद डोरियाका कोट, और शायद शिरपर टोपी थी। क्वार समाप्त हो रहा था, या कातिकका पहिला-दूसरा दिन बीत रहा था। महन्तजीकी बग्घीपर चढ़कर जब हम परसाको जा रहे थे, तो देख रहे थे, सड़कके पास हरे-हरे धानके खेत लहलहा रहे हैं। मैं बीच-बीचमें मौसिम और फ़सलके बारेमें एकाध बात पूछता जाता था। महंतजी भी मुझे बातमें लगाये हुए थे। सड़क कच्ची थी, इसलिए घोड़ेको दौड़नेका बहुत कम मौक़ा मिला। धुरदह के पुलको पार करनेपर मैंने दाहिनी तरफ़ काफ़ी दूर बहुत ऊँचे मकान देखे। महन्तजीने बतलाया—'वही बाबू लोगोंका गढ़ है, वही एक चेलेको शिखंडी खड़ाकर लड़ रहे थे।' मैंने कहा—मकान बहुत ऊँचे मालूम होते हैं। उत्तर मिला, पुराना गढ़ है, ज़मीन ही वहाँकी बहुत ऊँची है, इसलिए मकान बहुत ऊँचे मालूम हो रहे हैं। बहुतसे घर तो खंडहर पड़े हैं। दो ही तीन घर बाबुओंके धनी हैं, बाक़ी सब ग़रीब हो गये हैं।

और आगे चलनेपर मठके खपड़ैलवाले मकान, तथा दो शिखरदार मन्दिर दिखलाई पड़े। महन्तजीने बतलाया—'यह पच्छिमवाली मठिया है, इससे कुछ दूरपर वह दूसरी पूरबवाली मठिया है। वहाँ गोपालजीका मन्दिर है और यहाँ रामजीका। यह छोटा मन्दिर समाधि है, पहिलेके महन्त गुरुओंकी चरणपादुकायें यहाँ रखी हैं।

बातें करते-करते, हमें मालूम भी नहीं हुआ, और तीन मीलका रास्ता तै कर हम मठपर पहुँच गये।

उस वक़्त मठके बाहरवाले पक्के घरोंका पता न था, वहाँ पच्छिम तरफ़ सिर्फ़ एक घोड़सार थी। मठका सामनेका भाग पक्का था, जिसके सामने ऊँची कुर्सीपर, खपड़ैलका ओसारा था। ओसारेके दोनों छोरोंपर दो कोठरियाँ थीं, जिनमेंसे पूरब-वालीमें मठके दीवान साहेब रहते थे। भीतर जानेपर मेरा सामान पक्के मकानके पूर्वी पार्श्वमें छोरपर अवस्थित कोठरीमें रखा गया। मुझे बतलाया गया, कि मृत युवक महन्त रामउदारदास इसी कोठरीमें रहा करते थे। अब रामदास मेरा वैयक्तिक ख़िदमतगार था, इसलिए नई जगह होनेपर भी मुझे किसी बातकी अड़चन नहीं पड़ती थी।

सबेरेके वक़्त पाखाना—खेतोंमें—जाते वक़्त रामदास लोटेमें पानी लेकर चलता था। अपनी कोठरीके पीछे, पोखरेके पक्के घाटपर हाथ-पैर धोता, दातुवन करता फिर स्नान करता। हलवाईको हुक्म हो गया था, कि मेरेलिए सबेरे ही पावभर गर्मागर्म जलेबियाँ आ जायें। बनारसमें नियमपूर्वक पान तो नहीं खाता था,

किन्तु शायद महन्तजी ने पान खाये मुझे देखा था, इसलिए पान मँगवा रखनेकी ताकीद थी। कोठरीका फ़र्श पक्का था, जिसके एक तरफ़ चबूतरा था, जिसे मृत तरुण महन्तने अपनेलिए बनवाया था। उसी चबूतरेपर मेरा बिस्तरा लगा।

बाबू लोगोंकी मुक़दमेमें हार हुई थी, लेकिन अब भी झगड़ा बन्द नहीं हुआ था। अपील करनेकी मियाद अभी बाक़ी ही थी। पूरबवाले मठके बाहरवाले आँगनकी दालान तथा कितनी ही कोठरियाँ अब भी बाबू लोगोंके पक्षके कुछ साधुओंके अधिकारमें थीं। वहाँके दोनों मन्दिर––गोपालजी और रामजी––के पुजारी महन्तजीके वर्गके थे। एक दिन रामजीके मन्दिरके पुजारी––लम्बाई-चौड़ाईमें समभुज एक तरुण साधु––गाली देते हुए आये––'हमारे काममें वे बाधा डाल रहे हैं, कहते हैं हमारा मठ है। लोग लाठी लिये पूरबवाले मठकी ओर दौड़े, किन्तु मारपीट तक नौबत नहीं आई।

शामको मठके पुरोहित पंडित––ओझाजी और तिवारीजी––आये। तिवारीजी यहाँ पच्छिमवाले मठमें रोज़ कथा सुनाते थे, और ओझाजी गोपाल मन्दिरके सामने। ओझाजी संस्कृत अधिक पढ़े थे, इसलिए उनके साथ मेरा हेल-मेल जल्दी क़ायम हो गया। तिवारीजी बड़े मधुर स्वभावके वृद्ध पुरुष थे। कथा कहते हुए वह भाषार्थ भी कहते जाते थे, किन्तु वह भाषा दुनियाके पर्देपर कहीं बोली जानेवाली भाषा न थी। उसमें बनारसी 'भया' भी आता था, व्रजभाषाके भी कितने ही सुवन्त-तिङन्त प्रत्यय शामिल थे, और छपराकी बोलीकी गहरी पुट तो होती ही थी। पहिले कुछ रागके साथ श्लोकको पढ़ते, फिर अपने ढंगसे अर्थ करते––"वोही समैयाको बीचमों-ों, जे बा-से, रामजीकी-ी हिंछासे सुखदे-वजी-ी महाराँ-ँज बो-ो-लते-भ-ये। क्या कर-कर-करके, गोविन्दाय-न-मो-ो-न-मः. . . ." एकादशीके दिन "एकादशी माहात्म्य"से उस दिनकी एकादशीकी कथा कही जाती।

ओझाजीकी कथा पूरबवाली मठियामें होती थी, इसलिए उसे सुननेका मुझे मौक़ा नहीं था। उनकी भाषा कुछ कम अस्वाभाविक होती थी। उस दिन शामको जब दोनों पंडित जमा हुए, तो महन्तजीने मेरे साधु होनेकेलिए एक अच्छी तिथि निश्चित करनेका प्रस्ताव रक्खा। कितनी ही देर तक पन्ना उलटा गया। मेरी मकरराशि (चो)से ग्रहों और नक्षत्रोंके स्थानको मिलाया गया, और अन्तमें कार्तिक शुक्ला एकादशी (वैष्णवी)को सबसे महापुनीत दिन समझा गया। महन्तजीने बहुत सोच-साचकर अपने मृत उत्तराधिकारीका नाम––रामउदारदास मेरेलिए भी तजवीज़ किया।

एकादशीको मन्त्रदीक्षाकी सारी विधियाँ तो मुझे याद नहीं, हाँ, उसमें कंठी और "रां रामाय नमः" मन्त्र देनेके अतिरिक्त, एक और भी विधि हुई थी, जिसका पता यदि बनारसमें लगा होता, तो उतने ही मात्रसे मैं परसाका नाम न लेता, लेकिन अब तो वचन देकर बहुत आगे बढ़ चुका था। बाबू पत्तरसिंहके मुँहकी कहावत याद आती थी—"तेरी माँने खसम किया।" "बुरा किया।" "छोड़ दिया।" "बहुत ही बुरा किया।" विधि थी : पीतलमें बनी शंखचक्रकी मुद्राको आगमें लाल करके दोनों बाहुमूलोंमें दागना। रामानुजीयों (आचारियों)में अनिवार्य होनेपर भी, वैरागियोंमें यह प्रथा नहीं थी, किन्तु हमारे महन्तजीने दक्षिणमें अपने पर्यटनके समय आकर्षित हो इसे अपना लिया था। आचारी तो बिल्कुल हल्के तौरसे सिर्फ़ छुआ मात्र देते थे, जिससे बहुत हल्कासा दाग उतर आता है; किन्तु यहाँ मालूम होता था, जीवित आदमीके शरीरपर दहकती धातु नहीं लगाई जा रही है, बल्कि डाकखानेमें कोई नौसिखिया आहिस्ते-आहिस्ते मुहर लगा रहा है। ख़ैर, मैंने जी कड़ा करके आँख दूसरी ओर फेर ली थी, समझ लिया था, आख़िर ये मिनट भी घंटों तक नहीं चलते रहेंगे।

अबसे मैं रामउदारदास या संक्षेपमें रामउदार कहा जाने लगा।

मठमें मेरे आरामका पूरा ध्यान दिया जाता था। मैं वहाँ वैरागी, तपस्वी साधु नहीं था, बल्कि एक सुकुमार राजकुमार था, जिसके नहलाने-धुलाने, पैर दबाने, तेल लगानेकेलिए नौकर था। कोट उतर गया था, किन्तु उसकी जगह तानजेबकी चौवन्दी बनी थी। धोती भी शान्तिपुरी पाढ़की बारीक, जूता लाल दिल्लीवाल। धूपमें निकलनेपर नौकर छाता लगाये चलता था। पुराने नामराशिकी सारी दिन-चर्या, नौकरोंने मुझे भी सिखला दी। मैं भी पहिले नक्कू न बननेके ख़्यालसे उसे स्वीकार करता गया, पीछे वह साधारणसी बात हो गई। महन्तजीका स्नेह बढ़ता ही गया। उन्होंने अपने सम्प्रदायके बहुतसे चाल-व्यवहारोंको सिखलाना शुरू किया। और सचमुच वहाँ पचासों बातें सीखनी थीं। पाख़ानेके वक़्त शिरसे हाथ लगाकर नहीं बैठना चाहिए। वहाँसे लौटते वक़्त दाहिने हाथसे लोटा नहीं पकड़ना चाहिए। मिट्टीसे हाथ धोते वक़्त पहिले बायें हाथमें पाँच बार मिट्टी लगाकर धोना चाहिए, फिर पाँच बार दाहिने हाथको और तब पाँच बार दोनों हाथोंको। हाँ, पैरोंको भी मिट्टी लगाकर धोना चाहिए। लोटा शुद्ध भूमिपर भी रखते वक़्त, पहिले चिल्लूभर पानी गिराकर तब रखना चाहिए। छुरी नहीं चाक़ू कहना चाहिए, सागको 'चीरना' नहीं 'अमनिया करना' कहना चाहिए। इसी तरहकी एक दूसरी शब्दसूची बतलाई

गई, जिसमें बाबूशाही (गृहस्थ) बोली होनेके कारण कितने ही शब्द निषिद्ध हैं, और उनकी जगह साधूशाही कोशके शब्द बतलाये गये। उसी वक़्त महावाक्य सुननेमें आया--'बारह बरस रहे साधुकी टोली। तब पावे एक टुटही बोली।'

महन्तजी फलाहार करते थे, यह पहिले कह आये हैं। ग्यारह बजे पूजा-पाठ समाप्त करनेके बाद थोड़ासा दूध पीते, और आध घंटा मठका कारबार देखते, फिर फलाहार बनाने जाते। अब उनका शरीर वृद्ध हो चला था, कमर भी टेढ़ी हो गई थी, इसलिए उनके कामोंमें कुछ मुझे भी सहायता देनी जरूरी थी। पहिले मैंने फलाहार बनानेसे शुरू किया। अब मुझे पता लगा, फलाहारमें सिर्फ़ तपस्याका ही ख्याल काम नहीं कर रहा है, बल्कि अन्न ग्रहण करनेपर पंक्तिमें शामिल होना पड़ता, जिसमें ज़हर देनेका डर था। फलाहारी अवस्थामें भी महन्तजीके एक गुरुभाईने एक बार दूधमें उन्हें ज़हर दिया था, जिसके पीनेसे वह बाल-बाल बच गये थे। इसी ख्यालसे किसी दूसरेके हाथका फलाहार न खाकर वह उसे ख़ुद बनाते थे। महन्तजीका फलाहार बनाना भी एक अच्छी ख़ासी पाककला थी। उसमें, चावल, दाल, पूड़ी, पकौड़ी, हलवा, खीर, तरकारियाँ, चटनियाँ, पूड़े सभी शामिल थे, और रोज़ एक दर्जनके क़रीब चीज़ें बनती थीं। चावलमें धानका स्थान तिन्नी (नीवार) ग्रहण करती, आटेमें गेहूँका स्थान कुटू (बकह्वीट), दाल-बेसनमें अरहर-उड़द-चनेकी जगह बकला (क्लोवर) ग्रहण करता। घी और दूध सिर्फ़ गायका और मीठेकेलिए सिर्फ़ मिश्रीका व्यवहार होता। अभी तक पाकशास्त्र मेरेलिए सबसे दुरूह चीज़ थी, और मिला भी तो फलाहारपर उसके प्रयोग करनेका मौक़ा, जिसमें कुटूके आटेका गूँधना तो एक बड़ी टेढ़ी खीर थी। लेकिन धीरे-धीरे गुरुजीने मुझे सब सिखला दिया। रसोईमें पास हो जानेपर उन्होंने अपने पाठ-पूजाकी बातें भी सिखलाईं, क्योंकि उनके अस्वस्थ होनेपर वह भार मेरे ऊपर आता।

परसा मठके दो भाग थे--पूरबकी मठिया और पच्छिमकी मठिया--यह मैं पहिले कह आया हूँ। महन्तजी, मैं, तथा कितने ही साधु पच्छिमवाली मठियामें ही रहा करते थे। किसी समय पच्छिमवाले मठमें सिर्फ़ महन्त और दो-चार परिचारक तथा पुजारी ही रहते थे, बाक़ी सभी साधु पूरबवाली मठियामें रहते। रसोई भी वहीं बनती, और उत्तराधिकारी भी वहीं रहते। किन्तु झगड़ेके बाद रसोई भी पच्छिमवाली मठियामें चली आई, साधू भी ज़्यादातर यहीं आ गये, और पूरबवाली मठिया धीरे-धीरे उजाड़ होने लगी। मेरे सामने ही उसका नौबतख़ाना, बाहरके आँगनके गिर्दका घेरा और पक्की दालान गिर गई, और मेरे सामने ही पच्छिमवाली

मठियाके आँगनके भीतरवाले घर कच्चेसे पक्के हो गए, और बाहर एक नया चौक कई पक्के घरोंके साथ बनकर तैयार होने लगा।

कार्तिकके आखिरी सप्ताह और अगहनके पहिले पखवारे तक सोनपुर (हरिहर क्षेत्र)का मेला लगता है। मेला शुरु होनेसे पहिले ही परसामें मैं पुरान-चिरान हो गया था। गुरुजीके साथ उनकी बग्घीमें बहरौली और एकाध दूसरे ज़मींदारीके गाँवोंमें हो आया था। कनैला, और बछवलमें कभी-कभी घोड़ेपर चढ़ा था, किन्तु वह घोड़े, परसाके पाँच सौके घोड़ेके सामने गदहे थे। परसाका घोड़ा बहुत दिनोंसे सिर्फ़ बग्घीमें चलता था, और सवारीकी चाल भूल गया था। परसा पहुँचनेके सात-आठ ही दिन बाद मैंने साईस नकछेदीसे घोड़ेपर चढ़नेकी इच्छा प्रकट की। वहाँ खरहरा करनेकी मामूली सीधी-सादी लगाम थी, लेकिन मैंने कहा—'कोई पर्वाह नहीं इसी लगामके साथ पीठपर गद्दी कस दो।' रिकाब भी मौजूद न थी। मैं मठके दर्वाज़ेसे ही घोड़ेपर सवार हुआ, और सर्पट दौड़ाता हुआ एकमाके रास्तेपर बहुत दूर तक ले गया। लौटते वक़्त फिर उसी चालसे चला आ रहा था, किन्तु मुख्य सड़कसे मठकी तरफ़ मुड़नेवाली सड़कके मुड़ावको देखकर मैंने चाल धीमी करनी चाही। घोड़ा उस लगामको क्या समझे? मेरा कुछ ध्यान तो अपनेको बचाने और कुछ लगामके सहारे खड़ा करनेमें बँट गया, इसी बीचमें मठके पासके पुलकी ढालुवाँ ज़मीन आई, सँभलूँ ही सँभलूँ, कि मठके फाटकपर सीधा ९० डिग्रीका समकोण, इस मुड़ावमें अपने बोझेको ठीक न कर सका, और घोड़ेकी पीठसे बाईं ओर गेंदेकी भाँति उछाल दिया गया। वहाँ रखी हुई लकड़ीसे बाल-बाल बचा। चोट नहीं लगी। धूल झाड़कर बहादुर शहसवारकी भाँति खड़ा हो गया। लोग पहिले चिन्तातुर हुए, फिर मुझे खड़ा होकर मुस्कुराते देख तारीफ़ करने लगे—"ऐसे बग़ैर काँटेकी लगामपर इस तरहके ज़बर्दस्त घोड़ेपर सवारी करना ऐसे-वैसे आदमीका काम नहीं है।"

मठकी बग्घी मुझे बहुत भद्दी मालूम होती थी। थी भी वह गुरुजीकी योजनाके अनुसार मठके गाँव बहरौलीके रामजियावन मिस्त्रीके हाथ की—सोलह आना स्वदेशी—बनी हुई। गुरुजीने भीतर जगह कुशादा रखनेमें फराखदिली रखनेका आदेश दिया था, और रामजियावन मिस्त्रीने बग्घीमें घरके शीशमोंकी मामूलसे सिर्फ़ चार-पाँच गुना अधिक लकड़ी लगाई। भारीपनको हटानेकेलिए, एकाध बार छीला-छीली भी की गई, किन्तु उससे कुछ हुआ-हवाया नहीं। मुझे वह भद्दी और चारों ओरसे बन्द, सुस्त सवारी पसन्द न थी। मैं चाहता था, तेज़ सवारी। गुरुजीने परामर्शको स्वीकार कर मेलेसे टमटम् खरीद लानेकेलिए मुझे ही भेज दिया।

सोनपुरके मेलेको उसके बाद, न जाने कितनी बार देखा, लेकिन वह पहिली बार-की नज़रमें कुछ दूसरा ही जँचा था। कहीं क़तारके क़तार हाथी बँधे हुए हैं, जो जब-तब चिग्घाड़ उठते हैं। कहीं घोड़ोंके अलग-अलग कितने ही बाज़ार हैं—छोटे घोड़े अलग, नेपाली टाँघन अलग, और बड़ी राशिके घोड़े अलग। कितने ही घोड़ोंके ऊपर कपड़ेका सुन्दर चँदवा टँगा हुआ है। बैलों और गायोंकी बाज़ारमें जानेपर अनन्त दूर तक मालूम होता है, उन्हींका हाट लगा है। मेलेमें सबसे अप्रिय चीज़ थी, दिनमें धूल और रातमें धुआँ। मैंने अपनी पसन्दका एक टम्टम् और घोड़ेका नया साज़ ख़रीदा, एक ही दो दिन रहकर टम्टम् लानेकेलिए आदमियोंको छोड़कर चला आया।

नई जगहकी नवीनता भी धीरे-धीरे जाने लगी। मैं अपनी पढ़ाईपर नज़र डालने लगा, तो वहाँ मेरे आसपास और दिनचर्यामें उसका कोई स्थान न था। ख़ैर, मैं "सरस्वती" और 'डॉन' (अंग्रेज़ी मासिक पत्र)का ग्राहक बन गया। इंडियन प्रेसकी छपी कुछ हिन्दीकी पुस्तकें तथा कितने ही संस्कृतके काव्य-नाटक मँगाये। इस प्रकार शून्यता कुछ कम मालूम होने लगी, साथ ही इसमें सहायक हुआ अगले दो-ढाई महीने लगातार दीहातमें घूमते रहना। गुरुजी जानकीनगर, बुचया, कल्यानपुर होते एक ओर गंडकके किनारे सलेमपुर घाट तक पहुँच गये, तो दूसरी ओर गंगा-सोन संगमपर, संठाके पास, मकर संक्रान्तिका स्नान किया। सभी जगह यात्रा उसी बग्घीसे होती रही, मेरा टम्टम् गुरुजीकेलिए कम आरामदेह था।

मठके ज़मींदारीके गाँवोंमें रियायापर ज़मींदारका रोब मेरेलिए एक नई चीज़ थी। ननिहाल और पिताके गाँवमें हम लोग ख़ुद छोटे-मोटे ज़मींदार थे, इसलिए अपने ऊपर ज़मींदारका रोब कैसे अनुभव कर पाते? किन्तु, मैं न समझ सकता था, कैसे यहाँके ज़मींदार अपने काश्तकारोंसे आपसी झगड़ेमें जुर्माना वसूल कर सकते हैं, ब्याह-शादी, आना-जाना हर वक़्त हुकूमत और बेगार ले सकते हैं। युक्त-प्रान्तमें जहाँ पटवारी सरकारी नौकर था, वहाँ यहाँ मैं उसे ज़मींदारका नौकर पाता था। पटवारीसे सारे किसान कितनी पनाह माँगते थे, इसका मुझे अनुभव था; इसलिए यहाँ पटवारीके भी ज़मींदारका नौकर होनेकी बात देखकर मैं और समझने लगा किसानोंकी दयनीय दशाको।

मठके नौकर-चाकर मेरा बहुत अदब मानते थे, सिर्फ़ इसलिए नहीं कि मैं नया "पुजारीजी" (परसाके महन्तके उत्तराधिकारियोंका यह भी एक उपनाम था। शायद पहिलेके कुछ व्यक्ति महन्त होनेसे पहिले पुजारी रह चुके थे) था, बल्कि इस-

लिए भी कि मैं काग़ज़की 'उदिया-गुदिया' समझता था, 'पारसी' अंग्रेज़ी सब जानता था। बूढ़े महन्तजीके बाद मैं ही महन्त बनूँगा, इसमें किसको सन्देह था, जब कि मेरा नाम भी वही रामउदारदास पड़ा था, जिसके नाम महन्तजी महन्ती लिख चुके थे।

कनैला और पन्दहामें ज़मींदारी काग़ज़पत्रोंके देखनेका मुझे कभी मौक़ा नहीं मिला था, और यहाँके काग़ज़पत्र—'तिरजी', 'सियाहा' आदि बिल्कुल दूसरी ही चीज़ थे। पहिले तो उधर ध्यान देने हीमें दिल उकताता था, क्योंकि साथ ही मैं अपनेको विद्यार्थी अवस्थामें भी तो समझता था। देखते-देखते उनका समझना भी आसान हो गया। मठके जमा-ख़र्चके जंगलोंको देखना चाहा। मालूम हुआ कि कई सालसे जमाख़र्च ही तैयार नहीं हुआ। महन्तजीमें न उसे समझनेकी शक्ति थी न देखनेकी फ़ुर्सत। पूछनेपर लिखने-पढ़नेवाले लोग बहानेबाज़ी करते। ख़ैर, यह तो मुझे मालूम हो गया, कि क़र्ज़ बढ़ता जा रहा है, और महन्तजी आमदनी से ज़्यादा ख़र्च कर रहे हैं। जिस सभामंडपकेलिए पत्थर आने शुरू हो गये थे, वह उधारके रुपयेसे बनने जा रहा है। यद्यपि उसके ख़र्चका तख़मीना महन्तजी चार-पाँच हज़ार लगा रहे थे, किन्तु मैं समझ रहा था दस हज़ार, और अन्तमें तो वह पन्द्रह हजार पहुचकर रहा। मठके भीतरी यन्त्रको बहुत दूर जाकर देखनेकी मुझे बिल्कुल इच्छा नहीं थी, क्योंकि जैसा मैं कह चुका हूं, मैं अपना ध्यान पढ़नेसे दूसरी ओर नहीं ले जाना चाहता था, किन्तु जो कुछ देखा, वही कम न था।

तीन महीने बीत चुके थे, अब जनवरी १९१३ ई० शुरु थी, और पढ़नेका कोई भी इन्तिजाम नहीं। शायद इसका असर भी ज़ाहिर होता, किन्तु इसी समय पत्थरके भेजने तथा कारीगरोंके आनेमें कुछ गड़बड़ी हुई, जिसकेलिए महन्तजी फिर बनारस गये—महन्तजीको ठगना आसान था, और वह हमेशा ठगे जाते थे; किन्तु स्वयं जाकर—सारी जमातके साथ रेल-भोजन आदिपर चौगुना ख़र्च करके भी—यदि काम करते थे, तो समझते थे, कि मैंने बहुत से रुपये बचा लिये। उनकी अनुपस्थितिमें एक दिन पिताजी और फूफा महादेव पंडित परसा आ धमके। जिस ख़तरेसे मैं डरता था, वह ख़तरा मेरे सामने आ खड़ा हुआ। सोचने लगा, किस तरह बचा जाये। तै किया—जिस वक़्त यह लोग औरोंसे बात करने में फँसे हों, उसी वक़्त भाग चलना चाहिए। दूसरे दिन सबेरे मैंने नकछेदीको कहा—टम्‌टम् कसकर सड़कपर दूर लेकर चलो। 'जी महाराज' कहकर वह कसने लगा। मैं मासूमकी तरह फूफाजीके पास बैठा कुछ सुन रहा था। रामदास या किसी दूसरेने इशारेसे बतलाया कि टम्‌टम्

चला गया। मैं किसी बहाने उठा, और खिड़कीके रास्ते खेतोंसे होकर सड़कपर पहुँचा। एक बार टम्टम्पर सवार हो जानेके बाद मेरे हाथमें चाबुक और घोड़ेकी पीठ थी, यदि वह खड़ा होनेका नाम लेता। एकमा, दाऊदपुर, कोपा-समहुताके पास पहुँचा। मेरा ज़िलेसे बाहर कहीं अनजान जगहमें चला जाना ज़रूरी था, और टम्टम् वहाँ तक जा नहीं सकता था, इसलिए मैंने नकछेदीको कहा—'टम्टम् लौटा ले जाओ, रास्तेमें कोई पूछे तो कह देना, मैं नहीं जानता कहाँ गये, मैं तो यहींसे उतारकर आ रहा हूँ।'

कोपा-समहुतामें ट्रेन आनेमें देर थी, इसलिए वहाँ प्रतीक्षा करनेकी जगह अगले स्टेशन—छपरा—पर पैदल चलकर पहुँच जाना अच्छा समझा। छपरासे मुज़फ़्फ़रपुर, पटना, बनारसकी तरह निकल जा सकता था, और शायद ट्रेनभी थी, किन्तु सबसे पहिले तो अवश्यकता थी, रुपयेकी, जिसके बारेमें परसामें मैंने नहीं सोचा था, हालाँकि उसकेलिए वहाँ सुभीता था। यहाँ छपरामें मुख्तार ठाकुरप्रसादके सिवाय मेरा कोई परिचित न था। मैंने जाकर उनसे पिता और फूफाके चले आनेकी बात कही, और कहा कि इस वक्त मेरा यहाँसे हट जाना अच्छा होगा, आप कुछ रुपये दें। रुपया कितना भयंकर, कितना ज़हरीला नाम है, जिसके निकलनेके साथ आदमीकी बात, उसकी शान, उसकी इज़्ज़त नगण्य हो जाती है! मुख्तार साहेबके दिलमें भी इसी तरहका कोई भाव उद्भूत हुआ, अथवा उनकी सहानुभूति पिताजीकी ओर हो गई। उन्होंने नहीं तो नहीं किया, किन्तु 'थोड़ी देरमें कहेंगे' कहकर शब्दान्तरमें वही कहा।

मैं लौटा आ रहा था, गलीमें पिताजी मिले। मैं ग्यारह-बारह मील टम्टम्से भी आया था, वह सारा रास्ता—परसासे छपरा—पैदल आये, कैसे वह इतनी जल्दी पहुँच गये? और छपरामें इतनी जल्दी उन्हें जगहका पता कैसे लग गया। मालूम होता है, किसीसे उन्हें ये भेद मालूम हो गये थे, ऐसा भेद बतलानेवाला महन्तजीको प्रसन्न करनेवाला नहीं हो सकता। पिताजी हाँफ रहे थे, उनकी आँखोंमें आँसू छलछला आये, कुछ ज़ोरसे बोलना शुरू करना चाहते थे, किन्तु लोग जमा हो जायेंगे, इस शर्मसे मैंने कहा—"आप हल्ला न करें, मैं सबेरे परसा चलूँगा।"

वहाँसे हम छावनीमें चले गये, जो सौ गज़से दूर नहीं थी।

सबेरे जब हम परसा पहुँचे, तो देखा महन्तजी भी आ पहुँचे हैं। मुझे यह सुनकर बहुत झुँझलाहट पैदा हुई, कि फूफाजीकी बातोंमें पड़कर महन्तजीने सिर्फ़ दस दिनकेलिए कनैला ले जानेकी इजाज़त दे दी है। फूफाजीकी पंडिताईका ओझाजी तथा

दूसरे लोगोंपर असर हुआ। उन्होंने जब कहा,—'उसकी आजी और बुआ रोते-रोते मरी जा रही हैं, अब तो बैरागी हो जानेके कारण वह हमारी जातिका भी नहीं रह गया, सिर्फ़ दर्शन और सान्त्वना देकर चला आये, बस हम इतना ही चाहते हैं।' महन्तजीने कहा—'कोई हर्ज नहीं।'

चलते वक्त रामदास ख़िदमतगार और हनुमानदास (नेत्रहीन होनेसे जिन्हें हम सूरदास कहते थे) साथी बनाकर भेजे गये। "दस दिनमें भेज देनेकी बात ग़लत है। वहाँ जाते ही मैं नज़रबन्द कर लिया जाऊँगा"—मैं कितना ही कहता रहा, किन्तु महन्तजीने कहा—हम वचन दे चुके हैं।

८

पकड़कर कनैलामें

(१९१३ ई०)

फूफाजीको ब्रह्मपर खास विश्वास था। बछवलमें एक संभ्रान्त कायस्थके ऊपर उनका पाँचसौ रुपया क़र्ज़ था; दस्तावेज़ लिखा हुआ मौजूद था। बहानेबाज़ीमें उसने तमादीकी मीयाद गुज़ार दी, और फिर मुक़दमा दायर करने पर वह ख़ारिज हो गया। मुक़दमा दायर करनेसे पहिले मूल रुपया वह शायद देना भी चाहते थे। ख़ैर, मुक़दमा हारनेके बाद फूफा साहेबको बहुत क्रोध आया। घरवाले कह रहे थे, पाँचसौ रुपयेकेलिए इतनी चिन्ता क्यों करते हैं, किन्तु वह कब माननेवाले थे। उन्होंने बाल बढ़ाये, पुरश्चरण शुरू किया, और जंगबहादुरलालको निर्वंश करनेकेलिए उनके टोलेके कबके भूलेभटके ब्रह्मकी पिंडीपर दूधकी धार चढ़ाकर उसे जगाना शुरू किया। इसी फिराक़में वह हरसूराम ब्रह्मकी शरण तकमें हो आये थे। किन्तु जंगबहादुरलालका बाल भी बाँका नहीं हुआ। हरसूराम ब्रह्मके जोड़-तोड़के ही मैरवावाले हरिराम ब्रह्म भी थे, और मैरवा हमारे रास्तेमें पड़ता था, फिर फूफा साहेब वहाँ क्यों न उतरते?

९ बजे सबेरेके क़रीब, हम स्टेशनपर उतरे, और मीलभर पैदल चलकर 'बाबाके धाम'पर पहुँचे। यात्री आते थे, पंडे भी मौजूद थे, किन्तु पिछले २८ वर्षोंमें जो श्री

वृद्धि 'बाबाके धाम'की हुई, वह उस वक्त न थी। बड़ा तालाब, और कितने ही मकान तथा दूकानें जो मन्दिरसे उत्तर आज दिखाई पड़ती हैं, वे सब पीछेकी माया हैं। हम लोग मन्दिरके सामनेवाले कूएँपर बैठे। फूफा साहेब स्नान-सन्ध्यामें लगे और फिर उन्हें हरिराम ब्रह्मका पूजन करना था। मैं इस ब्रह्म-पूजासे मुक्त था, वैष्णव होनेका एक लाभ तो मिला। पंडित बतला रहे थे--हरिरामकी गायको राजाने (जिसके ध्वस्त गढ़को थोड़ी ही दूरपर भरहीके किनारे पूरब-उत्तरके कोनेपर अब भी दिखलाते हुए) ज़बर्दस्ती ले लिया। ब्राह्मण हरिरामने बहुत विनती की, किन्तु प्रभुतामें मदान्ध राजाने एक न मानी। हरिरामने आत्महत्या कर ली। देखते-देखते राजाकी प्रभुता स्वप्नकी तरह विलीन हो गई। 'रहा न कुल कोउ रोवनहारा।' भव्य प्रासाद पस्त होकर मिट्टीमें मिल गये। मैंने कथाको ध्यानसे सुना, किन्तु अब उसमें वह प्रेरणा नहीं मिलती थी, जो दुर्गासाधनासे पहिले ऐसी चमत्कारिक कथाओंमें मिला करती थी।

मैरवासे दूसरी गाड़ी पकड़कर, भटनीमें बदलते हुए मऊ पहुँचे। मऊमें यह मेरा पहिलेपहिल आना हुआ था। वहाँ एक या दो दिन हम लोग ठहरे थे, कहाँ, सो याद नहीं। फूफा साहेब पसंद नहीं कर रहे थे, कि सूरदास और रामदास मेरे साथ जायें। सूरदाससे उन्हें खास तौरसे भय था, क्योंकि वह परसा लौटनेकी ओर मेरा ध्यान दिलाते रहते। फूफाजीकी बोली-बानी देखकर सूरदास भी समझ गये, और उन्होंने एक मित्रसे मिल आनेका बहाना ढूँढ़कर छुट्टी माँगी। मैंने भी इसे पसन्द किया। मैं तो चाहता था, रामदास भी न जावे, क्योंकि बिल्कुल अकेला रहनेमें मुझे भागनेमें सुभीता होता--मैं समझ ही गया था, कि अबकी मेरे ऊपर ज़बर्दस्त देखरेख रखी जावेगी।

मालूम होता है, फूफा साहेबने पिताजीको मेरे बारेमें विशेष ध्यान देनेके बारेमें समझाया था। वह समझते थे, गाँवमें अच्छे खाने-पहिननेका सुभीता नहीं रहता है, इसलिए इसका मन वहाँ नहीं लगता। जो पिताजी सादी पोशाक, सादे चाल व्यवहारके ज़बर्दस्त पक्षपाती थे, उन्होंने ज़ोर देकर मेरे लिए गल्ताकी क़मीज़ और किसी वैसे ही सूती-रेशमी कपड़ेका वास्कट वहीं मऊमें सिलवाया। पानके बीड़े ही नहीं आ गये, बल्कि कनैला साथ ले चलनेकेलिए भी सौ-डेढ़ सौ अच्छे पीले पानके पत्ते, कत्था-कसैली, चूना-ज़र्दाके साथ ले लिया गया। मुझे भीतर ही भीतर हँसी आ रही थी।

कनैलामें देखकर सबसे अधिक ख़ुशी नानाजीको हुई। उनका तो लड़कपन हीसे मैं सर्वस्व था। आजी और चाची भी प्रसन्न हुईं, और मुझे भी प्रसन्नता हुई--इससे

मैं इन्कार नहीं करता। कनैला और पन्दहाको देखकर क्यों न मुझे आनन्द होता, वहाँके एक-एक वृक्ष, एक-एक भीटे, एक-एक पोखरे-पोखरी, एक-एक खंडहर तकमें मेरे बाल्यकालकी कितनी ही मधुर स्मृतियाँ निगूढ़ थीं। गोविन्द साहेब-पीपल अब सूखकर खतम हो चुका था, किन्तु जब मैं उधरसे गुज़रता तो फागुनके दिनोंके प्रहसन याद पड़ते——कैसे रातकी चाँदनीमें एक तरफ़ स्त्रियोंकी और दूसरी तरफ़ पुरुषोंकी जमात बैठती। कैसे बीचमें प्रतिभाशाली तरुण सद्यःप्रसूत भावनाओंसे प्रेरित हो, लोगोंके मनोरंजनके लिए तरह-तरहके अभिनय करते——जिनमें कितने ही अश्लील भी होते थे यह ठीक है, तो भी वे मनोरंजनकी काफ़ी सामग्री रखते थे। चुड़िहार नौजवानोंके उत्साहके कारण जोगीड़ा खूब जमता था। फ़ज़ल, वलीजान, अब्दुलकी उस वक्त बड़ी माँग थी। फ़ज़लकी उस समय की हँसने-हँसानेवाली सूरतको जब कई वर्ष बादकी उस सूरतसे मैंने मिलाया, जिसमें नंगे शिर, बंडी, धोती-काली लुंगीकी जगह वह घुटनों तक पायजामा, कुर्ता और सिरपर टोपी रखे हुए था, तो वह मुझे बिल्कुल नहीं जँची। मैं दलसागरपर ब्रह्म बाबाके बर्गदको अपने दर्वाज़ेसे देख सकता था उस वक्त कामुक सैयदसे नवोढ़ा पत्नीके सतीत्वको बचानेकेलिए ब्राह्मणदम्पतीकी आत्माहुतिसे भी बढ़कर मधुर वह स्मरण मालूम होता, जिसमें पशु-पक्षियों तकको सब काम छोड़ छायाका आश्रय लेनेकेलिए मजबूर करनेवाली गर्मीकी दुपहरियामें उस बर्गदके नीचे लड़के अपनी गाय-भैंसोंको जमा कर देते——वे स्वयं वहाँ बैठकर जुगाली करने लगतीं——और फिर बर्गदकी घनी शीतल छायासे स्फूर्ति पा ओल्हापाती खेलने लगते। और कहीं होता तो वृक्षपर चढ़नेकी कलासे अपरिचित होनेके कारण मैं शरीक न होता, किन्तु ब्रह्मबाबाकी धरती-छूती मोटी-मोटी सहस्र शाखाओंपर चढ़ने और कूदनेमें हाथ-पैर टूटनेका डर न था। बड़ी, लहुरिया और नाउरकी पोखरियाँ उन कहानियोंको याद दिलाती थीं, जिन्हें मझली बुआ या माँकी गोदमें लेटा हुआ मैं बड़ी तन्मयतासे सुना करता था। सोचता था——कनैलामें भी कोई राजा था, जिसकी बड़ी, लहुरी (छोटी) दो रानियाँ थीं, जिसकी चहेती एक नाइन थी, तीनोंने इन तीनों पोखरियोंको बनवाया था। इन्हीं पोखरियोंमें मैं कभी किन्ना और बदरीके साथ मछली मारा करता। कनैलाके स्थानोंको देखकर पुरानी घटनायें फिर आँखोंके सामने सजीव होकर फिरने लगतीं, और चित्तमें "ते हि नो दिवसा गताः"की टीसके साथ एक प्रकारका आनन्द भी प्रदान करतीं। इस तरह कनैला आना सिर्फ़ असन्तोष ही असन्तोष पैदा करनेका कारण नहीं हुआ।

पाँच-सात दिन बाद रामदासने परसा हो आनेकी इच्छा प्रकट की, मैंने भी

उसके द्वारा गुरुजीके पास अपनी परिस्थितिको कहला भेजा। रामदास आठ-दस दिन बाद लौट भी आया। लेकिन यहाँ जाने देनेका कौन नाम लेता है? निराश हो रामदास जब परसा जानेकेलिए तैयार हुआ, तो घरवालोंको बहुत सन्तोष हुआ। मैंने भी इसे अच्छा ही समझा, क्योंकि अपने साथ रामदासको भी लेकर भागना ज़्यादा मुश्किल था। घास चरनेकेलिए लम्बे रस्सेमें बँधे बछड़ेकी भाँति मेरे बन्धनमें भी कनैलासे बछवल तक आने-जानेकी गुंजाइश थी। मेरे लिए विशेष खाने-पीनेकी व्यवस्था थी, किन्तु कुटुम्ब-भोजमें अवांछनीय दाल-भातको अमृत बनाकर खानेवाला मन अब भी मेरे पास था, फिर छोटे भाइयों और घरके दूसरे व्यक्तियोंसे पृथक् अपनेलिए विशेष भोजन मुझे क्योंकर पसन्द आता।

रामदासके चले जानेके हफ़्ते भर बाद मैंने एक बार मुक्त होनेका साहस किया। भागकर आज़मगढ़ स्टेशन पहुँचा, किन्तु ट्रेन पकड़नेसे पहिले ही पिताजी वहाँ मौजूद थे। सामने पड़ जानेपर भीड़ इकट्ठा कर बहस शुरू करना मुझे पसन्द न था। मैंने अपनी हार स्वीकार की, और उनके साथ कनैलाकी ओर चल पड़ा। रास्तेमें वह समझा रहे थे—'तुम्हें गाँवका जीवन पसन्द नहीं। वहाँ खाना अच्छा नहीं मिलता, वहाँ परिष्कृत वस्त्र दुर्लभ हैं। मैं तुम्हारी ज़िन्दगी भरके लिए घी-दूध खाने, साफ़ कपड़ा पहिननेका इन्तिज़ाम कर देता हूँ।' इसके बाद उन्होंने हिसाब भी लगाना शुरू किया, और बतलाया—"इतने मूलधनके सूदसे तुम्हारा काम चल सकता है। तुम कहीं मत जाओ, घरपर रहो, मैं इतना रुपया तुम्हारे नामसे जमा करनेके लिये तैयार हूँ। मुझे उनकी बातोंसे गुस्सा नहीं आता था, मुझे सिर्फ़ इतना ही ख्याल आता था, कि अपने भावोंको उन्हें समझाना मेरे लिए कितना मुश्किल है। ज्ञानकी भी कोई भूख है, विस्तृत जगत्‌के देखनेकी भी कोई भूख है, शिक्षित-संस्कृत समाजमें रहनेकी भी कोई भूख है, जो भोजनकी भूखसे हज़ारों गुना ज़्यादा तेज़, और सदा अतृप्त रहनेवाली है, इसे मैं समझानेकी कोशिश करता, किन्तु वह उसे सुननेको तब तैयार होते, जब मैं कनैलामें आँखोंके सामने रहने की उनकी शर्तको क़बूल कर लेता।

कनैला और बछवलमें लोग ज़्यादा सजग हो गये थे, इसलिए इस अवस्थामें कोई साहस करना फ़ज़ूल था। मुक्ति प्राप्त करनेके लिए विश्वास दिलाकर उनकी उस जागरूकताको ख़तम करना ज़रूरी था। यागेश आधा प्रयागमें और आधा बछवलमें रहते थे। वह संस्कृत नागरिक समाजमें रहना पसन्द करते थे, किन्तु ज्ञानलिप्सा-की वह प्रचंड दावानल जो मेरे अन्तरतममें जल रहा था, उसके प्रहारसे वह बहुत

कुछ सुरक्षित थे। वह अब भी मेरे "नर्मसचिव" थे, इसलिए होलीसे पहिले बछवलमें उन्हें आया देखकर मुझे बड़ी खुशी हुई। उसी तरह हम चारपाईपर लेटे या बैठे भूत-भविष्यकी कथायें और कल्पनायें किया करते। उसी तरह हम एक साथ कभी कुटी, कभी संकटाप्रसादके बंगले और कभी हरेभरे खेतोंमें चक्कर काटने चले जाते। कनैलाकी अपेक्षा बछवलमें मेरा दिन अच्छा कट जाता। फूफा साहेब नस लेते थे, उनके छोटे भाई सहदेव पांडे (यागेशके पिता) सुर्ती (खानेका तम्बाकू) और अफ़ीम दोनोंके आदी थे। अपने बड़े भाईकी तरह उन्होंने संस्कृत नहीं पढ़ी थी, उसकी जगह उन्होंने उर्दू सीखी थी। निचले ओठमें सुर्ती दबाये रामायणकी चौपाइयोंको बड़े रागसे और कभी-कभी वह गदगद हो पढ़ते थे। मेरे प्रति बाहरसे यद्यपि शिष्टाचारका बर्ताव रखते, किन्तु यागेशपर मेरे असरको वह बिल्कुल पसन्द न करते थे। यागेश-की माँ अपने ज्येष्ठ पुत्रकी इच्छाके विरुद्ध जानेकी हिम्मत नहीं रखती थीं, और उनको मालूम था, यागेश और मेरा स्नेह कितना चिरस्थायी है।

मेरी बुआ मेरे लिये अभिमानकी चीज़ थीं, पहिले ही साक्षात्कारके समयसे मैं उन्हें मितभाषिणी और गम्भीर होते हुए भी बहुत स्नेहमयी पाता था। मुझे माँकी यह बात याद थी—"उस वक्त मैं पहिले पहिल ब्याहके बाद ससुराल आई थी। घरका बड़ा कुन्वा था। मेरी छोटी ननद बरता—अभी ब्याह नहीं हुआ था—ने दीवारकी आड़से अँगुली दिखलाकर बतलाया था, यह हैं काका। मैंने वही एक बार आँख भरकर अपने ससुरको देखा था। थोड़े समय बाद तो वह मर ही गये।" माँ और उनकी छोटी ननद कैसी रही होंगी ?—तब तो संसारमें मेरा अस्तित्व भी नहीं हो पाया था। बुआ ब्याहके बाद जब बछवल गईं, तो उन्हें पीसनेकेलिए अनाज बहुत दे दिया जाता था। कनैलामें उनका मायका बहुत धनी न होनेपर भी काफ़ी काम करने-वाले असामियोंका स्वामी था, इसलिए ज़्यादा काम न करना पड़ता था, और अभी तो वह छोटी लड़की भी थीं। उनकी इस तकलीफ़की सूचना जब कनैला पहुँची तो जानकी पांडेने अपने भाईको कहा—'मथुरा ! ले जाओ यहाँसे कुछ पिसनहारियोंको, और रामटहल तिवारी (?) फूफा (के मौसा जो उस वक़्त घरके प्रबन्धक थे) के घरकेलिए छै महीनेकी कुटाई-पिसाई करवा आओ। मथुरा पांडे सचमुच ही मज़-दूरिनोंको लेकर गये थे। बुआ मुझसे बहुत बातें करतीं, और उनकी बातें साधारण ग्रामीण स्त्रियोंके तलसे कुछ ऊँची हुआ करतीं, इसलिए उस वक़्त संस्कृतिके नये दिल्दादे मुझे वह पसन्द आया करतीं। एक दिन गाँवके पच्छिमकी मठिया (टोले) में रहनेवाली एक वृद्धा स्त्री आई। कमर झुकाये डंडेके सहारे चलती थीं। मैंने बुआसे

उनके घरके बारेमें पूछा। बोलीं--"बचवा ! वह जिस वक़्त अपने घरकी बात कहती थीं, तो उनकी आँखोंसे छल-छल बहते आँसुओंको देखकर मुझे भी रुलाई आती थी। कहती थीं, 'बदमली (१८५७के ग़दर)के ज़मानेमें आसपासके गाँवोंको मारती-जलाती गोरोंकी पल्टन हमारे गाँवमें भी आई। उनका गाँव लखनऊके पास था। गोरोंने घरकी तीन तरुण बहुओंको एक्केमें बैठाकर छावनीकी ओर रवाना किया। रास्तेमें दोनों तालाब या कूयेंमें कूदकर मर गईं। मैं अपने भाग्यको कोसती हूँ, मैंने भी क्यों नहीं वैसा ही किया। मुझे जीवनका लोभ हो आया।' वैसे ही भूलती-भटकती मठियाके महन्तके पास आज़मगढ़ पहुँच गई।

बछवलमें उसी वक़्त एक दुर्घटना घट गई थी। बुआके जेठे लड़के रमेश--उम्र में मुझसे छोटे--बड़े गरम मिज़ाजके थे। एक दिन बात-बातमें एक लड़केसे तकरार कर बैठे, और उसे उठाकर तालाबमें फेंक दिया। मामला पुलीसमें गया, और जाँचमें दारोग़ाके अतिरिक्त इन्स्पेक्टर साहेब आये। गवाही-साखीके वक्त मैं भी रहा। फूफाजीकी पंडिताईका इन्स्पेक्टरके ऊपर भी प्रभाव पड़ा, और लड़कों-का झगड़ा समझा-बुझाकर वहीं दबा दिया गया। इन्स्पेक्टर साहेबका ध्यान मेरी ओर ख़ासतौरसे आकर्षित हुआ था। क्यों ? उर्दू-संस्कृत कुछ अंग्रेज़ी जानता था, इसकी ख़बर कहाँ तक उन्हें मालूम थी, यह तो नहीं कह सकता; किन्तु मैं उस वक्त १९ वर्षका लम्बा छरहरा, पतला किन्तु स्वस्थ जवान था--गाँवके देखनेवालोंके कहे अनुसार 'निखरी जवानी' थी। पतली साफ़ धोती, लाल जूता, फ़लालैनकी बग़ल-बन्दीके विनीत वेषका भी प्रभाव पड़ना ज़रूरी था। पूछनेपर जब फूफाजीने अभि-मान पूर्वक कहा--"मेरे सालेके लड़के--मेरे ही लड़के हैं।' तो इन्स्पेक्टर साहेबने कहा--'ऐसा लड़का मेरा होता तो मैं उसे अंग्रेज़ी पढ़ाता।' शायद डील-डौलको देखकर उनको ख़्याल हुआ, अंग्रेज़ी पढ़ाकर एक दिन मेरी तरह इन्स्पेक्टर बनना इसके लिए आसान होता। अब कनैलाका थाना जहानागंज टूटकर चिरैयाकोट हो गया था। एक दिन वहाँके दारोग़ा साहेब ऐसे ही गश्त लगाते कनैला आये। मेरे दर्वाज़ेपर थोड़ी देरकेलिए ठहरे। बनारसके रहनेवाले खत्री नौजवान थे। कालेजसे पढ़ाई छोड़कर पुलीसमें आ पड़े थे। बड़े-बड़े मन्सूबे थे, इसलिए बेचारे वर्तमान परिस्थितिसे सन्तुष्ट न थे। शायद उन्होंने मुझमें कुछ समानधर्मता देखी, इसीलिए तो पुराने स्वप्नोंको मेरे सामने रखने लगे। पुरानें आशाभंग स्वप्नोंका संकथन भी बाज़ वक़्त अच्छा मालूम होता है। मुझे ख़्याल आता था, अपने शैशवका ज़माना, एक बार पिताने गाँवके दूसरे घरका कुछ खेत रोक दिया था--हक़्क़का झगड़ा था--,

फ़ौजदारीके मामलेमें जहानागंजके दारोग़ाजी जाँच करने आये। गाँवके बाहर पोखरेके पास पकड़ीके वृक्षके नीचे चारपाईपर दारोग़ाजी बैठे थे। आसपास लाल पगड़ी बाँधे सिपाही और काला कुर्ता पहिने चौकीदार बैठे हुए थे। रात थी, लालटेनकी रोशनीमें—लालटेन ज़रूर दारोग़ाजी अपने साथ लाये होंगे, क्योंकि गाँवमें अभी मिट्टीका तेल और लालटेन पहुँच न पाई थी—दारोग़ाजी दोनों ओरके गवाहोंकी गवाही लिख रहे थे। मैं देख रहा था, किस तरह सारे गाँव और सात-आठ वर्षके बच्चे, मेरे ऊपर भी दारोग़ाजीका रोब छाया हुआ था। बहुत दिनों तक सिउबरती (शिवव्रता मँझली) बुआ, नानी, या दूसरेके मुँहसे कहानियाँ सुनते वक्त राजाका नाम आनेपर मुझे पकड़ीके नीचेके वह दारोग़ा साहेब तथा उनके आसपासके सिपाही-चौकीदार याद पड़ते थे। आज दारोग़ाजीको मैं अपने सामने, किसी ज़बर्दस्ती छीन लिये गए आदर्शके वास्ते अफ़सोस करते, और अपनेको संवेदना प्रकट करते देख रहा था।

होलीके दिनमैं बछवलमें रहा। यागेश प्रयाग लौटनेवाले थे, इसलिए किसी दिन उनके साथ चल देना मेरेलिए आसान था। हम लोग रातको यागेशके ननिहाल शाहपुरमें रहे। उनके मामा लक्ष्मीको बछवलकी पहिली यात्रामें देखा था, उनकी उम्र उस वक्त छोटी थी, और उनकी ज़नानी आवाज़का लोग मज़ाक़ उड़ाते थे। वह घरपर न थे। रानीकीसराय स्टेशनसे हम दोनोंका रास्ता दो तरफ़ होनेवाला था। यागेशकी गाड़ी कुछ पहिले रवाना हुई। रानीकीसरायको चार साल बाद देखनेका मौक़ा मिला था, किन्तु गाड़ीकी जल्दीमें मैंने उधर ध्यान नहीं दिया। हाँ, यागेशकी गाड़ीसे जानेवाले मेरे सहपाठी जहाँगीरपुरके देवकीप्रसाद मिले। हम दोनोंने एक साथ निज़ामाबादसे मिडल पास किया था। वह जौनपुरमें अमीनका काम करते थे। दूसरे एक परिचित व्यक्ति पन्दहाके थे। उन्होंने मुझे बिल्कुल नहीं पहिचाना, जिससे मालूम हुआ, कि तबसे मेरे चेहरेमें बहुत परिवर्तन हो गया है। जीवनमें बारह और चौबीस वर्षवाले चेहरेमें बहुत अन्तर होता है। मैंने भी उस हालतमें परिचय देना नीतिविरुद्ध समझा।

भटनीमें आकर भेसमें परिवर्तनकी ज़रूरत पड़ी। वैरागी साधु चाहे तो सारे मुँह और शिरके बालको मुंडा सकता है, या सभीको रख सकता है। मैं अब तक कनैलामें गृहस्थ वेशमें था। ख़ैर, नाईने उस कामको ख़ुशीसे कर दिया, यद्यपि मूँछ मूँड़ते हुए उसे आनाकानी हुई—मूँछ हमारी तरफ़ वही हिन्दू मुंड़ा सकता है, जिसका बाप मर गया हो।—हाँ, अब मेरे चेहरेपर ज़रा-ज़रासे बाल उग रहे थे। वेस्टकोट-

को नाईको ही दे दिया——वह बाबूकी साख़र्चीपर बहुत ख़ुश था, उसको क्या मालूम था, कि बाबू वेशविरुद्ध समझकर उससे पिंड छुड़ा रहे हैं।

६

फिर परसा

गुरुजी आशाको बिल्कुल तो छोड़ नहीं बैठे थे, किन्तु उन्हें मेरे आनेमें सन्देह होने लगा था। मुझे लौटा हुआ देखकर उन्हें बड़ी ख़ुशी हुई। पिता और फूफाजी जान गये, कि मैं कहाँ गया हूँ, किन्तु अब वहाँसे लौटाकर लाना अपने बूतेसे परेकी बात समझकर वे चुप रहे। रामदास फिर मेरी ख़िदमतमें आ गया, और तीन महीने पहिले जैसी दिनचर्या फिर शुरू हुई।

पढ़नेके बारेमें कुछ कहनेपर गुरुजी साफ़ इन्कार नहीं करते थे, कभी कहते 'अच्छा' कभी कहते 'यहीं ओझाजीसे पढ़ते क्यों नहीं ?' कभी कहते 'मैं बूढ़ा हो गया हूँ खड़ा होकर चल नहीं सकता, न जाने किस दिन आँखें मुँद जायें, तुम मठका कारबार सँभालो।' यह बातें मुझे रुचिकर नहीं जँचती थीं सही, किन्तु मैं यह भी देख रहा था कि मठका प्रबन्ध बहुत ख़राब है, हिसाब-किताबका कोई ख़्याल नहीं करता। आमदनीसे ख़र्च बहुत ज़्यादा था। सरासर घाटेके काम बड़े उत्साहके साथ 'लाभदायक उद्योग'के तौरपर किये जाते थे। परसामें मठके बहुतसे धानके खेत थे, जिनकेलिए १०, १५ रुपया एकड़ पर जोतनेवाले आसानीसे मिल जाते, किन्तु उनको ख़ास 'ज़िरात'में रखा गया था। मैंने हिसाब करके दिखलाया, कि उन खेतोंकी जुताई, रोपाई, निकाई, सिंचाई, कटाई, दँवाईपर जितना ख़र्च होता है, उतनी भी उनसे आमदनी नहीं होती, १०-१५ रुपये एकड़ मालगुज़ारीका जो नुक़सान होता है, सो अलग। लेकिन गुरुजी इस बातको भी नहीं समझ पाते थे। कारिन्दा समझा देते——"सालमें धानकी कितनी बड़ी राशि खलियानमें दिखलाई पड़ती है, सब ख़रीदना पड़ेगा।" और गुरुजी भी वही दुहराते। मन्दिरके सभा-मण्डपका काम भी घटनेकी जगह बढ़ता ही जा रहा था। उस वक़्त बनारसके मिस्त्री उसपर काम कर रहे थे। इन दोनों बातोंको रुकवा सकना, मैंने अपनी शक्तिसे बाहरकी बात

देखी, किन्तु कर्जका रास्ता रोकना तथा आमदनीके रास्ताको स्थायी करनेकेलिए कुछ करना ज़रूरी था।

मठका सबसे बड़ा गाँव बहरौली था, जिसकी सालाना आमदनी साढ़े पाँच हज़ार थी। यह गाँव मठके प्रभावशाली संस्थापक बाबा प्रसादीरामको अठारहवीं सदीमें दिल्लीसे दान मिला था। गाँवके राजपूत बड़े लड़ाकू थे, मालगुज़ारी कभी वसूल न होती थी, वस्तुतः इसीलिए यह बूढ़ी गायका गोदान हुआ था। परसादी बाबाके अधिकारमें आ जानेपर भी गाँवके राजपूतोंके मालिकानाके हक़को स्वीकार किया गया था, और सर्कारके पास जमा की जानेवाली मालगुज़ारीका कुछ हिस्सा "मालिकाना"के तौरपर अब भी उन्हें मिलता है। कुछको छोड़कर बहरौलीके सारे खेत रब्बीके हैं। आजसे पचास वर्ष पहिले बहरौलीकी नीलकोठी सारे उत्तर बिहारमें प्रसिद्ध थी, उसके निलहे साहबोंका आसपासके सैकड़ों गाँवोंपर भारी रोब था। कोठीका विशाल बँगला, कितने ही फ़ेक्टरी घर, तथा मशीनें उस वक़्त भी मौजूद थीं। नीलका रोज़गार जब ज़ोरों पर था, तो बहरौलीके आधेसे अधिक खेतोंमें नीलकी खेती हुआ करती थी। नीलकी खेतीके बन्द होनेपर कोठीका शीघ्रतासे पतन हुआ। कोठी और उसके चारों ओरकी मुकर्री ज़मीन किसी दूसरेने खरीद ली। मालिककी बकाश्त ज़मीन मालिकको लौट गई। अभी खूब खाद डालकर नीलकी खेतीमें रहनेके कारण खेत बड़े उपजाऊ थे, इसलिए खेतकेलिए भूखे घनी आबादी वाली बहरोलीके किसानोंने बीस-बीस, पचीस-पचीस रुपये एकड़की शरहपर खेतोंका बन्दोबस्त लिया। अब उन किसानोंसे वह रुपया दिया न जाता था, और हर साल बहुतसी मालगुज़ारी बाक़ी रह जाती।

उस वक़्त इस बाक़ी पड़ी मालगुज़ारीपर मैं इस दृष्टिसे नहीं देख रहा था, मैं देख रहा था, हमारे गुमाश्ता, पटवारी मिलकर कुछ ले दे वसूल होनेवाली रक़मको भी बाक़ी रख देते; जब कई वर्षका बक़ाया जमा हो जाता, तो मालिकसे कहते—'सरकार, वसूल होने लायक़ नहीं है, छोड़ दें।' और इस प्रकार हर साल दो-ढाई हज़ार रुपये छोड़े जाते। यह बात मुझे, मालिकके साथ धोखा देना मालूम हुई। उधर बहरोलीके बा० राजनारायणसिंह—जिन्होंने अपने उद्योगसे कलकत्तामें जा एक अच्छी सम्पत्ति पैदा की थी—कुछ रुपयोंके अगवढ़के साथ गाँवको ठीकापर लेनेकेलिए तैयार थे। मैंने तै किया, गाँवको ठीका लिख देना ही अच्छा होगा। गुरुजी मेरी रायको मान गये, तो भी जिन लोगोंके स्वार्थपर धक्का लगता था, वह बराबर उल्टा समझानेकी कोशिश करते रहे—'महाराजजी, ठीका दे देनेपर अपनी ही

ज़मींदारीमें आप पराये हो जायेंगे। इतना जुर्माना, फ़र्माइश हुकूमतकी आमदनी ठीकेदार हीको न मिलेगी. . . .।' पटवारीने सालोंसे काग़ज़ तैयार नहीं किया था, उसका तैयार करना भी आसान काम नहीं था। उसीमें महीनों लग गये, और जब ठीकेके काग़ज़की रजिस्ट्री हो गई, तो मुझे एक भारसा हल्का होता दिखाई पड़ा।

× × ×

रातको मन्दिरकी आरती-पूजा और भोजनसे छुट्टी हो जानेपर और शिष्योंके साथ मैं भी गुरुजीका चरण दाबने जाता था। यह वक़्त था, जब कि गुरुजी अपनी तीर्थ-यात्राओं, अपनी सुनी हुई कथाओं और मठ तथा सम्प्रदायके मौखिक इतिहासको बतलाते थे।

परसादीरामकी गुरुपरम्परा पीछे जाती हुई शाहजहाँ--औरंगज़ेबके समकालीन सन्त धरणीदास तक पहुँचती हैं। वह एक अच्छे सन्त कवि हो गये हैं। परसादी-रामके बाद रामसेवकदासजी महन्त हुए। इन्हींके ज़मानेमें सारन ज़िला कम्पनीके अधिकारमें गया। रामसेवकदासके शिष्य रामचरणदास कुछ दिनों अंग्रेज़ी पल्टनमें सिपाही थे। गुरुके मरनेपर उनके पुत्र लक्ष्मीनारायण महन्तीके दावीदार थे। हथुआके बाबू छत्रधारीशाही, जो पीछे अपनी सेवाओंके कारण महाराज छत्रधारी-शाही (वर्तमान हथुआ राजवंशके पूर्वज) बने, उनकी पीठपर थे। हथुआ राज्यकी ओरसे झरहीके किनारे--रामनगर आदि पाँच गाँव परसा मठको मिले थे, इसलिए मठके उत्तराधिकारके प्रश्नपर मेरा भी बोलनेका अधिकार है, यह उनका कहना था। दूसरे पक्षने--जिसमें परसाके बाबू लोग शामिल थे--श्री रामचरणदासको कह-सुनकर परसा ले आ, उनकी ओरसे महन्तीका दावा दायर किया। लड़ाई बहुत दिनों तक होती रही, अन्तमें रामचरणदासकी जीत हुई, और परसामठ गृहस्थके घरके रूपमें परिणत होनेसे बच गया। इसी मुक़दमेमें बहरोलीवाली बादशाही माफ़ीकी सनद अदालतमें जमा हो गई, और दायमी बन्दोबस्तके दुबारे सर्वेमें पेश न कर सकनेके कारण बहरोलीपर सर्कारी मालगुज़ारी बँध गई, जो आसपासकी शरहसे ज़्यादा थी। रामचरणदासके महन्त होनेपर बाबू छत्रधारीशाहीने अपने राजकी ओरसे दिये गये पाँचों गाँवोंको परसासे लौटा लिया।

सन् सत्तावनके ग़दरमें विदेशी शासकोंके ख़िलाफ़ देशके विरोधको देखकर रामचरणदासकें बूढ़े शरीरमें भी एक बार सिपाही ख़ून जोश मारने लगा। उन्होंने परसाके ठठेरोंको बुलाकर तोप ढालनेकी सलाह शुरू की। गढ़के बाबुओंने बहुत हाथ-वाथ जोड़कर उन्हें वैसा करनेसे रोका। बाबा रामचरणदास बड़े दीर्घजीवी रहे,

कहते हैं वह सौ वर्षसे ऊपर तक जिये, और उनके दाँत फिर से निकल आये थे। दान देनेमें भी वह बड़े मशहूर थे। सामने जो कुछ आता उसे देनेमें संकोच नहीं करते। मठका कारबार छोटे महन्त श्री रघुवरदासने सँभाला था, उस वक्त मठके हाथीको दान हो जानेके भयसे परसा मठपर आने नहीं पाता था।

हमारे गुरुजीके गुरु श्री रघुवरदासजीमें कोई खास विशेषता न थी, सिवाय इसके कि वह अपने मठकी सम्पत्तिका अच्छा इन्तिज़ाम कर लेते थे। इन्तिज़ाम करनेकेलिए मठका एक और अधिकारी था जिसे 'अधिकारी जी', कहा भी जाता था। वस्तुतः अंग्रेज़ी राज्यने—हर तरहकी सम्पत्तिपर व्यक्तिका निस्सीम अधिकार—इस एक ही लाठीसे सबको हाँककर मठकी सम्पत्तिपर व्यक्तिका एकाधिकार जिस तरह क़ायम कर दिया वैसा पहिले था भी नहीं। पहिले महन्तको मनमानी करनेसे रोकनेका अधिकारीको अधिकार था, और महन्तपर दूसरे साधुओं, गृहस्थों तथा सम्प्रदायके मंडलका अधिकार होता था। परसामें मेरे आनेसे पहिले ही अधिकारीका स्थान रिक्त हो गया था, और गुरुजी अपने स्वातन्त्र्यमें बाधक समझ अभी उसकी स्थापनाके बारेमें सोच भी नहीं रहे थे।

परसाका मठ किसी समय कइलके मठसे निकला था। उसके संस्थापक केवलरामके उत्तराधिकारी गृहस्थ हो गये, और आज उस मठमें उन्हींकी सन्तान गृहस्थ वैरागीके तौरपर रहती है। केवलरामके गुरु माझीके धरणीदास थे, यह बतला चुके हैं। इस प्रकार परसा मठका नम्बर माँझी और कइलके पीछे पड़ता है, किन्तु वैरागी जगत्में परसा हीका नाम ज़्यादा प्रसिद्ध है, उसकी वजह यही है कि परसादीरामकी शिष्यपरम्परा ज़्यादा बढ़ी, और पिछली दो शताब्दियोंमें वह युक्तप्रान्त और बिहार ही नहीं पंजाब, महाराष्ट्र और बंगाल तक फैल गई। उसकी शाखा-मठोंकी संख्या आज सैकड़ों है। उस वक्त गुरुजी इन मठोंके नाम तथा उसके संस्थापकोंकी विशेषतायें बतलाते। वह ख़ुद भी बहुत घूमे हुये थे। साथ ही कभी-कभी उन मठोंके साधु मूलस्थानको देखने परसा आया करते थे, उनसे भी बातें मालूम होती थीं।

यद्यपि वह नहीं चाहते थे, कि मैं परसासे जाऊँ, तो भी वह आपबीतीसे जानते थे, कि मैं किसी वक़्त चला भी जा सकता हूँ; इसलिए 'करम-धरम' (साम्प्रदायिक चाल-व्यवहार) सिखलानेमें बड़ी तत्परता दिखलाते थे। 'रामपटल' और 'रामपद्धति'-की छोटी-छोटी पोथियाँ मेरे हाथमें थमा दी गई थीं, और रोज़ आग्रह होता था—'इसमेंसे धाम-क्षेत्र पुंच-संस्कार याद कर डालो। वेदान्त और भगवतीके महामन्त्र-की सिद्धिकी जिसपर मार पड़ चुकी हो, उसे आर्यसमाजकी छींट न पड़नेपर भी, ये

पटल-पद्धतियाँ खिलवाड़सी थीं; तो भी अब उन्हें देखना तो ज़रूरी था। इसमें शक नहीं कि, धर्म और वैराग्यकी खोजमें मैं परसा नहीं आया था, मैं वहाँ आया था शास्त्र और संसारके विषयमें विस्तृत ज्ञानके सुभीतेके ख़्यालसे। परसामें एक दिन एक पंडितसे मेरी बहस होने लगी, अद्वैत वेदान्तका पक्ष ले मैं बोल रहा था। गुरुजीको वेदान्तके सूक्ष्म सिद्धान्तोंसे क्या मतलब ? तो भी वह यह जानते थे, कि अद्वैत वेदान्त शंकराचार्यकी चीज़ है, इसीलिए मुझसे कहा—यह हमारे सम्प्रदायका सिद्धान्त नहीं है। मुझे यह भी एक नई सी बात मालूम हुई, क्योंकि मैं रामानन्दके शिष्य कबीर, तथा रामानन्दीय तुलसीदासको अद्वैत वेदान्तका प्रेमी मानता था।

'पंचसंस्कार'की सोलहो आना जाली 'श्रुतियाँ' तो मुझे असह्यसी मालूम होती थीं, क्योंकि रुद्री और यजुर्वेदके बहुतसे अध्यायोंको स्वर सहित पढ़ा होनेसे मैं पहचानता था, कि वेदके मन्त्रोंकी भाषा कैसी होती है। किसी नये मठ या साधुके पास जानेपर, उसके असली-नक़ली पहचानकेलिए धाम-क्षेत्र सम्बन्धी प्रश्न पूछे जाते हैं। गुरुजीने उसके कुछ प्रश्नोत्तर मुझे निम्न प्रकार बतलाये—

"कौन स्थान है महात्मा !"

"परसा।"

"आपके गुरु महाराजका नाम क्या है ?"

"श्री श्री श्री लक्ष्मणदासजी महाराज।"

"कौन अखाड़ा है ?"

"दिगम्बर।"

"कौन द्वारा है ?"

"सुरसुरानन्द।"

आमतौरसे यही प्रश्न काफ़ी होते हैं। धामक्षेत्रमें वैष्णवोंके चारों संघ-बद्ध सम्प्रदायोंके अलग-अलग 'अयोध्या धर्मशाला, चित्रकूट सुखविलास' आदि सूची दी गई है। पाँच-सात बारके कहनेपर भी मुझे उन सूचियोंको रटते न देख गुरुजीने चेतावनी देते हुए कहा—'यदि याद नहीं करे रहोगे, तो बालाजी (तिरुपती)में पंघत (पंक्ति)से साधु उठा देंगे।'

मैंने उत्तर दिया—"पंघतमें बैठनेकी नौबत आनेसे पहिले मुझे सारे धाम-क्षेत्र, पंचसंस्कार याद हो गये रहेंगे।"

× × ×

आज़मगढ़ और छपराके ज़िलोंके बीचमें सिर्फ बलिया या गोरखपुरमेंसे एक ज़िलेका अन्तर है। उन दोनोंकी भाषा भोजपुरी है, और आज़मगढ़के कुछ थानोंमें तो उसकी उपशाखा वही मल्ली बोली जाती है, जो छपरामें। यद्यपि कनैला और पन्दहा दोनोंकी भाषा काशिका (बनारसी) उपशाखाके भीतर पड़ती थी, और इस प्रकार छपराकी भाषासे अन्तर था। इसी तरह कितने ही ग्रामीण आचारों और पूजा-प्रकारोंमें भी अन्तर दिखलाई पड़ता था। जब पहिली बार बहरौलीमें मुझसे कहा गया—आज छठका पर्व (कार्तिक शुक्ला षष्ठी सूर्यपूजा) है, तो मुझे यह नहीं मालूम हो सका, कि आज हिन्दू-घर रातको कई घंटोंकेलिये स्त्रियोंसे शून्य हो जायेंगे। औरतोंकी बटगायनोंमें भी मुझे कनैला-पन्दहासे यहाँ फर्क मालूम होता था। मेरेलिए यह भी तअज्जुबकी बात थी, कि ख़ासतौरसे पहिलेसे इन्तिज़ाम न करनेपर बहरौली जैसे बड़े गाँवमें भी अरवा चावल—वैष्णव साधु उसीको खा सकते थे—नहीं मिल सकता; घर-गाँव, हाट-बाज़ार सभी जगह लोग 'उसिना' चावल (उबले धानका चावल) खानेके आदी हैं।

मठके साधुओंके साथ मेरा बर्ताव सदा सहृदयताका रहता था। ज्ञानप्राप्तिमें सहायताके सिवाय मठके अधिकारको मैं और किन्हीं अर्थोंमें नहीं लेता था। यद्यपि भविष्यकी रूपरेखा मेरे सामने साकार नहीं थी, तो भी उस वक्त भी मुझे मालूम होता था, कि परसा मेरा 'अथ' और 'इति' नहीं होगा। मठमें साधुओंकी संख्या १५, १६के क़रीब रहती थी। मैं उन दिनोंकी बात बड़ी ईर्ष्या से सुनता था, जब परसा-मठकी 'पंगत'में सौसे कम साधु नहीं बैठते थे। मेरे गुरुभाइयोंमें श्री सीतारामदास शुरू हीसे मेरे स्नेहके भाजन रहे। एक और तरुण गुरुभाई—जो थोड़ीसी लघुकौमुदी भी पढ़े थे—से तो इतना स्नेह हो गया था, कि जब पहिली लम्बी यात्रासे लौटकर आनेके बाद मुझे मालूम हुआ कि उनका देहान्त हो गया, तो इसका मुझे बहुत दिनों तक अफ़सोस रहा। मेरी कोठरीके बाहर मौनीबाबाका आसन था। वह भी परसा मठके हितैषी सरल साधुओं में से थे। वह कभी नहीं बोलते थे, किन्तु अँगुलियों और आँखके इशारेसे सभी बातें समझा देते थे, और स्लेट पेन्सिलकी बहुत कम ज़रूरत पड़ती थी। महन्तजीका उनपर बहुत विश्वास था। वह भी मठके कुप्रबन्धसे बहुत दुःखित थे, किन्तु करते क्या ? मठके स्थायी साधुओंमें सूरदास और माधवदास दो भाई थे। सूरदास—यह नेत्रहीन होनेके कारण उनका नाम पड़ा—समझदार थे, किन्तु उनके भाई माधव-दास आठ वर्षके बच्चेके बराबर बुद्धि रखते थे। तरुण लड़के और छोटे-बड़े मठ-वासियोंकेलिए वह मनोरंजनकी एक सामग्री थे। भात बनानेके बड़े बर्तन उन्हें

मलनेकेलिए दे दिये जाते और कहा जाता--माधवदास जाओ आजसे तुम "टोकना" (देग)के महन्त बना दिये गये। मज़ाक़ समझ जानेपर भी वह नाराज़ नहीं खुश होते। सुदर्शनदासकी कथा बड़ी मनोरंजक है। सोलह-सत्रह वर्षकी उम्रमें वह महन्तजीसे शिष्य होने आये थे। दालानमें सोये हुए थे। एक दूसरे साधुको बात मालूम हो गई, उसने तुलसीकी कंठी ले धीरेसे गलेमें बांध दी, जिस वक्त वह कानमें मन्तर फूँक रहे थे, उस वक्त नींद खुली। अब क्या करते ? चेला तो बन चुके थे, अन्तमें वही सम्बन्ध स्थायी बन गया। एक आधा-पागल साधु गंगादास(?)हमेशा अस्तबलमें रहता। देग मलनेका काम उससे लिया जाता। नहाते उसे कभी किसीने नहीं देखा। जिस पुआल और चटाईपर सोता, उसे कभी बदलता नहीं था। एकाध बार उसके बदनसे दबकर मरे साँप बिस्तरेके नीचे पड़े मिले। इतना होनेपर भी पैसा जमा करनेमें उस्ताद था। परसासे एकमा जानेवाली सड़कपर, प्रायः आधी दूर बर्गदके नीचे एक बिना गचका कुआँ था। वह लोटा-डोर लेकर आने-जानेवालोंको पानी पिलाता। बंगालसे लौटनेवाले कितने ही मुसाफ़िर एकमा स्टेशनसे उतर इसी रास्ते लौटते। पानी पिलाकर बड़े मधुर स्वरमें कहता--'भैयाजी ! और सर्धा तो पूरी हो गई। रामजीकी दयासे कूआँ भी बँध गया, अब इसकी मनको पक्का कर देनेकी सर्धा और बाक़ी है। जो आना-दो आना, पैसा-दो पैसा बन सके, धरमके काममें मदद करें।' और उसे पैसे मिल जाते थे। लोग समझते थे, इसी साधुने कुआँ बनवाया है।

साधुओंमें पढ़ने-लिखनेका अभाव था, और उसकेलिए प्रोत्साहन भी नहीं दिया जाता था। वहाँ चाहिए थे ऐसे साधु, जिनके पास कमसे कम दिमाग़ी सम्पत्ति हो। जो बर्तन मल सकें, झाड़ू दे सकें, खाना बना सकें, हज़ारों छोटे-मोटे शालिग्रामोंको 'नहला'(धो)कर उनपर थोड़ा-थोड़ा चन्दन और एक-एक तुलसीका पत्ता डाल सकें, राम-लक्ष्मण-सीता, या राधा-गोपालकी मूर्त्तियोंके समय-समयपर नया कपड़ा बदल सकें, आरती दिखला सकें, तथा सबेरे झाल-ढोलक लेकर बे सुर-तालके भजन गा सकें, और रातको दूकानसे छुट्टी पाकर आये बनिया भगतोंके साथ मिलकर रामायणके संगायनके नामपर खूब गला फाड़ सकें। इससे ऊपर यदि किन्हींकी ज़रूरत थी, तो महन्तजीकेलिए एक 'हज़ूरिया' (साधु ख़िदमतगार), एक भंडारी (भंडारके सामानको देने-लेनेवाला)की, जिनमें कुछ साक्षरता हो तो अच्छी बात। शरीरसे कुछ काम कर देना, दोनों शाम खा लेना, और समय बचे तो कुछ गला फाड़ लेना या गप्पें उड़ाना

बस यही वहाँके साधुओंकी दिनचर्या थी—वहीं क्यों दूसरे वैरागी मठ भी इससे बेहतर हालतमें नहीं थे।

हमारे नौकरोंमें कोचवान नकछेदी थे, जिनका लड़का रामदास मेरा अपना ख़िदमतगार था। नकछेदी बहुत सीधे-सादे बूढ़े आदमी थे। गुरुजीके उस वक्तके ख़िदमतगार ढुन्मुनके बाप और नकछेदीसे जब भेंट हो जाती, तो मज़ा आ जाता। ढुन्मुनके बाप चुपकेसे बिना जताये गोली दाग़नेकी तरह नकछेदीके पास जाकर हाथ धरतीकी तरफ़ बढ़ा बोलते—"पान (पाव) लगी, नकछेदी भाई!" "पान ल....अरे यह क्या बड़ा भाई छोटे भाईको कहीं 'पान' लगता है?"

"बड़े भाई तुम ही हो न?"

"कहनेसे हो जायेंगे?"

"तो किसीको पंच बद लें?"

"पंच बदनेकी क्या ज़रूरत? (नकछेदी राउतको पास-पड़ोसमें किसीकी ईमानदारीपर विश्वास नहीं था) वह तो दोनोंका चेहरा ही देखनेसे मालूम हो जायेगा।"

"बालकी कम-बेशी सफ़ेदीसे उमर नहीं पहिचानी जाती?"

"तो चमड़ेकी झुर्रियोंसे?"

"हाँ" फिर सन्देहमें पड़कर "नहीं, सारा गाँव जानता है, कौन बड़ा कौन छोटा है।"

"तो नकछेदी भाई! और किसीको पंच नहीं मानते, तो भौजी (भाभी)को ही पंच मान लें, वह जिसको छोटा कहें वही छोटा।"

"हूँ" हँसीको ओठोंसे बाहर न जानेकेलिए पूरा प्रयत्न करते हुए "भसुर (बड़े भाई)के सामने भवेह (छोटे भाईकी स्त्री) कैसे आयेगी?"

"भावजको भवेह मत बनाओ, नकछेदी भाई!"

नकछेदी पूरी कोशिश करते, किन्तु ढुन्मुनके बापकी बहस तथा पंचोंका रुख उनके ख़िलाफ़ जाता।

× × ×

मेरेलिए परसाका निवास बौद्धिक अनशन था। किस तरहके समाजमें रहना पड़ता था, इसका कुछ दिग्दर्शन ऊपर करा चुका। इसके अतिरिक्त यदि कोई थे, तो ख़ुशामदी जीहुज़ूरिये। उनकी बातोंको सुननेसे मालूम होता था, मठ और उसके भगवानके वे कितने अनन्य भक्त हैं; किन्तु मौक़ा पाते ही उन्हें आँख़में धूल झोंकते देर न लगती थी। बड़ा घोड़ा बग्गीमें चलता था, जिसकी अवश्यकता गुरुजीको

भी रहा करती थी, इसलिए चैतमें, डुमरसनके मेलेसे मैंने सवारीकेलिए एक घोड़ा खरीदना चाहा। मैंने अपने जान एक विश्वसनीय आदमीको दाम ठीक करनेमें मदद देनेकेलिए चुना। सवासौ रुपयेमें घोड़ा लिया गया, लेकिन पीछे मालूम हुआ, घोड़ा पचहत्तरसे ज़्यादाका कभी नहीं हो सकता। वह सारा वायुमंडल सडाँद से भरा मालूम होता था। मेरा वही समय अच्छा गुज़रता, जब कि 'सरस्वती'के नये आये अंकको या किसी और नई पुस्तकको पढ़ता। उस समय हिन्दी-साहित्य आरम्भिक अवस्थामें भी था। पूजा-पाठकी तरफ़ मेरा मन न लगता था। सबेरे स्नान करके कोठरीमें जाता। लोग समझते 'पुजारीजी' पूजा-पाठमें लगे हैं, और यहाँ पुजारीजी दर्वाज़ा बन्द कर बिस्तरेपर खूब पैर फैला लेटे हुए हैं, अथवा कोई उपन्यास या "सरस्वती"का अंक पढ़ रहे हैं। मन्दिरके पुजारी दूसरे ही थे, किन्तु यदि कभी मेरे मत्थे पड़ा, तो पाँच मन शालिग्रामोंको बड़े थालमें दो-दो घड़े पानीसे एक-एक करके धोना मेरे बसकी बात न थी। सौभाग्यसे स्नान-शृंगारके वक्त मन्दिरके दर्वाज़ेसे पर्दा लटकता रहता था। उस वक्त मैं एक-एकको अलग धोनेकी जगह अंजलीकी अंजली पानीमें डुबोकर रखता जाता। यदि कपड़ा मज़बूत होता, और मैं अपने दोनों हाथोंसे सारी ढेरीको उठा सकता, तो एक ही बार डुबोके रख देता। श्रद्धाके साथ अत्याचार करनेका यही नतीजा होता है। अभी तक मैं आर्यसमाजके मूर्त्तिविरोधी प्रभावमें नहीं आया था, तो भी मेरेलिए शालिग्रामके वह काले-काले गोल-मटोल चिकने पत्थर निरे पत्थर थे। बेगारकी तरह उनपर चन्दन और तुलसीदल भी डाल देता। जल्दी पर्दा हटा देनेपर डर था सन्देह होनेका, इसलिए भीतर ही बै ा एक शालिग्रामको दूसरेसे लड़ाया करता।

परसामें यदि किसी आदमीसे मिलनेमें मुझे प्रसन्नता होती, तो देवरिया (डेवढ़िया)के ओझाजी थे। सिद्धान्तकौमुदी (व्याकरण)के कितने ही भागको समाप्त कर चुका था, तो भी मुझे रस आता था काव्यशास्त्रके विनोदमें। कादम्बरी तो नहीं किन्तु दशकुमार चरितका बहुतसा अंश मैं पढ़ चुका था; नाटक तो कई, काव्यमालामें छपे भी कितने ही। एक दिन याद है, पंडितराज जगन्नाथपर हम वार्तालाप कर रहे थे, और शाहजहाँके इनाम देनेकी बात कहनेपर पंडितराजने कहा था—

"न याचे गजालिं न वा वाजिराजिं, न वित्तेषु चित्तं मदीयं कदापि
इयं सुस्तनी मस्तकन्यस्तहस्ता लवंगी कुरंगीदृगङ्गीकरोतु ॥"

आजसे तीनसौ ही वर्ष पूर्व एक ब्राह्मण महान् विद्वान्ने 'यवन' तरुणीसे ब्याह किया था, इसका मेरे दिलपर, सामाजिक रूढ़ियोंको लेकर, क्या प्रभाव पड़ा था,

उसे नहीं कह सकता। वस्तुतः, उस समय मेरे दिलपर सबसे अधिक असर यदि किसी विचारधाराका था, तो वह वेदान्तका, और वेदान्ती व्यवहारमें सड़ियलसे सड़ियल, सरासर बेवकूफीसे भरी, नितान्त परस्पर-विरोधी बातोंपर भी विश्वास करनेका विधान करते हैं।

१०

परसासे पलायन

(१९१३ ई०)

बहरौलीके ठीकेपर चले जानेसे प्रबन्धका कुछ काम मैंने सम्पादन कर दिया था। इधर बौद्धिक अनशनमें भी सब्रका प्याला लब्रेज़ हो चुका था। अबके लीची-आम-कटहलके फल खूब डटकर खाये, और उनकी फ़सलें भी समाप्तिपर पहुँच गई थीं। गुरुजीसे मद्रास और बम्बई प्रान्तके तीर्थों और वहाँके वैरागी स्थानोंके बारेमें भी काफी सुन चुका था। पढ़नेकी इच्छा तो प्रबल हो ही रही थी, साथ ही बाज़न्दाने भी दिन-रात रट लगानी शुरू की—

"सैर कर दुनियाकी ग़ाफ़िल ज़िन्दगानी फिर कहाँ ?
ज़िन्दगी गर कुछ रही तो नौजवानी फिर कहाँ ॥"

किसीको मनकी बात बतलाना, यहाँ भी कनैलाकी भाँति ही नीतिके विरुद्ध था, गुरुजीकी ओरसे ज़रूर बाधा पहुँचाई जाती। मैंने मन्दिर बनानेवाले बड़े मिस्त्री महावीरराम—जो बनारसके होनेसे मेरे ज़्यादा विश्वास-भाजन थे—से तीन रुपये लिये, और रातको ट्रेनसे थोड़ा ही पहिले जा एकमा पहुँचकर गाड़ी पकड़ी (जुलाई १९१३)। दो-एक संस्कृत पुस्तकें, दो धोतियाँ, दो लँगोटियाँ, गमछा और बिछौने-केलिए आलवानका एक पल्ला मात्र मेरे पास था। ज़्यादा चीज ले ही कैसे सकता था ? एकमासे हाजीपुरका टिकट खरीदा।

हाजीपुरमें सबसे पहिले ज़रूरत पड़ी लोटेकी। लोटेके बिना किसी साधुके स्थानपर जा कैसे सकता—तुरन्त कह बैठता, लोटे बिना यह साधु अपना 'करम-धरम' कैसे निबाहता है ? आठ आनेमें पीतलका बंगाली लोटा लिया—पैसेकी कमसे

कम ख़र्च करना जो था। यह पहिली बार रमते साधुके तौरपर मुझे किसी स्थानमें जाना पड़ा, इसलिए परीक्षामें उपस्थित होनेवाले विद्यार्थीकी तरह दिलमें धकधकी हो रही थी। 'अखाड़ा-द्वारा' तो ख़ैर याद ही था। रातको रेलकी बत्तीके सहारे मैंने 'धामक्षेत्र', 'पंचसंस्कार'के भी कितने ही अंशोंको रट लिया था--कहीं कोई पूछ न बैठे। रामचौरा मठमें गया। किन्तु वहाँ परसा स्थान भर बतलानेकी ज़रूरत पड़ी, बाक़ी मेरा भव्य वेश बतला देता था।

परसासे प्रस्थान करते वक़्त यह तो निश्चय कर लिया था, कि अबके मद्रासकी ओर चलना है, किन्तु कैसे, यह तै नहीं पाया था। अब निश्चय किया, कि रेलके लिए पैसा भी नहीं है, और पैसा होनेपर भी पैदल ही चलना उत्तम। पिछली बार तो मैं कनैलासे मुरादाबाद तक सर्पगतिसे मार्गकी सारी भूमिको स्पर्श करते गया था, अबके मंडूक-प्लुति (मेंडक-कुदान) कर रहा था। हाजीपुरमें मैं एक-दो दिन रह रेलसे बरौनी पहुँचा। शाम होनेको आई थी, मैं स्टेशनसे पच्छिमवाले नज़दीकके गाँवमें गया। संस्कृत भाषणके भरोसे समझ रहा था, किसी संस्कृतज्ञके यहाँ रातभरको शरण मिल ही जावेगी। किन्तु, वहाँ जिस ब्राह्मण देवतासे मुलाक़ात हुई, उन्हें जब मालूम हुआ कि मैं वैरागी हूँ, तो उसका मुँह बिगड़ गया। अवहेलनापूर्वक एक चौपालकी-सी जगह बतला दी। मैं क्या-क्या विचारता वहाँ जाकर सो रहा।

सबेरे घाटकी गाड़ी पकड़, गंगा पार हो रेलद्वारा लखीसराय पहुँचा। पूछनेपर साधुके स्थानका पता लग गया, और सड़कसे दाहिनी ओरके मुहल्लेमें उस छोटीसी ठाकुरबाड़ीमें पहुँचा। वहाँ सिर्फ़ एक मूर्त्ति साधु थे। अच्छी तरह आसन लगवाया। उनके मधुर वार्तालापसे चन्द ही मिनटोंमें मालूम हुआ, कि मैं किसी अपरिचित स्थानमें नहीं हूँ। तीन रुपये की पूँजी ख़तम होने जा रही थी, इसलिए यहाँसे आगे पैदल चलने की सोच रहा था। रास्तेके बारेमें जब स्थानीय महात्मासे पूछा, तो उन्होंने कहा--आगे बैजनाथका जंगल आयेगा; इसमें चोर-डाकू लगते हैं, आपके पास कुछ है या नहीं यह वे क्या जानेंगे; पहिले विषबुझा उनका तीर आपको लग जायेगा, फिर आकर टटोलेंगे। अन्तमें उनकी सलाहसे मैंने यही तै किया कि आसनसोल तकके रास्तेको रेलसे पार कर लिया जावे, जिसमें जंगल भी ख़तम हो जावे, फिर पैदल चला जायेगा।

नदी पार क्यूलमें गाड़ी पकड़नी थी। वहाँ पहुँचनेपर मालूम हुआ, गाड़ीमें कुछ देर है। एक मुसल्मान टिकट-कलेक्टरसे पूछ-ताछ करने लगा। उन्होंने बड़ी

नम्रतासे सब बतलाया, और साथ ही मेरे बैठनेके लिए कुर्सी मँगवाकर रख दी, खाने-पीनेका आग्रह करने लगे। पहिले मुझे समझमें नहीं आया, क्यों वह इतना अधिक सन्मान प्रदर्शन कर रहे हैं। मेरे बदनपर शान्तिपुरी पाढ़की सफ़ेद नफ़ीस धोती सादगीके साथ अँचलेके रूपमें बँधी थी। बदनपर दूसरा कुर्ता आदि कुछ नहीं था। हाथ और पैरका बहुतसा भाग खुला था। दूसरी धोतीमें पुस्तक लंगोटीमें लिपटी बाँधी थी। कन्धेपर, शायद, साफ़ पतला गमछा था। शिर और पैर नंगे थे। अच्छा खाने-पीने तथा घोड़ेकी सवारी करते रहनेसे शरीर मांसल और दृढ़ मालूम होता था, ऊपरसे सुगन्धित तिलके तेलकी रोज़ाना मालिशने चमड़ेको स्निग्ध और छायावासने उसे शुभ्र बना दिया था। क्या इस आकृतिने टिकट-कलेक्टरपर प्रभाव डाला था ? कुछ ज़रूर, किन्तु अधिक असर मेरी भाषाका पड़ रहा था। शायद टिकट-कलेक्टर युक्तप्रान्तके रहनेवाले थे, मेरी उर्दू तथा उसके परिष्कृत उच्चारणसे वह ज़्यादा प्रभावित हुए थे।

ट्रेन आई। बहुतसे कम्पार्टमेंट ख़ाली थे। मैं एक कम्पार्टमें, टिकट-कलेक्टरसे कृतज्ञता प्रकट करते हुए चढ़ने जा रहा था, कि बग़लके कम्पार्टमेंटमें बैठे एक सज्जन बोल उठे—'इसी कम्पार्टमेंटमें आइये महाराज !' मैं उसमें चला गया। टिकट-कलेक्टरसे 'आदाब' हुआ, कुछ मिनटोंमें गाड़ी चल पड़ी।

हमारे कम्पार्टमेंटके दूसरे साथीने बात शुरू की। स्थान पूछनेपर परसा बतला दिया, व्यवसाय तो साधु था ही। कहाँ जा रहे हैं ?——जहाँ सींग समाये, लेकिन अभी आसनसोल तक। उनके बारेमें पूछनेपर ज्ञात हुआ, वह बाढके वकील युगेश्वरी-शरण(?) कचहरीकी छुट्टियोंमें पुरी, रामेश्वर और शायद द्वारिकाके भी दर्शनके लिए निकले हैं। प्रारम्भिक परिचयके समाप्त होनेके बाद उनका सबसे ज़्यादा आग्रह था, आसन्सोलमें न उतरकर, सीधे उनके साथ चलनेका। मैं पैदल चलनेका पक्षपाती था, रेलके डब्बेमें बन्द होकर एक जगहसे दूसरी जगह पहुँच जानेमें मुझे कोई मज़ा नहीं मालूम होता था। वकील साहेबके संभ्रान्त व्यवहारको देखते अन्तमें उनके आग्रहको अस्वीकार करनेमें मैं समर्थ नहीं हुआ। तै हुआ, मेरे खाने-पीनेका प्रबन्ध वकील साहेब करेंगे, और रेलकी सवारी बिना टिकट।

आसन्सोल, आद्रा और खड्गपुरमें ट्रेन बदलनी पड़ी। बिना टिकट कैसे हम बचकर नई ट्रेन पकड़ सके, इसकी कोई बात याद नहीं है। शायद किसी टिकट-कलेक्टरसे सामना नहीं पड़ा, एक जगह तो पुलसे न जाकर लाईन ही पारकर हम दूसरे प्लेटफ़ार्मपर चले गये। खुर्दासे पुरी तकका टिकट ले लिया गया था।

यहींसे किसी पंडेका ग्रादमी भी साथ हो लिया। स्टेशनसे घोड़ा-गाड़ीपर चढ़ हम पंडाके घर पहुँचे। कोठेपर एक ग्रच्छी साफ़-सुथरी कोठरी हमको मिली।

सत्ताईस वर्ष पहिले उस वक्त पुरीके किस-किस हिस्सेको मैंने किस रूपमें देखा, यह तो पूरा मुझे याद नहीं। जगन्नाथके मन्दिरके ऊपरकी ग्रश्लील मूर्त्तियाँ तो हम दोनोंको नापसन्द ग्राईं। जगन्नाथके दर्शनमें बदरीनारायणकी भाँति ही मुझे कोई विशेष प्रभावोत्पादक बात नहीं मालूम हुई। एक बार हम लोग समुद्रमें स्नान करने भी गये थे। दो या तीन दिन पुरीमें रहे। रोज़ एक शाम जगन्नाथका प्रसाद—'हटका'—चला ग्राता था। चलते वक़्त पंडाने ग्रपनी बही या रजिस्टर सम्मति लिखनेके लिए वकील साहेबके पास भेजी, उन्होंने ग्रंग्रेज़ीमें ग्रपनी बहुत बुरी सम्मति लिख दी। न जाने क्यों, मुझे यह बात पसन्द न ग्राई। पंडे इतनी ख़ातिर ग्रौर ग्रारामके साथ रखकर, कुछ दक्षिणाकी ग्राशा रखते हैं, तो कौनसा बुरा करते हैं।

मैंने पुरी तक ही रेलसे चलनेकी बात स्वीकार की थी। ग्रब मैंने यहाँसे पैदल यात्रा शुरू करनेकी बात कही। वकील साहेब बहुत प्रार्थना करने लगे, ग्रौर संकोचके मारे मैं फिर नहीं न कर सका, यद्यपि समझ रहा था, कि मैं कितना पर्यटनके ग्रानन्दसे वंचित किया जा रहा हूँ।

ख़ुर्दासे दो-चार ही स्टेशन ग्रागे तकका मेरेलिए टिकट लिया गया था। ग्रबके हम लोग मद्रासमेलमें बैठे थे। एक ही ट्रेनमें तीस घंटेसे ज़्यादा चलना पड़ा होगा, ग्रौर एकाध बार टिकट-चेकर ज़रूर ग्राया होगा, किन्तु याद नहीं कैसे पिंड छूटा। यदि ट्रेनसे उतार देता तो मुझे बड़ी ख़ुशी होती। रास्तेके दृश्य विहार ग्रौर युक्तप्रान्तसे बिल्कुल भिन्न थे। चिल्का झीलको भूगोलमें पढ़ा था, किन्तु ग्रब उसे प्रत्यक्ष ग्राँखोंके सामने देख रहा था। उसकी मछुवेकी नावें ग्रौर उनपरके पाल बलात् मेरे ध्यानको ग्रपनी ग्रोर ग्राकर्षित कर रहे थे, मैं उनमें सत्यनारायणकी कथामें ग्राये साधु बनियेके व्यापारी जहाज़ियोंको देख रहा था। पास ही छोटे-छोटे पहाड़, लाल ज़मीन, दूर तक फैले धानके खेत थे। स्त्री-पुरुषोंकी वेशभूषासे मालूम होता था मैं किसी दूसरे द्वीपमें जा रहा हूँ, विशेषकर ग्रान्ध्र-स्त्रियोंमें किसी-किसीकी चार-चार जगह छिदी नाँक—दोनों नथुने, नासिकान्त ग्रौर विभाजक दंड। जितना ही ग्रागे बढ़ता जाता लोगोंका रंग ग्रधिक साँवला तथा काला ग्रौर उसीके साथ काया-खर्व होती जाती थी।

मद्रास हम लोग सबेरे नौ या दस बजे पहुँचे थे। बिना क़िसी दिक़्क़तके वकील साहेबके साथ मैं 'छत्रम्' (धर्मशाला) में पहुँचा। छत्रम् रेलकी सड़क पार करके

पड़ता था। अब यहाँसे दूसरी ट्रेनसे रामेश्वर जाना था, जो रातको दूसरे स्टेशनसे जाती थी। दिनमें हमने घूमकर मद्रास शहरके कुछ हिस्सोंको देखा। वहाँके अधिकांश एकतल्ले मकानोंको देखकर मालूम नहीं होता था, कि हम भारतके तीसरे बड़े शहरमें घूम रहे हैं। स्त्रियोंकी तेज़ रंगकी चारखानेवाली साड़ियाँ तथा नंगे शिरने मेरा ध्यान अपनी ओर आकर्षित किया था,—यहाँ पर्दाकेलिए कितनी बेपर्वाही है। आठ-दस घंटे ठहरनेको मिले थे, किन्तु उनको भी शहरको अच्छी तरह देखनेमें वकील साहेबने नहीं खर्च किया। मुझे अब और आगे रेलसे चलना असह्य मालूम हो रहा था, किन्तु साफ़ इन्कार करनेकी हिम्मत नहीं पड़ती थी। इतने दिनों तक साथ-साथ रहनेसे वैसा करनेमें बड़ी बेमुरव्वती मालूम होती थी।

शामको नौ या दस बजे डाक छूटनेवाली थी। सैदापटका टिकट लेकर मैं भी वकील साहेबके साथ ैठा। एक क़दम भी रेलसे आगे जाना नागवार गुज़र रहा था, किन्तु मानसिक परवशता—मुरव्वतके बन्धनको तोड़नेकी हिम्मत नहीं थी। सिर्फ़ एक आशा थी टिकट-चेकरपर, यदि वह आ जाये, तो उतरनेका नाम लेते ही, मैं इतना दूर चला जाऊँगा, कि फिर वकील साहेब नहीं पा सकेंगे। मैं धड़कते दिलसे ट्रेन खुलनेकी प्रतीक्षा कर रहा था, और जब टिकट-चेकरको ट्रेनके डब्बोंके बीचों-बीचसे आर-पार गये रास्तेमें आते देखा, तो चित्तमें कुछ प्रसन्नता हुई। टिकट-चेकरने मेरे टिकटको देखते ही अंग्रेज़ीमें कहा—"उतरो, यह ट्रेन सैदापटमें नहीं खड़ी होती।" मैं दर्वाज़ेकी तरफ़ बढ़ा, वकील साहेब 'ज़रा रुकिये' कहकर कुछ बहस करने लगे। बहसके परिणामको सुननेकी मुझे ख़्वाहिश नहीं थी; मैं दर्वाज़ेसे तुरन्त प्लेटफ़ार्मपर और फिर वकील साहेबकी नज़रसे ओझल।

मालूम हुआ, सैदापटमें खड़ी होनेवाली गाड़ी दूसरे प्लेटफ़ार्मपर है। रातके दस या ग्यारह बज रहे थे, जब मैं सैदापट स्टेशनपर उतरा। गु जी कहा करते थे, कि मद्रासमें यात्रियोंके ठहरनेकेलिए जगह-जगह 'छत्रम्' बने हैं, जिनमेंसे अधिकांशमें सदावर्त भी मिलती है। रातको सदावर्तसे तो मुझे मतलब नहीं था, किन्तु छत्रम्की ज़रूरत थी, रातको रहनेकेलिए भी, और साथ ही आसपासके तीर्थोंके बारेमें जानकारी प्राप्त करनेकेलिए भी। स्टेशनसे बाहर निकलते ही एक लड़का मिला। मैंने अंग्रेजीमें 'छत्रम् कहाँ है' पूछा। उसने कहा—'मैं उधर ही जा रहा हूँ, चले आइये।' मैं अं ेज़ीमें ही बातचीत करता जा रहा था। आगे किसी परिचित व्यक्तिसे उसने हिन्दुस्तानीमें बातचीत की। मेरे पूछनेपर लड़केने कहा—हम इधरके मुसल्मान हिन्दुस्तानी भाषा हीमें बोलते हैं। उस वक़्त मुझे नानाकी बात याद आई। वह कहा

करते थे—'तिलंगाना (आन्ध्र) में जब कोई भाषा समझनेवाला नहीं मिलता, तो हम मुसल्मानके बारेमें पूछते थे। मुसल्मान ज़रूर हमारी बोली समझ लेता था।' लड़केने छत्रम्‌के दर्वाज़ेपर मुझे छोड़ दिया। रातको मैं दर्वाज़ेके बाहर चबूतरेपर सो गया।

सबेरे छत्रम्‌में किसीसे आगेके दर्शनीय स्थानके बारेमें नहीं मालूम हो सका। बिना किसीसे पूछे सड़क पकड़कर एक तरफ़ चल पड़ा। कितनी ही दूरपर सड़ककी दाहिनी तरफ़ एक बड़ा बँगला देखा, हातेमें कुछ दरख़्त थे, फूल नहीं, और एक कोनेमें था एक पक्का कुआँ। मैं क़ायदे-क़ानूनसे परिचित न था, कि किसीके हातेमें जाना जुर्म है, विशेषकर कुयेंको तो घरके आँगनमें भी होनेपर मैं सार्वजनिक सम्पत्ति समझता था। मैंने कूयें पर जाकर इत्मीनानसे पानी भरकर दातुवनकी, स्नान किया। तब तक देखा, बँगलेके बाहरके दरख़्तके नीचे तीन-चार कुर्सियाँ पड़ गई हैं, और उनपर एक तरुण और दो स्त्रियाँ बैठी हैं। स्त्रियाँ उत्तरी भारतकी तरह साड़ी पहिने हुई थीं। हातेके भीतर आते वक़्त यह नहीं मालूम था, कि बँगलेमें कौन रहता है। स्नान करते ही वक़्त नौकरने आकर इशारेसे मुझे मालिकके बुलावेकी ख़बर दी। वहाँ जानेपर तरुणने मेरे स्थान आदिके बारेमें पूछा और यह भी कि कहाँ जा रहे हैं। उसकी माँ और बहिन भी बातमें सम्मिलित हो गईं। उन्होंने खाना खाकर जानेकेलिए कहा। वह बेला भी उसीकी थी। मैंने दाल, तरकारीका झगड़ा छोड़ा और रोटीको घी-मिश्रीसे खा लेनेमें जल्दी समझी। पंजाबिन स्त्रीका हाथ हो, और वह छटाँक-दो छटाँकसे कम घीकी बात चलाये! एक कटोरी घीकी भरी आई। खाना खाया। कोई लाहौरका उर्दूका अख़बार था, उसे ज़रासा पढ़ा, और फिर चलनेकेलिए उठ खड़ा हुआ। तरुणने आज रह जानेकेलिए कहा, किन्तु आज रहने और कल रहनेके फेरसे मैं अभी-अभी छूटकर आया था। तरुणने मेरेलिए आस-पास किसी तीर्थके बारेमें नौकरोंसे पूछा और तिरुमले (?) का नाम मालूम हुआ। 'तिरुमले अंगे', (तिरुमले कहाँ) इतना मैंने तमिलमें सीख लिया, और जहाँ कोई आदमी सामनेसे आता दिखाई पड़ता, उसे दुहरा देता। वह हाथसे इशारा करते हुए 'इंगे पो' (इधर जा) कह देता। शायद तिरुमले तक मुझे सड़क हीसे जाना पड़ा था, यद्यपि सड़क कच्ची, और कितने ही चौरस्तोंसे होकर जाती थी।

तिरुमलेमें मन्दिरके सामने एक कमलयुक्त सरोवर था। दक्षिणके प्रायः सभी मंन्दिर इसी तरहके होते हैं, इसलिए यह उसकी विशेषता नहीं हो सकती थी। हाँ, उसके पास एक छोटासा पथरीला पर्वत था, जिसपर मन्दिर नहीं तो एक गोपुर (द्वारशिखर) ज़रूर था, जिसमें रातके वक़्त एकसे अधिक लालटेनें उसके

दो-तीन तलोंपर जलाई जाती थीं। तिरुमले मैं शामसे बहुत पहिले पहुँच चुका था। यहाँ संस्कृतके कारण मुझे बोलने-चालनेमें कोई दिक्कत नहीं हुई। मन्दिरमें दर्शन किया, किसी नवपरिचित व्यक्तिने मुझे यह भी बतला दिया, कि शामको मन्दिरकी भोजनशालासे पथिकोंको दध्योदन मिलता है। दध्योदन है तिलके तेलमें मेथी या किसी दूसरी चीज़का तड़का देकर छौंका हुआ मट्ठा और भात; खानेमें खट्टा नमकीन, अच्छा लगा। पुजारीसे यह भी पता लगा, कि यहाँ 'उत्तरार्धीमठम्' भी है। उत्तरार्धी-मठम्में शायद एक आचारी और आचारिणी मिले। यद्यपि वैरागीको वह निम्न श्रेणीका जन्तु समझते थे, तो भी वहाँ रातको ठहरनेकेलिए जगह मिल गई, और साथ ही आगेके दर्शनीय स्थानोंके बारेमें बहुतसी बातें मालूम हुईं। गुरुजी कहा करते थे, कि दक्खिनमें तीर्थस्थानोंको 'दिव्यदेश' कहते हैं; उनकी संख्या सैकड़ों हैं, जहाँपर कि रामानुजाचार्य और दूसरे महात्माओंका वास रहा है। इन उत्तरार्धी (उत्तर भारतीय) आचारी साधु-साधुनियोंसे पता लगा, कि तमिलप्रान्तके बहुतसे दिव्यदेशोंमें उत्तरार्धी साधु रहते हैं। उन्होंने कुछके नाम भी लिखवा दिये। यह भी मालूम हुआ कि प्रायः हर मन्दिरमें दो-चार नवागन्तुककेलिए "प्रसाद" बँधा हुआ है।

ये 'उत्तरार्धी' आचारी हम वैरागियोंको नीची निगाहसे देखते थे, किन्तु दक्षिणी गृहस्थ-आचारियोंकी दृष्टिमें उनका भी स्थान वैसा ही था, जैसा उनकी दृष्टिमें हमारा। गुस्सेमें आकर मैंने उत्तरार्धियोंको 'वैरागी' कहकर गाली देते भी सुना था। ये 'उत्त-रार्धी' सभी दिव्यदेशोंमें कैसे पहुँच गये और स्थानीय ब्राह्मण-पुजारियोंके विद्वेषक होते भी कैसे ये अपना अड्डा जमा सके यह भी एक मनोरंजक बात है। उत्तरीय भारतमें साधुओं और उनके मठको स्त्री-संसर्गसे बिल्कुल शून्य रखना आवश्यक माना जाता है, किन्तु इधर इसमें कुछ उदारता थी, इसका कारण ढूँढ़नेपर पता लगा—उत्तरीय भारतके विरक्त आचारियोंके भी दक्षिणी आचारी ही आदर्श और पूज्य हैं, और दक्षिणी आचारियोंमें कोई भूला ही भटका होगा, जो गृहस्थाश्रमी न हो। इस प्रकार मठमें स्त्रीका रहना उतना निन्दनीय नहीं समझा जाता, खासकर जब कि स्त्रीके बारेमें कोई समीपस्थ सम्बन्ध बतलाया जा सकता हो। इन उत्तरार्धियोंमेंसे अधिकांश तीर्थ करनेकेलिए पैसे-कौड़ी बिना छत्रम्का चावल पकाते, तथा मन्दिरका पुंगल (खिचड़ी)। दध्योदन खाते हुए आये थे। किसी दिव्यदेशमें पहुँचकर जहाँ-तहाँसे फूल-पत्ता जमाकर "पुष्पकैंकर्य" (फूलों द्वारा सेवा) करने लगे। मद्रास और आसपासके श्रद्धालु अब्राह्मण भक्तोंसे उनकी कुछ जान-पहिचान बढ़ी। उत्तर

भारतमें सारे अब्राह्मण तो शूद्र माने नहीं जाते—वहाँ तो ब्राह्मण, राजपूत, भूमिहार, कायस्थ, अगरवाल आदि पचासों जातियोंको भोजन और प्रणामको छोड़ बिल्कुल एक समान माना जाता है, इतना ही नहीं कितनी ही जगह उनके हाथकी कच्ची-पक्की भी चलती है, और यहाँ मद्रासमें ब्राह्मण अपनेसे भिन्नको बहुत नीच 'शूद्र' समझते हैं। उत्तरार्धी ब्राह्मण आदतवश यहाँ अब्राह्मण गृहस्थोंके साथ अच्छा व्यवहार करते हैं, जिसका असर पड़ना ज़रूरी ठहरा। व्यापार, व्यवसाय अब्राह्मण चेट्टी और मुदालियर लोगोंके हाथमें है, उत्तरार्धी अपने व्यवहार द्वारा उनका प्रिय हो जाता है, और स प्रकार पुष्पकैंकर्यके लिये दो-आना चार-आना मासिक चन्दा कई जगहोंसे उसे मिलने लगता है। स्त्री और बाल-बच्चोंका बोझ न होनेसे ये रुपये जमा होने लगते हैं, और थोड़े ही दिनोंमें उत्तरार्धीका अपना मकान, अपना बाग़, और कभी-कभी काफ़ी जायदाद भी हो जाती है।

तिरुमलेमें मालूम हुआ, कि यहाँसे कुछ दूरपर पुन्नमलेका दिव्यदेश है। मैंने रातको तमिल वाक्योंको काफ़ी संख्यामें अपने नोटबुकमें लिख लिया था। सवेरे रवाना हुआ। रास्तेमें सौभाग्यसे संस्कृतका जानकार एक तरुण कुछ दूर तक साथी बना, और फिर पूछते-पाछते पुन्नमले पहुँच गया। पुन्नमले काफ़ी बड़ा बाज़ार है। बस्तीमें नारियल-के वृक्ष और बग़ीचे काफ़ी हैं। यहाँ पहिले उत्तरार्धी मठमें गया। स्वामिनी एक उत्तराधिनी आचारिनी थीं, जो बहुत दिनोंसे इधर रह जानेसे तमिल ख़ूब बोलती थीं। वह इधरकी आचारी (वैष्णव अय्यंगार) ब्राह्मणियोंकी तरह लाँग बँधी चारख़ानेवाली साड़ी पहिने हुए थीं। देखनेसे मालूम नहीं हो सकता था, कि वह रीवाँकी रहनेवाली हैं। थोड़ासा परिचय दे पुस्तक रख मैं मन्दिरमें चला गया। यहाँका मन्दिर तिरु-मलेसे बड़ा था। संस्कृत जाननेवाला मन्दिरमें मिल ही जाता था। अपने असह्य जाति-अभिमानके साथ तमिल ब्राह्मणोंमें यह बात तो ज़रूर है, कि उनमें शत-प्रति-शत पढ़े हुए लोग हैं। वह कपड़ा-लत्ता, घर-द्वार ज़्यादा साफ़ रखते हैं, और बहुत काफ़ी संख्या संस्कृतभिज्ञोंकी भी उनमें मिलती है। कह नहीं सकता 'पुंगल' मिला या दध्योदन, उसे खाकर मैं उत्तरार्धी मठमें चला आया। उत्तरार्धी मठमें एक आचारी भी थे। पहिले मैं समझता था, यही स्वामी हैं, पीछे यह बात ग़लत निकली। ख़ैर उनसे पूछकर आगे के कई दिव्यदेशोंके नाम और मार्गके बारेमें लिखा; इनमें पहिले आनेवाले थे—पच्चपेरुमाल, तिरुमिशी और तिन्नानूर; पहिले दोनोंमें उत्तरार्धी आचारी रहते हैं यह भी पता लगा।

पच्चपेरुमाल दूर नहीं था, तो भी अभी प्रतिदिन एक दिव्यदेशके दर्शनका नियम

गया। पञ्चपेरुमाल एक छोटेसे गाँवका छोटासा मन्दिर था, किन्तु वह 'छोटासा मन्दिर' राग-भोग, वस्त्र-आभूषण, वृत्ति-बन्धनमें हमारे यहाँके बड़े-बड़े मन्दिरोंकी नाक काटनेवाला था। यहाँके उत्तरार्धी आचारी अभी कुछ ही सालोंसे आये थे। उनका अपना मकान भी नहीं था। किसी तरह गुज़ारा कर लेते थे, किन्तु अबतकके देखे तीन दिव्यदेशोंमें सबसे अधिक सहृदय मुझे यही मिले। रातको बड़ी देर तक उनके साथ दक्षिणी लोगोंके आचार-व्यवहारपर बातचीत होती रही। वह भी उनके जात्यभिमानसे तंग आये हुए थे। आगेके बारेमें उन्होंने बतलाया कि तिरुमिशीमें आपको श्री हरिप्रपन्नाचार्य मिलें, वह हमारे उत्तरार्धियोंमें सबसे अधिक प्रभावशाली व्यक्ति हैं।

११

तिरुमिशीका उत्तराधिकार

(१९१३ ई०)

अगले दिन आठ बजे मैं तिरुमिशी (या तिरुमलिशै)में था। फूले कमलके साथ चारों ओर पक्का बँधा बड़ा तालाब, उसकी उत्तर और पूर्ववाले छोरसे दूर तक चली गई एकतल्ले खपड़ैलके, किन्तु स्वच्छ घरोंकी पंक्तियाँ, पच्छिम तरफ़ काफ़ी खाली जगह छोड़कर, मन्दिरका विशाल गोपुर (शिखरद्वार)—तरह-तरहके पशु-पक्षियों, देव-देवियोंकी चूने-ईंटेकी बनी मूर्त्तियोंसे अलंकृत, और उसकी दोनों बग़लसे साँपकी तरहसे निकलकर चला गया चतुर्भुज प्राकार तथा तदन्तरालवर्ती देवालय समुदाय। प्राकारके दक्खिन-पच्छिम थोड़ीसी वीथी छोड़कर फिर समरेखामें अवस्थित गृह-पंक्तियाँ। तालाबके पूरब तरफ़ फूलोंका बाग़, सुन्दर मंडप और फाटक।

तालाबमें स्नानकर पहिले मैं देवदर्शनके कामसे निवृत्त होने मन्दिरमें चला गया। दर्शनके समयका भी ख़्याल रखना ज़रूरी था। यहाँ चार या पाँच सन्निधि (देवालय) थे। तिरुमिसी आलवार (भक्तिसार स्वामी) रामानुजी वैष्णवोंके बारह प्रधान आलवारों (सिद्धाचार्यों)में हैं, यह मुझे उस वक़्त मालूम हुआ था, जिस वक़्त भारी रुद्राक्षके कुंठे और दूरसे चमकते भस्म-त्रिपुंडको धारणकर ढूँढ़-ढूँढ़कर मैं वैष्णवोंकेलिए लिखी गई गालियोंको बड़े शौक़से पढ़ता था; उनमेंसे किसी पुस्तिकामें

वैष्णवोंको नीच-अन्त्यजोंका पन्थ साबित करनेकेलिए किसी पुराने ग्रन्थका उद्धृत यह श्लोक मुझे याद था—

"विचक्षणो विश्वविमोहहेतुः,
कुलोचिताचारकलानुषक्तः ।
पुण्ये महीसारपुरे विधाय,
विक्रीय शूर्पं विचचार योगी ॥"

वही यह महीसारपुर था, और यही भक्तिसार स्वामीका जन्म और कर्म-स्थान रहा। किसी समयके एक शूर्पकारकी जन्मभूमि होनेसे आज इसका यह सन्मान था, किन्तु आजका शूर्पकार वीथीके भीतर तक घुस नहीं सकता था, मन्दिरके प्राकारके भीतर जानेकी तो बात ही क्या ?

दर्शन और प्रसादग्रहणसे निवृत्त हो मैं उत्तरार्धी मठमें गया, जो कि दक्षिणवाली वीथीमें प्राकारसे दूसरी तरफ़ था। लम्बा और कुछ मोटासा एक प्रौढ़ वयस्क व्यक्ति चबूतरेपर बैठा हुआ था। मैंने संस्कृतमें पूछा—उत्तरार्धी मठ यही है। संस्कृत हीमें मुझे अगले प्रश्नोंका भी उत्तर मिलता गया। बहुत देर बाद जाकर मालूम हुआ, कि यही स्वामी हरिप्रपन्न हैं। कुछ देरके बाद जब मैं चलनेकी इजाज़त माँगने लगा, तो उन्होंने अकृत्रिम मधुर शब्दोंमें कहा—"दोपहरका प्रसाद पाकर न जावें।" रह जानेके बाद फिर बातें शुरू हुईं। मालूम हुआ उनका जन्मस्थान बलिया ज़िलेका है, वृन्दावनके किसी 'खटले'में वह शिष्य हुए। वहीं लघुकौमुदीका बहुतसा भाग पढ़े, फिर दिव्य-देशोंकी दर्शन-लिप्सा उन्हें यहाँ ले आई। छपरा और बलिया पास-पासके ज़िले हैं, इसलिए छपराका नाम सुनकर अधिक आत्मीयता अनुभव करना उनकेलिए स्वाभाविक था। दोपहरके बाद जब जानेकेलिए तैयार हुआ, तो कहने लगे—'महात्मा दो-चार दिन यहाँ विश्राम करो। इसे दूसरेका स्थान मत समझो। तुम्हें दिव्यदेशोंके दर्शनकी लालसा है, तो मैं भी उसी लालसासे खिंचकर देश छोड़ इस मुल्कमें आ पड़ा हूँ। पिछले पच्चीस वर्षोंके निवासमें मैं सभी दिव्यदेशोंमें घूम आया हूँ। मैं तुम्हें वह सब बातें बतला दूँगा, जिनके जाननेसे तुम्हारी यात्रा अल्पायाससे होगी।

मुझको उनकी बातें युक्तियुक्त मालूम हुईं, और मैंने अपने दंड कमंडलुको वहीं रख दिया।

हरिप्रपन्न स्वामी वृन्दावनसे ख़ाली हाथ भागकर दक्षिणमें आये थे। यहीं उन्होंने पुष्पकैंकर्य कर्म शुरू किया। धीरे-धीरे मद्रासके कितने ही चेट्टी गृहस्थ उनके परिचित हो गये। चार-चार आठ-आठ आने मासिक चन्देकी रक़में जमा करते अब

उनकी ग्रामदनी पचास रुपये मासिक से ऊपर पहुँच गई थी। ग्राज स्वामी हरिप्रपन्नके पास वीथीमें ग्रपने दो घर थे, तालावसे पूरववाला वड़ा गुलावका बाग़ इन्हींका था। कितने ही एकड़ धानके खेतोंके ग्रतिरिक्त कुछ हज़ार रुपये सूदपर भी चल रहे थे। 'यह सब भक्तिसार स्वामीके पुष्पकैंकर्यकी कृपासे' जैसा कि वह कहते थे।

मठमें हरिप्रपन्न स्वामीके दो शिष्योंमें देवराज फ़ैज़ाबादके रहनेवाले थे, ग्रौर तीर्थयात्रा करते ऐसे ही भटकते हुये यहाँ पहुँच गये थे; दूसरे शिष्य रीवाँ-राज्यके रहनेवाले हरिनारायण थे। देवराज बहुत सीधे-सादे थे, किन्तु गुरुका स्नेह ग्रौर विश्वास उन्हींपर ज़्यादा था। पहिले हरिप्रपन्न स्वामीने ग्रपनी कठिनाइयोंको मेरे सामने रखकर सहानुभूति प्राप्त की। तमिल ब्राह्मणोंके ग्रभिमानका उन्हें सचमुच निशाना बनना पड़ा होगा। खाली हाथ ग्राकर उन्होंने यहाँ एक ग्रच्छा धर्मस्थान तैयार कर दिया, इसमें किसको सन्देह हो सकता है। दो-चार दिन रहनेके बाद उन्होंने कहा—"मैं भी पढ़नेके समय इसी तरह भागकर मारा-मारा फिरने लगा। पढ़ता होता, तो एक ग्रच्छा पंडित होके रहता। तुम्हारी उम्र पढ़नेकी है, घूमना तो पीछे भी हो सकता है।"

बाज़िन्दाकी सदा जीवित वाणीके कोलाहलमें भी कभी-कभी हरिप्रपन्न स्वामी जैसोंकी इस युक्तिके तथ्यको मैं स्वीकार करता था। फिर उनका प्रस्ताव हुग्रा— "परसा गुरुजीको लिख दें, ग्रौर कुछ साल यहीं रहकर विद्या पढ़ें। व्याकरणकेलिए हमारा देश जबर्दस्त है, किन्तु न्याय, वेदान्त, मीमांसा ग्रौर काव्यमें यहाँवालोंका ग्रच्छा प्रवेश होता है। इस घरको ग्रपना घर समझें। किसी बातकी तकलीफ़ हो तो मुझसे कहें। यहाँ एक ग्रच्छी संस्कृत पाठशाला है, यहीं रहकर संस्कृत क्यों न पढ़ें ?"

मुझे हरिप्रपन्न स्वामीकी स्वार्थहीन सम्मति क्यों न पसन्द ग्राती, ग्राख़िर सैर ग्रौर विद्याव्यसनमें कौन मुझे ग्रधिक प्रिय है, इस बातका पता तो ग्रभी भी मुझे नहीं लग सका है।

तालाबके उत्तर-पूर्ववाले मकानमें उस समय संस्कृत पाठशाला थी, जिसमें दो ग्रध्यापक थे। मैंने जाकर पाठशालामें नाम लिखा लिया। भक्ति (पीछे मीमांसा-शिरोमणि टी० वेंकटाचार्य), रंगा ग्रौर श्रीनिवास मेरे सहपाठी थे। हम लोग पाठ-शालाकी ऊपरी श्रेणीमें पढ़ते थे। भारी ग्रन्तर था, यहाँके विद्यार्थियों ग्रौर समकालीन काशीके विद्यार्थियोंमें। लेकिन इसमें दोष हमारे यहाँके विद्यार्थियोंका नहीं है, ग्राख़िर वह जिन घरोंसे ग्राते हैं, उनमें कितने सैकड़े शिक्षित रहते हैं ? बहुतेरे विद्यार्थी तो 'रामागति' शुरू करके 'इयं स्वरे' रटने लगते हैं, ग्रौर ठीकसे वर्णमाला ग्रौर हिन्दीकी

पाठशालीय पुस्तकोंसे भी परिचित नहीं होते । भक्ति और दूसरे साथी फूले हुए कमलोंसे भरे तालाबके किनारे घंटों ैठकर उनके सौन्दर्यको देखते रहते, असाधारण वर्षा होनेसे लबालब भरे जलाशयको देखनेकेलिए तीन-तीन मील तक जाते । क्या इस बातकी आशा हम अपने बनारसी साथियोंसे रख सकते थे ? यहाँ हम लोग सिर्फ़ पाठ्यपुस्तकोंको ही नहीं रटते थे, बल्कि अपने मनसे कितने ही काव्य, नाटक, चम्पू मिलकर या अलग-अलग पढ़ते थे । देलरामकथासार जैसे कितने ही अपरिचित काव्य-नाटकोंको मैंने यहीं समाप्त किया । मालूम हुआ उपन्यास और कहानियोंकी भाँति संस्कृतके इन ग्रन्थोंको भी शौक़िया पढ़ाईमें शामिल किया जा सकता है। पाठशालामें हम सिद्धान्तकौमुदी, मुक्तावली, तथा कुछ काव्य, अलंकार ग्रन्थ पढ़ते थे । मेरा मन खूब लग गया था, इसमें सन्देह नहीं ।

हरिप्रपन्न स्वामीने अब-धीरे-धीरे अपने सारे परिश्रमके व्यर्थ जाने तथा मठके चौपट हो जानेकी बात कहकर प्रेरणा करनी शुरू की––"ऐसा स्थान जहाँ पढ़े-लिखे, सभ्य जनोंका समागम सुलभ है, एक महान् पुण्यतीर्थ होनेसे सारे वैष्णव जगत्में जिसका सम्मान है, ऐसी जगह रहना और दक्षिणियोंको भी दिखला देना कि उत्तर-भारतीय कितने विद्वान् हो सकते हैं, यह कैसा अच्छा होगा ? . . . ."

वे बड़े व्यवहारकुशल थे, उन्होंने अपने अभिप्रायको एक ही दिनमें नहीं कह डाला। उसकेलिए पखवारेका वह इन्तिज़ार करते रहे । वह यह जान गये, कि वहाँके सह-पाठियों, पढ़ाई, और समाजमें मेरा मन लग गया है । तो भी मैं बराबर उज्र करता रहा––"मैं एक जगह शिष्य हूँ ।" "ठीक, किन्तु रामानुज स्वामी तो उस सम्प्रदाय-के भी मूल हैं । उनके वेदान्तकी परम्परा तो बल्कि आचारी लोगोंके ही पास है"–– उत्तर मिला । इसी बीच वृन्दावनके महान् नैयायिक सुदर्शनाचार्य (पंजाबी नहीं दूसर)के प्रधानशिष्य श्री भागवताचार्य श्रीरंगम्से तिरुमिशी आये । शायद हरि-प्रपन्न स्वामीनें ख़ासतौरसे उन्हें बुलाया था । भागवताचार्य नव्य-न्यायके भारी विद्वान् थे, अपने अध्यापकके सबसे तीव्र विद्यार्थी थे, और उत्तर भारतमें रहते तो उनकी बड़ी ख्याति होती । किन्तु, उनको दमाका रोग था; जाड़ों, और बरसातमें भी उत्तरमें रहनेपर बराबर दौरा हो जाया करता था; इसी कष्टसे बचनेकेलिए वह तमिल प्रान्तमें चले आये थे । तमिल देशमें सर्दीका नाम नहीं, माघ-पूसमें भी वहाँ कपड़ा ओढ़नेकी ज़रूरत नहीं पड़ती । यहाँ वह दमासे बचे रहते थे । वह अधिकतर श्रीरंगम्में रहते, किन्तु बीच-बीचमें रामानुजाचार्यकी जन्मभूमि पेरेम्बुदूर (भूतपुरी), तिरुमिशी, तथा दूसरे दिव्यदेशोंमें भी चले जाया करते थे । उस वक़्त

उनकी आयु ५० वर्षसे ऊपरकी थी ! उनका पतला-दुबला गोरा शरीर, अमांसल प्रसन्नमुख, असाधारण मधुर वाणी, तथा परम सहानुभूतिपूर्ण व्यवहार किसीको भी अपनी ओर आकर्षित किये विना नहीं रह सकता था। वह कुछ दिन यहीं रहनेवाले थे, और उनका आग्रह हुआ, मैं सपरिष्कार न्यायके किसी ग्रन्थको शुरू करूँ। तर्क-संग्रह मैं पढ़ चुका था, किन्तु उसीके प्रत्येक लक्षणका परिष्कार उन्होंने मुझे पढ़ाना शुरू किया। उनके पढ़ानेका ढंग सुन्दर था, न्याय जैसे शुष्क विषयमें भी वह दिल-चस्पी ला देते थे।

श्री भागवताचार्य मेरी ओरसे बहुत प्रभावित हुए थे, कारण शायद पढ़नेकी लगन तथा परिष्कृत रुचि ही होगी। हरिप्रपन्न स्वामीकी बातका उन्होंने भी समर्थन करना शुरू किया, और अन्तमें मुझे हरिप्रपन्न स्वामीका प्रस्ताव बलात् स्वीकार करना पड़ा। फिरसे वासुदेवमन्त्र दिया गया, बाहूमूलोंमें तप्तमुद्रा (शंख, चक्र) दी गई, हाँ उतनी गरम, और उतनी निर्दयतासे नहीं जितनी कि परसाके नये 'आचारी' के हाथोंसे मिली थी। दीक्षाके बाद भी पंक्तिमें बैठकर भोजन करनेकेलिए प्रमाण चाहिए था, कि मैं ब्राह्मण हूँ। मैंने प्रयाग यागेशके पास पत्र लिख दिया, और उनकी चिट्ठी चली आई। लिखित प्रमाण हरिप्रपन्न स्वामीको नहीं दक्षिणकी और उत्तरार्धी बिरादरीकेलिए आवश्यक था।

यहाँ मेरेलिए पूजा-पाठका विशेष झगड़ा न था। सबेरे शौच-दातवन खतम कर तालाबमें स्नान करता, फिर तालपत्रकी छोटीसी सुन्दर पिटारीसे सफ़ेद सुवासित रज, तथा लाल रोरीसे ललाटमें तिलक करता, और बस पूजा ख़तम। हरिप्रपन्न स्वामी, और पंडित भागवताचार्य संस्कृतकी पाठ्यपुस्तकोंके पढ़नेको भी पूजा-पाठका अंग समझते थे। नहाते वक़्त हफ़्तेमें एक बार तिलके तेलकी मालिश ज़रूर होती थी। यहाँ एक छटाँक तेल सुखा देना तेल मलनेवाले (स्नापक)केलिए प्रशंसाकी बात न थी, और ऐसे स्नापकोंकी कमी भी न थी। ख़ैर, बदनमें तेलकी खूब मालिश करानी अच्छी ही बात थी, किन्तु जब आँखोंमें भी तिलके तेलके डालनेकी बात आती तो मुझे बहुत बुरा लगता, लेकिन जब देवराज और हरिनारायण एक ओरसे कहने लगते—इससे आँख निरोग रहती है, तो मानना पड़ता। नहानेके वक़्त इम्ली जैसे एक फल (सिकाकाई)की पानीमें पिसी लेई बदनमें मलनी पड़ती। इससे बदनका तेल छूट जाता, और तेल लगकर धोती मैली नहीं होती। यदि तेल भी लगाना है, और साथ ही कपड़ेको भी उजला रखना है, तो इससे बढ़कर दूसरा उपाय नहीं हो सकता था। हजामत बनानेमें, उत्तर भारतके वैरागीके लिए शिर-मुँहका बाल साफ़ करना ही

पर्याप्त था, किन्तु यहाँ सारे शरीरपर, निर्लज्जतापूर्वक भी——छुरा घुमवाना पड़ता था। छाती-पैरके रोग्रोंको भी कटवा देना——मुझे व्यर्थ श्रम-सा मालूम होता था। उस वक़्त मेरे दिलमें यह ख़्याल न आया था, कि यहाँके कर्मनिष्ट ब्राह्मणोंकेलिए सुईका सिला कपड़ा वर्जित है, वह कुर्ता, कोट, मिर्ज़ई नहीं पहिन सकते, इसलिए शरीरके ऊपरके बाल देखनेमें बुरे लगते हैं।

सब लोग, घरमें और यात्रामें भी कमलपत्रपर खाते थे। उनके सूखे गट्ठर भी बाज़ारोंमें पत्तलकी तरह बिकते थे। खानेमें भात अनिवार्य चीज़ थी, और मैंने अपनेको उसके अनुकूल बना लिया था। सबेरे जलपानमें रातके बचे भातसे ताज़ा बना दध्योदन मिलता था, जो सचमुच ही खानेमें बड़ा स्वादिष्ट मालूम होता था। दोपहरको उत्तरी भारतका दाल-भात, तरकारीके साथ दक्षिणका रस या शातृमधु भी रहता था। कभी-कभी लाल मिर्चोंकी शोखी बढ़ जाती थी, नहीं तो गर्मागर्म पीने या भातके साथ मिलाकर खानेमें यह अच्छा मालूम होता। इसके इम्ली, लाल-मिर्च, तिलका तैल——ये ख़ास अंश थे। बुख़ार आनेपर पथके तौरपर जब हमारे एक सहवासीको रसम् दिया जाने लगा, तो मैं बहस कर बैठा——'क्यों बेचारेको मारना चाहते हो?' मेरे उत्तर भारतीय साथियोंने बतलाया——'यह उत्तम पथ्य है, यहाँकी आबोहवामें इससे नुक़सान नहीं होता।' मैं समझता था कि इससे तिल्ली बढ़े बिना नहीं रहेगी। भात-दाल मिट्टीकी हँडियोंमें पकता था, और जब तक कोई ग्रहण नहीं आता, तब तक उनके बदलनेकी ज़रूरत नहीं पड़ती थी। मुसल्मानी चौकेकी भाँति आचारीके चौकेको भी दक्षिणी आचारके अनुसार धोने-धानेकी ज़रूरत नहीं। वहाँ कोई खाता तो था नहीं, फिर सिर्फ़ कालिख और कचड़ेकी सफ़ाई के लिए रोज़-रोज़के श्रममें एक-एक तोला ख़ून सुखाना क्या बेवक़ूफ़ी न थी? रसोईके कमरेसे खानेका कमरा अलग था, और वह ख़ूब साफ़ रहता था। खा लेनेके बाद पत्तल अपने ही उठा लेनी पड़ती, फिर थोड़ेसे गोबरको लेकर उसपर चिपकाकर गिरे हुए चावल उठा लिये जाते, और पानी फेर दिया जाता। भोजनमें आचारियोंका नियम है——जो कि वस्तुतः तमिल वैष्णव ब्राह्मणोंका आचार है——भोजन कच्चा हो या पक्का, सिर्फ़ उसीके हाथका ही नहीं बल्कि उसीकी दृष्टिके सामने खाया जा सकता है, जिसका सहभोज हो सकता है। जिसका भोजन चलता है उसीका पानी भी, इस नियमके कारण बहुतसे धनी तथा उच्च-पदस्थ मद्रासी ब्राह्मणोंकी स्त्रियोंको भी अपने हाथ चौका-बासन, पानी भरना, रसोई बनाना पड़ता है।

खान-पान सम्बन्धी छूत-छातकी अति मुझे उतनी नहीं खटक रही थी, क्योंकि

इसमें कुछ उदार होनेपर भी मेरी धारणा किसी सैद्धान्तिक विचारपर निर्भर न थी; किन्तु व्याह-शादीकी रीतियाँ मुझे बहुत खटकती थीं। भक्तिके पड़ोसीमें एक अच्छे संस्कृतज्ञ विद्वान् थे, उनकी गौरी कन्या—नाम कोई. . . .वल्ली पच्छिम वीथीके रहनेवाले एक स्थूलकाय श्यामल तरुणसे व्याही थी। हमारी तरुण-मंडलीको यह व्याह अनुचित जँचता था; लेकिन मेरे आश्चर्यकी तो सीमा नहीं रही, जब मालूम हुआ कि उक्त तरुणकी सगी बहिन ही उसकी सगी सास भी है। मामाकी कन्यासे भांजेका व्याह पहिले सुन रखा था, किन्तु बहिनकी कन्यासे विवाह उस समय मेरेलिए कल्पनातीत बात थी। उसके बाद कितने ही मामा और बुआके दामादोंको देखकर मुझे यह सब साधारणसी बात मालूम होने लगी। नंगे सिर रहना, सौभाग्यका चिह्न होनेसे वहाँ स्त्रियोंके पर्देका तो सवाल ही न था, किन्तु तरुण पति पत्नियोंका पिता-माताके सामने घूमने निकलना उत्तर भारतीय आँखोंको विनयशून्यता मालूम होती थी—यद्यपि मैं उसका पूरी तरहसे अनुमोदन करता था। शामके वक़्त तरुण पत्नी अपनी सर्पपुच्छाकार वेणीको फूलोंसे सजाती, साफ़—अक्सर रेशमी—भड़कीले रंगवाली साड़ीको लाँग बाँधकर पहनती, फिर सन्तान होनेपर उसका श्रृंगार करके, पतिके साथ बाग़, वीथी, तालाबके तटपर घूमने निकल जाती। हमारे उत्तर-भारतकी बूढ़ी सासुयें इसे 'निर्लज्जताकी पराकाष्टा' कहे बिना नहीं रहतीं। हाँ, एक बात मुझे ज़रूर खटकती थी—बुढ़ापेमें कुछ विश्राम पानेकी जगह वहाँ सासुओंको सबसे ज़्यादा काम करना पड़ता था। दो घंटा रहते ही सासु उठती, घर-आँगन-द्वार झाड़ती, पानीमें गोबर घोलकर अविरल धारसे सब जगह छिड़कती, फिर द्वार-पर चूनेसे सुन्दर चौक पूरती—इस चौकके देखनेसे मालूम होता था, दक्षिणी स्त्रियाँ अपनी उत्तरी बहिनोंसे कला-सम्बन्धी सुरुचिमें काफी आगे बढ़ी हुई हैं। सूर्य उग आते, किन्तु अभी तरुण बधूकी खुमारी ही नहीं टूटती। बूढ़ी सास पानी गर्मकर तैयार करती—शायद बहू तेल-साबुनके साथ नहाना चाहे, केश धोना चाहे या कमसे कम हाथ-मुँह ही धोना चाहे। बहूके बच्चोंको नहलाना-धुलाना आदि भी सासुका ही काम है। बर्तन साफ़ करना, खाना पकाना, खिलाना, सासुसे वंचित ही बहूको करना पड़ता—और बस रहनेपर ऐसे घरमें बहुत कम माँ-बाप अपनी कन्याको देना चाहते। शामको रसोई बनाना, बच्चोंको खिलाना-पिलाना तथा देख-भाल ही नहीं करना, बल्कि बहूके केशोंकी वेणी बनाना—रोज़ नई वेणी गूँथनेका रवाज बुरा तो नहीं है—, उसे फूलोंसे सजाना भी सासुका ही काम है। सबेरे चार बजेसे रातके दस-बारह बजे तक सासुको साँस लेनेकी फ़ुर्सत कहाँ? चाहे पचास

वर्षकी हो या सत्तरकी, सासुको इसी तरह रोज़-रोज़, महीने-महीने, बरस-बरस मशीनकी तरह काम करते हुए एक दिन आँखोंको सदाकेलिए मुँद जानेपर ही छुट्टी मिलेगी। 'वृद्धाके साथ यह व्यवहार तरुण पुत्र और बधूमें हृदयकी कमी को बतलाता है'—उत्तराधियोंके इस आक्षेपका दक्षिणी उत्तर देते थे—'किन्तु हर सासुको तो पहिले बधूका जीवन बिताना पड़ता है, और उस वक़्त इन सुभीतोंको वह पहिले भोग चुकी रहती है। साथ ही नब्बे फ़ीसदी बधुयें सासकी अपरिचित नहीं, उसके भाई, बहिन, बेटीकी लड़कियाँ होती हैं।'

तिरुमिशीमें मठके भीतर छोड़कर बाक़ी वक़्त मुझे संस्कृतका ही व्यवहार करना पड़ता था। वहाँ एक ब्राह्मण दूकानदार थे, जिनके यहाँसे तेल, दियासलाई या कोई ीज़ लानेकेलिए जानेपर अंग्रेज़ीका व्यवहार करना पड़ता। तिरुमिशीमें मैं चार महीने रहा था, किन्तु पढ़ने-लिखने जैसे मानसिक श्रमका काम भी इतने मनोनुकूल ढंग, तथा स्निग्ध संसर्गके साथ चला, कि कभी मन ऊबने न पाया, और सचमुच ही 'दिवस जात नहिं लागहि बारा।' ज़रूरत न पड़नेसे इस बार तमिल सीखनेका मुझे मौक़ा नहीं मिला।

हरिप्रपन्न स्वामीके एक शिष्य देवराज तो बहुत सीधे-सादे आदमी थे। चौका-बासन, रसोई, मन्दिरके भीतरसे पानी भर लेना (घरके कूयेंका पानी खारा था), और कुछ गाय-बैलोंके खिलाने-पिलानेमें ताकीद—बस इतने हीमें उनका समय चला जाता था; हरिनारायणजी नाममात्र पढ़े, किन्तु होशियार थे, तो भी मुझसे उनको ईर्ष्या न थी, हालाँकि हरिप्रपन्नाचार्यका उत्तराधिकारी होनेसे अपने हक़से वंचित हो रहे थे। शायद इसका कारण मेरी मठकी सम्पत्ति और महन्तीसे निस्पृहता थी। मेरी चिट्ठी जब परसा पहुँची, तो जवाबके साथ गुरुजीने पचीस रुपयेका मनी-आर्डर भी भेज दिया, और लिखा कि जब ज़रूरत हो, रुपये मँगा लेना, और दक्षिणके तीर्थोंमें खूब घूमना।

मन्दिरके तीनों तरफ़ (ूरब तरफ़ तालाब और आगे बस्ती न थी)की वीथियोंमें सिर्फ़ ब्राह्मणोंके घर थे। उनकी दीवारें ईंटकी, छतें खपड़ैलकी थीं, घर भीतरसे खूब साफ़ थे। हर द्वारकी भीतरी देहलीमें ज़ंजीरोंपर लकड़ीके तख़्तोंका एक झूला ज़रूर रहता, जिसपर आगन्तुक या कामसे फ़ुर्सत पाया घरका आदमी भी बैठता था। सबेरेके वक़्त हर द्वारपर भिन्न-भिन्न ढंगके पुरे हुए चौक, तथा हरे गोबरसे धुली भूमिके कारण वीथी बहुत सुन्दर मालूम होती। मैं वहाँके ब्राह्मणोंको जब अपने यहाँके ब्राह्मणोंसे मिलाता, तो सोचता यह बिना हाथ-पैर हिलाये घरोंमें बैठे रहते हैं, फिर इनका

खर्च कैसे चलता है । दरअसल, ब्राह्मणका अपने हाथसे कुदाल चलाना, खुरपा इस्तेमाल करना भी वहाँकेलिए अनहोनीसी बात थी । मुसल्मानी शासनकी स्थापनासे पहिले शायद उत्तरीय भारतमें भी ब्राह्मणोंकी यही अवस्था रही हो, किन्तु वहाँ तो नये शासनने पुराने अग्रहारों, उनकी वृत्तियों और दानपत्रोंको हज़ार शपथों, और शूकर-गर्दभ-सन्तान होनेकी चित्रित गालियोंके होनेपर भी नाजायज़ क़रार दे दिया । शासनदंडके सामने किसकी चलती बनती है ? इसी कारण उत्तरके ब्राह्मणोंने अन्तमें अपने शारीरिक परिश्रमपर निर्भर रहनेकी शिक्षा ग्रहण की । इसके विरुद्ध तमिल, केरल आदि प्रान्त सदा हिन्दू-शासनके आधीन रहे, कभी मुस्लिम-शासकोंने वहाँ स्थायी विजय नहीं पाई, उन्होंने दिल्लीके फ़र्मानको मान्य भी ठहराया, तब भी अपने स्थानीय राजाओंको दिल्लीके सामन्त या करद राजा रखते हुए ही इस प्रकार उनके अग्रहारों और देवालयोंकी बहुतसी चर-अचर सम्पत्ति उनके हाथसे जाने नहीं पाई । उन्होंने अपनी पुरानी शास्त्रीय संस्कृत शिक्षाके क्रमको भी जारी रखा, इस प्रकार वे निरक्षर नहीं बनने पाये, और साधारण जनतापर उनकी विद्याका रोब बना रहा । लेकिन साथ ही इस अविच्छिन्न शास्त्रीय, धार्मिक परम्पराके कारण ही दक्षिणके ब्राह्मणोंमें सबसे अधिक विचारोंकी संकीर्णता तथा सामाजिक विषमता भी अक्षुण्ण बनी रही ।

तिरुमिशीमें दो देवस्थान थे, वैष्णव देवस्थानके अतिरिक्त गाँवसे उत्तर एक शैव देवस्थान भी था । वैष्णव शिवकी मूर्त्तिके अचानक देख लेनेमें भी पाप समझते हैं, किन्तु एक दिन भक्तिके साथ चुपकेसे मैं उसे देखने गया । गरुड़की जगह नन्दी, विष्णुकी जगह शिव, गणेश आदिकी विशेषताके साथ बाक़ी वही बातें, कुछ छोटे रूपमें यहाँ भी थीं । वैष्णव मन्दिरके पास काफ़ी जायदाद थी, जिसकी कमीटीका प्रमुख "धर्मकर्त्ता" एक अब्राह्मण मुदलियार था । हर महीने एक-दो विशेष दिन पड़ते थे, जब कि मन्दिरमें विशेष पूजा होती, या किसी विशेष देवता या आचार्यकी मूर्त्ति बाजे-गाजेके जलूसके साथ निकलती—प्रधान मन्दिरमें अचल शिलामूर्त्तियोंके अतिरिक्त जलूसमें जानेकेलिए एक धातुकी छोटी चल मूर्त्ति भी रहा करती है । नाना सुवर्ण-मणि-मुक्ताके आभूषणोंसे सजाकर मूर्त्तिको सोनेके मुलम्मेके चमचमाते प्रभामंडलयुक्त सिंहासनपर रखा जाता । चार या आठ आदमी—अब्राह्मण—सिंहासनको कन्धेपर उठाकर चलते । आगे-आगे बाजा—जिसमें दक्षिणकी प्रसिद्ध नफीरी (रोशनचौकी) भी शामिल रहती—बजता, उससे भी आगे अपने अँगोछेको धोतीके ऊपर कमरसे लपेटकर ऊर्ध्वकायको नंगे रखे ब्राह्मण लोग पहिले

'द्रविड़प्रबन्ध' (सन्तवाणी) पीछे वेदमन्त्र सस्वर पढ़ते चलते। स्त्री-पुरुष सिंहासनके आगेसे शिर भुकाये नज़दीक पहुँचते, सवारी ज़रा देरकेलिए ठहरती, पुजारी मूर्त्तिके सामने रखी घंटीमें जटित चरण-पादुकाको विनम्र नंगे शिर पर रख देता।

लेकिन तिरुमिशीके अब्राह्मण टोलेकी ओर जानेपर वह सफ़ाई, वह सुरुचि, वह संस्कृति नहीं दीख पड़ती। वहाँ निरक्षरता और ग़रीबीका अखंड राज्य दिखलाई पड़ता, कुछ खाते-पीते किसान घरोंको छोड़कर। हमारे ब्राह्मण साथी बहुत कम उधर जाना चाहते, और उन्हें यह सुनकर तअज्जुब होता, कि उत्तरके ब्राह्मण इन शूद्रों—वहाँ ब्राह्मणसे अन्य सभी जातियाँ शूद्र समझी जाती हैं—के हाथसे पानी ही नहीं अन्नकी मिठाई तक खा लेते हैं।

पहिले-पहिल जब रातको कहा गया—'चलो, गोष्ठीमें, पुंगलप्रसाद ग्रहण करने,' तो गोष्ठीसे तो मैंने अन्दाज़ लगा लिया—कई आदमियोंका एक जगह एकत्रित होना, किन्तु पुंगल सुनकर मुझे ख्याल आया, कोई महार्घ पक्वान्न होगा। दो प्रधान मन्दिरोंके सम्मिलित सभामंडपमें—जिसमें खिड़की-झरोखा न रहनेके कारण दिनमें भी अँधेरा रहता था, रातके टिमटिमाते तेलके चिराग़की वहाँ कौन सुनता, पत्थरके फ़र्शपर लोग—सिर्फ़ ब्राह्मणही—बैठे हुए थे। मधुर स्वरमें कोई मुरली बजा रहा था। पुजारी पीतलके बर्तनोंसे निकाल-निकालकर हाथमें चार-पाँच आँवलेके बराबर कोई चीज़ डालता जा रहा था। पहिले 'कुलीन' होनेसे दक्षिणी ब्राह्मणोंके हाथमें प्रसाद दिया गया, फिर हम उत्तरार्धी 'नीच' ब्राह्मणोंकी बारी आई। अब्राह्मण मंडपके अकेले दर्वाज़ेसे बाहर आसमानके नीचे टकटकी लगाये खड़े थे। मेरे हाथमें भी 'पुंगल' पड़ा। बड़े उत्साहके साथ मुँहमें डाला, देखा तो खिचड़ी—हाँ, वही खिचड़ी—जिस खिचड़ीके खानेकी बात कहनेपर यागेशको कितनी ही बार बात सुननी पड़ती थी। मैंने धीरेसे हरिनारायणाचारीकी ओर घूमकर कहा—'खिचड़ी! यही पुंगल!!' वहाँसे लौटते वक्त हरिनारायणजीने एक घटना सुनाई—"बलिया ज़िलेके नये बने दो आचारी बाप-बेटे तीरथ करने दक्षिणापथ आये। इसी तरह गोष्ठीमें वह भी बड़े उत्साहके साथ पुंगलप्रसादकेलिए बैठे। आपकी तरह हाथके पुंगलको मुँहमें डाला, तो लड़का चिल्ला उठा—'अरे खिचड़ी है, हे बाबूजी, ससुरने, पुंगल कहके जाति ले ली।'"

ख़ैर, मुझे जातिकी पर्वाह नहीं थी, और यागेश जैसे खिचड़ी-प्रेमीको तो काफ़ी घी डालकर बनी उड़द-चावलकी खिचड़ी बहुत अच्छी भी लगती। मीठा पुंगल, और मीठा 'दोसै' (चावल-मूँगका मोटा चीला) तो मुझे भी अच्छा लगता, किन्तु

वह कभी ही कभी बँटता था। और खीरके नामसे रोआँ गिर जाता। स्वामी हरि-प्रपन्नका कहना था, पावभर दूधमें एक दक्षिणी मनभर खीर तैयार कर सकता है।

तिरुमिशीमें रहते पुन्नमले, पच्चपेरुमाल, पेम्बुदुरके उत्सवोंमें मैं शामिल हो आया था। जिस दिन पहिले-पहिल हरिप्रपन्न स्वामी अपनी बंडी (बैलगाड़ी) पुन्न-मले चलनेकेलिए जुतवा रहे थे, तो मैंने कहा—"रहने दीजिये, पैदल ही चले चलेंगे।" 'इससे जल्दी पहुँचेंगे'—सुनकर मुझे विश्वास नहीं हुआ। हरिणकी तरह पीछेकी ओर खिंची सींगोंवाले मुट्ठीभरके उनके बैलको देखकर तो और भी आशा नहीं हो सकती थी। लेकिन दंग रह गया, जब मैंने उसे साधारण एक्केके घोड़ेकी चालसे दौड़कर चलते देखा। बंडी ऊपरसे दाहिनेसे बायें मेहराबमें छाई हुई थी। शायद पहियोंपर स्प्रिंग नहीं था।

अगहनका महीना था, जब कि एक दिन हरिनारायणाचारीने ति पतीके पास तिन्नानूरके महोत्सवका जिक्र चलाया। बालाजी, तिरुपतीका नाम मैं परसामें बहुत सुन चुका था, सोचा चलें, उसे भी देख आवें।

१२

दक्षिणका तीर्थाटन

चौरस्तेपर दो रस्ते नज़दीक क्या एक-दूसरेसे मिश्रित रहते हैं, किन्तु वही आगे चलकर सैकड़ों, हज़ारों मील दूर पड़ जाते हैं। इसी तरह आदमी चौरस्तेपर ज़रासा पथान्तर करनेपर आगे कहींका कहीं चला जाता है। तिरुमिशीसे चलते वक़्त हरिप्रपन्न स्वामीने तिरुपतीके एक आचारी स्थानका पता दे दिया था, और शायद परिचयपत्र भी। रेलमें अकेले बैठनेपर मैं सोचने लगा, आचारीके स्थानमें चलूँ, या तिरुपतीके वैरागी महन्तराज—कई लाखकी तहसील रखनेवाले वे वस्तुतः राजा महन्त हैं—के स्थानपर। वहाँकी पंघत (पंक्ति)में बैठ लेना वैरागीकेलिए बड़े गर्वकी चीज़ है। परसाके सम्बन्धको मैंने दिलसे तोड़ा नहीं था, क्योंकि अभी मैं निश्चय नहीं कर सका था, कि अपना कार्यक्षेत्र उत्तरीय भारत रक्खूँ या दक्षिणीय। अन्तिम निर्णय आगेकेलिए छोड़कर मैंने सोचा, तिरुपतीमें वैरागी स्थान हीमें चलना अच्छा होगा।

वेष-भूषासे मैं बहुत सम्भ्रान्त तरुण दीख पड़ता था, पढ़ा-लिखा भी था, इसलिए मुझे महन्तजीके झाड़फन्नूससे सजाये हालकी बग़लमें एक अच्छी कोठरीमें ठहराया गया। मेरे पासकी कोठरीमें छपरा ज़िलेके एक तरुण साधु थे, जो लघुकौमुदी पढ़ रहे थे। हालमें खुलनेवाले पूरबके कमरेमें सुरसंड (मुज़फ़्फ़रपुर) लवाहीपट्टीके परमहंसके शिष्य एक पंडित साधु रहते थे। इन दोनों व्यक्तियोंसे परिचय हुआ। सवेरेका जलपान तो कर लिया। दोपहरके भोजनका समय आया। पंघतका घंटा या नगारा बजा। औरोंके साथ मैं भी मन्दिरके सभामंडपमें जाकर बैठा। थोड़ी देर में एक रसोइया आया, और उसने नम्र स्वरमें कहकर मुझे ले जा आँगनमें बैठे साधुओंकी पंक्तिमें बैठा दिया। मैंने साधारण बुद्धिसे समझ लिया, कि दोनों जगहोंमें ऊँच-नीचका कोई भेद है, और यह ख़्याल आते ही लोटा लिये मैं उठकर अपनी कोठरी हीमें चला नहीं आया, बल्कि बाज़ारसे कुछ सेब-अंगूर तथा मिठाई लाकर खानेकी तैयारी करने लगा। इसी बीच यह घटना मठके प्रमुख व्यक्तियोंको मालूम हुई। आदमी दौड़े-दौड़े मेरे पास आये--"चलिये, आप उठ क्यों आये ?"

"आप मुझसे धाम-क्षेत्र, पंचसंस्कार जो भी वैरागका करम-धरम है, पूछते; न बतलाता तो जहाँ चाहते वहाँ बैठाते, किन्तु आपने एकदमसे ले जाकर मुझे कँगलोंमें बैठा दिया।"

"नहीं, कँगलोंमें नहीं बैठाया था। ऊपरकी पंघतमें ऊपर (बालाजी) जो बैठ आता, उसे यहाँ भी बैठाया जाता है। अभी आप ऊपरसे नहीं हो आये हैं, इसी वास्ते रसोइयाने ऐसा किया।"

"तो अब तो मैं खानेकी चीज़ ले आ चुका।"

"नहीं, ग़ल्ती माफ़ कीजिये। रसोइये अनपढ़ उजड्ड होते हैं, आप जानते ही हैं। चलिये आप जहाँ चाहें वहाँ बैठें।"

ख़ैर मैंने जाकर सभामंडपवाली पंक्तिमें बैठकर भोजन किया।

तिरुपती अच्छा ख़ासा शहर है। यहाँ आनेपर मालूम हुआ, यह स्थान तमिल (द्रविड़) देशमें नहीं आन्ध्रमें है। मठ (धर्मस्थान)के बारेमें कहा जाता था, पहिले यह सारी सम्पत्ति--गाँव आदि--किसी राजाकी थी। हाथीराम बाबा कोई वैरागी उत्तर भारतसे आये, उनके सिद्धिबलसे राजा इतना प्रभावित हुआ, कि उसने अपना सर्वस्व उन्हें दे दिया। मठके गाँवोंकी आमदनी बारह-तेरह लाखकी बतलाई जाती है। इसके अतिरिक्त ऊपर पहाड़पर वेंकटेश (बालाजी), तथा नीचेके कई मन्दिरोंके चढ़ावेकी भी बहुत भारी आमदनी है। मन्दिरोंकी आमदनीपर उस वक़्त

भी महन्तका एकाधिकार नहीं था। पिछले कई महन्तोंके ज़हर या गोलीके शिकार होनेकी बात मैं सुन चुका था, इसलिए वर्तमान महन्त प्रयागदासका बहुत सजग रहना स्वाभाविक था। हाथीराम बाबाके समयसे ही यहाँके महन्त उत्तर भारतीय होते आ रहे हैं, महन्त प्रयागदासका जन्म राजपूतानेका है। महन्तोंकेलिए बहुत पढ़ने-लिखनेकी क्या ज़रूरत, जब वैरागियोंके यहाँ कहावत मशहूर है—"पढ़ै लिखै बब्भनका काम। भज वैरागी सीताराम।" महन्त प्रयागदासके पास एकाध ही बार मैं गया, ख़ाली स्थानपतिको अपना सम्मान प्रदर्शित करनेकेलिए, अन्यथा किसीकी मुसाहिबी करनी मेरे स्वभावसे बिल्कुल उल्टी बात थी।

यहाँ रहते हुए मैंने फिर सोचा और अन्तमें इसी निर्णयपर पहुँचा, कि उत्तराखंडको छोड़कर दक्षिणापथको मैं अपना कार्यक्षेत्र नहीं बना सकता, और तब कितना ही प्रिय होनेपर भी तिरुमिशी लौटकर जाना उचित नहीं। मैंने परसा तार दिया और तारसे ही रुपये चले आये। रुपये लेते वक़्त महन्तजीका हस्ताक्षर ज़रूरी था, इसलिए उस वक़्त दो-एक बात बोलनेकी ज़रूरत पड़ी। तिन्नानूर या चिन्नानूर तिरुपतीसे थोड़ी दूरपर एक गाँव है, जहाँ लक्ष्मीका एक पुराना मन्दिर है। उत्सवमें बड़ी भीड़ थी, यहाँ आन्ध्र, द्रविड़ स्त्री-पुरुषोंके अतिरिक्त सैकड़ों वैरागियों और आचारियोंके रूपमें कितने ही उत्तर भारतीय भी थे।

वेंकटाचलम् या बालाजीका पर्वत तिरुपतीसे आठ-दस मील दूर पहाड़पर है। पहाड़की जड़में सीढ़ियाँ बनी हैं, जिनमें पहिले तो दाता लोग अपना नाम खुदवाकर अमर फल पानेकी कोशिश करते थे, और अब विज्ञापनबाज़ीके युगमें बहुतसी व्यापार कम्पनियाँ अचिर फलके लिए सीढ़ियोंपर अपना नाम खुदवा रही हैं। पहाड़की पैदल चढ़ाईमें जितना चक्करदार बिना सीढ़ीका रास्ता अच्छा होता ह, उतना सीढ़ियाँ नहीं। सीढ़ियोंपर आदमी जल्दी थक जाता है, तो भी सीढ़ी बनानेका रवाज बहुत पुराना मालूम होता है। सीढ़ियोंको पार करनेके बाद रास्ता साधारण चढ़ाई-उतराईका शुरू हो जाता है। रास्तेके दोनों तरफ़ काफ़ी जंगल हैं।

बालाजीकी बस्ती अधिक यात्रियों और उनकी सहायतामें व्यापृत लोगोंकी है। तिरुपतीके वैरागी संस्थानका मूल मठ यहीं है, जो पहिलेका राजप्रासाद बतलाया जाता है। मुझे पहिले मठमें जाकर आसन लगाना था। मठके बाहरी भागमें पहाड़ी-की जड़में पाँतीसे बहुतसी कोठरियाँ थीं, जिनमेंसे एकमें दूसरे दो साधुओंके साथ मुझे भी स्थान मिला। संयोगसे मेरी बग़लमें एक मस्त मौला साधु मिल गये, जो कई सालोंसे वहीं रहा करते थे। बोलने-चालने, गाने-बजाने, देश-परदेशकी बातोंका

जितना उनका ज्ञान था, उसके रहते वह मठके प्रभावशाली व्यक्तियोंमें हो जाते, किन्तु उनको इससे मतलब नहीं था। बहुत दिनों तक भारतके भिन्न-भिन्न भागोंकी भी उन्होंने सैर की थी। आज यहाँ एक जगह रहनेपर वह रोज़ दो-चार कोस दूर जंगलोंमें चले जाते थे। अंचला, कमंडलुके अतिरिक्त एक खन्ती, झोलीमें गाँजेकी चिलम, साफ़ी तथा दियासलाई उनके पास होती। मौज आती तो बड़े स्वरके साथ गाते—"चार युगोंमें नाम तुम्हारा कृष्णकन्हैया तुम्हीं तो हो।" वह मुरादाबाद जैसे किसी शहरके रहनेवाले थे। भाषा उनकी स्वभावतः परिष्कृत थी। सैलानी तबियतके साथ इस विशेषताने मुझसे उनकी घनिष्टता पैदा कर दी। शामको हम दोनों दूर चले जाते। यहाँ तक चिलम-साफ़ीसे बचा आया था, किन्तु अब मैं न बच सका। दरअसल वैसा करनेमें हमारे साथका आधा मज़ा ही किरकिरा हो जाता। कभी-कभी हम लोग दो-दो, तीन-तीन घंटा रात बीतनेपर स्थानमें लौटते। लोग कहा करते थे, इन जंगलोंमें बाघ रहता है, और एकाध बार बस्तीके पासकी मठकी गौशालासे गायको पकड़ भी ले गया, तो भी चिरनिवासी साथीको जब इसकी पर्वाह नहीं थी, तो मुझे क्या होती। शामको चार बजे हम इस दैनिक सैरपर निकलते। दिनमें एक और अड्डा बन गया था। बालाजीके मन्दिरके खुलते वक़्त और जब तक खुला रहे, तब तकके लिए वहाँ वैरागीमठके एक व्यक्तिका रहना ज़रूरी था। वह व्यक्ति एक उत्तर भारतीय पचास बरसके साधु थे। गलेमें सोनेकी साँकल, कानमें साँकलदार मणिजटित कुंडल, तथा बदनपर ज़रीकी क़ीमती ख़िलअत पहिने वह द्वारकी दाहिनी तरफ़ आकर खड़े होते, जब कि दर्वाज़ा खुलता। उनका अपना स्थान और बग़ीचा था, उन्होंने उसे काफ़ी आरामदेह और सजाकर रखा था। 'कृष्णकन्हैया' बाबाके साथ मैं एक दिन वहाँ गया। हाथीराम बाबा भी राजासे चौपड़ खेलते थे, इसीलिए शायद, यहाँ भी चौपड़ खेली जाती थी। मैं भी शामिल हो गया। खेलके बाद वहीं खानेका आग्रह। इतने दिनोंसे रहते भी उन्हें भात खानेकी आदत नहीं थी। दोपहरको मुझे अक्सर वहीं खाना खाना पड़ता, और सदा पूड़ी ही बना करती। मालूम नहीं बालाजीमें दस दिन रहा या पन्द्रह दिन, उनमेंसे अधिकांश दिनों दोपहरका भोजन मेरा यहीं होता रहा।

दूसरे मठोंकी भाँति बालाजीके "अधिकारी"का भी महन्तके नीचे मठके प्रबन्धमें काफ़ी अधिकार था। अधिकारीजी ज़्यादा यहाँ ही रहा करते थे। उनके दोनों पैर बेकार थे। 'कृष्णकन्हैया' बाबाको जब कभी भी गाँजेकी कमी होती, तो वह अधिकारीजीके पास चले जाते। अधिकारीजी उनको मानते थे। अधिकारी वस्तुतः महन्त-

की अपेक्षा साधुओंमें अधिक जनप्रिय थे। बालाजीके मध्यम-श्रेणीके साधु कर्मचारियोंके पास जब चालीस-पचास हज़ार रुपये जमा हो जाने आसान थे, तो अधिकारीके बारेमें क्या कहना ?

बालाजीमें सबसे मनोरम प्राकृतिक दृश्यकी जगह मुझे एक हनूमानजीका स्थान मालूम हुआ। वहाँ बारहों महीने "जनु वसन्त ऋतु रह्यो लुभाई।" खूब दरख़्त, चारों ओर हरियाली, पानीसे भरा जलाशय, और आसपास वनाच्छादित पहाड़ियाँ थीं।

बालाजीका निवास भी अच्छा रहा, और छोड़ते वक़्त, चित्तको उदासी मालूम हुई। किन्तु आखिर हर जगह एक-एक बरस देनेके लिए हज़ार-हज़ार बरसकी उमर भी तो चाहिए। हज़ार बरसकी आयु होनेपर भी कौन जानता है, वह एक साल भी आदमीकी नज़रमें दस-पन्द्रह दिनका नहीं लगने लगेगा।

बालाजीसे फिर तिरुपती और वहाँसे आगेकी यात्रा आरम्भ हुई। अब मैं पहिलेकी भाँति तहीदस्त मुहताज नहीं था। पाँच रुपये जब हाथमें रहते तभी परसा तार देता, और तीसरे दिन पचीस रुपयों का मनीआर्डर पहुँच जाता, तो भी जो रुपयेके बल पर सैर करना चाहता है, वह सैरका मज़ा नहीं उठा सकता—आखिर मिर्चोंकी कड़वाहट ही स्वाद है। अबके रेनगुंटासे जब हम स्वामिकार्तिककी ओर गये, तो हमारे साथ चार-पाँच और वैरागी थे। आचारियोंकी हदसे ज्यादा छुआ छूत, और 'मैं बड़ा—तू छोटा'की नीति ने भी मुझे तिरुपतीमें आचारी खटलेमें न जाने दिया। एक लोटा या कमंडलु लेकर कमसे कम सामानके साथ घूमनेकी इच्छावाला आदमी भला आचारी-खटरागको कैसे माथेपर ढो सकता है ? वैरागी इस विषयमें कुछ स्वतंत्रता रखते थे, यद्यपि उतनी नहीं जितने कि सन्यासी। हम चार-पाँच वैरागी थे, किन्तु एक-दूसरेके हाथकी रोटी खानेसे पहिले हमें अपनी जातिका प्रमाणपत्र मँगवाना ज़रूरी नहीं था। स्थान, नाम, द्वारा-अखाड़ाका उत्तर जहाँ ठीक आया, कि समझ गये—टकसाली साधु है, नकली नहीं है।

स्वामिकार्तिक मन्दिर पहाड़पर रेनगुंटासे कुछ दूर शायद दूसरे स्टेशनपर था। किस तरहकी मूर्त्ति, कैसा मन्दिर था यह याद नहीं। शायद पासके छत्रम्में सदावर्त थी, जहाँ हमने भोजन बनाकर खाना खाया था।

चिंगलपटसे हम पक्षीतीर्थ गये। उत्तर भारतीय साधुओंने दक्षिणके अधिकांश नामोंको दूसरे ही नामोंसे प्रसिद्ध कर दिया है, इसलिए कह नहीं सकते पक्षीतीर्थका तमिल नाम क्या है ? वहाँ एक प्राकारवेष्ठित विशाल मन्दिर है, किन्तु वैरा-

गियोंका पंछीतीर्थ उसके पासवाली पहाड़ीपर है। रोज़ दस बजे पुजारी लोग कुछ भोजन बनाकर उस पहाड़ीके पार्श्वपर ले जाते हैं, फिर दो बड़े-बड़े पक्षी मंडराते उतर आते हैं, जिन्हें पुजारी भोजन कराते हैं। कहते हैं, यह पक्षी साधारण पक्षी न हो भगवान्‌विष्णुके वाहन साक्षात् गरुड़जी और उनकी धर्मपत्नी हैं। मुझे तो वह चमरगिद्ध (सफ़ेद शरीर, काली पोंछवाले छोटे गिद्ध) मालूम हुए। वहाँ कितने ही श्रद्धालु गरुड़ महाराजको साष्टांग दंडवत् करते थे। नीचेके बड़े मन्दिरके बारेमें यही याद है, कि उसकी किसी शालामें चमगादड़ियोंकी भरमार थी, और बदबूके मारे नाक फटी जाती थी।

कांचीपुर (कंजीवरम्)के शिवकांची, विष्णुकांची नगरार्द्धोंके मन्दिरोंमें भी गया, किन्तु उस वक़्तकी कोई बात याद नहीं। श्रीरंग और मदुरा होते रामेश्वरम् चला। रामेश्वरका रेलवेपुल अभी नहीं बना था। जाते वक़्त एक स्टीमरसे उस पार गया। ख़ाक चौकमें डेरा गिरा। 'वैरागियों'के स्थान अधिकतर उन्हीं जगहोंमें हैं, जहाँ तुलसीकृत रामायण चलता है—यदि बंगालके गौडिया साधुओंको वैरागीमें न गिना जाये। गुजरातमें वैरागी स्थान बहुत हैं, और महाराष्ट्रमें भी कितने ही हैं, किन्तु उनमें रहनेवाले साधु प्रायः हिन्दी-भाषाभाषी हैं। मद्रासकी तरफ़ वैरागियोंके स्थान कम हैं, जिसके कारण उन्हें कष्ट होता है। वस्तुतः स्थान क्या हैं, घूमती-फिरती पल्टनकी स्थायी छावनियाँ हैं, जहाँ पहुँचते ही साधु घरसा अनुभव करने लगते हैं। यदि स्थानीय साधुके पास खाने-पीनेका सामान है, तो वह हाज़िर है; यदि नहीं है, तो वह एक लोटा पानी लेकर खड़ा हो सकता है, अभ्यागत उसकेलिए बुरा नहीं मानेगा। उसके पास अपना जो कुछ रहेगा उससे रसोई बनावेगा और स्थानीय साधुको भी खिलावेगा। दक्षिणमें वैरागी साधुओंके अभाव होते भी वहाँ छत्रम् और सदावर्त काफ़ी हैं, जिससे यात्रा असह्य होने नहीं पाती। रामेश्वरम्‌में एक या दो ही वैरागी साधुओंके छोटे-छोटे स्थान हैं,—ख़ाक चौक और रामझरोखा। ख़ाक चौक बस्तीमें होनेसे अधिकांश साधु यहीं जाते हैं। एक, दो दिन तक साधु-सेवा भी होती है, शायद दायक अधिकतर उत्तर-भारतीय यात्री होते हैं। रामझरोखा बस्तीसे बाहर एक जगह है। उस वक़्त एक चलते-पुर्ज़े साधु यहाँ रहते थे। वह दो-चार अभ्यागत साधुओंको बुला लाते, यात्रियोंसे—'हमारे स्थानमें बच्चा, इतनी मूर्त्तियाँ हैं, कुछ रागभोगका इन्तिज़ाम करो' कहकर सामान लाते। शामको साधुओंको एक-एक मुट्ठी चना देकर टरका देते। दूसरे दिन फिर रामेश्वरसे दूसरी मूर्त्तियाँ फँसा लाते।—यही उनका काम था।

रामेश्वरके मन्दिरकी विशाल शालायें, छतसे ढँकी परिक्रमाओंको देखनेसे मालूम होता था, कि मन्दिरोंके बनानेमें उत्तर भारत दक्षिण भारतसे कितना पिछड़ा हुआ है—यदि हम मुसल्मानोंके शासनकालमें टूटे मन्दिरोंकी गिनती न करें। रामेश्वरके प्रधान गर्भमन्दिरके सामने कोई मंडप बन रहा था। भीतर शिवलिंगपर लोग जल चढ़ा रहे थे, कितने ही काशी, हरिद्वार और गंगोत्रीका गंगाजल ढाल रहे थे।

रामेश्वरसे कुछ साधुओंके साथ मैं धनुषकोडीकेलिए निकला। स्टेशनके रास्तेमें एक दो आदमियोंके साथ एक तरुण ब्रह्मचारी दयाशंकर—नाममें भूल हो सकती है (वह उनके हाथपर खुदा हुआ था)—मिले। उनके बदनपर एक लम्बी अल्फी, शिरपर एक छोटासा अँगोछा, हाथमें पीतलके कमंडलुमें शंख थी। मझोला क़द, छरहरा बदन, गोरा रंग, आयु २६, २७की होगी। शहरी हिन्दी बड़ी बेतकल्लुफ़ीसे बोल रहे थे। मालूम हुआ उनका जन्मस्थान मथुरा है। वह भी धनुषकोडी जा रहे थे। हम लोग रामेश्वरके टापूके दूर तक फैले बालू, काँटेदार बबूलों और ताड़ोंको देखते रेलसे रवाना हुए। स्टेशनसे उतरकर कुछ दूरपर ताड़के पत्तोंसे छाई एक वैरागी-कुटिया थी। अभी हाल हीमें बनी थी, इसलिए बड़ी बेसरोसामानी थी। उन्हें मीठा पानी दूरसे लाना पड़ता था। ख़ैर, उस तपती भूमिमें ताड़-पत्तोंकी छाया मामूली चीज़ न थी। कुटीसे थोड़ी दूरपर दो दिशाओं—दक्षिण और पश्चिमको दिखलाकर बतलाया गया—यही 'रत्नाकर' और 'महोदधि'का संगम है। दोपहर और शामको भी समुद्रस्नान हुआ, और रातको वहीं विश्राम।

लौटते वक़्त ब्रह्मचारी दयाशंकरसे विशेष बात हुई। वे कुछ महीनोंसे दक्षिणमें आये हैं। आजकल पामनमें रह रहे हैं। वैद्यका काम करते हैं, जिससे निर्द्वन्द्व विचरनेकेलिए उनको बहुत सुभीता है। उनके साथ एक कालासा आदमी था, ब्रह्मचारीका गाँजा-चिलम-दियासलाईका ख़ज़ांची वही था। 'वैराग्य'में आकर पुलीसकी नौकरी छोड़ उसने ब्रह्मचारीका साथ पकड़ा था। मैं भी उर्दू बोल सकता था, मुझे भी कितने ही शेर याद थे। अन्तमें ब्रह्मचारीने मुझसे पामन चलकर कुछ दिन रहनेकेलिए कहा। ऐसे निमन्त्रण यदि हर सौ मीलपर मिला करते, तो मैं दो-दो हफ़्ता बितानेके लिए तैयार था।

पामन रामेश्वर-द्वीपकी अन्तिम बस्ती है। उसके बाद कुछ मीलोंकी उथलीसी खाड़ी और फिर जम्बूद्वीप (भारत)का स्थल-भाग आ जाता है। पामनके ज़्यादातर रहनेवाले मुसल्मान थे—ब्रह्मचारी भी एक मुसल्मान हीके मकानमें रहते थे। ये लोग हिन्दुस्तानी बोलते थे, इसलिए तमिलसे अनभिज्ञ ब्रह्मचारीको सुभीता था।

घर अधिकतर फूस और बाँसके थे। ब्रह्मचारीके पास पैसोंकी कमी न थी। रोज़ दस, पन्द्रह, बीस रुपये आ जाते। पाँच-सात रुपये रोज़ तो उनके गाँजेमें उड़ जाते। उनके पास सिर्फ़ दो दवाइयाँ थीं, एक जमालगोटेका जुलाब, और दूसरी संखियाकी भस्म। शिरदर्द-पेटदर्द जैसी मामूली बीमारियोंसे लेकर कुष्ट, पांडु, यक्ष्मा जैसे महा-रोगोंपर भी वह अनुपान बदलकर इन्हीं दवाओंको देते थे। मुफ़्त दवा शायद ही किसीको देते हों। दवा देनेसे पहिले भेंटकी शर्त तै कर लेते। दो तिहाई या कमसे कम आधी रक़म पहिले ले लेते, और बाक़ीकेलिए कह देते--इतने दिनों बाद रोगीको रोग-मुक्तिस्नान करा देंगे, और उसी दिन बाक़ी रुपया दे देना होगा। कितने ही बीमारोंको उनकी दवासे बहुत चमत्कारिक लाभ हुआ था, इसलिए लोग ख़ुशी-ख़ुशी रुपया देकर दवा कराते थे। पामनमें तो ख़ैर मुसलमान सहवासी दुभाषियेका काम कर देते थे, किन्तु दूसरी जगह होनेपर लोग खुद दुभाषिया लिये हुए आते। ब्रह्मचारीको यह पर्वाह नहीं थी, कि मुसलमान के साथ रहनेके लिए लोग उनकी कैसी नुकताचीनी करते हैं, ख़ासकर ब्राह्मण लोग।

मुसलमान घरमें रहते हुए भी ब्रह्मचारी भोजन ख़ुद या किसी साधुके रहनेपर उसके हाथका बनाया खाते, और यह मेरे जैनों के लिए तकलीफ़की चीज़ थी। दूध, घी, आटा जितना चाहो, उतना मौजूद था, बनानेवाला चाहिए था। ईंजानिब पाचनकलासे बहुत प्रेम नहीं करते थे, यद्यपि यह नहीं कह सकते, कि उससे बिल्कुल अपरिचित थे। दिनमें एक बार खीर परावठे, या कोई अल्पश्रमसाध्य चीज़ बना लिया करते। दिन-रातका वहाँ पता थोड़ेही लगता था। सबेरे जिस वक़्त नींद खुली, गाँजेकी चिलम तैयार मिली। और फिर एक चिलम बुझ रही है, दूसरी जल रही है, यही सिल्सिला तब तक जारी रहता, जब तक रातको सो नहीं जाते। मैं समझता हूँ, शायद ही रातको ३, ४ घंटे हों, जिनमें मेरा मस्तिष्क गाँजेके नशेसे मुक्त रहा हो। ब्रह्मचारीकी चमत्कारिक दवाको देखकर मेरी भी ख़्वाहिश हुई उसे सीख लेनेकी। ब्रह्मचारी चाहते भी थे सिखा देना, किन्तु कह रहे थे--जमालगोटा मारना, संखिया मारना आप किताबसे भी सीख सकते हैं, किन्तु जब तक सामने बनाकर दिखलाया न जावे, तब तक मुँहसे बतला देनेमें कोई फ़ायदा नहीं। उनका कहना बजा था, और वस्तुतः मेरे तीन-चार सप्ताह पामनमें रह जानेका भी प्रधान कारण यही भस्म-विधि सीखनेकी इच्छा थी। गाँजा पीने, गप करनेके अतिरिक्त वहाँ मेरे लिए दूसरा काम नहीं था, शायद उर्दूकी कोई कविता-पुस्तक ब्रह्मचारीके पास थी, उसे पढ़ लिया करता था। हमारे आवासके पास एक कोढी मुसलमान था, ब्रह्मचारी उसकी मुफ़्त दवा

शुरू करनेवाले थे। उससे दो-एक कौवे बहुत हिल गये थे, वे उसके शिर और कन्धेपर बैठ जाते थे। कौओंको लड़कपन हीसे मैं बहुत होशियार जाति जानता था। सुना था, मादा कौआ एक बार अपने बच्चोंको सिखला रही थी—'जैसे ही कोई पत्थर उठानेके लिए झुके, उड़ जाना।' बच्चोंने पूछा—'और माँ! यदि वह घर हीसे पत्थर लिये आवे?' माँने कहा—'तब तुम्हें सिखलानेकी जरूरत नहीं।' यहाँ इन कौओंको कोढ़ीके शिर और कन्धेपर बैठते देखना उनकी जातिकेलिए भी चतुराई का अपवाद जान पड़ा।

ब्रह्मचारी सामान मँगाकर भस्म बनाना सिखलानेकी तैयारी कर रहे थे, किन्तु अब मेरी रुचि उधरसे हट गई थी। दुनियाके सभी व्यवसायोंको सीखनेसे मतलब, जब मैं सबको कर नहीं सकता? ब्रह्मचारी और मुझमें कई बातोंमें समानता थी, उर्दू, शहरी भाषा और जीवनके भी हम समान भक्त थे, इसलिए उनकी इच्छा क्योंकर होती, कि मैं चला जाऊँ।

चलनेकेलिए हमने पामन खाड़ीपर नये बने पुलपर चलनेवाली पहिली ट्रेनको पसन्द किया। ब्रह्मचारीने रामनदमें भी अपने लिए एक अड्डा बना रखा था, और वह भी मेरे साथ ही आये। अड्डा क्या, बस्तीसे दूर खजूरोंके काँटेदार झुर्मुटमें पन्द्रह-बीस हाथ लम्बी-चौड़ी एक जगह साफ़ की गई थी, और उसीमें तालके पत्तोंकी एक झोंपड़ी पड़ी थी। ब्रह्मचारी जब कभी आते तो वहीं ठहरते। झोंपड़ी मदुरासे रामनद होते रामेश्वर जानेवाली सड़कपर थी, इसलिए पैदल चलनेवाले साधु कभी-कभी वहाँ पहुँच भी जाते थे। वस्तुतः, इसी ख्यालसे ब्रह्मचारीने उस जगहको पसन्द किया था। जब साधु आ जाते, तो उनको बहुत खुशी होती। ब्रह्मचारी उन आदमियोंमे थे, जो आजकी आमदनीको कलकेलिए रख छोड़नेको अपराध समझते हैं। साधुओंको खिलाने-पिलानेका उन्हें बहुत शौक़ था। तीर्थ-यात्रियोंमें दो श्रेणी होती हैं, एक नियमपूर्वक किसी सम्प्रदाय—वैरागी, उदासी, सन्यासी आदि—में प्रविष्ट साधु, जिनको अपने सम्प्रदायका आचार-व्यवहार सीखना ज़रूरी होता है, और सम्प्रदायकी सार्वजनिक रायको माननेकेलिए बाध्य होना पड़ता है। उनको लज्जा, संकोच, आत्म-सम्मानका भी बहुत ख्याल करना पड़ता है, इन पाबन्दियोंका लाभ उनको यह है, कि सारे भारतमें जगह-जगह अवस्थित अपने सम्प्रदायके स्थानोंमें दावेके साथ, और दूसरे स्थानोंमें सन्मानके साथ उन्हें स्वेच्छासे रहनेका मौक़ा मिलता है। ये स्थान बिना पैसे-कौड़ी दिये यात्रीके लिए भोजन और निवासके होटल हैं—इसीसे पता लग सकता है, कि इन संस्थाओंने साधुओंकेलिए यात्रा कितनी सरल बना

दी है। भारतका कोई भाग नहीं है, जहाँ ये मठ या साम्प्रदायिक स्थान न हों। हिन्दी भाषाभाषी हिन्दू-प्रान्तोंमें इनकी संख्या बहुत ज़्यादा है,—पंजाब, सिन्धु सीमान्तमें भी हिन्दुओंकी संख्याके अनुसार काफ़ी हैं। गुजरात, कठियावाड़ साधु-सेवाके लिए बहुत प्रसिद्ध प्रान्त समझे जाते हैं। आसाम, बंगाल, ओड़ीसा, महाराष्ट्रमें भी संख्या काफ़ी है। द्रविड़-भाषाओंके चारों प्रान्तोंमें अवश्य इन मठोंकी कमी है। वैसे तो ये मठ काबुल, क़न्धार तक ही नहीं सुदूर पश्चिम कास्पियन तटके बाकूमें भी कुछ साल पहिले मौजूद थे।

रामनदमें ब्रह्मचारीसे बिदाई ली। एक बार फिर तिरुमिशी लौटनेका विचार हो सकता था, किन्तु मेरे जैसे आज़ाद-तबिअत मुसाफ़िरत-पसन्द आदमीकेलिए आचारियों-के आचार-व्यवहार भारी बन्धन थे—, यह बात अभी बालाजीसे रामेश्वरकी ताज़ी यात्राने भी बतला दिया था—इसलिए मैंने उधर जानेका ख्याल छोड़ दिया। यात्रा-की तरह पढ़नेकी रुचि भी मेरे खमीरमें है, इसलिए जब तक वह उग्र रूप धारण नहीं करती, तबतक कुछ घूम लेना मैंने ज़रूरी समझा। इस प्रकार अब मेरा रुख द्वारिकाके रास्तेमें आनेवाले तीर्थों और दर्शनीय स्थानोंकी ओर था।

बंगलोर—रास्तेमें पहिले-पहिल बंगलोरमें उतरा। शहर देखकर गाड़ीसे आगे बढ़नेका इरादा था। बाज़ारमें भोजनसे निवृत्त होनेके लिए कोई स्थान ढूंढ़ रहा था, कि एक हलवाईकी दूकान मिली। हलवाईकी दूकान द्राविड़ प्रान्तोंकेलिए नई चीज है। पानी-पूड़ीमें जहाँ बराबरकी छुआछूत हो, वहाँ हलवाईकी दूकान कैसे चल सकती है? जाकर रुच्यनुसार पेटभर पूड़ी-मिठाई खाई। पैसा देनेपर हलवाईने कहा—"नहीं महाराज! आपसे पैसा नहीं लेते। उत्तर भारतीय सन्तोंकी एक बार भोजनसे सेवा कर देना हमारा नियम है।"

विजयनगर—बंगलोरके बाद, जहाँ तक याद है, विजयनगर (हम्पी)के खंड-रोंके लिए उतरनेकी जगहपर रेलसे उतरे। स्टेशनका नाम शायद हूसपेट था। धर्मशालामें कुछ 'खड़ियापल्टन'वाले मिले। 'खड़ियापल्टन' यह साधुओंका खास शब्द है। बहुतसे स्त्री-पुरुष किसी सम्प्रदायमें बाक़ायदा दीक्षा लिये बिना साधुका वेष बनाये भारतके भिन्न-भिन्न जगहोंमें घूमते-फिरते हैं। इन्हें साम्प्रदायिक आचार-व्यवहार वेष-भूषाकी बाक़ायदा शिक्षा तो हुई नहीं रहती, इसलिए ऊपरसे साधुओंको देखकर उनकी नक़ल करना चाहते हैं। नक़ल करनेमें भी अवान्तर भेदों—जो बहुत सूक्ष्म होते हैं—का ध्यान रखना ज़रूरी है, किन्तु ये उसमें अपनी अनभिज्ञता प्रदर्शित करते हैं। साधु देखते ही समझ लेते हैं, ये बनावटी साधु हैं। खड़िया कन्धेपर दोनों

तरफ़ लटकते झोलेको कहते हैं, जिसे किसी सम्प्रदायके साधु इस्तेमाल नहीं करते, ये तीरथवासी खड़िया लिये फिरते हैं, इसलिए इनका नाम ही "खड़ियापल्टन" पड़ गया है। साधुओंमें स्त्री, स्त्री-साधुनियोंके साथ, और पुरुष, पुरुष-साधुओंके साथ घूमते हैं, खड़ियापल्टन इस नियमसे अपनेको मुक्त समझती है, उसमें स्त्री-पुरुष दोनों शामिल रहते हैं।

खड़ियापल्टनसे मालूम हुआ, किष्किन्धा—विजयनगरके पासकी बस्ती—यहाँसे बहुत दूर नहीं है, पक्की सड़क गई है। शायद सवारी भी मिल रही थी, और मेरे पास पैसोंकी कमी न थी, तो भी पैदल चलना ही मुझे पसन्द आया। बोझा रखनेका मैं विरोधी हूँ। शरीरको हल्कासे हल्का रखना मुझे पसन्द है, और खाली हाथ चलनेमें मज़ा आता है। रास्ते और उसके आसपासके स्थानोंके बारेमें कोई बात याद नहीं, सिवाय इसके कि मैं कर्णाट भाषाभाषी प्रदेशमें चल रहा था। शामको ४ बजेके क़रीब मैं एक खंडहरके पास पहुँचा। एक क़ब्र थी, एक वृक्षके किनारे बड़ासा चबूतरा था, जो बहुत दिनोंसे बेमरम्मत पड़ा था। वहाँ एक शाह साहेब (मुसलमान फ़क़ीर) बैठे थे। उन्होंने हाथ उठाते हुए 'दर्शन सफ़ा' कहा, मैंने भी 'मिज़ाजे वफ़ा' कह जवाब दिया। हिन्दू-मुसलमान साधुओंमें पारस्परिक अभिवादनकी यह रीति है। शाह साहेबने आग्रहसे बैठाया। गाँजेकी चिलम तैयार की, दयाशंकर ब्रह्मचारीके यहाँ चिलममें मुसल्मान गृहस्थ तक शामिल होते थे, तो यहाँ मुसलमान साधुके लिए क्या कहना था? चिलम पीते हुए हम लोगोंकी कितनी ही देर तक बातें होती रहीं। शाह साहेब उत्तर भारतके ही कहींके थे, दक्खिनके मुसलमानोंके खान-पान, बोली-बानीकी उनको सख़्त शिकायत थी। कह रहे थे—"इम्ली और मिर्च। तोबः तोबः। कम्बख़्तोंको खानेका भी शऊर नहीं।" हम लोगोंके बात करते समय ही एक दूसरे साधु चले आये; उन्होंने मुझे भी अपने साथ चलनेका निमन्त्रण दिया। वे तीन-चार साधु नदीके पास किसी परित्यक्त पाषाणगृहमें पाँच-सात दिनोंसे ठहरे हुए थे।

सूर्यास्त हो गया था, जब हम तकियासे रवाना हुए। हमें एकाध जगह नगरके टूटे पाषाण-प्राकारको पार करके जाना पड़ा। मैंने भारतके इतिहासको पढ़ा तो था, किन्तु अभी ऐतिहासिक दृष्टि प्राप्त नहीं हुई थी, तो भी विजयनगरको ऐतिहासिक स्थान ही समझ मैं देखने आया था। साधुओंका निवासस्थान सचमुच ही मस्तानोंका अखाड़ा था। गोसाईं (सन्यासी), उदासी, वैरागी सभी सम्प्रदाय वहाँ मौजूद थे। मुझे छोड़ बाक़ी सभी जटाधारी भभूतिये थे। बीचमें लकड़ीकी धुनी जल रही थी और चारों ओर हम लोग बैठे थे। यहाँ ब्रह्मचारी दयाशंकरकी तरह

अखंड चिलम-चक्र तो नहीं चल सकता था, किन्तु दो चार चिलममें कोई हर्ज नहीं था। बाक़ी वक़्त 'सूखा कंकड़' चलता रहा। बातोंकी कमी न थी, सभी पुराने अखाड़िये थे, और दुनिया घूमते ही ज़िन्दगी काटी थी। धुनीमें ही आटेके टिक्कर लगे, मालूम नहीं तरकारी या दाल थी कि नहीं।

रातको तो मैं कुछ देख नहीं सका था, सबेरे नहानेके बाद घूम-घूमकर प्राचीन विजयनगरके खंडहरोंको देखना शुरू किया। उस वक़्त पुरातत्त्वकी ओरसे उल्लेखनीय खंडहरोंपर उतने साइनबोर्ड नहीं लगे थे। हर खंडहरका परिचय साथी साधुओंमें से पहिलेके आये, सुनी-सुनाई परम्पराके अनुसार दिया करते––'यह सुग्रीवकी कचहरी है', 'यह बालिका राजदर्बार है,' 'यह ताराका रनिवास है', 'यह अंगदकुमारका महल है'....। सभी त्रेतायुगकी चीजें, सभी बालिकी किष्किन्धापुरीकी इमारतें। और मैं जो चला था विजयनगरके ध्वंसावशेषोंको देखने? उनके बारेमें वहाँ कोई कुछ बतलानेवाला न था। तो भी ये मन्दिर और महल विजयनगर राज्यके समर्थक हैं, इस बारेमें मुझे सन्देह नहीं था। वैष्णव-विरोधी पुस्तिकाओंको पढ़ते वक़्त उसमें त्रिपुंड़ और ऊर्ध्वपुंड़ (आड़ी-बेड़ी टीका)का भी झगड़ा देखा था। मैं समझता था, वैष्णवोंका ऊर्ध्वपुंड़ बहुत पीछेका है, त्रिपुंड़ ही सनातनसे चला आया है। मैंने एक तरहके ऊर्ध्वपुंड़ोंको यहाँके मन्दिरोंमें अंकित देखा। मीलों चले जानेपर भी वे ध्वंसावशेष खतम नहीं हो रहे थे, और उनके मन्दिर, सामने पाषाणगृहोंकी पंक्तियाँ या बाज़ार ध्वस्त हो जानेपर काफ़ी रूप-रेखा रखती थीं। मन्दिर तो कितने ही आसानीसे मरम्मत कराये जा सकते थे। नगरके बीचमें पड़ी टेकरियोंपर भी कोई न कोई मन्दिर था। इन्हीं मन्दिरोंमेंसे एक जगह दोपहरको हम पहुँचे। स्थान आचारियोंका था। आचारी––तीन लोकसे मथुरा न्यारी––के सिद्धान्तानुसार अपनी डेढ़ चावलकी खिचड़ी अलग ही पकाते हैं। दूसरे सम्प्रदायके स्थानमें खाना-पीना तो उनका हो नहीं सकता, इसलिए दूसरे सम्प्रदायवालोंको अपने यहाँ खिलानेकी क्या ज़रूरत––इस ख्यालसे वैरागी-उदासी-सन्यासी साधुओंका उनके यहाँ आतिथ्य-सत्कार भी नहीं होता, होता भी है तो बेगारकी तरह। उक्त स्थान––रामशिला या स्फटिकशिला––के अधिकारीने और साधुओंकेलिए तो भोजन-सामग्री दे दी, और मुझे खानेकेलिए बुलाया। इस भेदका कारण क्या हो सकता था? शायद जटा-भभूतके अभावके कारण ऐसा किया गया हो।

दोपहर बाद हम तुंगभद्राके तटपर गये। नदी पार होनेकेलिए बड़े कढ़ावकी शकलकी चमड़ेकी नाव थी, जिसमें एक बार तीन-चार आदमी बैठ सकते थे।

नदीमें जहाँ-तहाँ उभड़ी और दबी पत्थरकी चट्टानोंको देखकर चमड़ेके नावकी उपयोगिता मुझे मालूम हो गई। अब हम हैदराबाद रियासतके एक बड़े गाँव या क़स्बेमें थे। वहाँ कितनी ही दूकानें तथा पक्के घर थे। लोगोंने इसका नाम किष्किन्धा (आजकलकी) बतलाया। रातको हम पम्पा-सरोवरपर ठहरे। एक छोटे तालाब--जिसे पम्पासर बतलाया जाता था--पर एक वैरागी स्थान था, दस-पाँच साधु वहाँ बराबर रहा करते थे। निवासस्थान और मन्दिर भी था, शायद काफ़ी गायें भी थीं। अभ्यागत साधुओंकी सेवा होती थी, इससे मालूम होता था, कर्नाटकमें उत्तरीय साधुओंका कुछ चल बन जाता है।

सबेरे उठकर स्नान-'पूजा'के बाद मैं आसपासकी पहाड़ियोंपर चढ़ता फिरा। एक पहाड़ीमें अंजनागुहा बतलाई गई। यहाँ ही अंजनाने हनूमानका प्रसव किया था। मठसे थोड़ी दूरपर पौंडे-ऊखके खेत थे, और शायद मुझे खानेकेलिए मोलसे या बेमोलके एक-दो मिले थे।

पम्पासरसे नदी पारकर फिर एक बार हम्पी (विजयनगर)के खंडहरोंमें आना पड़ा था। खंडहरोंमें, याद है, कोई बीजापुरका महल या मस्जिद भी देखी थी, जो अपेक्षाकृत अधिक सुरक्षित अवस्थामें थी।

बागलकोट--हूसपेटसे फिर रेलपर रवाना हुआ। परसामें गुरुजीसे पता लगा था, कि उनका एक सादिक (करम-धरम सीखनेवाला साधक)चेला बागलकोट में महन्त है। इधर भी बागलपुरके महन्तकी साधु-सेवाकी बड़ी ख्याति सुनी थी; और अब मेरा रुपया भी समाप्त हो रहा था, इसलिए कहीं दो-चार दिन ठहरकर उसे मँगाना था। बागलकोट सीधी लाइनपर नहीं है, और जहाँतक याद है, गडग रास्तेमें पड़ा था, किन्तु मैं वहाँ उतरा नहीं था। स्टेशनसे मठमें पहुँचनेमें दिक़्क़त नहीं हुई। बागलकोटमें काफ़ी मारवाड़ी दूकानदार हैं, और हिन्दी भाषा-भाषियोंके पादरी तो हम लोग थे ही।

महन्त वैष्णवदास (शायद यही उनका नाम था)को जब मालूम हुआ, कि मैं परसाके महन्तका शिष्य हूँ, तो बहुत प्रसन्न हुए। हमारे गुरुजी उनके "सादिक" गुरु ही न थे, बल्कि उन्हें महन्ती भी उन्हींकी सलाहसे मिली थी, फिर ऐसे व्यक्तिके शिष्य और उत्तराधिकारीकी क्यों न खूब खातिर करते ? वैसे भी बागलकोटमें साधुओंकी बड़ी खातिर होती थी, और उन्हें तीन दिन तक रहनेकी खुली इजाज़त थी। अभ्यागतको कोई काम नहीं करना पड़ता था--दूसरे स्थानोंमें रसोईकी सामग्रीको सुधारना, तथा कुछ छोटा-मोटा काम करना ज़रूरी होता था, किन्तु यहाँ तीन बजे रातको

ही महन्तजी उठ जाते। स्नान-पूजाके बाद अपने एक शिष्यके साथ अँधेरा रहते ही रसोईमें घुसते। पूड़ी-तरकारी और साथमें हलवा या पूआगेंसे कमसे कम एक बारहों मास बनता था। कच्ची रसोई खिलाना महन्तजीके ज्ञानके ख़िलाफ़ था। बागलकोटके मारवाड़ी गृहस्थ महन्तजीकी साधुसेवामें सहायता पहुँचानेमें होड़ लगाये रहते थे। सूर्योदय होते-होते, जब नदीसे स्नान करके पूजाकी इच्छासे मारवाड़ी महिलायें आने लगतीं, तब तक रसोई तैयार हो गई रहती।

गाँजे और तम्बाकूके पीनेमें पिछले एक मास मैंने अति कर दी थी, इसलिए सन्देह होने लगा कि पेटमें धूयेंकी बहुतसी कालिख जमा हो गई होगी। यहीं अपने हाथसे सनायकी जुलाब बनाकर ली, रुपयेकेलिए परसा तार तो दूसरे दिन ही भेज दिया था।

बागलकोटके बाहर एक नदी बहती है, और शायद पथरीली। इस तरफ़ धोबीको कपड़ा देनेका बहुत कम रवाज है, देखता था सबेरेसे शाम तक घाटके ऊपर कपड़ों-पर डंडा दबादब चल रहा है।

पंडहरपुर––रुपया आ जानेपर मैं वहाँसे पंडहरपुरकेलिए चल पड़ा।––नये-नये तीर्थ-स्थानोंका पता साधुओंसे लग जाया करता है। पंडहरपुर तथा वहाँके विट्ठलनाथ महाराष्ट्रके माननीय तीर्थ और देवमूर्ति हैं, किन्तु उनके बारेमें मैं इतना ही जानता था, कि जब हमारे साथी साधु मैदानमें रसोई बनाते, तो कहते––भाई विट्ठल भगवान्से होशियार रहना, अर्थात् कुत्ता कहीं रोटी न उड़ा ले जावे।

पूना-बंबई—पंडहरपूरसे चलकर पूनामें शायद एक दिन मैं ठहरा, वहाँ क्या देखा, इसका कोई ख्याल नहीं। बम्बईमें पंचमुखी हनूमानमें आसन पड़ा। शहर और महालक्ष्मीको देखा। किसी ख़ास चीज़ने वहाँ आकर्षण नहीं पैदा किया। जानकी माईकी ख्याति सुनी––'वह बहुतसे लोगोंको जहाज़से द्वारिका भिजवा देती है। उसके बहुतसे बड़े-बड़े सेठ सेवक हैं'––आदि आदि। मुझे बम्बईसे सीधे द्वारिका जाना नहीं था, और न किरायेकेलिए मेरे पास रुपयोंकी कमी थी।

नासिक––द्वारिका जानेसे पहिले नासिक जाना मैंने पसन्द किया। नासिक स्टेशनसे शहर तक उस वक़्त घोड़ेकी ट्राम जाती थी, या कमसे कम उसकी रेल अब तक मौजूद थी। शहरके बाद पथरीली भूमिमें अनेक धारसे डूबती-उतराती गोदावरीको पार किया। परसाका एक शाखामठ कपिलधारा (नासिक ज़िला)में था, जिसकी शाखा नासिकमें भी है, यह पता लग चुका था। पता लगानेपर वह जगह तो मिल गई, किन्तु वहाँ उस वक़्त कोई आदमी मौजूद न था। नासिक भी महाराष्ट्रमें

ही है, किन्तु यहाँ वैरागी तथा दूसरे उत्तर भारतीय साधुपन्थोंके काफ़ी स्थान हैं, यह देख कुछ नवीनता मालूम हुई; किन्तु पीछे बम्बईमें बसनेवाले मारवाड़ी गृहस्थोंका ख्याल आते ही वह शंका दूर हो गई। दो-तीन दिन रह पंचवटी और दूसरी जगहोंमें घूमता रहा।

त्र्यम्बक—नासिकमें मालूम हुआ, गोदावरीका उद्गम स्थान त्र्यम्बक बहुत प्रसिद्ध तीर्थ है। उस वक़्त कोई वार्षिक मेला था, हज़ारों स्त्री-पुरुष सड़कसे उधर ही जा रहे थे, मैं भी उनके साथ हो लिया। नासिकसे त्र्यम्बक कितने मील है, सो तो नहीं याद; किन्तु मैं दोपहरसे पहिले नहीं चला था। रातको रास्तेमें रहना पड़ा, दूसरे दिन त्र्यम्बक पहुँचा, तो वहाँ भारी भीड़ थी। गोदावरीके स्रोतमें स्नान, और त्र्यम्बकका दर्शन किया। ठहरा कहाँ, नहीं कह सकता। करताल और एकतारा ले कई मंडलियाँ कुछ कीर्तनसी कर रही थीं, जो कि उत्तरी भारतके मेलोंसे कुछ भिन्नसी चीज़ थी। रातको गैसकी रोशनीमें भी यह भजन-संगायन होते रहे।

कपिलधारा—त्र्यम्बकसे मैं कपिलधाराको चला। गाँवका नाम कुछ दूसरा था और वह देवलालीसे नज़दीक पड़ता है, किन्तु मैं नासिकसे फिर लौटकर बम्बईकी ओर जाना नहीं चाहता था। रास्ता पहाड़ी, और पगडंडीका था, खानेकेलिए मैंने पासमें कुछ पेड़े बाँध लिये। पहाड़में पानी कम था, और इधर मिठाई खानेसे प्यासने भी ज़ोर मारा। नज़दीकमें किसी आदमीके न मिलनेसे एकाध बार मैं रास्ता भी भूल गया, इस प्रकार मेरी दिक़्क़तें बढ़ गईं। दोपहरको तो प्याससे व्याकुल हो मैं रास्ता-वास्ताका ख्याल छोड़ गाँव ढूँढ़ने निकल पड़ा, और काफ़ी दूर जाने पर कुछ झोपड़े मिले। प्यासा हूँ, कहनेपर एक लड़कीने ले जाकर गाँवसे बाहर एक गड़हेको दिखला दिया, जिसका पानी मटमैलासा था, और मैं समझता हूँ, उसमें मवेशियोंके घुसनेकी भी कोई रुकावट न थी। साधारण अवस्थामें वैसे गड़हेका पानी कौन पीता, किन्तु उस वक़्त जब कि तालू फटना चाहता था, उस पानीसे कौन इन्कार कर सकता था? शामको पहाड़के एक बड़े गाँवमें पहुँचा। सार्वजनिक चौपालसी थी, जिसमें मैंने आसन डाला। रातको एक पुलीसका सिपाही आया, उसने नाम-स्थान आदि नोट किये। ख्याल आता है, वह हैदराबाद रियासतका गाँव था, लेकिन इसकी सत्यतापर अब विश्वास नहीं पड़ता। गाँवसे बड़े तड़के ही मैं कपिलधाराकी ओर चल पड़ा। ऊँचाईसे नीचाई—ढालुआ समतल जैसी—की ओर, और फिर नीचाईसे ऊँचाईकी ओर रास्ता जा रहा था। रास्तेमें कोई आदमी खेतकी रखवाली कर रहा था, जिसके पास ठहरकर मैंने मटर या चनेके ताज़े होले खाये। कपिलधारामें दोपहरसे पहिले

१४

पहुँचा था। उस वक़्त महन्तजी वहाँ नहीं थे, कोई एक अभ्यागत साधु मन्दिरका काम कर रहा था। मठमें गायें काफ़ी थीं। भीतर एक झरना था, जिसका नाम कपिलधारा था। महाराष्ट्रके इस अरण्य-पर्वतमें कैसे वैरागी स्थान बनानेमें सफल हुए, या कैसे चला रहे हैं, और इसका प्रयोजन क्या ?——यह मुझे समझमें नहीं आया। लेकिन जिस वक़्त मेरे दिलमें वे ख़्याल आ रहे थे, उस वक़्त मैं त्र्यम्बकसे रास्तेकी मार खाता आ रहा था। कपिलधारासे देवलाली ज़्यादा नहीं है, इस बातका उस वक़्त मेरे दिलमें ख़्याल न था। कपिलधारामें उस साधारण मीठे पानीके झरनेके सिवा और कोई ख़ास बात नहीं थी, किन्तु मैं परसामठकी सुदूर महाराष्ट्रमें अवस्थित शाखाके तौरपर उसे देखनेकेलिए आया था, जिसमें कि परसा लौटकर मैं गुरुजीको बतला सकूँ, कि मैं वहाँ हो आया हूँ। जो अकेला साधु वहाँ रहता था, एक आगन्तुक साधुको देखकर उसपर भारी बोझसा पड़ गया। उसने पहले तो कहा——महन्तजी यहाँ नहीं हैं, वह कहीं गये हुए हैं, मैं तो मन्दिर और इन गायोंको देखनेपर लगाया गया हूँ। कुछ देर इधर-उधरका काम करके वह फिर आया, और बोला——मैं तो भोजन कर चुका हूँ, चावल दे देता हूँ, भोजन बना लें, और मट्ठासे खा लें। मैंने कहा——इस वक़्त मैं थका-माँदा हूँ, मट्ठा ही दे दो-एक लोटा, वही पीकर विश्राम करूँगा।

देवलाली बहुत दूर नहीं, यह सुनकर दोपहर बाद मैं स्टेशनपर चला आया।

ओंकारनाथ-मान्धाता——बम्बईसे ही नासिककी ओर चलते वक़्त निश्चय किया था, कि ओंकारनाथ और उज्जैनका दर्शन करते डाकोरसे द्वारिकाकी ओर जाना है। देवलालीसे मैंने बुर्हानपुरका टिकट लिया, लेकिन वहाँ शहरमें ठहरा नहीं। बुर्हानपुरसे ओंकारनाथकेलिए कौन स्टेशनपर उतरा, नहीं याद; किन्तु शायद एक या दो नदी को पार करना पड़ा था। मान्धाताको स्टेशनसे कुछ पैदल चलकर जाना पड़ता है। पहाड़ोंके बीच नर्मदाकी गम्भीर धारा है, नदीके दोनों तरफ बस्ती है, पुलके उस पारवाली बस्तीमें किसी गोंडराजाका महल बतलाया जाता था। मैं इसीपार नरसिंहटेकरीके वैरागीके स्थानमें ठहरा। नर्मदाकी महिमा काशीमें अपने वेदाध्यापक गुजराती ब्रह्मचारीसे बहुत सुनी थी। वह नर्मदाके किनारे बहुत विचरे थे। उनकी सम्मतिमें पवित्रतामें नर्मदाका स्थान गंगासे कम ऊँचा नहीं है। बल्कि योगियों और तपस्वियोंकेलिए मुक्तिसाधनाका जो सुभीता नर्मदा प्रदान करती है, वह गंगा भी नहीं। ओंकारनाथमें मैं एकसे अधिक दिन ठहरा था। शामके वक़्त नदीके तटके ऊपरकी ओर दूर तक चला जाता। वहाँ ख़र्बूज़ेके खेत थे, दिसम्बर या जनवरी होनेसे वह ख़र्बूज़ोंके पकनेका समय तो नहीं था। इस पारके किसी शिवालयमें एक

शिलालेख मैंने देखा था, किन्तु वह प्राचीन था या नवीन इस ओर उस वक़्त ध्यान ही नहीं जा सकता था। पुलपारकी बस्तीमें भी गया था, कह नहीं सकता ओंकार-नाथका मन्दिर उस पार है या इस पार।

उज्जैन—मान्धातासे चलते वक़्त मेरे साथ एक और तरुण नागा साधु हो लिये। मुसल्मानी कालमें, समसामयिक सभी देशोंमें मठाधिकारी तथा भिन्न-भिन्न सम्प्रदाय अपने स्वार्थोंकी रक्षाकेलिए फ़ौजी ढंगसे अपनेको संगठित करते देखे जाते हैं। भारतमें भी वैसा हुआ था। उस वक़्त मुस्लिम-शासन होनेसे आजके जैसे हिन्दू-मुस्लिम झगड़े तो हो नहीं सकते थे, उसकी जगह हिन्दुओंके आपसके साम्प्रदायिक झगड़े होते थे। हर बारहवें साल, और आपसमें कुछ सालका अन्तर दे हरिद्वार, प्रयाग, उज्जैन तथा नासिकके चार चढ़ाव ('कुम्भ' मेले) हुआ करते थे, जिनमें यात्रियोंकी संख्या लाखों तक पहुँचती थी। वैरागी, दशनामी (गोसाईं या सन्यासी) तथा दूसरे सम्प्रदायोंके हज़ारों साधु जमात बाँधकर आते। संख्या और प्रभावमें वैरागी और सन्यासी आगे बढ़े हुए थे, इसलिए चढ़ावमें पहिले स्नान करनेकेलिए इन्हींमें आपसमें झगड़े हुआ करते। कबीरका समय तो वैरागियोंका आरम्भिक समय था, इसलिए सोलहवीं सदीके अन्तसे पहिले वह सन्यासियोंसे लोहा लेने लायक़ नहीं हो सके होंगे, इसमें सन्देह नहीं। जान पड़ता है, शुरू-शुरूमें झगड़े १७वीं सदीके साथ शुरू हुए होंगे, ज़्यादासे ज़्यादा उनका आरम्भ हुमायूँ-शेरशाहके समय तक जा सकता है।

इन्हीं चढ़ावोंके झगड़ोंमें पिटकर हर दलने अपनेको मज़बूत करना शुरू किया, और हर सम्प्रदायकी सशस्त्र, साधारण युद्धशिक्षाप्राप्त सेनायें बनने लगीं। वैरागियोंके दिगम्बर, निर्वाणी, निर्मोही आदि सात अखाड़े बने, सन्यासियोंके भी निरंजनी आदि अखाड़े। अखाड़ोंमें नाम लिखानेवाले तरुण साधु नागा कहे जाते। इन्हें बाना-बनेठी, तलवार-भाला चलानेकी बाक़ायदा शिक्षा होती। वैरागी अखाड़ेमें प्रविष्ट होनेवाला लड़का हुड़दंगा कहा जाता था, बारह बरसकी अखाड़ेकी सेवा करनेके बाद किसी चढ़ावमें पंच लोग उसे नागा बनाते। उस वक़्त वह अपने अखाड़ेका ज़रदोज़ीके कामका झंडा—निशान (दिगम्बरका पंचरंग और दूसरोंके भिन्न-भिन्न) रखने और उठानेका अधिकारी होता। बारह बरसका नागा हो जाने-पर वह अतीत बनता। इन अखाड़ोंके पास महत्त्वपूर्ण स्थानोंमें काफ़ी मठ और सम्पत्ति होती, जिनका इन्तिज़ाम एक महन्तके हाथमें न होकर बहुत कुछ पंचायती होता, और सचमुच संघका बल निर्णायक होता। नागा-अतीत लोग अपने

अखाड़ोंके अतिरिक्त, जमात बनाकर एक चढ़ावके बाद दूसरे चढ़ावकी पैदल यात्रा करते। उनके पास ऊँट रहते। जिस मठपर भी नागा पहुँचते, उन्हें खिलाने-पिलानेके अतिरिक्त अपने भेषकी पल्टन समझकर कुछ पूजा भी देनी पड़ती। नागोंके यहाँ अपने शिष्योंसे ज़्यादा सादिक शिष्योंकी प्रधानता होती है। ज्ञान-वैराग्य-केलिए इनका निर्माण नहीं हुआ था, ये तो थे चढ़ाव और दूसरे मौक़ोंपर भेषके निशान को ऊँचा रखनेकेलिए। मरने-मारनेमें वे किसीसे डरते न थे।

आज अंग्रेज़ी शासनके इतने दिनों बाद इन अखाड़ों और नागोंका वह महत्व नहीं है। पुरानी बातोंकी कुछ नक़ल आज भी हम 'चढ़ावों'पर देख सकते हैं, और इन अखाड़ोंके कितने ही मठ और स्थान उज्जैन, हरिद्वार आदि जगहों में भी देख सकते हैं।

उज्जैनमें हम रातको उतरे थे। मेरे साथीको खारीबावली या कौन स्थान मालूम था, हम लोग बिना दिक़्क़तके वहाँ पहुँच गये।

उज्जैनमें तीन-चार दिन ठहरे होंगे। चढ़ावके वक़्त मेला कहाँ लगता है, उस स्थानको देखा, और बहुतसे अखाड़ोंमें भी गये। महाकालका दर्शन तो किया था, किन्तु पीछे वह विस्मृत हो गया। जाड़ेका दिन था, सर्दी मालूम हो रही थी, इसलिए नागाके साथ मैंने भी एक गरम कोट अपनेलिए बनवाई—परसा होता तो कोटकी जगह चौबन्दी बनवानी पड़ती। यहाँ भी धुनीके पास ही आसन लगा था, और वह गँजेड़ियों-भँगेड़ियोंके चौधुरानेमें थी। एक दिन भाँगकी गोली लेकर कुछ नशेमें हो, आँखें मूँद, आसनपर पालथी मारे मैं बैठा था। भंगके नशेमें आप बोलने लगें तो बहुत बोलते रहेंगे, चुप रहना चाहें, तो एकदम चुप ही रहेंगे। मैं एकदम शान्त-आसीन था। आठ-नौ बजे शामका वक़्त था। कोई शहरका श्रद्धालु गृहस्थ बैठा बहुत देरसे औरोंको बातचीत करते, किन्तु मुझे उस तरह शान्त देख, समझने लगा—कोई योगी ध्यानमें मग्न है। उसने पासके साधुओंसे जिज्ञासा की। उन्होंने जो तारीफ़ करनी शुरू की—'भगत ! महात्मा हैं नहीं तो यह दुनिया ठहरी कैसे है ? . . . .' मेरे मनमें आता था, बोल दूँ—'क्यों झूठमूठकी हाँक रहे हो', किन्तु भगतकी श्रद्धासे खेल करना भी तो अच्छा नहीं।

डाकोर—उज्जैनसे डाकोरकी ओर चलते वक़्त उक्त तरुण नागा फिर मेरे साथ था। रतलाम रास्तेमें पड़ा, किन्तु हम लोग वहाँ शहरमें नहीं गये। हमें जाना था डाकोर—अभिनव-द्वारिका। गुजराती लोग वैरागी साधु कम होते हैं, किन्तु उनके स्थान वहाँ बहुत ज़्यादा हैं। डाकोरको तो एक तरहका वैरागी स्थानोंका नगर कहना

चाहिए। हर गली-सड़कपर कोई न कोई स्थान है। हम लोग खाकचौक(?)में 'उतरे' (ठहरे)।

महीनोंसे सैकड़ों स्थानोंमें 'उतरते', बातचीत करते, अब रीति-रिवाज, तथा स्थानीय एवं अभ्यागत साधुके कर्तव्य और अधिकार मुझे मालूम हो गये थे। किसी जगह जाने-आने, मिलने-जुलने, रहने-सहनेमें कोई संकोच नहीं था। अब दरअसल मैं टकसाली साधु बन गया था। इन सभी स्थानोंमें घूमते हुए मैं देख रहा था, वहाँ पढ़ने-लिखनेवालोंका कितना अभाव है; उनका सांस्कृतिक तल कितना नीचा है। लेकिन, इतना होते भी दुरूह रास्तों और स्वागतहीन देशोंमें जानेकेलिए तैयार नौजवान भी उनमें मिलते थे, जो कि मेरेलिए कम आकर्षणकी चीज़ न थी।

बालाजीकी तरह डाकोरमें भी मुझे एक छोटेसे स्थानके महन्त दामोदरदाससे परिचय हो गया। वह साधारण वैरागियोंसे कुछ अधिक संस्कृत और समझदार थे। उनके स्थानमें दो-तीन और साधु थे, महन्तजीके पास काफ़ी समय गप करने, चौपड़ खेलने और बीड़ी-तम्बाकू पीनेकेलिए था। वह थे भी मेरी ही उम्रके, इसलिए हम दोनोंमें खूब पटरी जम गई। मैं अक्सर उनके ही यहाँ रहता, चौपड़ खेलनेके अतिरिक्त एक गुजराती पुस्तक उनके यहाँ देखकर मैं उठाकर देखने लगा; कितने ही अक्षर तो पहिले हीसे परिचित थे, दूसरे-तीसरे दिन मैं उसे खूब पढ़ने लगा, और भावार्थ समझनेमें भी कोई दिक़्क़त न थी। दामोदरदासजीने मुझसे बिहारके अच्छे धानोंका बीज माँगा था, जिसे परसा पहुँचनेपर मैंने भिजवा दिया था।

अहमदाबाद (जनवरी १९१४)—माघ उतर रहा था, जब कि मैं अहमदाबादकेलिए रवाना हुआ। अहमदाबादमें जमालदर्वाजेसे बाहर थोड़ी ही दूरपर नरसिंह बाबाका मन्दिर साधुसेवाकेलिए मशहूर हो चुका था। मेरे साथी वहाँ ही जा रहे थे, मैं भी उनके साथ वहीं जाकर धुनीके पास 'उतरा'। धीरे-धीरे देख रहा था, धुनी मुझे ज्यादा आकृष्ट कर रही है, किन्तु क्या गाँजा या सूखेकी चिलमकेलिए ?——नहीं, बल्कि गँजेड़ी-भँगेड़ी ही परले दरजेके सैलानी भी होते हैं; उन्हींसे ज़्यादा 'देश-देशान्तर'की बात सुननेको मिल सकती, उन्हींकी बतलाई अभिज्ञताके अनुसार मैं आगेकी यात्राका प्रोग्राम बना सकता था। कश्मीर, कुल्लू, काठियावाड़, छत्तीसगढ़, अमरकंटक, आसामके दुर्गम तीर्थोंकी बातें यहीं धुनीके सामने सुनी जा सकती थीं। स्थानके ब्रजवासी महन्त बड़े सीधे-सादे व्यक्ति थे। एक मैलासा अँचला, नंगे पैर, नंगे शिर——बस यही वेष था। कामकेलिए उनको न आलस्य था, न संकोच। आँगनमें झाड़-बुहारू कर डालना यह उनकेलिए मामूली बात थी। गृहस्थ उनको मानते थे,

और महीनेमें बीस दिन किसी न किसीकी ओरसे भोज होता रहता था। गुजरात बड़ा साधुसेवी-प्रान्तके तौरपर साधुओंमें मशहूर है और उसमें भी अहमदाबाद। काली-रोटी, धवली-दाल (पूआ और खीर) को वहाँके साधारण भोजके तौरपर समझा जाता था। अहमदाबादमें मैं एक मासके क़रीब रहा, और देख रहा था, बराबर पूड़ीके साथ किसी दिन हलवा, किसी दिन पूआ-खीर। कितने ही गृहस्थ स्थान हीमें सामान भेज देते थे, और कितने खानेकेलिए अपने घर बुलाते थे। उनके घर जाते वक़्त घड़ी-घंटेके साथ साधुओंका जलूस निकलता, लालसा होनेपर निशान (क़ीमती ध्वजायें) भी लगाकर चलते। एकाध बार साबरमतीकी दूसरी तरफ़ किसी गाँवमें भी हमें भोज करने जाना पड़ा।

स्नान आदिकेलिए हमें साबरमती जाना पड़ता, जो स्थानसे बहुत दूर नहीं थी। यहाँ भी साधारण लोग धोबीको कपड़ा न दे खुद साफ़ कर लिया करते। नदी की धारा क्षीण थी, उसमें धुले कपड़ेका पानी मिल जाता, तो बहुत गन्दा हो जाता था। जाड़ेका दिन था, और धोनेवाले ज़रा देरसे काम शुरू करते थे, तब तक जाड़े पाले हीमें बड़े तड़के हम लोग जाकर स्नान कर आते थे। अभी तक साबरमतीसे गांधी जीका कोई सम्बन्ध स्थापित नहीं हुआ था, वह इस वक़्त अफ़रीका हीमें थे। स्थानमें ज़्यादातर अभ्यागत साधु थे, जो हफ़्ता-दस दिन रहनेके बाद चल देते थे। महन्तजीके शिष्य और उत्तराधिकारी माधवदास गुजराती तरुण थे। कुछ पढ़े थे, किन्तु आगे बैठ गये थे। मुझसे मामूली बात-चीत थी। एकाध बार उनके साथ मैं गुजराती गृहस्थ परिवारोंमें गया। उनमें अधिक शिक्षा, अधिक संस्कृति थी, जैसी कि हमारे यहाँके नौकरी पेशा शिक्षित परिवारोंमें देखी जाती है। बीड़ीका भारी प्रचार पहिले-पहिल यहीं मैंने देखा, अभी वह बिहार और युक्तप्रान्तमें नहीं पहुँची थी। आगन्तुकके सामने भुना हुआ धनिया, बनी हुई कसैली तथा बीड़ी पेश की जाती थी। गुर्जरोंको भी पंचद्रविड़ोंमें शामिल किया गया है, किन्तु यहाँ छतसे टँगा झूला भर तमिलघरों जैसा देखा। पर्दा नहीं था, किन्तु यहाँकी साड़ीसे तामिल-साड़ीका कोई सम्बन्ध न था। शायद मामाकी कन्यासे भांजेका ब्याह(?)यहाँ तक चले आनेके कारण यहाँके ब्राह्मणोंको पंचद्रविड़ोंमें गिना गया हो। लोग यहाँके कमज़ोर थे—बाजरेकी रोटीका देश, फिर इतने कमज़ोर क्यों?—यार लोगोंने बाजरेका संस्कृत वज्रान्न किया है। स्त्रियोंसे पुरुष ज़्यादा कमज़ोर, और कितनोंका कहना था, वहाँकी स्त्रियाँ अबला नहीं प्रबला हैं; परन्तु शायद बनिया और क्लर्क श्रेणीको देखकर उनकी यह धारणा हुई, बाक़ीके स्त्री-पुरुषोंमें ऐसा वैषम्य नहीं देखा।

अहमदाबादमें रहते मैंने गुजरातीकी कुछ पोथियाँ पढ़ीं। गुरु बनानेकी जरूरत नहीं थी. गुजरातीका हिन्दीके साथ वैसा ही सम्बन्ध है, जैसा हिन्दीके साथ भोजपुरी और मगहीका। गुजरात हिन्दीभाषा-भाषी प्रान्तोंकी लपेटमें क्यों नहीं आ गया, यह आश्चर्यकी बात है। अहमदाबादमें इतने दिन रहनेका कारण हुआ, मेरी परसासे आनेवाले रुपयेकी प्रतीक्षा। मैंने डाकोरसे तार दिया था, देर होते देख वहाँसे चला आया, और आखिर जब तक रुपया यहाँ आवे, तब तक मैं प्रस्थान कर गया।

अहमदाबादसे अब जाना था, काठियावाड़ और द्वारिकाकी ओर. किन्तु अहमदाबादके साथियोंने कहा—डाकोर जैसी होली इधर कहीं नहीं होती; इसलिए डाकोरकी होली देखकर द्वारिका जानेका निश्चय किया। जमाल दर्वाज़ेसे दो-एक दिनकेलिए हम लोग एक दूसरे स्थानमें, शहरकी चहारदीवारीके बाहर ही चले आये थे। यहाँ देखते थे, स्त्रियोंको कपड़ोंपर ज़रीका काम करते। पूछनेपर बतलाया, निशान यहाँ भी बन सकते हैं, किन्तु उनका कारबार करनेवाले कारीगर सूरतमें हैं। निशानमें ज़रीके सूतसे महावीरजीकी उभड़ी हुई मूर्ति बनाई जाती; इसमें शायद कुछ विशेष कारीगरीकी ज़रूरत होती।

देश देखना हो, तो पैदल चलो—इस सिद्धान्तका मैं पूरा क़ायल हूँ, यद्यपि हर वक़्त उसका पालन करना मुझसे भी नहीं हो सका। अबके अहमदाबादसे नड़ियादके रास्ते डाकोर पैदल आना तै किया। साथी थे, बहुत दिनोंसे गुजरातमें रहता एक नागा, तथा एक बस्ती जिलेके मोटे-तगड़े 'रमतेराम' (पर्यटक)। गुजरातके गाँव कुछ बुंदेलखंडके ग़ैरपहाड़ी इलाक़े गाँवों जैसे मालूम हुए। गाँवोंमें भी जगह-जगह साधुओंके स्थान थे, जिनसे नागाजी परिचित थे। हम लोग वहीं ठहरते। नरसिंह स्थान (अहमदाबाद)की भाँति यहाँ भी बड़ी-बड़ी गायें पाली हुई थीं। शामको घीमें चुपड़ी बाजरेकी रोटी, खट्टे मट्ठेकी कढ़ीके साथ मुझे जितनी स्वादिष्ट मालूम होती थी, उतनी वह काली-रोटी, धवली-दाल भी नहीं। यद्यपि रहनेकी हमें ज़रूरत नहीं पड़ी, किन्तु गाँवोंमें कितनी ही जगह चौपालें भी पथिकोंकेलिए बनी थीं।

नड़ियादमें हम एक अच्छे वैरागी-स्थानमें ठहरे। महन्त अब तो उतना नहीं, किन्तु पहिले कुछ नागरिक जीवन पसन्द करते थे। उनके बैठकेमें अच्छे-अच्छे कौच, गद्दीदार कुर्सियाँ, झाड़-फन्नूस तथा तस्वीरें टँगीं थीं। नागाजीने बतलाया, यह सब महन्तजीकी प्रेयसीकी देन है, जिसे मरे कुछ दिन हो गये, और जिसके बाद महन्तके जीवनमें उदासी आ गई। गुजरातके वैरागी-मठोंमें अधिकतर महन्त और स्वत्वाधिकारी युक्त-प्रान्त और बिहारके होते हैं। महन्तोंकी अवस्था सभी जगह एकसी है,

और सभी जगह प्रेयसियाँ सुलभ हैं, इसलिए इसमें किसी प्रान्तके पुरुषों और किसी प्रान्तकी स्त्रियोंकी कमज़ोरी बतलाना ग़लत है। हमारे दोस्त बतलाना चाहते थे, कि गुजरातमें तरुण वैरागी सन्ततिप्रवाह क़ायम रखनेमें बड़े सहायक हैं, लेकिन मैंने पूछा—जब अधिकतर इनका सम्बन्ध कुलीन विधवाओंसे होता है, तो सन्ततिप्रवाह क़ायम रखनेका सवाल कहाँ होता है ? रास्तेमें हमारी बीती यात्राओंके वर्णन और नई यात्राओंकी योजनाके बारेमें बात होती रही। हिमालयके देवदारुओं और हिमाच्छादित श्वेत शिखरोंने मेरे हृदयको हर लिया था, इसलिए प्रकृतिके सौन्दर्य, साहसपूर्ण यात्राका जब सवाल आता, तो मैं हिमालयका नाम लिया करता। द्वारिकाके तो अब पास पहुँच गये थे, और वहाँ पहुँच जाना कुछ दिनोंकी बात मालूम होती थी—यद्यपि वह फिर कभी पूरी न हुई। हम लोग आगेकी यात्रामें हिमालय और पंजाबको ही शायद ले रहे थे। बस्तीवाले बाबा हममेंसे सबसे कम घूमे हुए थे।

अबकी बार डाकोरमें 'चार सम्प्रदाय'में उतरे। वहाँके महन्त नागाजीके परिचित थे। आसन ऊपर कोठेपर था। हमारे पास ही नाहनके महन्तजीका आसन था। वह एक-दो साधुओंको अपने साथ नाहन ले जाना चाहते थे। बस्तीवाले बाबा तैयार हो गये। आखिर रास्तेमें जो हिमालयकी तारीफ़का मैं पुल बाँधता आया था। साधुओंमें महन्तजीकी शिकायत भी करनेवाले थे, क्योंकि उन्होंने स्त्री रख रखी थी। साथ ही साधुसेवामें वह डाकोरके किसी स्थानसे पीछे न थे, अपनी सारी सम्पत्तिको साड़ी-सिन्दूरपर ख़र्च नहीं करते थे, इसलिए तारीफ़ करनेवालोंकी कमी न थी। भारी सम्पत्तिके स्वामी, तथा वैराग्यके आदर्शपर अल्पतम विश्वास रखनेवाले महन्तोंको नागरिक जीवनके उपभोगोंसे वंचित रखकर, अखंड ब्रह्मचर्य पालन करनेकी उनसे आशा रखना, वस्तुतः उन्हें आत्मवंचना एवं परवंचनाकेलिए उत्साहित करना था। 'चार सम्प्रदाय'के महन्तजी बहुत विनीत और मिलनसार पुरुष थे। होलीके दो-एक दिन पहिले मैं डाकोर पहुँचा था, और एक-दो दिन बाद चला आया; इतने कम समयमें महन्तजीसे कितना मिलने-जुलनेका मुझे मौक़ा मिला, यह तो मुझे याद नहीं; किन्तु एक बार अपने अस्तबलमें उन्होंने मुझे अपनी कच्छी घोड़ी दिखलाई थी। सवारी मैंने नहीं की, उसकेलिए जी तो किया होगा ज़रूर।

डाकोरमें उसी तरहकी काली भोंडीसी रणछोड़ (मगधराज जरासन्धसे युद्धमें पराजित हो मथुरासे द्वारका भाग आनेके कारण कृष्णका यह नाम पड़ा)की मूर्ति है। कहते हैं, रणछोड़ने द्वारिका छोड़ डाकोर आनेकी इच्छा एक सीधे-सादे गृहस्थसे प्रकट की, और वह उन्हें डाकोर ले आया। डाकोरमें मैं उनके दर्शनकेलिए एक-दो

बार ज़रूर गया होऊँगा, किन्तु देर तक प्रतीक्षा करना और कुछ भीड़-भड़क्म्के सिवा और कोई बात याद नहीं। होलीका जुलूस सचमुच बड़ी तैयारीके साथ निकला था। वैरागी नागोंने गुजरातको आमतौरसे और डाकोरको खास तौरसे अपना अखाड़ा बना रखा है। उस दिन वह अपने गदका-फरी, लेजिम, बाना-बनेठीके हाथ दिखला रहे थे। चारों ओर अपार दर्शकोंकी भीड़ दिखाई पड़ रही थी। निशान चल रहे थे—सो तो याद नहीं, किन्तु बाजे बज रहे थे, अबीर लगाई जा रही थी, शायद होली भी गाई जा रही थी, यद्यपि उत्तरीय भारतकी भाँति गन्दी नहीं; क्योंकि उनके गानेवाले साधु थे; तो भी कृष्ण-राधा, गोपी-कृष्णके नामपर उसे सरस बनाया जा सकता था।

डाकोर आते ही मैंने परसा तार दिया था, और होलीके दूसरे ही दिन तारके मनीआर्डरके साथ खबर आई—ज़रूरी काम है तुरन्त चले आओ।

१३

परसा वापिस

डाकोरसे परसा बहुत दूर है और मुझे रतलाम, भूपाल, बीना, कटनी, प्रयाग, काशी होते गुज़रना पड़ा; किन्तु एक दिनकेलिए काशीको छोड़कर रास्तेमें कहीं नहीं उतरा। परसा आनेपर मालूम हुआ—डोरीगंजके महन्त मर गये, उनकेलिए उत्तराधिकारी चुननेका मामला पेश है। डोरीगंज छपरासे कुछ मील पूर्व गंगातटपर किसी वक़्त एक अच्छा बाज़ार था, जब कि रेलके आनेसे पहिले गंगा द्वारा व्यापार हुआ करता था। जहाँ लक्ष्मी निवास करना चाहती हैं, साधु लोग भी वहाँ अपना आवास बना लेते हैं—इस नियमके अनुसार परसाके किसी साधुने जाकर वहाँ अपनी छोटीसी कुटिया बाँधी, वह धीरे-धीरे बढ़कर एक छोटा-मोटा मठ बन गया। बाज़ारकी आर्थिक अवनतिका प्रभाव मठपर भी पड़ना ज़रूरी था, तो भी उसके पास कुछ खेत और महन्तजीके पास थोड़ेसे पैसे थे। परसाके महन्त प्रधान स्थानके स्वामी होनेके कारण महन्त बनानेका अधिकार रखते थे। डोरीगंजके महन्त यकायक मरे थे, और परसाके महन्तको यह सोचनेका मौक़ा भी नहीं मिल पाया था, कि वहाँ कौन महन्त बनाकर भेजा जावे। मरने या सख़्त बीमार पड़नेकी खबर आनेपर मठकी सम्पत्तिकी देख-

भालकेलिए किसी होशियार आदमीको भेजना ज़रूरी था—होशियार भी हो और महन्तजीका विश्वासपात्र भी, ऐसे आदमीका परसामें अभावसा था। लाचार हो उन्होंने अपने एक भतीजा-शिष्य रामलखनदासको भेज दिया। बलिया ज़िलेके सैंथ-वार गाँवमें भी परसा मठका एक अच्छा शाखामठ है, वहाँके पहिले महन्त, रामलखन-दासके गुरु थे। उनके मरनेपर रामलखनदासको बड़ी आशा थी, कि वही महन्त होंगे, किन्तु उनको महन्त बनानेसे परसाके महन्तको भेंट-पूजा कम मिलती, नया महन्त अपने पूर्वजका शिष्य होनेसे मठकी चल सम्पत्तिपर अधिकार रखता, तथा उसे भविष्यके-लिए अपने पास ही रखनेकी चाह रखता। परसा महन्तने 'मौनीजी'को सैंथवारका महन्त बना दिया, रामलखनदासका नाराज़ होना ज़रूरी था। रामलखनदास वही साधु थे, जिन्होंने लड़के सुदर्शनदासको परसामहन्तके पास शिष्य होने न देकर, सोते हीमें उसे कंठी और मन्त्र दे दिया था।

डोरीगंजमें जाकर रामलखनदासने सोचा कि यहाँ भी महन्तजी चाहेंगे, सारे रुपयोंको अपने पास रख लेना, और कुछ दूसरा करनेपर वह रामलखनदासको महन्त भी न बनावेंगे, इसलिए अबकी बार महन्तजीको छकानेकी उन्होंने पूरी तैयारी की थी। पहिले स्थानके गृहस्थ शिष्योंको समझा दिया, कि महन्तजी चाहेंगे डोरीगंजकी मिट्टी तकको खोदकर उठा ले जाना। उनका यही रवैया हर जगह होता है। मठके 'सेवकों'ने तै किया, कि महन्तजीको वैसा नहीं करने देंगे। इसकी कुछ भनक महन्त-जीको लग गई थी, इसलिए उन्होंने मुझे तार दिया था। मैंने सब बात सुनकर इसे अनुचित और नीतिविरुद्ध समझा कि डोरीगंजकी सारी चल सम्पत्ति परसा चली आवे। आखिर वहाँ भी मन्दिर और मठ था। साथ ही रामलखनदासके वहाँकी धार्मिक जनताको महन्तजीके खिलाफ़ भड़कानेकी भी बात मैंने सुनी। सब सोचकर मैंने गुरुजीको समझानेकी कोशिश की, लेकिन वह कब उसे पसन्द करते। उन्हें ईंट-चूने-पत्थरोंपर स्वाहा करनेकेलिए हर साल दस-पन्द्रह हज़ार रुपये चाहिए थे, और समझते थे डोरीगंजके हज़ार-बारह सौ रुपये बहुत कामके साबित होंगे।

श्राद्ध या भंडाराका दिन आया। एकाध दिन पहिले ही गुरुजीके साथ मैं भी डोरीगंज पहुँचा। महन्तजीने जहाँ रुपये तलब किये, वहीं स्थानीय गृहस्थोंके कान खड़े हो गये। रामलखनदासने मुस्कराते हुए इशारा करके कहा—'मैं कह रहा था न, महन्तजीकेलिए डोरीगंजका स्थान चूल्हे-भाड़में जाये, उन्हें तो ज़रूरत है रुपयोंसे।' गृहस्थ-सेवकोंका भी आखिर मठपर कुछ अधिकार होता है, वे क़ई पीढ़ीसे डोरीगंजके महन्तके शिष्य होते आ रहे थे, मठकी सम्पत्तिमें उनके दानका भी रुपया था; और

उनकी सन्तानका मठके साथ चिरस्थायी सम्बन्ध था, फिर वे नये महन्तको खाली हाथ काम शुरू करनेकी बातको क्यों पसन्द करने लगे ? उन्होंने नरमीके साथ कह दिया, कि मठकी मरम्मत आदि कितने ही काम बाक़ी हैं, जिनकेलिए वे रुपये रखे हुए हैं। गुरुजी इस बातको सुनकर आग-बगूला हो गये, और लगे 'चौकी तोड़ने'--गुस्सा होनेपर मुँह-कान लाल-लाल करके बैठनेकी चौकीपर आसन बदलते हुए डोलना तथा जली-कटी सुनाना यह महन्तजीकी ख़ास आदतोंमें था। लेकिन वहाँ चौकी तोड़नेसे क्या होनेवाला था, यदि गाँवभरके लोग एक राय थे, तो बीस कोस दूरका बड़ेसे बड़ा आदमी भी वहाँ क्या कर सकता था ? सैंथवारमें रामलखनदास अनुभवी नहीं थे, उनको ज़रूरतसे ज़्यादा आत्मविश्वास था, और जनताको अपनी ओर करनेकी आवश्यकताको नहीं समझ पाये थे, अबकी बार वे उन ग़लतियोंको दुहराने नहीं जा रहे थे।

न्योता पाकर आसपासके कई स्थानोंके महन्त और साधु आये हुए थे। अच्छे खासे भंडारेकी तैयारी थी। रुपये देनेसे इन्कार करनेपर महन्तजी अड़ गये--'तो मैं रामलखनदासको महन्तीकी चादर ही नहीं दूँगा।' मुझे समझानेमें बहुत परिश्रम करना पड़ा। मैंने कहा--'आपको चादर न देनेपर भी रामलखनदास डोरीगंजसे जानेवाले नहीं हैं, पिछले दस-बारह दिनोंमें आपके ख़िलाफ़ लोगोंको भड़काकर उन्होंने अपनी स्थिति मज़बूत कर ली है। फिर नाहक़ बदनामी लेनेसे फ़ायदा ? आख़िर हज़ार-बारह सौ रुपयोंसे आपका कुछ होने जानेवाला नहीं है।' 'चौकी तोड़' उठनेके बाद उनका पारा कुछ नीचे उतरता है, यह सबको मालूम था। अन्तमें हम लोगोंकी बातोंका असर हुआ, उन्होंने मुँह फुलाये हुए, किन्तु बाहरसे क्रोध न प्रकट करते हुए, सब काम किया। चद्दर दे रामलखनदासको महन्त बनाया, उनके बाद आये हुए दूसरे महन्तोंने भी चद्दर दी। रामलखनदास सैंथवारके नहीं तो डोरीगंजके महन्त हुए।

रामनवमी परसामें हुई। परसामठकी रामनवमी, जन्माष्टमी बहुत प्रसिद्ध है। रंडियोंकी नहीं, किन्तु छोकरोंकी जितनी नाच-मंडलियाँ आ जावें, उनको खाना और विदाई मिलती है। जन्माष्टमीके भादोंमें पड़नेसे वर्षाके कारण उसमें विघ्न भी पड़ सकता है, किन्तु रामनवमीमें दो दिन तक शामियानेके नीचे नाच होती रहती है। जनताको तो मनोरंजन चाहिए--वह चाहे धर्मके नामपर हो या दूसरे नामपर। आसपासके पचासों गाँवके लोग नाच देखनेकेलिए डटे रहते। सबेरे बैंडबाजा, और रोशनचौकी साधारण तौरसे बजती, १२ बजे दिनको रामजन्म होता, उस वक़्त बाजे-की आवाज़से कानका पर्दा फटने लगता, परसादी लेनेकेलिए लोगोंकी भीड़ लग जाती।

दोपहरको खा-पीकर निश्चिन्त हो नाच शुरू होती, और फिर चलती ही रहती। नाच-गाना देखनेका मुझे शौक़ न हो सो बात नहीं, किन्तु जिस तरहके गवैये वहाँ जमा होते थे, उनकेलिए नींद हराम करना मैं अपने लिए उचित नहीं समझता था। कभी-कभी कोई कत्थक या वास्तविक गायक पहुँच जाता—और ऐसा अवसर कम ही होता, क्योंकि गुरुजीकेलिए सब धान बाईस पंसेरी थे—तो ज़रूर कुछ समय तक सुनता।

अबकी लौटकर परसा आनेपर एक प्रिय परिचित चेहरेको देखकर बड़ी प्रसन्नता हुई, वह था वनमाली ब्रह्मचारीका चेहरा। वनमाली वही जो बनारसमें मोतीरामके बाग़में मेरे वेदके सहपाठी थे, मेरे अपने ज़िलेके रहनेवाले थे, मेरे मित्र थे। मालूम हुआ, मेरे बनारससे चले आनेपर उनके मनमें भी खलबली पैदा हुई, और वह भी आकर परसामें गुरुजीके शिष्य हो गये, नाम पड़ा वरदराजदास—गुरुजी दिव्यदेशोंके पर्यटनसे प्रभावित हो आचारियोंकी नक़ल करना चाहते थे, इसीलिए उन्होंने शंख चक्र देना शुरू किया था, और इसीलिए वरदराज जैसा आचारी नाम हमारे मित्रको दिया गया। वरदराजको पास पानेसे मुझे खुशी और अप्रसन्नता दोनों हुई। खुशी तो इसलिए कि अब मेरे पास एक अभिन्न हृदय मित्र आ गया था, जिसके सामने बिना कोई पर्दा रखे अपने हृदयके भावों—सन्तोषों, असन्तोषों—को रख सकता था; अप्रसन्नता इसलिए हुई, कि परसामठके समाज, उसके विद्याविमुख तथा निम्न कोटिके वातावरणसे मैं स्वयं ही असन्तुष्ट था; उसमें एक और अपने मित्रको फँस गये देखना मुझे अच्छा नहीं मालूम हुआ। तो भी स्वार्थके ख़्यालसे तो खुशीकी मात्राही मुझमें ज़्यादा पैदा हो सकती थी।

मेरेलिए फिर वही चर्खा। ज़मींदारीके गाँवोंको देखो, काग़ज़-पत्र समझो, मामले-मुक़दमेकेलिए कारपर्दाज़ोंको हिदायत करो, दिनों-दिन बढ़ते क़र्ज़के बोझकी फ़िक्रमें मरो, और इन सब बातोंके साथ अक़्लका अपमान करनेकेलिए हर वक़्त तैयार रह चाटुकारोंकी खुशामदोंको सुनो। गर्मीके दिन, किसी तरह नौ-दस बजा दिये; फिर तो गर्मीमें बाहर जाने या किसीसे मिलने-जुलनेकी बात नहीं; कोठरीमें बैठा पंखेके नीचे या वैसे कुछ किताबें पढ़ता, वरदराजसे बातें करता, या सो जाता। चार बजे उठनेपर फिर कुछ इधर-उधर मठके कामको देखता। ठंडा होनेपर चाहे घोड़ेपर चढ़कर या टमटमसे चार-छै मीलकी सैर करता। टमटमसे जानेपर एकमाकी ओर जाता। टमटम कितनी बार उल्टा होगा, गिरा भी होऊँगा, घोड़ेसे गिरनेकी तो नौबत नहीं आई, किन्तु कभी मुझे चोट-फाँट नहीं आई। एक दिन एकमासे टमटम हाँके

आ रहा था, घोड़ा कुछ देखकर भड़का, और तुरन्त एक पहिया बीचके ऊँचे रास्तेसे डेढ़ हाथ नीचे जा पड़ा। पहिया नीचे जानेका मुझे ख्याल है, किन्तु किस वक़्त दिमाग़-को उसकी ख़बर मिली, किस वक़्त उसने हाथ-पैरोंको फाँद जानेकी इजाज़त दी, यह मुझे नहीं मालूम। टमटम बिल्कुल उलट गया, उसका बम् घोड़ेकी पीठपर चला गया, ख़ैरियत यही हुई कि घोड़ा नहीं उलटा। घोड़ा सहित टमटमके उलटनेकी भी नौबतें आईं, किन्तु मैं उसी तरह फ़ुटबालकी तरह उछल जाता। एक बारकी घटना मुझे याद है, जिसका स्मरण आनेसे अब भी रोमांच हो जाता है। परसासे जल्दीमें किसी गाँवको जाना था। टमटम और बग्घी द्वारा जानेमें देर लगेगी, और ज़्यादा दिनका काम भी न था, इसलिए साईसको पैदल भेजकर मैं घोड़ेपर साधारण गद्दी कस, खरहरा करनेकी बिना काँटेकी लगाम लगा परसासे चल पड़ा। बाज़ारकी सड़क जहाँ एकमासे आनेवाली सड़कमें मिलती है, वहाँ चार-चार पाँच-पाँच वर्षके कितने ही बच्चे चौरस्तेपर खेल रहे थे। घोड़ा दौड़ाये हुए मैं आ रहा था, और जब नज़दीक आ गया, तो लड़कोंको देखा। लगाम रोकी, किन्तु वह उसकी क्यों सुने। घोड़ा जिस वक़्त लड़कोंके खेलनेकी जगहपर टाप मारता गुज़रा, उस वक़्त मैं संज्ञा-हीनसा था, मेरी आँखें बलात् मुँद गई थीं। आगे रोकनेमें सफल हो घोड़ेको मोड़ा, मेरा चित्त खिल गया, जब देखा, कि सभी बच्चे भागकर सड़कके दोनों किनारोंपर खड़े हो गये हैं। यूथ-प्रतिभा उनकी काम कर गई। शायद कुछ अधिक उमरके होनेपर उनमेंसे एकाध ज़रूर भौंचक हो वहाँ रह जाते।

इसी साल या इससे पहिले वाले सालमें जब मैं परसामें था, भारतीय पुरातत्त्व-विभागके दो फ़ोटोग्राफ़र एस्० गंगोली तथा पिंडीदास पुरानी वस्तुओंका फ़ोटो लेनेके लिए आकर एकमाके डाकबँगलेमें ठहरे। वह परसा भी आये। उस वक़्त मैं पुरातत्त्व-सम्प्रदायके नामसे भी अपरिचित था, फिर उनके कामके महत्त्वको क्या समझता? पिंडीदासने मठमें आकर कुछ पूछ-ताँछ की, और मैं ही ऐसा आदमी था, जिससे वह कुछ पूछ-ताछ सकते थे। उस वक़्त मन्दिरके उस सभामंडपको तोड़ दिया गया था—जिसमें कि कितनी ही सुन्दर नक़्क़ाशीके कामकी काठकी टोडियाँ लगी हुई थीं। उन्होंने बाक़ी खड़े मन्दिर-शिखर और समाधिके फ़ोटो लिये, मेरा भी पहिला फ़ोटो इसी वक़्त लिया गया, पिंडीदासजीने उसकी एक कापी दी भी थी, किन्तु वह अयोध्या जाते वक़्त मनकापुरमें बरदराजसे खोई गई। उन्होंने एक फ़ोटो घोड़ेपर भी लिया था और पता दिया था इंडियन म्युज़ियम कलकत्ताका; किन्तु मैंने उसकेलिए चिट्ठी नहीं लिखी। दोनों सज्जनोंको इधर-उधर जानेकेलिए मैंने अपना टमटम दे दिया था,

न देनेपर उन्हें पुराने ढंगके एकमाके एक्कोंपर चढ़कर जाना पड़ता, जिनपर खाकर सवारी करनेपर पेट स्वतः खाली हो जाता था।

बहॅरोली गाँव ठीकेपर दिया जा चुका था, उसके बाद जानकीनगर (थाना बसन्तपुरके बिल्कुल नज़दीक) ही मठका दूसरा बड़ा गाँव था। इसे परसाके बाबुओंने 'जानकी'जीके राग-भोगकेलिए प्रदान किया था। उस समय इसका नाम बौंडैया था। पीछे क़र्ज़ या मालगुज़ारीमें बाबू लोगोंकी ज़मींदारी नीलाम हो गई, नये ख़रीदारोंने और गाँवोंके साथ बौंडैयाको दख़ल करना चाहा, किन्तु तबतक बौंडैया जानकीनगरमें परिणत हो गई थी। खोजकर हार गये, उस नामका गाँव नहीं मिला—यही पुरानी कहावत है। जानकीनगरमें मठकी बाईस सौ रुपयेकी आमदनी थी, सरकारी मालगुज़ारी, दायमी-बन्दोबस्तके अनुसार सौ या सवासौ देना पड़ता, था, जिसे लार्ड कार्नवालिसके वक़्त मुक़र्रर किया गया था। गुरुजीके साथ मैं भी जानकीनगरमें ज़मींदारीकी देख-भाल करने गया था। बिहारका ज़मींदार छोटा मोटा राजा है—कमसे कम उस वक़्त था, स्त्री-पुरुषके झगड़ेमें भी जुर्माना लेता था, मामूली मारपीटके झगड़े थाने तक जाने नहीं पाते थे, दोनों ओरसे कुछ ले-देकर ज़मींदार या उसके कारपर्दाज़ दबा देते थे। ज़मींदार न्याय करते हों, सो बात नहीं, उन्हें तो हर साल जुर्मानेमें अधिकसे अधिक रुपये मिलने चाहिए थे। मैं भी उस वक़्त ज़मींदारोंके इस अधिकारको दूसरी बहुत सामाजिक बातोंके साथ सनातन और जायज़ समझता था; यद्यपि मेरी कोशिश थी पूरी न्याय करनेकी। जानकीनगरमें किसी ज़बर्दस्त आदमीको दूसरे कमज़ोरके ऊपर अत्याचार करते मैंने पाया। गवाही-साखीसे क़सूर साबित हुआ। मैंने जुर्माना किया। ज़मींदारके कारपर्दाज़ गाँवके ज़बर्दस्त आदमीका ही पक्ष लेना पसन्द करते हैं, उन्होंने मुझसे जुर्माना छुड़वानेकेलिए कोशिश की। किन्तु इस बारेमें मेरे स्वभावको वह जानते थे; फिर उन्होंने गुरुजीसे सिफ़ारिश करनी शुरू की। उन्होंने जुर्माना माफ़ कर दिया। मुझे यह बहुत नागवार गुज़री। नियम और व्यवस्थाका पद-पदपर अवहेलना करना उनके स्वभावमें था—यह मैं जानता था; फिर भी मैंने अपनी अप्रसन्नता प्रकट की; और नाराज़ हो वहाँसे सीधे परसा चला आया।

लीची शुरू हो गई थी, आमके आनेमें बहुत देर न थी, तो भी नहीं कह सकता मीठी-मीठी लीचियाँ मेरे मनको बहलानेमें समर्थ हुई थीं। परसाका रहना मुझे सिर्फ़ अपने समयको बर्बाद करना मालूम होता था,—उस समयको पढ़ने या दुनियाकी सैरमें लगा सकता था। वरदराज मठहीपर थे, और उनसे भविष्यके कार्यक्रमपर बात

होती रहती थी। यागेशके बहुतसे गुण वरदराजमें थे। दोनों नये स्थानों, नये दृश्यों-को देखना पसन्द करते थे, दोनों मुझसे घनिष्ठ अनुराग रखते थे, और साथ ही दोनों पढ़ने-लिखनेको ज़्यादा महत्त्व नहीं देते थे; इस तीसरी बातमें यदि वे मेरे सहरुचि रखनेवाले होते, तो शायद जीवनकी दौड़में बहुत दूर तक हमारा साथ रहता।

जिस वक़्त मैंने कनैलासे सम्बन्ध तोड़ा नहीं था और बनारसमें पढ़ रहा था, उसी समय पिताजी कनैलासे पूर्व जिगरसंडी गाँवकी एक ज़मींदारी ख़रीदना चाहते थे। एक बार उसके मालिक दस्तावेज़ लिखने भी गये थे, किन्तु किसी बातके कारण पटरी नहीं जमी। पीछे उन लोगोंने उस ज़मीनको एक दूसरे आदमीको लिख दिया। पिताजीने अपनी सबसे छोटी बहिनके ससुरके नामसे—जिनके नाम कि उस जगहकी ज़रासी ज़मीन पहिले साल लिखी जा चुकी थी—हक़शफ़ा दायर किया था; अब हक़शफ़ामें उनकी जीत हो गई। उन्हें दूसरे वैंदारको रुपया लौटाना था। मीयाद नज़दीक और यहाँ नक़द रुपये नदारद। क़र्ज़पर दिये हुए रुपये उस वक़्त लौट न सकते थे। मेरे चचा प्रताप पांडे कुछ दस्तावेज़ोंको लिये तत्काल कुछ रुपये क़र्ज़ लेनेके ख़्यालसे परसा आये। मैं समझ सकता था, कि असाधारण घबराहटमें ही वह इधर आनेपर बाध्य हुए, किन्तु मैं इस तरहके मामलेमें ऐसे भी हाथ नहीं डाल सकता था, और इस वक़्त तो अभी-अभी झगड़कर जानकीनगरसे मैं चला आया था। दूसरोंके साथ रूखे बर्तावके मेरे बहुत कम उदाहरण हैं, इस वक़्त भी एक ऐसा ही उदाहरण मेरा अपने चचाके साथ हुआ, जिसकी स्मृति मुझे सदा अप्रिय मालूम होती है। मैंने कह दिया—'मैं कुछ नहीं जानता, आप महन्तजीके पास जायें।'

वर्षा शुरू हो गई थी। उस साल आमोंकी फ़सल अच्छी आई थी, अथवा दुनियाके-लिए अच्छी फ़सल आवे चाहे नहीं, मेरे जैसी स्थितिके लोगोंकेलिए आम दुर्लभ चीज़ नहीं थे। फ़सलके वक़्त उस समयके फलोंको ही अपने भोजनका प्रधान भाग बनाना मेरी आदत है, चाहे दूसरी खाद्य-वस्तुओंसे वह कितने ही सस्ते क्यों न हों; हाँ, बारहों मास मिलनेवाले फलोंके बारेमें मेरा यह पक्षपात नहीं। पके कटहलको पेट-पेटभर खाते देखकर मेरे साथी डरने लगते थे, किन्तु मैं बड़े चावसे खाता था। इस वक़्त आमोंका ख़ूब दौर दौरा था। सबेरे, दोपहर और शामके भोजनमें काफ़ी परिमाणमें उनका रहना बहुत ज़रूरी था। गुरुजीको डर था, कि मैं फिर किसी तरफ़ निकल जाऊँगा, इसलिए ख़िदमतगारके अतिरिक्त एक सिपाही और एक-दो साधु मुझपर पहरा देनेकेलिए नियुक्त किये गये थे। दरअसल रातको सोते वक़्त, बिना हथकड़ी-बेड़ी तथा कालकोठरीके मैं एक क़ैदीसे बेहतर हैसियत नहीं रखता था। मेरा दिमाग़

भागनेकी ताकमें था, अबके वरदराजभी मेरे सहयात्री बननेको तैयार थे। दोनोंका साथ निकलना असम्भव मालूम हुआ, इसपर तै किया गया कि मैं निकलकर १०, १२ मील दूर महाराजगंजके एक मठमें ठहरूँ, वहीं वरदराज भी आ मिलें, फिर दोनों साथ यात्रा शुरू करें।

एक दिन मुझे मौक़ा मिल गया। पानी बरस रहा था, और रात थी। खाली देह लिये महाराजगंजके उस मठमें पहुँचा। दूसरे या तीसरे दिन वरदराज भी पहुँच गये। हम दोनों साथ परसामठके एक अच्छे शाखामठ बगौरामें गये, जो कि वहाँसे तीन-चार मीलपर था। महन्तजी पहिलेसे भी परिचित थे। बड़ी आवभगत हुई। वे समझ गये हम भगकर आये हैं, लौटानेकी बहुत कोशिश की, किन्तु हमने कहा—वहाँ रहना वक़्त बर्बाद करना है, अयोध्यामें रहेंगे, तो कुछ पढ़ेंगे। महन्तजी ख़ुद तो पढ़े-लिखे नहीं थे, लेकिन उसकी क़द्र जानते थे, तभी तो अपने एक शिष्यको बनारसमें पढ़नेकेलिए भेज रखा था। उस वक़्त बगौरामें पूड़ी और आम ऊपरसे दूधका भोग लगता था। परसाकी तरह बगौरामें कितने ही बड़े पुराने तथा धनी ज़मींदार परिवार हैं। इस मठकी चार-पाँच हज़ार वार्षिक आयकी ज़मींदारीका अधिकांश भाग वहाँके बाबू लोगोंका ही दिया हुआ था। परसामें बाबू लोगोंका मठकी संरक्षताको लेकर ज़बर्दस्त मुक़दमा हो चुका था, बगौरामें अभी नहीं हुआ था; किन्तु उस वक़्त किसको मालूम था, कि वह गर्भमें है; और अचल 'सीता' (मन्दिरकी मूर्ति) केलिए चढ़ाई रेशमी साड़ी किसी चलती-फिरती सीताके बदनपर पहुँचकर ग़ज़ब ढायेगी।

दो-चार दिन बगौरा रहकर हम अयोध्याको रवाना हो गये।

१४

अयोध्यामें तीन मास (१९१४ जुलाई-सितम्बर)

दुरौंदासे गाड़ीमें चढ़ते वक़्त हम दो डब्बोंमें बैठ गये थे। मैंने वरदराजको कह दिया था, कि गोरखपुरसे अगले स्टेशनपर उतर पड़ना। शायद हम लोगोंमेंसे एक बिना टिकटका था, नहीं तो वरदराज वहाँका उतरना न भूलते, और न हम दोनोंको दो डब्बोंमें बैठनेकी ज़रूरत पड़ती। मैं जिस स्टेशनपर उतरा शायद वह डोमिनगढ़

था। ढूँढ़ा, लेकिन वहाँ वरदराजका पता नहीं। स्टेशनमास्टरसे परिचय हो गया। शामको उन्हींकी सहायतासे रवाना होकर मनिकापुरमें ट्रेन बदल लकड़मंडी पहुँचा। अयोध्या सामने दिखलाई पड़ रही थी। बिना पैसा-कौड़ी जा रहा था, किन्तु अब बिना पैसा-कौड़ी भी काफ़ी दुनिया देख चुका था, इसलिए अयोध्याकी ओर पैर बढ़ाना घरकी ओर जानासा था। बरसात होनेके कारण इस वक़्त पुल नहीं स्टीमर चल रहा था, और शायद गोलाघाटपर लगता था। स्वर्गद्वारपर विदेहीजीके स्थानका नाम मैं पहिले ही सुन चुका था, इसलिए वहीं जाकर उतरा। नीचे सीढ़ीकी बाईं ओर की कोठरीमें रहनेकेलिए जगह मिली।

सावनका महीना अयोध्यामें बहुत चहल-पहलका होता था। आधी अयोध्या मन्दिरों और मठोंसे भरी हुई है, इस महीनेमें हर मन्दिरमें राम-सीता झूला झूलते। झूलेको ख़ूब फूलों, लट्टुओं और रोशनीसे सजाया जाता। हर जगह थोड़ा-बहुत संगीतका प्रबन्ध रहता, अधिक समृद्ध मन्दिरोंमें नाच भी होती, और किन्हीं-किन्हीं मन्दिरोंके 'सीताराम' तो रंडियोंका नाच भी देखते। मुझे कुछ आश्चर्य और कुछ अभिमान हुआ, जब कि झूलेकी झाँकी निहारते वक़्त घूमते समय सुना कि पासके मन्दिरमें झूलनमें छपराकी विख्यात नटी तौखी नाच रही है। तौखीका नाम याद रह गया, क्योंकि १९२२में तिलकस्वराजफ़ंडमें उसने काफ़ी रुपया देकर दिखलाया था, कि एक रंडी भी हृदय रख सकती है। युक्तप्रान्त और बिहारके दूर-दूरके कोनोंसे श्रद्धालु स्त्री-पुरुष झूलन देखते सावन बितानेकेलिए अयोध्या आते हैं। हम लोगोंको निश्चय ही सावनका आकर्षण खींचकर नहीं लाया था।

दूसरे या तीसरे दिन वरदराज भी मिल गये। उन्हें अपने जन्मस्थानका एक वृद्ध साधु मिल गया था। परसामठके एक महात्मा अयोध्याकी अन्तरंग धार्मिक-मंडलीमें बहुत विख्यात थे, उन्हींके द्वारा हमें एक-दूसरेका पता लग पाया।

पाँच-सात दिन तो अयोध्याके भिन्न-भिन्न मठों, मन्दिरोंको देखने, रातको झूलनोत्सवोंका आनन्द लेनेमें हमारे बीत गये। दर्शकोंमें यही चर्चा रहती थी—'अमुक स्थानकी फूलोंकी सजावट बड़ी सुन्दर थी', 'अमुक स्थानमें रोशनी अच्छी थी', 'अमुक स्थानमें हरी-पीली घासोंको कैसा सजाया था ?' '...मन्दिरमें कत्थक नाचनेमें कमाल कर रहा था।' दर्शकोंकी चलन्तू मंडली आधीरात तक चलती-फिरती रहती। दूसरे मन्दिरोंमें तो ताँबे, पीतल, अष्टधातुके राम-सीता झूलेपर झूलते, किन्तु "रसिक" लोगोंके यहाँ देखने-सुननेवाले, चलने-फिरनेवाले, जीते-जागते, राम-सीता-झूलनका आनन्द ले रहे थे। रामलीलाकी तरह छोटे-छोटे सुन्दर लड़कोंको राम-सीता बनाकर

वहाँ झूलेपर बैठाया जाता। रामजी 'द्वापर'के वेशमें पट्टा काढ़े, किरीट-मुकुट बाँधे, नाकमें मोती पहिने, धनुष-वाण लिये बैठे होते, उनके पास लहँगा-दुपट्टा ओढ़े शिरपर चन्द्रिका दिये जानकीजी होतीं। दोनोंके शिरमें चन्दन-खौर घसी रहती। गोलाघाटके महात्मा श्री रामवल्लभाशरणजी अपने श्री-करकमलसे राम-जानकीको झूला झुला रहे थे, बलैया लेते उनके मुँहमें पानके बीड़े दे रहे थे। वहाँ रोशनीके मारे रातका दिन हो रहा था। फूलों और अतरकी सुगन्धसे सारी हवा लदी हुई थी। यहाँ फ़ैज़ाबाद तथा दूसरे नगरोंके सम्भ्रान्त परिवारोंके स्त्री-पुरुष बाल-बच्चों सहित बैठे झूलेकी झाँकी तथा संगीतका आनन्द ले रहे थे। लक्ष्मण क़िला, हनुमतनिवास जैसे रसिक देवालयोंमें सावनकेलिए खूब तैयारी थी। अपनी सूक्ष्म रुचिका इन लोगोंको अभिमान था, और वह अभिमान बहुत कुछ दुरुस्त भी था।

परसाके शिष्य एक भजनानन्दी महात्माके पास जाने-आनेका मौक़ा न मिला होता तो मुझे सखीमतवालोंके बारेमें विशेष जाननेका मौक़ा नहीं मिलता। यद्यपि उस वक़्त भी, और इधर तो ज़्यादा मैंने कहते सुना कि सखीमतवाले दाढ़ी-मोंछ मुड़ाकर, लम्बा केश बढ़ाये बिल्कुल स्त्री-वेषमें रहते हैं, किन्तु अपने परिचित व्यक्तियोंमें मुझे ऐसे चेहरे नहीं देखनेमें आये। हाँ, स्त्रैण भावना उनमें ज़्यादा होती है। मेरे स्थानके उक्त महात्मा भी भीतरसे सखीभाव रखते थे, ऊपरसे तो लम्बी-दाढ़ी, मूँछ, लम्बा केश, अँचला और सिरपर एक सफ़ेद गमछा रहता; किन्तु उनके शिष्यका इसी वेषके साथ, ललाटपर राम नामके छापके अतिरिक्त स्वर बिल्कुल स्त्रियोंका था। बोलने और चलनेमें स्त्रियोंकी हूबहू नक़ल करते तो मैंने भी बहुतसे सखीमतानुयायी देखे। उनका कहना है—पुरुष तो एक भगवान् ही हो सकते हैं, दूसरा व्यक्ति पुरुष भाव रखकर भगवान्‌की भक्ति नहीं प्राप्त कर सकता; इसीलिए भगवान्‌की भक्तिके-लिये सखीभावकी पूर्ण साधना बहुत आवश्यक है। हर 'सखी' (सखीमतानुयायी)का एक स्त्रीलिंगी रहस्य नाम होता है—'लवंगलता', 'अनंगलता'। वह रामको अपना पति समझकर उनकी पूजा करती, उनको साथ लेकर कितनी ही सोती तक, और कितनोंको तो मासिक-आर्तवका भी अभिनय करते देखा जाता। रसिक या 'सखी' लोग दूसरोंकी भक्तिको अनाड़ियोंकीसी निम्नकोटिकी मानते। वह 'राम-जानकी' पूजा-अर्चामें आजकलके राजा-रानियोंके उपभोगकी सारी सामग्रियाँ यथाशक्ति उपस्थित करना चाहते। 'सखी' लोग वियोग नाटच नहीं, सदा मिलनके बानेको पसन्द करते। उनके कपड़े भी कुछ अधिक नफ़ीस, चेहरेपर स्निग्धता (चिकनापन) ज़्यादा, वाणी स्त्रैण और मधुर होती। एक दिन श्रीरामवल्लभाशरणजीसे हम

लोग बातचीत करने गये थे वेदान्तपाठशालाके बारेमें, उन्होंने राजकुमार रामसम्बन्धी निजनिर्मित पहिले तो कुछ कवित्तें सुनाईं, फिर जिस उद्देश्यको लेकर हम गये थे उसपर भी बातचीत की। उस वक़्त उनका बारीक अँचला सूती था या रेशमी सो तो मैं नहीं कह सकता, किन्तु चादर सफ़ेद काशी-सिल्ककी थी। केसरिया चन्दनसे सीताराम तथा चन्द्रिका-मुद्रिका द्वारा उनका सारा ललाट दोनों आँखोंके बाहरी कोनों तक अंकित था। जिस स्वर और हाव-भावसे बोल रहे थे उसमें गम्भीरता ज़रूर थी, किन्तु उससे मालूम होता था, कोई दाढ़ीवाली महिला बोल रही है।

किसी समय जानकीघाट—सखीमतका उद्गम स्थान—अपने सख्य-भाव और शिक्षा-दीक्षाकेलिए प्रसिद्ध था, फिर क़िलाके युगलानन्यशरणका सितारा चमका जो इस वक़्त डूब चुका था। इस वक़्त वहाँके महन्त स्त्रीनाट्य नहीं पुरुषाभिनयको ही तर्जीह देते थे। गोलाघाटके श्रीरामवल्लभाशरणकी प्रकट तथा पंडित वल्लभा-शरणकी गुप्त सख्यभावनाकी ख्याति थी, किन्तु वस्तुतः सखीसमाजका केन्द्र हनुमत-निवास हो रहा था, जहाँके महन्त गोमतीदास सख्यभक्तिमें बहुत पहुँचे हुए समझे जाते थे। उनकी शक्ति प्रभावकी वृद्धिको मुबारकपुर (छपरा)के श्रीभगवान्-दास—जो गृहस्थावस्थामें परसाके पहिले वाले महन्त श्री रघुवरदासके शिष्य थे—की उनके प्रति श्रद्धाने और बढ़ा दिया था। श्री भगवान्दासजी अपने भक्तोंमें रूप-कलाजीके नामसे अधिक प्रसिद्ध हैं, वह पहिले स्कूलोंके डिप्टी-इन्स्पेक्टर थे, पेनशन लेनेके बाद वह घरसे विरक्त हो गये, और अयोध्यामें रहने लगे। जिस वक़्तकी बात मैं लिख रहा हूँ, उस वक़्त वह हनुमत्-निवासमें रहा करते थे। दाढ़ी-मूँछ मुँड़ाये वह पूरी तौरसे स्त्रीरूपमें रामभक्ति कर रहे थे। उनका विहारके एक श्रेणीके शिक्षितोंपर बहुत प्रभाव था, जिससे उनकेलिए तो हनुमत्-निवास काबा बन गया था।

सखीमतके सभी कर्णधारोंके बारेमें तो नहीं कह सकता, किन्तु अधिकांश तो इस रामभक्तिकी आड़में अपने स्थानोंको अस्वाभाविक व्यभिचारका अड्डा बनाये हुए थे। मुझे आश्चर्य होता था, गृहस्थोंमें कितने ही इस रहस्यको जानते हुए भी क्यों उनकी ख्याति बढ़ानेमें सहायक होते हैं।

पाँच-सात दिनमें अयोध्या काफ़ी देख लेनेके बाद अब पढ़ाईका सिल्सिला भी जारी करना था, उसी वक़्त पता लगा, गोलाघाटके पास 'दिव्यदेश' (मद्रासी ढंगपर बने आचारी-देवालय)में एक वेदान्त पाठशाला खुली है, जिसमें एक योग्य मद्रासी विद्वान् पढ़ाते हैं। मैं भी जाकर वहाँ दाखिल हो गया। छात्रोंकी संख्या बारह-तेरह रही होगी, जिनमें तीन-चारको छोड़ बाक़ी सभी वैरागी थे, और यही अच्छे विद्यार्थियोंमेंसे

थे। शायद वेदार्थसंग्रहका पाठ चल रहा था। तिरुमिशीमें रहते मैंने 'यतीन्द्रमत-दीपिका' (रामानुजवेदान्तका प्रारम्भिक ग्रन्थ) पढ़ ली थी। शंकरवेदान्तका भी कुछ परिचय था, इसलिए उसके पढ़नेमें मेरी ख़ूब रुचि रहती। ददुआ साहेब (अयोध्याके राजा)के महलके पीछे उन्हींके मकानमें कुछ महाराष्ट्र वैदिक रहते थे। विदेहीजीके स्थानमें रहनेवाले एक ब्राह्मण विद्यार्थीसे पता लगा, कि वहाँ एक पंडित सामवेद पढ़ाते हैं। मैंने वहाँ जाकर सामवेद भी 'पढ़ना' शुरू किया—पढ़नेसे मतलब यहाँ सस्वर पाठसे है। गुरुजी ख़ुद भी गर्दभ स्वरका ही अनुकरण कर सकते थे, और ईंजानिब भी ब्रह्माके पास उस वक़्त पहुँचे थे, जब वह मृदु और संगीतोपयोगी स्वरोंको बाँट चुके थे। ख़ैर, साम-गानमें कैसे पाठकी विकृति गायनके ख़्यालसे की जाती है, इसका कुछ परिचय मिला। अध्यापक यदि गायक भी होते, तो शायद और ज़्यादा मज़ा रहता। वैदिक गुरु हमें बड़े प्रेमसे पढ़ाते, और अयोध्याके निवासमें आख़िरी महीनेको छोड़ बराबर उनके यहाँ मैं पढ़ने जाया करता।

वेदान्तपाठशालामें पढ़ते ही वक़्त साथियोंके अनुरोधसे मैं प्रमोदवनकी बड़ी कुटियामें आ गया। यहाँ उस वक़्त सौसे अधिक साधु रहा करते, और यह अयोध्याके अच्छे साधु-सेवी स्थानोंमें गिना जाता था। हमारे कई सहपाठी इसके आसपास ही रहा करते थे। यह वह ज़माना था, जब कि धार्मिक जगत्में सार्वजनिक व्याख्यानोंकी चहल-पहल थी, आर्यसमाजियों, सनातनियों, ईसाइयों, मुसल्मानोंके परस्पर शास्त्रार्थ-मुबाहिसे हुआ करते थे। व्याख्याताओंकी बड़ी क़द्र थी। यद्यपि अयोध्याके पुरानी चालके महात्मा मजमेमें गला फाड़कर हाथ-पैर डुलाते हुए इस चीत्कारको बिल्कुल धर्मबहिर्मुख नई चाल समझते थे; किन्तु नौजवान पीढ़ीको भाषणमंचकी शक्तिका ज़रा-ज़रा भान होने लगा था। अभी हालमें ही भरतपुरके अधिकारी . . . .जी, और महन्त लक्ष्मणाचार्यका बड़ी जगहमें भाँषण हुआ था, जिसे हम भी सुनने गये थे। इसका असर यह पड़ा कि हम कई साधु-विद्यार्थियोंने मिलकर बड़ी कुटियामें एक छोटी सभाके रूपमें भाषणमंच तैयार किया। उस सभाका रूहेरवाँ मैं था। सप्ताहमें एक दिन हम लोग किसी विषयपर भाषण देते। यद्यपि मेरा वह पहिला ही प्रयास था, किन्तु वहाँ 'अन्धोंमें काना राजा' समझा जाता था। स्वामी हंसस्वरूप, पंडित ज्वालाप्रसाद मिश्रके छपे हुए व्याख्यानोंको हम लोग अपनी भाषण-शिक्षाका अंग समझते थे। आर्यसमाजके प्रहारोंसे हिन्दुओंके प्रत्येक धार्मिक सम्प्रदाय तंग आये हुए थे। आर्यसमाजी मूर्तिपूजा, श्राद्ध, अनेकदेवतावाद, पुराणोपरिश्रद्धा आदि सिद्धान्तोंका बहुत ज़ोरसे खंडन करते थे। यह खंडन अख़बारों और पुस्तकों

हीमें नहीं छपता था, खुद अयोध्यामें भी फ़ैज़ाबादके महाशय केदारनाथ धूम मचाये हुए थे। जब तब उनका व्याख्यान हो जाया करता, यद्यपि मुझे उसे सुननेका कभी मौक़ा नहीं मिला। आर्यसमाजी अपने इस खंडनात्मक प्रवृत्तिसे अप्रिय हो गये थे, किन्तु यह अप्रियता धार्मिक व्यवसायियों ही तक परिमित थी, दूसरे हिन्दू उनके इस्लामसे 'लड़'कर हिन्दूधर्मकी रक्षावाली नीतिसे प्रभावित होते जा रहे थे।

सभाका हमने क्या नाम रखा था? याद नहीं। खैर, बड़ी कुटियामें शामको सप्ताहमें एक बार हम लोग व्याख्यान दिया करते थे। भाषण सीखनेकी लालसा तो छूतकी बीमारीकी तरह फैल ही गई थी। देखा-देखी पंडित वल्लभाशरणके यहाँके विद्यार्थियोंने भी अपने यहाँ सभा क़ायम की। मैं बीच-बीचमें इचाक-मंदिरमें पंडित गोविन्ददासके पास आया-जाया करता था। मेरे व्याख्यानोंकी ख्याति बड़ी कुटियासे बढ़कर यहाँके विद्यार्थियों तक भी, मालूम होता है, पहुँच गई थी। उन्होंने मुझे व्याख्यान देनेकेलिए——नहीं व्याख्यान देकर सिखलानेकेलिए——बहुत आग्रह किया। मुझे आत्मविश्वास बिल्कुल नहीं था, सो तो नहीं कह सकता; किन्तु मैं अपनेको व्याख्याता नहीं समझता था। नोट लिखकर व्याख्यान देना तो मैं अबतक नहीं जानता, फिर उन आरम्भिक खिलवाड़ोंके बारेमें क्या कहना? खैर, मैं उनकी छोटी सभामें व्याख्यान देने गया। पंडित वल्लभाशरण भी पधारे थे। न जाने किस विषयपर व्याख्यान दिया। मैं क्या कह रहा हूँ, मुझे खुद इसका पता नहीं रहा। सामने बैठी जनता, विशेषकर पंडित वल्लभाशरणजीका रोब इतना ग़ालिब था, कि मुझे सोच-साचकर कहनेकी वहाँ फ़ुर्सत ही नहीं थी। मालूम होता था, भूतावेशमें कुछ बोलता जा रहा हूँ——भूतावेश भी नहीं, क्योंकि मेरे व्याख्यानमें शुरू हीसे स्वरोंके आरोहावरोह-की ज़्यादा गुंजाइश नहीं होती। व्याख्यानकी समाप्तिपर मेरी बड़ी तारीफ़ हुई। पंडितजीने विद्यार्थियोंको कहा——इस तरह व्याख्यान देना सीखो, व्याख्यानका युग है। मुझे व्याख्यानकी तारीफ़की उतनी प्रसन्नता नहीं हुई, जितनी पत रह जानेकी।

वेदान्तपाठशालामें इधर एक नया गुल खिलने लगा। श्री बलरामाचार्य (तिरु-मिशीमें मिले पंडित भागवताचार्यके यह दीक्षा-गुरु थे)के शिष्य इन्दौरके एक सेठ इस पाठशालाको खोलनेमें द्रव्यकी सहायता दे रहे थे। जिस वक़्त मैं तिरुमिशीमें था, उस वक़्त उक्त सेठ वहाँ आये थे, और पाठशालाके सम्बन्धमें बातचीत चल रही थी। पाठशाला खोलनेका उद्देश्य था, उत्तरी आचारियोंको रामानुजवेदान्तसे परिचय प्राप्त करनेका अवसर देना। किन्तु यहाँ पढ़नेकेलिए आचारी तो मुश्किलसे दो-चार आये——क्योंकि अयोध्यामें उनके स्थान ही बहुत कम हैं——और उधर वैरागी भर गये।

वैरागी भी रामानुजके ही विशिष्टाद्वैत वेदान्तको मानते थे, इसलिए इस विषयमें आचारियोंके प्रति विशेष श्रद्धा रखते, अपने भीतर वेदान्तके जानकारोंके अभावके कारण वे आचारियोंकी प्रधानताको भी स्वीकार करते। यदि ये ख़ुद वेदान्त पढ़ जायेंगे, तो हमारी प्रधानता छिन जायेगी, आदि ख़्याल थे, जिनके कारण आचारियोंने दिव्यदेशकी वेदान्तपाठशालाको अपने सम्प्रदायकेलिए घातक समझा। वह उसे बन्द करनेकी सोचने लगे। उसके अध्यापक इस मनोवृत्तिको महत्त्व नहीं देते थे, वह तो बल्कि समझ नहीं सकते थे,—विशिष्टाद्वैतके सिद्धान्तके बीजको ऐसे श्रद्धालु तरुण मस्तिष्कोंमें बोनेसे सम्प्रदायको कैसे हानि होगी? वह अपने प्रति हमारी श्रद्धा तथा पढ़नेमें तीव्र रुचिको भी देख रहे थे, और इस प्रकार चाहते नहीं थे, कि पाठशाला टूटे। किन्तु आखिर पराधीन थे, उनके पास रुपया कहाँ था, कि सेठ और श्रीबल-रामाचारीको फटकार कर लिख देते,—जाओ, तुम अपना रुपया अपने पास रखो, हम तो यहाँ इन छात्रोंको पढ़ावेंगे। हम लोगोंको भी इतनी जल्दीमें यह ख़बर लगी, कि हम दूसरा कोई प्रबन्ध नहीं कर सकते थे। तो भी इस ख़बरके लगते ही हमारे दिलोंमें आग लग गई। हमने दूसरी वेदान्तपाठशाला खोलनेकेलिए एक अस्थायी समिति क़ायम की। पंडित गोविन्ददास उसके प्रधान मंत्री और मैं उपमंत्री बनाया गया। पंडित गोविन्ददासजी कुछ सुस्त और मितभाषी थे, इसलिए, बहुत कुछ काम मेरे ऊपर था। पंडित मथुरादास, तथा दूसरे कई साधुविद्यार्थी बड़ी तत्परतासे धनसंग्रह-केलिए जुट गये। भूतपुरीवाले वेदान्ती पंडितने हमारे आग्रहको स्वीकार करते हुए कहा—'इस वक़्त तो मुझे सपत्नीक घर जाना है, किन्तु वहाँसे आप लोगोंकी वेदान्त-पाटशालामें पढ़ानेकेलिए मैं अवश्य आऊँगा।' उनके रवाना होनेसे पहिले ही हमने बारह-तेरह सौ सालाना चन्दाका वचन ले लिया था। इस सिल्सिलेमें मुझे अयोध्याके प्रायः सभी मठोंके महन्तोंसे मिलनेका मौक़ा मिला था। बड़ी जगह और राजगोपालके दोनों महन्त महाशयोंने हमारे उत्साहको बहुत बढ़ाया था। पंडित वल्लभाशरणका सम्बन्ध रसिक-सम्प्रदायसे था, किन्तु वह भी हमारे पृष्ठपोषक थे।—दूसरे पक्के रसिक तो वेदान्त, और विशिष्टाद्वैतको फ़ज़ूल पंडितोंकी 'दाँत कटाकट' समझते थे।

हमने वेदान्तपाठशालाकेलिए फ़ैज़ाबादसे रसीद बही छपवाई, बैठनेकेलिए टाट बनवाया। छोटी कुटियाके महन्तजीने अपने फाटकपरके कोठेको वेदान्तपाठ-शालाकेलिए देना स्वीकार किया। एक दिन पंडित सरयूदासजी व्याकरणोपाध्यायकी अध्यापकीमें हमने पाठशालाका उद्घाटन भी कर दिया।

जिस वक़्त हम अयोध्याके कुछ शिक्षित तरुण वैरागी आचारियोंके अपमानपूर्ण

बर्तावसे आहत हो नई वेदान्तपाठशाला खोलनेका आयोजन कर रहे थे, कई जगह भाषण-सभायें चला रहे थे, उसी समय यूरोपमें महायुद्ध छिड़ गया था। उससे पहिले 'सरस्वती'का पाठक तो मैं अक्सर रहता रहा, किन्तु नहीं ख्याल है, साप्ताहिक-पत्रोंको भी देखता था या नहीं। महायुद्धने अख़बारी दुनियासे मेरा परिचय कराया। कलकत्ताका 'वंगवासी' साप्ताहिकोंमें बहुत जनप्रिय था, उसका एक चद्दरके बराबर, ओढ़ने-बिछाने भरकेलिए पर्याप्त विशाल कलेवर हर सप्ताह हमारी आँखोंके सामनेसे गुजरता। कहाँ है लीग, कहाँ ब्रूसेल्स—हमें तो बेल्जियम्का भी धुँधलासा ज्ञान था। अख़बारोंकेलिए उस वक़्त नक़शे आवश्यक चीज़ नहीं समझे जाते थे। खबरोंसे यही मालूम होता था, अंग्रेज़ी, फ़्रांसीसी, और रूसी सेनायें बराबर जीत रही हैं, किन्तु अंग्रेज़ोंके प्रति हमारी स्वाभाविक घृणा उन जीतोंमें भी हमें अंग्रेज़ोंकी हार देखनेकेलिए प्रेरित कर रहा था।

अयोध्या और फ़ैज़ाबादके बीच, किन्तु सड़कसे हटकर देवकाली नामक एक प्रसिद्ध देवी-स्थान है। अयोध्याको वैरागियोंने अपने हाथमें क़ाबू करके उसे शाक्तोंसे शून्य कर डाला है। जिन रामने, वाल्मीकिके कथनानुसार सीताहरणके शोकमें ही मांस और सुराको छोड़ा, उन्हें उनके अयोध्याके कलियुगी भगतोंने हमेशाकेलिए मांस-सुरा-विरत कर दिया! किन्तु, देवकाली ऐसा स्थान था, जहाँ अब भी दोनों नवरात्रोंके समय बकरेकी बलि हुआ करती थी। न जाने कहाँसे एक आवारा तरुण ब्रह्मचारी (वैरागी या वैष्णव नहीं) भूलता-भटकता वहाँ पहुँच गया, और उसने आश्विनके नवरात्रमें बलि बन्द करनेकेलिए भारी बाधा पहुँचानी शुरू की। गृहस्थ—विशेषकर स्त्रियाँ—साफ़ देख रही थीं, कि कालीमाईको पाठा चढ़ानेकी मिन्नतसे ही उनका लड़का या पति बचा है, नहीं तो वे कभीकी अपुत्रा या विधवा हो गई होतीं। वह अपनी मिन्नतके मुताबिक़ माईको पाठा चढ़ानेकेलिए बेक़रार थीं, लेकिन यहाँ एक तरुण साधु वैसा करनेपर भीषण शाप देने तथा आत्महत्या कर लेनेकेलिए तैयार था। दोनों ओरसे धर्म-संकट था, क्या किया जावे, यह गृहस्थोंको सूझ नहीं पड़ रहा था। किन्तु देवकालीके पुजारी ख़ूब समझ रहे थे। नवरात्रके दिन बीतते जा रहे थे, और वहाँ एक भी बकरा नहीं आ रहा था। बलिके बकरेका मुंड उनका होता था, मुंडका शोर्बा (रस) कितना स्वादिष्ट होता है—इसकी स्मृति आते ही ब्रह्मचारीके ऊपर उनका ख़ून खौलने लगता था। साथ ही बलिके साथवाली दक्षिणा-की भी उन्हें हानि उठानी पड़ रही थी। और यदि कालीके प्रतापको इस तरह ऐरे-गैरे-नत्थू-खैरे कम करने लगे, तो पंडे-पुजारी कितने दिनों तक अपनी खैरियत

मनायेंगे। नवरात्रके आखिरी दिन (आश्विन शुक्ला नवमीको) बलि ज़रूर करनी होगी—इसका उन्होंने निश्चय कर लिया था। इसकेलिए कालीमाईके दिलाये दारुण स्वप्नोंकी खबरको भी उन्होंने फैलाना शुरू किया था।

ब्रह्मचारी नवमीकी मुहिमसे घबरा गया। यदि उस दिन बलि चढ़ी, तो मेरा सब किया कराया अकारथ चला जायेगा—यह सोचकर वह बड़ी चिन्तामें पड़ गया। उस वक़्त उसे पता लगा, हम वैरागी तरुणोंका। वह हमारे पास आया, और उसने पशु-बलि-विरोधी हमारे स्वाभाविक भावोंको और उत्तेजित किया। हमने भी समझा कि हमारेलिए डूब मरनेकी बात होगी, यदि 'पंचकोशी'के भीतर निरपराध बकरोंकी बलि जारी रही। हमने नवमीको आनेका वचन दिया।

अयोध्यासे देवकालीकेलिए जिस वक़्त, आठ बजे सबेरेके क़रीब, हम रवाना हो रहे थे, उस वक़्त हमें यही ख्याल था, कि पंडे भरमाकर कुछ गृहस्थोंको बलि देनेकेलिए लायेंगे, उस वक़्त हमें अपने भव्य वैष्णव स्वरूप और वाणी-शक्तिका प्रयोग करना होगा। ब्रह्मचारीके कहे अनुसार इतने हीसे गृहस्थोंकी बलि करनेकी हिम्मत जाती रहेगी। निमंत्रित तरुणोंमें पंडित गोविन्ददास—हममें सबसे अधिक संस्कृतज्ञ, (काशीके व्याकरणाचार्यके कई खंड पास)—भी थे, किन्तु लेट-लतीफ़ होनेसे वह अभी रास्ते हीमें थे, जब कि देवकालीकांड समाप्त हो गया। हमारे साथियोंमें दो तिरहुतिया साधु बहुत मोटे-ताजे थे, एक 'लश्करी' तो बिल्कुल पहलवान जैसे थे, और दूसरे 'हरिव्यासी' उनसे कुछ नरम। बड़ी कुटियामें रहनेवाले पंचशिखी परमहंस साधारण शरीरके स्वामी थे, वही बात पंडित मथुरादासजीकी भी थी, यदि वह इस मुहिममें सम्मिलित थे। मैं उम्रमें सबसे कम २१ सालका लम्बा किन्तु पतलासा जवान था। नीचे पतली धोती साधुओंके नियमानुसार लुंगीकी तरह बँधी हुई थी। शायद पैरमें जूता भी था, बदनपर खूब सफ़ेद धुला हुआ तनज़ेबका कुर्ता था, और गलेमें पड़ी थी एक रेशमी चादर। शिर नंगा था। हाथमें पंडित गोविन्ददासजीके यहाँसे चलते वक़्त एक शीशमकी छड़ी उठा ली थी। देखनेमें निश्चय ही सबसे ज़्यादा अमीराना ठाट मेरा मालूम देता था। सारी जमातका नेता न मैं अपनेको समझता था, न समझनेकी इच्छा रखता था; तो भी बोल-चालमें सबसे ज़्यादा निधड़क मैं ही था, सबसे ज़्यादा देश देखा हुआ भी मैं ही था, और पढ़नेमें बेशी नहीं तो किसीसे कम भी न था। हम लोग कितने युगोंके बाद अयोध्यासे देवकाली पहुँचे, इसका ठीक अन्दाज़ा नहीं—आगेकी घटनाओंसे अवश्य मुझे वह समय युगोंमें बीतता मालूम हुआ। चहारदीवारीमें एक बड़ा द्वार था, उसीके भीतर देवकालीका स्थान बतलाया

गया। द्वारके बाहर दस क़दमपर चारों ओरसे पक्के घाटवाला एक पोखरा था। द्वारके पास बहुतसे माली स्त्री-पुरुष फूल-बतासा बेच रहे थे। हम लोगोंने दर्वाज़ेके सामने घाटकी ऊपरी सीढ़ियोंको भाषणमंच बनाया। खड़े होकर एक एक करके लोगोंको समझाने लगे। कुछ तो देवीको जगत्-माता बतलाकर 'बच्चे'की बलिको निषिद्ध साबित कर रहे थे, कोई प्राणिहिंसाको पाप और नरकका रास्ता बतला रहे थे। व्याख्यान बढ़ते हुए आख़िर उस अवस्थामें भी पहुँच गया, जब कि उसने सीधा 'सराप'(शाप)का रूप धारण कर लिया—ख़ासकर जब कि हमारे व्याख्यान देते रहनेपर भी एक बकरा तालाबके पानी तक ले जाकर धोया जाने लगा। बकरेको धोकर—शायद सिरपर—, फूल माला पहिना ग़ुस्सेसे लाल-लाल आँखें किये एक पंडा बनावटी यजमान (हमें ऐसा ही बतलाया गया, कि लोगोंको बलिका जारी रहना दिखलानेकेलिए पंडोंने अपने पैसेसे बकरा ख़रीदकर अपने ही आदमी द्वारा बलि करानेका इन्तिज़ाम किया है)के हाथसे बकरेको लिवाये द्वारके भीतर घुसा। मेरे साथी अब आपेसे बाहर हो द्वारके भीतर घुसनेकेलिए आगे बढ़े। मैंने भीतर जानेसे मना किया, किन्तु वहाँ तो अहिंसा शिरपर भूत बनकर सवार हुई थी। छओं-सातों साथियोंको आगे बढ़ते देख मैं पीछे कैसे रह सकता था? हातेके भीतर एक तरफ़ देवकालीका साधारणसा पक्का मंदिर, उसके सामने बलि-स्थान। सामने एक ऊँची कुर्सीपर महाराजा बनारसकी ओरसे बनवाया एक मन्दिर, जिसमें शायद तत्कालीन महाराजका प्रोस्लीनपर उतरा चित्र भी था। हमारे साथियोंने उसी ऊँचे चबूतरेको भाषणमंचमें परिणत कर दिया, भाषण क्या था जले-कटे शापके रूपमें गालियाँ। सारा प्रयत्न व्यर्थ गया, और जब पंडेने बकरेके कन्धेपर चलानेकेलिए शस्त्र उठाना चाहा, तब मैंने साथियोंको कहा—अब भाषण बन्द कीजिये, आँखोंसे बलि देखनेमें कोई फ़ायदा नहीं। चलें, बाहर निकल चलें।

जिस वक़्त बाहर जानेकेलिए हम फाटकके पास पहुँचे, उसी वक़्त पंडोंने हाथ चलाना शुरू किया। कई साथी पिटे। हरिव्यासी बाबाका कलवाला छत्ता छीना-झपटीमें हाथसे तो जाता ही रहा, साथ ही उससे लगकर उनके एक हाथमें ख़ूब घाव हो गया। पहलवान जैसे लगते लश्करी बाबासे पहिले पंडे भयभीतसे मालूम हुए, किन्तु जब पीठ सिकुड़ाये वह निकलनेकी कोशिश करने लगे, तो मोटे शरीरमें छोटी हिम्मतका ख़्यालकरके उनकी मोटी पीठपर भी दो-चार हाथ पड़े। एक पंडेने मेरी ओर इशारा करके अपने साथीको चिल्लाकर कहा—अरे यह तो साफ़ बचा निकला जा रहा है। वे मुझे मारनेको लपके। वह असाधारण आवेशकी अवस्था थी, चारों

और मेरे निहत्थे—मुझे छोड़ किसीके पास यदि कोई चीज़ थी तो छत्ता था—साथी पिट रहे थे। कार्यकारणपर विचार कर पक्ष-विपक्षकी दलीलोंको देखते हुए निर्णय करनेका वहाँ अवसर कहाँ था। वहाँ जो कुछ निश्चय हो रहा था, वह हो रहा था सेकंडोंमें सहज बुद्धिके द्वारा। एकतरफ़ा पिटकर चला जाना मुझे कुछ लज्जाजनक बात मालूम हुई; अभी तक गांधीजीके निष्क्रिय प्रतिरोधकी ध्वनि कानों तक नहीं पहुँची थी। पंडेने दौड़कर मेरी रेशमी चादर पकड़ी, मैं उसे छोड़ आगे बढ़ गया। उसने डंडा चलाया, उससे बचकर मैंने अपनी शीशमकी छड़ी चला दी। उसने उसे पकड़ लिया। आख़िर शीशमकी छड़ी शौक़के लिए थी, मारपीटके लिए थोड़े ही थी। खींचा-खींचीमें वह बीचसे ही टूट गई, लेकिन तब तक हम फाटकसे बाहर पहुँच गये थे, जहाँ लोगोंकी भारी भीड़ थी, और उसके सामने पंडोंको साधुओंपर हाथ चलानेकी हिम्मत नहीं हो सकती थी। मुझे अछूता निकलते देख, एक पंडेने (जिसपर शायद मेरी छड़ी पड़ चुकी थी) और कुछ न पा, बग़लमें बैठी मालिनकी फूलडाली रखनेका टिन उठाकर चलाया, किन्तु वह भी मुझपर न लग मेरे साथीकी पीठसे टकरा खनखनाता हुआ गिर पड़ा।

मन्दिरसे बाहर, दर्वाज़ेसे भी कुछ दूर पहुँच जानेपर पंडे भी लौट गये। मैंने देखा, मेरे साथी किंकर्तव्यविमूढ़ बन गये हैं। आगे क्या करना है, किसीको कुछ सूझ ही नहीं रहा है। मालूम हुआ, यहाँ पुलीस चौकी है। मैंने बतलाया, पुलीसमें यदि हम ख़बर नहीं देते हैं, तो पीटनेवाले उलटा हमारे ऊपर मुक़दमा भी कर देंगे, और हम हैरान होते फिरेंगे। मैं यह भी देख रहा था, कि यदि हर एकको अपने मनसे बयान देनेको कहा गया, तो बहुतसी परस्पर-विरोधी बातें निकल आ सकती हैं, साथ ही आसपास खड़ी भीड़के बीच साथियोंका अपने इज़्हारके सम्बन्धमें कोई रिहर्सल हो नहीं सकता था। मैंने साथियोंसे कहा—'हम लोग चलें पुलीस-चौकीपर। मैं पहिले बयान लिखाऊँगा, बस उसीके अनुसार सब लोग बोलेंगे। दर्वाज़ेके भीतर हम काशिराजके मन्दिरमें दर्शनार्थ गये, व्याख्यान देकर बलि बन्द करने नहीं, इस बातका ख़ूब स्मरण रखेंगे।'

पुलीस-चौकी तक पहुँचते-पहुँचते मैं उनका स्वनिर्वाचित नेता बन गया। चौकीपर और बातें सच्ची ही सच्ची कहीं, सिर्फ़ मन्दिरके भीतर भाषणमंच-निर्माण-को हमने देवदर्शनमें परिणत कर दिया। पंडे भी वहाँ पहुँचे थे। वह हमारे उस एक झूठका प्रतिवाद करते थे, और साथ ही मारपीटसे इन्कारी थे। चौकीसे हम लोग सिपाहीके साथ फ़ैज़ाबाद कोतवालीमें गये। कोतवाल साहेब मुसलमान थे, और

शायद आज़मगढ़ ज़िलेके। उन्होंने हमारा इज़्हार लिया। मैंने अपने पहिले इज़्हार-को दुहराया, मेरे साथियोंने भी उसीका समर्थन किया। पंडोंसे पूछा जाने लगा, तो वे हमींको मारपीट करनेवाला बतलाने लगे। उस वक़्त अयोध्याका सब-इन्स्पेक्टर—एक लम्बा-चौड़ा रोबीला राजपूत—वहाँ किसी कामसे पहुँच गया था, उसने पंडोंको ही नहीं उनकी देवी तकको जदबद कहना शुरू किया—'ये पढ़ने-लिखनेवाले पाँच-छै साधु तुम्हारे साथ लाठी चलाने गये थे? यदि ऐसी मनशा होती तो इनको लाठी चलानेवाले साधु अयोध्यामें नहीं मिलते? क्यों भूठ बकते हो? कोतवाल साहब इन सा....पर मुक़दमा दीजिये। और वह देवी भी....क्या है, जो जगतमाता कही जानेपर अपने बच्चोंको खाती है?...."

मेरे साथियोंमेंसे किसीने धीरेसे मेरे कानमें कहा—'जानते हैं, आर्यसमाजी है।' आर्यसमाजी बड़े हर्षसे कह रहे थे और इस वक़्त वह यह भूल गये थे, कि वह साथ ही मूर्तिपूजाकी भी अप्रत्यक्षरूपेण धज्जी उड़ा रहा है।

किसीको सख्त चोट तो आई नहीं थी, कि पुलीस मुक़दमा करती या किसीको गिरफ़्तार करती। मामला चलानेकी बात चली, तो लोगोंने बतलाया—फ़ैज़ाबादके आर्यसमाजी वकील इसमें पूरी मदद करेंगे। मैं एक और साथीके साथ बलदेव बाबू (आचार्य नरेन्द्रदेवके पिता)के पास एक-दो बार गया। उनसे मुक़दमेकी सारी बात कही, वह सहायता करनेकेलिए तत्पर थे। अन्तमें मैंने देखा, कि मेरे साथी मामलेकी पैरवीसे जी चुराते हैं, और सारा बोझा मुझपर डालना चाहते हैं। उधर पंडे भी सुलह करनेकेलिए पैरवी कर रहे थे। ऐसी अवस्थामें मुक़दमा चलानेका ख्याल छोड़ देना ही मैंने वाजिब समझा। हमारी चीज़ें मिल गईं, पंडोंने पश्चात्ताप किया, मामला यहीं ख़तम हो गया।

मैंने आर्यसमाजका नाम पहिले-पहिल १९०१ या १९०२में रानीकीसरायमें अपने योगी मास्टरसे सुना था। इतना ही जानता था, कि वह देवी-देवताकी निन्दा करते हैं। बनारसमें दयानन्दस्कूल (वर्तमान डी० ए० वी० कालेज)का मैं कई महीनों तक विद्यार्थी था, किन्तु वहाँ बराबर जलमें कमलकी तरह रहा, कभी उनकी बातें न सुननी चाहीं, न सुनीं। यहाँ अयोध्यामें भाषण सीखनेके सिल्सिलेमें सनातनधर्मी व्याख्याताओं—हंसस्वरूप, ज्वालाप्रसाद मिश्र आदि—के आर्यसमाजके पक्षके खंडनमें ही पुस्तकें पढ़ीं, और एक तरहसे उसके प्रति घृणा पैदा करनेवाली सामग्री हीसे अधिक साबिक़ा पड़ा। किन्तु कभी-कभी कोई चीज़ ऐसे स्थानमें मिल जाती है, जहाँ उसकी सबसे कम सम्भावना है। दूसरोंके खंडनोंको पढ़ते हुए मैंने उसमें

कई बार स्वामी दयानन्दके 'सत्यार्थप्रकाश'का नाम सुना। मैं भी पहिले इसे 'मिथ्यार्थ-प्रकाश' ही कहता था। एक दिन पंडित मथुरादासके पास उसकी एक प्रति देखी। वह इसे खंडनकेलिए ही पढ़ना चाहते थे। पुस्तकका कीड़ा तो मैं था ही, लेकर उसे पढ़ने लगा। कौन-कौन 'समुल्लास' पढ़ डाले, यह याद नहीं। सारे ग्रंथको तो हर्गिज़ नहीं पढ़ पाया था, और पढ़ भी रहा था बहुत कुछ खंडन हीकी दृष्टिसे, किन्तु उसकी तर्कयुक्त बातें हठधर्मीसे मुक़ाबिला कर रही थीं। इधर देवकालीके मामलेमें अयोध्याके सब-इन्स्पेक्टर, तथा बा० बलदेवप्रसाद वकील आदि—जिन्हें आर्यसमाजी कहकर मुझे बतलाया गया था—के बर्तावोंने आर्यसमाजियोंके प्रति मेरा भाव बदल दिया; और इस प्रकार सत्यार्थप्रकाशके अगले हिस्सेको मैं सिर्फ़ खंडनकी दृष्टिसे पढ़नेवाला नहीं रह गया।

वरदराज मेरे साथ नहीं रहते थे, किन्तु हम बराबर मिलते रहते थे। परसा और वैरागी-संस्थाओंसे बिलगावके बीज मेरे हृदयमें काफ़ी बोये जा चुके थे, जिसमें आर्यसमाजके संश्लेषको छोड़ बाक़ीमें वरदराज भी मेरे सहभागी थे। मुझे अब अयोध्याके रहनेमें अरुचि मालूम होने लगी—अपने सहपाठियों और सहकारियोंकी मनोवृत्तिसे मेरी मनोवृत्तिमें अन्तर आ गया था। आर्यसमाजके अतिरिक्त अख़बारों द्वारा बाह्यजगतकी हवा भी मुझे लग रही थी। मैं अपने अन्तस्तलमें एक संकीर्ण गड़हियासे निकलकर विशाल जलाशयमें जानेकी मूकवेदनाको अनुभव कर रहा था, यद्यपि अब भी मुझे यह नहीं मालूम था, कि वह जलाशय किस दिशामें है, कैसा है?

बहुत दिनों बाद फूफा साहेबको बछवल एक पत्र लिखा, और उस पत्रमें इस मानसिक उथल-पुथलकी भी छाप ज़रूर रही होगी। उन्होंने पिताजीको हुकुम दे दिया—जाओ, लड़केको अयोध्यासे लिवा लाओ।

१९१० ई०में वह अयोध्यासे ख़ाली हाथ लौटे थे, लेकिन अबकी नहीं।

तृतीय खंड

नव-प्रकाश (१९१५-२२ ई०)

१

'किं करोमि क्व गच्छामि'

कातिकके प्रथम पक्षमें दीवालीके आसपास, वरदराजसे बिदाई ले मैं पिताजीके साथ कनैलाकी तरफ़ चला। वर्षा समाप्त हो चुकी थी, रब्बी बोई जा रही थी, धान अब भी खड़े थे, जब कि मैं कनैला पहुँचा। शायद हम लोग आज़मगढ़ स्टेशनपर उतरे थे। पिताजीको विश्वास हो गया था, कि अब वैराग्यका भूत मेरे शिरसे उतर गया, अब मैं बिल्कुल प्रकृतिस्थ हो घरकी ज़िम्मेवारी लेनेकेलिए तैयार हूँ। उनको क्या मालूम था, कि यह शान्ति आगे आनेवाले भारी तूफ़ानका पूर्वनिमित्त मात्र है। उनको शायद ठीक तौरसे मालूम नहीं था, कि जिस शादीको उन्होंने या समाजने स्थिर मज़बूत बेड़ी समझकर मेरे पैरोंमें डाली थी, उसे कबका नहीं तिलाक़ देकर मैं अपनेको मुक्त कर चुका हूँ; और उसका ख्याल आनेपर मेरा दिल एक क्षणकेलिए भी कनैलामें रहनेकेलिए तैयार नहीं होता।

जिस वक़्त मैं मद्रासके तीर्थोंकी यात्रा करनेमें लगा था, उसी वक़्त नानाकी मृत्यु हो गई। मरते समय उनको बराबर मेरा ख्याल बना रहा। मुझपर उनका असाधारण स्नेह था। मेरे लिए वह क्या-क्या स्वप्न देखते रहे। अपने अनजाने हाथोंसे उन्होंने मेरे जीवनप्रवाहके लिए एक कुल्या खोदी थी, अपने जान मेरे शानदार भविष्यके लिए; किन्तु आदमीका जीवनप्रवाह नदीकी धारासे भी अधिक दुर्दम्य है। नाना अपने स्वप्नमें सफल न हो सके। जिसे उन्होंने अपना सर्वस्व दिया, जिसके लिये सहोदर भाई और उसकी सन्तानसे झगड़ा किया, जन्मभूमिको छोड़ा, निन्दास्पद यामातृपुरका वास स्वीकार किया; उसके देखनेकेलिए भी बिलखते हुए उन्हें अपने जीवनका अन्त करना पड़ा। मेरे हृदयमें सचमुच उनकेलिए समवेदना थी, किन्तु यही

समवेदना क्या दक्षिणमें उनकी मरणासन्नावस्थाकी चिट्ठी पाकर मेरे हृदयमें होती ?

बछवलमें जानेपर कुछ विजयाभिमानके साथ फूफा साहेबने कहा--'क्व विशेषः', अर्थात् कहाँ अच्छा है वैराग्यमें या घरमें ? मैंने कोई उत्तर नहीं दिया, और न मैंने कोई दुर्भाव माना। मैं अब भी अपनेको पथसे दूर नहीं मानता था, हाँ वह पथ किसी नई दिशाका संकेत कर रहा था, जो मुझे स्पष्ट नहीं दीख रही थी। इस बार साप्ताहिक पत्रमें लड़ाईकी ख़बरों को पढ़नेकेलिए प्रति सप्ताह मुझे बछवल जाना पड़ता। यद्यपि 'वंगवासी'के महाकलेवरमें दो-तीन कालमकी जो ख़बरें छपतीं, और सभी सर्कारें अपने-अपने यहाँ जिस तरहसे ख़बरोंको युद्ध-सम्बन्धी प्रचारका ज़रिया बना रही थीं, उसमें मेरे जैसे नौसिखियेकेलिए कुछ समझना बहुत मुश्किल था; तो भी ख़बरोंके पढ़नेके बाद छोटे फूफा (यागेशके पिता) बड़े चावसे पूछा करते--कहो, बच्चा ! लड़ाईकी क्या खबर है। वह ख़ुद भी अख़बारको पढ़ते थे। अख़बारमें चाहे कुछ भी लिखा हो, किन्तु हम सबकी राय थी, जर्मनी जीत रहा है। यद्यपि हमें उसकी वास्तविकताका ज़रा भी ज्ञान न था।

जिस वक़्त मैं बछवल नहीं जाता, उस वक़्त यागेश कनैला चले आते। हम दोनोंको अनिवार्य 'चंडाल-दोकड़ी' समझ कनैला और बछवल दोनों जगह घरवाले बर्दाश्त करनेकेलिए मजबूर थे, यद्यपि दिलसे वे शंकित रहते थे। अबकी बार यागेशने 'संगीत-रत्नप्रकाश'—आर्यसमाजी तुकबन्दियोंके संग्रह--को कहींसे पैदा किया। खाट-पर लेटे हम बड़े मौजसे अपने संगीतपलायन स्वरमें उसके मूर्ति-पूजा-श्राद्ध विरोधी भजनोंको गाया करते। एक दिन ऐसे ही समय घरानेके एक चचा आ गये, वह गाँवके उन व्यक्तियोंमें थे, जिनका ग़रीबीके कारण ब्याह नहीं हो सका, और जिनके लिए कुछ दिनोंमें ही तमादी लगनेवाली थी। उन्होंने कहा--'मैंने दोहरी-बरहलमें आर्यसमाजियोंकी सभा देखी थी। वह यहाँ नहीं पहुँचे तो ?'

'यहाँ क्या ज़रूरत है, काका ?'

'अरे ! विधवाविवाह चलता, कितने घरोंके चिराग़ बुझनेवाले हैं।'

और इस बातमें बहुत कुछ सच्चाई थी। कनैलाके बीस ब्राह्मण घरोंमेंसे नौकी अगली सन्तानें बिल्कुल अविवाहित थीं, और व्यक्तिको लिया जावे, तो दो ही तीन ऐसे घर थे, जिनको ब्याहकी ओरसे निश्चिन्तता थी, बाक़ी सबके यहाँ सयाने-सयाने व्यक्ति अविवाहित पड़े थे। सबका ब्याह होनेपर ढेरकी ढेर सन्तानें होंगी, इस बातपर दिमाग़ लगानेकी मुझे उस वक़्त ज़रूरत नहीं थी।

हक़शफ़ाके रुपयेका इन्तिज़ाम कहींसे करके, पिताजीने जिगरसंडीकी ज़मीदारी

अपने रिश्तेदारके नाम ले ली थी। वह स्वयं वहाँकी तहसील वसूल करने जाते, और कभी-कभी मैं भी गाँव देखने जाता था। एक दिन जानेपर मेरे एक परिचित राजपूत-परिवारमें ताज़ी मछली मारकर आई थी, उधरसे कहा गया—'पांडेजी आवें, बनावें न मछली।' (ब्राह्मण होनेसे मैं राजपूतके हाथकी कच्ची रसोई नहीं खा सकता था, और मछली कच्ची रसोई थी, इसमें सन्देहकी गुंजाइश न थी)। बचपनका प्रिय खाद्य कुछ दिनोंकी संघतसे अप्रिय थोड़ा ही हो सकता है, मैंने बनाकर खाया। तेलमें तलकर हल्दी सरसोंमें बनी मछलियाँ न जाने उस समय इतनी स्वादिष्ट क्यों होती थीं? जिगरसंडीमें बहुत साल तक ब्रिटिश-गायना (दक्षिणी अमेरिका)में रहकर लौटा एक आदमी था। वह वहाँ अरकाटीके बहकावेमें आकर क़ुली बनकर गया था। बीसों साल रहनेके बाद भी वह वहाँसे ख़ाली हाथ लौटा था। वह एक तरहकी अंग्रेज़ी—जिसको व्याकरणसे कोई वास्ता न था—धड़ल्लेके साथ बोलता था। जब उसे गायनाके आरामका ख्याल आता, तो लौटनेके लिए पछताता था।

इस बार परमहंस बाबाकी कुटियापर मैं गया कि नहीं—यह याद नहीं। वैराग्य और वेदान्तका ज़ोर कम होकर उसकी गति किसी दूसरी ओर हो रही थी, जिज्ञासा और यात्रा-लिप्साका वेग पहिले ही जैसा था?

प्रयागका माघ-मेला नज़दीक आया। यागेशसे सलाह हुई, वहाँ चलनेकी। घरवालोंको मेरे ऊपर अब उतना सन्देह नहीं था, इसलिए ख़ास निगरानी नहीं थी। एक दिन बीस-बाईस रुपये मेरे हाथ लगे, और मैं रानीकीसराय स्टेशनसे प्रयागके लिए रवाना हो गया।

प्रयागमें मैं यागेशसे दो-चार दिन पहिले पहुँचा, पैसा था, मेलेमें ठहरनेकी जगहोंकी कमी न थी। आजकलके मेलेको उस दृष्टिसे कभी देखा नहीं, उस वक़्त तो बहुतसी जगहोंमें धार्मिक व्याख्यान होते दिखलाई पड़ते थे। पुराने ढंगके कथावाचक व्यास लोग जहाँ शामको अपनी कथा शुरू करते थे, वहाँ नये ढंगके व्याख्यान सनातन-धर्म और आर्यसमाजके शामियानोंमें हो रहे थे। उसी वक़्त मैंने पहिले-पहिल पंडित मदनमोहन मालवीयका व्याख्यान सुना, शायद किसी धार्मिक सभाका विशेष अधिवेशन था। कमायूँके पंडित दुर्गादत्त पन्त ऋषिकुलके दो ब्रह्मचारियोंके साथ पहुँचे हुए थे, जिनके शिरमें रुद्राक्षकी माला बँधी हुई थी। आर्यसमाजके व्याख्यानोंको मैं ज़्यादा सुनता रहा, और उनकी खंडन-मंडनकी पुस्तकें भी लेकर पढ़ता रहा। यागेशके आ जानेपर उनके ससुरालके सम्बन्धी एक पुलीसके जमादारके पास हम लोग रातको रह जाते थे।

मेरा इरादा था, खाने-पीने लायक़ कुछ कमाकर पढ़ाईको जारी रखनेका। इसी ख्यालसे मैं एक दिन इंडियन प्रेस गया। 'सरस्वती'का इधर कई वर्षोंसे निरन्तर पाठ कर रहा था, और दीवारके सहारे चश्माधारी गिरी मूँछवाले जिस पुरुषसे बातचीत कर रहा था, मेरी समझमें वह पंडित महावीरप्रसाद द्विवेदी थे, यद्यपि यह बात ग़लत निकली, मैं पंडित रामजीलाल शर्मासे बातें कर रहा था। उन्होंने बड़ी नम्रतासे कहा—-यदि दो-तीन दिन पहिले आये होते, तो प्रूफ़-रीडरीमें मैं रख लेता, लेकिन अब, अफ़सोस है, कोई काम नहीं।' इसी वक़्त, एक दिन यागेशके बहनोई ब्रज-भूषण पांडे (?) के यहाँ शाहगंजमें गया था, वहाँ हाईकोर्टमें काम करनेवाले लकड़ीकी टाँगवाले अलीगढ़के एक बाबूसे भेंट हुई। कई आदमी बैठे हुए थे। उन्होंने मेरी पढ़नेकी रुचि देखकर कहा—-'क्यों नहीं आगरामें पंडित भोजदत्तके विद्यालयमें चले जाते, वहाँ खाने और पढ़नेका प्रबन्ध है, व्याख्यान सिखाया जाता है।'

उनकी बात मेरे मनमें बैठ गई। प्रयागमें मकरसंक्रान्ति तो ज़रूर पूरी की होगी, और शायद अमावस्या तक और रहा हूँगा। मेरे पास इतने ही पैसे रह गये, जिसमें आगरे टिकट खरीदकर आठ आने पैसे बचे, जब कि मैं इलाहाबादसे आगराके लिए रवाना हुआ।

२

आर्य मुसाफ़िर विद्यालय आगरामें

उसदिन (जनवरी १९१५) सबेरेकी गाड़ीसे मैं आगरेमें उतरा था। स्टेशनपर उतरते ही पंडित भोजदत्तके आर्य मुसाफ़िर विद्यालयका पता न लग सका, उसको ढूँढ़ निकालनेसे पहिले मुँह-हाथ धो लेना ज़रूरी समझा, इसलिए सीधे यमुना किनारे पहुँचा। मुँह-हाथ धोया, शायद स्नान भी किया। किसी स्नानार्थ आये सज्जनने विद्यालयका पता नामनेर बता दिया। आठ आने पैसेमेंसे कुछ तो जलपानमें ख़र्च हो गया, बाक़ीको पाकेटमें रखे पैदल ही मैं नामनेरकी ओर चला। मुहल्ले और वहाँ मुसाफ़िर विद्यालयके मिलनेमें देर न हुई। सड़कसे थोड़ा हटकर एक मन्दिर था, मुसाफ़िर विद्यालयका मकान उसीकी आड़में पड़ता था। विद्यालयके लिए कोई ख़ास तौरसे मकान ठीक नहीं किया गया था। एक पुराना मकान आर्यसमाजके लिए ख़रीदा गया था, उसीमें विद्यालयका काम होता था। दर्वाज़ेसे भीतर घुसते ही एक बड़ी दालान थी, यहीं

संस्कृतकी पढ़ाई होती। उत्तर तरफ़ कुछ कोठरियाँ थीं, जिनमें विद्यार्थी रहते। कोठेपर उत्तरकी कोठरीमें अरबीकी पढ़ाई होती, और पच्छिमकी कोठरीमें कोई विद्यार्थी रहता। आठ-दस विद्यार्थियोंके रहनेके लिए कोठरियाँ काफ़ी नहीं थीं, इसलिए बाक़ी लड़के रसोईके लिए मकानमें रहते थे, और वह कई जगह बदलता रहा।

विद्यालयमें जानेपर पहिले विद्यार्थियोंसे मुलाक़ात हुई। शायद भाई साहेब मौलवी महेशप्रसाद उस वक़्त नहीं मिल सके। अधिकांश लड़के मेरी ही उम्रके थे। उनसे नये लड़कोंकी भरतीके बारेमें पूछनेपर मालूम हुआ—यद्यपि वर्ष शुरू हुये दो-तीन मास हो गये हैं, किन्तु जगह है, आप विद्यालयके प्रबन्धक डाक्टर लक्ष्मीदत्त (पंडित भोजदत्तके ज्येष्ठ पुत्र)से मिलें। दस बजेके क़रीब मैं पंडित भोजदत्तके घरमें सीढ़ीसे चढ़कर उस कोठरीमें गया, जहाँ साप्ताहिक 'मुसाफ़िर आगरा'का दफ़्तर था। छोटीसी कोठरी, जिसमें दो मेज़ों और चार-पाँच कुर्सियोंके बाद मुश्किलसे थोड़ीसी जगह घरके भीतर घुसनेके लिए रह जाती। मेज़ोंपर क़लम-दवात-काग़ज़के अतिरिक्त बहुतसे हिन्दी-उर्दूके अखबार पड़े रहते, जिनमें साप्ताहिकोंकी और उर्दूवाले अखबारोंकी संख्या अधिक होती।

मालूम नहीं डाक्टर लक्ष्मीदत्त उस वक़्त मौजूद थे, या उनकी प्रतीक्षामें मुझे कुछ देर बैठना पड़ा। डाक्टर लक्ष्मीदत्तका चेहरा गोखलेसे ज़्यादा मिलता। चश्मा लगा लेनेपर सिर्फ़ मराठी पगड़ीकी कमी रह जाती थी। वह फ़ेल्टकी गोल टोपी लगाया करते। नवागन्तुकके साथ बात करनेमें उनकी मुखमुद्रा गम्भीर हो जाती, यद्यपि परिचितको हँसने-हँसानेमें उन्हें बहुत मज़ा आता। मैंने उनसे विद्यालयमें भरती कर लेनेकी दर्ख्वास्त की। उन्होंने मेरी पढ़ाईके बारेमें पूछा। उर्दू मिडल, काफ़ी संस्कृत और ज़रा-ज़रा अंग्रेज़ी भी, भर्तीके लिए काफ़ी योग्यता थी। पढ़कर तुम अपना समय आर्यसमाजके प्रचारमें लगाओगे?—अवश्य, यदि आप मुझे उसके योग्य बना देंगे। 'अच्छा, तो आप जाइये—आप भर्ती हो गये।'

नवागन्तुक सहपाठीको देखकर तरुण विद्यार्थियोंको बहुत कौतूहल होता है। कोई आँख बचाकर हँसी भी उड़ाना चाहते हैं, कोई नई जगहमें दिल लगनेमें सहायता देना चाहते हैं। कोई चाहते हैं नवागन्तुकके बारेमें विशेष जानना, और कोई अपने हीको सबसे आगे दिखलाना चाहते हैं।

मुसाफ़िर विद्यालयके विद्यार्थी अब तक मिले मेरे सहपाठियोंकी तरहके नहीं थे। इन सबके हृदयमें एक ख़ास भाव लहरें मार रहा था। वे बड़ेसे बड़े ख़तरेका

सामना करके वैदिक धर्म—जिसे वह कभी-कभी देश-स्वातंत्र्यसे अभिन्न समझते थे—का प्रचार करना चाहते थे। दयानन्द और लेखराम—जिसकी स्मृतिमें यह विद्यालय स्थापित हुआ था—की क़ुर्बानियाँ, सचमुच ही, उनके हृदयोंमें प्रेरणाका काम देती थीं! इस तरहकी भावनासे ओतप्रोत विद्यार्थी अभी तक मुझे साथ पढ़नेकेलिए नहीं मिले थे।

उस पहिली मुलाक़ातमें कौनके साथ किस तरह बातचीत हुई, यह तो याद नहीं। ज़्यादा बोलने वालोंमें शायद अभिलाषचन्द्र और भगवतीप्रसाद थे। माणिकचन्द सहपाठियोंमें सबसे कम उम्र होनेसे कम बोलता था। मुंशी मुरारीलाल बनारस ज़िलेके रहनेवाले होनेसे, मेरे जन्मस्थानके सबसे नज़दीकके थे, इसलिए उनकी ओर विशेष ध्यान जाना ज़रूरी था। दुर्गाप्रसाद और मास्टर बसंडाराम थोड़े ही महीनों बाद विद्यालय छोड़कर चले गये, इसलिए उनके साथके वार्तालापका कोई असर बाक़ी नहीं रहा। हमसे ऊपरवाली कक्षाके दो विद्यार्थी थे, जिसमें रामगोपालके साथ तो मेरी घनिष्ठता उसी दिनसे स्थापित हो गई।

मुसाफ़िर विद्यालयमें दो सालका कोर्स था। कमसे कम उर्दू मिडल पास लड़के लिये जाते थे। उन्हें संस्कृत, अरबी भाषाओंके साथ ईसाई, मुसल्मान, हिन्दुओंके प्रधान-प्रधान सम्प्रदायोंके दुर्बल रीति-रवाजों, सिद्धान्तों, और आर्यसमाजके मुख्य सिद्धान्तोंकी शिक्षा दी जाती। रोज़ शामको बाक़ायदा बहस-मुबाहिसा (शास्त्रार्थ) कराया जाता, तथा भाषण देनेकी विधि बतलाई जाती। संस्कृतकी जितनी पढ़ाई मुसाफ़िर विद्यालयमें होती थी, उससे कहीं ज़्यादा मैं उसको पढ़ चुका था, इसलिए और साथियोंसे पीछे पहुँचनेपर भी मुझे सिर्फ़ अरबी ही पढ़ना था।

जनवरी तक लड़ाई शुरू हुए ४ महीनेसे ऊपर हो गये थे, किन्तु उस वक़्त की घमासान लड़ाई, और आज (१९४०)की सिग्फ़्रीड तथा मेगिनो दुर्गपंक्तियोंके भीतर छिपकर चुपचाप बैठे रहनेमें बहुत अन्तर था। पहिलेसे सर्कारकी ओरसे विशेष ध्यान न देनेके कारण, चीज़ोंका भाव बहुत बढ़ गया था, और अन्नका तो अकालसा मालूम होता था। हमारे यहाँ इसका असर गेहूँके आटेमें पर्याप्त आलू डालकर रोटीकी सूरतमें प्रकट हुआ, यद्यपि जाड़ोंके बाद फिर शुद्ध आटेकी रोटी बनने लगी।

गर्मियोंके आते-आते मैं भी अरबीमें अपने और साथियोंके साथ था, तब तक बसन्दाराम और दुर्गाप्रसाद हमें छोड़कर चले गये, अभिलाषकी स्थिति डाँवाडोल रहती। उसे अरबी धातुओं और शब्दोंके रूप याद करनेकी जगह घड़ियोंके बनाने, मशीनोंके सूचीपत्रोंको निहारने तथा इधरसे उधर जानेमें ज़्यादा मज़ा आता था। अब हमारी श्रेणीमें भगवती, माणिक, मुंशी मुरारीलाल और मैं चार ही नियमित

विद्यार्थी रह गये थे। ऊपरकी श्रेणीमें बाबूराम और रामगोपाल स्थायी थे। भाई साहेब—महेशप्रसाद—के सहपाठी पंडित धर्मवीर धर्मप्रचारकेलिए बाहर जाया करते, और उनकी इस्लामपर ज़बर्दस्त नुकताचीनियोंकी ख्याति सुनकर हमें बड़ी प्रसन्नता होती। सुखलाल हमारे विद्यालयके भजनोपदेशक थे, और उनके प्रभावशाली भजन—तथा बीच-बीचकी अवतरणिकायें—अभी परिमित क्षेत्रमें ही ख्याति पा रहे थे। संस्कृतके पंडित मध्यमाकी तैयारी कर रहे थे, और रोज़ आकर संस्कृत पढ़ा जाया करते थे। वह सनातनधर्मी थे, और समझ रहे थे, कुछ रुपयोंके लालचमें हम धर्मको बेच रहे हैं। अरबी मौलवी महेशप्रसाद पढ़ाते थे, जिन्हें हम सभी भाई साहेब कहते थे। मुसाफ़िर विद्यालयकी विद्यार्थिमंडलीमें तथा मेरे जीवनमें उनका ख़ास स्थान है, इसलिए उनपर ख़ास तौरसे लिखूँगा। इनके अतिरिक्त डाक्टर लक्ष्मीदत्त और उनके छोटे भाई पंडित तारादत्त वकील अपने पिता पंडित भोजदत्त द्वारा स्थापित इस विद्यालयकी उन्नतिके लिए निरन्तर प्रयत्नशील रहते थे। शामको दोनों भाई नामनेरके दोस्तों—जिनमें भोगाँवके मामा साहेब तथा सदा हँसमुख रहनेवाले पंडित प्यारेलाल तिवारी ज़रूर रहते—के साथ टहलने निकलते, और सूर्यास्त होते-होते विद्यालयमें चले आते। विद्यालयके बड़े आँगनमें बेंच और कुर्सियाँ पड़ी रहतीं। वहाँ उनकी और विद्यार्थियोंकी जमात बैठ जाती, और रातको नौ-दस बज जाते किन्तु हमें मालूम न होता। हमें, कभी उसी वक़्त विषय दिया जाता, और वादी प्रतिवादी बनकर शास्त्रार्थ करना पड़ता, तथा कभी एक-दो दिन पहिले से भी विषय दे दिया जाता। हमारे भाषणकी त्रुटियों-पर डाक्टर साहेबकी आलोचना होती, जो बड़े कामकी चीज़ थी। भाषणमें भी शिक्षा इसी तरह विषयको पहिले, या परीक्षार्थ सद्यः देकर होती थी। भाषणमें जब तक अभिलाष रहे, तब तक वह अच्छे रहे, शास्त्रार्थमें थोड़े ही दिनों बाद लोग मेरा लोहा मानने लगे, इसमें संस्कृतकी मेरी अभिज्ञता विशेष कारण न थी। शास्त्रार्थ-में मैं सारी शक्तिको अपने ऊपर किये गये आक्षेपोंके उत्तर देनेमें खर्च नहीं करता था, बल्कि काफ़ी समय प्रतिद्वन्दीपर आक्षेपोंकी झड़ी लगानेमें खर्च करता था। धीरे-धीरे आक्षेपोंकी संख्या बढ़ती जाती, प्रतिद्वन्दी सबका जवाब नहीं दे पाता, मैं उत्तर न पाये आक्षेपोंको दुहराता जाता, और दो-तीन बारी बीतते-बीतते प्रतिद्वन्दी अपने ऊपर किये गये आक्षेपोंके उत्तर देनेमें ही उलझ जाता, उसे मेरे ऊपर आक्षेप करनेकी फ़ुर्सत ही नहीं रह जाती। मेरा काम इत्मीनानसे सब तरफ़से सुरक्षित हो आक्रमण करते जाना, तथा श्रोतृमंडलीपर अपने शस्त्रक्षेपके कौशलकी धाक जमाना

रहता। मेरे बाक़ी तीन स्थायी साथियोंमें मुरारीलाल व्याख्यान देनेमें अच्छे थे, भगवती व्याख्यानकी कमीको अपने तीखे आक्रमणोंसे पूरा करता। माणिक बच्चा था, उसपर पढ़नेकी ओर ज़्यादा ध्यान देनेका आग्रह था। ऊपरवाली श्रेणीमें रामगोपाल भाईमें वक्तृत्व-शक्ति अच्छी थी। वह बोलनेमें स्वरके उतार-चढ़ावको ठीकसे अदा कर सकते थे। लिखे और रटे उद्धरणोंको वह बड़े धड़ल्लेसे इस्तेमाल कर सकते थे। सारे विद्यालयमें वक्तृत्वकलाकी दृष्टिसे उनका कोई सानी नहीं था। बाबूरामजी भी अच्छा बोल लेते थे।

भाई महेशप्रसाद इलाहाबाद ज़िलेमें कायस्थान क़स्बेके रहनेवाले थे। मेट्रिक पास करनेके बाद सब-इन्स्पेक्टरीके लिए उम्मीदवार हुए। क़रीब-क़रीब ठीक हो गया था, और वह घोड़ेकी सवारी भी सीखने लगे थे, इसी समय इलाहाबादमें पढ़नेकी अवस्थामें मनपर पड़े संस्कार उनपर असर डालने लगे। उस वक़्त इलाहाबादसे एक उग्र राष्ट्रीयतावादी पत्र 'हिन्दुस्तान' उर्दूमें निकला करता था। उसके कितने ही सम्पादक जेलमें चले गये थे, किन्तु 'हिन्दुस्तान' निर्भीकतापूर्वक ब्रिटिश शासनके अत्याचारोंका--हाँ ज़्यादातर अत्याचारोंको ही, अपनी राष्ट्रीय कमज़ोरियोंकी ओर उग्र राष्ट्रीयदलकी भाँति उसे ध्यान दिलानेकी ज़रूरत न थी---भंडाफोड़ करता था। हिन्दुस्तान'के जेल जानेवाले सम्पादकोंमें महात्मा नन्दगोपाल भी थे, जिनका भाई साहेबपर काफ़ी असर पड़ा था। शायद सूफ़ी अम्बाप्रसादको वह देख न पाये थे, किन्तु उनके साहसपूर्णकार्य--विशेषकर एंग्लो-इंडियन बन महीनों पुलीसको चकमा दे घूमते रहना--उनकी प्रशंसाकी चीजें थीं। वंग-भंगके बाद स्वतन्त्रताके लिए देशने जितनी आहुतियाँ दी थीं, उनका इतिहास उन्हें ज़बानी याद था। पहिले-पहिल ये रोमांचक, आत्मबलिके जीते-जागते उदाहरण मुझे भाई साहेबके मुँहसे ही सुननेको मिले। भाई साहेब वक्ता न थे, उनकी क़लम भी साधारणतलसे ऊँचे नहीं उठ पाई, किन्तु वह हमारे लिए सफल शिक्षक ही नहीं, बल्कि कुछ और भी थे। धीरे-धीरे किन्तु स्थिरताके साथ जारी रहते अपने संलापों--जिनमें बीच-बीचमें प्रश्नोत्तर करनेकी हमें पूर्ण स्वतन्त्रता थी--द्वारा वह हमारे हृदयोंमें एक ज़बर्दस्त आग जला रहे थे। यह आग कितनी राजनीतिक पराधीनताके ख़िलाफ़ थी, और कितनी धार्मिक, यह हमें स्पष्ट न मालूम था; क्योंकि उस समय 'स्वदेश' और 'स्वधर्म'को हम अभिन्न समझते थे। 'आबिर' अकबराबादी (डाक्टर लक्ष्मीदत्त) की कविताओं, तथा सुखलाल अपने गानोंमें--

'वतनके नामपर यारो तुम्हें मरना नहीं आता' की जगह

'धरमके नामपर यारो तुम्हें मरना नहीं आता' कह देते थे।

हमारे लिए सौभाग्यकी बात थी, कि मुसाफ़िर विद्यालयमें हम पाठ्यपुस्तकोंके बोझसे मरे नहीं जा रहे थे। संस्कृतमें जीवारामकी संस्कृत-शिक्षाकी प्रथम-द्वितीय आदि पुस्तकें और शायद हितोपदेश भी था। अरबीमें 'सरफ़', 'नह्व'की एक एक पुस्तक तथा क़ुरानशरीफ़ था। पढ़ाईके बादका समय हमारा अपना था, किन्तु उसे हम बहुत उपयोगी और बहुत मनोरंजक ढंगसे बिताते थे। हम बाहरी पुस्तकें ख़ूब पढ़ते, और ख़ूब गप भी मारते थे। लेकिन यह हमारे भविष्य जीवननिर्माणके लिए बहुत उपयोगी साबित हुए। मुझे याद हैं वे दिन और खास करके वे रातें, जब चारपाईपर लेटे या बैठे भाई साहेब शहीदोंकी कथा सुनाते, 'हिन्दुस्तान'के भूखे शिक्षित सम्पादकोंकी तपस्याका वर्णन करते। सादगीकी भाई साहेब साक्षात् मूर्ति थे। वह मोटे कपड़े (खद्दरका अभी युग नहीं आया था, किन्तु हाथके बुने कपड़ोंपर भाई साहेबका ज़रूर ज़ोर था)—कुर्ता-धोती पहिनते, टोपीकी ज़रूरत न थी। जूता दीहाती। खानेमें सादगीके रखनेके लिए, खैर, आर्थिक अवस्था मजबूर किये हुई थी। भाई साहेबको खानेके अतिरिक्त दस या पन्द्रह रुपये मासिक मिलते थे, जिसमें कुछ मासिक दे, वह, एक मौलवी साहेबसे अरबीकी आगेकी पढ़ाई जारी रखे हुए थे।

अयोध्यामें भाषण और अख़बारका आरम्भ हुआ था। महायुद्धकी खबरोंने जर्मनी, आस्ट्रिया, जापान, रूस आदिके ठोस अस्तित्वको मनवाया। और यहाँ तबकी अवस्थासे मैं डिग चुका था, किन्तु अभी भी मैं था पुराने जगतमें। मेरी स्वाभाविक प्रवृत्ति किधरको है, इसका परिचय मुझे नहीं था। यहाँ आगरामें भाई साहेबके सम्पर्कमें आनेपर मालूम हुआ: जैसे आदमी अँधेरी कोठरीसे निकालकर सूरजकी रोशनीमें रख दिया जावे; जैसे दम घुटती काली कोठरीसे निकाल शीतल मन्द सुगन्ध-वायु-परिचालित बाग़में ला रखा जाये। अब मुझे मालूम होने लगा, दुनियामें ऐसे भी काम हैं, जिनके लिए जीवनकी अवश्यकता है; ऐसे भी आदर्श हैं, जिनके लिए मृत्यु मधुरतम वस्तु है। अंग्रेज़ किस तरह भारतका शोषण करते हैं, इस सम्बन्धमें उर्दू-हिन्दीमें जो भी उपलभ्य पुस्तकें थीं, उन्हें भी मैंने ध्यानसे पढ़ा—इन पुस्तकोंमें कुछ ज़ब्तशुदा भी थीं। मुझे याद है, भाई परमानन्दके ज़ब्तशुदा 'भारतका इतिहास'को बड़े परिश्रम-के बाद जब हम हासिल कर पाये, तो कितनी खुशीके साथ उसे पढ़ रहे थे। अंग्रेज़ीके ज्ञानसे एकदम कोरा तो नहीं था, किन्तु अभी उसकी पुस्तकोंके पढ़नेका अभ्यास नहीं था।

खाना खानेके बाद दोपहरको मैं रोज़ 'मुसाफ़िर'के ग्राफ़िसमें चला जाता, ग्रौर दो-तीन घंटे रहकर ग्रखबारोंको पढ़ता। 'मुसाफ़िर'के परिवर्त्तनमें कई दर्जन ग्रख़बार वहाँ ग्राया करते। 'लीडर' शायद डाक्टर साहेब खासतौरसे मँगाया करते। मुझे उसका भावार्थ भी ग्रच्छी तरह समझमें नहीं ग्राता था, क्योंकि समाचारपत्रोंकी भाषामें भी कुछ विशेषता रहती है, तो भी ग्रागराके एक सवा बरसके निवासमें शायद ही किसी दिन 'लीडर'पर मैंने एकाध घंटा न दिया हो, ग्रौर ग्राखिरमें मुझे ख़बरोंके समझनेमें दिक़्क़त नहीं रह गई। इन ग्रखबारोंमें धार्मिक ग्रख़बारोंकी ही संख्या ज़्यादा थी। 'ग्रार्यगज़ट' ग्रौर 'प्रकाश', 'हिन्दुस्तान' ग्रौर 'देश' लाहौरके ग्रख़बारोंका मैं निरन्तर पाठक था। 'सुदर्शन'जीने इसी वक़्त ग्रपना पत्र निकाला था। महात्मा मुंशीरामका 'सद्धर्मप्रचारक', फ़र्रुखाबादसे निकलनेवाला 'सत्यवादी' (?) ग्रार्यसमाजके हिन्दी साप्ताहिक थे। इनके ग्रतिरिक्त हमारे शहरसे निकलनेवाला तथा प्रान्तीय ग्रार्यप्रतिनिधिसभाका मुखपत्र 'ग्रार्यमित्र' उस वक़्त सर्वानन्दके सम्पादकत्वमें निकल रहा था। हाल हीमें मैंने 'मेघदूत'के पद्यबद्ध ग्रनुवादकी एक पुस्तक देखी थी, जिसमें ग्रनुवादकका बढ़ी दाढ़ी-मूँछके साथ फ़ोटो छपा था। मैं ग्रपने साथियोंके साथ एक दिन शहर (हींगकी मंडी)के ग्रार्यसमाजमें पंडित ग्रार्यमुनि या स्वामी ग्रच्युतानन्दका व्याख्यान सुनने गया था, वहाँ दो-तीन बरसकी बच्ची लिए एक मूँछ-दाढ़ी-सफ़ाचट सज्जन ग्राकर बैठ गये। मेरे साथियोंमेंसे किसीने कानमें कहा—यही 'ग्रार्यमित्र' सम्पादक सर्वानन्दजी हैं, लेकिन इनका ग्रसली नाम है पंडित लक्ष्मीधर वाजपेयी। मुझे मेघदूतकी तस्वीर याद ग्राई। मेरे एक साथीने बतलाया—मिडल तक ही पढ़कर इन्होंने इतनी योग्यता प्राप्त कर ली है, कि ये हिन्दीके बड़े-बड़े लेखकोंका कान काटते हैं। मैंने सोचा—मैं भी मिडल ही पास हूँ। ग्रखबारोंमें हमारी नज़र तीन चीज़ोंपर रहती—ग्रार्यसामाजिक जगत्‌की क्या नई ख़बर है, कहीं शास्त्रार्थ ग्रौर मुबाहिसा तो नहीं हो रहा, किसी बड़े समाजका जल्सा तो नहीं हुग्रा, ग्रौर उसमें कौन-कौन प्रसिद्ध व्यक्ति ग्राये—स्वामी सोमदेव, स्वामी मुनीश्वरानन्द, स्वामी ग्रनुभवानन्द, स्वामी सर्वदानन्द, स्वामी सत्यानन्द, महात्मा मुंशीराम, महात्मा हंसराज, प्रोफ़ेसर रामदेव, प्रोफ़ेसर दीवानचन्द, पंडित तुलसीराम, पंडित रामचन्द्र देहलवी, चौधरी ख़ूबचन्द—ग्रादि हमारी उस दुनियाकी विख्यात मूर्तियाँ थीं। फिर देखते कहीं किसी ग्रार्यसमाजी व्याख्यान या मुबाहिसाको लेकर हिन्दुग्रों या मुसल्मानोंसे सिर-फुटौवल हुई कि नहीं। खंडन-मंडनके लेख—विशेषकर इस्लामके विरुद्ध—बहुत चावसे पढ़े जाते, ग्रौर १९१५ ई०के ग्रन्त होनेसे पहिले ही 'मुसाफ़िर ग्रागरा'ने

केदारनाथ विद्यार्थीके भी लेख छापने शुरू किये। अपने लेखको पहिले-पहिल छपा देखकर तरुण लेखकको कितनी प्रसन्नता होती है, इसे अनुभवी ही बतला सकते हैं। मेरा उर्दूवाला लेख पहिले छपा या हिन्दीवाला, इसे नहीं कह सकता; किन्तु मेरठके हिन्दी मासिक 'भास्कर'के दो अंकोंमें अपने छपे लेखोंसे मुझे ज़्यादा ख़ुशी हुई। वही हिन्दीका मेरा प्रथम लेख है। इसमें अयोध्यामें साधु लोगोंके पास गृहस्थ लोग कैसे मन्त्र लेने आते हैं, इसे विदेहीजीके स्थानमें देखे—दृश्यको लेकर मैंने वर्णित किया था।

संस्कृतकी पढ़ाईसे छुट्टी पानेके कारण मेरे पास कुछ और भी फ़ाज़िल समय था, जिसे मैं बाहरी पुस्तकोंके पढ़नेमें लगाता था। 'मुसाफ़िर' आफ़िसकी रद्दियों और कूड़ेमें बहुतसी समालोचनार्थ आई आर्यसमाजी पुस्तकें पड़ी थीं। मैंने लगकर कूड़ा-कचड़ा साफ़ किया, पुस्तकोंको जमा किया, और एक-एकको पढ़ डाला। इन पुस्तकोंमें पंडित आर्यमुनि, पंडित राजाराम शास्त्री, पंडित तुलसीरामके किये दर्शन, उपनिषद् और दूसरे संस्कृत ग्रंथोंके मूलसहित अनुवाद थे। मैं अब इन ग्रंथोंमें रस लेने लायक़ हो गया था। उर्दूकी 'कुल्लियात-आर्यमुसाफ़िर' हमारे लिए बड़ी प्रिय चीज़ थी, क्योंकि यह उन्हीं शहीदे-धर्म पंडित लेखराम आर्यमुसाफ़िरकी कृतियोंका संग्रह था, जिनकी स्मृतिमें हमारा आर्यमुसाफ़िर विद्यालय स्थापित हुआ था। स्वामी दर्शनानन्द, पंडित भोजदत्त, महाशय धर्मपाल (जो अब फिर मुसल्मान हो चुके थे)की उर्दू पुस्तकोंको मैंने बहुत शौक़से पारायण किया था। इस्लामकी समालोचनामें लिखी गई पादरियोंकी भी बहुतसी पुस्तकें मैंने देखीं। मेरे साथी सुनी सुनाई परम्पराको दुहराते हुए जब मौलवी सनाउल्ला अमृतसरी, पादरी ज्वालासिंह और स्वामी दर्शनानन्दकी शास्त्रार्थमें अप्रतिम प्रतिभाओंका वर्णन करते, तो मुझे ईर्ष्या होती—क्या मैं भी वैसा हो सकता हूँ। मौलवी सनाउल्लाके 'अह्ले-हदीस'का तो मैं हर सप्ताह नियमसे पाठ करता था। 'पैग़ाम-सुलह', 'अलफ़ज़ल', 'नूर' जैसे क़ादियानी अख़बारोंसे भी मुझे नवीन इस्लामकी जानकारीका अच्छा मौक़ा लगता था।

हम लोग वैदिकधर्म—आर्यसमाजके सिद्धान्तों—ऋषि दयानन्दके पैग़ामको—सारी दुनियामें पहुँचानेकेलिए मिश्नरी तैयार किये जा रहे थे। हमें उपदेशों, अखबारों और पुस्तकों द्वारा बतलाया जाता था, कि दुनियाका सबसे पुराना धर्म—सारे धर्मोंका आदि स्रोत—आज भी अपने सिद्धान्तोंमें कितना मज़बूत है। उसमें एक ईश्वर छोड़ किसी दूसरेकी पूजा नहीं है। बहुदेववाद वेद-विरुद्ध है, श्राद्ध ब्राह्मणपोपोंके पेट पालनेकी चाल है। अवतार अजन्मा ईश्वरका नहीं होता। पुनर्जन्म और कर्मका सिद्धान्त हमारे धर्मको सारे धर्मोंसे श्रेष्ठ सिद्ध करता है। वर्णव्यवस्था जन्मसे नहीं,

रुचिके अनुसार व्यवसाय चुननेकी स्वतन्त्रताका दूसरा नाम है। तीर्थ, मूर्ति-पूजा आदि सभी पोपलीलायें हैं। बात-बातमें हमारे सामने ईसाई मिश्नरियोंके धर्मप्रचारके-लिए किये गये स्वार्थत्याग और साहसकी मिसाल पेश की जाती थी, और उससे भी ज़्यादा, जापान-चीन-तिब्बत-मध्यएसियाके दुरूह रास्तोंसे शताब्दियों पूर्व बौद्ध-भिक्षुओंकी यात्राओंका उदाहरण पेश किया जाता था। हम अपनेको दयानन्दके भिक्षु और अपने विद्यालयको एक छोटीसी नालन्दा——यद्यपि बहुत त्रुटिपूर्ण——समझते थे।

शिक्षा सिर्फ़ मौखिक नहीं थी, उसे व्यवहारमें रूप देनेका भी हमारा प्रयत्न होता था। मुसाफ़िर विद्यालयके हम सभी विद्यार्थी सप्ताहके अधिकांश दिनोंमें शहरमें, या सुल्तानपुरा बाज़ारमें सड़कपर व्याख्यान देने जाते थे। यह परम्परा मेरे पहिले क़ायम हुई थी, पहिली बारीके विद्यार्थी थे भाई साहेब और धर्मवीर जी, रामगोपालजी दूसरी बारीमें, और अब हमारी जमातका नम्बर तीसरा था। मालूम होता है, इसे ईसाइयोंसे सीखा गया था। इन व्याख्यानोंके श्रोता दस-पाँच मिनटसे अधिक एक जगह न खड़े रह सकनेवाले अपनी खरीद-फ़रोख़्तकेलिए आये लोग हुआ करते थे, इसलिए हम लोगोंका व्याख्यान संक्षिप्त होता था। इन व्याख्यानोंके अतिरिक्त अछूतोद्धारमें हमें खासतौरसे काम करना पड़ता था। पंडित भोजदत्तजी अखिल भारतीय शुद्धि सभाके प्रधानमन्त्री और संस्थापक थे। इसका काम तो था, मुसलमानों और ईसाइयोंको वैदिक धर्मकी दावत देना, किन्तु इसमें उसे बहुत कम सफलता मिलती थी। कभी ही कोई भूला-भटका मुसलमान या ईसाई जात-पाँतकी संकीर्णतासे दबे हिन्दू समाजमें आना चाहता था। हाँ, शुद्धिशुदोंकी संख्या दिखलानेके-लिए अछूतोंके शुद्धिसंस्कार होते थे। कुछ पढ़-लिख गये, तथा बेहतर आर्थिक अवस्था-वाले अछूत परिवार ज़रूर चाहते थे कि समाजमें उनके लांछित अपमानित स्थानमें कुछ परिवर्तन हो। इसी इच्छासे वह अपनी 'शुद्धि' कराते थे। इसकेलिए एक दिन मुक़र्रर होता। उस दिन घरके व्यक्ति, संस्कारकी गम्भीरताको साबित करनेके लिए उपवास रखते, शामको हम लोग पहुँचकर हवनकुंड खोदते। चौक-वौक पूरते, संस्कारविधिमें आये मन्त्रोंसे हवन करते, घरके व्यक्ति उसमें यजमानके तौरपर बैठकर अपने हाथोंसे आहुति देते। फिर उनके हाथके बने हलवे-पूड़ीका प्रसाद बाँटा जाता। हम पुरोहित लोग वहीं भोजन करते। हमारे इन शुद्ध होनेवाले भाइयोंमें अधिकतर आगराके आसपासके चमार होते, जो शकल-सूरतमें पास-पड़ोसके दूसरे लोगोंसे भिन्न नहीं मालूम होते थे।

वैष्णवधर्म--वैरागी सम्प्रदाय--से मैं उदासीन हो गया था। धर्मका आकर्षण नहीं बल्कि घूमने पढ़नेका आकर्षण, तथा घरसे मुक्तिका ख्याल मुझे वहाँ ले गया था। वहाँ मेरे विचार बंध्या समान थे, किन्तु यहाँ आर्यसमाजमें अपनी बुद्धिको ज़्यादा स्वच्छन्द ज़्यादा अनुकूल परिस्थितियोंमें पा रहा था। जात-पाँतका खंडन आर्यसमाजी एक हद तक ही करना चाहते थे, किन्तु मैं उसको असह्य बीमारी समझता था। युक्तप्रान्तके आर्यसमाजियोंमें वर्णव्यवस्थाको लेकर उस वक़्त दो दल हो गये थे, एक दल--ब्राह्मणपार्टी--वर्णव्यवस्थाको गुण-कर्म-स्वभावके अनुसार बतलाते भी स्वभावपर बहुत ज़ोर देकर 'पनालेको वहीं' रखना चाहता था, इस दलके मुखियोंमें पंडित मुरारी-लाल (सिकन्दराबादी), पंडित तुलसीराम और ज्वालापुर महाविद्यालयका पंडित-दल शामिल था। स्वामी सर्वानन्दको पुरानी मर्यादाका अतिक्रमण कर, ब्राह्मणोंको नीचे दबाते हुए अछूतोंको आगे बढ़ाते देख, कविराज पंडित नाथूरामशंकरने 'चमरनके तारनको तारनके कारण प्रगटे सन्त सर्वदानन्द' लिख मारा था। मैं अपने छोटे दायरेमें इस विचारधाराका सख़्त मुख़ालिफ़ था। मेरे सहपाठियोंमें सबसे अधिक घनिष्ट मित्र भगवतीप्रसाद कुछ दिनों तक गुरुकुल सिकंद्राबादमें रहे थे, और पंडित मुरारीलाल शर्माके विचारोंसे प्रभावित हुए थे। वे अक्सर वर्णव्यवस्थाके बारेमें मुझसे झगड़ पड़ते। मैं सारे आर्य (समाजी) मात्रकी रोटी-बेटीके पक्षमें था, और स्वामी सर्वदानन्द-की खरी-खरी बातोंको बहुत पसन्द करता था।

एकमासे एक बार गुरुजीके साथ एक दिन मैं छपरा जा रहा था। हमारी ही सेकंड क्लासके डिब्बेमें छपराके बैरिस्टर मिस्टर मुस्तफ़ा बैठे हुए थे। बातचीतसे परिचय हुआ। मिस्टर मुस्तफ़ाने गुरुजीसे कहा--'महन्तजी, अपने शिष्यको विलायत भेजिये।' किसलिए, सो मैंने नहीं सुना या याद नहीं। महन्तजीने हँस दिया। परसाका वैष्णव वैरागी कृस्तानोंके मुल्कमें जायेगा--इसपर वह सोच भी नहीं सकते थे। किन्तु वह बात मेरे लिए भी वैसी ही न थी। उससे भी पहिले बनारसमें जिस वक़्त "सरस्वती"में मैं खन्नाकी अमेरिकायात्रा-सम्बन्धी लेखोंको पढ़ता, तो मेरा हृदय वहाँ साक्षी मात्र नहीं रहता था। सेंट्रेल हिन्दू कालेजमें, शायद कुमार देवेन्द्रको स्वरके साथ गाते सुना था--'न्युयार्कमें पहुँचकर हमको भी तार देना', तो उससे मेरे मनपर अजीबसा प्रभाव पड़ा था। और अब तो हम विदेशयात्राके ही स्वप्न देखा करते थे, मेरा स्वप्न अमेरिका युरोपका नहीं था, मैं एसियाके ही किसी भागको पसन्द करता था, पहिले अरब, मिश्र, ईरान और पीछे चीन-जापानको। किसलिए?--वैदिक धर्मके प्रचारके लिए। किन्तु, जिस तरह धर्मवीरजी अरबमें धर्मप्रचारार्थ

जानेके लिए उतावले होकर बम्बईकी किसी मस्जिदमें कई दिन काट आये थे, मैं उतनी जल्दीका पक्षपाती न था, उसके लिए मैं काफ़ी तैयारीकी जरूरत समझता था। वैसे सभी चारों सहपाठी हमारे स्वप्नोंके सहभागी थे, किन्तु रामगोपालके साथ उनपर बहस करनेमें बहुत लुत्फ़ आता था। मैं स्वतन्त्र था, मुझे कहीं आने-जानेमें कोई बन्धन नहीं था, किन्तु रामगोपालकी उड़ानोंमें बाधक थी उनकी स्त्री। मैं सलाह देता--उसे पढ़ाकर अपने पैरोंपर खड़ा कर दो, कहीं अध्यापिका हो जायेगी। हमारी भविष्यकी कार्य-योजनाओंमें एक मिश्नरी विद्यालय भी था, जिसमें पुराने नालन्दा और उस वक़्तके मुसाफ़िर विद्यालयका संमिश्रण होगा। वहाँ हम पढ़े-लिखे नौजवानोंको छै-सात वर्षकी विशेष शिक्षा देंगे। जो जिन देशोंमें जायेगा, वह उस देशकी भाषा, संस्कृति और धर्मके बारेमें विशेष तौरसे पढ़ेगा।

पंडित भोजदत्तजी आगरामें ही थे, किन्तु, असाध्य बीमारी--शायद यक्ष्मा--से बीमार थे। उनके दर्शन बहुत कम हुआ करते थे।

मेरी बुआकी लड़कीका व्याह करना था। फूफा साहेबने पत्र लिखा--'फ़ीरोज़ाबादके पोस्ट-मास्टर (आज़मगढ़ ज़िलेके रहनेवाले)के लड़केको देख आना, और व्याहकी बात कर आना।' मैं फ़ीरोज़ाबाद गया, और व्याहके ठीकठाक करनेमें मदद दी। उसी समय कनैलासे पत्र आया--शायद यागेशका, कि पिताजी अर्धविक्षिप्तसे हो गये हैं, शायद तुम्हारे भाग जानेके कारण; इसलिए एक बार मिल जाओ। पन्द्रह-बीस दिनकी छुट्टी लेकर मैं कनैला आया। पिताजी बहुत दुबले हो गये थे, मालूम होता था बहुत दिनोंकी बीमारीसे उठे हैं। उन्होंने मुझे देखकर बड़ी प्रसन्नता प्रकट की। दिमाग़की गर्मी शान्त करनेकेलिए कनपटीके पास फ़सदल खोलकर ख़ून निकालनेकेलिए आदमी आया हुआ था। उन्होंने कहा--"क्या करोगे फ़स्द खुलवाकर मैं अब अच्छा हो जाऊँगा।" दीवालीके दिनमें आज़मगढ़ आर्यसमाजमें था, और कार्तिक पूर्णिमाके दिन करहाके मेलेमें मुझे लेक्चर झाड़ते देख मेला देखनेकेलिए आये कनैलाके स्त्री-पुरुषोंको बहुत आश्चर्य हुआ। इसी वक़्त मुहम्मदाबादमें बाबू बैजनाथप्रसाद वकीलके यहाँ ठहरा। वह अभी-अभी इलाहाबादसे वकालत पास कर आये हुए थे। उनके पास 'कर्मयोगी'की पूरी फ़ाइल थी। राजनीति पर बात-चीत करनेके अतिरिक्त उस फ़ाइलके कितने ही भागोंको मैंने पढ़ा। तीन-चार सप्ताह बाद पिताजीने बड़ी ख़ुशीके साथ मुझे आगरा लौट जानेकी इजाज़त दी।

१९१५ ई०के जुलाई-अगस्त तक पढ़ने-लिखने, बोलने-चालनेमें मेरी काफ़ी प्रगति हो चुकी थी। अब मुझे आगरासे बाहर, फ़तेहगढ़, जसवन्तनगर, फ़ीरोज़ाबाद

जैसे स्थानोंमें भी व्याख्यान और संस्कार करानेके लिए भेजा जाता था। व्याख्यान देते वक़्त अपरिचित अगणित चेहरोंका रोब ग़ालिब होना अब भी कम नहीं हुआ था, तो भी श्रोताओंकी टिप्पणी या चेष्ठा अनुत्साहवर्धक न होनेसे मुझे आत्मग्लानि नहीं होती थी। इसी बीच शायद सितम्बर (१९१५)में जबलपुरसे डाक्टर लक्ष्मीदत्त और पंडित धर्मवीरको मुसल्मानोंके साथ शास्त्रार्थ करनेका निमन्त्रण आया। मैं भी शास्त्रार्थियोंमें गिना जाने लगा था, और संस्कृतके प्रमाणोंको जुटानेमें तो उनकी काफ़ी सहायता कर सकता था, इसलिए डाक्टर लक्ष्मीदत्तने मुझे भी चलनेकेलिए कहा। हम लोग पहिले इलाहाबाद गये। उस वक़्त वहाँ युक्तप्रान्तके राजनीतिक नेताओंकी एक बड़ी कान्फ्रेंस हो रही थी। युक्तप्रान्तमें उस वक़्त लेफ़्टेंट-गवर्नर शासन करता था, देशभक्तोंकी—जिसमें पंडित मोतीलाल नेहरू, तेजबहादुर सप्रू, आदि सभी शामिल थे—माँग थी, गवर्नरकी। शायद अंग्रेज़ी सर्कारने इस माँगको ठुकरा दिया था, इसीपर यह विराट् कान्फ्रेंस कांग्रेसकी ओरसे सारे प्रान्तभरके लोगोंकी बुलाई गई थी। हम लोग आगरासे किसी सभाके प्रतिनिधि न थे। सभा-स्थल हीमें हमें एक-एक प्रतिनिधि टिकट मिल गया। कान्फ्रेंस शायद म्योहालमें हुई थी। अंग्रेज़ीमें धुआँधार तक़रीर हुई, जिसका समझना ऐसे भी हमारे लिए मुश्किल था, ऊपरसे गर्मीका पूछो मत, बर्फ़ डाले पानीके गिलासोंके गिलास गलेके नीचे उँडेले जाते थे, और प्यास बुझना जानती न थी।

जबलपुरमें हम लोगोंको हितकारिणी हाई स्कूलके मकानमें ठहराया गया—शायद उस वक़्त कोई छुट्टी थी, जिससे स्कूल बन्द था। गर्मी यहाँ भी ख़ूब थी, किन्तु बँगलेकी छत कुछ ऊँची थी, और लेमनेड बर्फ़का बराबर इन्तिज़ाम रहता था। मुसल्मानोंकी तरफ़से मौलाना सनाउल्लाह शास्त्रार्थ करनेवाले थे; उनकी मददके लिए मौलाना अबूतुराब, मौलाना क़ासिम बनारसी तथा दूसरे सज्जन भी आये थे। आर्यसमाजकी तरफ़से डाक्टर लक्ष्मीदत्त और पंडित धर्मवीर बोलनेवाले थे। पंडित रामचन्द्र देहलवीके कुछ व्याख्यान यहाँके टौनहालमें हुए थे, उसीपर यह शास्त्रार्थ रचा गया था। मेरे लिए यह पहिला मौक़ा था किसी आर्यसमाजी-मुस्लिम शास्त्रार्थ देखनेका। एक ही प्लेटफ़ार्मपर मध्यस्थ—जो शायद जबलपुरके किसी कालेजके मिश्नरी प्रिंस्पल थे—की दोनों तरफ़ दो मेज़ोंपर दोनों पक्षके पंडित-मौलवी पुस्तकोंका ढेर लेकर बैठे हुए थे। चारों तरफ़ खुली जगहमें विराट् हिन्दू-मुस्लिम जनता शास्त्रार्थ सुननेके लिए बैठी थी। रातके अँधेरेके दूर करनेके लिए लालटेनोंका काफ़ी इन्तिज़ाम था। वक्ताओंको बारी-बारीसे बोलना पड़ता था। समय पूरा होते ही मध्यस्थ

घंटी बजा देते। शास्त्रार्थका प्रभाव सभी जनतापर एकसाँ कैसे पड़ता, जब कि उनकी सहानुभूतियाँ पहिले हीसे बँटी हुई थीं। तो भी अपने धर्मको विज्ञानानुमोदित बनानेके लिए आर्यसमाज बहुतसे पुराने मिथ्या विश्वासोंको छोड़े हुए था; स्वामी दयानन्दने उन्हीं सिद्धान्तोंको मान्य रहने दिया था, जिन्हें वह अपने सामयिकोंके कथनानुसार विज्ञानसम्मत समझते थे। एक तरफ़ अपनी पुरानी खुराफातोंके अधिकांशकी होली जलाकर एक आदमी आया हो और दूसरी ओर तेरह सौ वर्षोंकी अधिकांश लचर बातोंको काफ़िर होनेके डरसे न छोड़नेके लिए मजबूर व्यक्ति हो, दोनोंमें कौन अच्छी तरह लोहा ले सकेगा, यह स्पष्ट ही है।

शास्त्रार्थ शायद दो दिन हुआ था। उसी समय हम ताँगेसे भेड़ाघाटके मार्बल राक (संगमरमर चट्टान)को देखने गये थे। हम लोगोंको निमन्त्रण देकर अपने घर खानेकेलिए ले जानेवालोंमें एक बैरिस्टर कोई गुप्त साहेब थे। वह विलायतमें तरुण भारतीयोंके ऊपर खुफ़िया पुलीसकी कितनी कड़ी निगाह रहती है, इसके बारेमें कह रहे थे—हम उनसे बचनेके लिए बहुधा मैदानकी घासमें बैठ जाते थे। जबलपुरमें एक दिन संस्कृतमें मुझे व्याख्यान देना था, किन्तु किसी कारणसे व्याख्यान नहीं हो सका। उस समयके शास्त्रार्थसे मुक़ाबिला करनेसे मालूम होता था कि अबसे उस समयके लोग ज़्यादा विचार-सहिष्णु थे।

युद्धकी भीषणता और भी बढ़ गई थी। नामनेर आगरा-छावनीके भीतर समझा जाता है। हम लोग दोपहर बाद पढ़नेके लिए कभी-कभी एक बाग़में जाया करते थे, वहाँ देखते थे आये हुए झुंडके झुंड रंगरूटोंको। खुफ़िया पुलीस और भेदियोंका तो चारों ओर जाल बिछा हुआ था। हमारे विद्यालयके सामनेवाले मन्दिरमें एक पगला रहता था, कितने लोग कह रहे थे—वह पागल नहीं भेदिया है। कुँअर सुखलालके गानोंमें कुछ राष्ट्रीयताकी गर्माहट बढ़ रही थी, जिसके लिए पुलीस सजग रहने लगी थी। एक बार हम लोगोंके सामने प्रस्ताव आया था, मेसोपोतामियामें दुभाषिया बनकर पलटनके साथ जानेका। लेकिन न जाने क्यों बात वहीं तक रह गई, हममें दो-एक तो ज़रूर ही सैरके शौक़में जानेके लिए तैयार हो जाते। अब अभिलाष विद्यालयके विद्यार्थी नहीं रह गये थे, तो भी बीच-बीचमें आया करते थे, और बड़ी खतरनाक सूरतमें। उनको घड़ी, फ़ोटो-ग्राफ़ीके छोटे-छोटे औज़ारोंके लिए चलनेका बड़ा शौक़ था। थोड़ेसे ही खर्चमें वह बड़े फिटफाटसे रहा करते थे। वह हमारे विद्यालयके परले दर्जेके चलते-पुर्ज़े—बुरे अर्थमें नहीं अच्छे अर्थोंमें—तरुण थे। अपने साथियोंपर पूरा विश्वास रखते और खुद भी उनके पूरे विश्वासपात्र थे। वंगविच्छेदके

बाद जो बम्ब-सम्प्रदाय चला, वह भीषण दमनके बाद भी घटनेकी जगह बढ़ता ही जा रहा था। दिल्लीमें वाइसराय लार्ड-हार्डिंगके ऊपर बम्ब चला था, उसकी गूँज अब भी हवामें थी। हम बड़ी गम्भीरता और सहानुभूतिके साथ दिल्ली षड्यन्त्रके मुक़दमेके बारेमें पढ़ा-सुना करते। मेरे आगरामें रहते ही वक़्त अवधबिहारी, मास्टर अमीरचन्द, बालमुकुन्दको फाँसी हुई थी। उनकी फाँसी हमें अपने किसी अत्यन्त आत्मीयकी हत्यासे बढ़कर मालूम होती थी, साथ ही हमें उसका बहुत अभिमान भी था। पिछले सालभरके साहित्य और सत्संगने हमारे सुप्त हृदयको जागृत कर दिया था, राजनीतिके साथ धर्मकी खिचड़ी बनाते हुए भी देशकी आज़ादीके लिए हम बेक़रार थे। अभिलाषने एक बार कहींसे भड़कनेवाले कुछ मसाले लाकर एक काग़ज़में रस्सीसे बाँधकर विद्यालयके आँगनमें पटका, हलकासा धमाका हुआ, शायद आँगनसे बाहर आवाज़ नहीं गई। कुछ देर तक गन्धककी गन्ध उड़ती रही। बतलाया—यही बम्बका मसाला है; किन्तु असली बम्ब बनानेमें और बहुतसी चीज़ें आवश्यक होती हैं। अभिलाष—साहसी और व्यवहारपटु अभिलाष—मेरी नज़रोंमें बहुत ऊँचा स्थान रखता था, यद्यपि उसके पढ़ाई छोड़ बैठनेको मैं पसन्द नहीं करता था। आतंक-वादियोंसे मेरी बड़ी सहानुभूति थी। उनकी देशकी आज़ादीके बारेमें अधीरताकी मैं प्रशंसा करता था, और यदि ज़रूरत पड़ती तो उनके कामके लिए मुझे प्राणोत्सर्ग करनेमें भी हिचकिचाहट न होती, लेकिन उस एक दिन दो मिनटके काग़ज़की पोटलीके धड़ाकेसे बढ़कर मुझे कभी आतंकवादके समीप ज़्यादा जानेका मौक़ा न लगा। मैं आतंकवादी क्यों न बना? —इसमें शायद संयोग ही कारण हो सकता है; आसपास कोई मुझे उधर खींचनेवाला व्यक्ति नहीं था। अथवा मेरेमें ही दृढ़ जिज्ञासाकी कमी थी, और मैं उनके अड्डोंको ढूँढ़ने नहीं निकला। शायद अभिलाषका कोई सम्बन्ध रहा हो, किन्तु उसने मुझे किसी और साथीको मिलानेकी बात नहीं की। भाई साहेब राजनीतिक स्वतन्त्रताका ज़बर्दस्त पाठ पढ़ा रहे थे, लाल-बाल-पालके परम भक्त थे, और देशके लिए मरनेवालोंकी प्रशंसा करते नहीं थकते थे; किन्तु, वह भी किसी कर्मठ आतंकवादीके सम्पर्कमें नहीं आये थे। तो भी, मुसाफ़िर विद्यालयके नंगे सिर नंगे पैरवाले अर्धशिक्षित हम तरुण विद्यार्थी भी पुलीसकी निगाहसे बचे न थे।

१९१५के अन्तके साथ मेरी पढ़ाईका अन्त भी आता दीख पड़ा। मेरे साथियोंमेंसे कोई, नमाज़ और कोई मौलूद नागरी अक्षरोंमें करके आगरेके एक प्रेसको दे रहा था। एक बार उक्त प्रेसने मुझे क़ुरानको हिन्दीमें कर देनेके लिए कहा। मिहनत और पारिश्रमिकसे परिचित तो था नहीं, मैंने ढाई रुपया सिपारामें नागरी अक्षरोंमें

अरबी आयतों और हिन्दीमें उनके अर्थको लिखकर देना स्वीकार कर लिया। पहिले सिपारेको दे आनेके बाद मालूम हुआ, प्रेसवाला (बाम्बे मशीन प्रेस) लूट रहा है। दूसरे सिपारेको ले जाते वक़्त मैंने पारिश्रमिकको बढ़ानेके लिए कहा। कुछ तै नहीं होने पाया, और मैंने उसके बाद अनुवादके कामको छोड़ दिया। कुछ वर्षों बाद कानपुरमें किसी हटियामें अपने अनुवादित दोनों सिपारोंको बिना मेरे नामके छपकर बिकते देखा, तो मैंने प्रेसवालेको चिट्ठी लिखी। वह चिकनी-चुपड़ी बातें करने लगा, और उसने कुछ रुपये भेज दिये। मैं ख़ुद तरद्दुदमें नहीं पड़ना चाहता था, न उसे तरद्दुदमें डालना चाहता था।

आगराके उस निवासमें हमारा दिन सिर्फ़ रूखे आदर्शवाद हीमें नहीं कट रहा था। समवयस्क सहृदय साथियोंका साथ एक लालसाकी चीज है। मुंशी मुरारी-लालजी हममें सबसे ज़्यादा गुरु-गम्भीर पुरुष थे। उन्होंने स्वामी रामतीर्थकी वेदान्त-सम्बन्धी एक-दो उर्दू पुस्तकें पढ़ी थीं, और प्रयागमें रहते वक़्त स्वामी रामके दर्शन और सत्संगका जिन्हें मौक़ा मिला था, ऐसे बहुतसे आदमियोंसे स्वामीरामके व्यक्तित्व-को जाननेका उन्हें मौक़ा मिला था; इससे उनपर वेदान्त और रामतीर्थका गहरा असर था। एक समय था, जब मैं वैष्णव रहते हुए भी शंकराचार्यके वेदान्तका ज़बर्दस्त भक्त था, किन्तु अब मैं पक्का आर्यसमाजी था; सिर्फ़ ऊपर-ऊपरकी बातों हीमें नहीं दर्शनमें भी आर्यसमाजी त्रैतवादके सामने वेदान्तके अद्वैतवादको बिल्कुल कमज़ोर समझता था। भाई मुरारीलालको, मैं समझता था, कि वह अभी आदिम अवस्थामें हैं। और जब कभी मज्लिसमें कुछ सुस्ती छाई होती, तो रामतीर्थके बारेमें छेड़ देता। मुरारी भाई प्रहार हल्का रहनेपर तो समाधान करनेकी कोशिश करते, और यदि कहीं प्रहार सख़्त हुआ, और मैंने कह दिया—'क्या वेदान्त और क्या ब्रह्म ? जो आदमी पानीमें डूब मरनेके लिए तैयार हो जाये, वह पागल ही हो सकता है।' फिर तो यह उनके बर्दाश्तसे बाहरकी बात हो जाती, लेकिन उसके लिए वह झगड़ते नहीं थे, उनका 'मौनं केवलमुत्तरं' होता। भाई मुरारीलालके पास एक मोटे डोरियेका अचकन था, जिसे जाड़ोंमें वह कभी-कभी पहनते थे; काले रंगकी एक कश्तीनुमा टोपी भी थी। हम लोग मुसाफ़िर विद्यालयवाले नंगे शिर रहा करते, लेकिन मुरारी भाई जब अचकन पहनते तो टोपी भी लगा लेते। हम उनसे बहुत कहते—'भाई साहेब, सबकी तरह आपको नंगा रहना चाहिए।' बोलते—'उहुँक, इस अचकनपर तो यह टोपी लाज़िमी है।' 'टोपी लाज़िमी है' इसे जब हमने आवाज़ कसनेका ज़रिया बना लिया, तब अचकन ही उतर गया।

हमारे यहाँ एक बूढ़ी मिश्रानी रोटी बनाया करती। बूढ़ों और जवानोंकी अलग अलग दुनिया होती है। हममेंसे कई मनचले कभी-कभी मिश्रानीको हैरान भी कर डालते। एक दिन मिश्रानी अन्दाज़ा करके हम सबके खाने भरके लिए आटा लाई। हमने निश्चय किया, आज मिश्रानीको छकाना है। बस, पालथी मारके खाने बैठ गये। मिश्रानी फूले हुए फुलके फेंकती जाती, और हम खाते जाते। आटा खतम हो जानेपर भी हम लोग डटे हुए थे। लाचार सेरभर फिर आटा आया। आटा आनेमें देर, गूँधनेमें कुछ और देर, तब तक हमारी भूख कुछ और ताज़ी हो गई। उस सेरभर आटेको भी खतम किया। फिर नौकर आटा लाने गया, हमने अपनी भूख ताज़ा की। मिश्रानीने कहा—'खाओ, कितना खाओगे।' हमने कहा—'खिलाओ, कितना खिलाओगी।' दोनों ओरसे होड़ लगी थी। चौथी बार आटा मँगानेके बाद मिश्रानी निराश हो गई, और उसने हार मान ली। हम लोग उन फुलकोंको खाकर उठ खड़े हुए।

मुसाफ़िर विद्यालयके संस्थापक पंडित भोजदत्त शर्मा थे। पंडित लेखराम शर्माके बाद मुसल्मानोंसे लोहा लेनेमें वह भारी महारथी समझे जाते थे। उनकी ज़बानमें ज़बर्दस्त ताक़त थी, यद्यपि क़लममें उतनी नहीं। पहिले कुछ दिनों तक वह आर्यप्रतिनिधि सभा पंजाबके उपदेशक भी रहे। उन्होंने पंडित लेखरामके कामको जारी रखनेके लिए मुसाफ़िरविद्यालय और 'मुसाफ़िर आगरा' साप्ताहिक पत्र निकाला था। विद्यालयका काम चन्देसे चलता था जिसका जमा होना, उस लड़ाईके ज़मानेमें उतना आसान काम न था, खासकर जब कि पंडित भोजदत्तजी रोगशय्यापर पड़े थे। उनके दोनों लड़के डाक्टर लक्ष्मीदत्त और पंडित तारादत्त वकील विद्यालयका काम देखते थे, किन्तु उन्हें अपनी गृहस्थी भी चलानी थी, इसलिए अपने पेशेमें भी समय लगाना ज़रूरी था। डाक्टर लक्ष्मीदत्तकी डिस्पेन्सरी शहरमें थी। पंडित तारादत्त नये वकील थे, इसलिए उनकी कश्मकश् कम न थी। आर्थिक सहायताके लिए डाक्टर लक्ष्मीदत्तको ही ज़्यादा काम करना पड़ता था। ये रुपये कुछ तो पंडित धर्मवीर और कुवर सुखलालके ज़रिये आर्यसमाजके उत्सवों या सभाओंसे आते, और कुछ पैसे चिट्ठी-पत्री लिखनेपर मददगार लोग भेज दिया करते। आर्यसमाज उस वक़्त युक्तप्रान्तमें निम्न मध्यम श्रेणीके शिक्षित लोगों हीमें फैला हुआ था, इसलिए वह बड़ी धनराशि दानमें नहीं दे सकते थे। आगरामें रहते ही वक़्त छुट्टियोंमें पंडित बलदेव चौबे (अब स्वामी सत्यानन्द सरस्वती) वृन्दावन आदि घूमते हुए वहाँ आये थे। उस वक़्त वह प्रयागमें मेट्रिकके विद्यार्थी थे। साधा-

रण बातचीत हुई, एक ज़िलेके होनेसे आकर्षण तो ज़रूर कुछ बढ़ जाता है, किन्तु उस समय कहाँ पता था, कि हमारा यह प्रथम परिचय एक आजीवन मैत्रीका रूप धारण करेगा। हम लोग उस साल (१९१५ ई०)के दिसम्बरमें गुरुकुल वृन्दावनका वार्षिकोत्सव देखने गये थे। पीछे कांग्रेसके अधिवेशन और उनके विराट् केम्पोंको देखनेपर तो वह स्मृति फीकी पड़ गई, किन्तु उस वक़्तका वह छोटासा शिक्षित संयत मेला दूसरे उजड्ड असंयत धार्मिक मेलोंसे बहुत अच्छा मालूम हुआ। वहाँ हमें आर्यसमाजके चोटीके उपदेशकों—प्रोफ़ेसर रामदेव आदिके व्याख्यान सुननेका मौक़ा मिला। बार-बार पानी या दूधकी घूँटोंसे गला साफ़ करते, नोटबुकके पत्तोंको उलटते, फेनिल मुखसे आरोहावरोह क्रमसे निकलती उनकी आवाज़, और वेदकी सच्चाइयोंके सामने विज्ञान और पश्चिमी जगतके सिर नवानेकी गर्जना पर जनताकी तुमुल ध्वनि—यह बातें मुझे अब भी स्मरण आती हैं। मुझे १९१५ ई०के गुरुकुल वृन्दावनकी इमारतोंका स्मरण बहुत क्षीण हैं। गुरुकुलके पास ही कुछ जंगलसा था। इमारतें थोड़ी किन्तु साफ़ थीं। पीले कपड़े, मोजके साथ लकड़ीके चप्पलोंमें वहाँके ब्रह्मचारी ऋषियुगकी याद दिलाते थे। ईर्ष्या होती थी, कि मुझे ऐसी संस्थामें पढ़नेका मौक़ा क्यों नहीं मिला।

वृन्दावनमें हम प्रेममहाविद्यालयको भी देखने गये थे। उसके संस्थापकका नाम और वर्णन युद्धसे पहिले शायद 'सरस्वती'में मैं पढ़ चुका था। इधर लड़ाईके समय जिस तरह सर्वस्वत्यागपूर्वक वह इंग्लैडके शत्रुओंसे मिलकर भारतकी स्वतन्त्रताकी प्राप्तिका प्रयत्न कर रहे थे, इसकी भी खबरें हमें जब-तब मिलती थीं। उस वक़्त उनकी जायदाद हाल हीमें ज़ब्त हो चुकी थी। हम लोग सराहना करते थे, उनकी दूरदर्शिताकी—जायदादका बहुतसा भाग उन्होंने प्रेममहाविद्यालयको दे दिया था। वृन्दावनके एकाध मन्दिरोंमें भी गये। श्रीरंगके मन्दिरको देखकर तमिलप्रान्तके वैसे हजारों मन्दिर याद आने लगे। मथुरासे हम लोग गुज़रे थे ज़रूर, किन्तु वहाँ ठहरे न थे। इसी यात्रामें रेलमें साहित्याचार्य पंडित ब्रह्मदत्त शास्त्रीसे भेंट हुई थी, अभी वह एम्० ए० नहीं हुए थे, न आर्यसमाजमें आये थे। कुछ समय बाद जब पंडित अखिलानन्द आर्यसमाजसे अलग हो उसे और उसके संस्थापकको गालियाँ देने तथा अपने संस्कृत काव्यपाटवके अभिमानमें आर्यसमाजियोंको शास्त्रार्थके लिए चैलेंज देने लगे, उस समय उनसे मुक़ाबिला करनेके लिए पंडित ब्रह्मदत्त प्रकट हुए। उन्होंने संस्कृत भाषाके गद्य-पद्य किसीमें अखिलानन्दको शास्त्रार्थ करनेका चैलेंज दिया।

आगरामें रहते ही वक़्त कोमागातामारूके बहादुर सिक्खों और उनके नेता बाबा गुरुदत्तसिंहके ऊपर बजबज्में हुआ गोलीकांड घटित हुआ था। कोमागातामारूके सिक्खोंने साहसके साथ अंग्रेज़ोंका सामना किया था, इसे हम अपने अभिमानकी चीज समझते थे। उसके बाद एकके बाद एक पंजाबमें स्वतन्त्रताके लिए किये गये प्रयासों-की बातें, लाहौर षड्यन्त्रकी अदालती कार्रवाइयों—जिनकी कोई-कोई बातें अख-बारों और दूसरे ज़रियोंसे मिलती रहती थीं—से मालूम होती रहती थीं। राष्ट्रीय स्वातन्त्र्यका जोश अपने जैसे लाखों भारतीय नौजवानोंकी भाँति मेरे हृदयमें भी भरा हुआ था। भाई परमानन्दकी ज़ब्त 'इतिहास'पुस्तकको हम पढ़ चुके थे, जब कि लाहौर षड्यन्त्रकेशमें उन्हें फाँसी की सज़ा हुई। मेरी मानसिक अवस्था उस वक़्त ऐसी थी कि यदि उनके या उनके दूसरे साथियोंको छुड़ानेके लिए सशस्त्र चेष्टाके लिए प्राण देनेवाले स्वेच्छासेवकोंकी ज़रूरत पड़ती, तो मैं उनमें पहिले नाम लिखाता।

राष्ट्रीय स्वतन्त्रताके लिए मुझमें इतनी बेक़रारी थी, किन्तु उस वक़्त राष्ट्रीयताके बारेमें मेरी क्या धारणा थी ? राष्ट्रीयता और धर्मको मैं उस वक़्त अलग नहीं सम-झता था। धर्मसे मेरा मतलब आर्यसमाज और स्वामी दयानन्दके मान्य वैदिक धर्मसे था। बाक़ी धर्मों—ईसाई, इस्लाम, यहूदी, बौद्ध ही नहीं हिन्दूधर्मके अनेक सम्प्रदायोंको भी मैं झूठे धर्म तथा वेद और विज्ञानके प्रकाशमें शीघ्र ही लुप्त हो ज़ाने-वाले धर्म समझता था। तर्क और दलील द्वारा प्रतिद्वन्दीको अपने रास्तेपर लानेका मैं पक्षपाती था। किसी तरहका बलप्रयोग मैं मज़हबोंकी कमज़ोरी समझता था। इसीलिए, जब कभी मुझे किसी ईसाई या मुसल्मान धर्मप्रचारकसे मिलनेका मौक़ा मिलता, तो मैं उनसे बहुत प्रेमसे मिलता। बात करते वक़्त हमेशा दिमाग़को ठंडा रखनेका प्रयत्न करता। आगरामें भाई महेशप्रसादजीके परिचितोंमें वहाँके बप्टिष्ट मिशन स्कूलके हेडमास्टर श्री सामुयेल थे। उनके पिता ब्राह्मणसे ईसाई हो गये थे। उनकी माँ अब भी शायद अपने बच्चेको शामलाल कहा करती थीं। भाई साहेबके साथ कभी-कभी मैं भी सामुयेल साहेबके पास जाता। उनकी बूढ़ी माँ भाई साहेबसे जगन्नाथ-दर्शन करा लानेकी लालसा प्रकट करतीं। शुद्धिकी बातें उनके कानों तक भी पहुँची थीं; किन्तु अपनी उस आन्तरिक इच्छामें एकलौते पुत्रकी सहानुभूति तथा बहूका विरोध देखकर वह खीझती थीं। उनका ख्याल था, बहू न बाधा डालती तो हम फिर ब्राह्मण हो जाते। सामुयेल साहेब अपनी माँकी श्रद्धाका सम्मान करते, और उनसे बहुत प्रेम करते थे। उस वक़्त मेरे दिमाग़में यह नहीं समाता था, कि एक परिवारमें भी माँ-बेटे ईसाई और हिन्दू दो धर्म रख सकते हैं। आर्यसमाजको

में सार्वभौम धर्म समझता था, और विश्वास रखता था, कि अपनी सच्चाइयोंके कारण यह भी विज्ञानकी तरह एक दिन सारे संसारके समझदार और साधारण व्यक्तियोंका धर्म हो जावेगा। जात-पाँत, छूत-छातको उसमें बाधक देख, मैं उनके साथ ज़रा भी दया दिखलानेके लिए तैयार न था। मालूम नहीं, उस वक़्त किसी मुसल्मानके साथ मुझे खानेका मौक़ा मिला या नहीं, किन्तु आगरे हीमें बनारसके एक सर्वधर्म सहभोज-की बात अख़बारोंमें पढ़ी। इस भोजमें पंडित केशवदेव शास्त्री जैसे आर्यसमाजी नेता भी शरीक हुए थे। आर्यसमाजके कई समाचारपत्र इसके खिलाफ़ लिख रहे थे, लेकिन मैं उसका बड़ा समर्थक था। भगवती भाई दूसरी विचारधाराके पोषक थे, और उनका कहना था, कि बिना शुद्धिके किसी ग़ैर-आर्यके हाथका खाना अच्छा नहीं। मैं कहता--यदि यही बात है, तो किसी हिन्दू—ब्राह्मण, क्षत्रिय--के हाथका भी तब तक खाना नहीं खाना चाहिए, जब तक वह शुद्ध न हो ले।

उस समय मैं आर्यसमाजके गर्मदली विचारोंका समर्थक था, इसके सिवाय वेदके ईश्वरीय होनेमें किसीकी आपत्तिको मैं सहन करनेके लिए तैयार न था। वेदमें रेल, तार, विमानकी बातें मुझे सच्ची मालूम होती; यद्यपि अभी तक मैंने उनकी पूरी छानबीन न की थी। आर्यसमाजीको अपने लिए हिन्दू कहना, मैं शर्मकी बात समझता था। आर्य-धर्म हिन्दू-धर्मसे उतना ही दूर है, जितना ईसाई और इस्लाम-धर्म, यह मैं बराबर कहा करता। भारतपर आर्यधर्मका विशेष अधिकार है। उसकी उन्नति और स्वतन्त्रता आर्यधर्म और एक जातीयताकी स्थापनासे ही हो सकती है; इसके साथ मैं यह भी समझता था, कि आज यद्यपि सभी धर्मानुयायियोंका एक हो जाना असम्भव मालूम होता है, किन्तु आर्यधर्मकी सत्यताको रोका नहीं जा सकता। विज्ञानके साथ कुछ झूठे विज्ञान भी संसारमें खोटे सिक्कोंकी भाँति चल रहे हैं, ऐसे ही झूठे विज्ञानोंमें डार्विनके विकासवादको भी मैं समझता था। जब पंडित आत्मा-राम अमृतसरीकी विकासवादके खंडनपर लिखी पुस्तक मिली, तो मुझे बड़ी खुशी हुई। संसारके बनानेके लिए एक सृष्टिकर्ता, ईश्वरकी जरूरत है (जन्माद्यस्य यतः। वेदान्त सू० १।१), और वह ईश्वर मनुष्य निर्माणके साथ उसे अपना ज्ञान भी जरूर देगा, इस प्रकार ईश्वरीय ज्ञान सृष्टिके आरम्भ हीमें हो जाता है; डार्विनके विकासवादके अनुसार मनुष्योंका वन्दरोंसे जंगलियों तब सभ्य मनुष्यों तक मारे-मारे फिरते हुए ज्ञानका विकास करना, मेरे लिए ईश्वरकी सत्तापर भारी अघात था। इसीलिए वादविवाद होनेपर मैं कहा करता, और बहुत पीछे तक—'यदि इन्कार करना है, तो ईश्वरकी सत्तासे पहिले इन्कार करो। यदि ईश्वर है, तो उसने सृष्टिके

आरम्भ हीमें सूर्यकी भाँति एक ज्ञान-सूर्य भी दिया होगा, जिसमें उसकी सन्तानें भटकने न पायें। और वह ज्ञान-सूर्य संसारका सबसे प्राचीन ग्रन्थ वेद है।'

जाड़ोंके साथ मेरी पढ़ाई भी समाप्तिपर पहुँच रही थी। भाई रामगोपाल उपदेशक बनकर कर्नाल चले गये थे। विद्यालयके नये निकलनेवाले विद्यार्थियोंमें मुझसे विद्यालयवाले ज़्यादा आशा रखते थे। पढ़ाई-लिखाई, खाने-पीनेका निःशुल्क प्रबन्ध करके विद्यालयका अधिकार था, मुझसे कमसे कम कुछ वर्षोंके लिए सेवा लेनेका। पढ़ाईके बाद जब प्रबन्धकोंकी ओरसे कहा गया, कि अब आर्यसमाज और विद्यालयके लिए कुछ काम करो, तो मेरा उत्तर था--'आर्यसमाजका काम मैं करना चाहता हूँ, किन्तु आजकी टुटपुँजिया अवस्थामें मैं उसे ज़्यादा नहीं कर सकता। मुझे सफलतापूर्वक काम करनेके लिए अभी कुछ और पढ़नेकी ज़रूरत है।'

मेरे पत्रोंने यागेशके लिए फिर छूतकी बीमारी पैदा की, और वह मेरे आगरासे प्रस्थान करनेसे पहिले ही मुसाफ़िर विद्यालयमें दाखिल हो गये थे।

३

लाहौरकेलिए (१९१६ ई०)

आगरामें ही तै कर लिया था, आगे संस्कृत पढ़नेका, और लाहौरमें। सैरकी स्वाभाविक प्रवृत्ति अपने अस्तित्वको भुलाने देना नहीं चाहती थी, इसलिए सीधे लाहौर जानेकी जगह कुछ घूमते-घामते जाना था। भगवती भाईसे उनके गाँव कोटाका नाम सुना था। भाषा-तत्त्वसे अभी मेरा कोई परिचय न था, तो भी मैं लालायित रहता था, ऐसी जगहोंको देखने तथा वहाँके लोगोंसे बात करनेके लिए, जहाँकी साधारण जनता हिन्दी बोलती है। हम लोग पढ़कर हिन्दी बोलते थे, और उसमें वह सजीवता, वह लचक न थी, जो कि जन्मसे हिन्दी बोलनेवालोंकी भाषामें होती है। मुरादाबादके सारस्वत, खत्री व्यक्तियों और परिवारोंकी भाषामें मुझे खास विशेषता मालूम होती थी, लेकिन मुरादाबादकी साधारण नगर और ग्रामकी जनता हिन्दी नहीं बोलती, कोटा ऐसा गाँव था, जहाँके लोग वस्तुतः उस हिन्दीको बोलते थे, जिसके परिष्कृत रूपको हम किताबोंमें पढ़ते, तथा अपने व्यवहारमें लाते हैं। मुरादाबादके पाठकजीकी प्रारम्भिक संगतिसे मैंने अपनी भाषाकी त्रुटियोंको परखा था, उच्चारणमें

सेकंडके हज़ारवें हिस्से तथा उच्चारण स्थानके सूत भरके अन्तरसे भाषाकी स्वाभाविकता, कृत्रिमता, तथा वक्ताके वासस्थानका पता लग जाता है, यह मुझे कलकत्ताके पहिले दूसरे प्रवासों हीमें मालूम हो गया था। अपने प्रयत्नोंसे भाषाके उच्चारणमें कितनी सफलता मैंने प्राप्त की यह मुझे नहीं मालूम—आखिर अपने चेहरेकी तरह अपने स्वरको भी कोई देख नहीं सकता, जिस वक़्त मन उच्चारणके प्रयत्नमें व्यस्त रहता है, उस वक़्त श्रोतासे उसका सम्बन्ध नहीं रहता। दर्पणकी तरह कोई अपने उच्चारणका ठीक प्रतिविम्ब (प्रतिध्वनि) सामने रख सके, तब शायद असलियतको समझा जा सके। शब्दोंके प्रयोगमें भी मैं ध्यान रखता था, क्योंकि भिन्न-भिन्न जगहोंमें घूमनेसे मुझे मालूम था, एक जगहका कोई बहुप्रचलित शब्द भी दूसरी जगह अज्ञात हो सकता है। हमारे मुरारी भाई अक्सर ऐसी ग़ल्तियाँ कर बैठते थे, भगवती झट इसके लिए उनपर हम्ला कर बैठता, फिर इस ग्राम्य दोषको हटानेके लिए मैं संस्कृतके प्रतिशब्द ढूँढ़ निकालनेकी कोशिश करता। जो शब्द शुद्ध या अपभ्रंशरूपमें संस्कृतमें मौजूद हो, उसके प्रयोगपर कौन आक्षेप करनेकी हिम्मत कर सकता है ?

भाषा सुननेसे भी ज़्यादा कोटा जानेकी इच्छा भगवती भाईके घरको देखने, तथा फागुनके होलोंके खानेके लिए थी। खुर्जा रास्तेमें पड़ा था, और बुलन्दशहर भी, किन्तु दोनों जगहोंमें मेरे देखनेके लिए कोई ख़ास आकर्षण न था। दोपहरके पहिले कोटावाले स्टेशनपर उतरा। कोटा वहाँसे कुछ मीलपर था। रास्ता पगडंडीका था, और लोगोंसे पूछ-पूछकर जाना था। नहरोंके पानीसे सिंचे गेहूँके खेतोंमें बड़ी-बड़ी बालें लगी हुई थीं। चारों ओर हरियाली, और कहीं-कहीं पक गई मटरके पीले पौधोंका फ़र्श बिछा मालूम होता था। अन्न सर्वोपरि धन है, अन्नको देखकर जितना चित्त प्रसन्न और सन्तुष्ट होता है, उतना और किसी चीज़से नहीं, इसका ज्ञान फागुनमें पकी तथा पकनेको तैयार फ़सलको देखकर ही होता है। और होला ?—क्या दुनियामें इससे मधुर कोई खाद्य हो सकता है ? मटर, गेहूँ, जौ या चनेके हरे दानोंसमेत डंठलोंको सूखी पत्तियोंसे भून डालिये, फिर मिल जाये तो एक साथ पिसे नमक और हरी मिर्चके साथ, अथवा अकेले ही गर्मगर्म हाथसे मसलकर खाना शुरू कीजिये—यह नियामत है ! बहिश्तका मन्ना और देवताओंका अमृत भी इसका मुक़ाबिला नहीं कर सकते।

रास्ता खेतोंमेंसे था, शायद जहाँ चल रहा था, वहाँ मुसाफ़िरोंने ज़बर्दस्ती खेतके भीतरसे रास्ता बना लिया था। एक बार बन गये रास्ते—चाहे वह किसीकी वैयक्तिक सम्पत्तिपर ही क्यों न बना हो—पर जाना हर एक पान्थके लिए विहित है।

लम्बे गेहूँके पौधोंकी आड़से यकबयक एक युवती आ सामने खड़ी हो गई। उसने कड़खती हुई आवाज़में पूछा—

'किधे जायेगा ?'

स्त्रीकी आवाज़ इतनी कड़ी हो सकती है, इसका मुझे कभी अनुमान भी न हुआ था। मालूम होता है, शब्द नहीं एक साथ दस-दस लाठियाँ कानोंके पर्देपर पीटी जा रही हैं। पहिले सोचा, शायद मैं उसके खेतके भीतरसे जा रहा हूँ, इसलिए नाराज़ हो रही है। लेकिन इसमें मेरा क्या दोष ? रास्ता पहिलेसे बना हुआ है। रोकना था, तो काँटेसे रूँध क्यों नहीं दिया ? और अब फ़सलके कटनेके वक़्त रास्ता रोकनेसे ही कौनसे नये पौधे बालें लिये फूट निकलेंगे ?

'कोटा जा रहा हूँ।'—कहकर बड़ी नर्मीसे मैंने उस तरुणीको उत्तर दे दिया। उसका चेहरा उसके शब्दोंकी तरह कर्कश न था। अठारह वर्षकी अवस्थामें तो जानकारोंके कथनानुसार 'गर्दभी ह्यप्सरायते', किन्तु वहाँ तो सौन्दर्यकी काफ़ी मात्रा थी। लहँगा, ऊपर ओढ़नी, बदनमें चोली थी। ओढ़नी शिरपरसे होते पीठपर पड़ी थी—चोलीसे गोल-गोल स्तन फूट निकलना चाहते थे। उसके चेहरेपर नज़र रखे, उसके वाक्य तथा स्वरकी प्रतिध्वनिको अब भी सुनते तथा विचार करते मैंने कोटेका रास्ता पूछा। उस तरुणीकी आकृति, उसके चेहरेके इंगितको प्रकट करनेके लिए, बल्कि अनुभव करनेके लिए मुझे हालकी 'गाथा-सप्तशती'का ध्यान आने लगा। प्राकृत तो उतना नहीं जानता था, किन्तु संस्कृत-छायाके साथ मैंने उसे पढ़ा था। मुझे विश्वास था, कि वहाँ शायद इस मौक़ेकी कोई गाथा ज़रूर होगी, किन्तु इस सच्चाईको सिद्ध करनेका कभी मौक़ा नहीं मिला। स्वास्थ्यपूर्ण यौवनका साकार स्वरूप वह अहीर-युवती, सालोंके बीतनेपर भी अधिक आकर्षक बनती गई। यह स्थान कोटासे बहुत दूर न था।

भगवती भाई कोटामें नहीं थे, मालूम नहीं माणिक उस वक़्त कहाँ थे। भगवतीके पिता भी मेरे पिताकी भाँति दो भाई थे। मेरी तरह भगवतीकी माँ भी पहिले मर चुकी थीं, और मेरी तरह उनकी भी एक चाची थीं, जिनका बर्त्ताव भतीजोंके साथ अच्छा होता था। भगवती उम्रमें शायद मुझसे थोड़े बड़े थे—बड़े न भी हों, किन्तु मैं उनको बड़ा भाई बनाये हुए था, आखिर हर एक आदमी नफ़ेका ही काम करता है, भाभी पानेमें नफ़ा है, या अनुजबधू, जिसपर भूलसे नज़र पड़ जाना भी पाप है; और कहीं ग़ल्तीसे भी बदन छू गया, तो यमराज भी अपने यहाँ शरण न देंगे। भगवती भाई होते तो शायद भाभी साहिबाके दर्शन किसी तरह हो भी जाते—शायद ही

कहता हूँ; क्योंकि चौबीस बरस पहिले क्या, आज भी तरुण दम्पती बुज़ुर्गोंके सामने कितना स्वातन्त्र्य रखते हैं, यह हमें मालूम है। हाँ, भाभीके हाथकी रोटियाँ खाईं, बड़ी मीठी थीं। एक दिन मक्केकी रोटी बनी थी, मुझे गुमान भी नहीं हो सकता था, कि मक्केका आटा इतना बारीक और उसकी रोटी इतनी मीठी हो सकती है। भाभीकी वे रोटियाँ अब भी याद हैं, किन्तु पीछे यह जानकर अफ़सोस हुआ, कि घूँघटकी ओटसे चकलेपर चलनेवाले वे हाथ अब इस दुनियामें नहीं रहे।

होलीके दिन थे, रातको फाग गानेकी बहार थी। आर्यसमाजकी बीमारी गाँवोंमें पहुँच रही थी, और संयम-नियमके नामपर जनताके मनोरंजनके हर तरीक़ेपर कुठाराघात किया जा रहा था—फाग अश्लील है, इसे नहीं गाना चाहिए; नाचना असभ्यों और रंडियोंका काम है, उसके पास तक नहीं फटकना चाहिए। किसी समय गाँवोंकी अधिकांश जातियाँ—स्त्री-पुरुष दोनों—ऐसे मौक़ोंपर गाते-नाचते थे, किन्तु वे बातें अब विस्मृतिके गर्भमें विलीन होती जा रही थीं। तो भी कोटासे फागुनकी यह सारी बहार लुप्त नहीं हुई थी, मैंने क्या देखा इसकी स्मृति नहीं।

कोटामें आकर होले ख़ूब खाये। भगवती भाईके बालसंघातियोंके साथ खेतोंमें ही अधिक समय व्यतीत करता। मुझे नहीं ख्याल, कि क्या मैंने अपनी उपदेशकीका जौहर दिखलानेकी वहाँ ज़रा भी कोशिश की। होलीके एक या दो दिन बाद मैंने कोटा छोड़ा। पैदल सिकन्दराबाद गया, एक रात गुरुकुलमें ठहरा। शर्माजी (पंडित मुरारीलाल)का शायद देहान्त हो चुका था।

सिकन्दराबादसे सीधे दिल्ली गया। क़िला, क़ुतुब तथा कुछ दूसरे दर्शनीय स्थानोंको देखा, और रेलसे सीधे गुड़गाँवाको रवाना हुआ। वृन्दावन गुरुकुलके वार्षिकोत्सवमें सोहनाके एक सज्जन मिले थे, उन्होंने अपने यहाँके गर्म पानीके चश्मों तथा पहाड़ोंका वर्णन किया था, बस उसीके देखनेके लिए लाहौरके रेलपथको छोड़कर इधर-उधर बहक रहा था। गुड़गाँवासे सोहनाको पक्की सड़क गई है। सोहना पहुँचनेपर अब भी खेतोंमें हरे गेहूँ खड़े थे। जाड़ा था, गर्म चश्मेमें नहानेका मज़ा था। मालूम नहीं, वृन्दावनमें मिले सज्जनसे मुलाक़ात हुई या नहीं, किन्तु ज़्यादातर ठहरा एक ब्राह्मण पहलवानके यहाँ; जिनकी एक छोटीसी दूकान थी। वह दिल्ली-षड्यन्त्र केसके अभियुक्त गणेशीलाल 'खस्ता'के मामा थे, इसलिए मुझे ज़्यादा सन्निकट मालूम होते थे। उनके खानोंमें गाजरका अँचार और उसका रस मुझे अब भी स्मरण आता है। सोहना अच्छा क़स्बा है। इसके आसपासके इलाक़ेमें मेव लोग बसते हैं, जो प्रायः सबके सब मुसलमान हैं। क़स्बेके पासके पहाड़पर बादशाही वक़्तका एक

उजाड़ क़िला है, जिसके अनगढ़ पत्थरोंके बुर्ज और दीवारें अब भी खड़ी थीं। पहाड़ छोटे-छोटे हैं, और उनपर जहाँ-तहाँ बस्तियाँ हैं। एक दिन किसीके साथ मैं एक मेव मौलवीके यहाँ गया, आसपासमें एक अच्छे ईश्वरभक्तके तौरपर उनकी बहुत ख्याति थी। बल्कि वह उतने मौलवी न थे, जितने कि एक 'भजनानन्दी सूफ़ी।' हिन्दू भी उनका बड़ा आदर करते थे, और वह हिन्दुओंके पीने-खानेके लिए अलग बर्तन रखे हुए थे। इस्लाम और क़ुरानको पढ़कर मैं अभी नया-नया पहलवान बना था, और बहसका कोई मौक़ा निकाल लेनेकी ख्वाहिश रखता था, किन्तु उक्त वृद्ध इसके लिए तैयार न थे। उन्होंने शायद इसके लिए किसी दूसरे मौलवीका नाम बतलाया। मुझे बड़े सन्मानसे बैठाया, कितनी ही देर तक बातें करते रहे। बहस करनेकी साध तो मेरी नहीं पूरी हुई, किन्तु मैं अपने मेज़बानकी भद्रतासे बहुत प्रभावित हुआ। लौटते वक़्त शामको हम एक कूएँपर पहुँचे, जिसके पास एक धर्मशाला थी। सैकड़ों हाथकी गहराईमें पानीको नहीं देखा होता, तो मुझे विश्वास न होता कि एक कूएँके बनवानेमें हज़ारों रुपये लग सकते हैं।

सोहनासे फिर मैं पैदल ही गुड़गावाँको लौटा। रास्तेपर किसी शिक्षित-सज्जनका एक अच्छा ख़ासा बँगला या मकान था। उनसे बातचीत हो गई, उन्होंने आग्रह किया खाकर जानेका। आखिर दोपहरका खाना कहीं खाना ही था। वहीं पहिले-पहिल पंजाबी खाना खाया। खीर, फुलके, कोलियों (कटोरियों)में प्याज़के साथ घीमें तुड़की तरकारियाँ (भाजियाँ), और शायद दहीकी लस्सी भी। सज्जन पंजाबी न थे। गुड़गाँवा आदि अम्बाला कमिश्नरीके ज़िले भाषाके ख्यालसे युक्तप्रान्तके साथ संबंध रखते हैं, किन्तु पंजाबप्रान्तमें रहनेसे शिक्षितोंकी वेषभूषा तथा खान-पानपर पंजाबका असर पड़ा है।

दिल्ली होता थानेसर आया। रामगोपाल भाई यहीं उपप्रतिनिधि-सभाकी तरफ़से आर्यसमाजका प्रचार करते थे। उनसे भेंट करना, थानेसर-कुरुक्षेत्रको देखना, यहाँ आनेका ख़ास मतलब था। कुरुक्षेत्र गुरुकुलमें भी हो आया, उस वक़्त पंडित विष्णुदत्त उसके मुख्याधिष्ठाता थे। यद्यपि मुसाफ़िर विद्यालयके कर्णधारोंका कांगड़ी गुरुकुलसे झगड़ा हो गया था, और उनकी सहानुभूति महाविद्यालय ज्वालापुरके अनुकूल तथा गुरुकुलकांगड़ीके विरुद्ध थी; वहाँ गुरुकुलको बुद्धू पैदा करनेकी फ़ैक्टरी बतलाया जाता था; तो भी मेरी उसके साथ सहानुभूति थी। आखिर वेद और विज्ञानकी पूर्ण शिक्षाका कोई स्थान तो होना चाहिए?

रामगोपाल भाईके साथ शाहाबाद भी गया। लाला रामप्रसादका व्याख्यान

आगरामें सुन चुका था। महात्मा हंसराजकी क़ुर्बानीका जिस तरह चित्रण उन्होंने अपने उस व्याख्यानमें किया था, उसका मुझपर भारी प्रभाव पड़ा था। आजकल लालाजी घरपर ही थे। रामगोपालजीके साथ मैं भी उनके पास गया, किन्तु मेरे बारेमें उन्हें एक साधारण अर्धशिक्षित तरुणके सिवाय और क्या ख्याल हुआ होगा।

शाहाबादसे रामगोपाल भाईको थानेसर लौट जाना था, और मुझे जाना था लाहौर। मेरे रुपये खतम हो चुके थे, और लाहौर तकका टिकट कटाकर दो-चार रुपये दे देना, रामगोपाल भाईके लिए खुशीकी बात थी—हम लोगोंकी घनिष्ठता साधारण मित्रों जैसी नहीं थी। थानेसर आनेमें उन्होंने मेरी सम्मति ली थी। वह नौकरी करके परिवार चलाने यहाँ नहीं आये थे, बल्कि पत्नीको कुछ पढ़ा-लिखाकर मुक्त हो वैदिक मिश्नरीके गम्भीर कर्तव्यको पालन करनेकी अगली तैयारीके लिए आये थे।

आगरासे रवाना होते वक़्त 'मुसाफ़िर'के मैनेजर कुँअर बहादुरसिंहसे मैंने लाहौरके उनके दो परिचितोंके नाम पत्र लिखवा लिये थे। कुँअर बहादुरसिंह भी सैलानी तबियतके आदमी थे। सिन्धमें कितने ही समय तक रहे, फिर 'मुसाफ़िर'में चले आये। पिछले ही साल सुखलालके व्याख्यानोंसे उत्तेजित हो उनके ज़िले जालौन के कोंच क़स्बेमें मुसल्मानोंने उनपर हमला कर दिया था, जिसमें उनको बहुत चोट आई थी। उन्होंने एक चिट्ठी 'आर्यगज़ट'के सम्पादक महाशय खुशहालचन्द 'खुर्सन्द'के लिए दी थी, और दूसरी हालमें ही बुंदेलखंडकी एक राजपूत विधवासे शादी करनेवाले एक तरुण-पंजाबीके लिए, जो किसी दफ़्तरमें शार्टहैंड-राइटर और टाइपिस्ट थे। स्टेशनसे उतरकर पहिले अनारकली आर्यसमाजमें गया, शायद उसी दिन 'खुर्सन्द' साहेबसे मुलाक़ात हो गई, किन्तु पहिले चन्द दिनों मैं टाइपिस्ट महाशयके यहाँ मोरीदर्वाज़ेके भीतरके एक अँधेरे घरमें रहा। वहाँकी एक घटना याद है। घरकी मालकिन बुंदेलखंडी महिलाको पंजाबमें आये अभी पाँच-छै ही महीने हुए थे; किन्तु इतने हीमें, मालूम होता था, वह अपनी भाषाके कितने ही शब्दोंके प्रयोगको छोड़ चुकी थीं। उन्होंने कहा—'दो पैसेकी पकौड़ी लेते आवें, बताऊँकी।'

मैं वाक्यके अन्तिम अंशको सुननेकी प्रतीक्षा करने लगा। उन्होंने फिर कहा—

'हाँ, जाइए न, दो पैसेकी पकौड़ी लाइए दर्वाज़ेके बाहरसे, बताऊँकी।'

कहीं बेवक़ूफ़ न समझा जाने लगूँ, इसलिए मैंने और इन्तिज़ार करना पसन्द नहीं किया, और 'अच्छा' कह मैं वहाँसे चला गया। सोचा श्रीमतीकी फ़र्माइश पकौड़ीकी है, 'बताऊँकी' ऐसे ही दो बार मुँहसे निकल आया, वाक्य तो उतने हीसे पूरा हो

जाता है। मैंने प्याज़की पकौड़ियाँ ख़रीदीं, और लाकर उनके सामने रखा। उन्होंने आश्चर्यके साथ कहा—'यह क्या ? मैंने तो बताऊँकी पकौड़ियाँ मँगाई थीं।'

'बताऊँ क्या बला है ?'

'अरे बैंगन, बैंगन।'

मनमें कहा—'देशी बुढ़िया मराठी बोल' इसीको कहते हैं। लेकिन उनकी अपेक्षा मैं अपनेपर ज़्यादा गुस्सा हुआ। सन्देह था, तो संकोच छोड़कर पूछ क्यों नहीं लिया। मैंने अफ़सोस ज़ाहिर करते हुए कहा—

'माफ़ कीजिए, बताऊँका मतलब मुझे समझमें नहीं आया।'

'नहीं कोई बात नहीं, मुझसे ही ग़लती हुई।'

४

आर्यसमाजके गढ़ लाहौरमें (१९१६)

महाशय ख़ुशहालचन्द 'ख़ुर्सन्द'का उस वक़्तका तरुण-चेहरा मुझे याद है। वह सचमुच 'ख़ुर्सन्द' (प्रसन्न) थे। कभी मुहर्रमी सूरत तो उनकी मैंने देखी नहीं। हँसीकी मृदुरेखा तो चौबीसो घंटे मानो उनके ओठोंपर नाचती रहती थी। 'नमस्ते जी महाराज' कहनेका उनका ढंग, तथा 'ख़ुर्सन्द तो हैं ?' कहकर ख़ैरियत पूछना एक बिल्कुल खुलेदिल दोस्तकी अपनी निराली अदाका सबूत देते थे। उस वक़्त 'आर्यगज़ट'का आफ़िस आर्यसमाज-मन्दिरके हालकी बाईं कोठरीमें था, वहाँ 'ख़ुर्सन्द'-जी रहते थे। मैं भी जब तक वैदिक-आश्रममें भरती नहीं हो गया, तब तक आर्य-समाजमें ही ऊपरवाले कोठेपर रहता था। 'ख़ुर्सन्द'जी ही लाहौरमें मेरे प्रथम परिचित व्यक्ति बने। मैं बेयार-व-मददगार उस बड़े शहरमें आया था। इसमें शक नहीं, ऐसी यात्रायें मैं कई सालोंसे कर रहा था, इसलिए मेरे पास हिम्मत काफ़ी थी; किन्तु, 'ख़ुर्सन्द'जीने जिस तरह शुरू हीसे सहायता और प्रोत्साहन दिया, उससे लाहौर परदेश नहीं रह गया। 'पैसा अख़बार'के सामनेवाली पाँतीमें एक छोटासा वैष्णव-होटल था, जिसमें वह खाने जाया करते थे। वह मुझे ज़रा भी संकोचका अवसर दिये, दबोचकर वहीं खाना खिलाने ले गये। अपने घीके डब्बेकी चाभी दुहरी करके एक मेरे हवाले की—'हम लोग साथ न आ सकें, तो यह डब्बा है, घी निकालकर खाना

खा जाया कीजिये ।' स्मरण रखना चाहिए, उस वक़्तके 'खुर्सन्द' आजके 'रोज़ाना मिलाप'के स्वामी और सम्पादक नहीं थे, बल्कि उन्हें प्रादेशिक-प्रतिनिधि-सभाके 'आर्यगज़ट'से निर्वाह मात्रके लिए कुछ रुपये मिला करते थे ।

सप्ताहके भीतर ही मैं डी० ए० वी० कालेजके संस्कृत-विभागमें भरती हो गया । विशारद श्रेणीमें नाम लिखा गया । पंडित भक्तराम वेदतीर्थ, पंडित नृसिंह-देव शास्त्री हमारे अध्यापक थे । आर्यसमाज भवनमें मैं ज़्यादा दिनों तक नहीं रह सका, और थोड़ी ही देर बाद एक छात्रवृत्तिके साथ कालेजके छात्रावास 'वैदिक-आश्रम'-में दाखिल कर लिया गया । उसके आस ही पास डी० ए० वी० कालेजके होस्टलमें रसोइयोंको पढ़ानेका काम मिल गया । दोपहरको एक घंटा जाना पड़ता, और दस या बारह रुपये मिल जाते, जो खानेके ऊपरके खर्चके लिए ज़रूरतसे ज्यादा थे ।

आगरा छोड़ते वक़्त यह नहीं मालूम था, कि बलदेव चौबे भी वैराग्यके फंदेमें फँस लाहौर पहुँच गये हैं । हाँ, किन्तु उनका वैराग्य सिर्फ़ इसी बातका था, कि आत्मिक उन्नति—तत्त्वज्ञान—के लिए संस्कृत पढ़नेकी ज़रूरत है, अंग्रेज़ी बिल्कुल बनियापनकी विद्या है । वह अनारकलीमें वंशीधरके मन्दिरमें रहते, किसी छेत्रमें खाना खाते और लघुकौमुदी पढ़ते थे । मैंने आते ही उनके निर्णयपर चोट पहुँचानी शुरू की—'संस्कृत पढ़िये, अच्छा है, किन्तु मेट्रिकमें नाम भी लिखवा लीजिये ।' नये वर्षसे वह डी० ए० वी० हाई स्कूलके दसवें दर्जेमें दाखिल हो गये । वंशीधरके मन्दिरमें बल-देवजीके साथ एक दूसरे तरुण मिस्टर कनकदंडी वेंकट सोमयाजुलू भी रहते थे, हम लोग उन्हें मिस्टर कहा करते । वे भी हमारे लाहौरके घनिष्ट मित्रोंमें थे । उन दोनों मित्रोंके कारण अक्सर मैं वंशीधरके मन्दिरमें जाया करता । उस वक़्त मन्दिरके मालिकोंने उसे बिल्कुल व्यवसायका ज़रिया नहीं बनाया था । वंशीधर महाराजा रणजीतसिंहके पुरोहित-वंशी थे । मन्दिरके साथ सड़कपर कुछ दूकानें थीं, जिनका अच्छा किराया आता था । भीतरके दो-तीन कमरे, कोठरियाँ और बरांडे संस्कृत पाठशाला तथा विद्यार्थियोंके लिए थे । बलदेव और सोमयाजुलू एक बरांडेमें रहते, सामान रखनेके लिए शायद दीवारकी दो आलमारियाँ थीं । गर्मीके दिनोंमें साफ़ चिकने संगमर्मरके फ़र्शपर बैठने-लेटनेमें अच्छा लगता था । वहीं हम लोगोंका घंटों अपने भविष्य, देशके भविष्य और आर्यसमाजके कामपर बातें हुआ करतीं । इन बातोंमें एक चौथे दीवाने मोहनलालजी शामिल हो जाया करते थे । इन्हीं बातोंके सिलसिलेमें तै हुआ कि, बलदेवजी बहिन महादेवीको लाकर कानपुरमें किसी शिक्षण-संस्थामें दाखिल कर दें । यहीं पहिले-पहिल पंडित सन्तरामसे मुलाक़ात हुई, जिसने

आगे चिरस्थायी मित्रताका रूप धारण किया। पीछे भाई महेशप्रसादजी और रामगोपालजीके आ जानेपर तो वंशीधरका मन्दिर हम सभोंका सम्मिलन-मन्दिर हो गया।

मुसाफ़िर विद्यालयमें प्रवेश, भाई महेशप्रसादकी संगति और महायुद्धने मिलकर मेरे सामने एक विशाल जगत् रख दिया था। आगरामें रहते ही वक़्त कानपुरसे श्री गणेशशंकर विद्यार्थीने 'प्रताप' निकाला था, अथवा कमसे कम मेरा उससे परिचय उसी वक़्त हुआ। उसके बाद तो अक्सर मैं उसे पढ़ा करता था। यहाँ लाहौरसे उर्दूके कई दैनिकपत्र 'देश', 'बुलेटिन', 'पैसा अखबार' आदि तथा 'ट्रिब्यून' अंग्रेज़ी निकलते थे। मैं अब अखबारोंका आदी हो गया था। अच्छी तरह न समझने पर भी 'लीडर'पर जो सालभर आगरेमें भिड़ा रहा, उसका फल अब मिलने लगा था, और अंग्रेज़ी पत्रोंसे भी मुझे समाचारोंके जाननेका सुभीता था। अखबारोंको इत्मी-नानसे पढ़नेके लिए प्रायः रोज़ ही मैं 'गुरुदत्तभवन' पहुँचता। हिन्दी-उर्दूकी राज-नीतिक पुस्तकें शायद पढ़ चुका था, इसीलिए इस समय उनके पढ़नेमें समय नहीं जाता था, किन्तु साथ ही अब डी० ए० वी० कॉलेज और कॉलेज-आर्यसमाजके मनस्वी विद्वानों पंडित भगवद्दत्त और पंडित रामगोपाल शास्त्रीके सम्पर्कमें आनेका मौक़ा मिला। खासकर, पंडित भगवद्दत्तकी लगन और अन्वेषण-प्रेमने मेरे हृदयमें उसकी ओर एक प्रेरणा पैदा की, यद्यपि अन्वेषणके तरीक़े आदिके सम्बन्धमें उनसे सीखनेका मुझे मौक़ा नहीं मिला। पंडित ऋषिराम और प्रोफ़ेसर रामदेव एम० ए०, उस समय बी० ए०के विद्यार्थी थे, और वैदिकसाहित्य तथा आर्यसमाजके कामोंमें ख़ास दिलचस्पी रखते थे।

आचारियोंके अति-संकीर्ण तथा वैरागियोंके अपेक्षाकृत उदार तो भी संकीर्ण वायु-मंडलसे निकलकर आर्यसमाजमें आनेपर मुझे मानसिक विचार-स्वातंत्र्यका मूल्य मालूम होने लगा। मुसाफ़िर विद्यालयमें 'करोड़ों-वर्षों'से स्थापित आचार, धर्म-सम्बन्धी परम्परापर भी हम खुली तौरसे नुकताचीनी कर सकते थे। 'यस्तर्केणा-नुसंधत्ते स धर्मं वेद नेतरः'के महामंत्रको सुनकर मेरा रोआँ-रोआँ आर्यसमाज तथा स्वामी दयानन्दके प्रति कृतज्ञ था। अब भी सीधे वेदके पढ़ने और उसपर विचार करन-का मौक़ा नहीं मिला था; तो भी जो कुछ जानता या सुन चुका था, उसपर मुझे विश्वास था—आर्यसमाजके सिद्धान्त ध्रुवसत्य हैं। मैं निस्सन्दिग्ध रूपसे जानता था, कि मुझे अपना जीवन आर्यसमाजके प्रचारमें समर्पित करना है। एक दिन मैंने स्वामी दयानन्दके प्रति अपने उद्गारको प्रकट करते हुए कह दिया था—'मैं दयानन्दके

एक-एक वाक्यको वेदवाक्य मानता हूँ।' पंडित भगवद्दत्तने सहमत होते भी कहा—'इतनी जल्दी नहीं कीजिए। पहले पढ़कर देखिए तो।'

हमारे संस्कृत-विभागके विद्यार्थियोंमें पंडित ईशानन्द और पंडित तुलसीराम भी थे। तुलसीरामके अध्यवसायको मैं बहुत सराहनीय समझता था। किसी वक्त मज़दूरी करने वह पंजाबसे पूर्वी अफ्रीकाके केन्या प्रदेशमें पहुँचे थे। शायद मिस्त्रीका काम करते थे। वहीं आर्यसमाजके सम्पर्कमें आये। पढ़नेकी इच्छा बलवती हुई। काम छोड़कर लाहौर पहुँचे, और नीचेसे शुरू करके आज शास्त्रि-श्रेणीके अच्छे विद्यार्थियोंमें थे। ईशानन्दके पिता गुरुकुल विरालसीके प्रधान स्तम्भ थे। ईशानन्दजी पहिले वहीं पढ़े। काशीके व्याकरणाचार्यके एक खंड भी वह पास थे, और अब शास्त्री परीक्षा देनेवाले थे। मेरी अपनी विशारद श्रेणीमें रामप्रताप, देवदत्त-द्वय, यशपाल तथा पंडित भक्तरामके छोटे लड़के थे। रामप्रताप पढ़नेमें भी अच्छे, तथा उन मज़ाक़पसन्द-लड़कोंमें थे, जो अपनी हँसीको ओंठोंकी सीवनमें छिपा सकते थे। उनके मज़ाक़का निशाना करारा लगता था, किन्तु पुरदर्द चोट नहीं पहुँचाता था। पंडित भक्तरामजी बूढ़े आदमी थे। आँखोंसे उन्हें बहुत कम सूझता था, और पढ़नेके लिए पुस्तकको आँखके बिल्कुल पास ले जाना पड़ता था। संस्कृतके पंडित, उसपर बूढ़े, बातके फेरमें जल्दी पड़ जानेवाले वैसे ही होते हैं, किन्तु यहाँ जिस दिन हम लोगोंका पढ़नेका मन नहीं होता, तो रामप्रताप कोई बात चला देते, पंडितजी बहक जाते और दूसरी बातोंमें लग जाते। हमारा घंटा बस उसमें खतम हो जाता। कभी-कभी पंडितजीको हम लोगोंकी चालाकी मालूम हो जाती, फिर उनकी टिप्पणी शब्दोंमें नहीं बल्कि पतली छँटी मूँछोंके ऊपरी खिचाव और उससे भी ज़्यादा गालोंपर छलकती हँसीके रूपमें प्रकट होती थी। यशपाल उन विद्यार्थियोंमें थे, जो भूल-भटककर विद्या-कुंजमें चले आते हैं। उनमें प्रतिभाका अभाव नहीं था, किन्तु उनका मन पढ़नेमें बिल्कुल नहीं लगता था। वह एक रँगीली तबियतके ऐसे तरुण थे, जिनकी धारणा होती है, जीवनको बस हँसी-खुशीमें बिता देना चाहिए। ऐसे आदमियोंको अपनी एक तरफ़ा धारणापर ज़बर्दस्त थपेड़ा लगनेका डर रहता है, और उस अवस्थामें वे अपनी किश्तीका बैलंस ठीक नहीं कर पाते। यशपालको एक बार कोई ऐसी ठेस लगी, कि उसने अफ़ीम खाली थी, खैर, जान बच गई। कोई अनिष्ट होनेपर हम लोगोंको साधारण आघात नहीं लगता। यशपाल अपने सहपाठियोंमें हर-दिल-अज़ीज़ तरुण था, वह हमारे मज्लिसकी ज़ीनत था। उसके भाई श्री रामदासजी होशियारपुर, डी० ए० वी० हाई स्कूलके हेडमास्टर थे, और उनकी बड़ी इच्छा थी, कि

यशपाल अच्छा संस्कृत पढ़ जाये। यशपाल महीने भरके लिए मिले खर्चको हफ़्तेसे ज्यादा तक चलानेको पाप समझता था।

देवदत्त दो थे—गोरे, छोटे। गोरे देवदत्त पतले छरहरे बदनके थे, उनका रंग यदि पश्चिमी युरोपियनकी तरह नहीं तो पूर्वी युरोपियन जैसा था। वह महात्मा हंसराजके जन्मस्थान (वेजवाड़ा)के निवासी थे। पुरानी स्मृतियोंमें यह दोष है, कि पहिलेकी पड़ी मुहरपर नई मुहर पड़ जाने या फ़ोटो फ़िल्मके दुहरा एक्सपोज़रकी तरह उनका अंकन अस्पष्ट हो जाता है, जब उनपर कोई नया ठप्पा लगता है। देवदत्तसे कई वर्षों पीछे भी मुझे मिलनेका मौक़ा मिला, जब कि वह शास्त्री करके बी० ए०में पढ़ रहे थे, इसलिए उन आरम्भिक दिनोंकी बातोंकी स्मृति क्षीण हो गई। वह ऐसे तरुणोंमें थे, जो किसी मज्लिसमें प्रधान पात्रोंका पार्ट तो नहीं अदा करते, किन्तु जिनके बिना मज्लिस सफल भी नहीं हो सकती। छोटे देवदत्तके कानोंमें सोनेका कुंडल था। हमारी श्रेणीमें वह और रामप्रताप कुंडल-धारी थे। उनका 'न ऊधोसे लेना न माधोको देना था', तो भी सहपाठियोंकी मज्लिससे वहिष्कृत होने लायक़ नहीं थे। शिवलालजी भी हमारे एक सहपाठी तथा गुड़गाँव (हरियाना) ज़िलेके रहनेवाले थे। वैसे हमारे सहपाठियोंमें मेरे सिवा और भी ठेठ गाँवके पैदायशी विद्यार्थी रहे होंगे, किन्तु हम सभी शहरी हो गये थे; शिवलाल ही ऐसे व्यक्ति थे, जिसमें कच्चे नौतोड़ खेतोंकी गन्ध आती थी। वह दालको दाळ, कालाको काळा बोला करते।

अभी संस्कृत-विभागकी पढ़ाई डी० ए० वी० कॉलेज-हालके ऊपरी कोठेपर हुआ करती थी। हम लोग वैदिक-आश्रम जाते वक़्त या तो देवसमाजकी तरफ़से जाते, या सेक्रेटरियटके भीतरसे। वैदिक-आश्रमके फाटकसे कुछ क़दमपर ही अनारकलीकी क़ब्र थी। उसके इकहरे ईंट चूनेके गुम्बदको हम रोज़ देखते थे, और शायद यह भी सुना था, कि यहीं अपने समयकी एक अद्वितीय सुन्दरीका बलात् जीवनसे वंचित शरीर सो रहा है; उसका क़सूर यही था, कि अकबरका युवराज सलीम अपनी आँखोंसे उसे निकाल नहीं सकता था। तो भी अनारकलीकी समाधिने हमारे तरुण हृदयोंमें कोई आकर्षण नहीं पैदा किया। कारण सिर्फ़ रसज्ञतासे अनभिज्ञ होना ही नहीं हो सकता, बल्कि उस समाधिका सर्कारी दफ़्तरके एक अंगके रूपमें परिणत होना भी हो सकता है। इसी समाधिके पीछे दोपहरको सेक्रेटरियटके कितने ही छोटे-छोटे नौकर नमाज़ पढ़ने आया करते थे।

शार्टकटसे चलनेपर हम देवसमाजके दूर तक फैले घरोंसे होकर गुज़रते थे। शामके वक़्त उधरसे जानेपर कितनी ही बार देवगुरु भगवान् (श्री सत्यानन्द अग्नि-

होत्री)को हम ताँगेपर टहलनेके लिए जाते देखते. कभी-कभी उनके साथ उनकी पत्नी भी होतीं, दोनोंकी उम्रोंमें काफ़ी अन्तर था। देवसमाज-सम्बन्धी दो-चार पुस्तकें भी मैंने पढ़ी थीं, उनके साप्ताहिक 'जीवनतत्'को कभी-कभी देखनेका भी मौक़ा मिला था; किन्तु देवसमाज और देवगुरु मेरे लिए मुअम्मा ही बने रहे। सुनता था, देवसमाज ईश्वरको नहीं मानता, इल्हामको नहीं मानता, विज्ञानको मानता है, विकासवादको मानता है, योगको नहीं मानता, ध्यानको नहीं मानता, देवगुरुको विकासकी सर्वोच्च विभूति मानता है; आचार-सम्बन्धी भूलोंके लिए अपराध स्वीकार करनेपर ज़ोर देता है—इत्यादि। ये सब बातें मुझे परस्पर-विरोधी ही नहीं मालूम होती थीं, बल्कि बाज़ वक़्त मुझे मनुष्यकी बुद्धिपर तरस आने लगता था। मुझे वह कुछ व्यक्तियोंके मौजसे जीवन-निर्वाहकी खुली दूकान मालूम होती थी।

रविवारके दिन हम लोग जलपान करके अनारकली समाज पहुँचते, और हवनमें खासतौरसे हाथ बँटाते थे। हर सप्ताह किसी न किसी प्रोफ़ेसर, पंडित या प्रभावशाली वक्ताका व्याख्यान होता। महात्मा हंसराजके उपदेश जोशीले न होते थे, किन्तु उनके सीधे-सादे शब्दोंके पीछे पचीसों वर्षोंके अद्भुत त्याग और तपस्याकी जीवनी थी, जिसके कारण वे सीधे हमारे अन्तस्तलमें पहुँच जाते थे। प्रोफ़ेसर दीवानचन्द कभी-कभी पौर्वात्य पाश्चात्य दर्शनोंकी तुलना करते, जिनसे हमारी जानकारी बढ़ती। पंडित राजाराम शास्त्रीके व्याख्यानोंमें वेद और उपनिषद्के वाक्य बहुत होते, किन्तु उसका मेरे जैसोंपर कोई असर नहीं होता, जिन्हें मालूम था, कि उन्होंने वृद्धावस्थामें अल्पवयस्का कुमारी बालिकासे शादी की है। जात-पाँतके ख़िलाफ़ जो मनोभाव मुसाफ़िर विद्यालयमें मेरे हृदयमें पैदा हुआ, वह स्थायी हो गया था। पंडित राजारामके विचार इस विषयमें बहुत पिछड़े थे, यह मुझे मालूम था। पंडित भक्तरामजी तो कभी-कभी चिढ़ जाते, जब मैं जात-पाँतिका बुरी तरहसे खंडन करने लगता। वे कह उठते—'कुल-कलंक',—वह जानते थे मैं ब्राह्मणवंशका हूँ।

आरम्भिक दिनोंमें जिनके उपदेशोंकी मैं बहुत सराहना करता, उनमें स्वामी सत्यानन्दजी भी थे। आगरेमें एक बार वह मुसाफ़िर विद्यालयमें भी आये थे। लाहौर जानेपर एक दिन मैं उनसे मिलने 'अमृतधारा' गया था, राय ठाकुरदत्त धवन उनके पास बैठे थे। गुरुकुलपार्टी-आर्यसमाजके दो पक्षोंमें उस वक़्त ज़ोरका वैमनस्य चल रहा था, जिसमें अल्पमत पक्षके नेता राय ठाकुरदत्त थे। मुझे याद है, किसी प्रकरणमें उन्होंने कहा था—

'बदनाम अगर होंगे तो क्या नाम न होगा।'

स्वामीजीने पढ़ने-लिखनेके बारेमें पूछा, चलते वक़्त मेरे ना करनेपर भी उन्होंने कुछ रुपये देते हुए कहा--'विद्यार्थियोंको ज़रूरत रहती है।'

लाहौरकी गर्मी आगरेसे बढ़-चढ़कर ही थी, किन्तु अभी तक गर्मीमें ठंडे रहनेवाले मुल्कोंकी हवा मुझे नहीं लगी थी, इसलिए वह उतनी असह्य नहीं मालूम होती थी। प्यास लगती थी, किन्तु बर्फ़-बताशा डालकर बनी दहीकी लस्सी (ल्हस्सी) दुनियाका बेहतर पेय वहाँ मौजूद था, और उसके खरीदनेके लिए मेरे पास पैसे भी थे। गन्नेकी गडेरियाँ, नमक डाले छिले खीरे, फ़ाल्सा और जामुन गर्मीकी सख्तीको बहुत नरम कर देते थे। कितनी ही बार हम अपनी किताबोंको लेकर नहरोंसे सीराब हरे-भरे बाग़ोंमें चले जाते थे। सबेरेके वक़्त कितनी ही बार बर्गदके नीचे अपने अखाड़ेमें गामाको लड़ते देखा करते थे।

पंजाबके अधिकांश नर-नारियोंके लम्बे-चौड़े शरीरको देखकर मुझे बड़ी खुशी हुई। मेरे पिता और नानाके घरोंमें नाटे क़दके आदमियोंका अस्तित्व न था, शायद इसलिए भी यह पक्षपात दिलमें पैदा हुआ हो। पुरुषोंकी शिरके पट्टेदार बाल, और उसपर मेंहदी रंगी कटी-छटी दाढ़ी नई चीज़ होते भी आँखोंको खटकती न थी। किन्तु तरुण स्त्रियोंकी अमित घिरावेवाली ज़र्क़-बर्क़ सल्वार, ओढ़नी और शिरके पिछले भागकी नुकीली खोंपको मैं युक्तप्रान्तके भद्दे ओढ़नी-घाँघरेका विस्तार समझता था। खासकर, रस्सीकी तरह बट-बटकर बालोंका गूँथना तो मैं, बालिकाओंके लिए सासत समझता था। दूध लेकर आनेवाले लम्बी तहमद, बड़ी पगड़ी बाँधे चौड़ी छातीके गूजरोंसे भी बढ़कर मैं पुरुषों हीकी तरह चौड़ी बाँहके कुर्तों-तहमदोंको पहिने क़द्दावर गूजरिनोंको देखकर प्रसन्न होता और कहा करता--ऐसे ही स्त्री-पुरुषोंको हिन्दुस्तानमें बच्चे पैदा करनेका अधिकार होना चाहिए।

मईका महीना था, अभिलाष लाहौर आये। मुसाफ़िर-परिवारके भाइयोंको एक दूसरेसे मिलनेपर असाधारण प्रसन्नताके बहुतसे कारण थे। और फिर अभिलाषके पास उड़नेके पर मुझे साफ़ दीखते थे। मैं चाहता था कि वह खूब उड़े, हाँ, अपनी दिशामें; मेरी उड़नेकी एक खास दिशा थी, मैं नहीं चाहता था कि सभी उसी दिशामें उड़ें—साहसको मैं जीवनका सार समझता था। अभिलाषका कल-पुर्ज़ोंमें बहुत मन लगता था। मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई, जब उसने बतलाया कि मैं मोटर ड्राइवरी सीखने आया हूँ। मोटर ड्राइवरी कोई बड़ी विद्या न थी, किन्तु उसे मैं आगे बढ़नेकी सीढ़ी समझता था। उस वक़्त अभी मोटरें और मोटर-ड्राइवर वैसे कम भी थे।

जूनका, शायद, अन्त आ रहा था, जब कालेज गर्मीकी लम्बी छुट्टियोंके लिए बन्द होने लगा। छुट्टियोंमें लाहौरकी गर्मीमें सती होना मैंने पसन्द न किया। किसी साथीने काँगड़ा चलनेको कहा, किसीने पंजाबके किसी गाँवमें। ईशानन्दजीका प्रस्ताव हुआ, बिरालसी चलनेका। मुझको उनका प्रस्ताव सबसे अच्छा जँचा, वहाँ मैं आमोंका आनन्द ले सकता और पढ़ाईको भी जारी रख सकता था।

५

रास्तेकी भूलभुलैयाँ

ईशानन्द और मैं जब सहारनपुरमें उतरे, तो वहाँ एकाध फुहारे पड़ चुके थे, और सहारनपुरमें पके आम आ गये थे। सहारनपुरमें एकाध दिन ठहरनेकी बात याद नहीं, यह भी याद नहीं कि बिरालसी हम किस स्टेशनसे उतरकर गये। शायद थानाभवन क़स्बा हमारे रास्तेमें पड़ा था, पंडित भोजदत्त यहीं पैदा हुए थे। ईशानन्दजीके पिताका नाम याद नहीं। और ठाकुरोंसे उनकी एक विशेषता यह थी, कि उनकी आँखें बिल्कुल मंगोलों-जैसी थीं, वैसी ही जैसी कि ईशानन्दकी थी। लम्बे-चौड़े क़द्दावर जवान थे। वह ऊँचे तबक़ेके खेतिहर-ज़मींदार थे। काफ़ी खेती होती थी, गायों-भैंसोंका दूध इफ़रात था, बड़ी जातकी घोड़ी घरमें पोसी हुई थी, जिसके ऊपर रिसालेका नम्बर लगा हुआ था, और वह अच्छे डील-डौलके बछड़े पैदा करती थी। उनके पास एक अच्छा आमोंका बाग़ था—शायद अनार-नास्पातीका भी—किन्तु उस वक़्त मुझे आमोंसे वास्ता था। आमोंकी फ़सल तक हमारी पढ़ाई-लिखाई ताक़पर ही रखी रही। बाग़में चले जाते, पककर गिरे हुए फलोंके ढेरसे चुनकर कुछ दर्जन आम पानी भरी बाल्टीमें डाल दिये जाते, और मैं, ईशानन्द तथा एक-दो नये बने तरुण साथी भी चारों ओर घेरकर बैठ जाते, किसीको यह पर्वाह नहीं थी, कि घरमें हाथ जलाकर रोटियाँ भी पकाई जा रही हैं। ठाकुर साहेब जोर देते—आम खाकर दूध जरूर पीना चाहिए, फिर एक गिलास दूध किसी तरह गलेसे नीचे उतार लेता। रोटी खाना तो सिर्फ़ दिखानेके लिए था। ईशानन्दके घरमें मैं उनके परिवारके एक व्यक्तिकी भाँति था। उनके ही साथ चौकेमें खाने जाता। लड़कियोंका पायजामा पहनना देखकर, मैंने समझा, युक्तप्रान्तके हिन्दुओंमें भी यह प्रथा सिर्फ़ मुसलमानों तक ही

सीमित नहीं है। ईशानन्दके कुटुम्बियोंमें कुछ शिक्षा भी थी। ठाकुर रघुवीरसिंह (?) ग्रेजुएट थे और सर्कारी नौकरीकी तलाशमें थे। उनके छोटे भाई एफ़० एस्-सी० करके लखनऊमें डाक्टरी पढ़ रहे थे, इस प्रकार गाँवमें रहते भी शिक्षितोंकी संगतिसे वंचित होनेकी सम्भावना नहीं थी।

बिरालसी गुरुकुल, बिरालसी गाँवसे थोड़ा हटकर था। स्वामी दर्शनानन्दको बिना नींवकी संस्थायें खोल डालनेका मर्ज़ था। बिरालसी सिकन्दराबाद, ज्वालापुर, चोयाभक्ताँ (रावलपिंडी)के गुरुकुलोंको--'मूँड दिया माँग खाओ'के सूत्रानुसार वह खोलते गये। एक बार संस्था खुल जानेपर आसपासके लोगोंको लाज-शर्म होती है--शायद इस तत्त्वको वह जानते थे; इसी ख्यालसे बिरालसीका गुरुकुल भी लष्टम्-पष्टम् चल रहा था। विद्यार्थियोंकी संख्या चौदह-पंद्रह थी। एक अध्यापक थे, जो भाषा टीकाके सहारे अष्टाध्यायी पढ़ा दिया करते थे। एक रसोइया थे, जिन्हें रोज़ शामको फ़िक्र पड़ती, कि आज तो किसी तरह एक शाम सूखी-पाखी रोटी मिल गई, किन्तु कल क्या होगा। आमोंकी फ़सल ख़तम होने--या उनके आकर्षणके कम होने तथा पढ़नेपर ध्यान जानेसे मैं गुरुकुलमें चला गया। गुरुकुलके सीधे-सादे मकान उतने आदमियोंके रहने लायक़ काफ़ी थे। उसके पास इतने खेत थे, कि कूएँ के इन्तिज़ामके साथ यदि ठीकसे खेती की जाती, तो गुरुकुलको अनाजके लिए किसीके सामने हाथ पसारना न पड़ता। पासमें बहुतसा ग़ैर आबाद जंगल था, जिसमेंसे भी कुछ गुरुकुलके लिए मिल सकता था। दो-चार गायें थीं, किन्तु शायद 'दुग्धदोहा'। मैंने एक दिन गाय-बैलोंके बड़े झुंडको जंगलमें दौड़ते देखा, एक बार वह झुंड गुरुकुलके पास भी आया। 'जंगली गाय' सुनकर मेरी जिज्ञासा और बढ़ी, इसपर बतलाया---एक-दो गायें जंगलमें छूट गईं, उन्हींकी सन्तान बढ़कर इतनी हो गई हैं। वह बड़ी स्वस्थ, स्वच्छ, और दर्शनीय थीं।

धार्मिक बातोंमें 'विचार-स्वातन्त्र्य'के अभिमानके साथ आर्यसामाजिक संकीर्णता होते हुए भी सामाजिक सुधारोंमें मेरे विचार सुधारकी सीमासे बाहर जा रहे थे। मैं उन विचारोंको बड़ी निर्भीकतासे प्रकट करता था। धीरे-धीरे मेरे विचारोंका असर अध्यापक और क्लर्क--रसोइयाँ भी थे--पर भी पड़ने लगा। वह भी स्वतन्त्रतापूर्वक प्रश्नोत्तर करने लगे। मैं उनका आदर करता था, क्योंकि तन्ख्वाहका तो सवाल ही क्या वहाँ तो पेटके लाले पड़नेपर भी वह गुरुकुलमें डँटे हुए थे। वह भी मेरी बातोंमें कुछ विशेषता ज़रूर पाते होंगे, तभी तो इतने प्रभावित थे। बात करनेमें इतना ज़रूर मुझे ख्याल रहता कि वह दूसरेको चिढ़ाने, नीचा दिखानेके लिए न हो।

विचार परिवर्तनके लिए होती रोज़-रोज़की बैठकोंका परिशेष एक दिन अन्तस्तलकी घुंडीके खोलनेके रूपमें हुआ।

पंडितजीने कहा—क्या करें, समाज बहुत अक्षन्तव्य अपराधों महापापोंका कारण है। एक आदमी उसकी अपारशक्तिका सामना कैसे करे? मेरी तरुणी विधवा पुत्री है। मैं अपनेसे जानता हूँ, कि उस अवस्थामें उससे ब्रह्मचर्य पालन करनेकी आशा रखना ज़बर्दस्त आत्मवंचना है, किन्तु कुछ आर्यसामाजिक विचारोंको रखते भी बिरादरी तोड़नेकी मेरी हिम्मत नहीं, और पुत्रीका विधवा-विवाह नहीं कर सकता। नतीजा?—कुछ न पूछिये, पिछले चार-पाँच वर्षोंमें तीन-चार गर्भ गिराये जा चुके हैं। मेरी पुत्री है, कामवासना स्वाभाविक चीज़ है, उसके लिए उसे प्राण-दंड देनेकी हिम्मत पिता होनेके कारण, हृदय रखनेके कारण मुझमें नहीं है। सोचता हूँ, सर्व-शक्तिमान् समाज जब मुझे ऐसा करानेके लिए मजबूर करता है, तो न्यायकर्त्ता भग-वान् इस पापको भी उसीके खातेमें लिखेगा।

रसोइया-क्लर्क ब्राह्मणने अपनी बात शुरू की—हम तीन भाई हैं। हम लोग जवान थे, जब कि बूढ़े पिता एक छोटीसी कन्यासे ब्याह करनेपर उतारू हुए। लोगोंने मना किया, हमने भी मना किया, जिसका अर्थ पिताजीने हमारी मंशासे बिल्कुल उल्टा लगाया। आखिर किसीकी एक भी न मानकर उन्होंने उस अबोध बालिकासे ब्याह कर ही डाला। वह जवानीमें अभी अच्छी तरह पैर भी रखने न पाई थी, कि पिता परलोक सिधारे। मेरी सौतेली माँ जवानीका हिसाब काट देनेपर भी सुन्दरी है। कुछ वर्षों बाद मालूम हुआ, कि पड़ोसके आदमीसे उनकी घनिष्ठता हो गई है। यही नहीं डर लगने लगा, कि कहीं वह निकल न भागे। निकल भागनेपर समाज यह नहीं कहता, 'चलो सड़ते अंगको काट फेंका अच्छा हुआ', बल्कि वह हमारे परि-वारको हमेशाकेलिए लांछित करता—'इस घरकी औरत निकल गई है।' आपसे छिपानेकी ज़रूरत क्या? अन्तमें मैंने सोचा—इसकी एक ही दवा है, जिसके लिये सौतेली माँको भागकर कुलमें कलंक लगाना पड़ेगा, उस कामनाकी पूर्ति मैं ही क्यों न करूँ। दो गर्भ गिराये जा चुके हैं। बतलाइए, मैं क्या करूँ?

पंडितजीको तो मैंने सलाह दी थी, यदि अपने ज़िलेमें हिम्मत नहीं होती, तो दूरके किसी ज़िलेमें लड़कीका ब्याह कर आयें। दूसरे सज्जनकी समस्याका क्या हल मैंने पेश किया, यह मुझे याद नहीं।

गुरुकुलके पास जंगल था, और झूठ या साँच लोग कह रहे थे, कि इसमें कभी-कभी बघेरा आ जाता है। मुज़फ़्फ़रनगरके एक स्थानमें भेड़ियोंके प्रकोपसे गाँव

उजड़ जानेकी बात भी बतला रहे थे। कहते थे शाम होते ही उनका झुंड गाँवमें आ जाता। घरमें बन्द हो जानेपर किवाड़के चौखटोंको खोदकर वे भीतर घुस आते थे।

बरसातके महीने दिनपर दिन ख़तम होने लगे। अब हमें अपनी पढ़ाईका ख्याल आने लगा। ईशानन्दजीसे सलाह हुई, कि मुज़फ़्फ़रनगर चला जावे, और वहीं पंडित परमानन्द(?)से पढ़ा जाये।

मुज़फ़्फ़रनगरमें हम लोग आर्यसमाज-मन्दिरमें ठहरे। वह शहरसे बाहर किसी बाग़ जैसे स्थानमें था। शामको पंडितजीके यहाँ हम पढ़ने जाते। आर्यसमाज-मन्दिरमें एक और तरुण प्रज्ञाचक्षु रहते थे। वह पहिले ईसाई थे, हालमें शुद्ध करके उन्हें आर्य बनाया गया था। अजमेर और कहाँ-कहाँ रह आये थे। अन्धोंके लिए लिखी पुस्तकें पढ़ लेते थे।

मुज़फ़्फ़रनगरमें रहते कोई विशेष घटना नहीं घटी। गड्डी (गाड़ी), रोट्टी (रोटी), जाग्गी (जायेगी)से हम बिरालसीमें काफ़ी परिचित हो गये थे, यहाँके शिक्षित लोग ऐसे उच्चारणोंसे परहेज़ करते थे। तो भी मुझे यहाँके दीहातकी यह हिन्दी ज़्यादा सजीव मालूम होती थी।

मुज़फ़्फ़रनगरमें हम लाहौर लौटनेकी सोच रहे थे। पढ़ाई कैसे होगी, दोस्तोंसे कैसे मिलेंगे, अगले सालके लिए विशारदपरीक्षामें बैठनेके अतिरिक्त क्या प्रोग्राम है। इसी वक़्त भाई साहेबका पत्र आगरासे आया। उन्होंने तुरन्त आनेको लिखा था।

मैंने पुस्तक-पत्रा सँभाला, और सीधे आगराका रास्ता पकड़ा। शायद भाई साहेबने कामके बारेमें भी कुछ इशारा कर दिया था, यदि ऐसा था, तो मैंने ईशानन्द-जीसे अपने लाहौर आनेके बारेमें सन्देह भी प्रकट कर दिया होगा।

मेरे लाहौर पहुँचनेके बाद भाई साहेब भी लाहौर पहुँच गये थे। उन्होंने गवर्न-मेंट ओरियंटल कालेजमें अरबीकी मौलवी-आलम श्रेणीमें नाम लिखाया था। छुट्टियोंमें वह भी लाहौर छोड़, आगरा नामनेरमें ठहरे थे। भाई साहेबने प्रस्ताव रखा--अब समय आ गया है कि हम वैदिक मिश्नरी तैयार करनेके लिए कोई गम्भीर क़दम बढ़ायें। मुसाफ़िर विद्यालयसे वह काम होनेका नहीं। किन्तु हर एक काम रुपयेसे साध्य होता है, इसलिए चन्दा जमा करनेके लिए नहीं बल्कि उसकी सम्भावना-को देखनेके लिए तुम्हें युक्तप्रान्तके कुछ स्थानोंमें घूमना होगा। हमारी इस योजनामें मुसाफ़िर विद्यालयके संचालकोंके साथ कुछ असहकारकीसी गन्ध थी। विद्यालयके संचालनमें त्रुटियाँ रहते हुए भी वे लोग कितनी कठिनाईसे उसे चला रहे थे; रुपयों

और योग्य विद्यार्थियोंके मिलनेमें कितनी दिक़्क़त थी—इसका हमें अभी खुद तो अनुभव नहीं था, इसलिए हम उसकी क़द्र नहीं कर सकते थे। पढ़ाईको बीचसे छोड़ना मुझे तो पसन्द नहीं हो सकता था, किन्तु भाई साहेबकी बात कैसे टाली जाती।

आगरेसे यशवन्तनगर, इटावाके आर्यसमाजोंमें होते मैं कानपुर पहुँचा। वहाँसे फिर लखनऊ आर्यसमाजमें। हर जगह आर्यसमाजमें ठहरता, खास-खास आदमियोंसे बातचीत करता, कहीं-कहीं व्याख्यान भी देता। बातचीतमें वैदिकधर्म-प्रचारकी आवश्यकता और उसके लिए योग्य मिश्नरी तैयार करनेकी समस्या सामने रखता। लखनऊ आर्यसमाजमें उस वक़्त अजमेरके एक तरुण रामसहायजी ठहरे हुए थे। उनका गोरा, नाटा, पतला बदन भीतरकी तरफ़ ज़्यादा घुसी आँखें और ज़रा-ज़रासी निकल रही मूछें आयुको वास्तविकतासे कम बतलाती थीं। वह बड़े उत्साही नवयुवक मालूम हुए। संस्कृत पढ़नेके लिए निकले थे, किन्तु अभी तक कोई सन्तोषजनक तरीक़ेसे पढ़ानेवाला अध्यापक उन्हें नहीं मिला था। वहाँ किसीसे मुझे मालूम हुआ, कि यहाँ एक बौद्ध विहार है, जिसमें एक बौद्ध भिक्षु रहते हैं। बौद्ध भिक्षुओं जैसी धर्मप्रचारकी लगन को बहुत बार व्याख्यानोंमें मैं सुन चुका था। नालन्दा जैसे धर्मप्रचारक पैदा करनेके केन्द्र होने चाहिए, इस विचारका अंकुर बड़ी मज़बूतीके साथ हमारे हृदयोंमें उग चुका था, इसलिए जब बौद्धभिक्षुका रहना मालूम हुआ, तो एक दिन शामको मैं विहारमें पहुँचा। अँधेरा हो चुका था, बाहरी रोशनी काफ़ी नहीं थी या स्मृतिका ही दोष है, मंदिर और उस समयके स्वामी बोधानन्दके आकार-प्राकारका कुछ ख्याल नहीं। उनसे मुख्य तौरपर ईश्वर, वेद आदि विषयोंके अतिरिक्त बौद्ध साहित्य, त्रिपिटक आदिके बारेमें बातचीत हुई। ईश्वरका उन्होंने साफ़ शब्दोंमें निषेध नहीं किया। शायद वह पुरानी विचार-धारापर धीरे-धीरे प्रहार करनेके पक्षपाती थे। बौद्ध-साहित्यमें बँगलामें छपी बुद्धपुस्तकों तथा बंगीय बौद्धोंकी मासिक-पत्रिका "जगज्ज्योति"का पता दिया। पाली त्रिपिटकके पतेके बारेमें अनागरिक धर्मपालसे लिखा-पढ़ी करनेके लिए कहा। उस संक्षिप्त साक्षात्कारके वक़्त यह नहीं पता लगता था, कि मेरे जीवनके विकासमें इस साक्षात्कार द्वारा ज्ञात बातें खास पार्ट अदा करनेवाली हैं।

लखनऊसे मलीहाबाद, फिर बिलग्राम, जायस और संडीला गया। संडीलामें तहसीली स्कूलके हेडमास्टरके यहाँ ठहरा था। शामको नदी किनारे क़िलेकी ऊँची जगहपर बैठे रंगबिरंगे बादलोंमें ईश्वरीय-रचनाके चमत्कारको देखते हुए सन्ध्या करता था। संडीलासे हरदोई पहुँचा। आर्यसमाजमें २५-३० आदमियोंके सामने

व्याख्यान दिया। थमरावाँके रायसाहेब केदारनाथ मुसाफ़िर विद्यालयके प्रधान पृष्ठपोषकोंमें थे, इसलिए उनके यहाँ जाना ज़रूरी था। अभी वर्षा बिल्कुल समाप्त नहीं हुई थी। मैं पैदल ही थमरावाँ पहुँचा। बड़े आदमियोंके यहाँ आने-जानेके लिए विशेष संभ्रान्त वेष-रचना, तथा सवारी आदिकी ज़रूरत होती है, किन्तु वह मुझे उपहासास्पदसी बात जँचती थी, इसीलिए मैंने कभी भी अमीरोंको अपनी ओर खींचनेका न प्रयत्न किया और न उसमें सफलता प्राप्त की।

थमरावाँके रायसाहेब एक बड़े ज़मींदार तथा पुराने रईस थे। ग़रीबोंकी झोपड़ियोंके साथ-साथ वहाँ उनके पक्के महल थे, जिनमें दर्जनों नौकर-चाकर घूमते रहते थे। उनके अस्तबलमें कई अच्छी जातिके घोड़े बँधे थे। शायद हाथी और घोड़ागाड़ी भी थी।

मैं जिस बे-सरोसामानीसे गया था, उससे तो कहीं भी टिकाये जानेपर मुझे शिकायत करनेका हक़ न था; किन्तु रायसाहेबमें अपनी श्रेणीके दूसरे रईसोंसे कुछ विशेषता थी——विशेषता न होती तो आर्यसमाजकी ओर क्यों झुके होते। उन्होंने जब सुना कि मैं आगरेका 'आर्यमुसाफ़िर' हूँ, तो मेरे ठहरनेके लिए कोठेका वह कमरा खुलवा दिया, जिसमें किसी समय पंडित अखिलानन्द शर्मा रहकर उनके ज्येष्ठ पुत्रको संस्कृत पढ़ाया करते थे। कायस्थ रईस होकर संस्कृतकी ओर उनका ध्यान जाना बतलाता था उनकी धार्मिक अभिरुचिको। लड़का अच्छा पढ़ गया था, किन्तु मृत्युने उसे छीनकर बापके मंसूबेको पस्त कर दिया। रायसाहेबके चेहरेपर अब भी अपने ज्येष्ठ पुत्रकी मृत्युका शोकचिह्न मौजूद रहता था। मैं वहाँ दो-चार दिन रहा, अपने उद्देश्यपर बातचीत की। तत्काल कुछ माँगना था नहीं, इसलिए मेरी ज़बान स्वतंत्रता-पूर्वक अपना काम कर सकती थी। चन्दा माँगना हो या भीख, ऐसे समय मुझे रहीम के इस दोहेकी सत्यता साफ़ झलकती है—

'रहिमन वे नर मरि चुके जे कहुँ माँगन जाहिं।' एक दिन रायसाहेब और मैं कुर्सीपर बैठे थे, उनका छै-सात वर्षका लड़का——अब यही एक मात्र लड़का बच रहा था, इसलिए बहुत लाड़-प्यारसे पाला जा रहा था——आया। उसके काले वार्निशवाले जूतोंपर थोड़ीसी धूल लग गई थी। अभी रायसाहेबकी उधर नज़र भी न पड़ी थी, कि वहाँ उपस्थित एक ब्राह्मण-पुरोहितने झटसे अपनी चादरके कोनेसे जूतेको पोंछना शुरू किया। रायसाहेबने खड़े होकर उनके हाथको हटा दिया, और उनके इस कामसे असन्तोष प्रकट किया। कह नहीं सकता, मेरी उपस्थितिसे उनको संकोच हुआ, और इसीलिए उन्होंने पुरोहितजीके आचरणपर असन्तोष प्रकट किया, या वह स्वभावतः

इस बातको पसन्द नहीं करते थे। मेरी बातोंसे उनको यह तो मालूम होनेमें दिक़्क़त नहीं हुई होगी, कि यह ख़ुशामदकलासे बिल्कुल अनभिज्ञ व्यक्ति है। पुरोहितके इस आचरणने ब्राह्मणधर्मको मेरी नज़रमें और भी नीचे गिरा दिया।

थमरावाँसे चलते वक़्त रायसाहेबने सवारी देनेके लिए कहा। घोड़ेका ज़िक्र आनेपर मैंने बड़ी प्रसन्नतापूर्वक उसे पसन्द किया, किन्तु अन्तमें बड़े घोड़ोंमेंसे किसीको न पा जब एक टट्टुआनी आई, तो गाँवसे कुछ दूर तक मैं उसपर चढ़कर आया, फिर सईसको उसके साथ लौटा दिया। अच्छे घोड़ेपर चढ़नेके मेरे स्वाभाविक शौक़को इससे धक्का लगा; लेकिन रायसाहेब क्या जानते थे, कि मैं घुड़सवारीका इतना शौक़ीन हूँ।

लौटते वक़्त फिर लखनऊ आया। स्वामी बोधानन्दसे फिर भेंट हुई या नहीं—मालूम नहीं। लखनऊसे रायबरेली। वहाँ आर्यसमाजके मंत्री या सभापति कोई ब्राह्मण वकील थे, जिनके घर मैं ठहरा। व्याख्यानके लिए खास प्रबन्धकी ज़रूरत नहीं पड़ी। किसी दिनके उपलक्ष्यमें कोपरेटिव बंकके मकानमें हिन्दी भाषापर व्याख्यान होनेवाला था, जिसमें सनातनधर्मके एक प्रसिद्ध महोपदेशक वाणीभूषण पंडित नन्दकिशोरजी बोलनेवाले थे। वहीं मेरा व्याख्यानभी रख दिया गया। तैयार करके व्याख्यान देनेवालेको कुछ सुभीते भी रहते हैं, और कुछ मुश्किलें भी। रामगोपाल भाईको तैयार करके व्याख्यान देनेकी आदत थी। उनको कुछ व्याख्यान बिल्कुल कंठस्थ थे, जिन्हें वह बड़े जोशके साथ भाषणमंचपर हाथ पटकते हुए अदा करते थे। मैं व्याख्यानोंके लिए लिखे संकेत-नोटों तकको इस्तेमाल नहीं कर सकता था। सुभीता यह था, कि नयेसे नये विषयपर भी दस-बीस मिनट कुछ बोल सकता था। वाणी-भूषणजीने अपना तैयार भाषण सुनाया, जिसमें हिन्दी भाषा और साहित्यसे न सम्बन्ध रखनेवाली ही बातें अधिक थीं। वह देर तक बोलते भी रहे। मैं पन्द्रह-बीस मिनटसे ज़्यादा नहीं बोला, सिर्फ़ हिन्दी-भाषा-साहित्यपर बोला, और ऐसी बातें जिनमें संस्कृत-शास्त्रोंकी दुहाई कम और नई रोशनीकी पुट कुछ अधिक थी। शिक्षितोंको मेरा भाषण ज़्यादा पसन्द आया—यह मेरे मेज़बान वकील साहेबकी राय थी।

रायबरेलीसे अमेठी पहुँचा। नानाके मुँहसे अमेठीके दवनसिंह नामक बलिष्ट सिपाहीकी बातें कई बार सुन चुका था, किन्तु मैं वहाँ दवनसिंह या उनके परिवारकी खोज करने नहीं आया था। मुसाफ़िर विद्यालयके उद्देश्यके साथ बहुत सहानुभूति रखनेवाले अमेठीके द्वितीय राजकुमार रणवीरसिंहसे मुझे मिलना था। किसी क्लर्कके यहाँ उस दिन तो ठहर गया, शामको कुमार साहेबसे उनके महलके आँगनमें बातचीत

हुई, शायद उस दिन पुरानी चालकी कविताओंका पाठ भी हो रहा था। कुमार रणवीर विद्या, व्यायाम, और उदार विचारोंके प्रेमी थे। उनका शरीर स्वस्थ और हृष्ट-पुष्ट था, पूरे जवान हो जानेपर भी अभी उन्होंने शादी न की थी। पाँच मिनटमें अपना परिचय दे देनेकी कला मैं नहीं जानता, और वहाँ डटकर कुछ दिन मुसाहिबी करनेके लिए मैं गया नहीं था। कुमार रणवीर अपने आसपास सदा बने रहनेवाले ख़ुशामदियोंसे चिढ़ते थे, किन्तु उनका शिकार न होते हों, यह बात नहीं। वह मुझसे मेरे वेश-भूषाके अनुसार नहीं बल्कि एक प्रगतिशील तरुण समझकर मिले। नौकरोंसे किसी अतिथिशालामें ठहरानेके लिए कहा उसके पास कुत्ता घर था--यहाँ कितने ही भिन्न-भिन्न जातिके कुत्ते चारपाइयोंपर पड़े रहते थे। आर्यसमाजको मैंने गम्भीरतासे ग्रहण किया था, वैरागीपंथकी तरह उसे 'ग्रामं गच्छन् तृणान् स्पृशति'के हल्के हृदयसे नहीं स्वीकार किया था, इसीलिए यथाशक्ति आर्यसामाजिक विचारोंके अनुसार चलनेकी कोशिश करता था। मांसभक्षण और बलिदानको एक कट्टर आर्यसमाजीके तौरपर बुरा समझता था, और जब मालूम हुआ, कि देवीका बलिदान बन्द हो जानेपर भी बाघको बकरा मारकर खिलाया जाता है, तो मैंने इसकी शिकायत कुमार रणवीर से की। किन्तु मुश्किल यह थी, कि बाघ देवीकी तरह पत्थरका न था। कुमारके बड़े भाई बड़े सीधे-सादे, ढीले-ढाले आदमी थे, सौभाग्य बँटते वक़्त वह ज़रूर ब्रह्माके पास पहिले पहुँच गये थे, किन्तु समझ और शक्तिके वितरणके वक़्त अपने तीनों भाइयोंसे पिछड़ गये थे। कुमार रणवीरका अपने दो छोटे भाइयोंपर बड़ा प्रभाव था। शामको वह उनके साथ घुड़सवारीके लिए निकलते थे, उनके शरीरसे मध्यकालीन राजपूत-प्रभा झलकती थी।

अगली मंज़िल प्रतापगढ़ था। यहाँ एक तरुण विद्यार्थीके घर ठहरा। उनके पिता कचहरीमें कोई साधारण कर्मचारी थे। वहाँका आर्यसमाज भी अवधके अन्य आर्यसमाजोंकी भाँति कमज़ोर था, किन्तु कुछ नौजवानोंमें जोश था। उन्होंने सड़कके किनारे टाट बिछा दिया। शामके वक़्त कुछ लोग आ गये, और मैंने आर्यसमाजके किसी सिद्धान्तपर व्याख्यान दिया। रातको तरुणके घर खाना खाने गया, कायथ-भाई थे, आर्यसमाजके फेरमें पड़कर गोश्त छोड़ चुके थे, लेकिन वह दिलसे उतना जल्दी थोड़े ही छूट सकता है। खानेमें बेसनकी कोई तर्कारी इस तरहकी बनी थी, कि उसमें बिल्कुल मांसकासा स्वाद आता था। मुझे भारी भ्रम हो गया था, किन्तु आर्यसमाजी घरमें गोश्त नहीं बन सकता, इस ख़्यालसे मैंने अपने भ्रमको दबा दिया और संकोच-वश पूछा भी नहीं।

बनारसके लिए रवाना होते वक़्त मैंने यागेशके पास एक पत्र लिख दिया था। यागेश गर्मियोंमें पंडित भोजदत्तके साथ मसूरी या देहरादून गये थे; उनके देहान्तके बाद घर चले आये थे। उस वक़्त स्वामी वेदानन्द बनारसमें पढ़ते थे, साक्षात्कार नहीं हुआ था, किन्तु हम एक दूसरेसे परिचित थे। उनके ही यहाँ ठहरे। एक वक़्त भोजन गोपाल-मन्दिरसे मँगवा लेते—वहाँ सस्तेमें कई तरहके अच्छे भोजन मिल जाते थे। हाँ, इस बातमें पीछे आनेवाले हिन्दू-भोजनालयों तथा हिन्दू-होटलोंका गोपालमन्दिर पथ-प्रदर्शक था। श्रद्धालु भक्तजन तथा मन्दिरकी सम्पत्तिसे प्रतिदिन भोग लगनेके लिए चावल, आटा, घी, दूध, मिठाई, केसर, चन्दन हर चीज़की मात्रा वहाँ नियत है, और प्रतिदिनके भोगमें कई सौ रुपये लगते हैं। मन्दिरके हर एक कर्मचारीको वेतनके एक हिस्सेमें एक या अधिक पत्तलें भी मिलती थीं, जिसे बहुतसे छूत-छातके ख्यालसे या पैसे बनानेके ख्यालसे बेंच दिया करते। कनैलाके—रिश्तेमें मेरे दादा—रामाधीन पांडे गोपालमन्दिरमें परवाडजी थे, और बनारसमें पढ़ते वक़्त कभी-कभी उनके यहाँ मैं गया था। रामाधीनजी छूतछातके ख्यालसे अपनी पत्तलको नहीं खाते थे इतना मुझे मालूम था, किन्तु उस वक़्त मुझे यह नहीं पता था, कि ये पत्तलें बाक़ायदा बिकती हैं।

स्वामी वेदानन्द तीर्थ बहुत बातोंमें मुझसे समानधर्मता रखते थे। उनको भी मेरी ही तरह विद्याकी उग्र प्यास थी. वह भी वेदके उच्च तत्त्वज्ञानके विश्वासी, और वहाँ तक पहुँचनेके लिए प्रयत्नशील थे, और सारा समय संस्कृतके अध्ययनमें लगा रहे थे। उच्च योग्यता और काफ़ी तैयारीके साथ देशान्तरोंमें वैदिकधर्मके प्रचारके वह भी मेरी ही तरह प्रवल पक्षपाती थे। 'खूब निवहैगी जो मिल बैठेंगे दिवाने दो' वाली वात थी, इसलिए हमारे बीच चिरस्थायी मित्रता क्यों न स्थापित होती।

बनारस आर्यसमाजमें मेरा एक व्याख्यान भी हुआ। अभी मैं वहीं था कि श्यामलाल (मेरे छोटे भाई)को लिये यागेश आ धमके। श्यामलालको देखकर मैं यागेशपर कुछ नाराज़ हुआ, किन्तु उन्होंने कोई बहाना बना दिया। दोनोंने आग्रह किया, कि चन्द दिनोंके लिए कनैला ज़रूर चलें। मुझे मानना पड़ा। कनैला पहुँचनेपर कई बार प्रयत्न करके असफल होते हुए भी पिताजीने फिर नज़रबन्दीका हथियार इस्तेमाल किया। क्षणिक वैराग्य अब स्थायी आदर्शवादका रूप धारण कर रहा था, इससे वह ज्यादा शंकित हो गये थे। मुँहपर मैं 'नहीं रहूँगा'—दो टूक कहनेकी मुझमें हिम्मत न थी, क्योंकि उसमें गाँव भरके वड़े-बूढ़े जमा हो जाते और वे मेरी बेवक़ूफ़ीका मज़ाक़ उड़ाते हुए पिताकी आज्ञा मानना आदिका उपदेश झाड़ने लगते। मैंने थोड़े

दिनोंके लिए अपने भागनेके ख्यालको छिपा लिया और तै किया कि यदि अब एक बार मुक्ति मिली तो आज़मगढ़ ज़िलेमें आनेका नाम न लूँगा। जिगरसंडीमें श्री मर्याद दूबेके नामसे जो ज़मीदारी ख़रीदी गई थी, उसके वसूल-तहसीलमें मैंने भी हाथ बँटाना शुरू किया। सप्ताह बीतते-बीतते एक दिन मुझे अकेले जिगरसंडी जानेका मौक़ा मिला। अब कौन लौटकर कनैला जाता है। सीधे जखनिया या सादात स्टेशन जानेसे अब भी डरता था, इसलिए मैं वहाँसे बीरपुरमें पंडित मुखराम पांडेके यहाँ चला गया। वह व्याकरणतीर्थ, काव्यतीर्थ होकर अब घर हीपर रहते थे। बड़हल बाज़ारमें कह सुनकर संस्कृत पाठशाला खुलवानेका इन्तिज़ाम कर रहे थे, आज पाठशालारम्भका मुहूर्त था। पाठशालारम्भमें एक क्षणके लिए पुराने गुरुका फिरसे मैं विद्यार्थी बन गया। उपनिषद्की गुटका मेरे पास थी, उसीसे पाठ शुरू हुआ। मालूम नहीं, बड़हलसे लौटकर रातको मैं बीरपुरमें ठहरा, या वहाँसे सीधे दूलहपुर स्टेशन गया। ख़ैर, कैसे ही मैं फिर बनारस पहुँच गया।

बनारसमें ज़्यादा रहना ख़तरेसे खाली नहीं था, पिताजी किसी वक़्त वहाँ पहुँच सकते थे। स्वामी वेदानन्दजी मेरी रायसे सहमत थे। वह अभी हाल हीमें अहरौरा (मिर्ज़ापुर)से लौटकर आये थे, वहाँके कितने ही तरुण आर्यसमाजी उन्हें आकर कुछ दिन रहनेके लिए बहुत आग्रह कर रहे थे, उन्होंने मुझे वहाँ जानेके लिए कहा। रेलसे कोसों दूर विन्ध्याचलकी इस खोहमें पिताजी कहाँ आ पायेंगे—इसपर हम दोनोंको पूरा विश्वास था। किन्तु इस रहस्यको एक दूसरे गुजराती विद्यार्थी—जिनपर मुसाफ़िर विद्यालयका छात्र होनेसे हम विश्वास रख सकते थे—जानते थे। उन्होंने पिताजीको यह बात बतला दी। अहरौरामें पहुँचकर निश्चिन्त हो मैंने तरुणोंके सामने धर्मप्रचार शुरू कर दिया था, जब कि दो-तीन दिन बाद, एक शामको देखा, पिताजी विकराल कालकी तरह मेरे सामने खड़े हैं। ख़ैर, उन्होंने उसी वक़्त लोगोंके सामने निबटना नहीं चाहा, शायद वे मेरे इस निर्बल स्थानको नहीं समझते थे। अलगमें मुझसे मिले। मैंने कहा—अभी मैं यहाँ एक मास रहूँगा, आप कहीं रहें, और अभी मुझे दिक़् न करें। अपने प्रयत्नोंकी असफलतापर उनका विश्वास हो चला था, तो भी स्नेह उन्हें निश्चेष्ट नहीं रहने देता था। उन्होंने एक बार फिर हृदय खोलकर अपनी व्यथा सामने रखनेकी कोशिश की। भोजन-वस्त्रके सम्बन्धमें ग्रामीण जीवनको कुछ और सरस करनेका प्रस्ताव किया। मैंने बतलाया—मेरे लिए अब सबसे ज़्यादा आकर्षण ज्ञानकी ओरसे है, वह कनैला या बछवलमें नहीं मिल सकता। बातें थोड़ी ही हुईं, और मुझे ख़ुशी हुई, जब पिताजीने

एक साधुकी कुटियामें रहते दूर-दूरसे सिर्फ़ मेरे ऊपर निगरानी रखने तक ही अपने कामको सीमित रखा।

अहरौरामें जिनके घरमें मैं रहता था वह पहरी जातिके थे, मुझे इस जातिका नाम पहिले पहिल सुननेमें आया था, और इसे मैंने संस्कृतके प्रहरी शब्दसे निकला समझा। वह उत्साही आर्यसमाजी तरुण थे। किसी वक़्त उनका घर बहुत समृद्ध था। विन्ध्याचलके जंगलोंसे जमा की गई सूखी बेरों तथा तम्बाकूको ढेंकीमें कूटकर उनके यहाँ अच्छी क़िस्मकी तम्बाकू बनती थी; जब लाखका रोज़गार बढ़ा हुआ था, उससे भी काफ़ी आमदनी होती, और कई हज़ार रुपये सूदपर चलते थे। इस प्रकार एक वक़्त एक समृद्ध नागरिककी भाँति उनके घरवालोंका जीवन व्यतीत होता था। अब लाखका रोज़गार चौपट हो चुका था, लेन-देनका रुपया क़र्ज़ खानेवालोंके यहाँसे आता न था, इसलिए वह भी रास्ता बन्द, बाक़ी बचा था सिर्फ़ तम्बाकू। तम्बाकूके रोज़गारमें गुंजाइश रहते भी वह नये व्यापारिक तरीक़ोंसे वाक़िफ़ न थे, और न देसावरमें तम्बाकू भेजनेके लिए सम्बन्ध स्थापित करनेकी ओर ख़्याल रखते थे। कूट-काटकर पुराने ढंगसे पुरानी आवश्यकताके अनुसार तम्बाकू बनाकर रखा; अहरौरामें जितना बिक गया, बस उसीपर उनके परिवारका गुज़ारा था। वह अपने पिताके अकेले लड़के थे। घरमें माँ और स्त्रीके अतिरिक्त दो छोटे-छोटे बच्चे थे, जिनका ख़र्च तम्बाकूकी उस साधारण दैनिक आयसे भी चलाया जा सकता था; किन्तु उनके पिताके वक़्त हीसे कुछ सम्बन्धी परिवारोंका भी भरण-पोषण उन्हींके घरपर होता चला आता था; आज आमदनीके बड़े रास्तोंके बन्द हो जानेके बाद भी उस तरुणका हृदय हिम्मत नहीं रखता था कि अपने आश्रित सम्बन्धियोंको अलग करे। जीर्ण-शीर्ण कमज़ोर नौका, सवारियोंके बोझसे किसी नदीमें स्वयं डूबना चाहती हो। कुछ सवारियोंको हटा देनेसे नौका बचाई जा सकती है--यह जानते हुए भी जैसे मृदु-हृदय नौका-स्वामी नौकासे साथियोंको हटानेकी अपेक्षा उनके साथ डूब जाना पसन्द करता हो--ठीक यही मनोभाव उस तरुणका था। मेरी उनके साथ बड़ी सहानुभूति थी, और उनकी कठिनाइयोंको ख़्याल करके कभी-कभी मेरा चित्त उद्विग्न हो उठता था--उन्हींके घरमें ठहरा रहनेसे ऐसे मौक़े बहुत मिलते थे। बक़ाया पड़े रुपयोंको वसूल करनेके लिए अदालतमें नालिश करनेकी ज़रूरत थी। नालिश करना, कचहरीमें मुक़दमा लड़ना--गांधीयुगसे बहुत पहिले उस समय भी--उन्हें पसन्द न था; और पसन्द होनेपर भी इसके लिए बहुत रुपयोंकी आवश्यकता होती।

शामको व्याख्यानके तौरपर ही नहीं कुछ क्लासके तौरपर हमारी कार्रवाई होती थी। मेरे भाषणोंपर धार्मिकताके साथ-साथ राष्ट्रीयताका रंग भी चढ़ने लगा था। कई जगहकी खुफ़िया पुलीसने रिपोर्टें की थीं, जिनकी जाँच आगरामें हुई थी, जिसे भगवती भाईको एक पुलीस अफ़सरने मित्रतावश बतलाया था। महीने भर तक मेरी बातोंको सुनते रहनेपर भी अहरौराके तरुण यदि उकताये नहीं तो सामयिकता ही इसमें कारण थी।

खाना बराबर मैं अपने मेज़बान तरुणके यहाँ ही खाता, किन्तु एकाध बार तहसीली स्कूलके हेडमास्टर,—एक आर्यसमाजप्रेमी—किन्तु बिरादरीके डरके मारे काँपनेवाले—के यहाँ भी खाने गया। जिस कमरेमें मैं रहता, वह कोठेपर सफ़ेद चूनेसे पुता हवादार कमरा था, उसमें कई तस्वीरें और शीशे टँगे थे। तरुण उपन्यासोंके शौक़ीन थे। 'जासूस'की तो फ़ाइलकी फ़ाइल वहाँ मौजूद थी। यहीं श्री गोपालराम गहमरीकी लंकाकी यात्रापर एक किताब पढ़ी, जो मेरे लंका जानेसे पहिले भूलसी गई थी। चन्द्रकान्ता, चन्द्रकान्तासन्तति तथा इस तरहके और भी कितने ही तत्कालीन उपन्यास वहाँ मौजूद थे। मेरे पास पढ़नेके लिए गम्भीर पुस्तकें न थीं, काफ़ी समय और एकान्त मिला था, इसलिए उस सारी राशिका मैं एक बार पारायण कर गया। हिन्दी उपन्यासोंको तल्लीन हो पढ़नेका मेरे लिए वही आदिम और अन्तिम मौक़ा था।

अहरौरा विन्ध्याटवीके मुँहपर है। यहाँसे एक रास्ता सर्गुजा होते दक्षिणापथको गया है। पहाड़ और जंगल पास ही शुरू हो जाते हैं, जिनमें बाघ और चीते रहते हैं। सर्गुजा और दक्षिणी मिर्ज़ापुरसे अब भी सौदा लादे हुए सैकड़ों बैल आते थे। मुझे उस वक़्त परसामें सुनी शोभनायक (नयका) बंजारेकी गीतिमय कहानी याद आती। ऐतिहासिक समाजका मानसचित्र तैयार करना अब कुछ-कुछ मुझे आने लगा था। इस चित्रकी तैयारीमें अहरौराके दक्खिनसे आनेवाले ये लदनीके बैल सहायक हुए। जंगलोंमें आबनूस और खैरके हज़ारों दरख़्त थे। खैरकी लकड़ीके रससे कत्था तो तैयार किया जाता था, किन्तु आबनूसका वहाँ कोई काम न होता था। अहरौरामें लकड़ीके बने तथा लाहके रंगसे रंगे सिंदूरदान, खिलौने आदि बहुत बनते थे। यह ज़्यादातर साधारण गीली लकड़ीको खरादकर बनते थे, और सूखनेपर फट जाते थे। मैंने लकड़ीका एक कमंडलू बनवाया था, जो महीने भरके भीतर ही पानी छानने लायक़ हो गया।

दो-चार बार मैं पहाड़ोंमें कुछ भीतर तक पहुँचा, एक बार महाराजा बनारसकी

शिकारगाहमें गया था। पक्की दीवारोंके भीतर सुरक्षित बैठकर, खतरेकी ज़रा भी सम्भावनाके बिना शेरके शिकारमें क्या आनन्द आता होगा––यह मुझे समझमें नहीं आता था। इन शिकारगाहोंको देखकर मुझे जंगलके गोपालोंके गोष्ठ याद आते थे। एक बार हम अहरौराकी नहर जिस जलाशयको घेरकर निकाली गई है, उसे भी देखने गये थे।

धीरे-धीरे दिसम्बरका महीना बीत चला, जनवरीके साथ १९१७ सन् आनेवाला हुआ। अहरौरामें स्वामी वेदानन्दकी चिट्ठियाँ हर सप्ताह आती थीं, वह सभी संस्कृतमें होतीं। मेरा भी उत्तर संस्कृतमें जाता। मुझे उनके सुन्दर अक्षरोंको देखकर ईर्ष्या होती। दिसम्बरके अन्तमें साधुजी (भाई महेशप्रसाद)का एक पत्र मिला, जिसमें लिखा था कि महेशपुराके एक वैश्य आर्यसमाजी धर्मप्रचारक तैयार करनेके लिए एक विद्यालय स्थापित करनेके वास्ते कुछ हज़ार रुपये देना चाहते हैं, तुम जाकर वहाँ काम शुरू करो। मैं जिस विद्यालयका स्वप्न देखता था, वह महेशपुराके अल्प धनसे, और मेरे अपने अल्प ज्ञान-साधनसे स्थापित नहीं हो सकता था, किन्तु मैं जानता था कि नई दुनियाकी ओर मेरी आँख खोलनेवाले भाई साहेब ही थे, इसलिए उनके किसी निर्णयको मैं सहसा टालनेकी हिम्मत नहीं रखता था। मैं तैयार हो गया महेशपुरा जानेके लिए।

नये दोस्तोंमें सौगात बाँटनेके लिए मैंने जंगली बाँसकी दस-बारह लाठियाँ साथ ले ली थीं। मैंने अपने प्रस्थानको बिल्कुल गुप्त रखा था, क्योंकि मैं जानता था, कि यदि पिताजीको खबर लग गई, तो भारी विघ्न उपस्थित होगा। एक दिन मैं चुपचाप एक्केपर बैठ अहरौरा-रोड स्टेशनके लिए भाग चला। स्टेशनपर पहुँचनेके बाद मालूम हुआ कि गाड़ीके आनेमें अभी देर है। मेरा हृदय शंकासे काँपने लगा–– कहीं तब तक पिताजी न आ पहुँचे। दिल कहता था––यदि कहीं एक बार मैं यहाँसे निकल पाता, फिर तो किसकी मजाल थी ढूँढ़ निकालनेकी ? मैं कभी यागेशको दोष देता और कभी बनारसके गुजराती विद्यार्थी मित्रको।

जिसका डर था, आखिर वही बात हुई। अभी टिकट बँटने न पाया था, कि पिताजी प्लेटफ़ार्मपर पहुँच गये। वह हाँप रहे थे। उन्होंने ९, १० मीलकी यात्रा बिना साँस लिये दौड़ते या तेज़ीसे चलते तै की थी, नहीं तो इतनी जल्दी कैसे पहुँच सकते थे ? मुझे कभी गुमान भी न था, कि मेरे मेज़बानकी माँ पिताजीके लिए अवैतनिक खुफ़ियाका काम कर रही हैं। वह मुझे देखते ही फूट-फूटकर रोने तथा उलाहना देने लगे। प्लेटफ़ार्मपर लोग जमा हो गये। वह चिल्ला रहे थे––क्यों मुझे मार

रहे हो ? मुझे भी अपने साथ ले चलो आदि। उनकी बातोंमें पिछले सालकी अर्धविक्षिप्तताका भी हल्कासा असर था, नहीं तो रोने और चिल्लानेमें अपनी स्वाभाविक गम्भीरताका परित्याग कर वह उतने अधीर और कातर न बनते। मैंने एक बार हिम्मत बाँधकर कहा—-आखिर, कब तक आप मुझे इस प्रकार बाँधकर रखेंगे। किन्तु वहाँ सारी जनता मेरे खिलाफ़ थी; उसकी चलती तो पथराबकर मेरा काम वहीं तमाम कर देती। सब मुझे थू-थू करने लगे। मैंने महेशपुराकी ओरकी यात्रा स्थगित की, और दो टिकट लेकर बनारसकी ओर रवाना हुआ। ट्रेनमें और उससे भी ज़्यादा बनारस स्टेशनपर मैंने ठंडे दिलसे उन्हें समझाना शुरू किया—-मैं आपके भावोंको, आपकी बेक़रारीको समझता हूँ; किन्तु साथ ही मेरा जीवन भी किसी भविष्यकी लालसा रखता है, जिसकी जो अस्फुट झाँकी मुझे मिल रही है, उसके कारण ज़बर्दस्तसे ज़बर्दस्त ख़तरे, मृत्युके साक्षात्-दर्शन तक भी अब मुझको अपने पथसे विचलित नहीं कर सकते। मैं कनैलाके अयोग्य हूँ, मैं आपके कामका नहीं रहा। यदि ऐसा ही करना था, तो मुझे गाय-भैंसकी चरवाहीमें लगा दिये होते मेरी दुनिया कनैलाकी सीमासे परिसीमित हो जाती। अब ज़ोर देनेका भयंकर परिणाम होगा, आपको मेरे जीवनसे हाथ धोना होगा।

मैंने इन बातोंको धीरे-धीरे उन्हें बोलनेका मौक़ा देते हुए कहा। इसका उनके दिलपर असर हुआ। अन्तिम उत्तर जिस तरह उनके मुखसे यकायक निकला, उसकी मुझे आशा नहीं हो सकती थी। उन्होंने कहा—-अब मैं तुम्हारे रास्तेमें बाधक नहीं होऊँगा, किन्तु साथ ही मैं भी कनैला न जाकर यहीं बनारस ही में अपने जीवनको बिता दूँगा।

अपने वचनके पूर्वार्धको उन्होंने ठीकसे पालन किया। यही उनका अन्तिम दर्शन था।

मैंने प्रतिज्ञा की—-अबसे पचास वर्षकी उम्र खतम होने तक फिर आज़मगढ़ ज़िलेकी सीमाके भीतर भी क़दम न रखूँगा।

६

मिश्नरी तैयार करनेका एक प्रयास (१९१७ ई०)

बनारस-छावनी स्टेशनपर जिस वक़्त टिकट लेने गया, उस वक़्त छोटी लाइनके जँगलेपर टिकट लेनेवाले कुछ यात्रियोंको छपराकी बोली बोलते सुना। घरका पता पूछनेपर उन्होंने एकमा-मुइली बतलाया। मुझे परसा याद आ गया। किस तरह मैं वहाँ बड़े-बड़े अर्मानोंको लेकर गया था। किस तरह परसाके निवास और उसके सम्बन्धने भारतके हर स्थानमें मेरे लिए भोजन और आवासकी निश्चिन्तता पैदा की। किस तरह सब दोषोंके रहते भी महन्तजी मुझे बहुत मानते थे, मुझे पाकर अपने भविष्यके लिए निश्चिन्त हो गये थे। अभी भी मेरा साथी वरदराज—जो मेरे ही लिए वहाँ जाकर साधु बना—परसाके सम्बन्धको छोड़े नहीं होगा। इन विचारोंके आते ही थोड़ी देरके लिए अपने विचार सम्बन्धी ज़बर्दस्त परिवर्तनोंको मैं भूल गया, परसाकी ओरसे आती एक सुनहली रस्सी मेरे हृदयको बाँधतीसी मालूम हुई, धीरे-धीरे उसका खिंचाव साफ़ मालूम होने लगा। पैर बी० एन्-डब्ल्यु० आर०के जँगलेकी ओर बढ़ना चाहते थे, इसी वक़्त हवाका रुख फिर बदला—महन्ती मुझसे नहीं हो सकेगी, जीवनकी धाराको उल्टी बहानेकी मुझमें शक्ति नहीं है। मैं अपनी ज़ेबमें भाई साहेबके पत्रको अनुभव करने लगा। मेरी आँखोंके सामने मोटे-मोटे अक्षर नज़रसे आने लगे—महेशपुरा जाकर काम सँभालना है, भगवती भाई पिछली सारी गर्मियोंसे घूम-घूमकर वहाँ प्रचार कर रहे हैं।

मैंने महेशपुरा जानेके लिए कोंचका टिकट ख़रीदा।

कानपुर, काल्पी, उरई, एटाके स्टेशनों भरको ही देखते मैं कोंच स्टेशनपर उतरा। भाई साहेबकी चिट्ठीमें पंडित कृष्ण गोपालजीका पता दिया हुआ था। कुँअर बहादुरसिंहने महेशपुराके स्वामी ब्रह्मानन्दजीका पत्र-द्वारा भाई साहेबसे परिचय कराया था। एक तरफ़ इस तरहकी संस्थाको अस्तित्वमें लानेके लिए कुछ शिक्षित तरुण बेक़रार थे, दूसरी तरफ़ ऐसे कामके लिए कुछ रुपये मौजूद थे, फिर दोनोंका गठबन्धन हो जाना कोई मुश्किल बात नहीं थी। स्वामी ब्रह्मानन्दजी, और उनके पुत्र श्री पन्नालालजीने मेरे आनेकी खबर पंडित कृष्णगोपालको दे रखी थी, इसलिए कोंचमें ठहरनेके लिए इधर-उधर भटकनेकी ज़रूरत नहीं पड़ी।

कोंचसे महेशपुराके पास तक कच्ची सड़क गई है। मैं पैदल ही आदमीके ऊपर सामान लादे महेशपुराकी ओर चल पड़ा। जनवरी (१९१७ ई०)के महीनेमें ज्वार-बाजरेके फले हुए बड़े-बड़े पौधे खेतोंमें खड़े थे। नई फ़सल बोई जा चुकी थी। महेशपुराके पास पहुँचनेपर हाथों कटी ज़मीनकी स्वाभाविक ख़न्दक़ोंसे होकर उतरना चढ़ना पड़ा। मकानोंकी खपड़ैल चौड़ी थी, उनकी दीवारें कच्ची, तथा दर्वाज़े साफ़ लिपे-पुते थे। स्त्रियोंके पैरके चीन्हेदार कड़े, मोटी मज़बूत बँधी साड़ियाँ और ठोस शरीर देखकर मुझे बजरेके संस्कृत प्रतिशब्द वज्रान्नका अर्थ याद आ रहा था।

रामदीन पहाड़िया (स्वामी ब्रह्मानंदका गृहस्थाश्रमी नाम)के घरका पता लगाना, अपनी प्रसिद्धिके कारण शहरमें भी मुश्किल न होता, फिर यहाँ तो गाँव था। स्वामी ब्रह्मानन्दजी, उनके ज्येष्ठ पुत्र पन्नालाल, और शायद क़निष्ठ पुत्र श्यामलाल भी घर ही पर मिले। ज़नाना मकानसे फ़र्क़ एक साफ़-सुथरी हवेली थी, जिसका अगला भाग पक्का था। दर्वाज़ेपर भीतरसे बन्दूक़का निशाना लगानेके लिए सूराख बने हुए थे, जिन्हें मैंने रास्तेके भी कुछ घरोंमें देखा था, किन्तु यह नहीं सुन पाया था, कि अब भी इस इलाक़ेमें कभी-कभी सशस्त्र डाकू आ पहुँचते हैं, और उस वक़्त गृहपति पुलीसके ऊपर अपनी रक्षाका भार सौंपकर चुप नहीं रह सकता। महेशपुरा ग्वालियर रियासतकी बिल्कुल सीमापर था, गाँवसे थोड़ी दूर पच्छिम जिस नदीमें हम रोज़ नहाने जाया करते थे, उसका एक तट ग्वालियर रियासतमें था। जहाँ एक किनारेपर बन्दूक़ रखनेसे सालभरकी गोलघरकी हवाख़ोरी मुफ़्त धरी थी, वहाँ दूसरी ओर टोपीदार बन्दूक़ और लाठी एक श्रेणीमें समझी जाती थी। महेशपुरासे थोड़ी दूरपर नदी-गाँव था, जो दतिया रियासतमें था, और दक्षिणका एक गाँव था समथरकी रियासतमें।

हम लोगोंके राजनीतिक भी विचार थे। देशकी स्वतन्त्रताके लिए शस्त्रका प्रयोग करने तथा उसके लिए फाँसीके तख़्तेपर लटक जानेवाले वीरोंके हम प्रबल प्रशंसक थे, तो भी हमने किसी ऐसी मंशासे महेशपुराको पसन्द नहीं किया था। हमने जान-बूझकर महेशपुराके एक धनिक वैश्यको स्वार्थत्यागके लिए तैयार नहीं किया था। श्रीरामदीन पहाड़िया अपने पिताकी एकमात्र सन्तान, मामूली बही-खाता लिखना-पढ़ना जाननेवाले एक ग्रामीण महाजन थे। स्वामी दयानंदके सुधारों और धर्म-प्रचारकी गूँज युक्तप्रान्त और पंजाबके बहुतसे हिस्सोंमें पहुँची थी। विचारोंके पर बहुत तेज़ होते हैं, और किसी तरह वह महेशपुराके तरुण वैश्य रामदीनके पास भी पहुँचे। उनके पास बापका कमाया कुछ धन था। कुछ कपड़ेका रोज़गार था,

और कुछ गिरवीं रखने तथा सूदपर रुपया देनेका कारबार होता था। वे आर्यसमाज-की किताबोंको पढ़ने लगे, उसकी ओरसे एकाध जहाँ-तहाँ निकलनेवाले अखबारोंको मँगाने लगे। आर्यसमाजमें उन्हें रोशनी दिखलाई देने लगी। मूर्तिपूजा, श्राद्ध, पुराणोंकी गप्पोंसे उनकी श्रद्धा उठ गई। किन्तु सिर्फ़ अभावात्मक कर्म-धर्मपर वह सन्तोष करनेवाले न थे। उन्होंने बाक़ायदा सन्ध्या शुरू की, हवन भी उसमें शामिल किया; फिर अपनी पत्नीको अक्षर-परिचय करा अपनी यथार्थ सहधर्मिणी बनाया। यही नहीं लोकाचारकी पर्वाह न कर स्त्रीको भी जनेऊ पहनवाया। इन बाह्य आचारों-को आर्यसमाज प्रधानता नहीं देता था, उसका ज़ोर मानसिक आचारोंपर भी था। झूठ बोलनेसे बढ़कर पाप नहीं, सचसे बढ़कर धर्म नहीं——इसे वह बहुत पढ़ चुके थे। उन्होंने उसकी पाबन्दीका निश्चय किया। व्यापारीके लिए यह बड़ी मुश्किल बात थी, किन्तु रामदीनजी अटल रहे। गाहक कपड़ेका दाम पूछते। जवाब मिलता——'ग्यारह पैसा गज़।'

'कुछ कम कीजिये भैयाजी!'

'एक दाम।'

'अरे ऐसी क्या ?'

'नहीं एक दाम बोलते हैं।'

शुरूमें कुछ कठिनाई तो हुई किन्तु पीछे लोगोंने देखा, कि रामदीनकी दूकानमें चीज़ें कोंचकेभावसे भी सस्ती मिलती हैं, और मोलतोलमें ठगे जानेका डर नहीं। परिणाम यह हुआ, कि महेशपुराकी दूकान खूब चल निकली। सूद और व्यापार-का नफ़ा पापकी कमाई है, यह तो रामदीनजीको मालूम नहीं था, इसलिए उनकी श्री-वृद्धि धर्मकी कमाईसे ही हुई कहना चाहिये।

रामदीनजीके दो लड़के, तीन या चार लड़कियाँ हुईं। लड़कियोंकी शिक्षाके बारेमें आर्यसमाज ज़ोर तो देता था, लेकिन महेशपुरा जैसे गाँवमें इसका इन्तिज़ाम करना मुश्किल था। पुत्रोंकी शिक्षा—विशेषकर संस्कृत शिक्षा——की ओर उनका ध्यान गया। उन्होंने फर्रुखाबादके एक पंडितको अपने यहाँ बुलाकर रखा। गाँवसे बाहर अपने बाग़में आश्रम बनवा वहीं लड़कोंकी पढ़ाई शुरू कराई। बड़े लड़के श्री पन्नालालकी संस्कृतमें अच्छी गति हुई, और यदि पढ़ाई कुछ दिन और वैसे ही चलती, तो वह अपनी प्रतिभा और अध्यवसायसे अच्छे पंडित होते। छोटेने पढ़ाई पीछे शुरू की, और उसमें बड़े भाई जैसी प्रतिभा भी नहीं थी।

लड़कोंकी पढ़ाई समाप्त करा उन्हें ब्याहा जा चुका था, एकको छोड़ बाक़ी कन्याओं-

का भी ब्याह हो गया था। घरका काम-काज लड़कोंने सँभाल लिया था, तब रामदीन पहाड़ियाको ख्याल आया,--'गृह कारज नाना जंजाला'को छोड़कर सन्यास ग्रहण किया जाये, और उन्होंने सन्यासी हो स्वामी ब्रह्मानन्द नाम धारण किया। स्वामी ब्रह्मानन्दको घरसे बाहर घूमनेका मौक़ा नहीं मिला था। किसीके सामने उन्होंने हाथ पसारा नहीं था, इसलिए सन्यासी होनेपर भी वह भोजन-वस्त्रके लिए अपने परिवारके ही परतन्त्र रहना चाहते थे। उनकी ही प्रेरणासे लड़कोंने चार हज़ार रुपये विद्यालयके लिए देने स्वीकार किये थे--रुपये एक मुश्त न दे उसके सूदके तौरपर प्रति मास चालीस-पैंतालीस रुपया देना तै हुआ था।

इतने रुपयेसे विद्यालयका काम नहीं चल सकता, इसलिए महेशपुरा पहुँचने पर मेरी और स्वामी ब्रह्मानन्दजीकी सलाह हुई, कि विद्यालयके लिए एक-डेढ़ महीने घूम-कर चन्देका वचन लिया जावे। अयोध्याके तजर्बेके अनुसार मैं समझता था, काफ़ी पैसोंका वचन मिल जाने ही पर हमें विद्यालय खोलनेका साहस करना चाहिए।

महेशपुरासे रावसाहेबके बंगरा, जालौन, आदि घूमते हम पैदल ही महेशपुरा लौट आये। स्वामी ब्रह्मानन्दजी अपनी धार्मिक प्रवृत्तिके लिए काफ़ी ख्याति प्राप्त कर चुके थे, जगह-जगह उनके जान-पहिचानके लोग भी थे, इसलिए चन्देका वचन हर जगह हमें आसानीसे मिलता गया। हम दिनमें तीन या चार गाँवमें जाते। विद्यालय किस तरह धर्म, विद्याप्रसार, और देशोन्नतिके लिए प्रयत्नशील होगा, इसे हम समझाते, इसके बाद चन्दा लिखवानेके लिए अपील करते। लोग नक़द या अनाज-की तौलमें चन्दा लिखाते। स्वामीजी अपनी बुंदेलखंडी भाषामें बोलते, और भाषण प्रभावशाली रहता। चन्देकी सूचीपर जिस तरह गाँवके पीछे गाँव, और नामके पीछे नाम दर्ज होते जा रहे थे, उन्हें देखकर हमें बड़ी प्रसन्नता हुई--कमसे कम खाने-कपड़ेके लिए तो हम अब निश्चिन्त रहेंगे।

मेरे आनेसे पहिले भगवती भाई यहाँ पहुँचे थे, और उन्होंने ज़िले तथा ग्वालियर रियासतके बहुतसे गाँवोंमें घूमकर खूब प्रचार किया था। मेरी तरह वह परिवारके बोझसे मुक्त न थे, इसलिए अब वह रह नहीं सकते थे, और विद्यार्थियोंके साथ एक और अध्यापककी भी ज़रूरत थी। पत्रोंमें विज्ञापन देनेपर पानीपतके मुकुन्दलाल, अजमेरके रामसहाय, मथुराके यशवन्त, एक सन्यासी, तथा पुराने परिचितोंमें महादेव-प्रसादजी, यागेश, माणिक महेशपुरा पहुँच गये। गर्मियोंसे पहिले ही महेशपुरामें वैदिक-विद्यालय आरम्भ हो गया। पढ़ाई बैठकमें होती, और भोजन बनाने-खानेका इन्तिज़ाम था श्री पन्नालालजीकी गोशालामें। किसीको वेतन देना नहीं था, सिर्फ़

वर्मी लिपियाँ सीखना आसान हो गया। वहाँ पढ़ानेवाला तो कोई था नहीं, किन्तु फ़ुर्सतके वक़्त मैं स्वयं कुछ पत्रोंको पढ़ता।

बरसात (१९१७)के अन्त होते-होते यह पता लग गया, कि यदि विद्यालयको चलाना है, तो उसे गाँवसे हटाकर रेलके किनारे किसी बड़े स्थानपर ले जाना चाहिए। मैं अभी तक इस बातपर ज़ोर नहीं देता था, क्योंकि इससे पन्नालालजी आदिको कष्ट होता। लेकिन धीरे-धीरे यह बात उन्हें भी स्पष्ट होने लगी, खासकर स्वामी ब्रह्मानन्दजीको। एक बार शायद भगवतीप्रसाद या किसी औरके साथ वह काल्पी गये, वहाँसे लौटनेपर उन्होंने कहा--विद्यालयके लिए उपयुक्त स्थान, बस, काल्पी ही है।

बरसातके बाद बँचे-खुँचे अनाजको हमने गदहोंपर लादा, और कोंचके लिए रवाना हुए। महेशपुरावालोंको और हमें भी एक दूसरेसे अलग होनेका रंज हुआ, किन्तु यदि वियोग न हो तो नये स्नेहसूत्र भी तो पैदा नहीं हो सकते।

रेलसे हम काल्पी पहुँचे। हमारे साथी पहिले ही आकर वहाँकी ठाकुरानीकी एक लम्बी-चौड़ी हवेली--नीचे-ऊपरके मकान तथा अलग बैठकेके साथ किराया कर लिया था। मकान काफ़ी हवादार, पक्का, साफ़-सुथरा था। हम लोग रोज़ सबेरे यमुनाजी स्नान करने जाते, शामको दो-ढाई मील टहलते--कभी रेलकी सड़कके साथ पुल पार तक, कभी काल्पीके वीरानेकी ओर। काल्पीमें एक पुराना आर्यसमाज था, जिसका अपना मन्दिर था, और उसके कुछ उत्साही सदस्य थे। पंडित शिवचरणलाल 'आर्यपुरोहित' बहुत पुराने आर्यसमाजी थे, और हम लोगोंकी तरह सामाजिक सुधारमें उग्रतावादी न होते हुए भी आर्यसमाजके प्रबल पक्षपाती थे। वह सारस्वत ब्राह्मण थे, इसलिए खत्री यजमानोंके बिना काल्पीमें उनका आना हो ही नहीं सकता था।

काल्पी आनेके पहिले महेशपुरामें जमा हुई जमाअतमेंसे भगवती भाई अब घर जा रहे थे। यागेश अपने साथ मेरे सबसे छोटे भाई श्रीनाथको भी लेते आये थे। मैंने सोचा था, अभी उसकी पढ़नेकी उम्र है, इसलिए कुछ पढ़ जाये तो अच्छा; किन्तु उसका मन पढ़ाईमें लग नहीं रहा था; दूसरे मैं विद्यालयपर उन्हीं लोगोंका भार देनेके लिए तैयार था, जो मिश्नरी कामके लिए तैयार होनेवाले थे; श्रीनाथकी सिर्फ़ इतनी ही योग्यता थी, कि वह मेरा भाई था। उसे भगवती भाईके साथ सिकन्दराबाद भेजते हुए मैंने रास्तेके खर्चके लिए उसके हाथके चाँदीके कड़े बेंचवा दिये, जिसपर मेरे कुछ साथियोंने टिप्पणी भी की--'छोटे लड़केके हाथका ज़ेवर नहीं बेंचवाना चाहिए था।' किन्तु मैं कोई वेतन तो लेता नहीं था, फिर किस फ़ंडसे उसे सफ़र-खर्च

देता। श्रीनाथ सिकन्दराबाद भी नहीं ठहरा, और पढ़ने-लिखने, खाने-पीनेका ठीक प्रबन्ध हो जानेपर भी झूठी तकलीफ़ोंको लिखकर उसने श्यामलालको बुलवाया और घर लौट गया।

काल्पीमें बाज़ारके दिन हम लोग धर्मप्रचार करने जाते। मुकुन्दलाल और यशवन्तके हार्मोनियमपर भजन होते, तथा हम लोगोंमेंसे कितनोंके व्याख्यान—व्याख्यान आर्यसमाजी ढंगके, जिसमें बीच-बीचमें राष्ट्रीयताकी पुट भी रहती। स्वामी ब्रह्मानन्दजी कभी बाहर घूमने जाते, नहीं तो वहीं रहते।१६१७के आखिरी महीनोंमें होमरूलका आन्दोलन ज़ोर पकड़ने लगा था। एनी बेसंट, और आरुंडलकी नज़रबन्दीसे सनसनी फैली हुई थी, और लोकमान्य तिलककी मुक्तिसे गर्मदली अंश मुल्कमें ज़ोर पकड़ रहा था। होमरूल आन्दोलनको जनतामें फैलानेके लिए पंडित वेंकटेशनारायण तिवारीके सम्पादकत्वमें कितनी ही छोटी-छोटी पुस्तिकायें निकली थीं, जिनमें जालौन ज़िलेके एक राष्ट्रीय कर्मीका आल्हा भी था। 'भारत-भारती' पहिले हीसे हिन्दी भाषी जनतामें प्रिय हो रही थी, किन्तु अब उसने राष्ट्रीय संगीत-पुस्तकका रूप धारण कर लिया था। मेरे कोंचके एक ब्राह्मण मित्रने तो अपने बच्चों तकको उसके बहुतसे अंश कंठस्थ करा दिये थे। 'प्रताप'को मैं उसके आरंभिक समयसे ही पढ़ने लगा था, किन्तु पहिले-पहिल काल्पीमें ही वहाँकी एक धर्मशालामें मैंने श्री गणेशशंकर विद्यार्थीका व्याख्यान सुना। उनके निर्मासल मुखपर चश्मे लगी आँखें असाधारण तौरसे चमकीली मालूम होती थीं।

जाड़ेमें कुछ समय बीतनेपर मालूम हुआ, पोखरायाँ (कानपुर-ज़िले)में प्लेग ज़ोर पकड़े हुए है, लोग बहुत मर रहे हैं। आरम्भिक युगके आर्यसमाजियोंमें निर्भय हो बीमारों, अनाथों, ग़रीबोंकी सेवा करनेवाले वीरोंकी कितनी ही कहानियाँ मुझे सुननेको मिली थीं। पंडित रलाराम बेजवाडिया—रेलवेके साधारण पैटमेन—अपनी ऐसी ही सेवाओंसे आर्यसमाजके एक श्रद्धेय पुरुष बन गये थे। अपनी सात-आठ रुपयेकी तन्ख़्वाहमेंसे भी बचाकर वह कुछ पुस्तकें बाँटते, कुछ दवाइयाँ ले प्लेगके दिनोंमें—और उस समय सारे उत्तरीय भारतमें प्लेगका भारी प्रकोप था—रोगियोंकी सेवा करते। एक जैन-परिवारके बारेमें कहा जाता है, वह आर्यसमाजियोंसे बहुत चिढ़ता था। एक बार उसके घरके सभी लोग बीमार पड़ गये, कुछ मर गये, बाक़ीको पानी तक देनेवाला कोई न था। पंडित रलाराम वहाँ पहुँचे। एक-दो दिन वे लोग पतित समझकर उनके हाथकी दवा नहीं पीते। घरके तरुण लड़केकी गिल्टी पक गई थी। उस वक़्त डाक्टर कहाँ मिलते। पंडित रलारामने चीरनेके लिए अपना

चाक़ू निकाला, किन्तु उसमें मोर्चा लगा था। उन्होंने गिल्टीमें मुँह लगाकर पीबको चूसकर फेंक दिया। घरवालोंपर असाधारण प्रभाव पड़ा, और तबसे वह पंडित रलारामको देवतासा मानने लगे। राजपूतानेके अकालमें सेवा करते, बाँटनेके लिए झोलेमें डाल चनेके बोझसे कैसे एक बार महात्मा हंसराज गिर गये थे, यह कथा भी मैंने सुनी थी। मेरे रहनेसे कुछ ही वर्ष पहिले आगरेमें प्लेगमें मरे तीन दिनके सड़े मुर्देको निकालकर फूँकनेका साहसकर कैसे एक आर्यसमाजीने जान-बूझकर मृत्युको निमन्त्रण दिया था, यह मेरे लिए ताज़ी घटना थी। इस प्रकार आर्यसमाजने सिर्फ़ ज़बानी जमाख़र्च ही नहीं प्राणोंकी आहुति और पीड़ितोंकी सेवा करके अपने लिए एक आकर्षक इतिहास तैयार किया था। मैं कितने दिनोंसे लालसा रखता था, ऐसी सेवाके लिए।

मैं और यागेश पोखरायाँ गये। हमने अपने दोस्तोंसे चन्द रुपये माँग लिये थे। पोखरायाँके डिस्पेन्सरीके डाक्टर बड़े सज्जन थे। वह स्वयं तो मरीज़ोंके घर नहीं जा सकते थे, किन्तु उन्होंने हमसे कह दिया कि जितनी दवाकी ज़रूरत हो हमसे ले जावें। दूध-साबूदानेका इन्तिज़ाम हमने अपने रुपयोंसे कर लिया। बाज़ारके बहुत लोग घर छोड़ गये थे, और बहुतसे क़िस्मतपर सब कुछ छोड़ घरमें ही पड़े हुए थे। हम लोग एक ख़ाली गोलेमें ठहरे। मरीज़ोंका टेम्प्रेचर लेना, दवा देना, और बैठकर कुछ सेवा-सुश्रूषा करना हमारा काम था। किसी-किसीकी गम्भीर बीमारीके बारेमें डाक्टरसे भी सलाह लेते। हम लोग नंगे पैर थे, प्लेगका कोई टीका-वीका नहीं लिया था, मौत हमारे लिए डरकी बात न थी, इसलिए हम लोग निधड़क रात-दिन घूमते थे। एक दिन पता लगा, कि सरायमें एक भठिहारा बीमार पड़ा है। देखा, घरके कच्चे ओसारेमें नीचे धँसी खाटपर एक २४,२५ सालका साँवला नौजवान पड़ा है। घरमें क्या सरायमें भी कोई नहीं था। शायद दो दिनसे उसे पानी भी देने कोई नहीं आया। जब धनियोंको भी उस बीमारीमें पानी देनेवाले दुर्लभ थे, तो हाथ-पैर चलाकर शामकी रोज़ी चलानेवाले भठिहारेकी कौन सुध लेता? शायद हमने अन्त तक उसे बेहोश ही देखा। हमने उसके पास रहनेकी अपनी ड्युटी बाँध ली। रातको लालटेन लिये उसके पास पड़े रहते। डाक्टर साहेबके थर्मामिटरको लालटेनके पाससे देखते हुए मैंने उसे गर्म शीशेसे सटादिया, और देखा पारा थर्मा-मीटर तोड़कर उड़ गया। डाक्टर साहेबने उसके लिए कुछ नहीं कहा। दो या तीन दिनकी लगातार सेवाओंके बाद भी भटिहारा बचा नहीं। हमें इस बातका सन्तोष रहा, कि हमने हिन्दू-मुसल्मानका ज़रा भी ख़्याल किये बग़ैर उस ग़रीबकी सेवा की।

एक और शोचनीय मृत्यु एक खाते-पीते अच्छे घरके नौजवान लड़केकी हुई, जिसकी तरुण स्त्री हमेशाके लिए विधवा बननेको मौजूद थी। जब हम उस घरमें जाते, तो घरवालोंको बड़ी सान्त्वना होती। हम कुछ आशा और ढारस दिलाते। वह देखते थे, हम जानकी पर्वाह न कर उस आगमें रात-दिन विचर रहे हैं। दूध-साबूदानेके पैसोंकी हमें कमी नहीं थी। हमारे भीतर एक तरहका अजीब उत्साह था।

लड़ाई और गम्भीर हो चली थी। काल्पीके मारवाड़ी सेठकी गिरनी-फ़ेक्टरी (रुईकी गाँठ बाँधनेका कारख़ाना) अब भुसकी गाँठें बाँधकर लड़ाईके मैदानमें भेज रही थी। काल्पीके तहसीलदार साहेब आर्यसमाजसे कुछ सहानुभूति रखते थे, और हमारे साथ भी उनका सम्बन्ध अच्छा था। गिरनी फ़ेक्टरीमें एकसे अधिक बार ब्रिटिश-विजयकामनाके लिए भगवान्से प्रार्थना की गई थी, जिसमें एकाध प्रार्थना करानेका भार मेरे ऊपर पड़ा। मेरी प्रार्थनामें ब्रिटिशका नाम भी नहीं आता, और मैं सत्य और न्यायपर आरूढ़ शक्तियोंकी विजयकी कामना करता—कुछ लोगोंने इस बातको ख़ासतौरसे मार्क किया था।

जाड़ेके दिनोंमें कभी-कभी ज़िलेके भिन्न-भिन्न भागोंमें मुझे व्याख्यान देनेके लिए जाना पड़ता। उरईके तरुण आर्यसमाजियोंने पोखरेपरके एक शिवालयको ही आर्यसमाज और उसके पुस्तकालयके रूपमें परिणत कर दिया था। वहाँ मैं अवसर व्याख्यान देने जाता। राय साहेब पंडित गोपालदास आर्यसमाजके एक श्रद्धालु भक्त थे, किन्तु उनकी सर्कारपरस्तीके कारण मैं उनसे नफ़रत करता। जालोनकी डिस्पेन्सरीके डाक्टर वहाँके आर्यसमाजके कामोंमें बहुत भाग लेते, सरकारी नौकर होनेसे उनकी मजबूरीको हम जानते थे, और इसलिए उनसे हमारी पटरी अच्छी जमती। वहाँके आर्यसमाजके जल्सोंमें स्थानीय पादरी जानसन (दर्यावसिंह) बराबर शंका-समाधान करने आते, और शंका-समाधानके लिए मुझमें एक ख़ास प्रतिभा थी, जिसका लोहा सबको मानना पड़ता। कई साल बाद पादरी जानसनका तबादला एकमामें हो गया। मैं उनसे बड़े प्रेमसे मिलता, और हमारा बर्ताव गहरे दोस्तकी तरहका होता; हालाँकि राजनीतिक क्षेत्रमें काफ़ी ख्याति प्राप्त हो जाने तथा हिन्दूसभाके ज़ोरके ज़मानेमें ईसाई बनानेवाले आदमीके प्रति सहानुभूतिकी उस समय आशा नहीं रखी जाती थी। मिशनके पास पीछे पैसा नहीं रह गया, और पादरी जानसनको होमियोपैथीकी दवा करके बड़ी ग़रीबीसे दिन गुज़ारा करना पड़ता। उनकी उस अवस्थाको जब मैं जालौनवाली पोशाकसे मुक़ाबिला करता, तो मुझे बहुत दुःख होता। काल्पीमें भी मेथोडिस्ट मिशनके एक पादरी रहते थे। उनसे हमारी बड़ी दोस्ती

हो गई थी। बहसके वक़्त कड़ीसे कड़ी आलोचना करनेवाले हम लोगोंको जब वे अपने साथ बिना शुद्धिके बिठलाकर रोटी-दाल खिलाते देखते, तो उनको पहिले तो इसका अर्थ समझना मुश्किल था।

धौलपुरमें आर्यसमाजके मन्दिरको तोड़कर राज्यने घोड़साल बनाई थी। इसकी ख़बर जब बाहरके आर्यसमाजियोंको लगी, तो हल्ला मचा। सत्याग्रहकी तैयारी शुरू हुई। कितने ही आर्यसमाजी धौलपुर पहुँचे, जिनमें मैं और भाई साहेबभी थे। पीछे स्वामी श्रद्धानन्दके बीचमें पड़नेसे मामला तै हो गया।

१९१७ समाप्त हो रहा था, जबकि एक दिन स्वामी ब्रह्मानन्दजीने प्रस्ताव किया, और मैंने भी हल्के दिलसे एक पोस्टकार्ड लिखकर परसा भेज दिया। तीसरे ही चौथे दिन महन्तजीका तार पहुँचा, कि सर्वेके काममें मठकी ज़मींदारीकी देख-भाल करनेके लिए तुम्हारी बड़ी ज़रूरत है, तुरन्त चले आओ। शायद तारकेसाथ कुछ रुपये भी थे। मैंने तो साधारण कुशल-प्रसन्न तथा वरदराजके बारेमें कुछ जाननेके लिए पत्र लिखा था, मैं इसकी आशा नहीं रखता था। स्वामीजी ज़ोर देनेलगे——जाओ। मैंने कहा——मैं आर्यसमाजी हूँ, अब वैष्णव-मठसे मेरा सम्बन्ध क्या? वह ज़ोर देते ही रहे, मैं हिला नहीं। इसी बीचमें महन्तजीका विस्तृत पत्र पहुँचा। इतने दिनोंसे मेरी कोई ख़बर न पानेसे वे कितने चिन्तित थे। वृद्धावस्थाके कारण वह कैसे कुछ दिनोंके मेहमान हैं। यदि मठकी सम्पत्तिको अब न सँभाला, तो इसका ख़सारा पीछे तुम्हें भी भोगना पड़ेगा आदि। वह पत्र उनकी असमर्थता और सहा-यताके लिए दयनीय पुकारसे भरा हुआ था। अबकी बार स्वामी ब्रह्मानन्दजीका ज़ोर लगाना व्यर्थ नहीं गया। मठकी सम्पत्तिकी रक्षा तथा बूढ़े महन्तजीकी थोड़ीसी सहायता कर देनेमें क्या हर्ज है——सोचकर मैं परसा जानेके लिए तैयार हो गया।

रेलपर सवार होनेपर दिमाग़में आया, कि वैरागी बानेमें चलना होगा। मनमें हिचकिचाहट होने लगी, लेकिन अब तो क़दम उठ चुका था। रास्तेमें कहींसे कंठी ले गलेमें बाँधी। शिर-मुँहके बाल साफ़ किये और बनारस होते परसा पहुँचा। उस वक़्त परसा, बहरौली, और जानकीनगरमें सर्वेका काम चल रहा था——कहीं ख़ानापूरी हो रही थी, कहीं तस्दीक़। सर्वेके अमीन अलग अपनी कमाईके लिए काग़ज़ पर झूठे इन्दराज कर रहे थे, और मठके दीवान-पटवारी अलग। मठके सबसे बड़े गाँव बहरौलीमें बहुतसे तनाज़े पड़े थे। किसान डटे हुए थे, और महन्तजी भी घबराये हुए थे। मेरे आनेपर उन्हें बड़ी ख़ुशी हुई। जाड़ा शुरू हो रहा था। महन्तजीने फ़लालैनकी चौबन्दी बनानेका प्रस्ताव किया। मैंने मोटिया (खद्दर)की मिर्ज़ईके

लिए कहा। महन्तजीने कहा––ऐसा करनेसे मेरी बदनामी होगी, लोग कहेंगे कंजूसीके ख्यालसे अपने पट्टशिष्यको महन्तजी मोटियाका कपड़ा पहनाते हैं। अन्तमें स्वदेशी ऊनी कपड़ेपर समझौता हुआ। मोटियाकी मिर्ज़ईको भी मैंने अलगसे बनवा ही लिया। शौक़ीनी, नौकर-चाकरोंके साथ बर्ताव सबमें मेरा तरीक़ा बदला हुआ था। जब ज़मींदारीके गाँवमें पहुँचा, और मैंने कह दिया कि न एक छटाँक तर्कारी मुफ़्त ली जावेगी, न चुल्लूभर दूध; तो नौकरोंसे बढ़कर आश्चर्य और आपत्ति असामियोंने की। कहने लगे––आप साधु महात्मा हैं। मैं उत्तर देता––ठीक, किन्तु जबमैं साधु महात्माके तौरपर आऊँ, तो मुझे खाने-पीनेकी चीजें मुफ़्त लेनेमें उज्र न होगा। इस वक़्त तो मैं तुम्हारे ज़मींदारकी तरह आया हूँ।

सर्वेके काग़ज़ जब मेरे सामने आये, तो पहिले तो बिल्कुल नई चीज़ तथा झगड़ों और सर्वे नम्बरोंकी भारी संख्या होनेसे मेरी अक़्ल चकराई। लेकिन अब दूसरा चारा न था। काग़ज़ देखने लगा। मठके दीवान, और गाँवके पटवारी मुझे काग़ज़का रास्ता बतलानेकी जगह उस जंगलमें उलझा देनेके लिए ज़्यादा मुस्तैद थे। पुराने सर्वेके काग़ज़ोंसे नये काग़ज़ोंका मुक़ाबिला शुरू किया। झगड़ालू खेतोंपर पूछ-ताछ शुरू की। और फिर जब मठकी तरफ़से दिये गये झूठे तनाज़ोंको हटाना शुरू किया, तो मठके अम्ला-लोग महन्तजी तक दौड़ गये––पुजारीजी तो हज़ारोंकी जायदादको पानीमें फेंक देना चाहते हैं। लेकिन मेरे तनाज़ोंके हटानेपर असामियोंकी ओरसे भी झूठे तनाज़े हटाये जाने लगे। मैंने उन्हें दिखलाकर बतलाया, कि झूठे तनाज़ोंसे हम ज़्यादा लाभमें न रहेंगे। महन्तजीने अम्लोंको मुझसे ही आकर भुगतनेके लिए कहा। मैंने दीवानकी दी हुई कितनी ही रसीदें पकड़ी, जो रिश्वत लेकर खेतपर असामीका क़ब्ज़ा साबित करनेके लिए लिखी गई थीं। ऐसी एक रसीदको एक जुलाहेने डिप्टी-के सामने पेश किया। दीवानने उसे पहिलेके पटवारीके नामसे लिखी थी। मैंने जाली बतलाकर रसीदको रख रखनेके लिए कहा। डिप्टी मेरे बर्तावसे समझ गये थे, कि मैं सारी शक्ति लगाकर सच्चाई तक पहुँचनेकी उनसे भी ज़्यादा कोशिश करता हूँ, इसलिए वह मेरी बातोंका बहुत यक़ीन करते थे। जब रसीद रख ली गई, और जाली रसीदपर मुक़दमा चल जानेका डौल मालूम होने लगा, तो बूढ़ा असामी मेरे पास दौड़ा आया, और अपने जवान लड़केको लानत-मलामत करते हुए बहुत विनती करने लगा। मैंने उसे छुड़वा दिया। दूसरी घटना बहरौलीके पलक ओझाकी है। उन्होंने सर्वेमें रुपया देकर मालिकके ग़ैरमज़रूआ जमीनकी सिसवानी (शीशमके झुर्मुट)को अपने नाम लिखवा लिया था। शीशम ख़ुदरो दरख़्त होते हैं, और ज़मीन

मालिककी थी ही, फिर वह पलक ओझाका कैसे हो सकता था। मैंने उज्र किया। डिप्टीने मेरी बातके औचित्यको देखा, किन्तु इधर कई उज्रदारियोंमें मेरे पक्षमें फ़ैसला देते-देते अब वह एकाध फ़ैसला असामीके पक्षमें करना चाहते थे, वह उन तनाज़ोंका ख्याल नहीं कर रहे थे, जिन्हें कि मैंने वापस ले लिया था। ख़ैर, उन्होंने मालिककी ग़ैरमजरूआ ज़मीनमें भी ख़ुदरो दरख़्तकी लकड़ीका आधा असामीको लिख दिया। मैंने पलक ओझाको बहुत समझानेकी कोशिश की, किन्तु वह 'घर आई लच्छिमी'को लौटानेको तैयार न हुए। मैंने उनके कागज़ोंको फिरसे देखना शुरू किया। देखा पुरानी ही मालगुज़ारीपर पुराने रक़बेसे आधा एकड़ अधिक ज़मीन हालके सर्वेमें उनके नाम दर्ज है। मैंने उस बढ़े रक़बेकी ज़मीनको पुरानी जमाबन्दीसे अलग कर नई लगान बाँधनेका दावा किया। डिप्टी उसे माननेके लिए तैयार थे, क्योंकि पलक ओझाके पास कागज़ न था। इस प्रकार शीशमकी लकड़ी उन्हें उतनी नहीं मिली, जितनी कि सालाना मालगुज़ारी उनके शिरपर बँध गई। वस्तुतः आधा एकड़ अधिक ज़मीन मालिकने उससे बेहतर ज़मीन लेकर बदलेमें दिया था, किन्तु यह सब ख़ानगी हुआ था, जिसका पलक ओझाके पास कोई सबूत न था। बहरौलीके हज़ार एकड़से अधिककी ज़मीनमें सैकड़ों असामियोंसे वास्ता पड़ा, लेकिन यही सिर्फ़ एक मामला था, जिसमें मैंने पलक ओझाके साथ अन्याय किया, लेकिन इसके कारण ख़ुद वही थे। यदि शीशमोंपर झूठा दावा न किये होते, तो मुझे ज़िद न होती।

जिन दिनों बहरौलीमें सर्वेका काम हो रहा था, उसी वक़्त ज़ोरका इन्फ़्लुयेंज़ा भी चल रहा था। मुझे याद है, एक कोइरी भगतका। वह अनपढ़ मेहनती किसान था, किसीकी संगतसे राधास्वामी मतका अनुयायी बन गया था। मुझे मालूम हुआ। मैं उससे राधास्वामी मतपर बातें करता। आगरा और लाहौरमें रहते मुझे उसके बारेमें जितनी जानकारी थी, उतनी कोइरी भगतको कहाँ होती? वह बड़ी दिलचस्पीसे मेरी बातें सुनता, और मैं भी उससे राधास्वामी मतके कुछ भजन सुनता। एक शनिवारको सर्वे-केम्पमें मैंने उसे देखा था, और सोमवारको मालूम हुआ वह तो मर गया। तेज़ आँधीमें जैसे आम गिरकर ज़मीनपर पट जाते हैं, इन्फ़्लु-येंज़ाकी बीमारीने भी उसी तरह आदमियोंकी लाशोंसे धरतीको पाट दिया था। कितनी ही नदियोंके बारेमें, तो लोग कहते थे, कि आदमीकी लाशें इतनी अधिक थीं, कि उन्हें नभचर-जलचर भी नहीं खा सकते, और पानीपर आदमीके बदनकी चर्बी तेलकी तरह तैरती थी।

परसामें महन्तजी जोतिसियोंसे पत्रे दिखला रहे थे—'अब मेरी ज़िन्दगीका

कौन ठिकाना है। रामउदारके नाम लिख-पढ़ देना चाहिए।' मैंने महन्तजीको साफ़ तौरसे समझानेकी कोशिश की, कि मैं महन्त हर्गिज़ नहीं बनूँगा। मैं मठकी सम्पत्तिकी रक्षाके लिए आ गया हूँ। मुझे पढ़ना है, और देशका काम करना है। आपको महन्त बनाना है, तो वरदशजको बनावें, वह बाक़ी शिष्योंमें सबसे क़ाबिल भी हैं।

बहरौलीका काम खतम होते ही मैंने जानेकी इजाज़त माँगी। कलकत्ता वेद-मध्यमा परीक्षाका फ़ार्म मैं काल्पीसे भर चुका था, यह वह जान गये थे, और मेरी पढ़ाईमें बाधा नहीं डालना चाहते थे; इसलिए उन्होंने रुकावट नहीं की। वेद-मध्यमा परीक्षा देनेके लिए मैंने काल्पीके एक विद्यार्थी हरदत्त--जो कितने ही वर्षों तक गुरुकुलकांगड़ीमें पढ़ते रहे थे--को उत्साहित किया था। उनके पढ़ाते वक़्त अपने लिए भी तैयारी हो ही जाती थी, इसलिए मैंने किसी दूसरे गुरुके नामसे और हरदत्तजीने मेरे नामसे जबलपुर-केन्द्रसे परीक्षाका फ़ार्म भरा। जबलपुर रवाना होते वक़्त एक दिन पहिले मीठी पावरोटी पाथेयके लिए बनाई जाने लगी। पावरोटी तो नहीं बन सकी, हाँ उसका मीठा परावठा बन गया। हम लोगोंने जबलपुरमें जा परीक्षा दी। दोनों ही पास हुए, मैं प्रथम श्रेणीमें और शायद हरदत्तजी भी प्रथम ही श्रेणीमें।

परसा फिर भूल गया। मैं काल्पीमें पढ़ने-पढ़ानेके काममें लग गया। १९१८के प्रथम पाद तक छन-छुनकर काफ़ी खबरें रूसी मज़दूर क्रान्तिकी मेरे कानों तक पहुँची थीं। काल्पीमें उर्दू-हिन्दी-अंग्रेज़ीके अखबार मिल जाया करते थे, और तीन पंक्तिकी रूस-सम्बन्धी खबर भी मुझे काफ़ी चिन्तनका मसाला दे देती। मैंने इन उड़ती खबरों, और जब-तब समाचारोंसे सुन लिये साम्यवादके विकृत आकारको अपनी समझसे सुलझाकर एक साम्यवादी जगत्की कल्पना करने लगा। १९१८के आदिम महीनों हीमें मैंने इस विषयपर एक पुस्तक लिखनी चाही थी, और उसका खाका बना लिया था, किन्तु विद्यालय बन्द करनेके बाद वह खाका मेरी नोटबुकके साथ यागेशके पास रहा, और पीछे गुम हो गया। उस पुस्तकको एक दूसरे ढंगसे संस्कृत पद्योंमें १९२२में मैंने लिखना चाहा, किन्तु वह भी कुछ सर्गों तक ही रह गई, और अन्तमें वह काम 'बाईसवीं सदी'के नामसे १९२३-२४ ई०में हज़ारीबाग़ जेलमें पूरा हुआ।

महेशपुरामें ही विद्यालयका रंग होनहार जैसा नहीं मालूम होता था; काल्पीमें हम अच्छे दिनोंकी आशासे आये थे, किन्तु यहाँ भी अवस्था सुधरी नहीं। आर्थिक अवस्था दिनपर दिन गिरती गई। श्री पन्नालालका ही दान स्थायी था, बाक़ी दिशाओंसे हमें प्रोत्साहन नहीं मिला। मकानमें हमने पहिले बैठकेको छोड़ा, पीछे कोठेके

आधे भागको भी छोड़ दिया। रसोइया हटाया गया, और हम लोग ख़ुद बारी बाँध-कर रसोई बनाने लगे। खानेमें कमी होते-होते जौ-चनेकी रोटी और दाल या आलूकी तर्कारीमेंसे एक बनाते, दोपहरके भोजनमेंहीसे थोड़ा शामके लिए रख दिया जाता। मुझे अपने लिए तो ख़्याल न था, क्योंकि भ्रमणमें कितनी ही बार इससे भी ख़राब खानेको खाता रहा; किन्तु अपने साथियों मुकन्दराम और यशवन्तको रोटीका टुकड़ा गिलासके पानीके सहारे गलेसे नीचे उतारते देख कभी-कभी दिलमें ठेस लगती, यद्यपि मैं बराबर हर बातमें समभाग लेकर उन्हें उत्साहित करता रहता। रामसहायजी काल्पी आनेसे थोड़ेही समय पहिले चले गये थे, और तरुण संन्यासी स्वामी उनसे भी पहिले। यशवन्तके लिए चिट्ठीपर चिट्ठी आ रही थी और वह लौटनेके पक्के इरादेसे घर गया, किन्तु वह फिर नहीं लौट सका। अब वहाँ तीन ही चार मूर्तियाँ रह गई थीं।

पढ़ानेके अतिरिक्त मुझे कभी-कभी प्रचारार्थ बाहर भी (ज़्यादातर जालौन ज़िलेके भीतर ही) जाना पड़ता। दाताओंको प्रसन्न करनेके लिए कभी-कभी बारातोंमें भी जाता। एक बारका क़िस्सा याद है। बारात कई मील दूर गई थी। हम लोगोंको बैलगाड़ियोंमें जाना पड़ा। मेरे साथ विद्यालयकी भजन-मंडली भी थी। वहाँ जाने-पर मालूम हुआ, लड़कीवालोंने वैश्या (बेड़िनी)की नाच अलगसे कर रखी है। संयमवादी हम लोगोंके लिए वहाँ रहना मुश्किल था, किन्तु चले आनेका मतलब था भजनमंडलीको मिलनेवाले रुपयेकी हानि। भजनमंडलीको हर महीने हमें चालीस रुपये देने पड़ते थे। मैं नाचमें जा ही कैसे सकता था, किन्तु जहाँ ठहरा था वहाँसे भी वैश्याका गाना सुनाई पड़ता था। वह एक स्थानीय भजन (शायद लेद) गा रही थी, जिसका राग मुझे पसन्द आ रहा था। जन-संगीतकी ओर मेरा स्नेह बढ़ता जा रहा था, यह शायद राजनीतिक चेतना और साम्यवादकी ओर बढ़ती हुई रुचिके कारण हो रहा था। उसी गाँवमें आज़मगढ़ ज़िलेका एक तरुण रहा करता था। यद्यपि मैं अपने ही जन्मप्रान्तमें था, किन्तु जन्म-ज़िला उससे भी नज़दीकका सम्बन्ध रखता है, इसलिए तरुणसे जब उसका गाँव मंदुरीके पास सुना, तो मुझे एक अजब तरहका खिंचाव मालूम हुआ। वह भी सैलानी तबियतका अल्हड़ जवान था। जोतिससे उसे कुछ पैसे मिल जाते थे। बढ़िया साफ़ा, जोधपुरी बिरजिस्, कोट, बूट पहिनकर ठाटबाटसे रहता था, कुछ थोड़ा संगीतका भी शौक़ था, और घरमें हार-मोनियम् रखे हुए था। कमाना और उड़ाना यही उसका आदर्श-वाक्य था।

जालौन आर्यसमाजके वार्षिकोत्सवमें इन्द्रवर्मा भी शामिल हुए थे। इन्द्रवर्माका

साल ही दो सालसे मेरा परिचय हुआ था, किन्तु मैं उन्हें स्वाभाविक वक्ता मानता था। विशालकायके साथ, उनकी गम्भीर गर्जना ख़ास चीज़ थी ही, किन्तु जिस वक़्त वह अपने विषयका सजीव चित्र खींचते, उस वक़्त जनताको रुलाना, हँसाना उनके बायें हाथका खेल होता। अभी हालमें उन्होंने महोबामें कई व्याख्यान दिये थे, जिनमें सनातनियों और ईसाइयोंका कुछ खंडन भी हुआ था। सनातनी शास्त्रार्थपर तुले हुए थे। नियम तै करनेके लिए लिखा-पढ़ी हो रही थी। इन्द्र वर्मा मेरी बहस-मुबाहिसा तथा संस्कृतकी योग्यतासे वाक़िफ़ थे, इसलिए उन्होंने आग्रह किया कि मैं उनके साथ ज़रूर महोबा चलूँ। महोबाका ऐतिहासिक नाम कुछ आकर्षक था, और उससे भी आकर्षक था, पादरी ज्वालासिंहके साथ बहस करनेका मौक़ा। मैं भी उनके साथ महोबा गया।

सनातन धर्मी शास्त्रार्थके लिए हुज्जत कर रहे थे—'संस्कृतमें ही शास्त्रार्थ होना चाहिए।' हमने कहा—'फिर जनता क्या मल्लू बनकर बैठी रहेगी? संस्कृत और हिन्दी दोनोंमें शास्त्रार्थ हो।' आदि आदि। ईसाइयोंपर जो प्रहार हुआ था, उसका जवाब देनेके लिए उन्होंने पादरी ज्वालासिंहको बुलाया था। शामके वक़्त चिराग़ जलनेके बाद खुली जगहमें उनका व्याख्यान हुआ। व्याख्यानके बाद प्रश्न पूछनेकी उन्होंने घोषणा की। मैंने प्रश्न पूछने शुरू किये। प्रश्न करनेके समय मुसाफ़िर विद्यालयमें सुने स्वामी दर्शनानन्दके प्रतिद्वन्दी पादरी ज्वालासिंहका काफ़ी रोब मुझपर ग़ालिब था। किन्तु वह रोब एक ही दो बारके प्रश्नोत्तरमें जाता रहा। मैंने छिद्रान्वेषणकी दृष्टिसे बाइबिलका अच्छी तरह अध्ययन किया था, उसके पुराने भागपर मेरे पास ख़तरनाक नोट थे। मैंने एतराज़ शुरू किये। पादरी साहेब एकका जवाब नहीं देने पाते, कि मैं तीन नये सवाल जड़ देता। धीरे-धीरे जनतापर विदित होने लगा, कि पादरी जवाब नहीं दे पा रहे हैं। पादरी ज्वालासिंह अपनी मन्तिक (तर्क) के लिए ही ईसाई सम्प्रदायमें सम्मानित तथा काफ़ी वेतन पा रहे थे। एक छोकरेको इस प्रकार प्रहारकर अपनी प्रतिष्ठाको धूल मिलाते देखना उनको सह्य नहीं मालूम हुआ, और सचमुच मेरे कानोंको विश्वास नहीं हुआ, जब कि पादरी साहेब तैशमें आ अपनी सच्चाईपर ज़ोर देते हुए बोल उठे—'यदि मैं ग़लती कर रहा हूँ, तो हुक़्क़ेका पानी पिलाकर पाँच जूता मारें।' पादरी ज्वालासिंहका जो चित्र मेरे स्मृतिपटलपर अंकित था, वह अब चकनाचूर हो गया था। दूसरे दिन फिर मुबाहिसाका समय घोषित करके सभा समाप्त हुई।

सबेरे इन्द्रवर्माको मिशन अस्पतालसे दवा लेनी थी, उसी सिलसिलेमें हम दोनों

अमेरिकन पादरीके बँगलेपर भी चले गये। पादरी ज्वालासिंह भी वहींपर ठहरे हुए थे। वह बड़े प्रेमसे मिले, और मालूम नहीं होता था, कि रातको हम दोनों उस तरह एक दूसरेपर प्रहार कर रहे थे। मैंने तो ख़ैर, अपने लिए धार्मिक वाद-विवाद तथा व्यक्तिगत सम्बन्धका एक मैयार मुक़र्रर कर लिया था, किन्तु बूढ़े पादरी ज्वाला-सिंहके शिष्टाचारको देखकर मुझे बहुत ख़ुशी हुई। अमेरिकन पादरीकी मेम डाक्टर थीं, उन्होंने इन्द्रवर्माके लिए दवा लिखकर पुर्ज़ीको कम्पौंडरको देनेके लिए हमारे हाथमें दे दी। दर्वाज़ेसे निकलते ही इन्द्रवर्माने कौतूहलवश कहा—ज़रा पढ़िये तो। मैंने ख़तको खोला। मेम देख रही थी, उसने डाँटकर कहा—यह चिट्ठी तुम्हारे लिए नहीं है। मैं लज्जित हो गया, युरोपीय शिष्टाचारसे अनभिज्ञ रहते भी साधारण बुद्धिसे भी मैं अपनी चेष्टाके अनौचित्यको समझता था। इन्द्रवर्माको यह बात ठीक नहीं जँची।—दवाके लिए लिखे गये पुर्ज़ेमें कौनसी गोप्य बात हो सकती है? उस दिन रातको वर्षा होने लगी, इसलिए मुबाहिसाका स्थान महोबाका विशाल गिरिजाहाल रखा गया। सारा हाल लोगोंसे भरा हुआ था, जिसमें काफ़ी संख्या ईसाई महिलाओंकी थी। कार्रवाई शुरू करते वक़्त पादरी ज्वालासिंहने महिलाओंकी ओर लक्ष्य करके कहा—'बहस-मुबाहिसेमें किसीके मुँहसे कोई अनुचित शब्दभी निकल सकता है; इसलिए, मैं समझता हूँ, अच्छा हो यदि महिलायें यहाँ रहना नापसन्द करें।'

धार्मिक साम्प्रदायिकताका ही पहिले मुझे पाठ ज़्यादा मिला था, किन्तु इधरके दो-तीन सालकी आदर्शवादी शिक्षाने भीतर ही भीतर अपना काफ़ी असर डाला था। पादरी साहेबके ये वाक्य मेरे कानमें वाणकी तरह लगे, इसलिए नहीं कि वह झूठे थे—आर्यसमाजी उपदेशकोंमें ऐसोंकी संख्या काफ़ी थी, जिनके लिए अश्लीलताकी मर्यादा-को अतिक्रमण करना साधारण बात थी; किन्तु मुझसे ऐसी आशा रखी जावे, यह बात असह्य थी। मैंने दिमाग़को ठंडा रखते हुए कहा—हमारे लिए यह बड़े शर्मकी बात होगी, यदि हम अपनी माँ-बहिनोंके सामने भी अपनी ज़बानपर संयम नहीं रख सकते। मैं आशा रखता हूँ, कि महिलाओंको सभासे जानेकी ज़रूरत नहीं पड़ेगी। तरुण प्रतिद्वन्दी दिलकी लगी कह रहा था। शास्त्रार्थ सुननेका अवसर पा महिलायें सबसे ज़्यादा खुश हुईं। दो-तीन घंटे हम दोनोंमें बहस होती रही। यद्यपि कलकी तरहके 'हुक़्क़ेके पानी और पाँच जूते'की आज ज़रूरत नहीं पड़ी, तो भी मैंने कलकी अपनी सफलताको आज भी क़ायम रखा।

दो-तीन दिन बाद सनातनियोंसे भी शास्त्रार्थ हुआ। सनातनधर्मकी ओरसे शायद पंडित अखिलानन्द और आर्यसमाजकी तरफ़से युक्तप्रान्तीय प्रतिनिधि-सभाके

कोई उपदेशक थे। शास्त्रार्थके पत्रव्यवहारमें मेरा ख़ास हाथ था, और शास्त्रार्थको पुस्तकाकार छपवानेका सारा सम्पादन कार्य, झाँसीमें लाला लद्धारामके घरपर रहकर मुझे ही करना पड़ा था।

काल्पीमें लौटकर फिर विद्यालयकी निर्बल तरीको खेनेकी कोशिश करने लगा। इसी समय मैंने सालभरके लिए संस्कृतमें ही बोलनेकी प्रतिज्ञाकी—बाक़ायदा हवनयज्ञ करनेके साथ। यदि इस प्रतिज्ञासे मतलब (३६०×२४) घंटे-निद्रा था, तो ज़रूर पूरी हुई, नहीं तो यह उन प्रतिज्ञाओंमें थीं, जिन्हें आदमी तोड़नेके लिए ही किया करता है।

तीन आदमियोंको लेकर विद्यालयके नामपर अपने समयको बर्बाद करना अब मुझे पसन्द न था। धीरे-धीरे भाई साहेब भी मेरी रायसे सहमत हुए। तै हुआ कि विद्यालयको स्थगित करके मैं फिर अपनी पढ़ाई शुरू कर दूँ। स्वामी ब्रह्मानन्द और श्री पन्नालालको यह बात दुःखद मालूम हुई—सचमुच ही काल्पी स्टेशनपर विदाई लेते वक़्त हमारे हृदय भारी हो गये थे।

७

दुहरा धर्म (१९१८-१९ ई०)

अबके साल मैंने शास्त्रि-परीक्षामें बैठनेका निश्चय किया था। कानपुरमें एक संस्कृत पाठशालामें गया, जिसमें उस वक़्त पंडित शशिनाथ झा पढ़ा रहे थे, किन्तु वहाँ शास्त्रि-परीक्षाके सभी पाठ्य-ग्रंथोंके पढ़ानेका प्रबन्ध नहीं हो सकता था; बनारसमें कनैलाके किसी आदमीसे भेंट हो जानेका डर था; इस प्रकार अन्तमें मुझे अयोध्या जानेका निश्चय करना पड़ा। फिर आर्यसमाजके निराकारी बानेकी जगह वैरागी साकार-बाना सजाना पड़ा। पंडित वल्लभाशरणने मेरा आना सुनकर बड़ी ख़ुशीसे अपने स्थानमें जगह दी। न्याय-वात्स्यायन-भाष्य, निरुक्त, ऋग्वेद-सायण-भाष्यकी भूमिका, नैषध और सिद्धान्तकौमुदीके अंतके कुछ अंशोंको विशेष तौरसे पढ़ना था। नैषध पढ़ानेके लिए पंडित सूर्यनारायण शुक्ल मिल गये, उस वक़्त वह व्याकरणाचार्य हो राजगोपाल पाठशालामें पढ़ाते तथा न्यायाचार्य-परीक्षामें बैठ रहे थे। तरुण होनेपर भी उनकी प्रतिभा की अयोध्यामें ख्याति थी। वह उस समय पतले-दुबले और लम्बे मालूम होते

थे। ऋग्वेद सायणभाष्यकी भूमिका बहुत कुछ मीमांसाशास्त्रसे सम्बन्ध रखती है, उसके लिए मैसूरके एक द्रविड़-वेदान्ती-पंडित मिल गये, जो हमारी उसी प्राचीन वेदान्त-पाठशालामें अध्यापक होकर आये थे, जो अब बड़ी जगहके हाथमें चली गई थी। वह भी अपने विषयके अच्छे विद्वान् थे, और चावसे पढ़ाते थे। सिद्धान्त-कौमुदीके लिए पंडित सरयूदासजी मौजूद ही थे; किन्तु निरुक्त और न्यायभाष्यके लिए बड़ी दिक़्क़त पेश आई। बहुत खोज-खाज करनेपर गोलाघाटपर एक ब्रह्मचारी मिले, जो थे तो काशीके न्यायोपाध्याय (न्यायाचार्य), किन्तु नव्यन्यायके और वह भी बहुत दिनोंसे पठन-पाठन छोड़ चुके थे। प्राचीन न्यायकी पठन-पाठन प्रणाली सदियोंसे छूट चुकी है, इसलिए उस समय तो उसके पढ़ानेवाले बनारसमें भी नहीं मिलते थे, अयोध्या जैसी छोटी जगहकी तो बात ही क्या? ब्रह्मचारीजी उतना ही बतला सकते थे, जितना कि मैं ख़ुद भी पुस्तकके सहारे जान सकता था। ब्रह्मचारी अब गृहस्थ थे, उनके गुरु एक बहुत वृद्ध ब्रह्मचारी थे, जिनसे किसी समय स्वामी दया-नन्दसे साक्षात्कार, और कुछ दिनोंकी सहयात्रा भी हुई थी। उस वक़्त स्वामी दयानन्द अभी उतने प्रख्यात नहीं हुए थे। ब्रह्मचारीजी मतभेद रखते भी स्वामी दयानन्दकी बड़ी प्रशंसा किया करते थे। निरुक्त पढ़ानेवाला मिलना और भी मुश्किल हुआ। बहुत पीछे——जब मैं अयोध्या छोड़नेवाला था, तब——ब्रह्मचारी भगवद्दासका नाम मालूम हुआ। वह वेदतीर्थ हो चुके थे और अब बड़ी जगहके महन्तके शिष्य हो इसी नामसे वहाँ रहते थे। ब्रह्मचारी भगवद्दासजीकी वह पतली-दुबली साँवली सूरत मुझे याद थी, जो १९१४में पहिले-पहिल दिव्य-देशकी वेदान्तपाठशालामें दृष्टिगोचर हुई थी। कैसे उन्होंने मँगनीकी कंठी, और नौसिखिये हाथोंसे सफ़ेद रेखाओंमें एक-सौ-एक नम्बर शिरमें अंकितकर दाढ़ी नदारद मूछोंके साथ वैरागी बाना बना अपनेको पंजाबका एक वैरागी बतलाया था, जिसपर मेरे सहपाठियोंने प्रश्नोंकी बौछार शुरू कर दी, और मैं ही था, जिसने कि देश-काल आदिके नामपर व्याख्या कर उनका समर्थन करना चाहा। उस वक़्त आर्यसमाजसे मेरा कोई स्पर्श भी न था, तो भी कोई बात थी, जिससे मेरी सहानुभूति उस अजनबी तरुणके प्रति हो गई थी। ब्रह्मचारी भगवद्दास अब पंडित, बड़े महन्तके चेले तथा आचार-व्यवहारमें निष्णात वैरागी साधु थे। मुझे उड़ती ख़बर मिल चुकी थी, कि उनके विचार भीतरसे आर्यसमाजी हैं, इसीलिए बड़ी जगहके महन्तके उत्तराधिकारी होकर भी उस बानेमें उनका रहना मुझे नापसन्द मालूम होता था। निरुक्तके पाठके लिए दो ही चार बार मैं उनके यहाँ जा सका।

अयोध्यासे किसीने परसा लिख दिया, कि मैं आजकल वहाँ पंडित वल्लभाशरणके स्थानमें ठहरा हूँ। फिर क्या था, महन्तजीका एक पत्र मेरे पास, दूसरा बड़ासा पत्र पंडित वल्लभाशरणके पास पहुँचा। सर्वेका संकट था। मठकी सम्पत्तिके नाशकी दुहाई दे पंडित वल्लभाशरणको मुझे समझाकर भेजनेके लिए कहा गया था। पढ़नेकी दिक़्क़तें भी बतला रही थीं, कि परीक्षाकी तैयारी लाहौर हीमें ठीकसे हो सकेगी, फिर परसा जा वहाँका काम खतम कर क्यों न उधर बढ़ा जाये—यह ख़्याल करके मैंने परसा जाना स्वीकार किया। लकड़मंडी घाटमें गाड़ीपर चढ़ते वक़्त देखा, पंडित सरयूदासजी भी उसी ट्रेनसे चल रहे हैं। उनकी माताका देहान्त हो गया था, श्राद्धमें जा रहे थे। मनकापुरमें गाड़ी आनेमें देर थी, इसलिए उन्होंने कुछ पद्य बना देनेके लिए कहा—मैंने 'माता मानकरी गता हत-सुखा हा हन्त! वर्तामहे।' आदि कई तुकबंदियाँ बनाकर दे दीं। परसा पहुँचनेपर संस्कृत-भाषणकी प्रतिज्ञा छोड़नी पड़ी।

अबकी मामला जानकीनगरका था। महन्तजीने अपने मामलेकी पैरवीके लिए गोरखपुरके एक तरुण ब्राह्मणको अमीन रखा था। उसने झूठे-सच्चे दो-तीन सौ तनाज़े दे डाले थे। असामी इस अन्यायको कैसे बर्दाश्त करते? पहिले उन्होंने महन्तजीके पास फ़र्याद की, किन्तु वहाँ काग़ज़ समझनेकी शक्ति कहाँ? चौकी तोड़ते, दो-चार खरी-खोटी सुना उन्हें भगा दिया गया। नतीजा यह हुआ, कि रियायाने भी ज़मींदारके दरख़्तों, खेतों, और परती तक पर तनाज़े दे दिये। मैंने आकर काग़ज़-पत्र देखा। वहरौलीके भारी जंगलको जब पिछले साल सर कर चुका था, तो उसके सामने जानकीनगरका छोटासा गाँव क्या था? काग़ज़ देखकर, मैंने रैयतोंको बुलाकर पता लगाया, और सौमें पचहत्तर तनाज़े झूठे मालूम हुए। मैंने डिप्टी साहेबसे कहकर उन तनाज़ोंको हटा लिया। उनको बल्कि तअज्जुब हुआ, कि मैं क्या कर रहा हूँ। मैंने बतलाया, कि मठके अम्ला लोग किसानोंसे रुपया वसूल करनेके लिए ये झूठे तनाज़े दे रहे हैं। अमीन-साहेब दौड़े-दौड़े परसा गये। महन्तजीने उन्हें ख़ूब फटकारा, और वहीं कामसे जवाब भी दे दिया। मेरे तनाज़ोंके उठाते ही, गाँवके सारे तनाज़े उठ गये। मुझे याद नहीं कि वहरौलीकी भाँति यहाँ एक भी तनाज़ेमें कोई परेशानी हुई हो। डिप्टी साहेबके लिए मेरा वाक्य सच्चाईकी कसौटी थी।

यह वह वक़्त था, जब कि चम्पारनमें गाँधीजीके कामकी चारों ओर धूम थी। जानकीनगरके किसान भी जब-तब गाड़ीमें शकरक़न्द भर धानसे बदलनेके लिये चम्पारन जाया करते थे। उन्हें यह ख़बरें ख़ूब मालूम थीं। वह बतलाते थे, कि कैसे

चम्पारनमें निलहे गोरोंकी इज़्ज़त कौड़ीकी तीन हो गई है ? कैसे अब वहाँ बैलगाड़ीको बीच सड़कसे चलानेमें कोई रोक-टोक नहीं डाल सकता ? कैसे हरी-बेगारी गांधी साहेबने उठा दी--तब न आजकी भाँति वह महात्मा गांधी थे, न उस समयके अर्धशिक्षितोंमें प्रसिद्ध कर्मवीर गांधी, बल्कि गांधी साहेबके ही नामसे चम्पारन और सारंनके किसान उन्हें जानते थे। जानकीनगरके किसान, 'कचहरी' (ज़मींदारकी छावनी)में बराबर ही आते-जाते रहते। रातको तो ख़ास तौरसे भीड़ रहँती। पुजारीजीकी (मेरी) न्यायप्रियता, ईमानदारीकी धाक थी--वह दूध और तरकारी तक बिना पैसा दिये नहीं लेते; किसीसे एक पैसा भी भेंट-पूजा लेना हराम समझते हैं; मिलनसार इतने कि छोटे-छोटे बच्चोंसे बातें करते हैं; उन्होंने रैयतोंके हक़में हज़ारों रुपयोंके घाटेकी कुछ भी पर्वाह न कर सारे तनाज़ोंको उठा लिया।

रातको जानकीनगरके पँवारा गानेवाले बुलाये जाते थे। कभी 'कुँअर-विजयी' होती, कभी 'सोभनयका', कभी 'सोरठी' तो कभी 'लोरकाइन'। 'पुजारीजी'की इस ग्रामीण-रुचिका 'शिक्षितों'पर तो ज़रूर बुरा प्रभाव पड़ता, किन्तु सौभाग्यसे जानकीनगरमें एक भी शिक्षित न था। साधारण जनताको विचित्रता ज़रूर मालूम होती थी, किन्तु इसे वह अनुचित कहनेके लिए तैयार न थी। मैंने एकाध अच्छे गानेवालोंको गांधीजीकी जीवनी सुनाकर उसे पद्यबद्ध कर 'सोरठी'की तरह गानेकी प्रेरणा की, किन्तु उसमें मुझे सफलता नहीं हुई, शायद यह समयसाध्य बात थी, और मेरे पास उतना समय न था।

परसा-मठकी थोड़ीसी ज़मीन मुन्नीपुर गाँवमें पड़ती थी। किसीने उस थोड़ीसी ज़मीनका ख़्याल नहीं किया था, इसलिए पिछले सर्वे हीमें वह हथुआ-राजमें लिख दी गई थी। मठवालोंने हाकिम-हुकुम सबको मेरी बात माननेके लिए तैयार देखकर उस गड़े मुर्देको भी उखाड़ा। मैं उस इलाक़ेके असिस्टेंट सेटलमेंट आफ़िसरके पास गया। वह मुन्सिफ़ थे, सर्वेका काम सीखने आये थे--नाम शायद अंजनीकुमार था। मेरी हिन्दी साफ़ शुद्ध युक्तप्रान्तीय हिन्दी थी, बोलचालमें कहीं झिझक का नाम न था। ऊपरसे शायद गुरुकुल हरपुरजानके किसी उपदेशककी मार्फ़त उन्हें पता लग गया था, कि मेरे विचार आर्यसमाजी हैं। वह और उनके मुसल्मान पेशकार अब्दुर्रहीम दोनों आर्यसमाजके अनुरागी थे। मेरी बड़ी ख़ातिर हुई। गड़े मुर्देके बारेमें मालूम हुआ कि यदि हथुआ-राजके अमलेको स्वीकार हो, तो पिछले सर्वेके इन्दराजको ऊपरसे हुक्म मँगाकर दुरुस्त किया जा सकता है। हथुआ-राजके अमलोंने खुशी-खुशी स्वीकार किया कि यह ज़मीन परसा मठकी है, और ग़ल्तीसे राजके नाम

दर्ज हुई है। एक दिन बा० अंजनीकुमारके आग्रहपर उन्हींकी अध्यक्षतामें समाज-सुधारपर मैंने वहीं केम्पमें व्याख्यान भी दिया।

सर्वेका काम ख़तम हो रहा था, लेकिन महन्तजीने अब फिर महन्तीकी लिखा-पढ़ीका सवाल उठाया। मैंने फिर अपनी बात दुहराई—मैं महन्ती कभी नहीं लूँगा, यदि वरदराजको महन्त बनावें, तो वह अपनेको उसके योग्य साबित करेंगे। नौकर-चाकर घेरे रहते थे, इसलिए निकल भागनेमें फिर दिक़्क़तें होने लगीं। एक दिन सिर्फ़ एक नौकरके साथ मैं छपरा आया। किसी कामके बहाने नौकरको परसा भेजा, और उसी दिन प्रयाग और लाहौरका टिकट कटा वहाँ जा पहुँचा।

छपरा छोड़ते ही संस्कृत-भाषणकी प्रतिज्ञा फिर जारी हो गई।

डी० ए० वी० कालेजका संस्कृत-विभाग अब (१९१९के आरम्भमें) वैदिक आश्रममें चला आया था, यहीं पढ़ाईके भी कमरे बन गये थे। प्रधानाध्यापक अब भी पंडित भवतराम थे, किन्तु पंडित नृसिंहदेव ओरियंटल-कालेजमें चले गये थे, और उनकी जगह युक्तप्रान्तके एक पंडित थे, जो वर्णव्यवस्था तथा जातिवादपर तीखे प्रहारों-को सुनकर तिलमिला उठते थे। शास्त्री श्रेणीमें भरती होगया, और परीक्षाका फ़ार्म भी भरकर चला गया। अन्य विषय साध्य मालूम होते थे, किन्तु न्यायभाष्य और व्याकरण——कक्षामें सबसे तीव्र होनेपर भी—मुझे असाध्य मालूम होने लगे। न्यायभाष्य तो पढ़ानेवाले अध्यापकके अभावमें और व्याकरण कंठस्थ करनेके समय और रुचिके अभावमें। पंडित नृसिंहदेव शास्त्रीको दर्शन-ज्ञानका बहुत अभिमान था, किन्तु जब मैंने उनसे पढ़नेकी इच्छा प्रकट की, तो एक-दो बार बुलाया, और कुछ शुरू भी किया, किन्तु पीछे समयाभाव कहकर टाल दिया। मुझे मालूम हो गया, कि इसमें पढ़ानेकी असमर्थता ही कारण है।

मेरे विशारदवाले साथी अब शास्त्रीके साथी थे। वर्षों बाद सारी टीमको एक जगह देखकर विद्यार्थीको सन्तोष होता है, और उनमेंसे यदि कुछ आगे बढ़ गये हों, तो उससे कष्ट भी बहुत होता है। रामप्रतापकी चुटकियाँ अब भी वैसी ही सजीव थीं। देवदत्त-द्वय अब भी वैसे ही मनोरंजक थे। सत्यपाल अब भी वैसा ही बेफ़िक्र तरुण शाहज़ादा था। कक्षासे बाहरके साथियोंमें 'ख़ुर्सन्द'जी अब भी 'आर्यगज़ट'की कुर्सीपर थे। भाई साहेब 'मौलवी-आलिम' होकर 'मौलवी-फ़ाज़िल'की तैयारी कर रहे थे। भाई रामगोपाल टच्युशन और, भाई साहेबकी सहायता करते कुछ पढ़ रहे थे। मुंशी मुरारीलाल यहीं प्रतिनिधिसभाकी उपदेशकी करते थे, इसलिए समय-समयपर मिल जाया करते थे। बलदेवजी और सोमयाजुलू वंशीलालके मन्दिरमें अब भी

डटे हुए थे, और दोनों क्रमशः एफ़० ए० और बी० ए०की अन्तिम परीक्षाओंकी तैयारी कर रहे थे।

रहनेका स्थान ढूँढ़नेपर सत्थाँ-बाज़ारमें जगह मिली। कुछ तरुणोंने वहाँ एक छोटासा आर्यसमाज खोला था। सादगी रखते हुए भी कुछ क़ीमती स्वदेशी कपड़े परसामें मेरे पास आ गये थे, जो यहाँ भी मौजूद थे। रेशमी चादरें, अधिक क़ीमतके पट्टूकी बग़लबन्दियाँ, बेशक़ीमत सफ़ेद आलवान, और रेशमी साफ़े बाँधना परसा हीमें किसी वक़्त क्षम्य हो सकते थे, मैंने उनमेंसे कुछको बाँट दिया, कुछके पैसे कर लिये, और कुछ ऐसे ही पासमें रख रक्खे।

अख़बारोंको पढ़ना, देश-विदेशकी राजनीतिक ख़बरोंको ग़ौरसे देखना, भारतमें राजनीतिक क्रान्तिकी चाह, रूसी क्रान्ति और साम्यवाद——ये मेरे प्रिय विषय थे। साम्यवादपर किसी ग्रंथके पढ़नेका अब भी अवसर न मिला था, किन्तु उसपर काफ़ी चिन्तन और तर्क-वितर्क किया करता था, तो भी अभी मेरा साम्यवाद आर्यसमाजके धर्मकी एक उदार व्याख्यामें सम्मिलित होने लायक़ था। कुछ सालों तक अच्छी तरह पढ़ाई करके पूर्वीय देशों——चीन या जापान——में वैदिक धर्मप्रचारके लिए जाना, बस यही धुन थी। अपने इस प्रोग्राममें जब मुझीको सन्देह नहीं था, तो दूसरेको सन्देह कैसे होता। नये तजर्बोंके बिनापर आदमी बदलता रहता है——इस तत्त्वपर मेरा विचार अभी नहीं गया था।

महायुद्धके आख़िरी दो वर्षोंमें होम-रूलके लिए आन्दोलन शुरू हुआ था, यद्यपि अभी वह साधारण जनता तक नहीं पहुँचा था, तो भी वह नरमदली कांग्रेसकी तरह उच्च मध्यम श्रेणीके पठितों तक ही सीमित नहीं रहा। लड़ाईके समय लोगोंको अख़बारोंकी चाट लगी, अख़बारोंकी संख्या बढ़ी, साथ ही उनमें गर्मी भी आई। लोगोंमें कुछ निर्भीकतासी आती दिखाई पड़ी। अंग्रेज़ी सर्कारने स्वायत्त-शासनकी घोषणा की, और भारतमंत्री मिस्टर माण्टेगु स्वयं भारतकी राजनीतिक अवस्थाके अध्ययनके लिए आये। लड़ाईकी ख़बरोंसे मालूम होने लगा, कि संसारमें अंग्रेज़ ही सर्वशक्तिमान् नहीं हैं, जर्मनी भी इनके मुक़ाबिलेकी शक्ति है, और अमेरिकाके मुँहकी तो बाट जोही जाती है।

१९१८के अन्तके साथ लड़ाईका भी अन्त हुआ, किन्तु लड़ाईने लोगोंके मनोभावमें जो परिवर्तन किये, उनका अन्त नहीं हुआ। जब तक शिरपर संकट था, अंग्रेज़-शासक तरह-तरहकी चिकनी-चुपड़ी बातें करते थे, किन्तु लड़ाई समाप्त होते ही नवभारतके रुख़से उनके मनमें तरह-तरहकी शंकायें उत्पन्न होने लगीं। लड़ाईके समयके लिए तो

भारत-रक्षा क़ानून बनाकर उन्होंने अपने विरुद्ध किसी भी हलचलको दबा देनेका बन्दोबस्त कर लिया था, किन्तु लड़ाईके बाद भारतरक्षा-क़ानून हट जाता। उधर लड़ाईके दिनोंमें भी आतंकवादी क्रान्तिकारियोंका काम बन्द नहीं हुआ था, बल्कि जहाँ पहिले उसका क्षेत्र सिर्फ़ बंगाल तक था, वहाँ अब वह युक्त-प्रान्त और पंजाब तक पहुँच गया था। सर्कारने जस्टिस रोलटकी अध्यक्षतामें आतंकवादके जाँचके लिए कमीटी बनाई, जिसकी रिपोर्टपर भारतकी हर स्वतंत्र आवाज़को दबानेके लिए, हर उग्र राजनीतिक संगठनको कुचलनेके लिए रोलट-क़ानून तैयार किया। जनताके प्रतिनिधियोंने विरोध किया, किन्तु विजयके नशेमें उन्मत्त सर्कार उसकी क्या पर्वाह करने लगी ? क़ानून पास हो गया।

अपनी भीतरी-बाहरी पढ़ाईके साथ राजनीतिक घटनाओंपर मेरी ख़ूब नज़र रहती थी। जब हम लोग बंशीधरके मन्दिर या लाहोरी-दर्वाज़ेके बग़लके बाग़में जमा होते तो राजनीतिक परिस्थितिपर भी घंटों बातें होतीं।——हाँ, मेरी संस्कृत बोलनेकी प्रतिज्ञा चल रही थी। पंडित भगवद्दत्तके अन्वेषण-विभागमें कभी-कभी जाता, और अन्वेषण-सम्बन्धी पत्रिकाओं और पुस्तकोंसे अन्वेषकोंकी विस्तृत दुनियासे भी परिचित हो रहा था। पंडित भगवद्दत्तजी सभी विज्ञानों और आविष्कारोंको वेदसे निकालकर दिखलाते तो नहीं थे, किन्तु उन्हें स्वामी दयानन्दके इस सिद्धान्तपर सन्देह नहीं था; बहुतोंको वह निश्चित तौरपर वेदमें प्राप्त कर चुके थे, और बाक़ी भी पूरी गवेषणा करनेमें ज़रूर वेदोंमेंसे निकल आयेंगे——यह उन्हें विश्वास था। लाहौरमें मुझे याद नहीं, पहिले किसी सभामें व्याख्यान दिया था। अबके कालेज (अंग्रेज़ी-विभाग)की संस्कृत-परिषद्में व्याख्यान देनेके लिए कहा गया, और मुझे उसमें कोई हिचक तो थी नहीं। उर्दू-लेखतो लाहौरकी पहिली ही यात्रामें 'आर्यगज़ट'में ही लिखता रहता था।

बहिन महादेवीको पढ़नेके लिए कानपुर लानेका निश्चय मेरी सम्मतिके अनुसार हुआ था। अब कानपुरकी उस संस्थामें जितना पढ़ना हो सकता था, वह समाप्त हो चुका था, और बहिनजी आगे पढ़ना चाहती थीं। इसी बीच पंडित सन्तरामजी आ गये। वह उस वक़्त कन्या महाविद्यालय जालन्धरमें हिन्दीके अध्यापक थे। उन्होंने कहा——भेज दीजिये, वहाँ कोई छात्रवृत्ति भी मिल जावेगी। बलदेवजीके बड़े भाई जो पहिले सिंगापुरमें काम करते थे, लड़ाईमें ड्राइवर होकर मेसोपोतामिया चले गये थे, और बलदेवजीको समय-समयपर रुपया भेजते रहते थे, इसलिए उन्हें इत्मीनान था, कि ज़रूरत पड़नेपर वह बहिनजीकी भी मदद कर सकेंगे। रामगोपालजीने अपनी स्त्रीको शिक्षाके लिए ही हमीरपुर आर्यसमाजके प्राण पंडित राम-

प्रसादके यहाँ रखा था, और उनको भी लाहौर बुलाकर आगे पढ़ानेकी हम लोगोंकी सलाह थी। तै हुआ, कि परीक्षापत्र समाप्त होते हुए मैं कानपुर-हमीरपुर चला जाऊँ और बहिनजी तथा भाभी (रामगोपालजीकी स्त्री) को लिवा लाऊँ।

गृह-परीक्षामें सभी विद्यार्थियोंमें मैं प्रथम रहा, यद्यपि व्याकरण कमज़ोर था, तो भी पास होनेमें कोई दिक़्क़त न हुई। यही आशा युनिवर्सिटीकी परीक्षासे भी हो सकती थी। जैसे-जैसे अप्रेलका महीना और परीक्षा-दिन नज़दीक आता जाता था, वैसे ही वैसे देशका राजनीतिक वायुमंडल भी गर्म होता जा रहा था। चम्पारन और खेड़ाके आन्दोलनोंसे दक्षिण-अफ़रीकाके सत्याग्रह-विजेता कर्मवीर गांधीका यश और प्रभाव भारतमें भी बढ़ रहा था। जब तक कौंसिल-मंचपर रोलट-बिलका विरोध मंच-शूर नेता कर रहे थे, तब तक लोगोंमें कोई ख़ास जागृति नहीं आई; किन्तु जैसे ही मालूम हुआ कि गांधीजी स्वयं रोलट-एक्टका विरोध संगठित करने जा रहे हैं, तो अवस्था बहुत शीघ्रतासे बदलने लगी। लाहौरमें कालेजके विद्यार्थी, शिक्षित मध्यमवर्ग ही नहीं दूकानदार तक भी इधर दिलचस्पी लेने लगे। 'पैसा-अख़बार'-वाली सड़कपर अनारकलीके पासके होटलमें उस वक़्त मैं खाना खाया करता था। उसी वक़्त मैंने पहिले-पहिल उस श्रेणीके होटलमें भी मालिककी ओरसे दैनिक अख़बार रखनेका आयोजन देखा।——अख़बारके पढ़नेके लालचसे कितने ही लोग उस होटलमें खाना खाना पसन्द करते।

मेरी परीक्षा ३१ मार्चको शुरू हुई और ५ अप्रेल (शनिवार)को समाप्त हुई। पर्चे उतने बुरे नहीं किये थे, किन्तु जब होड़ लगाकर परीक्षक विद्यार्थियोंको फ़ेल करनेको तुले बैठे थे, तो इसका क्या जवाब। उस साल डी० ए० वी० कालेजसे शास्त्रीमें एक भी विद्यार्थी पास नहीं हुआ।

छै अप्रेल (१९१९ ई०)को रविवार था, इसी दिन सारे भारतमें रोलट-एक्ट विरोधी-दिवस मनानेकी गांधीजीने घोषणा की थी। उस दिनके लाहौरके नज़ारेके बारेमें क्या कहना है। सारी अनारकली सड़क ओरसे छोर तक नंगे काले शिरोंसे भरी हुई थी। लोग तरह-तरहके नारे लगा रहे थे। जलूस घूमते-घामते चार बजेके बाद ब्रेडला-हॉल पहुँचा। गर्मी काफ़ी थी। लोगोंको पानी पिलानेके लिए बहुतसी सबीलें लगी हुई थीं। वहाँ, हिन्दू-मुसलमानका कोई फ़र्क़ न था। एक ही गिलाससे दोनों पानी पी रहे थे। राष्ट्रीयताकी पहिली बाढ़ने छुआछूतको बहा फेंका——यद्यपि वह बहा-फेंकना स्थायी नहीं था, तो भी उसमें कितनी ताक़त है, इसका तो पता लग सकता था। ब्रेडला-हॉलके विशाल हॉलमें सारी जनता नहीं आ सकती थी, इसलिए

बाहर हातेमें भी चार-पाँच जगह सभायें की गईं। उस वक़्त अभी लौड-स्पीकरका युग आरम्भ नहीं हुआ था, तो भी वक्ताओंने किसी तरह अपने शब्दोंको जनता तक पहुँचाया ही।

छै अप्रेलके स्मरणीय दिवसकी उस स्मृतिको लिये सात अप्रेलको मैं लाहौरसे रवाना हुआ। माणिकचन्द (भगवतीप्रसादके भाई) ज्वालापुर महाविद्यालयमें संस्कृत पढ़ रहे थे, भाई भगवती भी कोई काम लेकर हरिद्वारमें रहते थे। पहिले मैं हरिद्वार गया, फिर ज्वालापुर, और फिर गुरुकुलकांगड़ी भी (उसके पुराने स्थानमें)। बढ़ती हुई गर्मी, गंगाका बर्फ़ीला पानी दो ही चीज़ें उस समयकी याद हैं। हरिद्वारसे रवाना हो तिलहर-स्टेशन उतर ढकिया-वरा, अभिलाषचन्द्रके घर गया। अभिलाषचन्द्रसे मिलकर मुझे हमेशा खुशी होती, उसमें कुछ ऐसी सजीवता, ऐसी साहसिकता थी, जिसकी मैं बड़ी क़द्र करता था। अभिलाषने मोटर-ड्राइवरी पास कर ली थी। फ़ोटोग्राफ़ी भी अच्छी तरह जानता था। उसने बैठकेमें बहुतसे देवीदेवताओंकी तस्वीरें लगा रखी थीं, वहाँ शराबकी बोतलें और गिलास भी जमा थे। मालूम हुआ—हज़रत आगे बढ़ते-बढ़ते खुफ़िया-विभागके आँखके काँटे बन गये थे, और अब अपने पतनको प्रकट करने, तथा इसके द्वारा खुफ़िया-विभागकी आँखोंमें धूल झोंकनेके लिए यह ढोंग रचा गया था। लेकिन कोई भी पार्ट जब निर्लाग होता है, तभी असर पैदा करता है। यहाँ अभी भी छै गोलियोंका रिवाल्वर उनके पास था, आतंकवादियोंसे सम्बन्ध रखनेवाली पुस्तकें मौजूद थीं। गर्म राजनीतिक विचार रखनेपर भी मेरी इच्छा अभी आतंकवादमें जानेकी न थी। शायद भीतरसे साम्यवादका असर इसका कारण हो, शायद विदेशमें धर्मप्रचारकी लालसा उसमें बाधक हो। अभिलाषने हालमें शादी की थी, और उसने बतलाया किस तरह पिस्तोलके सहारे मैं स्त्रीको निष्ठुरोंकी क़ैदसे निकाल लाया। उनकी स्त्री ज़्यादा पर्दा नहीं करती थीं, और मुझे भाभीका रिश्ता लगानेमें देर न लगी। ढकिया-वराकी जिस चीज़ने सबसे ज़्यादा प्रभाव डाला, वह था अभिलाषकी माँका वात्सल्यपूर्ण बर्ताव। माँके स्नेहसे मैं बचपन हीमें वंचित हो गया था, एक तरह बल्कि माँका स्नेह क्या होता है, इसे देखनेका मुझे मौक़ा ही नहीं मिला। अभिलाषकी माँ हमारे आपसके स्नेहको जानती थीं, इसलिए खिलाने-पिलाने, बातचीत करनेमें मुझे उनमें माँका हृदय झलकता था। थीं वह गाँवकी अनपढ़ स्त्री, और यद्यपि अभिलाषके दादा साधारण चौकीदारसे तरक़्क़ी करके इन्स्पेक्टर-पुलीस हुए थे, तो भी पिताकी ओर नज़र डालनेपर माँमें उस तरहके विनीत, गम्भीर, परिष्कृत व्यवहारकी आशा नहीं हो सकती थी। यागेशकी माँ

भी अपने पुत्रके सम्बन्धसे मेरे प्रति स्नेह-प्रदर्शन करती थीं, किन्तु वह अधिकतर भयके कारण होता था——कहीं यह मेरे बेटेको दुनियाके दूसरे छोरपर न ले भागे; किन्तु यहाँ भय कारण न था, बल्कि कारण थे परिष्कृत हृदय और मस्तिष्क। बेटेकी बातोंका उन्हें पता था——वह सर्कारके ख़िलाफ़ बातें करता है, वह पिस्तौल और बम्बका मसाला लिये फिरता है, वह ऐसी जमातका साथ दे रहा है, जो पकड़ी जानेपर यदि फाँसीसे बची, तो कालापानी ही़की सज़ा पायेगी; हो सकता है, एक दिन वह हमेशाके लिए घरसे ग़ायब भी हो जावे। उनको अभिलाषके विवाहित जीवनसे बड़ी प्रसन्नता थी, और समझती थीं कि हवाके हिलोरेमें उड़ती-फिरती सूखी पत्तीपर थोड़ा भार रख दिया गया है। मुझे अभिलाषका ब्याह पसन्द नहीं आया। मैं चाहता था, अभिलाष सूखी पत्तियोंकी भाँति ही हलका रहे, जिसमें उसकी उड़ानमें कोई बाधा न हो। अभिलाषका ब्याहके बादका वह मधुमास था——तरुण नागरिक सुन्दरीके समागमका मधुमास। उस समय उसे कहाँ ख़्याल था, कि वह कितनी क़ीमतपर इन सुनहली-बेड़ियोंको ख़रीद रहा है? अब कुछ समझाना बेकार था। मैंने उसके सामने प्रस्ताव रखा, कि धीरे-धीरे युक्तप्रान्तीय सर्कारकी मेकेनिकल इंजीनियरिंग परीक्षा पास कर लो, उसने इसे स्वीकार किया, और माँने भी समर्थन किया। आख़िर, कमाईका कोई उपाय किये बिना अभिलाष और उनकी पत्नीका जीवन भी तो चल नहीं सकता था।

ढकिया-बराह स्टेशनसे काफ़ी दूर है, फिर एकसे अधिक नदी-नालोंको पार कर जाना पड़ता है, गाँवके पास भी नदी है। हम लोग ठंडा होनेपर शामको नदीके किनारे दूर तक टहलने जाया करते थे। मेरा स्वप्नाना तो ओजपर था, और अभिलाष भी अभी अपनेको पहिले ही जैसा समझते थे। अब भी हमारी बातें लम्बी उड़ानके बारेमें ही हुआ करती थीं। शामके वक़्त लाल चकवा-चकई नदीके किनारे चर रहे थे, मैंने नाम सुना था, किन्तु उन्हें देखा न था। अभिलाषने जब इसे बतलाया, तो मैंने गम्भीर हो पूछा——'क्या सचमुच रातको यह जोड़ा अलग-अलग हो जाता है? एक नदीके उस पार और एक नदीके इस पार?' मालूम नहीं अभिलाषने इसका क्या उत्तर दिया।

दो-चार दिन बाद (१२ अप्रेलको) मैं स्टेशनको लौटा। अभिलाष भी मेरे साथ तिलहर आये। क़स्बेसे थोड़ा पहिले ही अभिलाषके एक परिचित बहलीपर जा रहे थे, उन्होंने बतलाया, कि अमृतसरमें गोली चल गई। जलियाँवालाका भीषण

हत्याकांड उन शब्दोंसे प्रकट नहीं हो रहा था, क्योंकि उन्होंने खबरको ताज़े अख़बारमें पढ़ा था। तो भी ख़बर काफ़ी संगीन मालूम हुई।

खरबाके रावसाहेब उस समय तिलहरके डाकबँगलेमें नज़रबन्द थे। अभिलाष उनसे एकाध बार मिले थे। मुझे मालूम होनेपर मैं भी मुलाक़ात करनेका इच्छुक हो गया। हम दोनों रावसाहेबके बँगलेपर गये। अभिलाषने अपना साथी नौजवान कहकर मेरा परिचय दिया। रावसाहेबने हिम्मतकी परीक्षा करनेके लिए पूछा—"आपको कोई उज्र तो नहीं होगा, यदि मैं पुलीसको बतलानेके लिए आपका नाम नोट कर लूँ। नज़रबन्द होनेसे मेरे लिए यह पाबन्दी है।" मैंने स्वाभाविक तौरसे कहा—'नहीं, कोई उज्र नहीं, आप ज़रूर नोट कर लें, केदारनाथ।' रावसाहेबकी बातोंमें अंग्रेज़ोंके प्रति भयंकर विद्वेष भरा था। उन्होंने कुछ स्वरचित कवितायें सुनाई, जिनमेंसे एकका एक अंश अब भी याद है—"गौरांगगणके रक्तसे निज पितृगण तर्पण करूँ।"

तिलहरसे कानपुर आया। अख़बारोंसे अमृतसर गोलीकांडकी कुछ और खबरें मालूम हुईं। किन्तु, अव्वल तो 'एसोशियेटेड प्रेस' जैसी अर्धसर्कारी समाचार-एजेन्सी छोड़ ख़बर पानेका दूसरा कोई ज़रिया नहीं था; होनेपर भी सर्कारके डरसे उन्हें छापनेकी कितनोंकी हिम्मत होती। कानपुरमें छोटेलाल-गयाप्रसाद ट्रस्टके महिला-श्रममें मैं बहिन महादेवीसे मिला। तै पाया, कि हमीरपुरसे रामगोपालजीकी पत्नी जानकीदेवीको भी लाकर यहाँसे पंजाब चला जावे।

१३ अप्रेलको हमीरपुर स्टेशनपर पहुँचा। हमीरपुर-रोडसे हमीरपुर काफ़ी दूर है। शायद मैं ऊँटगाड़ीसे गया था। शहरके पास नावोंके पुलसे यमुना पार करनी पड़ी। उस साल फ़सल मारी गई थी, अकाल[1] था और लोग पशुओंको दरख्तोंके पत्ते खिला रहे थे। जानकीदेवी गाँवसे निकलकर पहिले-पहिल शहरमें आई थीं। पतिके लिखनेपर आनेके लिए 'हुँ' तो कर दिया था, किन्तु अब मेरे पहुँचनेपर लज्जाने उनपर फिर ज़ोर मारा। यद्यपि अपने पतिसे मेरे और उनके भ्रातृत्वको वह अच्छी तरह सुन चुकी थी, तो भी लज्जापर विजय पाना उनके लिए असम्भव मालूम हुआ, और उन्होंने चलनेसे इन्कार कर दिया।

---

[1] गेहूँ रुपयेका ५ सेर और चना ६॥ सेर था।

८

मार्शललाके दिन (अप्रेल-मई १९१९ ई०)

कानपुर लौटा। बहिनजीके चलनेका तो सब इन्तिज़ाम हो गया, किन्तु स्टेशनमें पूछनेपर मालूम हुआ, जलन्धरका टिकट ही नहीं मिल रहा है, पंजाबमें मार्शल-ला जारी हो गया है। इस अनिश्चित स्थितिमें कानपुरमें रहना, खासकर मेरी जैसी तबियतके आदमीके लिए, मुश्किल था। पंजाबके नर-नारियोंपर--जिनमें लाहौरके मेरे कितने ही साथी भी थे--जो अत्याचार हो रहे हैं, उन्हें देखने और हो सके तो उसमेंसे कुछको अपने शिरपर भी लेनेके लिए मैं उत्सुक हो गया। बहिनजी भी आश्रमसे विदा हो आई थीं। पूछनेपर वह भी साथ ही चलना चाहती थीं। पूँछ-ताँछ करनेपर मालूम हुआ, पंजाबमें चलनेवाली ट्रेनोंके टाइमटेबुल रद्द हो चुके हैं, कानपुरसे ग़ाज़ियाबाद तकका टिकट मिल सकता है। (१६ अप्रेलको) मैंने ग़ाज़ियाबादके दो टिकट लिये। शायद ट्रेनमें ज़्यादा भीड़ न थी।

जिस वक़्त हमारी ट्रेन ग़ाज़ियाबाद पहुँची, उस वक़्त अभी रातका अँधेरा था। स्टेशनपर सशस्त्र पहरा था, और बालूकी बोरियोंको रखकर मोर्चाबन्दी की गई थी। साहेब-साहेबिन शंकितसे एक जगह खड़े या बैठे थे। महायुद्धके समय हमें ऐसा दृश्य देखनेमें नहीं आया था।

पता लगनेपर मालूम हुआ, सहारनपुरके रास्ते अम्बाला-छावनीका टिकट अब भी मिल रहा है। बिना ज़रा भी देरी किये (१७ अप्रेलको) फिर दो टिकट कटाये, और अम्बालाके लिए रवाना हुआ। सहारनपुरसे हमारी गाड़ीमें बड़ी भीड़ थी। हरिद्वारसे वैशाखी स्नान कर बहुतसे नरनारी लौट रहे थे।

अम्बाला-छावनीमें मालूम हुआ--आगेका टिकट बन्द है। बहिनजीको साथ लिये अम्बाला छावनीके आर्यसमाजमें पहुँचा। रहनेके लिए ठीक जगह मिल गई। दस-पन्द्रह दिन भी रहना होता, तो खाने-रहनेकी हमें कोई तकलीफ़ न होती; किन्तु इस प्रकार रास्तेमें--और फिर लाहौरके अपने साथियोंसे दूर रहना मुझे असह्य मालूम होता था। लाहौरमें भी गोली चली है, इसकी भी खबर मिल चुकी थी, और पंजाबमें होनेसे यहाँ अफ़वाहें भी बहुत ज़्यादा उड़ रही थीं। मैं दिनमें कई बार स्टेशन जा जलन्धरकी ट्रेनके बारेमें पूछता रहा। (१८ अप्रेल हीको) मालूम

हुआ, कि पहिले-दूसरे दर्जेके डाकवाले टिकट जलन्धरके लिए मिल रहे हैं। भीड़का मत पूछिये। बहिनजीको तो गठरी-मोटरी दे ज़नाने दूसरे दर्जेमें किसी तरह बैठा दिया, और मैं अपने डब्बेमें घुसनेमें इसीलिए सफल हुआ, कि मेरे पास कोई सामान न था, मैं अभी छब्बीस सालका छरहरा जवान था। अप्रेलके दोपहरकी गर्मीमें, बैठे और खड़े आदमियोंसे खचाखच उस भरी गाड़ीमें हवाके बिना दम घुट रहा था। तो भी गाड़ीमें जगह मिल जानेको मैं ग़नीमत समझ रहा था। निःशस्त्र साधारणसा आन्दोलन, जलियाँवाला-बाग़का रोमांचक नरसंहार, मार्शल-ला, और रेलों तथा यातायातके साधनोंकी यह अव्यवस्था——इन्हें देख मैं युद्धके दिनोंके युरोपीय जीवनका कुछ अनुभव कर रहा था। सदियोंसे चले आते देशके निर्जीव शान्त जीवनको मैं बिल्कुल पसन्द नहीं करता था। अशान्त जीवनमें मेरा पार्ट क्या होना चाहिए, इसे मैं निश्चय नहीं कर पाया था; तो भी मैं उसे पसन्द करता था। उसीसे परिवर्तनकी आशा थी, और ऐसे जीवनके लिए क़ीमत चुकानेको मैं तैयार था।

जलन्धर-छावनीपर उतर जानेपर मालूम हुआ, कन्या महाविद्यालय जलन्धर-शहरसे नज़दीक है। खैर दूसरी ट्रेनके लिए चौबीस घंटेकी प्रतीक्षा और गाड़ीमें घुसनेकी वह यन्त्रणा अब सोचनेकी भी बात न थी। मैंने आर्यसमाज (गुरुकुल-विभाग) के लिए एक ताँगा किया, और बहिनजीको लिये चल पड़ा। कानपुरसे ही मैं अपनी मानसिक उत्तेजनाओंमें व्यस्त था। एकाध बार जब आगेके टिकटके बारेमें मैं बहिनजीसे कुछ पूछता, तो वह 'हाँ' कर देतीं। मैंने उनके मानसिक भावोंके जाननेकी कभी कोशिश न की। मार्शल-लाके दिनोंमें, गोरों और सैनिकोंके राज्यमें इस तरह चलना मेरे अपने लिए कोई पर्वाहकी बात न थी, किन्तु जिस तरह बहिनजीको लिये मैं बेतकल्लुफ़ीसे सैर-सपाटेके भावमें यात्रा कर रहा था, वह कभी वांछनीय नहीं समझा जा सकता था। तो भी बहिनजी ज़रा भी भयभीत नहीं थीं, शायद ख़तरेका उन्हें उतना ज्ञान न था।

ताँगेवाला पूरबिया निकला। बलिया या आरा ज़िलेसे उसके बाप-दादा यहाँ छावनीमें साईसी करने आये थे, और एक तरहसे यहीं बस गये थे। मुझे मालूम था, कि इन पूरबियोंमें शिवनारायणीपन्थका बहुत प्रचार है। मैंने उससे जमातके 'लिखनीचंद' 'प्रधान' आदिके बारेमें पूछा। ताँगेवाला समझ गया मैं भी शिवनारायणी हूँ, क्योंकि बिना शिवनारायणी हुए कोई उन गुप्त शब्दोंको जान नहीं सकता। उसने अपने यहाँ आनेका आग्रह किया। मुझे उस वक़्त ख्याल आ रहा था, कनैलाकी बूढ़ी चमारिन गरिबियाका। सन् चारके अकालमें उसका घर उजड़ गया। सिर्फ़ एक

लड़की बची थी, जिसका व्याह पंजाबकी ऐसी ही किसी छावनीके आदमीसे हुआ था, जिसे कभी-कभी मैंने कनैलामें देखा था।

हम आर्यसमाजमें ठहरे। सन्तरामजीसे मुलाक़ात हुई, और बहिनजीके आश्रममें दाख़िल होनेमें कोई दिक़्क़त न हुई। लाहौरका रास्ता बन्द था। मार्शल-ला चल रहा था, किन्तु अब गोलियाँ नहीं चल रही थीं। अमृतसर नज़दीक होनेसे वहाँके बारेमें लोग बतला रहे थे——डायर ओडायरकी गोलीके निशान कुछ सौ नहीं हज़ारसे कहीं ज़्यादा स्त्री-पुरुष-बच्चे बने। डाक्टर सत्यपाल, डाक्टर किचलूके नेतृत्वमें अमृतसरकी जनताने कितनी निर्भीकता प्रदर्शित की, इसकी बहुतसी अतिरंजित ख़बरें हमें मिलने लगीं।

लाहौर अब दूरकी बात थी। बलदेवजी या रामगोपालजीके पत्रसे यह खबर मिली, कि हमारे सभी परिचित बच गये हैं। अब जलन्धरमें किसी तरह दिन काटना था। सन्तरामजीसे पहिले कई बार बातचीत करनेका मौक़ा मिला था, किन्तु साथ रहनेका यह पहिला मौक़ा था। हमारी तबियतें कुछ एक दूसरेसी मिलती हैं, इसका भी हमें आभास था। सन्तरामजीने रहनेके लिए मकान तो ले लिया था, किन्तु अभी खाना पकानेका कोई इन्तिज़ाम न था। शामके वक़्त रोज़ हम स्टेशनपर तन्दूरकी रोटी खाने जाते थे। तन्दूरसे निकलती गर्मागर्म करारी रोटी, प्याज़की चटनीके साथ कितनी मीठी लगती है, इसका अनुमान खाने वाले ही लगा सकते हैं। स्वाद और स्वास्थ्य दोनोंकी दृष्टिसे ऐसा अच्छा भोजन संसारमें मिलना मुश्किल है।

जलन्धरके अस्थायी निवासमें कई नये परिचित बने। हमारे लाहौरके पुराने दोस्त रामदेवजी इस वक़्त यहाँके नये खुले डी० ए० वी० इंटर मीजियट कालेजमें प्रोफ़ेसर थे, और अपने दूसरे साथी प्रोफ़ेसर ज्ञानचन्दके साथ एक ही मकानमें रहते थे। वहाँ प्याज़ डालकर तन्दूरमें पकी रोटियाँ मक्खन-सहित मट्ठेके साथ खानेमें ही 'मन्ना' नहीं मालूम होती थीं, बल्कि प्रोफ़ेसर-द्वयके योग-ध्यान-सम्बन्धी नये एड्वेंचरकी कथा बड़े मनोरंजनकी बात रही। योग, मन्त्र, देवताके आकर्षणोंसे मैं पहिले ही गुज़र चुका था, इसलिए मेरे लिए उनमें कोई खिंचाव न था; किन्तु मैं देखता था, बिना स्वयं भुक्तभोगी बने लोग इन आकर्षणोंके ख़िलाफ़ कुछ भी सुननेके लिए तैयार नहीं होते। प्रोफ़ेसर रामदेव बी० ए० (आनर्स, पीछे एम्० ए० भी) और प्रोफ़ेसर ज्ञानचन्द एम्० ए० हो कर स्वामी दयानन्दके ग्रंथोंमें योगकी महिमा पढ़ उस महान् साधना-की ओर प्रेरित हुए। कानों-कान उड़ती ख़बर उन तक पहुँची——'आजकल स्वामी सियाराम नामके एक महान् योगी हृषिकेशके आसपास रहते हैं। वह सिद्ध-पुरुष

हैं, बिरले ही वैसे महापुरुष संसारमें पैदा होकर माताकी कोखको पवित्र करते हैं। वह एम्० ए० हैं, प्रोफ़ेसर रह चुके हैं।'

दोनों तरुण चुम्बकसे खिंचे लोहेकी भाँति दौड़कर स्वामी सियारामके पास पहुँचे। स्वामी सियारामने पहिले तो कितने ही दिनों तक शिष्योंकी श्रद्धाकी परीक्षा की। अधिकारी पा, योग प्रारम्भ करनेसे पहिलेकी साधनायें शुरू कराईं। महीनों मूँगके रस और निराहारका सेवन कराया। और भी क्या-क्या व्रत रखवाये। और योगध्यान क्या बतलाते, दोनों प्रोफ़ेसरोंके कथनानुसार--अपनेमें अटल श्रद्धाका उपदेश करते, योगकी जगह वह यमराजके समीप हमें पहुँचाना चाहते थे। ख़ैर ! समयसे पहिले दोनों जनेकी आँखें खुल गईं। सियाराम और योगके फंदेसे बचकर वे सही-सलामत लौट आये, और अब वे कालेजमें प्रोफ़ेसरी कर रहे थे।

लाला देवराजके पास भी हम अक्सर जाते थे, उनकी बातें मनोरंजक होती थीं; किन्तु हमारी आयुओंमें युगोंका अन्तर था, इसलिए वहाँ वह मनोरंजन नहीं होता था, जो कि प्रोफ़ेसर-द्वयके यहाँ। हाँ, उस वक़्त हमारी ही समवयस्का एक और मूर्ति जलन्धरमें विद्यमान थी, जिसने यौवनके सरोवरको सुखाकर, सजीवताके उद्यानको जलाकर,ब्रह्मचर्यके कठोर पुरातन-पथको अपनाया था। मैं भी ऋषि दयानन्दका भक्त था, विदेशमें धर्मप्रचारके लिये ही अपनेको तैयार कर रहा था, किन्तु ज़िन्दगी भर मनकी ताज़ियादारी करना मुझे पसन्द नहीं था। सन्तरामजी भी मज़ाक़-पसन्द आदमी थे। हमें ब्रह्मचारीजीका व्यवहार उपहासास्पदसा मालूम होता था, यद्यपि हम उनकी नियतपर हम्ला करनेके लिए बिल्कुल तैयार न थे; बल्कि उनके त्यागकी दाद देते थे। ब्रह्मचारीजी मुज़फ़्फ़रनगर ज़िलेके रहनेवाले तरुण थे। वह स्वामी दयानन्द और आर्यसमाजकी पुस्तकोंको पढ़कर आर्यसमाजी हो गये। फिर आर्यसमाजके आदर्शके अनुसार जीवन व्यतीत करने तथा स्वामी दयानन्दकी शिक्षाके अनुसार वेदविद्या पढ़नेके लिए वह घरसे निकल पड़े। घरसे निकलनेसे पहिले अपनी सारी सम्पत्तिको--जो कि उनके जीवनके लिए काफ़ी थी--दान कर दिया। जहाँ-तहाँ घूमते-घामते वह जलन्धर पहुँचे। वह दस आर्यसमाजी गृहस्थोंके घरोंसे मधूकरी माँगकर भोजन किया करते, ब्रह्मचारियों जैसा तहमद और लँगोट पहनते, लकड़ीके खड़ाऊँपर चलते। पढ़नेमें भी ऋषि दयानन्दके बताये अनुसार ही पढ़ते, सिद्धान्तकौमुदी आदि सभी अनार्ष-ग्रंथोंकी छायासे भी परहेज़ करते। उस समय अष्टाध्यायी और महाभाष्य जैसे आर्ष-ग्रंथोंके पढ़ानेवाले पंडित दुर्लभ थे, इसलिए वह स्वयं ग्रंथोंका स्वाध्याय करते। कन्या-महाविद्यालयके धर्मशिक्षक भक्त रैमलजी,

आर्यसमाजके मंत्री, तथा बहुतसे श्रद्धालु आर्यसमाजी ब्रह्मचारीजीको बड़ी श्रद्धाकी दृष्टिसे देखते थे। हम भी उनसे सर्वथा वीतश्रद्ध न थे, तो भी कुछ बातें हमें अवश्य बहुत पुरानी मालम होतीं, और यदि गाँवभरकी स्त्रियाँ 'भवेह' (अनुजबधू) मान ली जावें, तो आखिर मज़ाक़ किनसे किया जावे ?

ब्रह्मचारीजी गर्मियोंमें कांगड़ा-पहाड़के लिए रवाना होनेवाले थे। सन्तरामजी और मेरी सलाह हुई कि ब्रह्मचारीजीको एक विदाई-भोज, तथा अभिनन्दनपत्र दिया जावे। भक्त रैमलको शामिल नहीं किया था। आर्यसमाजके मन्त्रीको सिर्फ़ संख्या बढ़ानेके ख्यालसे शामिल किया। हम दोनोंने मिलकर एक अभिनन्दनपत्र तैयार किया। भोजके लिए तेलमे तली सिर्फ़ प्याज़की पकौड़ियाँ दोनोंमें रखी गईं। ब्रह्म-चारीजी खड़ाऊँपर, अँचला पहने, चादर ओढ़े, नंगे शिर आकर कुर्सीपर बैठे। सब मिलाकर पाँचसे ज़्यादा आदमी वहाँ मौजूद न थे। कार्रवाई शुरू करते हुए मैंने कहा—इस सभामें मुझसे योग्य कोई व्यक्ति इस पदके लिए नहीं है, इसलिए मैं सभा-पतिके आसनको शोभित करता हूँ। चार कान कुछ खड़े तो ज़रूर हुए, किन्तु अभी वह उतनी दूर तक सोचनेके लिए तैयार न थे। फिर पंडित सन्तरामजीने अभिनन्दन-पत्र पढ़ना शुरू किया—

"....हम याद करके तड़प-तड़पकर मरेंगे, जब आपकी खड़ाऊँपर खट्-खट् करती सूरत स्मरण होगी।....जब आपकी गगनचुम्बिनी शिखा...."

ब्रह्मचारीजी कुर्सीसे उठकर भागने लगे। सभापति और अभिनन्दन-वाचकने मिन्नतें कर-करके ब्रह्मचारीको तो रोका, किन्तु मन्त्रीजी अलग आँखें लाल-पीली कर रहे थे—'ब्रह्मचारीको तेलकी पकौड़ी खिलाना किस शास्त्रमें लिखा है ?'

फिर अभिनन्दनपत्र शुरू हुआ, फिर अनुप्रासोंकी छटा और नखशिख-वर्णन। फिर ब्रह्मचारी भागने लगे। याद नहीं, तीसरी बार हम लोग ब्रह्मचारीको लौटानेमें समर्थ हुए या नहीं। अभिनन्दनपत्र शायद ही समाप्त हुआ हो। मन्त्रीजी तो पहिले ही सटक गये।

उस दिन बड़ा मज़ा रहा। दूसरे दिन भक्त रैमलजीको जब यह ख़बर मिली, तो उन्होंने हमें फटकारना शुरू किया—'ब्रह्मचारीसे मज़ाक़ ?' 'मज़ाक़ नहीं बेसरो-सामानीके साथ भोज-अभिनन्दनपत्रका दान था।' 'तेलकी पकौड़ी ब्रह्मचारीको ?' 'किस शास्त्रमें ?' हम लोग ज़्यादातर शिर नीचे गाड़कर सुनते ही रहे। इस घटनाके बाद मन्त्रीजी और भक्त रैमलजीने निश्चित कर लिया, कि मैं विदेशमें क्या देशमें भी धर्मप्रचार करने लायक़ नहीं हूँ।

कई दिनके इन्तिज़ारके बाद भी जब लाहौरका रास्ता न खुला, तो सन्तरामजीकी सलाह हुई घर हो आनेकी। हम लोग रेलसे जा होशियारपुरमें उतरे। पुरानी बस्ती वहाँसे बहुत दूर नहीं है। सन्तरामजी गाँवमें न रह अपने बाग़वाले मकानमें रहा करते थे। बाग़में आड़ू, लुकाट आदिके कितने ही दरख़्त थे, जिनमें एक यारकन्दी तुर्क माली काम कर रहा था। सन्तरामजीकी स्त्री (पहिली पत्नी) घरका काम-काज करनेमें असाधारण क्षमता रखनेवाली स्त्रियोंमें थीं। वह रोज़ हमें नाश्ता, मध्याह्न-भोजन, सायंभोजन बनाकर खिलातीं। एक दिन सबेरे बर्तन ले दूध दूहने गईं, दोपहर-को मालूम हुआ—लड़की पैदा हुई। मुझे विश्वास नहीं हुआ, किन्तु बात सच थी। हवन करानेमें व्यास मैं था, और बच्चीका गार्गी जैसा वैदिक नाम चुनना भी मेरा ही काम था। उसके बाद हम खाना खाने गाँवमें जाया करते।

सन्तरामके भाई-बन्द पचासों बरसोंसे चीनी तुर्किस्तानके व्यापारी हैं। उनके परिवारमें दर्जनों ऐसे थे, जो यारकन्द, खोतन, लदाख़में बरसों रह आये थे, और फिर जानेके लिए तैयार बैठे थे; वे तुर्की और तिब्बती भाषायें फरफर बोलते थे। दूर देशका नाम, वहाँके घर, गाँव, शहर, वहाँके रीति-रवाजकी कथा चल रही हो और 'सैर कर दुनियाकी' ऋचा मेरे कानोंमें न गूँजने लगे। रायसाहेब (सन्तरामजीके चचा)ने बतलाया—जाना मुश्किल नहीं, पासपोर्ट (?) लेना होगा, उसके बाद का इन्तिज़ाम हम लोग कर देंगे। खानेमें वहाँका काला किन्तु मिश्रीके दानोंकी तरह चमकते दानोंवाला गुड़ दहीके साथ खानेमें बड़ा स्वादिष्ट मालूम होता था। और सरसोंका सूखा साग इतना स्वादिष्ट हो सकता है, इसका मुझे कभी ख़्याल भी न आया था। मुझे उस वक़्त हलायुधका यह श्लोक बार-बार याद आता था—

"नूतनसर्षपशाकं पिच्छलीनि च दधीनि।
अल्पव्ययेन स्वादु ग्राम्यजनो मिष्टमश्नाति॥"

सन्तरामजीके दो या तीन भतीजे और भतीजियोंके गोरे गुलाबी रंगको देखकर मुझे यही ख़्याल आया, कि युरोपीय जातियोंकासा सुन्दर रंग भारतमें भी देखा जा सकता है। अभी तक कश्मीरके पंडितोंको मैंने नहीं देखा था।

पुरानी बस्तीसे हम लोग होशियारपुर पैदल आये, और फिर ताँगा बदलते जलन्धर शहर आ गये। थोड़े ही दिनों बाद टिकट मिलने लगा, और मैं लाहौर पहुँच गया।

लाहौरमें भी लाहोरी दर्वाज़ेपर गोली चली थी, जहाँ मरनेवालोंमें मुंशीराम शास्त्री एक तरुण विद्यार्थी था। इसी साल उसने शास्त्री परीक्षा दी थी, और परि-णामके इतना ख़राब निकलनेपर भी वह पास देखा गया, यद्यपि उस वक़्त वह उसे

सुननेके लिए मौजूद न था। मुंशीराम अनाथालयमें पला था, और एक होनहार नौजवान था।—'हसरत उन गुंचों पै है, जो बिन खिले मुर्झा गये।' उसे कई गोलियाँ लगी थीं, देखनेवाले साथियोंने बतलाया, कि सभी गोलियाँ सामनेसे उसकी छाती, बाहों और जाँघोंमें घुसी थीं। मुंशीराम जैसे कितने बहादुरोंने मार्शल-लाके हाथों—क्रोधान्ध ब्रिटिश शासकोंके हाथों—अपनी जानें गँवाई।

अभी मार्शल-ला जारी ही था, जब कि मैं लाहौर पहुँचा। अख़बार पढ़नेको बहुत कम मिलते थे। जगह-जगह फ़ौजी आज्ञायें चस्पाँ थीं—लोगोंको कब चलना चाहिए, कब सोना चाहिए, दूकानदारोंको चीज़ें किस भाव बेंचनी चाहिए. . . ., नहीं तो क्या दंड होगा। इस वक़्त पंजाबके लफ़्टेंट-गवर्नर ओडायरको अपनी हृदय-हीनताका पूरा परिचय देनेका मौक़ा मिला था। सेनाने निहत्थे स्त्री-पुरुषों, बाल-वृद्धों-पर जो अत्याचार किये थे, उनकी कथायें सुनकर खून खौलने लगता था। म्युज़ियम-की ओर मार्शल-लाकी अदालतें बैठती थीं। पकड़े हुए लोगोंके भाग्यका निबटारा देखनेके लिए उनके सम्बन्धी सहस्रों नरनारी जमा रहते थे, और बेगुनाहोंकी फाँसी, लम्बी-लम्बी सज़ायें सुन-सुनकर हमारे जैसोंको अपनी बेबसीपर ग़ुस्सा और ग्लानि होती थी। भगवान्में मेरा विश्वास अभी टूटा नहीं था, तो भी सोचता—उनका न्याय आज क्यों नहीं होता? आज इन अदालतोंपर बिजली क्यों नहीं गिरती? पहिले गोले-गोलियों, हवाई-जहाज़ोंसे नन्हें-नन्हें बच्चोंके खूनसे हाथ रंगके पीछे फाँसी-डामिलका हुक्म सुनानेवाले इन आततायियोंकी जीभ कट हज़ार टुकड़े हो क्यों नहीं गिरती? ऐसी अत्याचारी क़ौमका बेड़ा महायुद्धमें क्यों नहीं हमेशाके लिए ग़र्क़ हो गया?

गर्मियोंमें पंजाबमें ल्हस्सी (मट्ठा) पीनेका बहुत रवाज था, किन्तु दही नौ बजते-बजते साफ़ हो जाती थी। फ़ौजी अफ़सरने दर मुक़र्रर कर दी थी, उससे बेशी दामपर बेंचनेपर कड़ी सज़ा और जुर्माना होता। लोग सबेरे ही दहीकी दूकानपर भीड़ लगा देते थे। हाँ, केसरीदासका लेमनेड, लाइम-जूस इसी वक़्त सारे नगरमें प्रसिद्ध हुआ था। यह दूकान वंशीधरके मन्दिरसे बिल्कुल पास थी, इसलिए हम लोग अक्सर वहाँ पहुँच जाते थे।

रोलट-एक्टके विरुद्ध जो भारी विद्रोहकी यह भावना पैदा हुई थी, उसने बहुतसे मुर्दोंमें रूह डाल दी थी, किन्तु मार्शल-लाके दिनोंने इनमेंसे कितनोंको सड़ी लाशोंमें परिणत कर दिया। कलके रंगे सिंह आज अपने असली रूपमें दिखलाई देने लगे। कल जिनके नाम जोशीली नोटिसोंपर छपते थे, आज वह सर्कारकी

फ़र्माबर्दारीके लिए नोटिसें निकाल रहे थे। वे ओडायर-शाहीकी खुशामदके लिए रास्तेमें पड़ी अपने शहीदोंकी लाशोंपरसे पैर रखकर जानेमें ज़रा भी आनाकानी नहीं करते थे। पंजाबने इन्हें 'कुत्ते', 'झोली-चुक्क'के खताब दिये, जिसकी चोटसे उन्हें बचानेमें मार्शल-ला भी असमर्थ रहा। उस वक़्तके इन 'झोली-चुक्कों'पर पीछे सर्कारकी पूरी कृपा होना स्वाभाविक था, और उसने उन्हें सर, मिनिस्टर और क्या-क्या नहीं बनाये। किन्तु देश क्या उनके गुनाहोंको भुला देगा? जो देश अपने विश्वासघातियोंको उनके कियेका मज़ा नहीं चखाता, वह अपनी इज़्ज़त और स्वतन्त्रताको कभी नहीं क़ायम रख सकता।

मार्शल-लाका लोगोंपर आतंक छा गया था, किन्तु उस आतंकका ज़रा भी असर हमारे जैसोंपर नहीं था। जासूसोंका जाल बिछा रहनेपर भी मित्रमंडलीमें अंग्रेज़ी शासनके खिलाफ़ हमारी टिप्पणियाँ उसी तरह होती थीं। अंग्रेज़ी शासनके प्रति हमारी घृणा कई गुना बढ़ गई थी, और 'झोली-चुक्क' हमारे मानसिक कोपकी आगमें बुरी तरह भस्म हो रहे थे। पंजाबके अखबार क़रीब-क़रीब बन्द थे, हम खबरोंके लिए दूसरे प्रान्तोंके पत्रोंका इन्तिज़ार करते। दिल्लीके 'विजय'(सम्पादक, इन्द्रजी)की कापियाँ आतेके साथ बिक जाती थीं। कुछ ही दिनों बाद जब मालूम हुआ, कि दिल्लीके एक संस्कृतके पंडित——खुशामदके बलपर महामहोपाध्याय——विजयकी खबरों और लेखोंको जाँचनेके लिए सेन्सर बने हैं, तो वैसे पंडितोंके खिलाफ़ हमारी घृणाकी सीमा नहीं रह गई। मैं सोचा करता——आखिर किस स्थायी लाभके लिए ये लोग इतने नीचे गिरते हैं? पेट तब भी उनका चल रहा था। कुछ पैसे ज्यादा मिल गये, किन्तु वह तो सदाके लिए नहीं मिलते रहेंगे। उस वक़्त देशद्रोहसे हज़ारों रुपये पैदा करनेवाले कुछ तो पीछे दाने-दानेको तरसते देखे गये।

मार्शल-ला हटा, किन्तु इसी समय अफ़ग़ानिस्तान-अंग्रेज़ युद्धकी खबरें आने लगीं। सारे बेल्जियम, आधे फ़्रांस, तथा उनके दोस्तोंकी बहुतसी भूमिपर बढ़ते चले जानेपर भी जब अंग्रेज़ दुनिया भरमें अपनी ही जीतकी खबरें फैला रहे थे, तो अफ़ग़ानिस्तानके युद्धके बारेमें हमें सच्ची खबरें मिलने पायेंगी, इसकी तो सम्भावना ही न थी। तो भी हम लोगोंका दिया फ़ैसला सदा अंग्रेज़ोंके खिलाफ़ रहता।

घटनाओंकी गर्मीके बीचसे हमें लाहौरकी उस सालकी गर्मी बीतते मालूम न हुई। बलदेव और सोमयाजुलू घर चले गये थे, और परीक्षा-परिणामकी खबर देनेको कह गये थे। क्रमशः परिणाम निकले। मैं अपनी सारी शास्त्री-जमायतके साथ अनुत्तीर्ण, बलदेव पास, सोमयाजुलू फ़ेल। बर्सात शुरू होना चाहती थी, पढ़ाईके

शुरू होनेमें अभी दो महीनेकी देर थी। पसीनोंके बाद बदनमें छोटी-छोटी फुन्सियाँ शुरू हुईं, मुझे लाहौरमें उदासी मालूम होने लगी। उसी समय पंडित गोविन्ददासको मैंने एक पत्र लिखा, उन्होंने बड़े आग्रहपूर्वक चले आनेके लिए लिख भेजा।

९

चित्रकूटकी छायामें (१९१९-२० ई०)

जूहीसे जब मैं बाँदाकी लाइनपर चल रहा था, तो देखा ताल-तलैयाँ भरी हुई हैं। ढाई मास पहिले यहीं मैंने लोगोंको दरख्तोंके पत्तोंसे पशुओंकी प्राणरक्षा करते देखा था। महोबा-स्टेशन पार होते वक़्त मुझे पादरी ज्वालासिंहके मुबाहिसेकी बात याद आई; किन्तु इस बार मैं वहाँके किसी परिचित आर्यसमाजीसे भेंट करनेकी चाह नहीं रखता था। कर्वीमें स्टेशनसे उतरकर——महन्त जयदेवदासके मठमें पहुँचा। अयोध्याके परिचित मित्रोंमें मिले सिर्फ़ व्याकरणाचार्य पंडित गोविन्ददास पाठशालाके प्रधानाध्यापक।

महन्त जयदेवदास चित्रकूट-मंडलके वैरागी महन्तोंमें सबसे अधिक धनी और प्रतिष्ठित महन्त थे। धनी होनेपर भी उनको अभिमान न गया था। वेष-भूषासे तो मालूम होता, कि कोई मामूली रमता साधु हैं। खाने-पीनेका भी उन्हें शौक़ न था। यद्यपि वह मामूली हिन्दी भर जानते थे, किन्तु विद्याके प्रति उनका स्नेह था, इसी-लिए तो उन्होंने संस्कृतकी एक बड़ी पाठशाला खोल रखी थी। श्रावणमें रासलीला और संस्कृतपाठशाला ये दो उनके शौक़की चीज़ें थीं। दोनोंके लिए उन्होंने कुछ जायदाद अलग कर दी थी। रासलीलाके लिए पत्थरके खम्भोंकी एक खुली बारा-दरी बनवाई थी, जो पाठशालाके क्लास-रूमका भी काम देती थी। विद्यार्थियोंके रहनेके लिए मठके बाहरी ओर भी बरांडे सहित कितनी ही कोठरियाँ थीं, जिनमें मठ और आवासोंमें न आ सकनेवाले साधुविद्यार्थी रहते थे, इन्हीं कोठरियोंमें बारादरीसे तीसरी या चौथी कोठरीमें मेरा आसन था। गृहस्थ (ब्राह्मण)-विद्यार्थियोंके रहनेके लिए बारादरीसे दक्खिन एक मकान था। उस वक़्त पंडित गोविन्ददासके अतिरिक्त पंडित जगदीश त्रिपाठी और पंडित शिवनारायण शुक्ल दो और अध्यापक थे।

मेरा इरादा कलकत्ताकी किसी परीक्षामें बैठनेका था। वेदमध्यमा पास हो गया था, इसलिए वेदतीर्थमें मैं बैठ सकता था, किन्तु यहाँ उसके किसी ग्रंथका कोई अध्यापक न था। पाठशालाके विद्यार्थी अधिकतर काशीकी सरकारी परीक्षा देते थे। पंडितजीकी राय हुई, कि मैं सम्पूर्ण न्यायमध्यमामें बैठूँ। स्मरणशक्ति अब भी मेरी क्षीण न थी, किन्तु रटनेको मैं बड़ी नफ़रतकी निगाहसे देखता था, इसलिए सफलतामें सन्देह था। आगे चलकर सांख्य-मध्यमा (विहार), साधारणदर्शन-मध्यमा (कलकत्ता), मीमांसा-प्रथमा (कलकत्ता)के लिए भी फ़ार्म भरे, जिनमें बिहारकी परीक्षामें तो दूसरी परीक्षाके उसी समय पड़ जानेसे बैठ नहीं सका। उसी विषयकी प्रथमा जिसने पास नहीं की है, वह मध्यमामें नहीं बैठ सकता, इस नियमके अनुसार साधारणदर्शन मध्यमामें मुझे बैठनेकी इजाज़त नहीं मिली।

सावनमें रासलीला शुरू होनेसे पहिले ही मैं कर्वी पहुँच गया था। रामलीला तो पहिले भी कितनी ही बार देख चुका था, किन्तु रासलीला देखनेका यह पहिला मौक़ा था। रातको दर्शक नरनारियोंकी बड़ी भीड़ लगती थी। मथुराकी मंडली थी, और 'पारखी' लोग बड़ी तारीफ़ कर रहे थे। मुझे तो उनके संलाप अस्वाभाविक, वेष बेहूदे, गान अश्लील मालूम होते थे। मैं तो इस बातके लिए तअज्जुब करता था, कि मंडलीका अध्यक्ष अपने बेटे-भतीजेमेंसे एकको राधा और दूसरेको कृष्णका वह प्रेमाभिनय नाटच करनेकी इजाज़त कैसे देता है? किन्तु ऐसा भाव प्रकट करते हुए मैं यह भूल जाता, कि मैं वैरागी ऊपरसे दिखलाने भरके लिए था, और भीतरसे आर्यसमाजके विचार उन बातोंका विरोध कर रहे थे।

न्यायके दो-एक ग्रंथोंको मैंने पंडित गोविन्ददासजीके पास पढ़ा, और योगसूत्र, सांख्यकारिकाको याद किया। शास्त्रीमें फ़ेल होकर आया था, किन्तु पाठशालामें विद्यार्थियों और साधुओंकी ओरसे मुझे शास्त्रीकी आनरेरी उपाधि मिली थी। महन्तजीको अंग्रेज़ीका काग़ज़-पत्र जब पढ़ाना होता, तो मेरी खोज करते, और सिर्फ़ उसी वक़्त मैं उनके पास जाता; बाक़ी वक़्त उनके उत्तर कोनेके दोमहलावाली बैठके-पर मुझे जाते किसीने कभी नहीं देखा। महन्तजी शायद इसे विद्या तथा परसा जैसे बड़े मठके उत्तराधिकारी होनेके कारण मेरा अभिमान समझते हों; किन्तु सहवासी विद्यार्थी, अध्यापक और साधारण साधु भी वैसा समझनेकी ग़लती नहीं कर सकते थे। मैं सबसे मिलता, सबसे बात-चीत करता, काम पड़नेपर सबकी सेवाके लिए तैयार रहता। क्वारका महीना था, दोपहरको हरिनारायणदास——एक तरुण साधु——का शिर बहुत ज़ोरसे दर्द करने लगा। लोग उसे पकड़े हुए थे, और वह पक्के फ़र्शपर

अपना शिर पटकनेकी कोशिश करता था। लोग जिस किसीकी दवाका उपचार करना चाहते थे। मैंने कहा—डाक्टर बुलाना चाहिए। डाक्टर बुलाने कौन जावे ? मैं तैयार हो गया, इसपर फ़र्रुखाबाद ज़िलेका एक तरुण साधु भी मेरे साथ हो लिया। कर्वीमें एक बंगाली डाक्टर प्राइवेट प्रेक्टिस करते थे, उन्हें हम बुला लाये। उन्होंने कई घड़ा ठंडा पानी हरिनारायणके शिरपर उड़ेलवाया। धीरे-धीरे दर्द जाता रहा। उस वक़्त मुझे यह नहीं मालूम था, कि क्वारकी वह कड़कती धूप इतनी भयंकर साबित होगी। उसी दिन अयोध्यासे मीमांसकजी (मैसूरवाले तामिल पंडित) आ गये, और उनके साथ मैं तो भरतकूप आदिकी ओर उन्हें दर्शन कराने चला गया, किन्तु इधर फ़र्रुखाबादी साथी सख़्त बीमार हो गया। तीसरे या चौथे दिन ९ बजे दोपहरको मैं जब लौटकर आया, तो यह बात मालूम हुई। उसकी कोठरीकी ओर जानेपर यह देखकर मुझे खुशी हुई, कि उस दिनके बाद आज बिछौनेसे उठकर वह बाहर दातवन कर रहा है। मैंने जाकर ललाटपर हाथ रखा, वह बर्फ़की तरह ठंडा था, हाथ भी शीतल। ख़ैर, उठकर बाहर बैठे दातुवन करते देख, तथा 'बड़े ज़ोरकी भूख लगी है'—कहते सुन मैंने उसके बदनके ठंडे होनेकी कोई चिन्ता न की। लौटकर अभी अपनी कोठरीमें पहुँचा ही था, कि खिचड़ी पकानेमें लगा साथी दौड़ा हुआ आया—'देखिए वह तो गिर गये।' जाकर देखा, हमारा वह निर्भीक साथी बिछौने-पर मुँहके बल गिरा है, उसके मुँहसे निकले रक्तमिश्रित कफ़से दो अंगुल कपड़ा भीग गया है; उसका शरीर ठंडा हो गया है, नाड़ी और हृदयकी गति बन्द हो गई है। क्वारकी उस ख़तरनाक दोपहरीमें मैं उसे क्यों लिवा गया—इस पछतावेसे अब होनेवाला ही क्या था ? जिस वक़्त सभी सहवासी साधुओंमेंसे एक भी डाक्टरको बुलानेके वास्ते मेरे साथ जानेके लिए तैयार न हुआ था, उस वक़्त वह स्वयं तैयार हुआ। उसने अपने छोटेसे स्थानमें महन्त होकर सार्वजनिक काम करनेके बारेमें मुझसे कितनी ही बार बातें की थीं—ये सब बातें जल्दी भूल जानेवाली न थीं। अब उस साथीके शवके जलानेका प्रश्न था। मुझे वहाँके साधुओंके व्यवहारको देखकर क्रोध और घृणा पैदा हो गई। त्याग और वैराग्यके ये ठीकेदार, भक्त और भगवानके ये इश्तिहारी-सेवक अपने एक साथीके शवको मठके पीछे नदीपर ले जाकर फूँक आनेके लिए भी तैयार नहीं थे। लकड़ी तो ख़ैर, मठसे मिल गई। बहुत कहने-सुननेपर एक-दो साथी मिले। शवको ले जा, नौसिखिये हाथोंसे मैंने चिता चिनी, और उसपर अन्तर्लीन नई उमंगवाले उस तरुण निश्चेतन शरीरको रखकर जला दिया।

कर्वीसे चित्रकूट, तथा आसपासके पहाड़ और साधुओंके आश्रम नज़दीक हैं।

मैं कई बार चित्रकूट-पर्वतकी परिक्रमा करने गया।—तीर्थका भाव तो आर्यसमाजने हृदयसे हटा दिया था। वाल्मीकि कालके एक ऐतिहासिक स्थानके तौरपर अभी उसके प्रति सन्मान नहीं पैदा हुआ था, किन्तु प्रकृति देवीकी एक विचित्रताका आकर्षण ज़रूर था, यद्यपि हिमालयके दर्शनके कारण वह परिमित सीमा ही तक हो सकता था। चित्रकूट पहाड़की परिक्रमामें बने सैकड़ों मन्दिर, मठ और उनकी दूकानदारी, उनका बाह्य योग और आन्तर भोग मुझे अब उतना विकल नहीं करते थे, क्योंकि मैं धार्मिक जगत्के 'खानेके दाँत और दिखानेके और'से पूरा वाक़िफ़ था। चित्रकूटके शिखरपर चढ़नेमें मुझे आनन्द आता था। परिक्रमाके बहुतसे स्थान परिचित हो गये थे, इसलिए कहीं दो गिलास पानी पीते, कहीं मध्याह्न-भोजन करते, कहीं आध घंटा गप करते परिक्रमा सवेरेसे शाम तक पूरी हो जाती थी।

यद्यपि यहाँ भी वही नदी थी, जो कर्वीमें हमारी पाठशालाकी बग़लसे बहती थी, किन्तु वहाँ हमें 'चित्रकूटके घाटपर भइ सन्तनकी भीड़' याद न आती थी। नदीके और ऊपर चित्रकूटसे कुछ मीलपर जानकीकुंड था। यहाँ नदी पथरीली ज़मीनपर कल-कल करती बह रही थी। पानी स्वच्छ, जिसमें झुंडकी झुंड मछलियाँ तैरती थीं। साधुओंने यहाँ एक अपना गाँव ही बसा लिया था। कुटियाँ अधिकतर मिट्टीके भिडोंको खोदकर बनाई गई थीं, जो भीतरसे ठंडी मालूम होती थीं। ऐसी ही कुटियोंको देखकर तुलसीदासने अपने ऋषि-आश्रमोंका चित्रण किया होगा। जानकीकुंडके 'ऋषि' कितनी ही बातोंमें भेद रखते हुए भी, बहुत सी बातोंमें अपने पूर्वजोंसे समानता रखते थे। पहिलेके ऋषियोंकी भाँति ये सकलत्र न थे, किन्तु ये उन्हींकी भाँति सपरिग्रह थे। पहिलेके ऋषियोंकी भाँति ये सिर्फ़ वन्य कन्दमूलपर गुज़ारा नहीं करते थे, किन्तु थे ये उन्हींकी तरह यूथ बाँध अरण्यमें बसे। इंगुदीके तेलको यहाँ कोई नहीं पूछता था, यहाँ तो हमारे रसिक सन्तों (सखी लोगों)के दीर्घ केशोंसे चमेली और गुलरोग़न चुआ करते थे। आख़िर जिस सगुण पूजाको एक मात्र ये पूजा मानते थे, उसमें तारुण्य-का आनन्द लेनेवाले सीता-रामको उनके अनुरूप ही तो भोगसामग्री जुटानी चाहिए थी। जानकीघाटमें जब-तब सीतारामदास नामक एक युवकसे मिलकर बड़ी प्रसन्नता होती। वह अच्छे प्रतिभाशाली विद्यार्थी थे। सिद्धान्तकौमुदी प्रायः समाप्त कर चुके थे। पढ़ाईसे वैराग्य हुआ था, किन्तु अब आसपासके जंगलों, राजापुर, बाँदा आदि स्थानोंमें पैदल बे-सरोसामान घूमनेमें उन्हें आनन्द आता था। सगुण-उपासना और सखी-मार्गसे उन्हें भी मेरी ही तरह बहुत घृणा थी; सन्तों-महन्तोंकी मुसाहिबीसे उन्हें भी विरक्ति थी। कर्वीके गोलेमें (किराना-बाज़ार) एक रसिक साधु आये

हुए थे, रसिक होते हुए भी वह कुछ पढ़े-लिखे थे, इसलिए पढ़े-लिखे साधुओंका सन्मान करते थे। सीतारामजीके साथ मुझे भी कई बार वहाँ जाना पड़ा। क्या सत्संग होता था, याद नहीं, हाँ, जानेपर भोजन वहीं करके आते थे। सीतारामजीके साथ एक बार राजापुर भी गया। यमुनाका स्नान तथा "गोस्वामीजीके हाथ"की लिखी रामायणका दर्शन किया। कई पर्त कपड़ोंको हटाकर पुजारीने हाथके काग़ज़पर लिखी खुले पन्नेकी पुस्तकको दिखलाकर बतलाया--'कोई साधु इसे चुराये लिये जाता था। पकड़े जानेके डरसे उसने नदीमें फेंक दिया, उसीसे ये पानीके दाग़ हैं।' मुझे उस वक़्त कनैलाकी कैथीमें लिखी रामायण-पोथी याद आ रही थी, जो मेरे बचपनमें ज़्यादा नहीं तो सौ-डेढ़ सौ वर्ष पुरानी तो ज़रूर रही होगी, और जिसपर ही लोग 'गोविन्द-साहेब'के नीचे रामायण गाया करते थे।

कर्वीके पूरब कुछ दूरपर एक गाँवमें एक ब्रह्मचारीकी कुटिया थी। एक दिन सीतारामदासजीके साथ हम लोग वहाँ गये। कुटियाकी दीवार और फ़र्श कच्चे थे, किन्तु वह बहुत साफ़-सुथरी गेरूसे रंगी हुई थी। कुछ फूलके पौधे, स्वच्छ छोटा-सा आँगन बहुत सुन्दर मालूम होते थे। वैष्णव वैरागियोंके मुल्कमें यह गेरुआधारी ब्रह्मचारी कहाँ से ? ब्रह्मचारी, सीतारामजीके दोस्त थे, शायद उस दिन हम उनसे मिल न सके। रास्तेमें हमने बाजरेका होला खाया और आगे पहाड़की किसी गुफ़ामें गये। बतलाते थे, रातको यहाँ बाघ आया करता है। पहाड़ ही पहाड़से हम जानकी-कुंडकी ओर गये। रास्तेमें इंगुदी, चिरौंजी और दूसरे कई प्रकारके जंगली फलदार दरख़्त मिले। शायद पहाड़के अन्तपर एक कुटी मिली, जिसे किसी एकान्तप्रिय योगीने बनवाई थी। योगीके विचारोंने पलटा खाया, और वह रामके ज़मानेके ऋषियोंकी तरह सहयोगी बन गया, किन्तु आज दूसरी या तीसरी पीढ़ीके गृहवासियोंने उसे साधारण दरिद्र गृहस्थका घर बना दिया था, जिसके आँगन में नंगे बच्चों तथा फटे कपड़ोंवाली स्त्रियोंके साथ दारिद्र्य और दैन्य डोलते-फिरते दीख रहे थे।

चित्रकूटसे दंडकारण्यके रास्तेकी ओर जानेका आकर्षण मेरे लिए बहुत था, किन्तु इतनी बड़ी मुहिमके लिए वहाँ समय कहाँ था ? अनुसूयाके आश्रमपर हम एक बार गये थे। पहाड़ और घना जंगल, जंगली जानवरोंकी हर जगह सम्भावना थी, तो भी इन जंगली गाँवोंमें गायें-भैंसें बहुत दिखाई पड़ती थीं--चरागाह काफ़ी रहे, तो बाघ-बघेरे गायोंकी संख्याको कम नहीं कर सकते। विन्ध्याटवीमें घुसनेपर बाणके हर्षचरितमें बहिनकी खोजमें भटकते हर्ष और दिवाकरमित्रका आश्रम स्मरण आने लगता, और जंगलमें किसी कृष्णकाय ब्राह्मणको देखकर कादम्बरीका

जरद्-द्रविड़ धार्मिक याद हो आता। 'आश्रम' नदीके बायें किनारे था। वहाँ एक धर्मशाला थी। हम लोग खाना बनानेकी तैयारी करने लगे, धूआँ आसमानमें मेघ-चित्र बनाने लगा, तब हमें पिछवारेके पहाड़के पाषाण पार्श्वपर काले-काले बड़े-बड़े मधुच्छत्र लटकते दिखलाई पड़े। समयसे पहिले हम सजग हो गये, और आगको दूसरी ओर ले गये, नहीं तो वह लम्बी मधुमक्खियाँ यदि एक बार हमारी गुस्ताखी-को अपनी शानके खिलाफ़ समझ जातीं, तो हमारा वहाँसे बचकर निकलना मुश्किल था। मुझे यह सुनकर आश्चर्य हुआ, कि ग्रामीण लोग रातको मशाल बाले, बाँस या रस्सेके सहारे सैकड़ों हाथ ऊँची आगेकी ओर लटकती इन चट्टानोंपर पहुँच मधु जमा करते हैं। मेरे दिलमें तो यह ख्याल आनेपर भी तलवा पसीजने लगता था। भालू भी इन छत्तोंकी मधुको खाता है, यह मेरे लिए नई जानकारी हुई, जिससे पीछे उसका रूसी नाम मेद्वेद (मधु-अर)के समझनेमें आसानी हुई।

कर्वीमें रहते ही वक़्त जानकीघाट (अयोध्या)के एक साधु एक हस्तलिखित पुस्तक लाये। कह रहे थे, इसके ग्रंथके परिचयवाले अंशको छोड़कर उतारें, हम लोग इसे वेदान्तसूत्रोंपर रामानन्दभाष्य कहकर इसे प्रकाशित करेंगे। मैंने उसके कितने ही अंशोंको पढ़ा। वह किसी महात्मा तुलसीदासका बनाया वेदान्तभाष्य था, जिसमें अद्वैत वेदान्तका खंडन करते हुए द्वैतवादका प्रतिपादन किया गया था। आर्यसामा-जिक विचारोंके ग्रहणके साथ मैं शंकरके अद्वैत वेदान्तको छोड़ द्वैतवादी हो गया था, इस दृष्टिसे मुझे इस भाष्य या टीकाकी बातें पसन्द थीं, किन्तु तुलसीदासका नाम हटाकर उसे रामानन्दके नामसे प्रकाशित करना मुझे अनुचित मालूम हुआ, इसलिए मैंने वैसा करनेसे इन्कार कर दिया। पीछे मालूम हुआ, कि वह काम किसी दूसरेने किया।

कर्वीके साथियोंमें पंडित इन्दिरारमणकी ओर मेरा विशेष ध्यान आकर्षित हुआ था। व्यवहार-बुद्धिमें उनकी कमियोंको जानते हुए भी उनकी अध्ययन-सम्बन्धी प्रतिभाका मैं क़ायल था। इसके अतिरिक्त एक और बात थी, जिसने मुझे उनका अज्ञात पक्षपाती बना दिया था। इन्दिरारमणजी छपरा ज़िलाके एक गोसाईं-वंशमें पैदा हुए थे। गोसाईं-वंशका हिन्दुओंमें कितना ऊँचा स्थान है, यह इसीसे स्पष्ट है, कि बड़ीसे बड़ी उम्रका ब्राह्मण भी एक छोटेसे गोसाईं-लड़केके सामने शिर नवाता है। पन्दहामें मेरे नानाके दोस्त एक गोसाईं आया करते थे, उनका काला बड़ा-बड़ा गलगुच्छा तथा गलेमें रेशममें पिरोया एकहरा रुद्राक्ष मुझे अब भी याद आता था। उनको देखते ही नानाजीके सिखाये अनुसार मैं 'नम्मो नरायन' (नमो नारायण)

कह उठता। मेरे लिए बहुत पहिले भी यह विश्वास करना असम्भव बात थी, कि गोसाईं छोटी जाति है। और अब तो मैं भीतरसे पक्का आर्यसमाजी था। साधुओंको गुसाईं कहकर उनको नीची दृष्टिसे देखनेकी बात मेरे लिए असह्य थी। शायद, वैरागी वैष्णवोंका जन्मजात शंकर-मतानुयायी होनेसे भी गोस्वामी गृहस्थोंके साथ इस तरहका विरोध हो। इन्दिरारमणजीके दोस्त उन्हें ब्राह्मणवंशिक कहते थे, मैं भी ब्राह्मण कहकर उनके प्रतिद्वन्दियोंको फटकारता। मैं चूँकि स्वयं छपरा ज़िलेके एक प्रतिष्ठित मठका 'उत्तराधिकारी' था, इसलिए मेरी बातका उनके पास जवाब न होता। यह देखकर मुझे कभी-कभी चिन्ता होती थी, कि इन्दिरारमणजीको जब-तब उनकी बातें चुभती हैं, लेकिन उस वक़्त यह ख्याल न आया था, कि यह अपमान उन्हें साधुका स्वतन्त्र जीवन--जो कि साधकावस्थामें अपनेको तैयार करनेके लिए बहुत सहायक हो सकता है--छुड़ा गृहस्थीके जंजालमें फँसा देगा। छपरामें राजनीतिक कार्य करते वक़्त जब पहिले-पहिल मुझे यह ख़बर लगी, तो मुझे बहुत भारी धक्कासा लगा। गृहस्थ होनेपर आदमीको नोन-तेल-लकड़ीसे ही छुट्टी नहीं मिलती, वह अपने जीवनको विशेष कार्यके योग्य कैसे बना सकता है ?

कर्वीके साथियोंमें एक और सीतारामदास (मिथिलावासी) थे। वह पढ़नेमें दुर्बल थे, किन्तु उनका हृदय बहुत मृदुल था। सार्वजनिक सेवाके बारेमें उनसे बराबर बातें होती थीं। बीमार साधुओंको कैसे अनाथ छोड़ दिया जाता है, इसका अनुभव मुझसे भी ज़्यादा उन्हें था। मैंने उनसे कहा--आप कोई ऐसा स्थान बनावें जहाँ बीमार साधुओंकी पूरी तौरसे सेवा-सुश्रूषा होवे। उन्होंने उसके लिए योजना बनानी और तैयारी करनी भी शुरू की। अपने हृदयसे मैं उनके बारेमें भी समझ सकता था, कि देशाटनकी साध पहिले न पूरी करनेपर शायद पीछे उन्हें अपना काम बन्द करके निकलना पड़े, इसलिए पहिले इस साधको पूरा कर लेने के लिए मैंने सलाह दी। एकाध बार प्रयाग, बनारस और शायद जबलपुरतक हम साथ घूम भी आये। कर्वीके आख़िरी दिनोंमें मेरे पास दो लँगोटी, एक अँचला (जो पीछे एक कम्बलकी अल्फीके रूपमें परिणत हो गया), एक अँगोछी और एक लौकाका कमंडलू मात्र रहता था। मैंने अपने साथीको कहा--बस यही बाना लो, और बिना एक भी पैसा-कौड़ीके 'चारो मुल्क जागीरीमें' समझो। पीछेकी यात्राओंमें एक जगह सीतारामदासजीका सिर्फ़ एक बार पता लगा था, किन्तु भेंट फिर कभी नहीं हुई।

न्यायमध्यमा परीक्षामें सिद्धान्तलक्षण और 'सिंहव्याघ्रलक्षण'पर जागदीशी टीका भी थी। उसके पढ़नेके लिए मुझे बनारस जाना पड़ा। स्वामी वेदानन्दजीके यहाँ

नन्दनसाहुकी गलीमें ठहरा, और पढ़नेके लिए रणवीर-पाठशाला (हिन्दू विश्वविद्यालय)में उत्कल पंडित श्रीकर शास्त्रीके यहाँ जाया करते थे। श्रीकर शास्त्री पुरानी पीढ़ीके उन पंडितोंके अवशेष थे, जिन्हें पुत्र और शिष्यके स्नेहमें भारी अन्तर नहीं मालूम होता था। पाठ हो जानेके बाद बातें शुरू होतीं। वे काशी पढ़ने आये थे, शिक्षा समाप्तिके बाद यहीं रह गये। काशीका कोई भी प्रकांड पंडित पैसोंके लोभसे काशी छोड़ बाहर नहीं जाना चाहता। श्रीकर शास्त्रीकी भाँति ही मेरे मोतीरामके बग़ीचेमें रहनेके समय अस्सीपर एक वैयाकरण पंडित रहा करते थे। उन्हें रोज़ भाँगका गोला छाननेके लिए चाहिए था। व्याकरणके अच्छे पंडितोंमेंसे थे, और नगवामें १० या १२ रुपया महीनेपर पढ़ाते थे। एक बार एक रानीने उन्हें साठ या सत्तर रुपया मासिक तथा खाना-कपड़ापर अपनी राजधानीकी पाठशालामें पढ़ानेके लिए भेजा। पंडितजी महीनेके भीतर ही लौटकर फिर अस्सीसंगमपर भंग छानते दिखाई पड़े। कह रहे थे--पाठ रुपिल्लयोंके लिए क्या मैं सारी पढ़ी-पढ़ाई विद्याको भुलवा देनेके लिए वहाँ रहता? वहाँ तो लघुकौमुदीके ऊपरके विद्यार्थी ही नहीं मिलते; फिर मेरे 'परिष्कार', और फक्किका-विमर्श तो धरे ही रह जाते। श्रीकरशास्त्रीकी इसके सिवा और कोई कामना न थी, कि काशीमें अपना एक मकान हो जाये। मैं एक-दो महीने उनके पास पढ़ता रहा, किन्तु इतने हीमें मैं उनके प्रिय शिष्योंमें हो गया था।

काशीमें आनेसे भी मैं डरता था, फिर रहनेकी तो बात ही क्या? क्योंकि, वहाँ कनैलाके आसपासके किसी आदमीसे भेंट हो जानेका डर था। एक दिन टौनहालके हातेमें आर्यसमाजके वार्षिकोत्सवमें गया। देखा, मेरे पीछेकी पाँतीकी एक कुर्सी पर रामाधीन पांडे बैठे हुए हैं। मेरी नज़र उधर फिरते ही हमारी चार आँखें हुईं। उन्होंने पूछा--'घर नहीं चलोगे?' क्या जवाब दिया, मालूम नहीं; किन्तु ख़तरेका डंका बाज गया, यह समझनेमें तो कोई सन्देह नहीं रह गया। सौभाग्यसे मेरी पाठ्यपुस्तकें समाप्त हो चुकी थीं।

कर्वीमें लौटकर फिर परीक्षाकी तैयारी करने लगा, लेकिन सम्पूर्ण न्यायमध्यमामें जितने ग्रंथोंको रटना था, वह उतने थोड़े समयमें साध्य नहीं था।

जाड़ोंमें कर्वीके ज्वायंट-मजिस्ट्रेट मिस्टर खरेघाट शादी करके लौटे थे। उस समयके बड़े आदमी किसी उपलक्ष्यमें बड़े हाकिमोंको दावत देना अपना फ़र्ज़ समझते थे; इन बातोंकी परम्परा और क़ायदा बन चुका था। इधर महन्त जयदेवदासजी हाल हीमें अनारी-मजिस्ट्रेट बने थे। अभिज्ञोंने सलाह दी, ज्वायंट-मजिस्ट्रेट

तथा कलेक्टर साहेबको दावत देनी चाहिए। दावतकी तैयारियाँ होने लगीं। छपरा आने-जानेवाले एक साधु महन्तजीके मुसाहिबोंमें थे। जब उनसे मालूम हुआ, कि प्रयागकी एक अंग्रेज़-कम्पनी (किलनर?)को दावतकी चीज़ोंके इन्तिज़ामका भार दिया जा रहा है, तो मैंने समझ लिया, उसमें गोमांस भी आयेगा। उधर बग़लके मठ रामबाग़के महन्तके साथ हमारे महन्तकी बहुत चल रही थी। मैंने सोचा, इसकी ख़बर उन्हें लगके रहेगी, फिर यह बात वह समाचारपत्रोंमें छपवा देंगे। यद्यपि अब मैं सोलहों आने गरम राष्ट्रीयतावादी था, और इस प्रकार अंग्रेज़ों तथा उनके ख़ुशामदियोंसे चिढ़सी रखता था, किन्तु महन्त जयदेवदासजीमें बहुतसे गुण थे, जिनके कारण मैं उनकी इस एक कमज़ोरीका ख़्याल नहीं रखता था; इसलिए मैंने सद्भावनासे ही प्रेरित होकर उनके मुसाहिबसे कहा—'अंग्रेज़ लोग गोमांसको अनिवार्य भोजन नहीं समझते। ख़ासकर महन्तजी जैसे धार्मिक व्यक्तिकी ओरसे उसके प्रस्तुत होनेपर तो भीतर ही भीतर वह घृणा करेंगे, इसलिए खाद्य-सामग्रीमें उसे छोड़ देना चाहिए। महन्तजीको दुविधामें पड़े देख, उनके 'राजभक्त' दोस्तोंने—जिन्हें ख़ुद ऐसी दावतें करके धन्य-धन्य होनेका मौक़ा मिल चुका था—उन्हें यह कहकर डरा दिया, कि वैसा करनेपर तो कलेक्टर साहेब अपनी तौहीन समझेंगे। फिर जिस देवताके मृदु-हासकी प्रतीक्षा हो, उसीकी आँखें लाल कराने कौन जावे। महन्तजीने कह दिया—'हम ज़मींदार हैं, हमें सर्कार-दर्बारसे भी काम पड़ता है, इसलिए दावतमें जो चीज़ें लगती हैं, वह आवेंगी।' मेरे मनपर इसका बुरा प्रभाव पड़ा। हिन्दुओंमें गोभक्ति कितनी मौखिक है, इसका यह एक ज्वलन्त उदाहरण था।

दावत यद्यपि खरेघाट साहेबके व्याहके उपलक्ष्यमें हो रही थी, किन्तु उसमें निहित था बाँदाके कलेक्टर (अंग्रेज)को अनारी-मजिस्ट्रेटी देनेके लिए धन्यवाद देना। तो भी खरेघाट-दम्पतीके नामसे ही अभिनन्दन आदि तैयार करना था। पंडित गोविन्ददास और पंडित जगदीश त्रिपाठीकी राय हुई, कि इस समय कुछ संस्कृत-पद्य खरेघाट साहेबको प्रदान किये जावें। महन्तजीने इसमें अपनी पाठशालाकी भी सार्थकता समझी, और पंडितोंके प्रस्तावको स्वीकार करते हुए, उसपर बड़ी प्रसन्नता प्रकट की। और लोगोंने पद्य बाँधना शुरू किया, किन्तु उसमें उन्हें सफलता नहीं दीख पड़ी। फिर वह भार 'शास्त्री'जी (मुझ)पर डाला गया। याद नहीं कितने पद्य बनाये, लेकिन वे पाँच-छै पत्रोंसे कमपर नहीं लिखे गये थे। सुलेखक होनेसे कवि और लेखक दोनोंका काम मुझे ही करना पड़ा। संस्कृत कविताओंमें गोमूत्रिका, मृदंग, पद्म आदि कई बन्ध आये थे, एक गीतिका भी थी, और एक शब्दा-

लंकार तथा अर्थालंकार मिश्रित कोई रचना। एक हिन्दीकी भी तुकबन्दी किसी संस्कृत छन्दमें थी, जिसमें खरेघाटके पारसी-वंशकी प्रशंसा करते हुए मैंने दादाभाई नौरोज़ी, सर फ़ीरोज़शाह मेहता, और सर दीनशा वाचाका गुणानुवाद किया था। लाल-काली स्याहीमें सफ़ेद चिकने मोटे काग़ज़पर लिखकर तैयार हो जानेपर, बिना अर्थ समझे भी देखनेवालेको वे पत्रे अच्छे लगते थे। इसी वक़्त किसीने महन्तजीसे जाकर कह दिया, कि एक कवितामें दादाभाई नौरोज़ी आदि सर्कार-विरोधियोंका नाम आया है। 'झोली-चुक्कों'की गुटने महन्तजीको सलाह दी——तब तो 'पूत माँगने गई पति खा आई'की मिसाल होगी। महन्तजीने पंडित जगदीश तिवारीसे कहा कि कवितामेंसे वह अंश निकाल दिया जावे। मुझे यह सुनकर बड़ा क्षोभ हुआ, क्योंकि मैं अपनी इच्छाके विरुद्ध सिर्फ़ महन्तजीकी लालसा पूरी करनेके ख्यालसे यह सब कर रहा था। मैंने त्रिपाठीजीको कह दिया, कि महन्तजी नाहक़ इन खुशामदी टट्टुओंके फेरमें पड़े हैं, यदि स्वयं खरेघाट साहेबसे आप पूछेंगे, तो वह अपने सम्बन्धमें दादाभाई आदिका नाम गौरवकी चीज़ समझेंगे। उस कविताके छोड़ देनेका रुख देखकर मैंने कह दिया——'फिर मैं अपने एक भी पत्रेको नहीं दूँगा।' उन्हें मालूम था, कि मैं कर्वीमें अपने मित्र पंडित गोविन्ददासजीके बुलानेसे आया हूँ, मैं किसीकी प्रसन्नताके लिए इतनी दूर तक न जाऊँगा। दावतके दिन खरेघाट-दम्पती एक डेढ़ घंटे पहिले आये। जगदीश पंडित उन्हें मठके कितने ही भागोंको दिखलाने ले गये। उसी समय उन्होंने दादाभाई शब्दवाली कविताका ज़िक्र कर दिया। खरेघाटने बड़े उत्साहसे कहा—— 'कोई हर्ज नहीं है। कलेक्टर क्या नाराज़ होगा?'

कवितायें पढ़ी गईं। दूसरे दिन हमें उसका अर्थ समझानेके लिए खरेघाटने अपने बँगलेपर बुलवाया।

काशी न्यायमध्यमाकी परीक्षा देने प्रयाग जाना पड़ा और कलकत्ताकी मीमांसा प्रथमाके लिए जबलपुर। मध्यमामें अनुत्तीर्ण, मीमांसाप्रथमामें प्रथमश्रेणीमें उत्तीर्ण।

मार्चके अन्तमें हम जंगलकी सैरके लिए गये थे, वहाँसे लौटनेपर बुखार आने लगा। इधर भाई साहेबने लाहौरमें शास्त्रीकी फ़ीस दाखिल करा दी थी। साल भर पुस्तकोंके पढ़नेका मौक़ा ही नहीं मिला था, फिर फ़ार्म भर देने भरसे परीक्षा कैसे पास की जा सकती है? किन्तु, अबके एक लम्बी यात्रापर निकलनेका इरादा था, साथ ही लाहौरके दोस्तोंसे भेंटका अवसर भी था।

१०

फिर घुमक्कड़ीका भूत (१९२० ई०)

कर्वी छोड़ते वक़्त भी अभी बुखारने मुझे छोड़ा न था। पैसा पास न था, इसलिए सारी यात्रा "दस-आने-छै-आने"में करनी थी। "दस-आना-छै-आना" बिना टिकटकी रेलयात्राका नाम था; समझा जाता है हर सम्पत्तिमें छै आना शाही-अंश होता है, और रेलमें सफ़र करते वक़्त हम उसी अपने छै आनेवाले हक़्क़को ले रहे हैं। सारी यात्रामें किसी स्टेशनपर भी मैंने छिपकर जानेकी कोशिश नहीं की, और न टिकट-चेकरसे ही कहीं बचना चाहा। दिल्लीमें लाहौरवाली डाकपर जानेसे रोका, लेकिन फिर क्या समझकर टिकट-कलेक्टरने छोड़ दिया।

बुखार रहते भी परीक्षामें बैठा, बस परीक्षाके बारेमें इतना ही याद है। बलदेव, रामगोपाल, भाईसाहेबसे मुलाक़ात हुई। कई सालोंसे जमा होते भावोंने बुद्धके प्रति मेरे दिलमें परमश्रद्धा उत्पन्न कर दी थी। इधर उनकी जीवनियोंके पढ़नेसे बुद्धके जीवनसे सम्बन्ध रखनेवाले स्थानोंके दर्शनके लिए उत्सुकता बढ़ी थी, अबके तै किया उन्हें देखनेका। लौटते वक़्त जलन्धर उतरा। सन्तरामजीने इरादेको सुना तो कहा—स्थानोंके बारेमें "भारती" (कन्या महाविद्यालयकी मुखपत्रिका)के लिए लेख लिख देंगे—'भास्कर'के बाद यही हिन्दीमें मेरे प्रथम लेख थे, और यात्रा-सम्बन्धी तो सबसे पहिले लेख।

मुझे ख्याल नहीं, जलन्धरके बाद और कहीं रास्तेमें उतरा या नहीं। बनारस पहुँचनेपर अब भी बुखारने पिंड नहीं छोड़ा था। स्वामी वेदानन्दजी पंडित छन्नूलाल वैद्यके यहाँ ले गये, और उनकी दवाने फ़ायदा ज़रूर किया, क्योंकि आगे ज्वरकी याद नहीं।

सारनाथ एक बार फिर गया। उस वक़्त पुराने ध्वंस, अशोकस्तम्भ ही वहाँकी मुख्य दर्शनीय चीज़ें थीं। महाबोधिसभाका एक छोटासा मकान और उसमें छोटीसी पाठशाला थी। सारनाथसे सीधे तहसील-देवरिया होकर कसया जानेमें आज़मगढ़का ज़िला पड़ता है, इसलिए मुझे छपराका रास्ता लेना पड़ा, और मार्गमें होनेसे एक-दो दिनके लिए परसामें ठहरा। महन्तजीने मुझसे निराश हो उत्तराधिकार देनेके लिए अपने भतीजेको चेला बना लिया था; यह सिर्फ़ इतने ही अंशमें मुझे बुरा लगा,

कि वरदराज और वीरराघव जैसे महन्तीके योग्य उनके दो शिष्य पहिले हीसे मौजूद थे, मेरे अस्वीकार करनेपर उनमेंसे किसीको उत्तराधिकारी बनाना वाजिब था। किन्तु, जिस राजनीतिक आदर्शवादकी ओर मैंने क़दम बढ़ाया था, उसमें परसा मठके कुप्रबन्ध या सुप्रबन्धसे बहुत अन्तर पड़नेवाला नहीं था।

शामके वक़्त मैं तहसील-देवरिया स्टेशनपर उतरा। रातको बाज़ारसे बाहर किसी मन्दिरमें ठहरा, सबेरे वहाँसे कसयाकी सड़क पकड़ी। अप्रेलका अन्त या मईका शुरू था। धूप और बोझ यात्रामें मेरे सबसे ज़बर्दस्त शत्रु हैं।—बोझसे तो मैं निश्चिन्त था; एक पतले कम्बलकी घुटनेसे थोड़ा नीचे तककी अलफी, दो लँगोटियोंके अतिरिक्त एक गमछा—बस इतने ही कपड़े थे। पानी पीनेके लिए लौकाका एक कमंडलू था। पैर और सिर नंगे। शायद एक या दो किताबें थीं। हाँ, धूपका डर ज़रूर था, और उसकी दवा एक ही थी, कि नौ बजेसे चार बजे शामतक चला ही फिरा न जावे। दोपहरको मैं रास्तेके किसी मद्रसेमें ठहरा। वहाँ गोरखपुर ज़िलेका नक़शा देखने गया, पीछे अध्यापकने खानेका निमन्त्रण दे दिया। शामको सड़ककी बाईं ओर एक नया आमोंका बग़ीचा मिला। कूआँ था, और शायद एक पक्का चबूतरा भी। ज़मींदारका पक्का घर और गाँव थोड़ा हटकर था, मुझे खानेकी इच्छा न थी, इसलिए गाँवमें जानेकी ज़रूरत नहीं थी। वहाँ चबूतरेपर पड़े मुझे शामकी ठंडी हवाके झोंके बहुत अच्छे मालूम होते थे।

सबेरे चलते वक़्त भूख नज़दीक मालूम होती थी, इसलिए सड़कपर बाईं ओरके गाँवमें जब एक वैरागी मठका पता लगा, तो मैंने वहाँ जाकर पहिले भोजनसे निवृत्त हो लेना ज़रूरी समझा।

गाँवसे रामाभार ('मुकुटबन्धन'—बुद्ध-शवदाह)का ताल नज़दीक ही था, शायद मठके कुछ मकानोंमें किसी पुराने ध्वंसकी ईंटें भी लगी हुई थीं। साधु बतला रहे थे, कि माथाकुँअर राजकुमार थे, उनकी बहिनका नाम रामा था। कुशीनगरमें काले पत्थरकी बुद्धमूर्ति राजकुमार माथाकुँअर थे, और बुद्धका चितास्तूप राजकन्या (रामाभार)का स्थान। 'मुझे माथाकुँअर (कुशीनगर) जाना है'—कहनेपर बोल उठे—क्या वर्मावालोंके देवताका दर्शन करने जाओगे।

कसयामें भी किसी वैरागी मठमें ठहरा। उसमें तहसीली स्कूलके मिडल-क्लासके कुछ लड़के भी रहते थे। मैंने मनोरंजनके लिए कुछ प्रश्न पूछे, जिससे उन्होंने समझ लिया, मैं स्कूलका पढ़ा-लिखा हूँ, और इससे मेरी क़द्र बढ़ गई।

शामको पाँच बजे बाद मैं बुद्धके निर्वाणस्थान (माथाकुँअर) पर गया। दिनकी

दहकती धूप अपनी तेज़ीसे वंचित हो सुनहले रंगमें परिणत हो गई थी, और भूमि मेरे नंगे पैरोंके लिए सह्य थी। नये निकले कोमल पत्तोंवाले शीशम दूर तक भूमिको अपनी छायासे ढाँक रहे थे। मैंने बुद्धकी जीवनियाँ पढ़ी थीं, यद्यपि मूल प्राचीन भाषा-में नहीं। उस भूमिके भीतर प्रविष्ट होते वक़्त मेरा हृदय ढाई-हज़ार वर्ष पहिलेके उस महान् भारतीयकी ओर खिंचा हुआ था, जिसने अपनी जन्मभूमिका नाम संसार भरमें फैला दिया, और संसारके एक तृतीयांशके मनुष्योंके लिए भारतको पुण्यभूमि बना दिया।

ध्वंसके बाहर शीशमोंके पास एक चिताकी सफ़ेद-सफ़ेद राख, बिना छूई-छाई देखी। पूछनेपर मालूम हुआ, महावीर महास्थविर अभी-अभी मरे हैं, उन्हींका यहाँ दाहसंस्कार हुआ है। मुझे महावीर स्वामीसे न मिल पानेका अफ़सोस हुआ। सदियों बाद वही पहिले उत्तर-भारतीय थे, जो कि भिक्षुसंघमें प्रविष्ट हुए थे। महा-वीरसिंह, कुँअरसिंहके रिश्तेदारोंमें पड़ते थे, और १८५७के स्वातन्त्र्ययुद्धमें उन्होंने भी कुँअरसिंहका साथ दिया था। पीछे अपने जैसे दूसरे वीरोंकी तरह उन्हें भी भेस बदलकर मारा-मारा फिरना पड़ा। वह पहलवान् थे, इसलिए राजाओंके यहाँ कुश्तीका कर्तब दिखलाते थे। इसी तरह भटकते-भटकते वह लंका (सीलोन) पहुँचे। बीमार पड़ जानेपर एक भिक्षुने उनकी सेवा-सुश्रूषा की, और उसीके सम्पर्कसे उनका बौद्धधर्मसे परिचय हुआ। वर्माके पतनसे पहिले ही वह वहाँ जाकर भिक्षु बन गये थे। बौद्धधर्मकी शिक्षाने महावीर स्वामीको अपना भक्त बना लिया, और वह उसके भव्य इतिहासको सुनकर एक बार फिर इस भूले देशमें बुद्धकी स्मृति लानेके लिए उत्सुक हो गये। उन्होंने इसी अभिप्रायसे कुसीनगरमें मठकी स्थापना की, और अपने शेष जीवनको यहीं बिताया।

महास्थविर चन्द्रमणि अभी उतने बूढ़े नहीं हुए थे। महावीर बाबाके वह सहायक और उत्तराधिकारी थे। उनसे मिलकर मुझे बुद्धकी जीवनी, तथा कुसीनाराके मल्लोंके बारेमें और भी कितनी ही बातें मालूम हुई। उन्होंने द्वार खोलकर सोई हुई विशाल मूर्तिको दिखलाया, जिसको पूजनेसे मेरे शिर, हृदय और हाथोंको आर्यसमाजी विचार भी नहीं रोक सके। मैंने व्याख्या कर दी——मैं ईश्वरकी मूर्तिकी तो पूजा नहीं कर रहा हूँ, यह एक ऋषिके प्रति अपनी श्रद्धांजलि अर्पित करनी है।

कसयामें रातको रहकर सबेरे फिर मैं देवरियाके लिए रवाना हुआ। दोपहर तरकुलहवामें बीता। कर्वीवाले मेरे एक दोस्तका जन्मस्थान इसीके आसपास किसी गाँवमें था। मैं उन्हें चिढ़ाया करता——रामसुन्दरदास, तरकुलहिया भवानीके बनाये ब्राह्मण हैं। आसपासके कितने लोग जिनके पास घरमें यज्ञोपवीत-संस्कार करानेके

लिए न पैसा है, और जो न विन्ध्याचल ही जा सकते हैं, तथा माँ-बापने जिनके लिए मानता मान दी है, वे तर्कुलहिया भवानीके नाबदानमें ही डुबोकर जनेऊ पहिन लेते हैं। रामसुन्दरदासको क्या मालूम था, कि जो उनके जनेऊके लिए मज़ाक़ करता है, उसे ख़ुद विन्ध्यवासिनीके नावदानमें डुबोकर जनेऊ पहनाया गया था। रामसुन्दरदासके लिए मेरे दिलमें अच्छा स्थान था, क्योंकि कर्वीमें वही थे, जो कि इन्दिरारमणजीके पक्षका खुल्लंखुल्ला समर्थन करते थे।

देवरियासे गोरखपुर स्टेशनपर उतरकर जब मैं बाहर निकलने लगा, तो टिकट-कलेक्टरने टिकटके बारेमें तो कोई ख़ासतौरसे नहीं पूछा, किन्तु उसने निवास-स्थानके बारेमें पूछना चाहा। मैंने जब 'रमता साधु' कहा, तो उसे और दृढ़ हो गया कि मैं ख़ुफ़िया पुलीसका कोई अफ़सर हूँ। उसने बड़ी नर्मीसे कहा—नहीं, मैं आपको दिक़ नहीं करना चाहता, किन्तु आप यह न समझें कि मैं आपको पहिचानता नहीं। शायद मेरा लम्बा-चौड़ा क़द तथा शुद्ध साहित्यिक भाषा इस भ्रमका कारण हुई हो।

गोरखपुरमें किसी वैष्णवमठमें ठहरा। दूसरे दिन जब नवगढ़रोड स्टेशनपर उतरा, तो गर्मी दूर हो चुकी थी, किन्तु साथ ही दिन भी बहुत कम रह गया था। पूछनेपर रुम्मिनदेई (लुम्बिनी) बहुत दूर मालूम हुई। ककरहवा बाज़ारकी ओर घूमनेवाली सड़कपर न जा मैं थोड़ी दूर और आगे सड़कके बाईं ओरके गाँवमें गया। शायद कुर्मी लोगोंका गाँव था। रातको अनिच्छा प्रकट करनेपर भी उन्होंने कुछ खिलाया। ककरहवा बाज़ार पहुँचा, तो अभी बहुत सबेरा था। लोगोंने भगवानपुर होते रुम्मिनदेई जानेका रास्ता बतलाया।

भगवानपुर नेपालकी सीमाके भीतर शायद पहिला ही गाँव था। नेपालका अभी तक सिर्फ़ मैंने नाम और गुणगान तक सुन रखा था, अब साक्षात् उसकी शासित भूमिमें पैर रख रहा था। भगवानपुर कुछ वर्षों पहिले गोर्खा-अफ़सरोंका हेडक्वार्टर था। अब भी वहाँ नेपाली ढंगके बने कितने ही घर मौजूद थे, लेकिन अफ़सरोंके चले जानेसे गाँव श्रीहीन तथा बनिये आश्रयविहीन बन गये थे। पूछनेपर उत्तर ओर-के आमोंके बाग़में एक साधुनीकी कुटियाका पता लगा। छोटीसी कुटिया थी, और दरख़्तोंकी घनी छाया। अब धूप तेज़ हो चली थी, इस वक़्त लुम्बिनी जानेका सवाल नहीं था। साधुनी प्रौढ़ा थीं। उनका लम्बा क़द, गोरा शरीर, दीर्घ कृष्ण केश यौवनके अपराण्हको बहुत देरसे गिरा नहीं बतलाते थे, और चेहरेकी रेखायें तो साक्षी दे रही थीं, कि यह सौन्दर्य तरुणाईमें अनाकर्षक नहीं रहा होगा। प्रौढा-योगिनी आचारी वैष्णव थीं, तो भी किसी कामसे वहाँ ठहरे नेपाली ब्राह्मणके हाथका बनाया

खानेमें आना-कानी नहीं करती थीं। मुझसे पूछनेपर मैंने भी अपनेको परमहंस कह दिया। उस गर्मीमें चूल्हा फूँकनेके लिए कोई भारी बेवक़ूफ़ ही तैयार होसकता था।

दिन जब ख़ूब ठंडा हो गया, तो मैं लुम्बिनी पहुँचा। एक छोटी पोखरीके भिंडोंपर बहुतसी कँटीली झाड़ियाँ, तथा बेल और दूसरे वृक्ष थे। एक छोटासा मन्दिर था, जिसके आँगनमें बकरा, मुर्ग़ा आदि बलि-प्राणियोंके ख़ूनका रंग लगा हुआ था। मन्दिरके भीतरकी मूर्ति अस्पष्ट थी। मन्दिरके पिछवाड़े कुछ पंक्तियोंके लेखके साथ अशोकका शिलास्तम्भ था। जीवदयापर इतना ज़ोर देनेवाले गौतमबुद्धके जन्म-स्थान पर यह पशु-बलि, रुधिर-रक्त-प्रांगण--सचमुच इससे दिलपर एक धक्का लगा। वहाँ कोई न था। कुछ देर बैठकर इस स्थानके अतीतपर सोचता रहा। वहाँसे उत्तर दूर दिखाई देते हिमालयके श्वेत शृंगोंपर नज़र पड़ते ही, वह मुझे 'आओ' 'आओ' कहकर बुलातेसे जान पड़े। एक बार ख़्याल आया, यहाँसे उधर ही बुटवलको चल दूँ, किन्तु अब सूर्यास्त नज़दीक था, बुटवल पहुँचने भरके लिए समय न था। शामको फिर योगिनीकी कुटियापर चला आया। नेपाली ब्राह्मण थोड़ा-बहुत संस्कृत भी जानते थे, इसलिए उन्होंने मेरी क़द्र की। उनसे नेपाल और हिमालयके तीर्थों, बस्तियों, रास्तोंके बारेमें पूछता रहा।

कपिलवस्तुका दर्शन बाक़ी था, इसलिए मुझे बुटवलकी यात्रा स्थगित करनी पड़ी। सबेरे तिलौराकोट (कपिलवस्तु)की ओर चला। बदनपर बोझ नहीं था, तो भी मन्द-मन्द चल रहा था। नौसे ऊपर बज रहे थे, एक छोटेसे गाँवको पार हो, एक पीपलकी छायामें मैं सुस्ताने लगा। कुछ ही देर बाद एक मुसल्मान किसान आ गया। उससे दो-चार बातें हुई। उसने कहा--धूप बहुत हो गई, चलें आज इसी बस्तीमें दोपहर बितावें। अपनी गोशालामें उसने चारपाई बिछा दी। मालूम हुआ, गाँवके अधिकांश बाशिन्दे मुसल्मान हैं। रसोई बनानेके लिए उन्होंने एक हिन्दू बुला दिया। रसोई उधर बनती रही, और हमारी बातचीत भी जारी रही। कुछ बेला ढलनेपर एक 'मौलवी' साहेब भी आ गये। वह गाँववालोंको नमाज़-रोज़ा सिखलाते थे। क़ुरान कुछ टो-टाकर पढ़ लेते थे। मेरे सामने जब क़ुरान रखी गई, तो मैं फरफर पढ़ने ही नहीं लगा, बल्कि आयतोंके अर्थ भी करने लगा। मौलवी साहेबपर ख़ूब धाक जमी, और गाँवके साधारण अनपढ़ मुसल्मान तो साधु-बाबाकी अल्फी-कमंडलूसे पहिले हीसे प्रभावित थे।

पिपरहवाके नज़दीक होनेकी बात सुन मैंने तिलौरा-कोटसे पहिले वहाँ जाना पसन्द किया। वहाँकी खुदाईमें निकली डिबिया, पत्थरका सन्दूक़ और दूसरी चीज़ोंका

फ़ोटो जितना सुन्दर मालूम होता था, उतना वहाँका ध्वंस नहीं था। ध्वंस तो पहिलेसे पढ़ा-सुना न होता, तो मालूम ही नहीं होता। नेपालकी सीमासे थोड़ासा हटकर खेतों और दरख़्तोंके किनारे ज़रासी ऊँची ज़मीन थी, जिसमें कुछ टूटी-फूटी ईंटे और छोटेसे गड़हेकी सूरतमें खुदाईका निशान था। शाक्योंने अपने वंशके श्रेष्ठ पुरुष (बुद्ध)की धातुओं (हड्डियों)के ऊपर यहाँ कोई स्मृतिचिह्न बनाया था, जिसके अभिलेखको भारतकी ब्राह्मी लिपिका सबसे पुरातन नमूना होनेका सौभाग्य प्राप्त है, यह बात स्थान देखनेसे नहीं झलकती थी।

अभी दिन था, इसलिए मैंने तौलिहवा बाज़ारकी ओर तिलौराकोटके रास्तेमें कुछ और चलना पसन्द किया। शामको एक समृद्ध ब्राह्मणके घरपर पहुँचा। उसके पास काफ़ी गायें, कितने ही धानके 'बखार' (ठेक) तथा बड़ा सारा घर था। ब्राह्मण देवताने भोजन कराया। आसपास पुरानी ईंटोंवाले भिंडोंके स्थानोंके बारेमें बतलाते रहे, और सबेरे ले जाकर अपने गाँवमें ही कुछ प्राचीन ध्वस्त कोठरियोंकी नींव दिखलाईं, जिन्हें शायद पुरातत्त्वविभागने खुदवाया था।

तौलिहवा बाज़ारमें बड़ा-अफ़सर और उनकी कचहरी है, लेकिन मैं अफ़सर और उनकी कचहरीको देखने नहीं गया था। दोपहरको किसी जगह भोजन विश्राम कर जब तिलौराकोट पहुँचा, तो पाँचसे ज़्यादा नहीं बजा था। दूर तक फैले उस गढ़—जहाँ बहुत पीछे तकके बस्तीके चिह्न ईंटों, तालाबों, खाइयों, भींटोंके रूपमें मौजूद थे—में बुद्धके बाल्य-गृह और शुद्धोदनका प्रासाद ढूँढ़ना सम्भव न था। मेरे लिए इतना ही सन्तोष देनेके लिए काफ़ी था, कि इन रजकणोंमें बुद्धकी चरणधूलि भी है।

उसी शामको निगलिहवाके तालाबपर खंडित अशोकस्तम्भ और उसके अभिलेखको देखा। रातको पासके गाँवमें ठहर गया। अब मेरा ध्यान हिमालयकी सफ़ेद चोटियोंकी ओर लगा था, लेकिन उधर जानेसे पहिले रास्तेके बारेमें और जानकारी पैदा करनेकी ज़रूरत थी।—नेपालके पहाड़ोंके भीतर मनमाना नहीं घुसा जा सकता। वहाँ हर जगह टोकनेवाले मौजूद हैं।

सबेरे सात-आठ बजे वाणगंगा (तिलौराकोटके पास भी यही नदी है)के किनारे बस्तीसे दूर आमके बाग़ोंमें एक पक्का बिना-शिखरवाला मन्दिर दिखलाई पड़ा। वहाँ गया। वह एक वैरागीका स्थान था। मन्दिरमें शायद राम-लक्ष्मण-सीताकी मूर्तियाँ थीं। बाहर छोटा बरांडा या जगमोहन था। मन्दिरके पूरब एक मकान और पश्चिम एक फूसकी झोपड़ी थी। मन्दिरके अध्यक्ष एक वृद्ध वैरागी थे, जिनकी आँखें, चेहरा

बिना पूछे ही उनके गोर्खा होनेकी गवाही दे रहे थे। उन्होंने स्थान-आदिके बारेमें पूछा, फिर पच्छिमवाली झोपड़ीमें—धुनीके पास—आसन लगवाया। आते वक़्त पूजा-पाठके लिए आये हुए कई और व्यक्ति भी थे, जिनमेंसे एक नेपाली पटवारीने उर्दू पढ़वाकर देखा और फिर मेरी विद्वत्ताका ज़बर्दस्त सर्टीफ़िकेट महन्तके सामने पेश किया। भक्तों, दर्शकोंके चले जानेपर मालूम हुआ, कि स्थानमें वृद्ध महन्तजीके अतिरिक्त उनकी अतिप्रौढ़ा योगिनी तथा एक गूँगी वृद्धा दासी तीन व्यक्ति रहते हैं। योगिनीके हाथका बनाया मैं खा लेता हूँ—महन्तके यह कहनेपर, मैंने भी उसके पक्षमें अपनी सम्मति दी। योगिनीके हाथकी भाजी बहुत स्वादिष्ट थी, यह तो पहिली ही बार मालूम हो गया, किन्तु इसका कारण पीछे मालूम हुआ जब मिट्टीमें दबाकर सड़ाये-सुखाये कटहल तथा मूलीके टुकड़ोंको देखा। तौलिहवाके छोटे-बड़े सभी ही नेपाली महन्तजीको मानते थे, और जब वह वहाँ जाते तो हफ़्ते भरकी ख़र्ची उठा लाते। महन्तजी भारतके बड़े-बड़े तीर्थोंमें हो आये थे, इस बातमें मैं भी उनसे बहुत पीछे नहीं था, किन्तु जिस वक़्त वह उत्तराखंड और नेपालकी बात करते, तो मुझे शिर झुका लेना पड़ता।

धीरे-धीरे महन्तजीका अभ्यागतके प्रति स्नेह उत्तराधिकारीके स्नेहमें परिणत होने लगा। उनके कोई शिष्य न था, मैं भी उनका शिष्य न था, किन्तु एक सम्प्रदायका होनेसे उत्तराधिकारी हो सकता था, मठको डूबनेसे बचा सकता था। उन्होंने अपने पचासों आमोंके दरख़्त, कुछ हटकर धानके कितने ही एकड़ खेत दिखलाये। मठकी और भी स्थावर सम्पत्ति बतलाई, जो सब मिलकर दस-पन्द्रह एकड़से ज़्यादा नहीं रही होगी, जंगम सम्पत्ति तो थी ही नहीं। वह बड़े अभिमानसे कह रहे थे—मेरे गुरुने आकर यहाँ यह स्थान बनाया। पहले चोर-बदमाश लोग नहीं चाहते थे, कि साधु यहाँ बसने पावे, और उनके अपने व्यवसायमें बाधा पड़े; किन्तु गुरुजी बड़े लम्बे-तगड़े जवान थे, साथमें और साधु रखते थे; यह मन्दिरके भीतर रखी बन्दूक़ और तलवार तभीकी है। रातको महन्तजी मन्दिरकी छतपर सोया करते, जहाँ बन्दूक़, और भालेके अतिरिक्त काफ़ी ईंटोंका ढेर रहता। उनकी योगिनी और दासी पूरबवाले रसोईके घरमें ताला-बन्द हो सोतीं, और मैं पच्छिमवाली झोंपड़ीमें खुला ही, आख़िर डाकू आकर मेरा लेते ही क्या ?

धीरे-धीरे अपने विश्वासको बढ़ाते अपनी विवशताको दिखलाते, जब कोई व्यक्ति स्नेहका फंदा फैलाता है, तो उसे तोड़कर निकलना—साफ़ नहीं कह देना—बहुत मुश्किल होता है। महन्तजीने धीरे-धीरे 'यही मुश्किल' मेरे सामने पेश की।

महन्ती लेना यह तो उपहासकी बात थी। अर्धजरती योगिनीको 'राँड बाभनी टूटा पीपल इनमें हक़ फ़क़ीरोंका है'के नियमानुसार उन्होंने अपनाया था––ब्राह्मणी न होनेपर भी अतीथिनी होनेसे वह एक दर्जा ऊपर ही थीं। वह भी मेरे खाने-पीनेका बहुत ध्यान रखती थीं। भाँग-गाँजोंपर यहाँ कोई रुकावट न थी, इसलिए ये वहाँ घासके मोल थे, और पढ़ने-लिखनेसे मुक्त होनेके कारण महन्तजीकी गोष्टीमें सम्मिलित हो समय काटनेमें मेरे भी ये बड़े सहायक बन गये थे। एक दिन घास काटनेके लिए एक प्रौढ़ा ब्राह्मण-विधवा आई। अर्धजरती योगिनीने, उसके बारेमें बतलाया–– महन्तजीने एक नौजवान साधुको अपना उत्तराधिकारी बनाकर रखा था, इस कलमुखीकी सनीचर-दृष्टि उसपर बस गई, और आज वह इसके घर सानी-पानी करता है।

साफ़ इन्कार करते न देख महन्तजीकी लालसा दृढ़ होती जा रही थी, उस वक़्त मैंने कहा––आपका स्थान मुझे पसन्द आया है सही, किन्तु अभी मुझे उत्तराखंड जाना है, मैं भोटियोंके मुल्क तक जाना चाहता हूँ। वहाँ तक हो आने दीजिये, तब फिर आपके साथ रहूँगा। इस उत्तरसे उन्हें सन्तोष तो नहीं हुआ, किन्तु साथ ही आशा भी बिल्कुल विच्छिन्न नहीं हुई। उनसे पूछकर मैंने रास्तेके पते लिखे। पहले मुझे तराई पारकर डाँग-देवखुर जाना होगा। वहाँके किसी सिद्ध महात्माका उन्होंने नाम बतलाया। फिर किन-किन गाँवों और नदियोंसे होते मैं भोटिया लोगोंकी आबादी-में पहुँचूँगा। 'हला डोगो ?' (ग-ला डो-गी ?—कहाँ जाना ?) जैसे बिल्कुल अशुद्ध चालीस-पचास भोटिया शब्द भी उन्होंने लिखवा दिये।

एक दिन सबेरे उठकर मैं नदी पार हो उत्तरकी ओर चल दिया। मील-दो मील गया होऊँगा, खर्बूज़ोंका खेत आया। कुछ लड़के रखवाली कर रहे थे। दो-चार पैसे दे उनसे कुछ खर्बूज़े लिये। खाते वक़्त मेरा दिमाग़ आगेकी योजनापर विचार करनेमें तन्मय था।––'यह बिल्कुल ऊटपटांगसा रास्ता है। रास्ता बतलानेवाला शायद कोई आदमी भी नहीं मिलेगा—पता मिल जानेपर नेपाल-सर्कार पकड़ लेगी। इधरसे जाना अच्छा नहीं। जेतवनविहार और लौरिया नन्दनगढ़का अशोकस्तम्भ भी नहीं देखा है, उसे देखकर रक्सौलके रास्ते जानेकी कोशिश करनी चाहिए।' मैं वहींसे लौट पड़ा।

महन्तजीका स्थान बचाते हुए तौलिहवा बाज़ारके पासके एक दूसरे स्थानमें कुछ देर विश्राम किया। यहाँ भी साधुके साथ योगिनी ! हिन्दू राज्य होनेसे, मैं सम-झता था, कि वहाँ धर्म-पालनमें ज़्यादा कड़ाई होगी; किन्तु हर जगह योगी-योगिनीको

संयुक्त आश्रम चलाते देख, मुझे यह कुछ अजीबसी बात मालूम हुई। रातको शोहरतगंजमें आसन पड़ा।

सबेरे जानेवाली गाड़ीसे मैं बलरामपुर पहुँचा। कुशीनारामें ही वहाँ रहनेवाले भिक्षु वरसम्बोधिका पता लग गया था। उस वक़्त वह धर्मशाला बनवा रहे थे। अभी दीवारें भर खड़ी हो पाई थीं और वह कामकी देखभाल कर रहे थे। एक अर्ध-निर्मित कोठरीमें ईंटोंपर बैठे हम बात करते रहे। वरसम्बोधिजी अपना पाइप खींचते जा रहे थे। इसी बीच उनका नौकर आकर बोला––'मछली आध सेर ले ली।'

'ठीकसे देख लिया न ?'

'हाँ, कोई ज़िन्दा नहीं।'

ज़िन्दा होनेपर मछलीको तालाबमें डलवाना पड़ता, और यह पैसेका नुक़-सान था।

वहाँसे रेलकी दूसरी तरफ़ एक उदासी मठमें गया। महन्तने रसोई बनानेके लिए कहा। मैंने रोटी बनाई, उन्होंने दूध दिया, जब रसोई अपनी हो और अपने मत्थे पड़े, तो मैं कमसे कम श्रम और समयका पक्षपाती हूँ।

सहेट-महेटके लिए ठंडेमें ही चला। उस वक़्त देवीपाटनके मेलेके लिए बहुतसे नरनारी पैदल जा रहे थे, यात्री सड़कपर सभी जगह मिलते थे। शाम आती देख सड़कसे दाहिने थोड़ा हटकर एक गाँव दिखलाई पड़ा। वहाँ पहुँचनेपर घर ब्राह्मणोंके मालूम हुए। उनके यहाँ एक अवधूतिनी रहती थी, जो बहुत तीर्थाटन कर चुकी थी। उससे तीर्थोंके बारेमें बातचीत हुई, और संस्कृतका क-ख जाननेवाले एक व्यक्तिसे संस्कृतके बारेमें। फिर अल्फी-कमंडलूधारी महात्यागी साधुकी आव-भगत क्यों न बढ़ जाये।

सबेरे ही मैं सहेटमहेट पहुँचा। जेतवन श्रावस्तीका कोई बहुत ऐतिहासिक ज्ञान तो उस वक़्त मुझे था नहीं। सर्सरी तौरसे जेतवनकी कुटियों-कूओंको देख श्रावस्तीके ध्वंसमें गया, और जंगलकी ख़ाक छान उत्तर तरफ़के एक गाँवमें पहुँचा। वहाँ प्राइमरी स्कूल था, वहीं मास्टर साहेबका बनाया भोजन और दोपहरका विश्राम हुआ।

दिन ढलनेपर जब मैं बलरामपुरको लौट रहा था, तो एक वैरागी साधु रास्तेमें मिले। वेषभूषासे––लेकिन ललाटमें चन्दन शायद ही कभी लगाता था, क्योंकि वैरागी, आर्यसमाजी कई पार्ट मुझे एक साथ अदा करने थे––उन्हें वैष्णव साधु होनेका सन्देह हुआ। दंडवत्-प्रणाम किया, और आज अपनी कुटियापर विश्राम करनेके

लिए बहुत ग्राग्रहपूर्वक वचन लिया। वह, किसी दूसरे कामसे जा रहे थे, उन्होंने गाँव ग्रौर कुटियाका पता दिया। वहाँ जा कुछ प्रतीक्षाके बाद स्थानधारी महात्मा ग्राये। गाँवमें जितना ग्रच्छा ग्रातिथ्य-सत्कार होता है, किया।

दूसरे दिन बलरामपुरसे रेल पकड़ी। गोरखपुरसे नरकटियागंज ज़रूर गया, किन्तु जहाँ तक स्मरण है, छितौनी घाटमें पैदल नहीं चलना पड़ा था, ग्रर्थात् रेलका पुल मौजूद था। नरकटियागंजकी संस्कृत पाठशालाके संस्थापक ब्रह्मचारीजीने बहुत रुकनेके लिए कहा, जब कि ग्रपने ग्रध्यापकसे उन्होंने मेरी संस्कृतके बारेमें सुना, किन्तु मैं लौरिया-नन्दनगढ़के लिए चल पड़ा। जब धूप नहीं होती तो खाली हाथों पैदल चलनेमें बहुत मज़ा ग्राता है। सड़कसे दीखते विशाल शिलास्तम्भ ग्रौर उसके सिंहको देखते ही, बिना किसीसे पूछे मुझे ग्रशोक-स्तम्भ मालूम हो गया। इस यात्रासे पहिले मैंने इस सम्बन्धके कुछ ग्रंथ पढ़े ज़रूर थे, तभी तो 'लौरिया' (यष्टी = पाषाणयष्टी) देखकर ही नहीं लौट पड़ा, बल्कि नन्दनगढ़ भी देखने गया। गढ़के पास ही एक छोटासा वैरागी मठ है। सन्यासियोंसे कई शताब्दी बाद पैदा होनेपर भी वैरागी मठ इतने ग्रधिक क्यों हैं? इसपर सोचनेपर मुझे तो मालूम होता है, इसमें कारण उनकी सगुणोपासना (साकार ईश्वरकी पूजा) ही है। वेदान्तप्रेमी सन्यासी-का बिना मूर्तिकी पूजाके भी काम चल सकता है, किन्तु वैरागीके लिए मूर्ति चाहिए, महाबीरजी चाहिएँ, ग्रौर नहीं तो शालिग्राम ही चाहिएँ। फिर उनकी पूजाके लिए कुछ धूप-दीप, कुछ बालभोग (नाश्ता), राजभोग (मध्याह्न-भोजन) ग्रौर ब्यालू भी चाहिए। पूजाकी पूजा खाद्य-भोज्य-पेय-चोष्यका संचय। इस संचयमेंसे थोड़ासा उपस्थित भक्तोंको दिया जा सकता है, जिसे देखकर मुझे बचपनमें रानीकी-सरायके लड़कोंकी होशियारी याद ग्राती।—ग्राम पकनेके समय लड़के ग्रामकी गुठली किसी बन्दरके पास फेंक देते, बन्दर चाटता, फिर डालियोंपर चढ़कर हिलाता, कई पके ग्राम ज़मीनपर ग्रा पड़ते। वैरागियोंकी पूजा, उनके राग-भोग साधारण जनताकी समझकी बातें थीं, इसीलिए उन्हें ग्रधिक सफलता मिली।

नन्दनगढ़के उस मठमें शायद एक-दो साधु थे। 'दर्शनीय त्यागी' महात्माका उन्होंने सत्कार किया। नेपाली बाबाने लत लगा दी थी, ग्रौर ग्रब 'नवाज़िन्दा' मुझपर सवार था, इसलिए भाँग-गाँजेका स्वागत हो रहा था। स्थानीय साधुने जब गाँजेकी चिलम चढ़ाकर ग्रादरके साथ मेरी ग्रोर बढ़ाई, तो मैं उसका तिरस्कार नहीं कर सकता था। 'दम' (पीना) ग्रभी खतम नहीं हुग्रा था, कि एक प्रौढ़ा वैरागिन ग्रा पहुँची। बहुत घूमी-फिरी मालूम होती थी, वह निस्संकोच बात करने लगी।

उसने दो चिलम् गाँजेके फेंके। चिलम तैयार होने लगी, और गप जारी रही। मालूम हुआ, वह नेपालकी तराईमें वीरगंजके पास कहीं रहती है। तौलिहवाके आसपास मैंने योग-भोगका संग्रह कई मठोंमें देखा था, इसलिए इस अवधूतिनीकी बातों और उसके स्थानकी समृद्धिके बारेमें कोई सन्देह नहीं हुआ। मुझे तो अब नेपालका ही तरीक़ा अच्छा मालूम होने लगा—योगियोंको योगिनियोंके साथ रहनेकी इजाज़त देकर वहाँका समाज साधुओंको कई ख़तरोंसे बचा लेता है, यदि उसमें कहीं सन्तति-निग्रह भी शामिल होता, तो सोनेमें सुगन्ध; मठमें कच्चों-बच्चोंके बढ़नेसे उसका मठत्व नष्ट हो जाता है। अवधूतिनी दम लगानेमें ख़ुर्राट वैरागियोंका भी कान काटती थी।

चला तो था मैं बौद्ध पुनीत स्थानोंको देखने, किन्तु नवाज़िन्दा जब सीधे रास्ते चलने दे तब न ? नन्दनगढ़से मुझे स्टेशन हो रक्सौल जाना था, किन्तु नहीं समझता मैं दो दिनसे कममें किसी स्टेशनपर पहुँचा। एक दिन तो सूर्यास्तके समय एक कबीरपंथी कुटी पर पहुँचा। बाहर महुआके वृक्षके नीचे चटाई ले आसन जमाया। कुटीमें एक अधेड़ महात्मा और उनकी अर्धजरती योगिनी रहती थीं। मैं शायद कुछ ज़्यादा चलके आया था, और थककर लेट गया था। योगिनी मुझे देख सारे वैरागियोंपर टिप्पणी कर रही थीं—'इन लोगोंका बहुत मोटा ज्ञान है। पाथर पूजते-पूजते बुद्धि ही पथरा गई है।' उनको कबीर साहेबके निर्गुणका अभिमान था। मैं थकावटके मारे उनके 'शब्द' 'सुरत'के सत्संगमें शामिल नहीं हुआ, इसीलिए उस टिप्पणीकी ज़रूरत पड़ी।

रक्सौल उतरनेपर मालूम हुआ, वीरगंजके रास्तेपर नेपाली पुलीस रहती है, बाहरी आदमीको भीतर जाने नहीं देती। मैं पुल पार हो सड़कसे पूरब, नदी तटपर अवस्थित वैरागी-स्थानमें चला गया। घर तो काफ़ी थे, किन्तु एक पुजारी और एक रमता साधुके अतिरिक्त वहाँ कोई न था। पुजारीने कहा—यदि आप दो दिन पहिले आये होते, तो थापाथल्लीके महन्त ऊपर गये, उन्हींके साथ चले गये होते; अब तो कोई वैसा ही प्रभावशाली आदमी हो तभी राहदारी (पास) मिल सकती है। रमता साधु बहुत घूमा-फिरा था। उसकी और बातें तो मैं बड़ी दिलचस्पीसे सुनता था, किन्तु जब वह रूस देशकी ज्वालामाईके बारेमें कहने लगा, तो मुझे बुख़ार चढ़ आया—'ज्वालामाई, आपरूपी ज्वालाई। भोग-राग रख दिया जाता है, माई स्वयं अपनी जीभसे उन्हें ग्रहण करती हैं।' वह बतला रहा था कि मैं उसी ज्वालामाईसे कश्मीरके रास्ते पहाड़ ही पहाड़ नेपाल आया। मुझे उसकी यह सारी बातें झूठ

मालूम होती थीं। यद्यपि वह असंभव न थीं, रूसमें बोलशेविक क्रान्तिके बाद चलते गृहयुद्धके समय वह बाकूसे मध्य-एसिया और वहाँसे चीनी तुर्किस्तानके रास्ते या सीधे ही कश्मीर हो जम्मू, चम्बा, कुल्लू होते, अथवा लदाख़से मानसरोवर होते नेपाल पहुँच सकता था।

दो-चार दिनकी प्रतीक्षासे नेपाल जानेका कोई रास्ता निकलता नहीं दीख पड़ा, इसलिए मैं वहाँसे पूरबकी ओर चला। कुछ दूर पगडंडी, फिर रेलकी सड़क पकड़ी और अन्तमें रेलसे घोड़ासाहन उतरा। पैसा एक भी पासमें नहीं रहता था, तो भी कभी खाने-पीनेका कष्ट नहीं हुआ, और प्रशंसा और सन्मान टोकरीके टोकरी प्रायः रोज़ ही मिलते रहते।

नेपालके अन्तिम नेवार-राजाओंके पूर्वज कभी सेमरौनगढ़में राज्य करते थे, पहिले वे कर्नाटकसे भागकर यहाँ आये थे, यह बात मुझे मालूम थी। इतिहासका अध्ययन और ऐतिहासिक चीज़ोंका प्रेम मुझे धीरे-धीरे आर्यसमाजसे आगे ले जा रहा है, इसका उस वक़्त मुझे भी पता नहीं था, लेकिन बात ऐसी ही थी। डी० ए० वी० कालेजके पुस्तकालयमें मैं अक्सर ऐसी पुस्तकें पढ़ता, और पुरातन वस्तुओंकी वैज्ञानिक खोजोंपर वहाँ काफ़ी पुस्तकें आया करती थीं। पंडित भगवद्दत्तके सम्पर्कसे मेरा उधर झुकाव हुआ था, किन्तु वह ले जा रहा था बिल्कुल उल्टी दिशाकी ओर। जहाँ पंडित भगवद्दत्तजी इतिहासकी अपेक्षा साइंसको वेदकी विभूति समझनेका प्रयत्न कर रहे थे, वहाँ मैं ऐसे रास्ते पर आरूढ़ था, जो मुझे 'नैरुक्त'से ऐतिहासिक ही बनाकर छोड़नेवाला था।

घोड़ासाहनसे मैं पैदल ही खेतोंसे होते सेमरौनगढ़की ओर चला, उसी वक़्त कोई बनिया भी एक घोड़ेपर सौदा लादे चल रहा था। दिमाग़में ख्याल आया—इसीलिए तो घोड़ासाहन कहते हैं!

सेमरौनगढ़में तालाबपर देवीस्थानमें ठहरा। मठ वहाँसे पच्छिम था। आम अब एकाध पकने लगे थे, शायद मईका उत्तरार्ध चल रहा था। देवीस्थानमें कुछ मूर्तियाँ थीं, किन्तु मूर्ति-विद्या और मूर्तिकलासे मेरा अभी परिचय नहीं हुआ था। मठके बड़े आँगनमें नेपाली ढंगका एक मन्दिर खड़ा था, आँगनके चारों ओर बरांडे और शायद बहुतसे मकान और कोठरियाँ थीं। पहिले थापाथल्ली (नेपाल) और सेमरौनगढ़के एक ही महन्त होते थे, किन्तु किसी शिकायतके कारण बूढ़े महन्त निकाल दिये गये, उन्हें मैंने १९१३ ई०में शोलापुरमें और उसके एक साल बाद अयोध्यामें देखा था। इस वक़्त सेमरौनगढ़में उनके शिष्य महन्त थे।

बड़ी-बड़ी जटा और लम्बे-चौड़े शरीरका भक्तोंपर काफ़ी प्रभाव पड़ता है। मठकी आमदनीका ठीकसे व्यय हो, इसके लिए नेपाल-सर्कारका एक अफ़सर—डीठा (द्रष्टा)——वहाँ बराबर रहता था। खाने-पीनेका अच्छा इन्तिज़ाम था। साधुओंकी संख्या अधिक न थी। डीठा-साहेबसे बातचीत हुई। उन्होंने रहनेके लिए बहुत आग्रह किया। उनकी इच्छा थी, कि मैं उनके लड़केको पढ़ाऊँ। मन्दिरमें राणा जंगबहादुर या उनके पुत्र गोरा जर्नेलमेंसे एक वा दोनोंकी मूर्तियाँ भी थीं।

दो-चार मील दूर एक गाँवसे शिष्य बनानेके लिए महन्तजीके पास, एक सोनार-भगतका निमन्त्रण आया। लोग बतला रहे थे, यह चौथी या पाँचवीं बार बूढ़ा कंठी-मन्त्र ले रहा है। बेचारा कंठी-मन्त्र लेता, मछलीका दिन आता और जब घरवाले तेलमें भून हल्दी सरसों डाल मछली पकाते, उसकी सुगन्ध घरके हर एक कोनेमें व्याप्त हो स्वर्गके देवताओं तकको अपने पास खींच लानेमें समर्थ होती, तो दर्वाज़ेपर बैठे ठुकुच-ठुकुच करते बूढ़े सोनारका मन कैसे अपने हाथमें रहता ? वह कंठीको गलेसे निकालकर खूँटीपर रखते हुए बोल उठता——'लाओ, आज तो मनछरी (मन हरने-वाली) खा लें।' मुझे इस वक़्त जानकीनगर (परसा मठके गाँव)के प्रदीपसाहुकी बात याद आई। १८५७के ग़दरमें वह और रेखा महतो पूरे जवान थे, और प्रदीपके मोटे-तगड़े शरीरको देखकर तो एक बार उसे 'बाग़ी' सेनामें ले जानेकी बात तै पाई थी। परसाके तत्कालीन बूढ़े अधिकारी (मनेजर)ने प्रदीपको कंठी-मन्त्र दिया था। एकसे अधिक बार मनछरीके आकर्षणमें पड़ प्रदीपने कंठी तोड़ डाली थी। अबकी बार जब किसीने इसकी ख़बर अधिकारीजीको दी, तो उन्होंने तुरन्त दोहा कहा——

'कंठीमाला तोरिके, गंग दियो दहवाय।
अधिकारीजीके . . से, परदिपवा मछरी खाय॥'

सोनार भगतको फिर कंठी-मन्तर दिया गया। महन्तजीको पूजा, और साधुओं-को भी कुछ बिदाई मिली। और लोग तो मठमें चले गये, किन्तु एक जटाधारी साधुके साथ पर्यटनकी योजना बनाते तथा गाँजा पीते मैं दो-तीन दिन इधर-उधर घूमता रहा। जिस दिन मैं सेमरौनगढ़ लौट रहा था, उस दिन देखा, पोखरेसे थोड़ा पूरब एक गाँवमें आग लग गई है। यहाँ गाँव फूसकी छतवाले घरोंका होता है; हवा न भी बहे, तो भी एक छतसे सटी हुई दूसरी छतमें आग लग जाना आसान है। देख रहा था, कुछ लोग अपनी-अपनी छतोंपर घड़ेमें पानी लेकर बैठे थे, और कुछ लोग—जिनमें स्त्रियाँ अधिक थीं——चिल्लाती हुई पशुओं, पिदारियों तथा दूसरी चीज़ों-को घरसे निकाल गाँवके बाहर रख रही थीं। सौभाग्यसे हवा उस दिन बन्द थी।

घोड़ासाहनसे मैं सीतामढ़ी गया। शायद उसी दिन, मेरी उमरका एक घुमक्कड़ साधु भी स्टेशनसे उतरकर वहाँ पहुँचा। अब मारवाड़ी भक्तोंका पूड़ी-हलवेका भोजन किसको अच्छा लगता। तरुण आसामसे तुरन्त आ रहा था। उसने अपनी झोलीसे निकालकर गाँजेकी पीली पत्तियाँ दिखलाईं। भीतरसे 'नवाज़िन्दा' बोलने लगा—कहीं यह जवान तौलिहवा बाज़ारमें मिला होता, तो हम अब तक डाँग-देवखुरसे बहुत आगे भोटियोंके देशमें पहुँच गये होते। हमारी सलाह हुई, जनकपुर चलनेकी।

पुपरीरोडपर जब उतरे तो अभी दिन बाक़ी था। शाम तक हम लोग चोरउत मठमें पहुँचे। काशीमें विद्यार्थी-अवस्थामें मैंने चोरउतके महन्तको बड़े विशाल श्वेत-च्छत्र (मेघडंबर) के नीचे गंगामें अर्घ देते देखा था, उनकी अन्यत्र बात करती तथा अन्यत्र देखती आँखें मुझे याद थीं। हम दोनों ही टकसाली साधु थे, अर्थात् पन्थके क़ायदा-क़ानूनसे पूरे वाक़िफ़ तथा देश देखे। हमारे पास कमसे कम सामान था। तिर्हुतके मठोंमें खवासों (ख़िदमतगारों) का राज होता है। महन्तोंके उत्तराधिकारी उनके भतीजे हुआ करते हैं, इस प्रकार मठकी सम्पत्तिका अधिक भाग एक परिवारकी सम्पत्तिसा बन जाता है। गद्दी निश्चित रहनेसे महन्त होनेसे पहिले उन्हें तीर्थाटन आदिका तजर्बा नहीं रहता, वे बड़े ही कूप-मंडूक तथा अभिमानी होते हैं। भेस और मठकी आमदनी देख वे आदमीकी इज़्ज़त करते हैं। हम दोनोंको जहाँ आसनके लिए जगह दी गई, वह महन्तजीके अस्तबलसे बेहतर न थी। रातके ब्यालूको देखकर तो हमारा मुँहफट साधु कड़ी नुक्ताचीनी कर बैठा। हमने ख़्याल किया, ऐसे नालायक़ महन्तके हाथसे मटिहानी-की सत्तर-पचहत्तर हज़ारकी आमदनीको छीनकर नेपाल-सर्कारने अच्छा ही किया।

चोरउत ब्रिटिश इलाक़ेमें मुज़फ़्फ़रपुर ज़िलेमें है, और मटिहानी नेपाल राज्यमें। दोनोंमें तीन-चार कोससे ज़्यादाका फ़र्क़ नहीं है। दूसरे दिन हम मटिहानी पहुँचे। यहाँ साधुओंकी संख्या पचास-साठसे ऊपर थी। मुझे देखकर प्रसन्नता हुई, कि उनमें कुछ पढ़ने-लिखनेवाले भी हैं। नेपाल-सर्कारने पिछले महन्तोंकी बदचलनी और कुन्बापर्वरीकी शिकायतें सुनकर मठसे महन्तको निकाल दिया था। एक नये महन्त थे, जिनके ऊपर देखभालके लिए एक 'डीठा' रहता था। इन्तिज़ाम अच्छा करनेकी पूरी कोशिश की गई थी। चार या पाँच अच्छे-अच्छे पंडित पाठशालामें पढ़ाते थे। विद्यार्थियोंको छात्रवृत्ति, साधु-विद्यार्थियोंको भोजन-वस्त्र-पुस्तक मिलनेका प्रबन्ध किया गया था। दिनको कच्ची रसोई और रातको पक्की रसोई—खीर-पूरी—की व्यवस्था थी। चोरउत जैसा साधुओंको अपमान भी सहना नहीं पड़ता था। तो भी विद्यार्थी सन्तुष्ट न थे। उनमेंसे एक कर्वीके 'शास्त्री' जीके बारेमें सुन चुका था, इसलिए

सबने शास्त्रीजीका गहरा स्वागत किया। अपनी शिकायतोंको मेरे सामने रखा। शामके ब्यालूमें मैंने खुद देखा कि उन पूरियोंको खानेके लोहेके दाँत चाहिएँ। भोजन-सामग्रीसे महन्त, डीठा और रसोइयोंका काम बनता था, और साधुओं तथा दूसरोंके पास यह पथरीली पूरियाँ पहुँचती थीं। पूरीमें कमसे कम घी डालनेका परिणाम ही यह पत्थरकी पूरियाँ थीं। खीरमें कमसे कम दूध-चीनी डालनेका परिणाम वह गीला फीका भात था। महन्तजी पैसे जमा करके ब्रिटिश भारतमें एक स्थान बनानेकी तैयारीमें थे। 'नेपालमें महन्तीका क्या ठिकाना। वहाँके अधिकारियोंके पास तो आँख हैं नहीं, वह तो सिर्फ़ कानसे सुनते हैं'—यह बात आम तौरसे कही जाती थी। मटिहानीकी आमदनी काफ़ी थी, इसलिए उसकी लूटमें डीठा और स्थानीय अफ़सर तक शामिल बतलाये जाते थे। मैंने विद्यार्थियोंसे इतना ही कहा, कि यदि नेपाल जानेका मौक़ा मिला, तो मैं इन शिकायतोंको उच्च-अधिकारियोंके सामने रखूँगा।

जनकपुरमें हम टीकमगढ़की क़िलानुमा ठाकुरबाड़ी—जानकीभवन या जानकी-मन्दिर—में ठहरे। यहाँके महन्तके शिष्य कर्वीमें मिल चुके थे, इसलिए हमें बड़े सन्मानके साथ रखा गया। शायद यहाँ स्थानमें गाँजा-चिलम नहीं चलती थी, इसलिए हमारे साथीको गाँजाका बहुत आदी होनेसे दूसरे मठोंमें आना-जाना पड़ता था। मेरे लिए गाँजा अनिवार्य चीज़ न थी, किन्तु टीमके भावको तो दृढ़से दृढ़तर बनाना ज़रूरी था।

जनकपुरमें बहुतसे मठ हैं और जानकीसे सम्बन्ध रहनेसे उनमें अधिकांश वैरागियोंके हैं। सिर्फ़ राममन्दिर सन्यासी-मठ है, उसकी भी आमदनी काफ़ी है, और महन्तको निकालकर नेपाल-राज्यकी ओरसे वहाँ एक अच्छी पाठशाला और छात्रावास बनाया गया है। यहाँके विद्यार्थियोंके साथ नज़दीकसे मिलनेका मौक़ा नहीं मिला, इसलिए वहाँकी शिकायतोंके बारेमें नहीं जान सका।

दो-तीन दिनके बाद हम 'धनुषा'की ओर चले। जंगलमें वृक्षोंकी मोटी जड़ोंकी तरहकी कोई पथरीली चीज़ है, इसीको लोग रामजी द्वारा तोड़ा गया सीतास्वयंवर-वाला धनुष कहते हैं। धनुषासे अब हमने पहाड़ ही पहाड़ नेपाल पहुँचनेका इरादा किया। इधर जंगल काटकर नई बसाई आबादियाँ ज़्यादा थीं, जिनमें ज़्यादातर थारू लोग बसते थे। उनकी मुखमुद्रा मंगोल थी। जंगलमें धोबीके अभावमें भी स्त्रियोंके साफ़ धुले कपड़े उनकी सुरुचिको प्रकट कर रहे थे। उस रातको हम एक साधुकी कुटियामें ठहरे। पहाड़की जड़में कितने दिनोंमें पहुँचे, यह मुझे याद नहीं। हम सिर्फ़ शाम-सबेरे ठंडेमें कुछ घंटे चला करते थे। गाँजेकी इफ़रात थी, इसलिए 'दम' बराबर ही लगती रहती थी। कमला पार होनेसे पहिले सबेरे आठ-नौ बजे हम गोर्खोंके एक

गाँवमें गये। ये नये आकर बसे थे। खानेके लिए हमें मक्केका भात मिला। मेरी संगतसे या पहिले हीसे सीखा-समझा होनेसे मेरे साथीने भी गोर्खाके हाथके भातमें कोई एतराज़ नहीं किया। कमलाका पानी ठंडा था और उस गर्मीमें अच्छा लगता था। धार गहरी न थी। उस दिन खड़ी दोपहरीमें हम चलते ही चले गये, इसलिए बहुत तकलीफ़ हुई। पहाड़की जड़में एक कुटिया है, यह हमें पहिलेसे मालूम था। लिपी-पुती ख़ूब साफ़ कुटिया, धूपसे बचाव फिर हल्की बहती बयार—थके-माँदे आदमियोंको और दूसरी बात ही क्या याद आती ? हम लोग लेटे और जल्दी ही नींदमें ग़र्क़ हो गये।

नींद खुली तो देखा, एक अधेड़ साधु, कमरमें अँगोछेका तहमद लपेटे आँगन बहार रहे हैं। हमें जगा देखकर वह पास आये, बोले—'यहाँ तो सब चीज़ पड़ी थी। मैं तो किसी घरमें ताला नहीं लगाता, इसीलिए कि कोई साधु-अभ्यागत आवें, तो बनावें खावें। मैं गायोंकी सेवामें बाहर चला जाता हूँ, कभी-कभी देरसे आना होता है। आपने क्यों नहीं भोजन बनाया खाया ?'

हमने सच्ची-सच्ची बात कह सुनाई—'उस अवस्थामें हमारे लिये लेटनेसे प्यारी कोई चीज़ न थी।'

सबेरे भी साथीको मक्केका भात अच्छा न लगा था, और अब भी उसीको पकाकर खानेके लिए पेश किया गया। साथी आना-कानी कर रहा था, किन्तु मक्केका भात पकाना भी एक नई चीज़ है, समझकर मैंने उसका स्वागत किया। महात्माने इतना ही बतलाया था, कि पानी गर्म करके उसमें मक्केकी दलियाको डालना। कितने पानीमें कितनी दलिया डालनी चाहिए, इसका न हमें पता था, न महात्माने ही बताया। हमने दलिया डाल दी। फूलकर उसने सारे बर्त्तनको भर दिया, और अभी वह पकी न थी। कुछ निकालकर तस्लेमें रखा। पानी डाला। कुछ देरमें फिर बर्तन भर गया। फिर कुछ तस्लेमें निकाला, और अपने जान काफ़ी, किन्तु पानी डालकर पकानेपर फिर बर्तन भर गया। अभी भी 'चावल' पका नहीं था। अन्तमें भूखसे उकताकर हमने अधपका ही उसे नीचे उतारा। दूध या दहीमें उसे मैंने तो पेट भर खाया, किन्तु साथी आधा पेट भी न खा सका।

हमने कुटीसे नीचे गोशालामें रसोई बनाई थी। हम लोगोंके खाना खा चुकते ही गायें आ गईं, और सभी घरोंमें भर गईं। गोशालेकी छतों और दीवारोंमें नज़दीक-नज़दीक मज़बूत लकड़ियोंकी डाट बँधी हुई थी। गोपालोंने बतलाया, यहाँ बाघके आनेका डर रहता है; इसीलिए उससे बचानेका यह प्रबन्ध है। रातको गोशाला

हीमें किसी मचानपर सो गये। साथीके रुख़से मालूम तो हो रहा था, कि वह हिम्मत हार रहा है, किन्तु यात्रा बन्द करनेका निर्णय उसने रातको नहीं सुनाया।

सबेरे साथीके निर्णयको सुनकर मैंने भी क़दमको पीछे हटाना ही पसन्द किया, क्योंकि लोग बतला रहे थे, आगे पहाड़में पहरा है, बिना राहदारीके आगे बढ़ने नहीं दिया जाता।

फिर धनुषा और फिर जनकपुर। जनकपुरसे साथी तो स्टेशनकी ओर गया, और मैं एकाध-दिन रहकर बराही (ज़ि० मुज़फ़्फ़रपुर) मठकी ओर चला।

यहाँके महन्त यद्यपि तिर्हुतके दूसरे महन्तोंकी भाँति चचा-भतीजेकी परम्परामें पले थे, किन्तु उनके विचार कुछ उन्नत थे। उन्होंने अपनी सारी आयको खवासों और खवासिनोंपर ख़र्च करनेकी जगह उसे अविद्या और साधुसेवापर ख़र्च करना पसन्द किया था। स्थानमें एक अच्छी संस्कृत पाठशाला थी, जिसमें तीन-चार अच्छे-अच्छे पंडित पढ़ाते थे। पढ़नेवाले साधुओंकी अच्छी क़द्र थी। महन्तजी स्वयं सबके साथ पंक्तिमें बैठकर भोजन करते, और साधुओंकी अवश्यकताओंका ध्यान रखते थे। वह ख़ुद कोई पढ़े-लिखे विद्वान् व्यक्ति नहीं थे, और न उनके आसपासके तिर्हुतके स्थानोंमें ही कोई ऐसी परम्परा थी, ऐसी अवस्थामें उनके कार्यको मैंने बहुत प्रशंसनीय समझा था।

यहाँके भी किसी विद्यार्थीको मेरा नाम मालूम था, इसलिए आनेके साथ ही महन्तजी जान गये, और मेरा आसन एक अच्छे कमरेमें लगवाया गया, जिसमें नेवारकी पलंग, पंखा और कुर्सियाँ पड़ी हुई थीं। भोजनके बाद महन्तजी पाठशाला, मठोंके सुधार आदिके बारेमें बातचीत करते रहे। समयकी गति कुछ-कुछ उन्हें मालूम होने लगी थी, इसलिए वह उसके अनुसार कुछ चलना चाहते थे, किन्तु अपने लिए उत्तराधिकारी उन्होंने भतीजेको ही चुना था। कुछ ही सालों बाद महन्तजी जब मर गये तो, एक कांग्रेसी नेता जाति-बिरादरीकी दोहाई दे उसके संरक्षक बन गये।

चलते वक़्त महन्तजीने बीस या पच्चीस रुपये और स्टेशन तकके लिए हाथीकी सवारी दी। हाथीपर बैठनेमें मैंने एक ग़ल्ती भी की, और दुमकी तरफ़ मुँह कर रस्सेको उल्टे हाथों पकड़ा, जिससे धमसे ज़मीनपर आ पड़ा। ख़ैर, चोट नहीं लगी। लोगोंने समझा होगा, हाथीपर बैठना नहीं जानते।

सुरसंडका गढ़ रास्तेसे दूर न था, तो भी मेरा वहाँ कोई काम न था। शामको बिडरखमें ठहर गया, और हाथीको लौटा दिया। अब आमोंकी फ़सल ज़ोर-शोरसे शुरू हो गई थी।

विडरख तक मुझे मालूम हो गया था, कि मेरी यात्राका अन्त तिरुमिशीमें होगा, इसीलिए पुपरीरोडसे मैंने अपनी पुस्तकों—जो ३, ४ छोटी पुस्तकोंसे ज़्यादा न थीं—को तिरुमिशीमें हरिप्रपन्न स्वामीके पास भेज दिया।

अब मेरे पास रुपया था, इसलिए "दस-आना-छै-आना"में चलना पाप था। मैंने टिकट ख़रीदा, और दर्भंगा गया। राज-लाइब्रेरी देखी, और शहरके कुछ हिस्सेको भी। रातको किसी मठमें न ठहर स्टेशनपर चला आया।

रास्तेमें पातेपुर-जैतपूरा स्थानोंमें एक-दो दिन मैंने बिताये। परसा मठसे इनका नज़दीकका सम्बन्ध था, और रामानन्द स्वामीसे अब तककी परम्परापर मैं कुछ थोड़ासा मसाला जमा कर रहा था, इसीलिए मैं इन स्थानोंमें गया। किन्तु वहाँ कोई नई चीज़ नहीं मिली, और चैनपुरा मठके धरनीदासकी परम्परामें होनेकी धारणापर भी धक्का लगा।

पातेपुरसे मैंने बसाढ़का रास्ता लिया। बसाढ़ पहुँचनेसे पहिले एक बुढ़िया भक्तिनने खाने-पीनेका इन्तिज़ाम किया था। दोपहरको सड़कपर अवस्थित एक अंग्रेज़ी स्कूलके अध्यापकने—जो शायद पोस्टमास्टर भी थे—भोजनके लिए बहुत आग्रह किया। कर्वी छोड़नेपर अब कभी-कभी दिनरात सिर्फ़ संस्कृत बोलनेकी सनक चढ़ जाया करती। इस दिन मैं उसी सनकमें था। अध्यापकपर संस्कृत-भाषणकी भी धाक रही होगी। उनसे बसाढ़के किलेके बारेमें तो पता लगा, किन्तु अशोक-स्तम्भके बारेमें शायद मैंने पूछा ही नहीं या क्या, ठीकसे मालूम न हो सका।

बसाढ़के गढ़को देखा। वज्जी-गणतन्त्रका जो अपूर्ण स्वरूप चित्तपर अंकित था, उसपर एक दृष्टि डाली। अशोकस्तम्भके बारेमें कई तरहकी बातें सुनकर मैं भ्रममें पड़ गया। रातको गढ़से पच्छिम एक ठाकुरबाड़ीमें ठहरा, जिसमें कितनी ही पुरातन खंडित मूर्तियाँ भी मौजूद थीं। मन्दिरके पुजारी एक वृद्ध राजपूत थे। अयोध्याके बारेमें बात करते वक़्त उन्होंने अपनेको पंडित रघुवरदासका पिता बतलाया। मैंने कुछ आश्चर्यसा प्रकट किया। उन्होंने बड़े करुण स्वरमें कहा—यदि उन्हें इस सम्बन्धको प्रकट करनेमें लज्जा मालूम होती है, तो खोलनेकी क्या अवश्यकता, यह तो मैंने प्रसंगवश कह दिया।

बसाढ़से मुझे पटना आना था। मैंने रास्तेको नक़शेसे देखकर नहीं निश्चित किया था। रास्तेसे दस-पाँच मील इधर-उधर हो जानेकी कोई पर्वाह नहीं थी, क्योंकि किसी जगह पहुँचनेकी कोई खास तिथि तो निश्चित कर नहीं रखी थी।

गंडकका घाट पार हो मकेर, परसा (थाना) होते शीतलपुरसे रेलद्वारा दिघवारा

आया। पटना कभी आया न था, और न जाने कौनसे संस्कारवश मैंने समझा कि दिघवारासे नदी पार होनेपर पटना पहुँच जाते हैं। स्टेशनके सामनेवाले हलवाईसे चटाई लेकर रातको वहीं सो रहा। इधर जो गाँजा-चिलमकी कुछ मश्क़ हुई थी, तो देखा-देखी सिग्रेटका डिब्बा ख़रीदकर सीखनेके लिए सिरहाने रखा हुआ था। सबेरे किसी धार्मिक आदमीकी उसपर नज़र पड़ी, तो उसने फटकारा--'कैसे साधु हो, सिग्रेट पीते हो ?' सचमुच ही साधुके लिए शंकरकी बूटी गाँजा-भाँग ही शोभा देती है, सिग्रेटको छूकर मैं धर्ममर्यादा तोड़ रहा था। सिग्रेट पीनेकी एकाध बार मैंने कोशिश ज़रूर की, किन्तु उसके धुयेंसे मुँहका स्वाद और शिरकी अवस्था जैसी हो जाती है, उसे बर्दाश्त नहीं कर सका। बिना शागिर्दीकी सटक बर्दाश्त किये कोई उस्ताद थोड़े ही होता है ?

नावसे जब मैं गंगा पार हुआ, तो काफ़ी धूप थी। अभी दियारा ही दियारा था, दानापुर बहुत दूर था। अन्तिम रेतीमें पहुँचते वक़्त वह ख़ूब तप गई थी, और मैंने दौड़कर जलते तलवोंसे बड़े कष्टके साथ उसे पार किया। छाले पड़नेका पूरा अन्देशा था, किन्तु बच गया।

दानापुरमें किसी उदासी साधुकी कुटियामें ठहरा। दूसरे दिन बाँकीपुरमें भीखम-दासकी ठाकुरबाड़ीमें रुका। उस समय ठाकुरबाड़ीमें रोज़ माल्दा आम आते थे। यह आमोंका राजा पटनाकी ख़ास चीज़ है, यह मुझे नहीं मालूम था। मैं दो या तीन दिन पटनामें रहा। साधुओंको जहाँ तक हो सके पायख़ानेका बायकाट कर शहरके आसपासके खेतोंमें खुली हवा खुली ज़मीनको इस्तेमाल करना चाहिए—इस शास्त्रके अनुसार वह बग़ीचीके आसपासके उन खेतोंमें डोल-डाल (पायख़ाने) जाया करते थे, जहाँ अब नया क़दमकुँआ बसा हुआ है।

पटनासे बख़्तियारपुर होते बिहारशरीफ़ कचहरी उतरा। डाकबँगलेके हातेमें गुप्तकालीन पाषाणस्तम्भ और उसके शिलालेखको देखते--पढ़ते नहीं, क्योंकि अभी पुरालिपिका परिचय नहीं था—क़स्बेमें किसी ठाकुरबाड़ीमें रातको ठहरा।

आगे नालन्दा पैदल ही गया। उस वक़्त खुदाई तो हुई थी, किन्तु इतने अधिक विहार उद्घाटित नहीं हुए थे। चीनी यात्रियों--फ़ाहियान, ह्यून्सांग, इत्सिंगको मैंने ध्यानसे पढ़ा था--काल्पीमें रहते फ़ाहियानकी यात्राका आधा बल्कि अनुवाद कर डाला था, जिसे कि ओंकार प्रेस (प्रयाग) वालोंने लेकर कहीं गुम कर दिया—इसीसे बौद्ध स्थानोंकी मेरी यात्रा बड़ी अन्तर्दृष्टिके साथ हो रही थी। अब तक एकसे अधिक लेख मैं 'भारती'को लिख चुका था। उस वक़्त नालन्दाके पासके विशाल ह्रद

लाल कमलोंसे बिछे सचमुच ही पद्मक्षेत्रसे दीखते थे। म्युज़ियम देखनेकेलिए गया। उस वक़्त पंडित (डाक्टर) हीरानन्द शास्त्री नालन्दामें खुदाई कर रहे थे। म्युज़ि-यम् देखनेके इच्छुक एक साधु आये हैं—सुनते ही वे चले आये, और खुदाईसे निकली चीज़ोंको दिखलाते रहे। मैंने स्थानकी गर्मीके बारेमें पूछा, उन्होंने बतलाया—गर्मी तो है, किन्तु स्वास्थ्यके लिए कोई हानि नहीं करती। मैं एकाध साल कश्मीरमें रहकर आया हूँ, किन्तु यहाँ आनेपर मेरे बच्चोंको कोई ख़ास शिकायत नहीं।

नालन्दासे राजगिर गया। (ब्रह्मकुंड-वैभार पर्वत)के पासकी वैष्णव मठियामें ठहरा। उस वक़्त वहाँ एक बूढ़े साधु रहते थे। राजगिरिमें इतने मकान या धर्म-शालायें नहीं बनी थीं। न बर्मी(?), जापानी विहार ही थे। मठमें एक और तरुण साधु थे, जो कुछ पढ़े-लिखे भी थे। मेरे पहाड़ोंपर घूमने और दर्शनीय स्थानोंके देखनेमें उन्होंने बड़ी सहायता की। मैं फ़ाहियान्-ह्वेन्-चाङ्की यात्राओंको पढ़कर निकला था, यह अब ख़ूब याद आ रहा है, इसीलिए यात्रामें मज़ा आ रहा था।

गया जानेकेलिए मैंने सीधा रास्ता पूछा। यदि बुद्धकी बोधगयासे राजगिर आनेकी यात्राका पता होता—जिसे कि मैंने अपनी 'बुद्धचर्या'में दिया है—तो मैं उसी रास्ते चलता। मुझे पहाड़का वह रास्ता बतलाया गया, जो कि राजगिरसे नवादाकी ओर जाता है। पहाड़में एक जगह रास्ता भूलनेपर जैनमन्दिरोंके एक पुजारीने बत-लाया—पहाड़ोंपर जहाँ-तहाँ बिखरे हुए जैनमन्दिरोंकी पूजाके लिए ऐसे कुछ पुजारी गाँवके पंडोंमेंसे रखे गये हैं। पहाड़ोंको पार कर, और कितनी ही दूर चलकर शामको मैं किसी स्टेशनपर पहुँचा। वहाँसे गया, गोलपत्थरके पास एक वैरागी-स्थानमें ठहरा।

बोधगया जानेके लिए दो-एक वैरागी साथी भी मिले। हम लोगोंने पैदल ही उस रास्तेको तै किया। पीछे दर्जनों बार गया जानेका मौक़ा मिला, इसलिए उस आरम्भिक साक्षात्कारकी छाप बहुत कुछ मिट गई है। तो भी बुद्धके प्रति मेरी भक्ति दयानन्दसे भी बढ़कर थी—हाँ उस वक़्त मैं यह समझनेकी भी ग़ल्ती कर रहा था, कि बुद्ध दयानन्द हीकी भाँति वैदिक धर्मप्रचारक ईश्वरविश्वासी ऋषि थे। गर्मीके दिन थे, इसलिए उस वक़्त वहाँ कोई विदेशी बौद्ध नहीं मिला। मेरे साथियोंने बोधगया महन्तके यहाँसे सदावर्त ली, निरंजनाके किनारेकी ओर एक धर्मशालामें रसोई बनाई, और दोपहरका भोजन वहीं हुआ।

गयासे रेल द्वारा मैं भागलपुर पहुँचा। कालेजकी पुरानी इमारतके पास एक वैरागी-स्थानमें ठहरा। महन्त पतले-दुबले बूढ़े ब्रजवासी थे। अब एकाध झोंके वर्षाके आ चुके थे। आम खानेको ख़ूब मिल रहे थे। महन्तजीका रहनेका आग्रह

हुआ, और मैंने भी सोचा, आमोंकी फ़सल बिताकर यहाँसे आगे चलना चाहिए। मठके बाहरकी फुलवारीमें कई हरे-भरे नारियल थे, जिनको देखकर मुझे भ्रम होने लगा था, कि मैं बंगालकी भूमिमें पहुँच गया हूँ। मठकी एक शाखा चम्पानगर नालेके उस पार गंगाके किनारेके किसी गाँवमें थी। उस वक़्त गंगाकी धार गाँवको काट रही थी, इसलिए लोगोंने लकड़ीके लोभसे कितने ही आमके दरख़्तोंको कटवा लिया था। वर्षासे गाँववालोंको कुछ आशा बँधी थी, कि शायद घर बच जावें। महन्तजी गाँजा-भाँगका नियमसे सेवन करते थे, और अब मैं भी उसमें शामिल था। नाच-नाचकर 'हरे राम' कहते हरिकीर्तन करना मुझे यहीं देखनेमें आया। भागलपुरके (तथा बिहारके भी) विख्यात कीर्तनाचार्य क्रिस्टो बाबू कीर्तनके लिए आये हुए थे। दर्शकोंकी बड़ी भीड़ थी। कीर्तनका समय रातको था। महन्तजीने गोली कुछ बढ़ाकर शर्बतमें घोली थी, इसलिए मुझे नशा ज़्यादा चढ़ गया, और क्रिस्टो बाबूके कीर्तनका मज़ा नहीं उठा सका।

भागलपुरके मठमें महीने भरसे कुछ ही कम दिन रहा हूँगा। यहाँ, मठके दर्वाज़े-पर सड़ककी दूसरी ओर एक पुस्तकालय था, जहाँ पुस्तक और अख़बार पढ़नेका भी कुछ सुभीता था।

भागलपुरसे मेरा इरादा हुआ मुर्शिदाबाद चलनेका। पैसा ख़तम हो जानेसे अब "दस-आने-छै-आने"में चलना था। रातकी गाड़ीमें सवार हुआ। सो गया, जब नींद खुली तो देखा सबेरा हो रहा है, और मैं मुर्शिदाबादवाले जंकशनसे बहुत आगे चला आया हूँ। बंगालमें कुछ पैदल चलनेका इरादा था, इसलिए वहीं उतर पड़ा। पासका गाँव क़ासिम-बाज़ारके राजा साहेबका था, वहाँ उनकी ओरसे एक हाईस्कूल भी था। मुझे भूख लगी थी। एक ब्राह्मणीकी कुटियामें जाकर पूछा—माई, कुछ खाना देगी? ब्राह्मणीने फूसके सुन्दर छतवाले साधारण किन्तु स्वच्छ घरके लटकते ओसारेके नीचे सीमेंटके फ़र्शपर चटाई दे बैठा दिया। खाना बनानेमें देर होती, इसलिए मैंने गुड़की मूरी (लाई)को ही पसन्द किया। घरमें कोई पढ़ा-लिखा व्यक्ति पैदा हुआ था, उसने अभी-अभी कमाई शुरू की थी, और सीमेंटके फ़र्श तथा कुछ और सुधार घरमें किये थे, कि मौतने आ घेरा। अब घरमें दो प्रौढ़ा और वृद्धा विधवायें रह गई थीं।

भागीरथीकी किसी धाराको पारकर फिर सड़क पकड़ी। अब मैं ठेठ बंगालमें था। लोगोंके तेल चूते सँवारे हुए केश, पानसे काले पड़ गये दाँत, मलेरियाका मारा स्वास्थ्य। कितनी ही जगह गृहस्थ धानके खेतोंकी निराई करते थे। शामसे

पहिले ही मैं पलासी या उसके पासके स्टेशनपर पहुँचा। मालूम हुआ मुर्शिदाबाद दूर छूट गया, आगे थोड़ी ही दूरपर रानाघाट आयेगा। मैंने सोचा, अच्छा है, आसाम भी हो आवें। स्टेशनके छोटे-छोटे नौकरोंमें कुछ बिहारी थे। उन्होंने रातको भोजन कराया।

सबेरे सात या आठ बजे मैं रानाघाट उतरा। किसीसे पूछ-ताँछ नहीं की, स्वयं तै कर लिया कि रानाघाट ब्रह्मपुत्रके किनारे है, और ब्रह्मपुत्र पारसे आसाम वाली रेलको पकड़ना अच्छा होगा। अभी मुँह-हाथ धोना भी था, इसलिए मैंने 'गंगा-धारे'का रास्ता पूछा। लोगोंने एक सड़क बतला दी। आगे जानेपर देखा वहाँ ब्रह्म-पुत्र कहाँ, वहाँ तो एक छोटीसी नदी है, जिसपर नावोंका पुल बँधा है। सड़क शान्ति-पुरको जा रही थी। कहा--चलो, इधर भी यजमानी है। नदी किनारे मुँह-हाथ धो आगे बढ़ा। धूप नहीं थी। आसमानमें बादल घिरे हुए थे। चारों ओर हरे-भरे खेत या वृक्ष दिखलाई पड़ते थे। सरय-श्यामला वंगभूमिकी मनोहारिनी छवि वर्षाके कारण अपने यौवनपर थी। बँगला कुछ पढ़ तो लेता था, किन्तु अभी तक बंकिमचन्द्र या किसी दूसरे महान् उपन्यासकारके बँगला ग्रन्थ पढ़े नहीं थे, नहीं तो शायद उस प्रकृति-अवलोकनमें और भी मज़ा आता।

दस या ग्यारह बजे भूख मालूम हुई। एक पक्के किन्तु बेमरम्मत घरमें गया तो मालूम हुआ उसमें उपस्थित पुरुष कुछ पागलसा है। वहाँसे आगे शायद उसी गाँवमें एक दूसरा बँगलानुमा घर मिला। भिखमंगेसे बिल्कुल उल्टे स्वरमें मैंने वृद्ध गृहपतिसे पूछा--'क्या कुछ भोजन देंगे?' वृद्धने तुरन्त उत्तर दिया--'हाँ, ज़रूर, आइये।'

उन्होंने बैठकमें एक आरामकुर्सीपर बैठाया। वहाँ कुर्सी-मेज़ काफ़ी थे। दीवारोंपर तस्वीरें भी थीं, किन्तु उनकी अवस्थासे मालूम होता था, कोई उनकी क़दर करनेवाला नहीं है। रसोई तैयार होनेमें ज़रा-सी देर थी। वृद्धने एक आठ-दस वर्षके बच्चेको बुलाकर प्रणाम करवाया। फिर एक बड़े फोटोको दिखलाकर कहा--"यही इसके बाप थे, मेरे एक मात्र पुत्र; वकील हुए थे, अभी काम चल ही निकला था, कि भगवान्ने बुला लिया। अब यही एक पौत्र हमारे वंशका अवलम्ब है। मैं स्टेशन मास्टर था, इससे कुछ पेंशन (?) मिलती है। कुछ खेत-पात भी है। खानेका भगवान्की दयासे कोई दुःख नहीं। किन्तु पुत्र-वियोग, पुत्रवधूका वैधव्य बराबर सताता रहता है।" मालूम नहीं, मैंने कुछ वैराग्यका उपदेश दे, उन्हें सान्त्वना दी, या किसी दूसरी तरहसे। गृहस्थके घरमें बंगाली-भोजनका शायद पहिला मौक़ा था।

कटहलके कोये जो सेर-सेर, डेढ़-डेढ़ सेर बग़ैर हिचकिचाहटके खा जाये, उसके सामने यहाँपर डरते-डरते दो-तीन कोयेका रस गारकर कटोरीमें रखना क्या मज़ाक़ नहीं था ? भोजन स्वादिष्ट मालूम हुआ, उसमें नारंगी रंगका एक आचार तो और भी, जिसे दो तीन बार काटकर खा लेनेके बाद मैं जान सका कि यह बड़ा झींगा है। ख़ैर, "हरेरिच्छाबलीयसी", वही मत्स्यावतार धारण कर यदि हर जगह पहुँचे रहते हैं, तो मैं निर्बल मनुष्य क्या कर सकता।

भोजनके बाद जब मैं चलने लगा, तो गृहपतिने एकाध दिन रहनेका बहुत आग्रह किया, किन्तु अकृत्रिम ढंगसे उसे अस्वीकृत कर मैं आगे चलता बना। शायद उसी दिन शामको शान्तिपुर पहुँचा। साधुका स्थान पूछनेपर क़स्बेसे बाहर तालाबके भीटेपर एक साधुका पता लगा। वह एक पंजाबी उदासी थे। लाल लँगोटा, पीली खुली जटायें, गलेमें काले ऊनकी माला, तरुण दीर्घ देहमें अखंड भभूती। भाषासे अनजान तथा बहुत कुछ निरक्षर होते हुए भी साधुने हाल हीमें आकर वहाँ अच्छा सिलसिला जमा लिया था। गाँजेकी कमी नहीं रहती थी, और गाँजेकी महकपर तो गृहस्थ भी मधुमक्खियोंकी तरह टूटते हैं। मछली-मांसके कारण महात्मा छूत-छातका बहुत ख़याल करते थे। बस, धुनीपर ही एक बड़ासा टिक्कर लगा लेते, तथा बराबरके घी-चीनी-दूधसे भोजन होता। धोतीके शान्तिपुरी पाढ़को मैं बहुत सुन चुका था, किन्तु यह जानकर अफ़सोस हुआ, कि अब वह पाढ़ अधिकतर मान्चेस्टरसे बनकर आता है।

रातको मैं स्टेशनपर जा रहा था, उस वक़्त कुछ मनचले गाना गाते जा रहे थे। सुर ग़ज़लका किन्तु भाषा बँगला थी, मैंने कहा--चलो एक बातमें तो बंगालियोंने कुछ हमसे लिया। रेलसे रवाना तो हुआ, किन्तु कितनी दूर इसका ख़्याल नहीं। एक रात कृष्णनगरमें ठहरा था, शहरसे बाहर सड़कपर के एक पान-सिग्रेटवाले तरुण-की दूकानपर। रातको उसने मछली-भात खिलाया। बचपनके मत्स्यप्रेमको आजके झींगाके अचारने जगा दिया था।

गंगा पार उतरनेपर जब मैंने पैसा देना चाहा, तो घटवारने छपराकी बोलीमें बोलते हुए कहा--'नहीं, बाबा, हम तुमसे पैसा नहीं लेंगे।' यहाँ, इतनी दूर छपराके लोगोंका घाटका ठीका !

नदिया (नवद्वीप)में एक गौड़िया साधुके स्थानमें आसन रखा। न्यायशास्त्रमें नदियाकी कीर्ति काशी और दूर तक पहुँची हुई थी। वहाँ कुछ बिहारी संस्कृत-छात्र भी मिले। उनसे संस्कृतमें बातचीत हुई। मैंने हालमें ही नव्यन्यायके कुछ ग्रंथ

पढ़े थे, इसलिए न्यायके उन विद्यार्थियोंको भी अपना परिचय देनेमें मुझे दिक़्क़त न हुई। हिन्दी भाषाभाषी छात्रोंकी संख्या बहुत कम थी, उन्होंने मुझे देखकर बड़ी प्रसन्नता प्रकट की, और वहीं रहकर पढ़नेके लिए आग्रह किया। महामहोपाध्याय कामाख्यानाथ तर्कवागीशके बारेमें मैं काफ़ी सुन चुका था। न्यायवात्स्यायनभाष्य पढ़नेकी जब दिक़्क़त हो रही थी, तो उनका नाम कई बार मेरे सामने आया था। उनके चेहरेकी बहुत क्षीण स्मृति रह गई है, शायद वह महामहोपाध्याय विधुशेखर भट्टाचार्यकी भाँति दुबले-पतले मझोले क़दके वृद्ध थे। उनके हाथमें नारियल और मुँहसे निकलता धुँआ मुझे अब भी याद है। वह चारपाई या कुर्सीपर नहीं बैठे थे। विद्यार्थियोंने मेरा परिचय उत्तर-भारतके नये विद्यार्थीके तौरपर कराया। मैंने श्रवणसे सुने हुए विद्यावैभवको आँखोंसे देखकर अपनेको धन्य-धन्य समझा। शायद नदियामें विद्यार्थियोंकी कमी रहती है, इसीलिए महामहोपाध्यायजीने मुझे आग्रह-पूर्वक रहनेके लिए कहा। बनारसमें निश्चय ही मध्यमा और आचार्यके एकाध खंड-वाले विद्यार्थीको कामाख्यानाथकी कोटिके पंडित उतना आग्रह नहीं करते, विशेषकर प्रथम दर्शनमें। आखिर, काशीके लिए सारे भारतसे विद्यार्थि-धारायें आती हैं, और नदियामें सिर्फ़ बंगालसे, जहाँ भी कलकत्तामें एक प्रतिद्वन्दी संस्था संस्कृत कालेज है। संस्कृतके विद्वानोंकी कठिनाइयाँ छात्रावस्थाके साथ ख़तम नहीं हो जातीं। पंडितावस्थामें भी यदि योग्य विद्यार्थी नहीं मिले, तो पढ़ी-पढ़ाई विद्या भूल-भुलाकर साफ़ होनेका डर रहता है।

नवद्वीपके कई मन्दिरोंको देखा। उस मठको भी देखा, जिसका सम्बन्ध गौरांग महाप्रभु (चैतन्य)से है? एक भजनाश्रममें पचासों विधवा-स्त्रियोंको आधसेर चावलके लिए घंटों 'हरे राम' 'हरे राम' करते देखा। भजनाश्रमकी लोग बड़ी शिकायत कर रहे थे। जैसे उत्तरभारतकी कुलीन तरुण विधवाओंका निस्तार काशीमें होता है, वैसे ही बंगालका नवद्वीपमें, फिर भजनाश्रम बेचारा बदनामीसे क्यों बचता? शामको ढूँढ़नेपर उत्तरभारतीय वैरागी स्थान भी मिला। मैंने तो तै किया—दक्षिणमें पढ़ने जानेकी जगह यहीं पढ़ा जावे, न्याय-मीमांसा ही सही।

रातको जब मच्छरोंकी फ़ौजने हम्ला शुरू किया, तो शामका निश्चय जवाब देने लगा। किसी तरह रात काटी। सबेरे सारे बदनमें मच्छरोंकी चोटके दाग़ थे, दाहिने हाथकी तर्जनीके मध्यमें तो ख़ूब खुजली हो रही थी।

सबेरे उठते ही मैंने स्टेशनका रास्ता लिया, किसीसे विदाई भी लेने नहीं गया।

कलकत्तामें अबके जगन्नाथमन्दिर (जगन्नाथ घाट)में ठहरा। कलकत्ता महीनों रह चुका था, इसलिए देखने-सुननेकी कोई ख़ास चीज़ बाक़ी बची न थी।

सोचा, समयकी बचतका भी ख्याल रखना ज़रूरी है, तो भी अधिकसे अधिक स्थानों और प्रान्तोंको देखते चलना चाहिए।

हवड़ासे मैंने बी० एन० आर्०की लाइन पकड़ी। पहिली रात एक गाँवमें ठहरा, जहाँ यात्रा (रासलीला) हो रही थी। खडगपुर कितने दिनोंमें पहुँचा, याद नहीं। आखिरी दिन दोपहरको एक गाँवमें एक ब्राह्मणने छोटी मछलीके साथ भात खिलाया। खड्गपुरसे खुर्दा रेलसे गया, और आगे पुरी तक पैदल। उड़िया दीहातकी दरिद्रता देखी। एक बड़े ज़मींदारके यहाँ सदावर्त मिलती थी। कई साधुओंके साथ मैं भी वहाँ गया। उनके यहाँ एक अच्छा शिखरदार मन्दिर था। जिस वक़्त साधुओंको सदावर्त दिलवा रहे थे, उसी वक़्त किसी रैयतने कई जीती माँगुर मछलियाँ भेंटमें पेश की। मुझे याद आया––'माँगुर माछेर झोल। तरुणी मेयेर कोल। बोल हरी बोल।' रामकृष्ण परमहंस भी रंगीला रहा होगा।

साखी गोपालमें रातको ठहरा था, किन्तु अब उसका नाम भर याद रह गया, सो भी पीछे हज़ारीबाग़ जेलमें पंडित गोपबन्धुदासके दर्शन करने तथा उनके द्वारा स्थापित विद्यालयके बारेमें सुननेपर। पुरीमें अबके डाँडिया जगन्नाथदासके स्थानमें ठहरा। डाँडिया जगन्नाथकी हज़ारोंकी जमात मद्रास, महाराष्ट्र छोड़ बाक़ी सारे भारतमें, धूमधामसे घूमनेके लिए मशहूर थी। वह बराबर चलती ही रहती, सिर्फ़ बरसातके तीन महीने किसी बड़े शहरको देख चातुर्मासा करती। जगन्नाथदास इस जमातके बड़े महन्त थे, और उनके नीचे ग्यारह और महन्त––जिससे उन्हें बारह भाई डाँडिया कहा जाता था। हर कुम्भपर डाँडियोंकी जमात जाती, और उस वक़्त इनकी संख्या कई हज़ार पहुँच जाती थी। जमातमें कपड़ेके चलते-फिरते मन्दिर (तम्बू), साधुओंके रहनेके लिए बड़े-बड़े छाते, छोलदारियाँ और शामियाने रहते। इतनी बड़ी जमातमें व्यवस्था क़ायम रखना, तथा बिना पैसेके सारा खाने-पीनेका प्रबन्ध करना आसान काम न था। महन्त जगन्नाथदास 'चेताने'में बहुत सिद्धहस्त थे। उनकी मीठी बातों, विशाल जटाओंको देखकर कौन प्रभावित हुए बिना न रहता। उनकी जमात पैदल चलती थी। एक-दो दिन पहिले अगले मुक़ामपर ख़बर चली जाती––कि जमाअत आ रही है; फिर उस क़स्बे या शहरके गृहस्थ घी, आटा, चीनी, रुपया जमा करनेमें लग जाते। एक साथ हज़ार-हज़ार जटा-भभूतधारी सन्तोंको देखकर गृहस्थ गद्गद हो जाते, फिर खाने-पीनेकी तकलीफ़ कैसे हो सकती

थी ? पूजाके रुपयेमें महन्तोंका भाग काफ़ी रहता। महन्त जगन्नाथदासने अपने उन्हीं रुपयोंसे यह स्थान बनवाया था, जो अभी पूरा नहीं हो पाया था। वैरागी लोग वैसे छुआ-छूत, और जूठ-मीठका बहुत विचार रखते हैं, किन्तु जिस तरह जगन्नाथजी (पूरी) में एकादशीको उल्टी बाँधकर टाँग दिया गया है, उसी तरह छुआछूतको भी। मठमें जगन्नाथजीके चढ़े कुछ हटके भी आया करते थे। परोसनेवाले साधु परोसते हुए, बीचसे गफ्फाभी लगाते जाते थे। मुझे ख्याल आता था—सारा भारत ही पुरी हो जाता, तो कैसा अच्छा रहता।

पुरीमें नदियाके मच्छरोंकी सताई अँगुली कुछ पक आई, किन्तु मैंने उसकी पर्वाह नहीं की। आंध्रमें दो या तीन जगह दीहातके स्टेशनोंमें उतर कुछ पैदल चला था। राजमहेन्द्रीमें गोदावरी तीरपर उस वक़्त एक भारी मेला लगा हुआ था। गृहस्थोंके अतिरिक्त ज़्यादातर दक्षिणके साधु थे, और उत्तरके साधुओंसे तुलना करनेपर वे निरे भिखमंगे जँचते थे। उत्तरीय साधुओंमें आचार-विचारके कितने ही अलिखित नियम हैं, वेषधारी साधु उनकी अवहेलना खुल्लमखुल्ला करनेकी हिम्मत नहीं रखता; किन्तु यहाँ सभी अपने आप अपने आचार्य। मेलेमें कुछ उत्तरभारतीय साधु भी थे, जिनके यहाँ मैं ठहर गया। दो-एक दिन अस्पतालमें अँगुली धुलाने गया, किन्तु अभी वह अच्छी नहीं हुई थी। विज़ागमें भी दो-एक दिन रहकर अँगुली धुलवाई, फिर तिरुपती पहुँच गया।

तिरुपती मठमें अबके कुछ नये नियम बर्ते जा रहे थे। साधुको मठसे बाहर रहना पड़ता, जब वह बालाजीसे हो आता, तो मठके भीतर आसन दिया जाता। मैं भी पिछवारेके एक बरांडेमें ठहरा। संयोगसे दारागंज (प्रयाग)के तुलसीदासके स्थानके बाबा रामटहलदास (सितारची) भीतर ठहरे हुए थे, उन्होंने मुझे देख लिया—'शास्त्रीजी ! आप कहाँ ?' फिर मठके किसी अधिकारीसे कहकर मुझे भीतर लिवा गये। उस वक़्त जलगोविन्द (?) स्थानमें एक परमहंस वैरागी साधु—जो जन्मसे बंगाली थे—ठहरे हुए थे, उनके साथ चन्द्रनगर (फ़्रेंच) का एक लड़का था। महन्तजीने चेला बनानेके लिए एक लड़का खोज लानेके लिए कहा था, इसीलिए परमहंसजी इस लड़केको लाये थे। लड़का मिडल तक पढ़ा हुआ था। हमारे पुराने परिचितोंमें अब कोई न था। तिरुपती संस्थानने एक संस्कृत-कालेज खोला है, सुनकर मैं उसे देखने गया। प्रधानाचार्य श्रीदेशिकाचार्यसे मिला। देशिकाचार्य दक्षिणके प्रकांड पंडित थे, उनके पांडित्यके बारेमें मैं पहिले हीसे सुन चुका था। उन्होंने पाठशाला दिखलाई, और वेदान्त मीमांसाकी पढ़ाईकी बात चलने पर वहीं रहकर पढ़नेके

लिए कहा। वह सब तरहसे सहायता देनेको तैयार थे। ऐसे गुरुसे पढ़नेके लिए मैं कम लालायित न था, और बालाजीसे लौटनेपर पढ़ाई आरम्भ करनेकी बात कहकर चला आया। यहीं लोकमान्य तिलककी मृत्युकी ख़बर मिली, और शोकसभा देखी।

बालाजीमें अबके वह मस्ताना बाबा 'कृष्ण कन्हैया तुम्हीं तो हो' नहीं मिले। बतास-पंछी कहीं एक जगह रहा करते हैं? रघुवरदास (?) पिछली बार जो लघु-कौमुदीके कुछ पन्ने घोखते मिले थे, अब वह बड़े हो गये थे, और योग्यतासे भी अधिक अपने पांडित्यका अभिमान रखते थे। छपरा ज़िलामें उनका जन्म हुआ था, इस ख़्यालसे तथा पहिलेके परिचयके कारण भी मैंने कुछ अधिक नज़दीकीपनसे बात शुरू की; किन्तु तुरन्त ही मालूम हो गया, कि हमारे दोस्त कई ताड़ ऊँचेसे बात कर रहे हैं। इसे सहन करना मेरी प्रकृतिके विरुद्ध था, किन्तु साथ ही उसके लिए झगड़ा मोल लेनेको भी मैं भारी मूर्खता समझता था। रघुवरदासजी (या जो उनका नाम रहा हो) को हालमें कुछ बुख़ारसा आया था, और महन्तजीने डाक्टर बुला दिया था। कह रहे थे—"बड़ी गर्मी थी, सोडावाटर और बर्फ़ कितना ही पीता, कुछ असर नहीं होता।" सोडावाटर और बर्फ़को ऐसे ढंगसे कहते, मानों वह इन्द्रपुरीका दुर्लभ अमृत-कलश हैं। उनके बदनपर साधुओंका साधारण अँचला नहीं बल्कि अच्छे कपड़ोंका किन्तु जगह-जगह सिकुड़ा हुआ क़मीज़ था। अपने उस सम्भ्रान्त वेषके सामने मेरी कम्बलकी अल्फीकी वह क्या गिनती करते? संस्कृत कालेजकी बात चलानेपर, वह इस तरह बातें करने लगे, मानों उसके कर्त्ता-धर्त्ता सब कुछ वे ही हैं। मैंने यह तो देखा, कि पिछले सात वर्षोंको इस पुरुषने खोया नहीं है, किन्तु उसका विद्याभिमान 'जस थोरे धन. . . .बौराई'वाली बात थी। मैंने वहीं तै किया, कि तिरुपतीमें रहनेपर इन्हें अपनी इन्द्रगद्दी छिन जानेका डर रहेगा, इसलिए सीधे तिरुमिशी चलना ही अच्छा है।

पहाड़से उतरकर मैं सीधे स्टेशनपर पहुँचा। मठमें जानेकी ज़रूरत न थी, फिर जलगोविन्दके परमहंससे भेंट होती, और महन्तके आये होनेपर उनसे बातचीत करनी पड़ती।

अब न मुझे दिव्यदेशोंके देखनेकी इच्छा थी, न पर्यटनकी लालसा। तिरुपतीमें अँगुली धुलवाने अस्पताल जाना पड़ा था। बीचमें कई दिन न धोनेसे वह ज़्यादा पक गई थी। मैंने तो डाक्टरकी क़ैंचीके सामने भीतरसे शंकित रहते भी बाहरसे मुस्कराते अँगुली बढ़ा दी, किन्तु रामटहलदास वहाँसे भाग गये। बालाजीमें दो-तीन दिन अँगुली न धुली, उसीसे मवाद फिर बढ़ गया था। अब कहीं भी बिना ठहरे मैं सीधा तिरुमिशी पहुँचा।

११

दुबारा तिरुमिशीमें (१९२०-२१ ई०)

स्वामी हरिप्रपन्नाचार्य अब कुछ ज़्यादा मोटे हो गये थे, और बाहरसे स्वस्थ दीखते हुए भी भीतरसे अधिक जीनेकी आशा नहीं रखते थे। कर्वीसे भेजे एक पत्रके उत्तरमें उन्होंने जीवनकी अस्थिरताके साथ मुझे शीघ्र आनेके लिए लिखा था। मैं स्थानसे पढ़नेमें सहायता ज़रूर चाहता था, किन्तु महन्त बननेकेलिए तैयार न था। आषाढ़ महीनेमें अपने नये मन्दिरमें उन्होंने नई मूर्तियोंकी स्थापना की, और उसी वक़्त उत्तराधिकारी भी घोषित कर देना चाहते थे, मेरे न आनेपर उन्होंने बदायूँ या बिज-नौर ज़िलेके एक ब्राह्मण-लड़केको उत्तराधिकारी शिष्य बनाया। उन्होंने देरसे आनेके कारण उक्त व्यवस्था कर डालनेके लिए अफ़सोस ज़ाहिर किया। मैंने उसके लिए प्रसन्नता प्रकट करते हुए कहा—"महन्त दूसरा हो, यही तो मुझे पसन्द है। मैं चाहता हूँ विद्या पढ़ना, बस इसीमें आपके आतिथ्यको चाहता हूँ।" उन्होंने बड़े प्रेमसे मेरे रहनेका अच्छा प्रबन्ध कर दिया। पहिलेका एकमहला पच्छिमवाला मकान अब दोमहला हो गया था। ऊपर सफ़ेद सीमेंटके फ़र्श और दीवारोंकी कई पक्की कोठरियाँ थीं, उन्हींमेंसे एकमें मेरेलिए स्थान दिया गया। देवराजजी अब भी हरिप्रपन्नाचार्यके विश्वासपात्र तथा भगवान्‌की पूजा-रसोईमें निरत थे। उनके रीवाँवाले गुरुभाई मद्रासमें किसी वेश्याके फन्देमें पड़े, और अब सदाके लिए आतशक लेकर बैठे हुए थे, और उनकी ज़बान ऐंठ गई थी,—अक्षरोंको ऐंठकर बोलते थे।

पिछले सात वर्षोंमें मठकी काफ़ी उन्नति हुई थी। सिर्फ़ दोनों घर ही अच्छे नहीं बन गये थे, बल्कि मद्रासमें मासिक चन्देकी आमदनी भी प्रतिमास डेढ़ सौसे ऊपर हो गई थी उगाहनेके तरद्दुदसे बचनेके लिए हरिप्रपन्न स्वामी उसे और बढ़ा नहीं रहे थे, नहीं तो और दाता भी मिलनेको तैयार थे। पचीस-तीस हज़ारसे अधिक रुपया सूद-पर दिया हुआ था, और कितने ही धानके खेत भी ख़रीद लिये गये थे। मठकी सारी सम्पत्ति साठ हज़ारसे ऊपरकी थी।

महन्तीका उम्मीदवार दूसरा है, इसे जानते भी मैंने जिस तरह अपना भाव दिखलाया, उससे हरिप्रपन्न स्वामी भी प्रभावित हुए। दूसरे दिनसे बंड (बैल-ताँगे) पर मैं पुन्नमले अँगुली धुलाने जाता, और आठ-दस दिन बाद नदियाके मच्छरोंकी चोट चंगी हुई, निशान तो ख़ैर सारी ज़िन्दगीके लिए वे दे गये।

मेरी इच्छा वेदान्त और मीमांसा पढ़नेकी थी। स्वामी हरिप्रपन्नकी इच्छा हुई, कि 'अष्टादशरहस्य' ग्रंथोंको भी द्रविड़ भाषामें पढ़ूँ। वेदान्त पढ़ाना मेरे पुराने सहपाठी भक्ति--अब टी० वेंकटाचार्य—के पिता श्रीनिवासाचार्यने स्वीकार किया। भक्ति स्वयं अब 'मीमांसाशिरोमणि' हो गये थे, इसलिए उनके साथ शास्त्रदीपिका आदिका पढ़ना तै हुआ। मैं रोज 'भक्ति'के घर पढ़ने जाया करता। व्याहका कुछ विरोधी होनेके कारण 'भक्ति'के व्याहकी खबर मुझे कुछ प्रसन्नतादायक नहीं मालूम हुई—इस व्याहमें उनकी अपनी सगी फूफी ही सास हुई थीं। पंडित भागवताचार्यको मेरे आनेकी खबर लगी, तो बहुत खुश हुए, और उन्होंने भी श्री-निवासाचार्यके पास मेरे लिए पत्र लिखा। मैं मन लगाकर पढ़ने लगा। रामा-नुजभाष्य--श्रुतप्रकाशिकाके कुछ अंशोंको देखते हुए--, तथा शास्त्र-दीपिकाका पाठ खूब ज़ोरसे चलने लगा। 'भक्ति' वेदान्त, मीमांसा अच्छी तरह पढ़े थे। पिछले वर्षों में इसके लिए वह अधिकतर मेलापुर-विद्यालयमें रहे थे। किन्तु, आर्यसमाज--और बाहरकी हवा लगनेसे मेरे तर्क सिर्फ़ पुस्तकोंके सुझाव तक ही महदूद न रहते थे। कितनी ही बार हम दोनों साथ रामानुजभाष्य पढ़ते। पहिले रामानुजसे श्रीनिवास तककी गुरुपरम्पराके श्लोकोंको पढ़कर दंडवत् करते फिर पाठारम्भ होता। रामानुजका द्वैत-सिद्धान्त इसवक़्त मेरा अपना सिद्धान्त था, क्योंकि वह आर्यसमाजी सिद्धान्तोंसे मिलता-जुलता था, तो भी और बातोंमें मैं कितनी ही बार रामानुजपर आक्षेप कर बैठता। एक बार भक्ति उत्तर देते-देते अन्तमें निरुत्तर हो गये। मुझे बड़ा आश्चर्य और करुणा आई, जब मैंने देखा, कि उनकी आँखोंमें आँसू भर आये हैं, और वह भर्राई आवाज़में कह रहे थे--"आचार्यका प्रश्न कमज़ोर नहीं हो सकता, नहीं हो सकता" मेरी उम्रके जवानको इतनी धर्मभीरुता! तबसे मैं प्रश्नोंको एकाध कोटि तक ही ले जाता। कितने ही प्रश्नोंको सिर्फ़ पुस्तकपर लिख लेता। हाँ, तर्कपाद (शास्त्रदीपिकाके)के तर्कको हम दोनों निर्दयतासे प्रश्नोत्तरका विषय बनाते।

सितम्बरके शुरूमें ही मैं तिरुमिशी पहुँचा था। जाड़ेके आनेसे उसका असर क्या होता, वहाँ तो कोठेपरकी कोठरीमें पसीनेके मारे मेरी गत बनने लगी। इसी बीच हरिप्रपन्नाचार्यका मन नये उत्तराधिकारीसे ऊब गया, और वे फिर अस्पष्ट रूपसे मेरी ओर रुजू होने लगे। पहिले मेरे चौकेमें खानेके लिए पंडित भागवताचार्यसे कहा गया। उन्होंने पढ़नेमें विघ्न समझ पहिले मना किया, पीछे स्वामी हरिप्रपन्नके कहनेपर आज्ञा दे दी। फिर मन्दिरके पीछेकी कोठरीमें दो बड़े-बड़े जँगले बनवा उस

हवादार घरमें मुझे उतर आनेके लिए कहा गया, इसका तो, खैर, मैंने हृदयसे स्वागत किया। हरिप्रपन्न स्वामी अब मुझे अपने उत्तराधिकारीकी भावनासे मानने लगे। मैंने रूसी-क्रान्तिकी उड़ती खबरोंके बलपर क्रान्तिप्रसूत संसारका एक नक़शा अपने मनपर अंकित किया था, कभी-कभी महन्तों, ज़मीदारोंकी सम्पत्तिका क्या हसर होगा, इसे मैं महन्तजीके सामने चित्रित कर देता––इसका ध्यान रखते हुए कि अपने विचारों को नहीं बल्कि वस्तुस्थितिको रख रहा हूँ––तो बेचारे हरिप्रपन्नाचार्य घबरा उठते। आखिर, पैसा-पैसा जोड़कर उन्होंने यह सम्पत्ति और नई ठाकुरबाड़ी बनाई थी।

तिरुमिशीका संस्कृत-विद्यालय अब उत्तराधि मठसे दो घर पूरब अपने घरमें आ गया था। वहाँके बूढ़े अध्यापकसे मैं "अष्टादश-रहस्य" पढ़ने जाता। रामानुज-सम्प्रदायकी दो शाखाओं––तिंगलों और बळहलों––मेंसे तिंगल-शाखाके 'अष्टादश रहस्य' पुस्तिकाओंके निर्माता पिल्ले लोकाचार्य थे, जो रामानुजीयोंके सर्वश्रेष्ठ विद्वान् वेदान्ताचार्यके प्रतिद्वन्दी थे। ये रहस्य-ग्रंथ सूत्र-रूपमें 'मणिप्रवाल' भाषामें लिख गये हैं। 'मणि-प्रवाल' (मणि-मूँगा) ऐसी तमिल-भाषाका नाम है, जिसमें सत्तर-अस्सी फ़ीसदी तक शुद्ध संस्कृतके शब्द हों। रहस्योंमें ऐसी ही भाषाका प्रयोग है। मैं रहस्योंको शुरू करनेसे पूर्व तीन-चार तमिल-रीडरोंको समाप्त कर चुका था, इसलिए भाषा समझनेमें आसानी थी। बीच-बीचमें आये तमिल शब्दोंको ही समझना पड़ता था। रहस्यके अध्यापकको साधारण अध्यापकसे अधिक धर्मगुरुकी तरह माना जाता है। मेरी योग्यताको जानते हुए, गुरुजी खुश हो तत्परतासे पढ़ाते थे। 'रहस्य' गोप्य ग्रंथ हैं––यद्यपि सब ही तमिल और तेलगू अक्षरोंमें छपे मिलते हैं––इसलिए बहुत देख-सुनकर पढ़ानेका विधान है, तो भी तमिल प्रान्तके ब्राह्मण उसपर उतना ध्यान नहीं देते। मेरी वे पुस्तकें उत्तर भारतमें आते ही गुम हो गईं, इसलिए फिर एक दृष्टिसे देखनेका अवसर नहीं मिला, किन्तु दो बातें अब भी याद हैं। रामानुज-सम्प्रदायके कितने ही परमपूज्य आळलवार (ऋषि) और महात्मा तथा स्वयं रामानुजके गुरु शूद्र और महाशूद्र जातियोंमें पैदा हुए थे। इसपर वर्णाश्रमियोंका आक्षेप होता था, और पीछेके रामानुजीय ब्राह्मण भी जात-पाँतमें दूसरोंसे दस क़दम आगे हो गये, इसलिए उनके मनमें सन्देह होता था। इसके समाधानमें कहा गया था––गुरुकी जातिका खोज-खाज करना मातृ-योनि-परीक्षा जैसी है, इसी तरह "सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज' (सारे धर्मोंको छोड़ अकेले मेरी शरणमें चले आओ। मैं तुझे सारे पापोंसे छुड़ाऊँगा, शोक मत कर।) इस भगवद्गीताके वाक्यमें धर्म-कर्मकी आशा छोड़ सिर्फ़ भगवान्‌की शरणमें जाने मात्रसे मुक्ति बतलाई

है; इस बातको अति तक ले जाते हुए रहस्योंमें भक्तिसे भी बढ़कर प्रपत्ति (निश्चेष्ट हो इष्टदेवकी दयापर एक मात्र भरोसा) पर ज़ोर दिया गया है। इससे वर्णाश्रम-धर्म तथा ब्राह्मणोंकी सभी धार्मिक रूढ़ियोंका प्रत्याख्यान हो जाता है, तो भी हिन्दुओंके सम्प्रदाय 'हाथीके दाँत खानेके और और दिखानेके और' में तो एक दूसरेका कान काटते हैं। शंकराचार्यने भी 'न वर्णा न वर्णाश्रमाचारधर्माः' कहा, किन्तु अन्तमें 'व्यवहारे भाट्टनय' से सारे ढोंगोंको रहने दिया। रामानुजानुयायी शंकरमतानुयायियोंसे भी अपनेको ज़्यादा आस्तिक साबित करते हैं।

("वेदोऽनृतो बुद्धकृतागमोऽनृतः,
प्रामाण्यमेतस्य च तस्य चानृतम्।
बोद्धाऽनृतो बुद्धिफले तथाऽनृते,
यूयं च बौद्धाश्च समानसंसदः॥")

ख़ैर! शंकरवेदान्तके साधारण ग्रंथ ही मैंने पढ़े थे, किन्तु रामानुजभाष्य और उसकी टीका श्रुतप्रकाशिकाके पढ़ते वक़्त मुझे शंकरवेदान्तके और ग्रंथोंको देखनेका मौक़ा मिला। आर्यसमाजका प्रभाव रहनेसे सिद्धान्तमें मैं द्वैतवादी हो रामानुजका समर्थक रहा। उसके कितने ही महीनों बाद कुर्गसे मैंने गुरुकुलकांगड़ीसे निकलनेवाली अंग्रेज़ी पत्रिका 'वैदिक मेगज़ीन' में व्यास और उपनिषद्को शंकरीय अद्वैतके विरुद्ध साबित करते हुए दो लेख लिखे। इसी दार्शनिक ऊहापोहमें बौद्धदर्शनके लिए अधिक जिज्ञासा उत्पन्न हो गई, रामानुज और शंकरकी ओरसे, अन्ततः वर्णाश्रम धर्मका श्राद्ध करके दार्शनिक खंडन द्वारा ही बौद्धोंका विरोध किया जाता था। और दार्शनिक सिद्धान्तोंमें रामानुजीय शंकरको प्रच्छन्न बौद्ध कहते थे, फिर बौद्धदर्शन क्या है, इधर ध्यान जाना ज़रूरी था, और पूर्वपक्षके तौरपर उद्धृत कुछ वाक्योंसे मेरी तृप्ति नहीं हो सकती थी। किन्तु और कामों—विशेषकर राजनीतिक परिस्थिति—ने जो मेरा ध्यान आकर्षित किया था, उसके कारण मैं ज़्यादा समय इधर दे नहीं सकता था।

तिरुमिशीसे महीनेमें एकाध बार मद्रास जाता था। मेरे साथी वेंकटाचार्य और दूसरे तरुण दोस्त वहाँके उत्तरभारतीय होटल आनन्दभवनकी मिठाइयोंको छिपकर चख आये थे, और उन्हींसे मालूम हुआ, कि मद्रासमें एक नास्तिक समाज—आर्यसमाज—का प्रचार हो रहा है। मद्रासमें पता लगानेपर मालूम हुआ, कि वहाँ आर्यसमाजके प्रचारक मेरे परिचित मित्र पंडित ऋषिरामजी (लाहौर) हैं। अब तो जब भी मद्रास जाता, उनसे भेंट होती। वह प्रचारका काम हाथमें लेनेपर ज़ोर देते, मैंने भी अभी वैदिक-प्रचारक बननेके मंसूबेको छोड़ा नहीं था, तो भी आजकल करता

रहा। पंडित ऋषिरामजीके यहाँसे आर्यसमाज सम्बन्धी अंग्रेज़ी पुस्तकों——गुरुदत्त-ग्रंथावली आदि——को ले जाता, और एक तीर्थवासी दीवालिया बूढ़े सेठ (चेट्टी)के साथ उन्हें पढ़ता। सेठजी उसके तर्कोंकी दाद देते।

माघ महीनेके आसपास तिरुमिशी दिव्यदेशका वार्षिक-महोत्सव आया। स्वामी हरिप्रपन्नका कैंकर्य (सेवा) अब बहुत आगे बढ़ चुका था। उत्सवके तीन-चार दिनोंके लिए उनका मठ एक बड़ी अतिथिशालाका रूप धारण करता। सभी घर, कोठरियाँ, मद्रास और दूसरी जगहोंके यात्रियोंसे भर जातीं, यात्रियोंमें अधिकांश अब्राह्मण होते। यह दोनोंके लिए अच्छा था, उत्तरभारतके भुक्तभोगी होनेसे हरिप्रपन्न स्वामी सभी अब्राह्मणोंको खान-पानमें बिल्कुल अछूत जैसा नहीं मान सकते थे और उधर अब्राह्मण चेट्टी, नायडू, मुदलियार आदि ही तो धनिक तथा धर्मविश्वासी होते हैं, इसलिए धनकी आयके रास्ते भी वही हैं। जो गृहस्थ उत्सवके दिनोंमें एक बार हरिप्रपन्न स्वामीके मठके 'भुज्यतां' 'पीयतां'को देख गया, वह भला हरिप्रपन्न स्वामी-को क्या कभी ख़ाली हाथ लौटा सकता था ?

उत्सवसे एक-दो सप्ताह पहिले हरिप्रपन्न स्वामी मद्रास डट जाते। अबके अपने सेवकोंको दिखलानेके लिए वह मुझे ले गये। बड़ी सख़्त मेहनत थी। धूपमें मद्रासके दूर-दूरके मुहल्लोंमें दौड़ते फिरना भारी मेहनतकी बात थी। हरिप्रपन्न स्वामी रिकशा या बंडीपर एक भी पैसा, ख़र्च करना पसन्द न करते थे। सुबहसे शाम तक घूमते-घूमते मैं तो थक जाता। कहींसे दो बोरा नीलौरी चावल मिलता, कहींसे एक टीन घी, कोई कुछ हज़ार पत्तलें देता, और कोई इम्ली और मिर्च। तेलगू भाषाभाषिणी चेटियाइनोंका इस विषयमें अनुराग मारवाड़ी सेठानियोंकी तरह था। मुझे चिढ़ यही थी, कि हरिप्रपन्न स्वामी उनके सामने अपने भाषणको छोटा क्यों नहीं करते। खानेके इतने पदार्थ जमा करते भी भूख-प्यासके मारे हम मरे जाते थे, क्योंकि अब्राह्मण घरका अन्न-जल तो छू भी नहीं सकते थे। हरिप्रपन्न स्वामीके दायकोंमें एक वेश्या भी थी। वह हर साल बड़ी श्रद्धासे, अपनी शक्तिसे अधिक मिर्च-मसाला या कोई और चीज़ देती थी। वह तिरुमिशीके भगवान्‌की देवदासी थी; उत्सवोंपर वहाँ पहुँचती, किन्तु बाक़ी समय व्यवसायके सुभीतेके लिए मद्रासमें रहती। वेश्यावृत्ति एक व्यवसाय था, इसीलिए उसकी धार्मिक भावना क्षीण नहीं हुई थी।

उत्सवके वक़्त आनेवालोंमें कितने ही उत्तरभारतीय तीर्थवासी आचारी तथा आचारिनें भी थीं, और एक मद्रासका गृहस्थपरिवार भी। हरिप्रपन्न स्वामीके एक

शिष्य उस घरमें आते-जाते थे। सैकड़ों वर्षोंसे उत्तरभारतीय पुरुषोंने इधरकी स्त्रियोंसे शादी करके अपने अलग परिवार बना लिये हैं, जो हिन्दुओंके पारम्परिक धर्मके अनुसार एक स्वतन्त्र जातिमें परिणत हो गये हैं। ये परिवार बराबर कोशिशमें रहते हैं, कि उनकी सन्तानोंकी शादी हिन्दीभाषाभाषियोंमें ही हो। हमारे आचारी भी इसी फेरमें पड़कर उस घरमें शादी कर बैठे और अब घर-जमाई बने हुए थे। स्त्रीके सामने रूप और आयु दोनोंमें वे जँचते नहीं थे, किन्तु कुलका ख्याल कर माँ-बापने लड़की दे दी थी। घुमक्कड़ तरुण साधुओंके रास्तेमें एक नहीं सैकड़ों बाधायें हैं। जब कभी मैं अपने अतीत जीवनपर नज़र डालता हूँ, तो एक बात साफ़ मालूम होती है—मेरी जीवनकी सफलतायें निर्भर थीं मेरे विवाह-बन्धन-मुक्त, स्त्री-स्नेहसे स्वतन्त्र रहनेपर। मैंने यही एक नहीं, पचीसों उदाहरण देखे, जिसमें स्त्री-स्नेहने तरुणोंकी उमंगोंपर पानी फेर दिया। तिरुपतीमें कानपुरकी एक प्रौढ़ा सेठानी आई थीं, वह एक साधुको अपना 'पुजारी' बनाकर ले गईं। हमारे एक साथीने प्रेमिकाके पानेमें आल्हा-ऊदलसा पराक्रम दिखलाया, किन्तु अन्तमें उसकी उन्नति वहीं खतम हो गई। लंकामें एक जम्मू-वासीको देखा, एक काली तमिल स्त्रीके लिए उसने अपने पर कटा लिये। जब तक उड़ानकी चाह है, जब तक अपने आदर्शके सहायक साधनोंको आदमी जमा नहीं कर सका है, तब तक उसका दोपाया रहना सबसे ज़रूरी चीज़ है, इस तत्त्वको मैं कुछ समझ गया था ज़रूर; किन्तु सिर्फ़ इतनेके बलपर मैं दोपाया रहनेमें सफल न होता। आख़िर, मैं स्वस्थ तरुण था, देखने-सुननेमें कुरूप नहीं था, बल्कि लोलाके कथनानुसार सुन्दर था। मेरे पढ़ने-लिखने, सैर-तजर्बेका प्रभाव भी आदमीपर पड़ जाता था। धनका उपयोग तत्कालीन अवश्यकताओं तक ही मैं परिमित समझता था, इसलिए धनिक होनेके फन्देसे बचना कुछ आसान था; किन्तु सबसे ज़्यादा जिस बातने मुझे मुक्त रहनेमें मदद दी, वह थी लज्जा और संकोच। यदि लोगोंकी दृष्टिमें गिरनेका मुझे डर न होता, यदि स्त्रियोंके सामने बोलने-चालनेमें—विशेषकर प्रेमालाप-की दिशामें ले जानेवाले वार्तालापमें—संकोच न होता, तो सिर्फ़ आदर्शके लिए द्विपाद रहनेकी अनिवार्यता, या सिर्फ़ ज्ञानसे मैं बच न सकता; क्योंकि काम-वेग ख़ास-ख़ास अवस्थामें ज्ञान-विवेकको तिनकेके तौरपर बहा ले जाता है। जीवनकी दो-चार घट-नाएँ हैं, जिनसे मैं इसलिए बच गया, कि कामकी सांकेतिक भाषाके प्रयोगसे अपरिचित और समझनेमें मैं सन्देहयुक्त था। इस जीवनीमें जीवनके इस अंशपर भी मैं और लिखता, क्योंकि व्यक्ति पूजाको तोड़नेके लिए मेरा दिल बाज़ वक़्त वैसे ही चुलबुला उठता है, जैसे हाथमें पत्थर लिये छोटे लड़कोंको मिट्टीके बर्त्तनोंको देखकर खन-

खन चर-चर करके टूटते बर्त्तन अच्छे मालूम होते हैं। समाजके ढोंग मुझे क्रोधान्ध बना देते हैं। मेरा विश्वास है—या तो ये ढोंग ही रहेंगे या समाजका अस्तित्व ही। इसलिए समाजके ढोंगोंके साथ-साथ अपने व्यक्तित्वको भी चूर-चूर करनेमें मुझे प्रसन्नता होती। इसके लिए आजके कितने ही लोग मेरे साथ अन्याय भी करते, किन्तु भविष्यके क़द्रदानोंकी संख्याके सामने वह नगण्यसे होते। तो भी इस विषयमें क़लम रोकनेमें मुझे अपने मित्रों और स्नेहियोंके आग्रहको भी पालन करना पड़ता है। संक्षेपमें पिछले ३० सालके स्वच्छन्द जीवनमें मुझे सिर्फ़ एक स्त्रीके साथ घनिष्ठता पैदा करनेका मौक़ा आया, कुछ घटनायें तो रेतके पदचिह्नके तौरपर उस वक़्त भी घटित हुई थीं, और उनको यदि उन सिद्धों और महात्माओंके जीवन-घटनाओंसे मुक़ाबिला किया जावे, जिनके भीतरी जीवनको जाननेका मुझे मौक़ा मिला था, तो वह नगण्य साबित होंगी। मद्रास, पंजाब, बुंदेलखंडके चिरनिवासोंमें ऐसे ख़तरे आये थे, किन्तु आदर्शप्रेमके साथ लज्जा और संकोचने मुझे उनसे बचाया।

तिरुमिशीमें सारा समय पढ़नेमें लगता था। टी० वेंकटाचार्य, उनके पिता टी० श्रीनिवासाचार्य तथा 'रहस्य'-अध्यापक बिना संकोचके अपना समय देनेमें बड़ी उदारता दिखलाते थे। भाई साहेब, रामगोपाल और बलदेवजीके पत्र समय-समयपर आते रहते थे। 'प्रताप' (कानपुर) और एकाध दूसरे उत्तरभारतीय अख़बार भी मैं मँगाया करता था। पुस्तकके अतिरिक्त देश-विदेशकी बातों, भारतकी राजनीतिक प्रगतिक साथ-साथ साम्यवाद द्वारा संसारकी उलटफेरके संबंधमें मेरी बातें अक्सर हुआ करती थीं। सुनते-सुनते ज़मींदारों और महन्तोंकी सम्पत्तिके निकल जानेका तो स्वामी हरिप्रपन्न-को इतना विश्वास हो गया था, कि वह कलियुगकी भाँति इसे भी अवश्यंभावी समझ आँखे मूँदकर सन्तोष कर लेना चाहते थे। आर्यसमाजके बारेमें मैं 'अन्यपुरुष'के तौरपर उनसे बातें करता, क्योंकि आर्यसमाजको वह नास्तिकवाद कह बड़ी घृणाकी दृष्टिसे देखते, और मेरे आर्यसमाजीपनको सुनकर उनके दिलपर भारी धक्का लगता। वेंकटाचार्य तथा दूसरे जवान एनी बेसेंटके होमरूल तथा हालकी राजनीतिक प्रगतिका धुँधलासा ज्ञान रखते थे, जिससे उन्हें मालूम था कि समाजमें कोई क्रान्ति होना चाहती है, और आर्यसमाजके उदार विचारोंको उसीका एक अंग समझकर वे विशेष क्षुब्ध नहीं होते थे।

मीमांसा, वेदान्त और रहस्यग्रंथ अब समाप्तिपर आ रहे थे। स्वामी हरिप्रपन्न-जीको भी मैं बतला रहा था, कि इस मठका संचालन मेरे वशकी बात नहीं है। उन्हें मैं यह भी समझानेमें सफल हुआ कि मैं यह बात परसाकी महन्तीके लालचसे नहीं कर

रहा हूँ। मेरे राजनीतिक उग्र विचारोंका उन्हें पता लग गया था, इसलिए वह समझने लगे थे--यह जेलखानों और कालापानीमें ठूसा जानेवाला आदमी है। इस तरह शनैः शनैः जब विदाईकी बात उनके सामने रखी गई, तो उन्हें उतना दुःख न हुआ। 'भक्ति'के साथ मेरा 'नर्मसचिव'का सम्बन्ध था। १६१३ हीमें हम मित्र बने थे, जब कि हमने एक साथ न जाने कितने काव्य, नाटक और चम्पू समाप्त किये। 'मालती माधव'में वातायनस्था मालती द्वारा रथ्यामें घूमते माधवके अवलोकनको हम बड़े रागसे पढ़ा करते, सात वर्ष बाद अब हम १६-२०के वे नवतरुण नहीं रह गये थे, तो भी हमारा स्नेह प्ररूढ़ हो चुका था। सबसे ज़्यादा अफ़सोस मुझे 'भक्ति' (टी० वेंकटाचार्य)से विदाई लेते वक़्त हुआ।

१२

कुर्गमें चारमास (१६२१ ई०)

तिरुमिशी छोड़नेसे पहिले ही पंडित ऋषिराम कुर्गमें जानेके लिए मुझे तैयार कर चुके थे। कर्वीमें एक बार 'मिस्टर' सोमयाजुलूका पत्र मुझे मलबारसे मिला था। उसमें उन्होंने केरलके नारियल-सोपाड़ीकी सुन्दर वृक्ष-पंक्तियोंसे छायाकृत तथा पुष्करिणियों और जलाशयोंसे आच्छादित केरल-भूमिका सुन्दर वर्णन किया था। सोमयाजुलू वैदिक-मिश्नरी बनकर कुछ दिनों कुर्गमें रह चुके थे, और अब वहाँके नौजवान किसी उपदेशकको भेजनेका लगातार आग्रह कर रहे थे। मित्रकी तैयार की गई भूमिपर जानेका भी एक आकर्षण था, और दूसरा आकर्षण था नये देशके देखनेका। ऋषिरामजीने मडिकेरि (मर्कारा, कुर्ग) पत्र लिख दिया, और एक दिन मैं मद्राससे रवाना हो गया।

बंगलोरमें स्नातक सत्यव्रत और उनके साथी एक दूसरे स्नातक गुरुकुल-पार्टीकी ओरसे आर्यसमाजका प्रचार कर रहे थे, कालेज-पार्टीने जब मद्रासमें ऋषिरामजीको भेजा, तो गुरुकुल-पार्टी क्यों पीछे रहती ? वे लोग बंगलोर शहरमें एक किरायेके मकानमें रहते थे। सत्यव्रतजीके सहकारी विदेश जानेके लिए अत्यन्त लालायित थे। उनसे मैसूरके कुछ आर्यसमाजियोंका पता लगा। तिलकके देहान्तके बाद गांधी भारतके सर्वमान्य नेता बन चुके थे। नागपुर-कांग्रेसने, असहयोगका प्रस्ताव स्वीकृत

कर लिया था। मैसूरमें आर्यसमाजने धर्मप्रचारके साथ हिन्दी प्रचारको भी अपने हाथमें लिया था। स्वामी पूर्णानन्द (यदि मेरी स्मृति ग़लती नहीं करती तो यही उनका नाम था) और युक्तप्रान्तीय एक काव्यतीर्थ पंडित वहाँ आर्यसमाजकी ओरसे काम करते थे। स्वामीजी तो सिर्फ़ हिन्दी भर जानते थे, किन्तु उनके साथी संस्कृ-तज्ञ थे। मैसूरकी भाषा कन्नड़ (कर्नाटकी) है, जिसमें पचास-साठ सैकड़े संस्कृतके शब्द हैं, इसलिए वहाँके लोगोंको संस्कृत-मिश्रित हिन्दी पढ़नेमें बहुत सुभीता था। कालेजों, स्कूलोंके कितने ही विद्यार्थी हिन्दी सीखते तथा हिन्दी प्रचार कर रहे थे, वह इसे राजनीतिक आन्दोलनका एक अंग समझते थे। मैसूर शहरमें हिन्दी भाषाभाषी बहुतसे हिन्दू-परिवार थे, जो या तो उत्तरभारतसे आये थे, या मिश्रित व्याहसे पैदा हुए थे। युक्तप्रान्तके एक अच्छे व्यापारी थे, जिन्होंने यहींकी दो बहिनोंसे शादी कर ली थी। उनकी जेठी औरत नागपुर जाकर गांधीजीका दर्शन कर आई थीं, और राजनीतिक कार्योंके लिए उनमें बड़ा उत्साह था।

मैसूर टाउनहालमें तीन-चार दिनके लिए एक व्याख्यानमाला रखी गई, जिसमें भिन्न-भिन्न आर्यसामाजिक विचारोंपर मुझे हिन्दीमें और काव्यतीर्थजीको संस्कृतमें बोलना था। पहिला व्याख्यान तो समाप्त हुआ, किन्तु दूसरेके वक़्त मेरे साथी बीमार हो गये, इसलिए मुझे ही संस्कृतमें बोलना पड़ा। सभापति एक संस्कृतज्ञ इंजी-नियर थे। उन्हें मेरे संस्कृत-भाषणकी स्वाभाविकता और शब्दकोष ज़्यादा पसन्द आये, और कहा—कल भी आपने ही क्यों नहीं संस्कृतमें भाषण दिया ? वैसे भी संस्कृत भाषण-लेखनमें मेरी कुछ अच्छी प्रगति थी, किन्तु एक वर्षकी भाषणप्रतिज्ञा, तथा दो बारके दीर्घ मद्रास-प्रवासोंके अनवरत संस्कृत भाषणने बहुत सुभीता पैदा कर दिया था। मैसूरकी राजकीय पाठशालाके पंडितोंसे भी विचार-विनिमय करता रहा, किन्तु उनके लिए आर्यसमाजके पास कोई आकर्षक साहित्य—दार्शनिक या शुद्ध साहित्यिक—मौजूद न था। उसकी समाज-सुधारकी बातोंको वह अति-लौकिक, स्थूल, शिष्टाचार-वहिष्कृत कहकर टाल देते, और उसके द्वैतवादी वेदान्तको माध्वों और रामानुजीयोंकी कच्ची नक़ल बतलाते।

मैसूरसे मडिकेरिके लिए मोटर लॉरी मिली। पहिले तो दक्षिण-भारतीय साधा-रण पाण्डुभूमि रही, किन्तु जब पहाड़की चढ़ाई शुरू हुई, तो दृश्य मेरे मनको अपनी ओर आकर्षित करने लगा। कहीं छायादार रौप्यवृक्षों (सिल्वर ट्री)के नीचे बेले जैसी चायकी झाड़ियाँ दूर तक चली गई थीं। कहीं दीर्घकाय वृक्षोंपर कालीमिर्चकी हरी लतायें चढ़ी हुई थीं। कहीं-कहीं स्वाभाविक आरण्य गिरिवक्षको घेरे हुए थे।

पानीके झरने जगह-जगह थे। ऊँचाईके साथ-साथ हवा शीतल होती जा रही थी। अब तक जितने पहाड़ पार किये थे, सभी को पैदल चलकर किया था। लड़ाईके बाद मोटर लारियाँ चलने लगी थीं, और तिरुमिशीसे मद्रास जाते वक़्त पुन्नमलीसे स्टेशन तक कितनी ही बार मोटरबसमें मैं गया था; किन्तु अब यह पहिला मौक़ा था, जब कि मुझे पर्वतयात्रामें बसकी सवारी मिली थी।

शामके वक़्त हमारी बस मडिकेरि पहुँची। पुवैय्या, उत्तप्पा, मन्डन्नाकी लॉजका पता लगानेमें दिक़्क़त न हुई।

लॉज (वासा) एक बँगलामें थी, जिसे चार-पाँच तरुणोंने किरायेपर ले रखा था। बँगलेकी चारों ओर काफ़ी और चायका बाग़ था। यहाँ खुली हवामें ही नहीं बल्कि खुले समाजमें भी साँस लेते ताज़गी, एक अजीब तरहकी प्रसन्नता मालूम होती थी। लॉजवाले सभी कुर्ग तरुण थे, उनमें छुआछूतका नाम नहीं था। आर्यसमाजी उपदेशक होनेसे मेरा निरामिषाहारी होना ज़रूरी था, लॉजके तरुणोंमें भी अधिकांश निरामिषाहारी थे, और रसोईखानेमें तो मांस-मछली पकती नहीं थी। प्याज़-लहसुनके लिए कोई रुकावट न थी। खाना मेज़पर हिन्दुस्तानी-अंग्रेज़ी मिले-जुले ढंगसे खाया जाता। मडिकेरिमें बर्फ़ नहीं पड़ती, किन्तु वह दक्षिणके दार्जिलिंग और नैनीताल जैसे सुन्दर पार्वत्य शीतनिवासोंमेंसे हैं। ऐसे स्थानोंपर चाय-काफ़ी पीनेमें आनन्द आता है। यहाँ आकर मैंने पहिले पहिल काफ़ी देखी। काफ़ीका पौधा बढ़कर ऊँचा हो जानेपर फल तोड़नेमें दिक़्क़त तथा फलोंकी संख्या और आकारकी कमी होती है, इसलिए हाथ-डेढ़ हाथपर उसे छाँटकर झाड़ीकी शकलमें रखा जाता है। उसके बेले जैसे सफ़ेद फूल और डालीमें लाल बेरों जैसे गोल-गोल फलोंकी लम्बी लड़ी देखनेमें बहुत सुन्दर मालूम होती है। हमारे पीनेके लिए अक्सर काफ़ीके फल अधजले करके भूने, फिर पीसकर चूर्ण बनाये जाते थे।

लॉज (वासा)के साथियोंमें पी० एम्० उत्तप्पा ग्रेजुएट थे, बाक़ी सभी प्रायः मैट्रिक पास थे, और सरकारी कचहरीमें क्लर्कका काम करते थे। उनके चेहरोंके देखने हीसे मालूम होता था, कि मद्रासियोंसे भिन्न हम एक दूसरी जातिके देशमें आगये हैं। जहाँ पहाड़से नीचे, तथा यहाँके प्रवासियोंमें अस्सी-अस्सी, नब्बे-नब्बे फ़ीसदी स्त्री-पुरुष काले और नाटे होते थे, वहाँ ये सभी गेहुँआ रंगके अपेक्षाकृत लम्बे पुरुष थे। पोशाक अंग्रेज़ी भी पहनते थे, किन्तु आफ़िस जाते वक़्त या विशेष समयपर वे उसके ऊपर अपना जातीय चोगा, कमरबन्द और उसमें बँधी पेश-क़ब्ज़ लगाते थे। वे हिन्दुत्वके लिए चोटीकी अनिवार्यताको क़बूल नहीं करते थे। उनकी स्त्रियोंको

पहिले पहिल जब मैंने गढ़वाली स्त्रियोंकी भाँति दाहिने कन्धेपर सूईके सहारे नत्थी करके चादरको पहनते देखा, तो मुझे मालूम हुआ, हिमालयका एक टुकड़ा सिर्फ़ अपने वनपर्वतोंके साथ ही उठकर नहीं चला आया है, बल्कि वहाँके समाजके आधे अंगको भी लेता आया है। आसपाससे भिन्नता रखते हुए भी कुर्गी भाषा द्रविड़वंशसे सम्बन्ध रखती है, तो भी कुर्ग लोग अपनेको उत्तर भारतसे आया बतलाते हैं। उनका रंग, डील-डौल, स्त्रियोंका साड़ी पहिननेका ढंग, शिरमें बँधी रूमाल, घरके इस्तेमालके बर्तन, तथा मकानोंकी बनावट तो ज़रूर उन्हें हिमालय—विशेषकर गढ़वाल या कुल्लू—से सम्बद्ध करते हैं। मडिकेरि हाईस्कूलके हातेमें छात्रोंको ड्रिलकी तरह बाजेपर नाचते देख मैंने उस वक़्त तो उतना पसन्द नहीं किया, किन्तु कुछ ही वर्षों बाद मुझे वह भारतीय स्कूलोंके लिए एक अनुकरणीय चीज़ जँचने लगी।

सोमयाजुलूने यहाँके कुछ नौजवानोंमें आर्यसमाजके विचारोंका प्रचार किया था, इनके अतिरिक्त शहरके एक वकील कोई पिल्ले पहिलेसे ही कुछ आर्यसमाजी विचार रखते थे, यद्यपि अब वे विचार कुछ बूढ़े होते जा रहे थे। पिल्ले महाशयके हातेमें ही सड़कपर एक कमरा हमने संस्कृत-क्लास और आर्यसमाजके व्याख्यानके लिए ले रखा था। उस वक़्त तिलक स्वराज्यफ़ंडके चन्दों तथा असहयोगकी तैयारीकी मुल्कमें इतनी धूम थी, कि मुझे व्याख्यानोंकी ज़रूरत नहीं महसूस हुई। हाँ, संस्कृत क्लास और सत्संग नियमपूर्वक लगता है। मंडन्ना आदि ४, ५ तरुण पढ़ने आते। आर्यसामाजिक विचारोंपर चर्चा यहाँ और लॉजमें भी बराबर रहती। मडिकेरिमें रामकृष्ण-मिशनकी एक शाखा थी। मद्रासमें रामकृष्ण-मिशनने एक अच्छा छात्रावास ही नहीं खोल रखा था; बल्कि वहाँसे 'वेदान्तकेसरी' नामक एक अंग्रेज़ी मासिकपत्र भी निकलता था। इस तरह जिन तरुणोंको स्वामी विवेकानन्द और रामतीर्थकी 'अमेरिकाविजय' और वेदान्तकी बारीकीका कुछ पता लग गया हो, उन्हें आर्यसमाजमें लाना मुश्किल था। यहीं मैंने स्वामी रामतीर्थ और विवेकानन्दके सारे ग्रंथोंको पढ़ा। मुझे रामतीर्थ ठीक वेदान्ती किन्तु पागल मालूम पड़े, और विवेकानन्द ग़लत-वेदान्ती किन्तु चालाक। लॉजके एक सदस्य श्री पुवैय्या रामकृष्ण-विवेकानन्दके बड़े भक्त थे, और उनसे अक्सर गर्मागर्म बहस हो जाती, तो भी वह हमारे स्नेह-सम्बन्ध पर बुरा असर नहीं डाल सकती थी। यहीं मैंने शंकरके वेदान्तको व्यास और उपनिषद्के मतसे विरुद्ध साबित करनेके लिए 'वैदिक मैगज़ीन'में दो लेख लिखे।

मडिकेरिमें एक अच्छा बाज़ार है। कुर्ग लोगोंमें शिक्षा बहुत है, लड़कों हीमें नहीं लड़कियोंमें भी। रोमन कैथलिक साधुनियोंने उनके लिए कान्वेंट क़ायम किये हैं;

अपने भीतर छुआछूतका ख्याल न होनेके कारण कुर्ग लड़कियाँ वहाँ बहुत पढ़ने जाती थीं, यद्यपि उनमेंसे किसीके ईसाई होनेकी बात मैंने नहीं सुनी। पासमें कालेज न रहनेसे भी लड़कियोंको ग्रेजुएट होनेका कम मौक़ा था। उस वक़्त एकही कुर्ग तरुणी ग्रेजुएट थीं कुमारी पुवय्या, जो कि कन्या-महाविद्यालय जलन्धरमें पढ़ाती थीं, उनके बारेमें मेरे मित्र सन्तरामजीने लिखा था।

इतनी शिक्षा होनेपर भी कुर्ग लोगोंका ध्यान सिर्फ़ क्लर्कीकी ओर था। वे सर्कारी दफ़्तरों या चायके प्लांटरोंके यहाँ लिखने-पढ़नेका काम करते थे। व्यापार सारा कुर्गसे बाहरके लोगों--कोंकणी मुसल्मानों, कर्नाटक जंगमों तथा दूसरों--के हाथमें था। वहाँके एक अच्छे दूकानदार एक कोंकणी मुसल्मानसे मेरी घनिष्ठता बहुत बढ़ गई थी। उन्होंने मुझसे हिन्दी पढ़नी सीखी थी, और उनकी दूकान तो मेरे राजनीतिक क्लासका एक मज़बूत अड्डा बन गई थी। अब तकके अर्जित अपने प्रगतिशील ज्ञानका मैं वहाँ खुलकर प्रचार करता था। ज़बानी जमाखर्चसे बढ़कर जब वे मुझे अपने साथ रोटी-तर्कारी एक दस्तरख्वानपर खाते देखते तो उनका मेरे प्रति खास भाव पैदा होना जरूरी था। चलते वक़्त जीवनमें पहिला अभिनन्दनपत्र इन्हीं मुसल्मान दोस्तोंने मुझे दिया था।

मडिकेरिमें आते ही मैंने कन्नड़ सीखनी शुरू की। तेलगू अक्षरोंसे परिचित होनेसे अक्षर-परिचय आसान था। भाषामें मैंने देख लिया था, कि संस्कृतके शब्द अधिक हैं, इसलिए वहाँ पहुँचनेके दूसरे या तीसरे ही दिन मैं अपने कुर्ग-अध्यापकके साथ होड़ लगा बैठा--'लैंड होल्डर' एसोसियेशन (ज़मींदार सभा)की कान्फ़्रेंसके कन्नड़ भाषणोंका मैं आपको सारांश सुना दूँगा। कान्फ़्रेंस बीस-बाईस दिन बाद हुई और मैंने वैसा करके दिखाया, वस्तुतः इसका अधिक श्रेय मेरे भाषाध्ययन-पाटवको नहीं, बल्कि कन्नड़के "मणिप्रवालत्व"को है। कान्फ़्रेंसमें कितने ही कुर्ग और कन्नड़ नेताओंके भाषण हुए, भाषण देनेवालोंमें एक अंग्रेज़ प्लान्टर मिस्टर ग्रीन्प्राइस भी थे। कान्फ़्रेंसने कुर्गके लिये एक निर्वाचित कौंसिलकी स्थापनाका 'गर्म प्रस्ताव'--उस वक़्तके कुर्गियोंके लिए यह दरअसल गर्म प्रस्ताव था--पास किया। गांधीजीकी भी दुहाई दी गई--और यह पहिला समय था, जब मुझे उसके सुननेका मौक़ा मिला। ६ अप्रेल १९१९में ब्रेड-ला हालकी सभाओंमें उनके नामके साथ वह प्रभामंडल न था, क्योंकि उस वक्त भारतके बूढ़े चाणक्य बालगंगाधर तिलक जीवित थे।

वैसे तो सारा कुर्ग पार्वत्यदृश्योंसे भरा है, किन्तु द्रोदा-बेटा तथा कावेरी-स्रोत दर्शनीय स्थान हैं।

कावेरी दक्षिणकी गंगा है। गंगोत्री यमुनोत्रीकी भाँति इसके स्रोतको भी पवित्र माना जाता है। यद्यपि कावेरी-स्रोत कुर्गका सबसे ऊँचा पहाड़ नहीं है, तो भी वह ऊँचे पर्वतोंमें है। लेकिन, हिमालयकी नदियोंके स्रोतोंकी बहार यहाँ कहाँ? हिमालयकी सनातन श्वेत हिमानियाँ शुरू हीमें उन्हें पिघली रौप्यधार प्रदान करती हैं, और यहाँ नदियोंके उद्गम हैं, जहाँ-तहाँके झरने और कुंड। हरे-हरे जंगलों और विशाल वृक्षोंसे आच्छादित होनेपर भी सदा हरित वृक्षराज देवदारके अभावमें ये पहाड़ नगाधिराज हिमालयका मुक़ाबिला नहीं कर सकते। कावेरी-स्रोत पर्वतके पास छोटी इलायचीके 'जंगल' मिले। इलायचीके पौधे कचूर या हल्दीकी तरहके होते हैं। पौधेसे निकली पतली जड़ या प्ररोह (बरोह)में इलायचियाँ गुँथीसी रहती हैं। कुर्गमें एक वक़्त काफ़ी बहुत होती थी, किन्तु किसी बीमारीने जब उसके बग़ीचोंको नष्ट कर दिया, तो उन्हें चायके बग़ीचोंमें परिणत कर दिया गया। प्रायः सारे चायके बग़ीचे अंग्रेज़ोंके हाथमें हैं। चन्दन यहाँ राजवृक्ष है। आमतौरसे चन्दन जंगलमें होते हैं, किन्तु यदि किसीके खेतमें भी कोई दरख़्त उग आये तो मालिक न उसे काट सकता है, न पीछे उसकी लकड़ी पा सकता है। इलायचीके बग़ीचोंपर भी कुर्ग लोगोंका कम ही अधिकार है। जंगल-विभाग सर्कारके हाथमें है ही, इस प्रकार कुर्गवासियोंका इस सारी प्राकृतिक सम्पत्तिसे वास्ता नहीं, उन्हें तो गुज़ारेके लिए वही पहाड़ी खेती मिली है।

दोदाबेटा कुर्गका और शायद सारे मद्रास प्रान्तका सबसे ऊँचा पर्वतशिखर है। एक तरुणके साथ मैं उसे देखने गया। ऊँचाईपर लाल फूलोंकी वही कँटीली झाड़ियाँ मिलीं जो हिमालयमें तीन-चार हज़ार फ़ीटके ऊपर मिलती हैं। जाते हुए एक दिन साथीके घरमें ठहरा। यहाँ खेती चावलकी ही होती है, तो भी कुर्ग लोगोंको रोटीसे बहुत प्रेम है, हमें चायके साथ चावलकी रोटी ज़रूर मिलती थी। दोदा-बेटा सात हज़ार फ़ीटसे अधिक ऊँचा है। ऊपरी जंगलोंमें, बड़ी जोंकें रहती हैं। आदमीके पैरकी आहट पाते ही ये हज़ारों अन्धे प्राणी, अपने सूई जैसे पतले मुँहको उस दिशामें हिलाने लगते हैं। हमने इसके लिए बहुतसे नींबू ले लिये थे, और बीच-बीचमें उसके रससे पैरोंको चुपड़ लेते थे। ख़ैरियत यह थी, कि उस दिन वर्षा नहीं हुई, नहीं तो जोंकें कई गुना बढ़ जातीं, और नींबूका रस भी धुलता जाता। दोदा-बेटा कोई विचित्र शिखर नहीं है, वह समरस पर्वतपर एक मामूली चट्टानसी है। हमने उसपर चढ़कर दूसरी तरफ़की निम्न विस्तृत वनस्थलीको देखा।

कुर्ग-प्रान्त, वहाँके लोग, पर्वत और वनकी ठीक समानता पीछे मुझे लंकाके कांडी प्रान्तसे मिली,—जहाँ कांडीवाले सिंहल हिन्दी-आर्य भाषा बोलते हैं, वहाँ ये एक

द्राविड़ी भाषाको ।

कुर्गको अंग्रेज़ोंके हाथमें आये सौ ही वर्षके क़रीब हुए हैं। अपने राजवंशकी भ्रातृ-हत्याओं तथा कुप्रबन्धसे तंग आकर यहाँके लोगोंने स्वयं अपने शासनको कम्पनीके हाथमें सौंपा था। इसके पारितोषिक-स्वरूप कुर्गवालोंसे हथियार छीने नहीं गये, और लंकाकी तरह वहाँ भी बन्दूक़ रखनेमें रोक-टोक नहीं है। राजाका प्रासाद मडिकेरिमें है, किन्तु उसका एक उद्यानप्रासाद मडिकेरिसे कुछ हटकर भी है। दोनों प्रासादोंके अब सिर्फ़ मन्दिर आबाद हैं, बाक़ीको सर्कारने मरम्मत करके देखनेके लिए रख छोड़ा है। कुर्ग लोग जहाँ हिन्दू होते हुए भी उदार विचारके हैं, वहाँ पुराना राजवंश लिंगायत (वीरशैव) था, जो अपनी कट्टरताके लिए विख्यात है। सम्भव है, कुर्गके लोगोंने लिंगायतोंको अन्य जातीय समझकर भी शासन-परिवर्तन स्वीकार किया हो।

कुर्ग (कोड़गु) लोगोंमें दो शाखायें हैं—'अमा' कोड़गु और साधारण कोड़गु। अपने दूसरे भाइयोंके विरुद्ध आमा कोड़गु लोगोंमें विधवा ब्याह नहीं होता, वह सुअर नहीं पालते, और परिणामतः उन्हें ऊँचा माना जाता है। उस वक़्त मानवतत्त्व मेरे अध्ययनका विषय नहीं हुआ था, किन्तु मैं समझता हूँ, कोड़गु लोगोंके आचार-व्यवहार आसपासके लोगोंसे प्रभावित होते हुए भी बहुतसी अपनी पुरानी विशेषताओंको रखे हुए हैं।

मेरे देखते-देखते असहयोग-आन्दोलनका असर धीरे-धीरे कुर्गपर पड़ना शुरू हुआ। सभायें होने लगीं, जिनमें कोड़गु लोग भी सम्मिलित होने लगे। मेरे ही सामने उन्होंने "कोड़गु" नामसे एक साप्ताहिक पत्र कन्नड़ (?) भाषामें निकाला।

बलदेवजीका पत्र बराबर आता रहता था। अबके उनका और मोहनलालजीका पत्र आया कि अब हम असहयोग करने जा रहे हैं। मैंने जल्दी-जल्दी दो पत्र लिखे, और कहा—आप लोगोंकी बी० ए० परीक्षाके दो-तीन महीने रहते हैं, परीक्षा खतम करके असहयोग कीजिये। किन्तु, वहाँ कौन माननेवाला था, गांधीजीने जो 'साल भरमें स्वराज' देनेका ठीका ले लिया था। स्कूलों-कालेजोंको शैतानी शिक्षणालय समझ उनसे असहयोग, तथा सालभरमें स्वराज इन दो बातोंका शुरूसे ही मैं विरोधी रहा, यद्यपि दूसरे तौरसे राजनीतिक जागृति और संघर्षका मैं ज़बर्दस्त पक्षपाती था। कुर्गमें अपने साथियोंसे मेरे वार्तालापका काफ़ी समय राजनीतिक चर्चा में बीतता था।

धर्मप्रचारकी भावनाके साथ-साथ अब मेरी अन्तर्निहित राजनीतिक भावनायें बाहरी वायुमंडलकी अनुकूलता पा उभड़ने लगीं। यद्यपि कर्गमें गांधीकी आँधी उतनी ज़बर्दस्त

नहीं आई थी, तो भी वह उससे अछूता न था, और फिर मैं तो दैनिक 'हिन्दू' और दूसरे अखबारोंका नियमपूर्वक रोज़ पारायण करता रहता था। तो भी कुर्गको तुरन्त छोड़कर चल देना मैं उचित नहीं समझता था, क्योंकि पंडित ऋषिरामजीको मैंने इसके लिए वचन दिया था। इसी वक़्त यागेशकी चिट्ठी आई, जिसमें पिताजीके मरनेकी खबर थी। मैं कुछ स्तब्धसा हो गया, किन्तु मेरी आँखोंमें आँसूका पता न था। लॉजके साथी वहाँ बैठे थे। जब मैंने साधारण तौरसे पिताकी मृत्युकी बात उनसे कही, तो दूसरे तो नहीं किन्तु मिस्टर पुवैयाने फटकारा--'कैसा हृदय है, बापकी मृत्युके लिए दो आँसू भी नहीं हैं।'--वे मुझे पंडितजी कहते थे, मैं वहाँ साधु-सन्यासीके वेषमें न था, नहीं तो शायद ऐसा न कहते।

पिताकी मृत्यु सुन छुट्टी लेनेका बहाना मिला, और मैंने राजनीतिक जीवनमें प्रवेश करनेका निश्चय कर लिया।

चतुर्थ खंड

राजनीति-प्रवेश (१९२१-२७ ई०)

१

छपराके लिये प्रस्थान (जून १९२१ ई०)

उस वक़्त तक असहयोग-आन्दोलन कार्यरूपमें परिणत हो चुका था। हज़ारों हज़ार विद्यार्थी कालेज स्कूल छोड़ चुके थे। कितने ही वकील, बैरिस्टर अपनी प्रेक्टिस बन्द कर चुके थे। गांधीजी तिलक-स्वराज्यफ़ंडके एक करोड़ रुपये जमा कर चुके थे। राजनीतिमें प्रवेश करना यह तो तै कर लिया, किन्तु कहाँका प्रश्न हल करनेमें दो-चार दिन लगे। आज़मगढ़में जा नहीं सकता था। बाक़ी स्थानोंमें जालोन ज़िला और छपरा दो ही मेरे सामने थे, मैंने छपराके पक्षमें फ़ैसला किया।

मेरी किताबें मद्रासमें पंडित ऋषिरामजीके पास थीं, उन्हें बंगलोर भेजनेके लिए लिख दिया और मडिकेरिके मित्रोंसे शोकपूर्ण हृदयके साथ विदाई ली। पुस्तकोंको बंगलोरसे कोंच श्री पन्नालालजीके पास भेज दिया और एक पत्र छपरा ज़िला-कांग्रेस-कमीटीके मंत्रीके पास अपने आने तथा योग्य सेवा करनेके बारेमें लिख दिया।

असहयोग-आन्दोलनके फलस्वरूप शोलापुरमें अभी हाल हीमें गोली चली थी, इसलिए गोली चलनेके स्थानको देखनेके लिए मैं वहाँ उतरा। उस वक़्त गांधीजी महात्मा गांधी तो बन गये थे, किन्तु अभी वह गांधी टोपी तथा एक-बटन-खुले-गलेके कुर्तेमें रहते थे। बम्बईमें उनके इस वेषके फ़ोटो वहुत प्रचलित थे। बम्बईमें मैं दो-तीन दिन ठहरा। चौपाटीकी कुछ सभाओंमें सम्मिलित हुआ। एक सभामें कोटगढ़के स्टोक साहेब बोल रहे थे—हिमालयसे कुमारी तककी सारी भारतभूमिको हिमशुभ्र खादीसे ढाँक देना चाहिए। लोगोंने गम्भीर करतल ध्वनिसे वक्ताका स्वागत किया था।

खंडुग्रामें एक गोशालामें ठहरा। लोगोंने बाज़ार-चौकमें मेरा व्याख्यान रखा। यह था मेरा पहिला राजनीतिक व्याख्यान। क्या कहा यह मुझे याद नहीं, किन्तु कहनेके लिए तब तक मेरे पास काफ़ी सामग्री थी, इसमें सन्देह नहीं।

कोंच (जालौन) में श्री पन्नालालजीके यहाँ ठहरा। अब उनका परिवार महेश-पुरा छोड़ यहाँ चला आया था, और स्त्रियोंके झगड़ेके मारे दोनों भाई दो घरोंमें रहते थे। चार सालोंके अन्तरकी छाप तो चेहरे-चेहरेपर होनी ही चाहिए थी। यहाँ चौरस्तेपर एक राजनीतिक व्याख्यानमाला ही शुरू हो गई, जो तीन या चार रातों चलती रही। मैंने मडिकेरिमें खद्दरका कुर्त्ता सिलवाया था, यहाँ मैंने खद्दरका अँचला (साधुओंकी धोती) प्राप्त किया।

बनारसमें स्वामी वेदानन्दजी अभी मौजूद थे। उनसे मिलता सीधा छपरा पहुँचा।

सलेमपुरका वह पक्का मकान अब भी मौजूद है, जिसमें उस वक़्त ज़िला कांग्रेस कमीटीका दफ़्तर था। मैं अपने उसी अँचलेमें एक कमंडलू लिये नंगे शिर, नंगे पैर दफ़्तरमें पहुँचा, वहाँ भरतमिश्र ही मेरे परिचित थे। सब लोग दरीपर बैठे थे, मैं भी एक ओर बैठ गया। मेरा पत्र पहुँच गया था, किन्तु कुछ दोस्तोंने इसे एक गुमनाम साधुकी गुस्ताख़ी समझा—वह पत्र द्वारा अपनी विशेषताको सूचित करना चाहता है। मुझे राजनीतिक कार्योंके बारेमें कुछ पूछ-ताछ करनी थी। ज़िलेमें तिलक-स्वराजफ़ंडके संग्रहका काम ख़तम हो चुका था। मालूम हुआ इस वक़्त चर्ख़ा-खद्दर और मादक-द्रव्य-निषेधपर ज़ोर लगाया जा रहा है। अपने कामको गाँवके छोटेसे स्थानसे शुरू करनेके बारेमें मैंने तै कर लिया था, और इसके लिए परसासे बढ़कर दूसरी जगह मेरे लिए कौन होती? पूछनेपर मैंने परसा जानेका अपना निश्चय सुनाया। कुछ साथियोंको सन्तोष हुआ कि साधुने ज़िलाकेन्द्रमें काम करनेकी गुस्ताख़ी नहीं की। मेरी अनिच्छापर भी एकमा थाना कांग्रेस कमीटीके मन्त्री बाबू प्रभुनाथसिंहको आफ़िस-की ओरसे एक परिचयपत्र लिख दिया गया। रातके वक़्त मैं एकमा स्टेशनपर उतरा। उस वक़्त आश्रममें जाकर लोगोंको उठाना अच्छा न समझ पत्रको तो मैंने आदमीके हाथ वहाँ भेज दिया, और ख़ुद सीधे परसा मठ गया।

भादोंकी कृष्ण जन्माष्टमी नज़दीक थी, इसलिए तब तक परसासे बाहर जानेका सवाल ही नहीं था। मठमें ठहरना छोड़ कोई दिलचस्पी न थी। मालूम हुआ, वरद-राज कुछ मास पहिले यहाँ थे, उस वक़्त उन्होंने आन्दोलनमें कुछ काम किया था। परसाके कुछ नौजवान सेवासमितिमें शामिल हुए थे, और आदिम महीनोंमें उन्होंने

लालटेन हाथमें ले पहरा देनेका भी काम किया था, किन्तु अब वह उत्साह मन्द हो चुका था। छै ही महीने पहिले गुज़री बातें युगबीतीसी मालूम होती थीं। बारातके लौट जानेके बाद जैसा अवसाद मालूम होता है, वैसा ही उस वक़्त मालूम हो रहा था, किन्तु अभी भी चेतना बिल्कुल ख़तम नहीं हुई थी। स्वराज और गांधी बाबाकी चारों ओर धूम थी। परसाका एक तरुण बड़े उत्साहके साथ कह रहा था—गाँजा-शराब-बलिदान-लोग छोड़ नहीं रहे थे। मैंने एक दिन देवता आनेका नाट्य किया, देवताने मेरे शिरपर आकर घोषित किया—"हम सभी देवता गांधी बाबाके साथ हैं, न हमें बलि चाहिए, न गाँजा, न शराब; गांधी बाबाके हुक्मके ख़िलाफ़ जो इन चीज़ोंको चढ़ावेगा, उसका हम नाश कर देंगे।" और इसका बहुत अच्छा असर हुआ।

जन्माष्टमीके दूसरे या तीसरे दिन परसामें बाबूलालके नये बने गोलेमें गाँववालोंकी सभा हुई। थानाके तरुण कार्यकर्त्ता भी आये, और रामउदार बाबाके (मेरे) सभापतित्वमें व्याख्यान हुआ। परसावालोंको 'पुजारीजी'का व्याख्यान यह पहिले पहिल सुननेको मिला। महन्तके प्रमुख शिष्य होनेके कारण परसामें मेरी धाक थी। भाषण सुनकर थानाके तरुण कार्यकर्त्ताओंपर भी प्रभाव पड़ा। उन्होंने एकमामें ही रहनेका आग्रह किया। यह अभी नीचेसे ही काम करनेके ढंगमें शामिल था, इसलिए मैंने इन्कार नहीं किया। एकमामें उस वक़्त शराब-गाँजेकी दूकानपर धरना चल रहा था। कुछ निर्लज्ज ही लोग दूकानपर ख़रीदने जाते थे। ठीकेदार शराबको पीनेवालोंके पास पहुँचानेकी कोशिश करता था।

एकमामें स्कूल छोड़कर आये तरुणोंकी एक अच्छी जमातके साथ मुझे काम करनेका मौक़ा मिला। प्रभुनाथ और लक्ष्मीनारायण मैट्रिकसे असहयोग करके आये थे। गिरीश अपने स्कूलके तेज़ विद्यार्थी थे, और मैट्रिक पास कर उन्होंने स्कल छोड़ा था। फुलनदेवने कालेजके प्रथम वर्षसे पढ़ाई छोड़ी थी। हरिहर, रामबहादुर, और वासुदेव भी हाई स्कूलसे निकल आये थे। साठ-सत्तर हज़ार आबादीके थानेके लिए ऐसे आधे दर्जनसे अधिक तरुण कार्यकर्त्ताओंका मिलना सौभाग्यकी बात थी। पढ़ाई छोड़कर आये विद्यार्थियोंके अतिरिक्त पंडित नगनारायण तिवारी (रसूलपुर), पंडित ऋषिदेव ओझा (हूसेपुर), रामनरेशसिंह (अतरसन) उस समय अपने सारे समयको राजनीतिक कार्यमें लगाते थे। अभी साथियोंसे परिचय प्राप्त करने तथा दो-चार सभाओंमें—जिनमें अतरसनकी सभा भी थी—बोलने हीका मौक़ा मिला था, कि एक गाँवकी सभामें भरतजी आये। ज़िलेके नेताओंमें प्रोग्राम तोड़नेमें वह भी काफ़ी ख्याति पा चुके थे; इसलिए उनके आ जानेसे कार्यकर्त्ताओंको सन्तोष हुआ।

वे पकड़कर मुझे छपरा ले गये। शराबकी दूकानोंपर धरना दिया जा रहा था, मैं भी एक दूकानपर जा खड़ा हुआ, एक शराबी मेरे अनुनय-विनयकी कोई पर्वाह न कर भीतर चला गया। उसके दूसरे दिन बाढ़में वह घर गिर गया, लोगोंने अफ़वा उड़ाई, साधु-महात्माको धक्का देकर जानेका यही फल होता है।

भरतमिश्रने सोनपुरमें सभाका प्रोग्राम दिया था, अपने वह जाना नहीं चाहते थे, इसलिए कामका बहाना बना मुझे वहाँ भेजा, शायद इसीलिए वह मुझे पकड़ भी लाये थे।

शामको थानेके एक गाँव. . . .में महीके रेलके पुलके पास छोटीसी सभा हुई। दूसरे दिनकी सभाके लिए मैं स्वराज्य-आश्रममें प्रतीक्षा कर रहा था—स्वराज्य-आश्रम इसी जगह उस समय भी था, किन्तु उसका मुँह सड़ककी ओर न था। सबेरे आठ या नौ बजे किसीने आकर कहा—भारी बाढ़ आ गई है, छपरा तो डूबना चाहता है। ऐसे वक़्तमें चुस्त सेवकोंकी कितनी अवश्यकता होती है, इसे मैं जानता था। साथियोंसे इजाज़त ले मैं तुरन्त छपराकी ओर रवाना हुआ।

२

बाढ़पीड़ितोंकी सेवा (सितम्बर १९२१ ई०)

लोग प्लेटफ़ार्म और रेलवे सड़कपर थोड़ा-बहुत सामान लिये बैठे थे। कचहरी स्टेशनसे भगवानबाज़ार (छपरा) स्टेशन तक रेलवे सड़ककी एक ओर पानी ऊपर तक पहुँच चुका था, कुछ अंगुल और बढ़नेपर वह सड़ककी दूसरी तरफ़ गिरने लगता, और फिर छपरा शहरके लिए कोई आशा न रह जाती। भगवान्बाज़ार स्टेशनपर भी घरसे भागकर आये नर-नारियोंकी भीड़ थी। मैंने बाढ़की भीषणताका कुछ नज़ारा तो देख लिया, अब सहायता कैसे की जावे, इसकी जानकारीके लिए कांग्रेस आफ़िसका रास्ता लिया। स्टेशनसे भगवान्बाज़ारवाली सड़क पकड़, जेलखाना, ज़िलास्कूल, इलियट तालाब, म्युनिस्पेल्टी होता आफ़िसमें पहुँचा। छपराकी सड़कोंने छोटी-मोटी नदियोंका रूप धारण किया था। जेलके आस-पास तो मुझे कमर भर पानीसे चलना पड़ा। कच्ची दीवारोंवाले मकान गिर गये थे। पक्की दीवारोंके मकानोंमें भी पानी घुस गया था, और लोग भाग गये थे। जनशून्य महल्लोंकी निस्त-

ब्धता डरावनीसी मालूम होती थी। मकानोंकी खपड़ैलोंपर एकाध बिल्लियाँ और कहीं-कहीं भूखे कुत्तोंका करुण क्रन्दन हो रहा था।

आफ़िसमें उस वक़्त एक या दो आदमी थे। शामको बरांडेके बाहर सीढ़ियोंपर हमारी नज़र थी। दो सीढ़ियाँ डूब चुकी थीं, चाँदनी रातमें हम धड़कते दिलसे तीसरी-की ओर शनैः शनैः पानीको बढ़ते देख रहे थे। पानीका जब बढ़ना रुक गया, तो हमारी जानमें जान आई।

मैं अभी बिल्कुल अपरिचितसा आदमी था, इसलिए उस वक़्त पीड़ितोंकी सहायताके लिए क्या विशेष प्रबन्ध करता, तो भी चुप बैठना मेरे बसकी बात न थी। कांग्रेसवालोंको कुछ नावें मिल गई थीं। हमें मालूम हुआ, कचहरी-स्टेशनके पच्छिमके कितने ही गाँव डूब रहे हैं। एक नाव ले मैं उधर रवाना हुआ। एक गाँवमें जानेपर मालूम हुआ, लोग पोखरेके भिंडेपर पशुप्राणी लेकर चले आये हैं, और अभी उन्हें ख़तरा नहीं। दूसरे कुछ गाँवोंके आदमियोंको ढो-ढोकर हम रेलवे लाईनपर पहुँचाने लगे। एक आदमीको गाँवके लोगोंको निकाल लानेके लिए एक नाव सुपुर्द कर दी थी। उसने उसे अपनी निजी सम्पत्ति समझ ली, और घरके आदमियों और पेटी सन्दूक़को ढोनेके बाद अब वह भुस ढोने लगा था। गाँवके कितने स्त्री-बच्चे-बूढ़े अपनी खपड़ैलोंपर भयभीत बैठे हैं, छतके नीचे तीन-तीन चार-चार हाथ पानी है, और अभी वह बढ़ रहा है। दीवार किसी वक़्त भी बैठ जानेवाली है, और उस रातको डूबनेसे बचनेकी बहुत कमको आशा है, ऐसी भीषण अवस्थामें एक आदमी जान बचानेके लिए मिली नावसे अपना भुस ढो रहा है!! मुझे बड़ा ग़ुस्सा आया, और जैसे ही स्टेशनसे आती नावको देखा, अपनी नाव ले जा उसपर कूद पड़ा। उस हृदयहीन आदमीको बुरा-भला कह उससे नाव छीनी। दूसरे साथीके ज़िम्मे पहिली नाव लगाई। काम कामको सिखलाता है, चार-पाँच घंटे मेरे साथ काम करते साथीको भी ढंग मालूम हो गया, आख़िर मैं भी तो यहीं काम और उसके तजर्बेको सीख रहा था। गाँवमें पहुँचकर मैंने लोगोंको नावपर चढ़नेके लिए कहा। जितने लोग आ सकते थे उतने बैठे। एक स्त्रीको लोग आनेके लिए कह रहे थे, किन्तु वह छतपरसे कहती थी——घरके भीतरसे सन्दूक़ बिना लिये मैं नावमें नहीं चढ़नेकी। छतोंपर बैठे लोगोंकी जान अभी भी ख़तरेमें थी, रेलवे लाइनपर उतारकर उन्हें लेनेके लिए हमें फिर आना था, और यह औरत छाती भर पानीमें जा घरके भीतरसे सन्दूक़ लानेके लिए कह रही थी। यदि कहीं इसी बीचमें दीवार भसक गई, तो सन्दूक़ लानेवाला भी भीतर ही रह जायेगा, इसकी भी उसे पर्वाह नहीं। लेकिन क्या करते? उसका देवर या जेठ कन्धे

भर पानीमें घुसकर गया। सन्दूक़ लाकर नावमें रखी गई, तब हम रवाना हुए।

बाढ़की ख़बर सुनकर दीहातसे कार्यकर्त्ता आने लगे। एकमाकी तो सारी जमात पहुँच गई। सहायताके लिए सत्तू, चना, चूरा, चावल आदि चारों ओरसे आने लगा। कितनी जगहसे लोग पूड़ी भी भेजते थे। इलियट तालाबके पास रेलवे लाइनकी बग़लमें कांग्रेस-सहायता-केम्प खुला, जो कि छपरा क्या बिहारके इतिहासमें अपनी तरहका पहिला प्रयत्न था। कार्यकर्त्ता ज़रूरतसे अधिक थे, किन्तु उनका कोई संगठन नहीं, ग़ैरज़िम्मेवार लोगोंकी संख्या अधिक थी। मौलवी सालेह, सर्वश्री मथुराप्रसाद, नारायणप्रसाद, हरिनन्दन सहाय, गोरखनाथ, जलेश्वरप्रसाद, विन्ध्येश्वरीप्रसाद आदि ज़िलेके प्रधान कार्यकर्त्ता मौजूद थे, और इनमें जो वहाँ मौजूद थे, वह काममें डटे हुए थे। मैं रात-दिन नाव लेकर दौड़-धूपमें लगा था। शायद दूसरे दिनकी बात है, आधीरातको मालूम हुआ मसरख लाइनके बग़लके एक गाँवमें लोग दरख़्तोंपर भूखे बैठे हैं। मैं एकमाके अपने एक या दो साथियों (जिनमें रामबहादुरलाल भी थे)के साथ कुछ सत्तू-भूँजा, चावल ले रवाना हुआ। कमता 'सखीजी' एक और साधुके साथ दो वृक्षोंपर रखे बाँसोंके ठाटपर बैठी थीं। सत्तू-भूँजा लेनेके लिए कहनेपर उन्होंने अपने साथी साधुको पूछकर दे देनेके लिए कहा। मसरखवाली रेलवे लाइन टूट चुकी थी। पानीके गिरनेकी आवाज़ दाहिनी ओर ज़ोरसे सुनाई दे रही थी। नज़दीकसे जानेपर नावके उधर खिच जानेका डर था, किन्तु हम एक दूसरी ही नशामें थे। सावधानी रखते थे, किन्तु मृत्युसे भयभीत होकर नहीं। उस गाँवमें पहुँचे। लोग रेलवे लाईनपर गुमटीके नज़दीक पड़े थे। दो-चार प्रतिष्ठित आदमियोंको बुलवाया, और उनके समर्थनके अनुसार खाने-पीनेकी चीजें बाँटी।

वहीं मालूम हुआ, सड़ककी दूसरी ओरका गाँव सड़कके टूटनेसे ख़तरेमें पड़ गया है। लेकिन नाव तो हमारी इस पार थी? उन लोगोंने केलेके स्तम्भोंका ठाट बनाया था। एक पथप्रदर्शक ले मैं उसीपर बैठ गया। गाँव कुछ ऊँचेपर था, और लोगोंने पानीके भीतर घुसनेके रास्तोंपर मिट्टी डाल रखी थी। पानीके लिए आगेका रास्ता रुका हुआ था, इसलिए तुरन्त कोई उतना ख़तरा नहीं था। किसीको खानेकी ज़रूरत हो तो, आओ—कहकर कुछ आदमियोंको लिये मैं फिर नावकी जगह पहुँचा। उस दिन रातके तीन बजेसे बांद कचहरी स्टेशनसे पश्चिम एक ताड़के दरख़्तमें नावको बाँधकर हम सोये।

कामके वक़्त सुस्ती मुझे असह्य मालूम होती है। अनिच्छावश भी मैं ऐसे वक़्त आगे आ जाता हूँ, और हो सकता है, ऐसे समय मेरे साथियोंको ग़लतफ़हमी हो जावे।

इस बाढ़सहायता कालमें भी ऐसे मौक़े आये, किन्तु मुझे ख़ुशी रही कि किसी साथीको ग़लतफ़हमी नहीं हुई। कचहरी स्टेशनके पास चार-पाँच हाथ पानीके बाद एक नाव खड़ी थी। सभी बाबू लोग कह रहे थे—नाव आनी चाहिए; किन्तु नाव तो मानव-भाषाभिज्ञ प्राणी नहीं है। मैं कपड़ोंकी बिना पर्वाह किये कूद पड़ा। नाव पकड़ लाया। बाबू लोग शर्मिन्दा हुए, एकने साधुवाद दिया।

आफ़िसमें काम करनेवाले कार्यकर्त्ताओंमें कौडियाके एक तरुण कायस्थकी मुस्तैदी-का मुझपर बड़ा प्रभाव पड़ा था। यदि वैसे आधे दर्जन भी लोग होते, तो कितना सुव्यवस्थित रूपसे काम चलता। वह सर्कारी कचहरीकी कोई नौकरी छोड़कर आये थे। पीछे बी० एन० डब्ल्यु० आर०में गार्ड हो गये थे। उनसे कभी-कभी फिर मिलने-का मौक़ा मिला, और उस वक़्त ख़्याल आता—कभी फिर उसी तरह तन्मय हो हमें साथ काम करनेका मौक़ा मिलता।

बाढ़का पानी बढ़ना रुक गया, रेलवे लाइनके टूटनेसे पानी भी कम होने लगा, इस प्रकार डूबनेका खतरा जाता रहा; किन्तु लोगोंके कष्टोंकी कमी नहीं हुई थी। शहरमें गोलेदारोंके ग़ल्ले बोरोंमें ही सड़ गये थे। भगवान्‌बाज़ारके मालगोदामके पाससे गुज़रनेमें नाक फटती थी, सड़े हुए अनाजसे सख़्त बदबू निकल रही थी। सिवाय मसरखके सभी लाइनें चल रही थीं, इसलिए बाहरसे खाने-पीनेका सामान आ रहा था। शहरमें काम करनेवालोंकी कमी न थी, इसलिए मैंने गाँवोंकी सहायताका भार अपने ज़िम्में लिया। लोगोंने भूगोल पढ़े थे, नक़शे देखे थे, किन्तु उससे फ़ायदा उठाने-की बात अभी नहीं सीखी थी। एक रात जब मैं नक़शा उतार रहा था, तो कितने साथी उसे फ़ज़ूलकी सनक समझते थे। गाँवोंमें चावल-दाल, सत्तू-भूजा, चनाके अतिरिक्त मिट्टीका तेल, नमक भी बाँटना पड़ता था। कितने लोग ज़रूरत होनेपर भी लज्जावश मुफ़्त लेना स्वीकार नहीं करते थे।

इस बाढ़का असर एकमा, सिसवन, और रघुनाथपुर थानोंके कुछ भागोंपर भी पड़ा था। वहाँकी खड़ी फ़सल मारी गई थी, और काम न मिलनेसे ग़रीबोंकी हालत ख़राब थी। छपरामें और कार्यकर्त्ताओंके आ जानेपर मैं एकमा चला आया। इधरके थानोंमें बाँटनेके लिए दो-एक बोरा लाई-भूँजा ले रातको हम एकमा उतरे। आदतवश साथी क़ुलीकी प्रतीक्षा कर रहे थे। मैंने बड़ी बेतकल्लुफ़ीसे लाईका बोरा शिरपर रखा। प्रभुनाथने कहा—बाबा ठीक साम्यवादी हैं। किन्तु, दिनमें इस बेतकल्लुफ़ीसे 'बाबा' बोरेको शिरपर नहीं रख सकते थे, यह मैं जानता था। किसी काममें सैनिक स्प्रिटके साथ काम करनेमें मज़ा आता है। एकमाके सभी साथी मेरा आदर ही नहीं

करते थे, बल्कि साथ काम करनेके लिए तैयार थे। सिसवन थानेमें पीड़ित-सहायता-की ज़्यादा आवश्यकता थी, इसलिए मैंने गिरीशको वहाँ जानेके लिए कहा। उसी सिलसिलेमें वासुदेवसिंहने रघुनाथपुर थानेमें जाना स्वीकार किया। एकमाके लिए प्रभुनाथ, लक्ष्मीनारायण तथा दूसरे सभी कार्यकर्त्ता मौजूद थे। मैंने ख़ुद नाव पर खाने-पीनेकी चीज़ें रख बहुतसे गाँवोंका दौरा किया।

पहिली सहायताका काम समाप्त हुआ। देशके नेताओंकी अपीलपर प्रान्त और मुल्ककी जनताने अन्न और पैसेसे ख़ूब सहायता की, और अब रब्बीकी फ़सलके लिए बीज, मलेरियाके औषध, और भूखोंके लिए अन्न-वस्त्रकी ज़रूरत थी; तो भी अब उस काममें घंटों और मिनटोंकी जल्दी न थी।

कातिकके महीनेमें उधारपर देनेके लिए बीज एकमा भी आया। मलेरियाका ज़ोर बढ़ा, और मलेरिया मिक्सचरकी दर्जनों बोतलें हम बाँटते थे। जाड़ेके लिए मारवाड़ी रिलीफ़ सोसाइटीकी ओरसे कम्बल-कपड़े ले एक गढ़वाली तरुण जोशी आये। लोगोंका कष्ट फागुन तकके लिये है, और सब घरोंमें हम सहायता नहीं पहुँचा सकते, इसलिए मैंने सोचा, इस वक़्त चर्खे और कर्घे सहायक हो सकते हैं। हमारे एकमाके गांधी-स्कूलमें कर्घा था, किन्तु अब वह ४×४ हाथ ज़मीन घेरनेके लिए रह गया था। मैंने सोचा, यदि चर्खे बाँटकर लोगोंसे सूत कतवाया जावे, और साथ ही जुलाहोंको दे कपड़ा बुनवाया जाये तो लोगोंको ज़्यादा सहायता मिल सकती है। गिरीशने मेरे लिखनेपर चार सौ टकुए बनवाकर चैनपुरसे भेजे। बढ़ईको चर्खा बनाने-का काम दे दिया। रामपुर (बिन्दालालके)में एक पुरानी हवेलीमें पुरानी साखूकी लकड़ियाँ देख मैंने दस-बारह रुपयेमें सौ करघोंके बनाने भरकी लकड़ियाँ ख़रीदकर परसा पहुँचवाई, उनमेंसे कुछ तो बढ़ईको ज़मीनपर बैठकर चलानेवाले फ़्लाई-शटल कर्घा बनानेको दे दिया, और कुछ पुराने भट्ठीवानके घरमें अमानत छोड़ दिया। सैकड़ों चर्खे बने, और बाँटे गये, तीसियों कर्घे बने और उनमेंसे भी कितने ही बाँटे गये। कुछ रुपये लगाकर एक खद्दर डिपो खोला, जिसके इन्चार्ज फूलनदेव बने। कुछ सूत आया, उसका कुछ कपड़ा भी बना। आचार्य प्रफुल्लचन्द्ररायकी लिखी 'रंग' पुस्तकसे मैंने कुछ रंगोंका भी तजर्बा किया। किन्तु डिपोमें आये कपड़ेकी बिक्री बहुत कम होती। फिर नये चर्खों और कर्घोंको बाँटनेसे फ़ायदा? कर्घे, चर्खे और सैकड़ों टकुये वैसे ही पड़े रहे। अमानत पड़ी लकड़ीको परसाके भट्ठीवालेने अपनी सम्पत्ति समझ ली। खद्दर-अर्थशास्त्र यहीं समाप्त हो गया।

सहायताके लिए मिली चीज़ोंमेंसे कुछका दुरुपयोग भी हुआ, और कार्यकर्त्ताओं-

मेंसे कुछका ईमान डिग गया, किन्तु ऐसोंकी संख्या बहुत कम थी और दुरुपयुक्त सामग्रीका परिमाण भी बहुत कम था, तो भी जनतापर इसका बुरा प्रभाव पड़ा, और उनसे भी ज़्यादा बुरा असर पड़ा लगनवाले ईमानदार कार्यकर्त्ताओंपर। ऐसा विचारते वक़्त अक्सर हम भूल जाते हैं, कि हम जिस पूँजीवादी व्यवस्थामें जी रहे हैं, उसकी बुनियाद ही अपहरण और बेईमानीपर है, जब तक मूलका उच्छेद नहीं होगा, तब तक इन त्रुटियोंके लिए हमें तैयार रहना चाहिए। मेरे ज़िम्मेवार साथियोंमें सबने अपने कर्तव्यको बड़ी तत्परता और ईमानदारीके साथ निबाहा।

३

सत्याग्रहकी तैयारी (१९२१ ई०)

जलियाँवाला बाग़ और मार्शल-लाके अत्याचारोंको सुनकर सारे भारतमें रोषका तूफ़ान फूट निकला। जलियाँवाला बाग़की महती सभा और ६ अप्रेल १९१९के प्रदर्शनने बतला दिया, कि देश महायुद्धके बाद कहाँ चला गया है। आत्मग्लानि और प्रतिशोधकी भावना देशमें इतनी उग्र हो गई थी, कि यदि कोई विश्वासपात्र नेता आगे बढ़ता, तो जनता उसका साथ देनेके लिए तैयार थी। दक्षिण-अफ़्रीकाके अन्दोलनके बारेमें सुनकर गांधीजीको भारतकी शिक्षित जनता जानती थी। चम्पारन और खेड़ाके आन्दोलनोंने उन्हें भारतकी साधारण जनतामें प्रसिद्धि और सर्वप्रियता प्रदान की। रोलट-एक्टके विरोधको लेकर गांधीजीका आगे आना ठीक समयपर हुआ। जनता—'विशेषकर किसान और निम्नमध्यम शिक्षित जनता—को अपनी ओर आकर्षित करनेका तरीक़ा गांधीजी अपने समयके सभी भारतीय नेताओंसे—तिलकको लेते हुए—अधिक जानते थे। इस प्रकार भारतव्यापी आन्दोलनका नेतृत्व करनेके लिए उन्होंने अपनेको योग्य साबित कर दिया। अमृतसर (१९२०), कलकत्ता (१९२१), नागपुर (१९२१) कांग्रेसोंमें गांधीका सितारा ऊँचेसे ऊँचा उठता ही गया, और विदेशी सर्कारके साथ संघर्ष लेनेमें उन्हींको आगे बढ़े देख जनताने असहयोग और सत्याग्रहका स्वागत किया। छै महीनेके भीतर तिलकस्वराजफ़ंडके लिए एक करोड़की भारी रक़म जमा कर देना, भारतीय जनताके लिए पहिली बात थी।

'सालभरमें स्वराज'की बातपर विश्वास तो जादू-मन्तरपर विश्वास रखनेवाली अशिक्षित ग्रामीण जनताके लिए कोई मुश्किल न था; किन्तु मुझे तो आश्चर्य आता था उन शिक्षितोंकी अक़लपर, जिनमेंसे जेलमें पड़े कितने ही ३१ दिसम्बर १९२१की आधीरातको स्वराज सर्कार द्वारा जेलके फाटकके खुल जानेकी प्रतीक्षा कर रहे थे।

जुलाई (१९२१)में जब मैं बिहारमें आया, तो उस वक़्त जोश ढीला पड़ने लगा था, किन्तु यह सिर्फ़ इसी अर्थमें कि लोगोंने अतिरिक्त प्रोग्रामों—रातको पहरा देना, हुक़्क़ा-तम्बाकू-मछली-मांस छोड़ देना, पंचायत द्वारा मुक़दमोंका फ़ैसला कराना, मुठिया (प्रतिदिन मुट्ठीभर अन्न) निकालना, आदि—को भूलना शुरू किया था।

एकमामें सौभाग्यसे मुझे बहुत अच्छे साथी मिले। मुझे जीवनके वे दिन बड़े मधुर मालूम होते हैं, जब कि प्रभुनाथ, गिरीश, लक्ष्मीनारायण, हरिहर, मधुसूदन, रामबहादुर, छबीला, वासुदेव जैसे एक दर्जन शिक्षित तरुण कष्टों और कठिनाइयोंकी बिल्कुल पर्वाह न कर चौबीसों घंटे राष्ट्रीय कामके लिए दे रहे थे। हमने एकमा थानेके कोने-कोनेको छान डाला था। ज़िलेके और स्थानोंमें आन्दोलन शिथिलसा पड़ गया था, मुठिया बन्द हो गई थी, किन्तु एकमामें जागृति थी। यहाँ मुठिया निकालनेमें लोगोंको उज्र न था (उज्र तो शायद कहीं नहीं होता)—और हम उसीको जमा करा स्वराज-आश्रम एकमाका खर्च चलाते। एकमामें एक गांधी विद्यालय खोला गया था। कर्घा और चर्खे भी रखे गये थे। पढ़ानेमें रामउदारराय, रामबहादुर और हममेंसे भी जो समय पाता, पढ़ाते। विद्यालयके लिए हम इतने ही पर सन्तोष कर सकते थे, कि विद्यार्थियोंका समय बर्बाद नहीं होने पाता था। विद्यालयमें रामदास गौड़की हिन्दी पुस्तकें पढ़ाई जाती थीं, जो कि उस समय की सर्कारी पाठ्य-पुस्तकोंसे कहीं अच्छी थीं। अंग्रेज़ी पढ़नेके लिए लड़कोंको पहिले दूर जाना पड़ता था, किन्तु यहाँ हमारे विद्यालयमें उसका भी प्रबन्ध था। रामदास गौड़की पुस्तकों और ख़लीलदासके भजन "भारत जननि तेरी जय तेरी जय हो"के अतिरिक्त और पाठ्य-विषयोंमें दूसरे सरकारी स्कूलोंसे कोई अन्तर नहीं था, तो भी हम 'बाग़ियों'के स्कूलमें पढ़ते हैं, इसका असर लड़कोंपर होना ज़रूरी था। एक बार हमारे विद्यालयके दो छोटे-छोटे लड़के रामचन्द्र और मंगल अपने गाँव (एकमा)में झुंडके साथ 'गांधी महात्माकी जय', 'भारतमाताकी जय' आदि नारोंके साथ जलूस निकालकर ६से १२ वर्षके लड़कोंकी सभा कर रहे थे। सभापति रामचन्द्र बने और मंगलने व्याख्यान देना शुरू किया। सामने पन्द्रह-बीसकी 'जनता' बैठी थी। अभी व्याख्यान शुरू ही हुआ था, कि रामचन्द्रकी माँकी नज़र उधर गई। वह सुन चुकी थीं, पुलीस इसके लिए

धर-पकड़ करती है। दौड़कर आईं, और मुँहसे बात निकालनेके पहिले ही सभापति रामचन्द्रकी पीठपर दो-तीन थप्पड़ लगे। सभा तितर-बितर हो गई। बच्चों तक में इस तरहके जोश लानेमें गांधीविद्यालय जैसे विद्यालयोंका हाथ कम न था।

मुझे एक दिनकी बात याद है। हम लोग शायद अतरसनकी सभासे रातको लौट रहे थे। खेतमें हरे-हरे धान खड़े थे। चाँदनी रातके निरभ्र आकाशमें बिखरे तारे और क्षितिजपर कजली पुतेसे वृक्ष-बग़ीचे दिखाई पड़ रहे थे। हमें जल्दी नहीं थी, इसलिए एक अकेले पीपलके पास बैठे या खड़े हमारे वार्तालापका रुख भूतोंकी ओर चला गया। साथ कौन-कौन थे, सो तो याद नहीं, किन्तु गिरीश ज़रूर थे। आर्य-समाजके प्रभावके कारण भूतप्रेतसे मेरा विश्वास उठ गया था, किन्तु भूतोंकी कथाओंको कहने-सुननेमें मुझे बड़ा मज़ा आता था। कथा मैंने शुरू की, किन्तु गिरीशने अपनी कथा द्वारा मुझे भी मात कर दिया। उन्होंने राकस (राक्षस), ब्रह्मपिशाच, जिन्न, हँडकसवा (गर्भगिरा), चुड़ैल, बूड़ा (पानीमें डूबकर मरा), तेलिया-मसान, सैयद, दैत (दैत्य) आदि कितनी ही भूतोंकी क़िस्में गिनाईं, फिर उनमेंसे कुछकी कथा भी कही। बहुत रात गये हम एकमा पहुँचे। एक ऐसी ही रात्रि-यात्रा बलिया (चैनपुरके रास्तेमें)से एकमाके लिए हुई थी। सभा समाप्त कर भोजन करते-करते काफ़ी देर हो गई थी, किन्तु अगले दिनके प्रोग्रामके ख्यालसे हम रातको वहाँ रह न सकते थे। उस दिन कथा तो नहीं हुई, किन्तु मुझे तो मालूम होता था, सोता हुआ चल रहा हूँ।

बाढ़के बाद मेरे साथियोंने एकमाके अतिरिक्त रघुनाथपुर, सिसवन थानोंका भी काम सँभाला था, तथा एकमाके पासवाले माँझी थानेके गाँवमें काम करना भी हमने अपने ऊपर लिया था। वस्तुतः, मेरी दृष्टि तो सारे ज़िलेपर थी, किन्तु संगठन टूट चुके थे। तजर्बेसे मुझे यही समझमें आता था, कि एक शिक्षित चतुर तरुण जिस थानेमें चौबीस घंटे काम करनेको नहीं मिलेगा, वहाँ काम स्थायी नहीं हो सकेगा। इसी ख्यालसे गिरीश और वासुदेवको मैंने दो थानोंमें भेजा था। एक थानासे दूसरे थानेके गाँवोंमें पैदल पहुँचना मुश्किल था, इसलिए एक एक्का-घोड़ा रखना पड़ा। कितनी ही बार मेरे साथ पंडित नगनारायण तिवारी भी रहते। वह हमारी थाना कांग्रेस कमीटीके सभापति ही नहीं थे, बल्कि अच्छे वक्ता, गायक और जनभाषाके कवि थे। मैंने छपरामें पहुँचते ही नियम कर लिया था, कि छपराकी भाषा (मल्ली या भोजपुरी)में ही भाषण दूँगा। इसका असर मेरे साथियोंपर भी पड़ा था। पंडित नगनारायणकी आवाज भी बहुत तेज़ थी, और बोलनेका ढंग भी अच्छा। कुछ वर्षों पहिले उनकी आँखें जाती रही थीं, किन्तु वे किसी आँखवाले कर्मीसे काम करनेमें कम

न थे। भोजपुरी (मल्ली) भाषाकी बहुतसी गीतें उन्होंने बनाई थीं, जिनमें कुछ; स्त्रियोंकी भी थीं इन्हें वे सभाओंमें गाया करते। दिनमें दो सभाएँ—शाम और रातको होतीं, कभी-कभी तीन भी। हम लोग सिसवन थानेमें होते रघुनाथपुर निकल गये थे। इसी थानेके ब्राह्मणोंके एक गाँवमें कार्तिक बदी छठकी रातको हम ठहरे थे। रातको छठ-पूजाके लिए स्त्रियाँ पोखरेपर जमा हुई थीं। नगनारायणजी ऐसे मौक़ेको क्यों ख़ाली जाने देते? उन्होंने अपनी गीतों द्वारा विदेशी माल और शासनके वहिष्कारकी बातें समझाईं। रातमें अक्सर स्त्रियोंकी पर्दा सभायें होती थीं। छपराकी भाषामें बोलनेके कारण मेरे शब्दको तो समझ जाती होंगी, किन्तु वे इसे किस लोककी बात समझती होंगी, जब मैं कहता—'तुम्हें राज-काज चलाना होगा। मर्दोंके जूते खाना छोड़, अपने बराबर हक़के लिए लड़ना होगा। तुमको जज और मजिस्ट्रेट बनना होगा।' मेरे व्याख्यानमें चर्खा-कर्घा-प्रचार मादक-द्रव्य-निषेधका अंश बहुत कम रहता। मैं तो विदेशी शासनके शोषण-अत्याचार, और देशके लिए संगठन और क़ुर्बानीपर ज़्यादा ज़ोर देता।

बाढ़के बाद ज़िलाके अन्य नेताओंने मुझे भी अपनी बिरादरीमें शामिल कर लिया, और तीन-चार थानोंके संगठनका काम मैंने अपने ज़िम्मे लिया। गांधीजीने सत्याग्रहकी तैयारी शुरू की थी। बिहार प्रान्तमें स्वयंसेवक-बोर्ड बना था; और सत्याग्रही स्वयंसेवकोंकी भरतीका आदेश मिला था। हमने तै किया एकमा, सिसवन, रघुनाथपुरमें चार-चार सौ वर्दीधारी स्वयंसेवक तैयार होने चाहिए। एकमामें तो हम सभी थे। सिसवनमें गिरीशने तैयारी की। बाढ़की सेवाओं, तथा अपनी कार्य-क्षमताके कारण गिरीशका वहाँ बहुत प्रभाव था। आश्रम (हेड-क्वार्टर) उन्होंने चैनपुरमें रखा था। थाने भरके वर्दीधारी स्वयंसेवकों और जनताकी एक बड़ी सभा बुलाई गई, जिसमें मेरे अतिरिक्त ज़िलाके भी कितने ही नेता आये। पहिला मौक़ा था, इसलिए मनका शंकित होना स्वाभाविक था, किन्तु जब हमने खद्दरकी जाँघिया, खद्दरके कुर्ते, गांधीटोपी, झोले और लाठीके साथ चार सौसे अधिक स्वयंसेवकोंको पाँतीसे खड़े देखा, तो प्रसन्नताका ठिकाना नहीं रहा। कई हज़ारकी जनतामें बिना लौड-स्पीकरके बोलना असम्भव होता, यदि लोग स्वयं शान्त रह सुननेके लिए तैयार न होते। शायद वर्दीका रंग पीले रामरजका था।

मुरारपट्टीके बाग़में रघुनाथपुरकी बड़ी सभा और चार सौ स्वयंसेवकोंका जत्था जमा हुआ था।—वासुदेव भी काममें सफल साबित हुए, और मेरी ख़ुशीके लिए इतना ही कहना काफ़ी होगा कि ज़िन्दगी भरमें सिर्फ़ इसी सभामें मैंने भावावेशमें आ स्वरके

उतार-चढ़ावके साथ जोशीला व्याख्यान दिया था। मुझे छपराकी भाषामें बोलते देख, बाबू मथुराप्रसादने भी कोशिश की, किन्तु बीच-बीचमें उर्दूके शब्दोंको डालनेसे वह बाज़ न आ सके। चार सौसे अधिक रंगीन वर्दीधारी स्वयंसेवकोंको देखकर इन थानोंकी ओर ज़िलाके नेताओंका ध्यान विशेष तौरसे आकर्षित होना ज़रूरी था।

एकमाका स्वयंसेवक सम्मेलन और भी ज़बर्दस्त रहा। एकमामें आकर मिलनेवाली चार सड़कोंसे गाँव-गाँवके जलूस आये। फिर एक विराट् जुलूसकी शकलमें बीस-पच्चीस हाथियों सैकड़ों-हज़ारों झंडों-पताकोंके साथ वह पाँचवीं सड़कसे माधवपुरको गया। एक विशाल जनप्रवाह हज़ारों पैरोंसे चलता, हज़ारों कंठोंसे गगनभेदी नारे लगाता जनशक्तिका परिचय दे रहा था। निर्दिष्ट स्थानपर बीस हज़ार मुंड एकत्रित दिखलाई पड़ रहे थे। जलेश्वर बाबू ज़िलेसे खास तौरसे व्याख्यान देने आये थे। उन्होंने थानेके कार्यकर्त्ताओं और जनताके उत्साहकी सराहना की। चारसौसे अधिक वर्दीधारी स्वयंसेवकोंको उन्होंने शायद पहिलेपहिल देखा था, इसलिए उनपर इसका खास प्रभाव पड़ा; किन्तु मैंने सिसवन और रघुनाथपुरके रंगीन वर्दीवाले स्वयंसेवकोंको देखा था, इसलिए गिरीश और वासुदेवकी स्वयंसेवक-सेनासे अपनी सफ़ेद वर्दीवाली यह सेना कुछ कम जँची, तो भी और बातोंमें एकमा बढ़ा-चढ़ा था।

स्वयंसेवकदलको सर्कारने क्रिमिनल-ला-सुधार क़ानून द्वारा ग़ैरक़ानूनी क़रार दे दिया। उसकी अवहेलनामें ज़िला कमीटीकी बैठकके वक़्त छपरामें रामलीलाकी मठिया (जेलखानेके पास)में एक सभा हुई, ज़िलाके प्रमुख कर्मियोंने स्वयंसेवकोंमें अपना नाम लिखाना शुरू किया, और पुलीसने गिरफ़्तारी शुरू की। भरतमिश्र गिरफ़्तार हुए, बा० माधवसिंह वकील, और कितने ही और नेता तथा कार्यकर्त्ता गिरिफ़्तार हुए; किन्तु छपराके तत्कालीन कलेक्टर मिस्टर लुइस होशियार आदमी थे, उन्होंने मुज़फ़्फ़रपुरके कलेक्टरकी भाँति सैकड़ोंको पकड़कर जेलमें भेजना पसन्द नहीं किया। आठ-दस आदमियोंकी गिरिफ़्तारीके बाद स्वयंसेवक घोषित करनेवालोंका नामभर पुलीस नोट करने लगी। घोषित करनेवालोंमें मैं और बाबू नारायणप्रसाद भी थे।

दिसम्बर (१९२१)में ज़िलेके कितने ही प्रतिनिधि अहमदाबाद-कांग्रेसमें गये। मैंने गिरिफ़्तारीसे पहिले ज़िलेमें घूमकर जागृति पैदा करनेमें अपना समय देना पसन्द किया—आखिर मेरे लिए अहमदाबाद और दूसरे शहर कोई आकर्षण नहीं रखते थे, कांग्रेस देखनेके और भी अवसर आनेवाले थे। अपना एक्का-टमटम ले मैं एकमासे निकला। पचरुखीमें उस वक़्त चीनीकी मिल नहीं बनी थी, बाज़ारमें भाषण दिया। सीवान, मीरगंजमें व्याख्यान देते हथुआ पहुँचा। वहाँ कालेज छोड़कर आये एक

तरुण—जगतनारायण—बड़ी लगनसे काम कर रहे थे। भोरे थानामें भी स्कूल-त्यागी एक ब्राह्मण तरुण काम करता था, इसलिए वहाँ भी छोटे-मोटे कार्यकर्त्ताओंको लेकर वह थानेकी जागृतिको सँभाले हुए था। कटयामें महेन्द्रसिंहके चले जानेसे कुछ शिथिलता थी, किन्तु कार्यकर्त्ता वहाँ भी थे। कुचायकोटमें जलालपुरका आश्रम काम कर रहा था, और वहाँ भी एक उत्साही नवयुवक तथा थानाके प्रधान बाबू भूलनशाही उत्साहपूर्वक काम कर रहे थे। बाबू भूलनशाहीके सीधे-सादे अशिक्षित, किन्तु भावुकतापूर्ण हृदयके लिए स्वराज आन्दोलन धार्मिक साधनासा मालूम होता था। स्वराज-आश्रमपर आते वक़्त वह कभी ख़ाली हाथ नहीं आते थे। कई साल बाद जब मैं हज़ारीबाग़से छूटकर, वहाँ गया, तो भूलनशाहीकी सौम्य वृद्धमूर्ति न देखकर मैंने उनके बारेमें पूछा, और उनकी मृत्युकी ख़बर सुनकर एक स्थायी शोक हुआ। जब कभी मैं जलालपुर जाता, या उधरसे गुजरता, भूलनशाहीका स्मरण बिना आये नहीं रहता। उसी यात्रामें मैं गोपालगंज, बरौली, रेवतिथ, बसन्तपुर भी गया। बरौलीमें कालेजके विद्यार्थी बा० शिवप्रसादसिंह बहुत अच्छी तरह काम सँभाले हुए थे। मीरगंज, भोरे, कुचायकोट, गोपालगंज, बरौलीके सिवाय बाक़ी थानोंमें ज़्यादा शिथिलता थी।

एकमा आनेपर मालूम हुआ, मेरी गिरिफ़्तारीका वारंट निकला है। रामउदार राय नामके सादृश्यसे गिरिफ़्तार कर लिये गये थे। लोगोंको आश्चर्य हुआ, क्योंकि रामउदाररायने स्वयंसेवकोंमें नाम नहीं लिखाया था। पुलीसको भी ग़लतीका सन्देह हुआ, इस प्रकार उन्हें छोड़ दिया, और वारंट रामउदारदासके नामसे दुरुस्त हुआ। पटना (प्रान्तीय कांग्रेस कमीटीकी मीटिंग)से मैं उसी दिन छपरा पहुँचा, और ज़िला कांग्रेस कमीटीकी बैठक ३१ जनवरी १९२२को मेरे सभापतित्वमें हो रही थी, जब कि पुलीस मुझे गिरिफ़्तार करने आई।

जेलके फाटकको बाहरसे मैं बराबर देखता था, जब कभी साहेबगंजसे भगवान बाज़ार (छपरा) स्टेशन जाता; किन्तु, उस फाटकके भीतर एक दूसरी दुनिया बसती है, इसका तजर्बा मुझे पहिली ही बार हुआ। डर और झिझककी बात नहीं थी। १९१५ हीमें मैं क्रान्तिकारियोंकी जीवनियाँ उनकी जेलयातनाओंके बारेमें काफ़ी पढ़-सुन चुका था, और मुझे उनमें भय नहीं प्रलोभ मालूम होता था।

एकमामें काम शुरू करनेसे थोड़े ही दिनों बाद मैंने अपने अँचलेवाले भेसको बदल-कर फिर कम्बलकी अलफी पसन्द की। सोनपुरके मेलेसे एक सहारनपुरी काला कम्बल ले, बीचमें शिर डालनेके लिए छेद बना उसे अलफीमें परिणत कर दिया। गिरिफ़्तारीके

वक़्त भी मैं उसी काली अलफ़ीमें था। दिन भर हवालातमें रखनेके बाद शामको मुझे जेलमें और कैदियोंसे अलग जेलमें रखा गया। छपराके कई कर्मी सजा पाकर बक्सर सेंट्रल-जेल भेज दिये गये थे। नारायण बाबू अहमदाबाद कांग्रेस चले गये थे, लौटकर आनेपर मुझसे दस दिन बाद (६ फ़र्वरीको) वह भी तारीख़पर गिरिफ़्तार होकर आये। याद नहीं, मुझे एक-दो दिन बालू भरे आटे, बाल और छिलके भरी दाल तथा आधी घासके साथ उबाले सागको खाना पड़ा या नहीं। नारायण बाबूके आनेपर हम दोनोंको अपने हाथसे रसोई बनानेके लिए खानेका सामान मिलता था। मैंने परसामें पकवान पकानेके एकाध हाथ नारायण बाबूको भी सिखलाये। अकेला रहते भी मैं पढ़ने-लिखनेमें लगा रहता था। यहीं त्रोत्स्कीकी 'बोल्शेविकी और संसार-शान्ति' अंग्रेज़ीमें पढ़नेको मिली। किसी बोल्शेविक ग्रंथकर्त्ताकी यह पहिली पुस्तक थी। मैंने कुछ समय संस्कृतकी तुकबन्दीमें लगाये, जिनमें एक भजन शुरू होता था—"शृणु शृणु रे पान्थ, अहमिह न ह्येकाकी।" नारायण बाबू उन नेताओंमेंसे थे, जिनका सार्वजनिक जीवन असहयोग और गांधी-युगके साथ नहीं आरम्भ होता था। उन्होंने अंग्रेज़ीकी शिक्षा न पाई थी, और न देश-भ्रमणका अवसर पाया था, तो भी मनुष्यका कर्त्तव्य खाने-पीने-सोनेसे उसे ऊपर ले जाता है, इसे वह भली भाँति समझ गये थे। वे मध्यमवित्तके एक समृद्ध परिवारके मुखिया थे। बापने उनके लिए ज़मीदारीके अतिरिक्त कितना ही नक़द रुपया भी छोड़ा था। यौवन, धनसम्पत्ति, प्रभुत्व उनके पास मौजूद थे, यदि अविवेक भी साथ रहता, तो दूसरे बाबुओंकी भाँति वह भी ऐशकी ज़िन्दगी बिता सकते थे। किन्तु, इसकी जगह उन्होंने अपने जीवनको एक दूसरी ही ओर ढाला, और सो भी बहुत कुछ सिर्फ़ अपनी सूझके भरोसे। स्टेशनसे बारह मीलपर, शहर बाज़ारसे बहुत दूर एक अटट दीहाती गाँव गोरयाकोठीमें उन्होंने एक अंग्रेज़ी स्कूल स्थापित किया, और उस समयकी प्रतिकूल तथा बहुव्ययसाध्य परिस्थितिमें उसे हाई स्कूल तक पहुँचाया। छपरा ही नहीं, सारे विहारमें उस वक़्त अपने ढंगका वह अकेला स्कूल था। नारायण बाबू हिन्दीके पत्र-पत्रिकाओं तथा पुस्तकोंको बहुत पढ़ते थे, और लोकमान्य तिलकके बड़े भक्त थे। इस राष्ट्रीय तूफ़ानसे बच रहते, ऐसा हृदय उन्होंने नहीं पाया था, इसीलिए अत्यन्त परिश्रमसे रोप और बढ़ाकर हाई स्कूल तक पहुँचाये अपने स्कूलको उन्होंने विश्वविद्यालयसे सम्बन्ध-विच्छिन्न कर राष्ट्रीय बनानेमें भी आनाकानी नहीं की। ऐसे आदमीके प्रति मेरी श्रद्धा शुरूसे ही हो जावे, इसमें आश्चर्यकी कोई बात नहीं। और अब संयोगसे हमें साथ रहना पड़ा। वह उस समय ज़िला कांग्रेसके मन्त्री थे।

दूसरे दिन (११ फ़र्वरीको) हमारे मुक़दमेका फ़ैसला हुआ। हमने सर्कारी इल्ज़ामको स्वीकार किया। मिस्टर लुईने हम दोनोंको छै मासकी सादी सज़ा सुनाई। मैंने उन्हें 'धन्यवाद' कहा। तेरह दिन छपरा जेलमें रहनेके बाद, अब (१२ फ़र्वरीको) हम लोग दो कान्स्टेबलोंके साथ बक्सरके लिए रवाना किये गये। कान्स्टेबलोंके पास हथकड़ियाँ थीं, किन्तु उन्होंने हमारे हाथोंमें नहीं लगाया। क्रान्तिकारियों-की कथाओंमें हथकड़ियों और बेड़ियोंकी बातें सुनकर क्षण भरके लिए भी हाथोंमें हथ-कड़ी डलवानेकी मुझे लालसा हो आई। बहुत हिचकिचाहटके बाद सिपाहीने ज़रा देरके लिए उसे हाथमें डाला। मैंने लोहेके उन कंकणोंको देखकर कहा——नानाने चाँदीके खडुवे जो लड़कपनमें हाथोंमें डाले थे, उनसे यह बुरे तो नहीं मालूम होते, फ़र्क़ इतना ही है कि सिर्फ़ दोनों हाथ नज़दीक-नज़दीक बँधे रहनेसे इनसे काम नहीं किया जा सकता।

रातको हम पटना होते दूसरे दिन चार बजे रातहीको बक्सर पहुँच गये थे। रामरेखाघाटपर गंगामें स्नान कर दस बजेके क़रीब बक्सर जेलमें दाख़िल हुए। छपरा जेलसे यह कई गुना बड़ा था, किन्तु हमें जेल दिखलानेके लिए थोड़े ही लाया गया था। आफ़िसकी मामूली कार्रवाईको समाप्त करनेके बाद हमें एक वार्डमें ले जाया गया। उस वक़्त साढ़े तीन सौके क़रीब स्वराजी क़ैदी बक्सरमें रखे गये थे। कमरोंसे बाहर धूप और छायामें वहाँ सौसे ऊपर आदमी मौजूद थे। दर्वाज़ा खुलते ही उनकी नज़र हमपर पड़ी। नये आगन्तुकको परलोकसे लौटे आदमीकी भाँति समझ स्वतन्त्रतावंचित राजबन्दी आकर हमारे इर्द-गिर्द जमा हो गये। घनिष्ट परिचयवालोंने आलिंगन किया, दूसरोंने अभिवादन। बाहरकी आन्दोलन-सम्बन्धी खबर पूछी। हम लोग स्वयं तीन हफ़्तेसे बन्द रखे गये थे, तो भी जो कुछ मालूम था, उसे बतलाया। हम छपरावालोंको इस बातका क्षोभ था, कि राष्ट्रीय संघर्षमें इतना आगे बढ़े हुए होनेपर भी हमारे ज़िलेकी अपेक्षा ज़्यादा बन्दी दूसरे गुमनाम ज़िलोंने दिये थे। लेकिन हमारे ज़िलेका क्या क़सूर? मुज़फ़्फ़रपुर ज़िलेको बहुत नाज़ था, कि उसके क़ैदी वहाँ सबसे ज़्यादा थे। किन्तु इसमें नाज़की ज़रूरत क्या? यदि मुज़फ़्फ़रपुरके कलेक्टर जैसा औढरदानी कलेक्टर किसी भी ज़िलेको मिल जाता, तो दो सौ चार सौ बहादुरोंको जेलमें भेज देना मुश्किल न था।

मुज़फ़्फ़रपुर ज़िले तथा एकाध और ज़िलोंसे कुछ साधारण स्वयंसेवक आये थे, नहीं तो सभी राजबन्दी अपने ज़िले या थानेके प्रमुख नेता थे। मेरे साथियोंमें प्रभुनाथ यहाँ आ पहुँचे थे। माँझीकी सभामें मेरी जगह वह व्याख्यान देने गये थे, वहीं रंगेश

और बूढ़े विरजानन्द पंडितके साथ पकड़ लिये गये। प्रान्तके प्रमुख नेताओंमें राजेन्द्र बाबू इसलिए बच गये थे, कि गवर्नरकी कार्यकारिणीके भारतीय सदस्य श्री सच्चिदानन्दसिंह उनकी गिरिफ्तारीसे असहमत थे। मौलवी शफ़ी मुज़फ़्फ़रपुरके एक नामी वकील तथा प्रमुख नेता वहाँ मौजूद थे। उनके साथ मौलवी वदूद, तरुण मंजूर, गंगयाके बाबू मथुराप्रसाद, वरुराजके राजमंगलशाही और ब्रजनन्दनशाही, ठाकुर रामनन्दनसिंह और दूसरे अनेक होनहार तरुण भविष्यकी महत्त्वाकांक्षाओंको कालेज स्कूलकी पढ़ाईके साथ विसर्जित करके पहुँचे हुए थे। वहाँ चम्पारनके बाबू देवीप्रसाद साहु, दर्भंगाके मौलाना वहाब, और दूसरे ज़िलोंके भी प्रमुख नेता थे।

४

बक्सर जेलमें छैमास १९२२ (१३ फर्वरी—९ अगस्त)

इसमें तो शक नहीं, कि इन राजबन्दियोंमेंसे अधिकांशने राजबन्दिजीवनके लिए अपेक्षित मानसिक शिक्षा नहीं प्राप्त की थी, इसलिए उन्हें एकान्तता कुछ असह्यसी मालूम होती थी, किन्तु सौभाग्यसे सभी लोग एक जगह रख दिये गये थे। दिनमें बाहर हातेमें वृक्षोंके नीचे या धूपमें साथ रहते, रातको कमरोंमें सत्ताईस-सत्ताईसकी संख्यामें (इकट्ठा बन्द होते) ताश-शतरंज खेलना, पढ़ना, बातें करना। यही नहीं मथुरा बाबू (गंगया)ने अपना अखाड़ा भी तैयार कर लिया था, और सबेरे रोज़ दो-तीन घंटे कुश्ती होती थी। वही हमारे सबसे बड़े पहलवान् और अखाड़ेके ख़लीफ़ा थे, और लोगोंको दाव-पेच बहुत करके ज़बानी और हाथके इशारेसे बतलाया करते थे। कुछ ही दिनों बाद हम लोगोंने सहभोजी दावतोंका तरीक़ा जारी कर दिया। जेलसे मिली चीज़ोंके अतिरिक्त घरसे आई चीज़ों तथा पैसेसे भी लोग मदद करते थे। मथुरा बाबू खिलाने-पिलानेके प्रबन्धमें भी सिद्धहस्त साबित हुए। मथुरा बाबू हमारे कमरेमें रहते थे। मैत्रीको अक्षुण्ण रखते हुए उन्हें चिढ़ानेके लिए कभी-कभी मैं उनके संगीतके विवेचनोंपर आक्षेप कर बैठता, और जब उनके शीतल मस्तिष्कपर कुछ गर्मी आ जाती, तो अपनी सफलतापर बड़ा प्रसन्न होता। इसमें शक नहीं, यह मेरी अनधिकार चेष्टा थी। मैंने संगीतका क-ख भी नहीं सीखा था, और न गवैयोंको अपना कर्त्तव दिखाते ही सुना था। राग-रागिनियोंके नाम तक मुझे याद नहीं,

उनकी सुर-तान-गतकी तो बात ही दूर ?. इसके विरुद्ध मथुरा बाबू स्वयं गायक न थे, किन्तु गुनियोंकी उन्होंने अच्छी संगति की थी, उन्हें संगीतकी खूब परख थी। एक दिन मीठे मनोरंजक गानोंको छोकरों-छोकरियोंका गाना कहकर वह बूढ़े उस्तादोंकी तारीफ़ कर रहे थे। कई और व्यक्तियोंके साथ नारायण बाबू भी श्रोताओंमें थे। मैंने खूब ज़ोरकी चुटकी ली--"मथुरा बाबू, मैं आपकी सब बातोंको माननेके लिए तैयार हूँ; किन्तु उस व्यक्तिको मैं गायक कहनेके लिए तैयार नहीं, जिसके अलापको असह्य समझ पासके पेड़पर शान्त बैठी चिड़िया भी उड़ जानके लिए मजबूर हो। मैं उसे संगीत-शास्त्रज्ञ कह सकता हूँ, संगीत-शास्त्राचार्य माननेमें भी मुझे उज्र नहीं; किन्तु गायक तो उसे ही मानूँगा, जिसके गानेको सुनकर अनभिज्ञ व्यक्ति भी मुग्ध हो जाये।" मथुरा बाबूका बौखलाना स्वाभाविक था। मैं अनाड़ीकी तरह बात कर रहा था। नारायण बाबू भी चुपचाप मेरे साथ मथुरा बाबूकी चिड़चिड़ाहटका मज़ा ले रहे थे। रसोई-अखाड़ेके अतिरिक्त मथुरा बाबूको ब्रजभाषा कविताके रस-अलंकारोंके सुनने-पढ़नेका भी शौक़ था। उनके सौभाग्यसे कुछ ही दिनों बाद गयाके पंडित बजरंगदत्त शर्मा पहुँच गये, फिर तो 'भानु' कविके साहित्य ग्रंथका पारायण उनका काफ़ी समय लेता रहा।

मनोरंजनके लिए हमने कई तरीक़े अख्तियार किये थे। शायद प्रतिदिन या सप्ताहमें कुछ दिन शामके वक़्त स्नानवाली फ़ाइलके सीमेंटकी गचपर कविसम्मेलन होता। लोग अपनी-अपनी कवितायें सुनाते। बाबा नरसिंहदास तो ब्रजभाषाभाषी ही थे, फिर ब्रजभाषा कविताओंमें वह दिलचस्पी क्यों न लेते। एक दिन हम दोनोंने मिलकर 'फ़ाइल' (File) और 'कारो'पर कवित्तें बनाईं, जिसका कुछ अंश इस प्रकार था--

'फ़ाइलमें बैठि रोटी फ़ाइल भर माँगतु हैं,
फ़ाइल भर भात लाग करत काज कूरो हैं।
कपड़ेको फ़ाइल कुर्त्ते-कम्बलको फ़ाइल होत,
आप फेरि जेलर फ़ाइल देख लेत पूरो है॥

फ़ाइलमें पानी अन्हाइबेको आवतु है,
फाटक फटकारि फ़ाइल बोल देत फूरो है।
भनत नरसिंह फक्त फाइलहिं सम्हारि लेहु,
फ़ाइल बिनु फ़ेल सारे फ़ाइलको अधूरो हैं॥

कारो करीनमें है कुलतार औ कारोइ कम्बल चारि बिछावें।
कोयला कारो औ कारोहि साग, औ कारी कढ़ाईमें डारि सिझावें।
कारोहि खान औ कारोहि पान केवारनमें रंग कारो लगावें।
कारो हि कारागार नृसिंह यो कारोको जन्म-स्थान कहावे ।।

फ़ाइल जेलखानेका बह्वर्थक शब्द है, जिसके पाँती, निर्दिष्ट परिमाण, कायदा आदि कितने ही अर्थ होते हैं।

एक दिन रातको अपने कमरेमें हम लोगोंने पुलीसकी धर-पकड़, और असहयोगियोंके मुक़दमेके फ़ैसलेका अभिनय किया। कुछ मनोरंजन होता देख, दो-चार दिनकी तैयारीके बाद (८ जूनको) भारतेन्दुकी 'अन्धेर नगरी'का अभिनय दिनमें ही किया गया। मैं उसके प्रबन्धकों हीमें न था, बल्कि उसमें मैंने पार्ट भी लिया था। हमारे छपराके मुन्मुन (देवनाथसहाय), और जगदीशपुर (शाहाबाद)के सोमेश्वरसिंहका पार्ट बहुत अच्छा रहा। सोमेश्वरसिंहमें अभिनयकी कुछ स्वाभाविकसी प्रवृत्ति थी, वह कुँअरसिंहके वंशज थे, और रजिस्ट्रार पिताके रोने-कलपनेकी कोई पर्वाह न कर कालेज छोड़ जेलमें पहुँचे थे।

बाबू ब्रजनन्दनशाहीने एम्० ए०से असहयोग किया था। वह वरुराजके पुराने ज़मींदार घरानेसे सम्बन्ध रखते थे। लड़कपनमें ऐसे घरोंमें फ़ारसी पढ़ानेका रवाज बादशाही ज़मानेसे चला आता है, उसीके अनुसार उन्होंने भी फ़ारसी पढ़ी थी। मुझे भी फ़ारसीका शौक़ हुआ, और ब्रजनन्दन बाबूने शेख सादीके गुलिस्ताँके बहुतसे भागको पढ़ाया। बरसातके दिनोंमें बाहरके पक्के चबूतरोंपर काई जम जाती थी। पाखानेके पासके चबूतरेपर वह और भी ज़्यादा थी। उसपर फिसलकर रोज़ ही एक-दो आदमी गिरते थे, और उनका धोती-कुर्ता गन्दा होता, तथा लोग हँसकर निहाल होते। एक दिन ब्रजनन्दन बाबूके ऊपर भी बीती। वह अपेक्षाकृत ज़्यादा मोटे थे, इसलिए लोगोंका मनोरंजन भी ज़्यादा हुआ।

फागुनके महीनेमें फाग गानेका उत्तरी बिहारमें बहुत रवाज हुआ। और इसमें शक नहीं, बहुत जगह गाँवके लोग पागलकी भाँति शिर-हाथ हिलाते गला फाड़नेमें होड़ लगाना ही फाग गाना समझते हैं। तो भी यदि उनका उसीसे मनोरंजन होता है, तो हमें बुरा माननेका क्या हक़ है? हमें नहीं पसन्द है, तो हम शामिल होनेके लिए मज़बूर नहीं किये जाते। एक दिन मुज़फ़्फ़रपुरके कुछ स्वयंसेवकोंको फागुनका गाँव याद आया। उन्होंने 'महरेवा (मैरवा)में हो-ो हो-ो....' शुरू ही किया था, कि पासके चबूतरेपर लेटे एक सज्जनने डाँट दिया।

मुझे यह बात बुरी लगी। उन बेचारोंके लिए मनोरंजनकी सामग्री हमसे भी कम थी, फिर उनको इस साधारण मनोरंजनके तरीक़ेसे भी वंचित रखना क्या कभी उचित कहा जा सकता है ? घोड़ासाहनके निरसूलाल एक साधारण दीहाती कार्यकर्त्ता थे। बाहरसे चीज़ें मँगानेका हमें हक़ था, किन्तु सब तो मँगानेकी सामर्थ्य नहीं रखते थे; इसलिए जेलकी चीज़ोंमें अधिकसे अधिक पानेकी लालसा कितनोंको होती थी। निरसूलालने एक दिन कमी-बेशीकी शिकायत की। मेरे आश्चर्य-की सीमा न रही, जब मैंने देखा, एक सम्भ्रान्त बी० ए० पठित व्यक्तिने गुस्सेमें निरसूके कन्धेमें हाथ डाल ऐसे झटका दिया, कि वह गेंदकी तरह लुढ़कता दस-बारह हाथ तक चला गया। सन्तोष यही हुआ, कि शरीर हलका होनेसे चोट नहीं लगी। मुझे ढके-लनेवाले व्यक्तिकी बुद्धिपर तरस आया।

वहाँ पढ़नेके लिए काफ़ी किताबें थीं, क्योंकि पढ़े-लिखे बहुत थे, और सभी अपने साथ कुछ न कुछ किताबें लाये तथा मँगाते रहते थे। साधारण मनोरंजनके अतिरिक्त मैं अपने समयको पढ़ने-लिखनेमें लगाता था। और जब जमातमें पढ़ने-लिखनेका समय कम मिलते देखा, तो जेलरसे माँगकर (२६ फ़र्वरीको) सेलमें चला गया। उस वक़्त गर्मी आ गई थी, और वार्डके खुले कमरों, तथा जगह-जगह वृक्ष लगे हातेकी अपेक्षा वह सेल बहुत गरम था। उस वक़्त भी पहिननेके लिए मेरे पास वही काले कम्बलकी अलफी थी। गर्मीको मैं तितिक्षाकी चीज़ समझता था। काल्पीमें रहते (१९१८ ई०में) मैंने साम्यवादी समाजको चित्रित करते हुए एक पुस्तक लिखनी चाही थी। उसका ख़ाका जिस नोटबुकमें था, उसे मैंने यागेशको दे दिया था, उनसे वह नोटबुक गुम हो गई। अब फिर वैसी पुस्तक लिखनेकी इच्छा हुई, और संस्कृतमें। इस बेवक़ूफ़ीके लिए आश्चर्य करनेकी ज़रूरत नहीं। आदमीमें ज्ञानसे अज्ञान लाखों-करोड़ों गुना ज़्यादा है। यद्यपि नई बात सीखनेके लिए मेरा दिल हर वक़्त तैयार रहता था, किन्तु सीखनेके साधन हर वक़्त सुलभ तो नहीं रहते। मैं पुस्तकको साम्यवादके प्रचारके लिए लिखना चाहता था, और यह निश्चय ही था, कि संस्कृत-पद्यमें लिखी वैसी पुस्तकका कोई उपयोग न होता। मैंने अब तक साम्य-वादके विषयमें "प्रताप" आदि हिन्दी पत्रोंमें छपे कुछ लेखों—विशेषकर रूसी क्रान्तिके सम्बन्धमें जब तब निकली कुछ पंक्तियोंकी ख़बरों—के सिवाय, एक तरह नहींसा पढ़ा था। 'बोलशेविकी और संसारशान्ति'से क्या ज्ञान प्राप्त किया था, यह भी नहीं कह सकता। किसी 'उटोपिया' (Utopia) का तो नाम तक न सुना था। किन्तु १९१७ ई०के आख़िरमें रूसी क्रान्तिकी ख़बरें मैंने जो "प्रताप"में पढीं और आगे जो

बातें मालूम होती गईं, उनके आधारपर मैंने एक समाज की कल्पना की थी, उसीको मैं इस पुस्तकमें चित्रित करने जा रहा था। ख़्याल आया, आजके समाजसे उस समाज तक पहुँचनेके रास्तेके साथ उसका चित्रण किया जावे। और इसीके अनुसार एक युवा तपस्वी विश्वबन्धुको हिमालयकी ओर भेजा। उसकी आकृति और निस्पृहता मैंने स्वामी रामतीर्थसे ली थी। 'विश्वबन्धुप्रदीप'को छन्दोबद्ध काव्यके रूपमें लिखना शुरू किया, उसके पाँच-छै सर्ग समाप्त भी किये। सन्धिकी गड़बड़ियों और दूसरी त्रुटियोंको दूसरे वक़्त सुधारनेके लिए छोड़ मैं आगे बढ़ता गया। दूसरी जेलयात्रामें संस्कृतकी अव्यवहार्यताका ज्ञान हुआ, और आजके समाजसे साम्यवादी संसारके मिलानेसे ग्रंथ-विस्तारका डर हुआ, इसलिए मैंने उसे 'बाईसवीं सदी'के रुपमें लिखा। 'विश्वबन्धुप्रदीप'की भाँति एक और ग्रंथ 'क़ुरानसार' यहीं संस्कृतमें लिखना आरम्भ किया, जो क़रीब-क़रीब पूरा हो गया था, उसे भी दूसरी जेल-यात्रामें हिन्दीमें किया। तीसरा हिन्दी ग्रंथ वेदान्त-सूत्रोंकी हिन्दी टीका मैंने पढ़ाते वक़्त लिखवाई थी। विन्दा बाबू आदि कई साथी वेदान्तप्रेमी थे, वेदान्त ग्रंथ पढ़ना चाहते थे। मैंने कहा, तो उपनिषद् और वेदान्तसूत्रों[1] हीको क्यों न पढ़ो, पढ़ाते वक़्त हिन्दीमें टीका लिखवाता गया——यह टीका लिखनेवालोंके पास रही। बक्सर जेलमें संक्षेपमें लिखने-पढ़नेका कार्यक्रम मेरा इतना ही रहा।

हम लोग राजनीतिक क़ैदी थे, किन्तु जेलमें हममेंसे अधिकांशकी जो दिनचर्या थी, उससे मालूम नहीं होता था, कि वे राजनीतिमें ज़्यादा दिलचस्पी रखते हैं। दंड-कसरत, कबड्डी खेलना स्वास्थ्यके लिए अच्छा है, और इनमें बूढ़े भी यदि लड़के बनते थे, तो यह स्वास्थ्यके लिए बड़ी अच्छी चीज़ थी; किन्तु अधिकांश शिक्षित लोगोंका पूजा-पाठ और धार्मिक ग्रन्थोंके अध्ययनमें लगाना, यह बतलाता था, कि हमारे साथी राजनीतिको कितनी हल्की दृष्टिसे देख रहे थे। वे शायद समझते थे, कि स्वराज तो आ ही जायेगा, फिर इस लोककी चिन्ता समाप्त हो जावेगी, इसलिए हम परलोकके लिए भी कुछ संबल क्यों न तैयार कर लें। गोपालगंजके बाबू महेन्द्रसिंहका हाथ सदा (माला रखनेकी) गोमुखीमें रहता था। वह समझते थे, कि हम हनुमत्-निवास (अयोध्या)के गुरुद्वारे हीमें चले आये हैं। बा० जगतनारायणलाल अभी नौजवान थे और अर्थशास्त्रके अध्यापक रह चुके थे, वह रामतीर्थ और रामकृष्ण परम-हंस बनना चाहते थे। मौलाना शफ़ी दाऊदी क़ुरानकी तलावत (पाठ) और नमाजके

---

[1] उपनिषद् आरम्भ, २० जून, वेदान्त-सूत्र आरम्भ, १० जूलाई।

बड़े पाबन्द हो गये थे। कुछ रात रहते ही, जब कि सभी लोग ख़ूब मीठी नींद सोते रहते, मौलाना वहाब अपनी दूरगामिनी आवाज़में अज़ान देते 'अस्सलातो ख़ैरुन् मिनन्नौम्' (नमाज़ नींदसे अच्छी है); यह बात सोनेवाले ही बतला सकते थे; लेकिन अल्लाके भय और दुनियाके संकोचसे कितनोंको अनिच्छुक होते भी उस सबेरेकी कड़वी नमाज़में शामिल होना पड़ता। राजनीतिक साहित्यके अध्ययनकी ओर दिलचस्पी रखनेवाला तो वहाँ मुझे कोई नहीं दीख पड़ता था।

जेल-अधिकारियोंसे एकाध बार खटपट भी हुई। गांधी-टोपी ग़ैरक़ानूनी थी, जहाँ तक जेलके भीतरका सम्बन्ध था। २४ मईको बिहारके जेलोंके इन्स्पेक्टर-जेनरल कर्नल बनातवाला जेलके मुआयनेके लिए आये। जेलके अधिकारियोंने हमारे साथियोंकी गांधीटोपी छीन लीं। जिस वक़्त बनातवाला आये, लोगोंने अँगोछे फ़ाड़-फ़ाड़कर बिना सिली गांधीटोपियाँ बना उन्हें लगा लीं और शायद उनके सामने हम लोग खड़े भी न हुए। बनातवालाने एक लेक्चर दिया, इन्स्पेक्टर-जेनरल हो जानेसे, सर्कारके इतने वर्षोंके नमकख्वार होनेसे उन्हें अधिकार हो गया था, कि हमें सच्ची राजनीतिका रास्ता बतलावें। मुझे तो वह आदमी बिल्कुल ही रद्दीसा जँचा। भारतीय होते हुए, उसे अपनी बेबसीको देखते ज़बानको रोककर बोलना चाहिये था, किन्तु वह 'एकां लज्जां परित्यज्य त्रैलोक्यविजयी भवेत्'का नाट्य कर रहा था।

चम्पारन ज़िलाके एक मलंग (कबीरपंथी मुसल्मान साधु कविलास) उसी जुर्ममें क़ैद हुए थे। किन्तु दूसरे स्वयंसेवकोंके साथसे उन्हें अलग रखा गया था। वहाँ भी खटपट हुई। मलंगको खड़ी हथकड़ी (छै फ़ीट ऊपर टँगी हथकड़ीमें दोनों हाथोंको बाँध खड़ा रहना)की सज़ा हुई। और बढ़ते-बढ़ते मामला यहाँ तक पहुँचा कि उन-पर ख़ूब मार पड़ी। हम लोगोंको ख़बर मालूम हो गई। मौलाना मज़हरुल्हक़ने पटनासे अपना दैनिक "मदरलैंड" निकाला था। हमारे साथियोंमेंसे कोई छूटकर गया। उसने हक़साहेबसे कहा, और सारी खबर "मदरलैंड"में निकल गई। बड़ा तहल्का मँचा। "मदरलैंड"पर मुक़दमा चलाया गया, और हक़ साहेबको सज़ा हुई। लेकिन साथ ही, अस्थायी जेलर सन्तोषकुमारकी भी बदनामी हुई। उसके बाद तो उनका भविष्य ही ख़तम हो गया। कहाँ वह प्रथम श्रेणीके जेलर हो रहे थे, और कहाँ तीसरी या सबसे निचली श्रेणीमें कर दिये गये। सन्तोष बाबूका मिज़ाज कड़ा था, क़ैदियोंके साथ जैसा वर्ताव जेलोंमें बर्ता जाता है, उससे किसी जेल-अधिकारीकी मनोवृत्ति प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकती। सन्तोष बाबूको पीछे हज़ारीबाग़में भी मुझे देखनेको मौक़ा मिला। उनकी अबकी अवस्था देखकर मेरी सहानुभूति उनकी ओर थी।

जेल-चोरोंको भलेमानुष बनानेके लिए बना बतलाया जाता है, यदि वह नहीं तो कमसे कम जेलके कर्मचारियोंको तो चोरोंसे बेहतर होना चाहिए; किन्तु यहाँके छोटे-बड़े कर्मचारी सभी चोर थे। क़ैदियोंके खानेकी चीज़ोंके साथ उनका वैसा ही बर्ताव था, जैसा राजा लोगोंके पालतू पशुओंके साथ उनके नौकरोंका। तर्कारीमेंसे अच्छी-अच्छी चीज़ सुपरिंटेंडेंटके पास डालीमें, जेलर, असिस्टेंट जेलर, डाक्टर, जमादार और मिल सका तो सिपाहीके पास भी पहुँचती थी, फिर क़ैदियोंको क्यों न बालू मिला आटा, कंकड़-छिलका मिली दाल-चावल, सागकी जगह लकड़ी-घास मिले। बक्सरमें एक बूढ़े डाक्टर थे। अस्पतालकी चीज़ोंको वह अपनी समझते थे। मरीज़ोंके लिए आई एक मुर्ग़ीको पाकेटमें लिये वह बाहर जा रहे थे। फाटकपर पहुँचे, तो सुपरिंटेंडेंट आ गया। बात करनेके लिये ठहरना पड़ा, उसी वक़्त मुर्ग़ीने पाकटके भीतरसे कुड़-कुड़ किया। सुपरिंटेंडेंटने मज़ाक़ करते हुए कहा—'डाक्टर बाबूके पाकटमें मुर्ग़ी बोलती है।'

१० अगस्तको पूरे छै महीनेकी सज़ा भुगतकर मैं और नारायण बाबू साथ ही छूटे।

५

जिला-कांग्रेसका मंत्री (१९२२ ई०)

छपरामें आनेपर देखा चारों ओर शिथिलता है। इसका अनुमान हमें जेलके भीतर हीसे था, जब सुना, कि चौरीचौराकांडके बहानेसे गांधीजीने बारडोलीमें सत्याग्रह स्थगित कर दिया। इतने बड़े देशमें कहीं भी कोई—पक्षी या विपक्षी भी—यदि हिंसा कर बैठे, तो सत्याग्रह बन्द कर दिया जावेगा, इस शर्तपर क्या कभी सत्याग्रह हो सकता है? दूसरे ज़िलोंकी भाँति सारन (छपरा) ज़िलेपर भी सत्याग्रह स्थगित होनेका बुरा प्रभाव पड़ा। अब लोग किसके लिए तैयारी करें। गांधीजी जेलके भीतर जाते वक़्त कह गये—चर्खा-करघा चलाओ, मादक द्रव्य सेवन बन्द करो, पंचायतोंसे फ़ैसला करवाओ, सर्कारी शिक्षण-संस्थाओंका बायकाट करो। इन सबको सर्कारके साथ मोर्चा लेनेकी तैयारी समझकर लोगोंने बहुत कुछ किया था, किन्तु अब तो उस मोर्चेकी आशा भी न थी, गांधीजी जेलमें चले गये थे, फिर लोगोंका उस प्रोग्राम-

पर मन क्यों लगे ? लेकिन राजनीतिक स्वतन्त्रता हमारा स्थायी ध्येय था, हम गांधीजीके चले जानेपर भी उसे छोड़ नहीं सकते थे, इस ध्येयके लिए संघर्ष करना अनिवार्य था। संघर्ष जनजागृति तथा संगठन बिना हो नहीं सकता था, इसलिए हमने उधर ध्यान दिया। जेलसे आते ही उसी बरसातमें बाबू माधवसिंह और मेरा प्रोग्राम कुआड़ी पर्गने (मीरगंज, भोरे, कटया, कुचायकोटके थानों)के लिए बना। मीरगंज, भोरे खतम कर हम (७ सितम्बरको) कटयाकी ओर चले। हम दोनोंको दफ़ा १४४ के अनुसार भाषण-निषेधकी आज्ञा निकली है, यह हमें मालूम हो गया था। हमने तै किया था, कि नोटिस मिलनेसे पहिले लोगोंको कुछ कह दें। नोटिसकी अवहेलना हम अभी नहीं करना चाहते थे। उपस्थित जनताको लिये-दिये कटयासे पूरब एक तालाबके भिंडेपर पहुँचे, और जो कहना था उसे संक्षेपमें कह चुके, तो थानेके सब-इन्स्पेक्टर नन्दी पहुँचे। उन्होंने नोटिस तामील की। नंदीने पंचायत, मादकद्रव्य-निषेध, खद्दरके पक्षमें एक छोटीसी तक़रीर की, यह कहते हुए कि सर्कार इसका कहाँ विरोध करती है ? आप इन्हें कीजिये न। दारोग़ा नन्दी उन पुलीसके नौकरोंमें थे, जिनपर काजलकी कोठरीमें भी कालिख नहीं लगता। पुलीसमें रहकर रिश्वतसे बच जाये, यह नामुमकिनसी बात है, किन्तु नन्दीने इस नामुमकिन बातको मुमकिन कर दिया था। भोरे, कटयाके थाने गोरखपुर ज़िलेके सर्हदपर पड़ते हैं। ज़िलेके पुलीस हेड-क्वार्टरकी रिपोर्टोंको देखेंगे तो मालूम होगा, कि येही इस ज़िलेके सबसे ज़्यादा चोर-बदमाश थाने हैं। यहाँ जो कोई नया दारोग़ा आता, वह इसकी पुष्टि करता, और दस-बीस नये दफ़ा ११०वाले बना जाता। इसका परिणाम और दूसरा तो देखा नहीं गया, सिवाय इसके कि ज़िला-पुलीसका हर एक सब-इन्स्पेक्टर इन दोनों थानोंमें जानेके लिए उत्सुक रहता। जिसे कटया या भोरेकी थानेदारी मिल गई, उसके भाग खुले समझिये। दो-तीन सालमें दस-बीस हज़ार जमा करके रख देना उसके लिए बिल्कुल आसान काम था। ऐसे थानेमें इतने बड़े आकर्षणके बीच रहते रिश्वत न लेनेकी प्रतिज्ञा कितनी मुश्किल है, इसे आसानीसे समझा जा सकता है; और नन्दीने अपनी प्रतिज्ञाको पूरी तौरसे निबाहा। इसीलिए सब तरहसे योग्य होते हुए भी, नन्दी कोर्ट-सबइन्स्पेक्टरसे ऊपर नहीं बढ़ सके। यदि प्रथम श्रेणीकी प्रतिभाके साथ वह प्रथम श्रेणीके रिश्वतखोर और बेईमान होते, तो डिप्टी सुपरिंटेंडेंट नहीं सुपरिंटेंडेंट होकर पेंशनर बनते।

नये चुनावमें २९ अक्तूबरको छपरामें मैं ज़िला-कांग्रेसका मन्त्री चुना गया, मुझे कुछ कहनेका भी अवसर न दिया गया। सवा साल पहिले जब मेरी चिट्ठी

दक्षिणसे आई, तथा मैं स्वयं कांग्रेस आफ़िसमें पहुँचा, तो उस वक़्त किसीको गुमान भी नहीं हो सकता था, कि यह बुद्धूसा साधु थानेका भी प्रमुख कार्यकर्त्ता हो सकता है, किन्तु अब लोगोंने मन्त्री बनाया। किन्तु, मैंने मन्त्रित्व इसीलिए स्वीकार किया, कि ज़िलाकांग्रेस कमीटीको मज़बूत करनेके लिए पूरे परिश्रमकी ज़रूरत थी। ज़िला कांग्रेस कमीटीके पास आफ़िसके पत्रव्यवहारके लिए भी पैसे नहीं रह गये थे। भाड़ा न दे सकनेके कारण मकान छोड़ दिया गया था, और कांग्रेस आफ़िस राष्ट्रीय बनाये किन्तु अब बन्द कालेजियट स्कूलके मकानमें चला आया था। मैंने ख़ूब घूमना शुरू किया। सिसवन और एकमाका संगठन मज़बूत था और कार्यकर्त्ता कार्यपरायण थे। भोरेकी हालत अच्छी थी। कुचायकोटके मन्त्री चले गये थे, और वहाँके लिए मैंने रुद्रनारायण––मेट्रिक छोड़कर चले आये––एक उत्साही तरुणको रेवतिथसे भेजा। महाराजगंजमें महेन्द्रनाथसिंह––कालेजके असहयोगी विद्यार्थी––को और मशरखमें भी एक तरुणको भेजा। इसी तरह कुछ थानोंमें नये कार्यकर्त्ताओंके जानेसे जनतामें स्फूर्ति आने लगी। वास्तविक अवस्था यह थी, कि कितनी ही जगहोंपर लोग तैयार थे, किन्तु वहाँ मार्ग-दर्शक कार्यकर्त्ता मौजूद न थे, और कितने कार्यकर्त्ता काम करनेके लिए तैयार थे, किन्तु उनके लिए उपयुक्त कार्यक्षेत्र और परामर्शदाता मौजूद न थे। मैंने इसका ध्यान रखते हुए काम शुरू किया, और उसका फल दिखलाई पड़ने लगा। ज़िला कांग्रेसके पास पैसे आने लगे। गाँवोंमें सभायें होने लगीं, सब नहीं किन्तु बहुतसे थानोंमें फिरसे जागृति हो गई, जिनमें क्वाड़ीके चार थाने, तथा बरौली, एकमा, सिसवन, महाराजगंज प्रमुख थे।

अबके साल कांग्रेस गयामें होनेवाली थी। १६ दिसम्बरको मैंने प्रान्तीय कांग्रेस कमीटीमें प्रस्ताव रक्खा––बोधगयाका महाबोधि मन्दिर बौद्धोंका है, और उन्हें मिलना चाहिए। बहुत बहसके बाद गयाकी बैठकमें प्रान्तीय कांग्रेसने प्रस्तावको स्वीकार करके गया कांग्रेसके पास भेजना मंजूर किया। बौद्धधर्मके साथ मेरी सहानुभूति एक क़दम और आगे बढ़ी।

गयाकांग्रेसके लिए ख़ूब धूमधामसे तैयारी होने लगी। मथुरा बाबू, गोरखनाथ त्रिवेदी, हरिनन्दनसहाय आदि हमारे ज़िलेके कितने ही प्रमुख कर्मी स्वागतकारिणीके काममें योग देनेके लिये गया चले गये। जिलेमें कांग्रेसके कामको आगे बढ़ाना बाक़ी लोगोंके ऊपर था।

गांधीजीके सत्याग्रहके स्थगित करके जेल चले जानेपर जो शिथिलता आई, उससे कांग्रेसमें दो दल हो गये। अपनेको गांधीजीका पक्का अनुयायी कहनेवाले

अपरिवर्तनवादी लोग कह रहे थे—"महात्माजीने जो रचनात्मक कार्यक्रम हमारे सामने रखा है, उसीको हमें करते हुए महात्माजीके आनेकी प्रतीक्षा करनी चाहिए।" इस दलके नेता श्री राजगोपालाचारी थे, जिन्हें गया कांग्रेसमें डिपुटी-महात्माकी पदवी मिली थी। दूसरा दल परिस्थितिके अनुसार प्रोग्राममें परिवर्तन चाहता था, और कहता था,—"यदि हम बाहरसे संघर्ष नहीं कर सकते, तो नये सुधारोंके अनुसार स्थापित एसंबली और कौंसिलोंपर हमें अधिकार करना चाहिए, और गवर्नमेंटके काममें बाधा तथा जनताको अपने पक्षमें जागृत करना चाहिए। हम छै वर्ष तक महात्माजीके बाहर आनेकी प्रतीक्षामें चुपचाप नहीं बैठे रह सकते।" इस परिवर्तन-वादी दल या स्वराज पार्टीके नेता थे, पंडित मोतीलाल नेहरू, विट्ठलभाई पटेल और देशबन्धु चित्तरंजनदास। देशबन्धु दास ही गया-कांग्रेसके प्रेसीडेंट चुने गये थे। गया कांग्रेसमें दोनों दलोंके संघर्षके पूर्वलक्षण दिखलाई दे रहे थे। सारन ज़िलेमें मैं और नारायण बाबू परिवर्तनवादी पक्षके समर्थक थे। नारायण बाबू तो तिलकवादसे प्रभावित हो वैसा कर रहे थे, किन्तु मैं तिलकवादी नहीं था। मुझे यदि कोई वाद पसन्द था, तो वह साम्यवाद, किन्तु अभी तक मुझे उसका बिल्कुल अस्पष्टसा ज्ञान था।

आर्यसमाजके प्रभावमें आते ही छुआछूत और जातपाँतका मैं विरोधी हो गया था। यद्यपि मैं अब रामउदार बाबाके तौरपर वैष्णव साधु समझा जाता था, किन्तु परसासे एकमा हेडक्वार्टर बदलते ही मैंने खानेकी छुआछूत छोड़ दी थी। परसा मठवाले वैष्णव ब्राह्मणके हाथकी भी कच्ची रसोई नहीं खाते, मुझे इस तरह करते देख महन्त-जीको बुरा लगा। और लोगोंने तो 'परमहंस हैं' कहकर व्याख्या कर डाली। आश्रममें, यह देखकर मुझे प्रसन्नता होती थी, सभी जातिके लोग—मुसल्मान तक—एक पाँतमें खाते, यद्यपि एक दूसरेका छुआ खानेवाले बहुत कम हैं।

सोनपुर मेलेमें पिछले साल तो वेल्स राजकुमारके स्वागत-विरोधमें हम लोगोंने काफ़ी प्रदर्शन किया था। स्वयंसेवकोंका भारी जलूस निकाला था। अबके मेलेमें एक दूसरी ही चहल-पहल रही। कराँचीमें महम्मदअली शौकतअलीके साथ शंकरा-चार्य स्वामी भारतीकृष्णतीर्थपर भी मुक़दमा चला था, और उस समय राजनीतिमें भाग लेनेवाले धार्मिक नेताओंमें उनका नाम भी प्रसिद्ध हो गया था। अबकी बार वह हरिहरक्षेत्र (सोनपुर)के मेलेमें आये। ज़रीका छत्र, स्वर्ण-जटित रुद्राक्ष माला, चाँदीका खड़ाऊँ, और चाँदी-सोनेकी कितनी ही और चीज़ोंके साथ कितने ही शिष्य और सेवक उनके पास थे। सेकंड क्लाससे उतरनेपर उनका ज़बर्दस्त स्वागत किया

गया। ३ नवम्बर (१९२२)को खूब अच्छी अंग्रेज़ीमें उनका घंटेभर राजनीतिक व्याख्यान हुआ। लोगोंपर भारी असर पड़ा। उनके आनेसे पहिले ही एक महाराष्ट्र ब्राह्मण बढेजी गोरक्षाका भार लेकर सोनपूरमें पहुँचे हुए थे। खिलाफ़तके आन्दोलनमें हिन्दुओंके शरीक होनेसे हिन्दू-मुस्लिम सम्बन्ध बहुत अच्छा हो गया था, इसलिए यह गोरक्षा ज़्यादातर दानापुरके गोरोंके लिए खरीदी जानेवाली गायोंके खिलाफ़ थी। महुरापारके बाग़में बढेजीने गोबर्धनाश्रम खोला। कलकत्तासे एक दो अच्छी जातिके साँड़ मँगवाये। शंकराचार्य भी उसमें आनेवाले थे, इसलिए गोबर्धनाश्रममें बड़ी तैयारी हुई। ज़िलाके हम सभी राष्ट्रकर्मियोंने इसमें भाग लिया। मैं और बाबू हरिनन्दनसहाय एक दिन बिहार-सर्कारके एक मन्त्री बाबू मधुसूदनदासके पास गोरक्षाका डेपुटेशन लेकर गये। वे बहुत भद्रतासे हमें मिले, और गोरक्षापर बात-चीत करते रहे। उनका कहना था, गोरक्षाका अस्ली मतलब अन्धी-लूली गायोंको जमा करना नहीं बल्कि बेहतर नसलकी वृद्धि करना होना चाहिए। हम लोग इससे सहमत थे, किन्तु सभी गोरक्षावादी उससे सहमत थोड़े ही होते।

गोबर्धनाश्रममें स्वयंसेवकों और कार्यकर्त्ताओंके लिए जो भोजनालय बना था, उसमें छुआछूत हटानेका हमने प्रयत्न किया। रसोईके प्रबन्धक कई जातियोंके लोग थे, जिनमें धर्मपरसाके एक ब्राह्मण तरुण भी थे, किन्तु किसीके पूछनेपर हम उन्हें श्रीवास्तव ब्राह्मण कहते। लोग अकचका जाते; जब श्रीवास्तव (कायस्थ) ब्राह्मणका नाम सुनते, किन्तु भोजनालयका बायकाट करनेवाले हमें कोई दिखलाई नहीं पड़े। शंकराचार्यका ठाट शाहाना था, पद और प्रतिष्ठाके कम होनेके डरसे वह और दूसरा कर ही क्या सकते थे?

सोनपुरके भोजनालयके तजर्बेसे मैंने सोचा, छुआछूत हटानेके लिए होटलकी बड़ी ज़रूरत है। माँझीके सभापतिसिंहको सलाह दी, कि अबकी बार गया में तुम्हारा 'सुदामा भोजनालय' चले। सभापतिसिंह एक असाधारण तरुण था। असहयोगसे पहिलेकी बात है। उस वक़्त छपरामें एक गोरा पुलीस इन्स्पेक्टर आया था। उसका दिमाग़ बहुत चढ़ा हुआ था, सामनेसे आते जिसको नहीं तिसको ठोकर लगा देता। सभापति उस वक़्त हाई स्कूलका विद्यार्थी था। वह अपने बड़े भाईकी तरह पहलवान तो नहीं था, किन्तु उसका बदन अच्छा मज़बूत गठीला था। उससे इन्स्पेक्टरका यह अत्याचार देखा नहीं गया। बरसातके दिन थे। एक दिन इन्स्पेक्टर साइकलसे आ रहा था, सभापति उसके सामने चल रहा था। इन्स्पेक्टरने गाली निकाली। सभापतिने भी डाँटा, और वहीं साइकलसे गिरा उसे पीटना शुरू किया। उसकी

साइकल तोड़कर पानी भरी ख़ंदक़में फेंक दी, और उसे मारते-मारते बेहोश कर छोड़ दिया। उस वक़्त गोरेका मारना स्वयं इंग्लेंडके सम्राट्पर हाथ छोड़ना था। सभापति भाग गया, और किसीके परामर्शपर चम्पारनमें जाँच करते महात्मा गांधीके पास पहुँचा। मुक़दमामें कुछ हुआ-होवाया नहीं। सभापतिने अब दुष्टोंके दलनके लिए छपरामें एक "रपटपार्टी" क़ायम की। इस पार्टीमें सिर्फ़ हट्टे-कट्टे तरुण भर्ती होते थे, जिनमेंसे कुछका नाम किसी हाई-स्कूलके रजिस्टरमें भी होता। पैसेके लिए सन्देश जानेपर छपराका कोई धनी 'रपटपार्टीको' 'नहीं' नहीं कर सकता था। ऐसे अत्याचारियों और अन्यायियोंको दंड देना पार्टीका काम था, जो सर्कारके क़ानूनसे बचकर निकल जाया करते थे। "रपटपार्टी"के पास अपना भोजनालय और अपना विश्रामगृह था, जहाँ पार्टीके मेम्बर पड़े रहा करते। उसकी इतनी धाक थी कि पुलीसको "रपटपार्टी"से छेड़खानीकी हिम्मत नहीं होती थी। रपटपार्टीका कृष्णपक्ष नहीं था यह बात नहीं। असहयोग और गांधीयुगके प्रारम्भके समय पार्टीके संस्थापक और नेता सभापतिपर प्रभाव पड़ा, और उन्होंने पार्टीको तोड़ दिया, और वह स्वयं भी राष्ट्रीय कार्यमें लग गये, किन्तु उनको वह काम कभी नहीं मिला, जिसके कि वे योग्य थे। वह जो किसी सेनाका निडर संचालक बनता, आज एक दीहाती पाठ-शालेका अध्यापक है। ख़ैर बाबू सभापतिसिंहका 'सुदामा भोजनालय' गया-कांग्रेसमें गया। बाबू माधवसिंहने अपने रसोइयेको वहाँ भोजन बनानेके लिए दिया था, और तजर्बेसे देखा गया कि समाज-सुधारके साथ भोज़नालय घाटेका सौदा नहीं। मैंने सभापतिसे इस भोजनालयको प्रतिवर्ष सोनपुर मेलेमें ले जानेके लिए कहा था; और अगले साल—जब कि मैं जेलमें था—वह वहाँ गया भी था। छपरा ज़िलेमें वह पहिला हिन्दू-भोजनालय था। इसी साल सोनपुरमें हमने एक बिहार-प्रान्तीय किसान-सभा क़ायम की।

गया कांग्रेसमें दो बातोंमें मेरी दिलचस्पी थी, एक स्वराजपार्टीका प्रचार और दूसरी बोधगया मन्दिरको बौद्धोंके देनेके बारेमें कांग्रेसका स्वीकार। पहिलेके लिए मैंने भी बिहार प्रान्तके केम्पमें काफ़ी काम किया, व्याख्यान दिये, दूसरे बड़े नेताओंके व्या-ख्यान तो होते ही रहते थे। बोधगया मन्दिरके बारेमें तो मेरा ही प्रस्ताव था, इसलिए उसके बारेमें ख़ूब प्रचार करना मेरा आवश्यक कर्त्तव्य था। प्रान्तीय कांग्रेस कमीटीसे प्रस्तावकी मंजूरी कराते वक़्त मैंने कुछ बौद्ध-भिक्षुओंको बुलाया था। उनके पालीके व्याख्यानोंका अनुवाद मुझे ही करना पड़ा था। कांग्रेसके समय महाबोधि सभाके संस्थापक अनागरिक धर्मपालने भिक्षु श्रीनिवासके अतिरिक्त भिक्षु धर्मपालको भी

भेजा था, वर्माके भी कई भिक्षु आये थे। आर्यसमाजके पंडालमें इस विषयमें एक बड़ी सभा हुई, जिसमें मेरे और कई अन्य बौद्ध तथा हिन्दू साधुओंके व्याख्यान हुए थे। पाली, अंग्रेज़ी, संस्कृतके कितने ही व्याख्यानोंके अनुवाद करनेका भार मुझपर पड़ा, जिसे देखकर लोगोंने मुझे 'अनन्तभाषाज्ञ' बना डाला।

एक दिन ब्रजकिशोर बाबू और राजेन्द्र बाबू सभापति देशबन्धु दासके निवासस्थानसे लौटकर आये। उन्होंने ज़ोर देकर कहा—हमने दास साहेबसे आपके बोधगयाके प्रस्तावके बारेमें कहा है, आपके विषयमें भी कह आये हैं, इसलिए उनसे जाकर मिलिये। कहीं ऐसा न हो कि परिवर्तनवाद-अपरिवर्तनवादके झगड़ेमें यह प्रस्ताव ऐसे ही खटाईमें पड़ा रहे।

२२ दिसम्बरको मैं उस बँगलेमें गया, जहाँ दास साहेब ठहरे हुए थे। सूचना देनेपर बैठनेका हुक्म हुआ। बाहर बरांडेमें बैठ गया। आध घंटे बाद फिर सूचना दी, फिर बैठनेका हुक्म। तीस-चालीस मिनट बाद फिर सूचना दी, फिर बैठनेका हुक्म। भीतर कितने ही स्त्री-पुरुष बैठे हाहा-हीही कर रहे थे, और 'कार्यमें व्यस्त'का बहाना करके मुझे बैठनेकी आज्ञा होती रही। मैं जल-भुनकर ख़ाक हो गया, और वहाँसे सीधा चला आया।

२२ दिसम्बर १९२२की डायरीमें मैंने लिखा—"ब्रजकिशोरप्रेषितोऽगच्छं चित्तरंजनदासमहाशयसमीपे। महता कृच्छ्रेण पद्मचामगच्छम्, किन्तु, हन्त ! धनिकसम्प्रदाय एव दोषी न काचिद् व्यक्तिः। चिरमतिष्ठम्। पश्चात् 'न समय' इत्युक्तम्। ...धनिकेषु श्रेष्ठानामियं दशा। मनस्यतीवानुतापः। कथं स्वसिद्धान्तमुज्झित्य तत्रागच्छम्। ....आढ्यसम्प्रदाय एवातीव हानिकरः येन चितरंजनसदृशो जना अपि तथा कर्तुं समर्था भवन्ति। कदापि न अनिर्धनः अश्रमजीवी वा श्रमजीविनां पक्षं ग्रहीतुं समर्थः। बहुधा तत्र वञ्चनैव स्यात्।" बड़े आदमियोंसे अलग रहना, तथा दूसरोंके दिलकी ओर भी ख़्याल करनेकी मुझे इस घटनासे बड़ी शिक्षा हुई, और एक तरह बड़े आदमियोंसे हमेशाके लिए घृणा हो गई।

गया कांग्रेसमें परिवर्तनवाद और अपरिवर्तनवादका झगड़ा ज़ोरोंसे रहा, इसलिए बोधगया मन्दिरका प्रस्ताव आने ही नहीं पाया। उस सम्बन्धमें मुझे जो बौद्ध भिक्षुओंके साथ काम करनेका मौक़ा मिला, उससे मैंने अपनेको बौद्ध धर्मके और नज़दीक पाया।

२० जनवरी (१९२३ ई०)में ज़िला कांग्रेस कमीटीकी बैठक जलालपुर (स्टेशन)-में होनेवाली थी। गया कांग्रेसके बाद परिवर्तनवादी होनेसे मैं ज़िला कांग्रेस कमीटीके

मन्त्रित्वसे इस्तीफ़ा देनेवाला था, किन्तु काम तो मुझे वैसे ही करना था। कुआड़ीके चार थानोंके संगठनमें कुछ प्रगति हुई थी। रुद्रनारायणने कुचायकोटमें खूब काम किया था, और उन्हींके उत्साहसे ज़िला सभाकी बैठक जलालपुरमें बुलाई गई थी। १३ जनवरीको अभी कुछ समय था, इसलिए मैंने मकर-सक्रान्तिको त्रिवेणी (नेपाल) चला गया। गोरखपुर ज़िले के सिसवा स्टेशनसे उतरकर कुछ दूर बैलगाड़ीपर जा हम—मेरे साथी दर्पनारायण और मैं—पैदल त्रिवेणी पहुँचे। त्रिवेणी गंगाद्वार (हरिद्वार)की भाँति गंडकद्वार है। गंडक यहीं पहाड़ोंसे नीचे उतरती है। रास्तेमें तराईके जंगल बहुतसे कटकर आबाद हो गये हैं। त्रिवेणीमें चारों ओर जंगल है। इसी जंगलमें, तथा गंडकके दोनों तटोंपर मेला लगता है, जिसमें गोरखपुर चम्पारनके ज़िलों तथा नेपालके पहाड़ोंके बहुतसे नरनारी आते हैं। मेलेका प्रधान भाग गंडकके दाहिने तटपर रहता है। बायें तटपर एक छोटीसी पहाड़ी नदी आकर मिलती है। जिसके कारण इसे त्रिवेणी (त्रिधारा) कहते हैं। छोटी नदी नेपाल और ब्रिटिश सीमाको अलग करती है, और ब्रिटिश सीमाके भीतरकी सारी भूमि बेतिया-राजकी ज़मींदारी है।

मेलेमें बेंचनेके लिए आई चीज़ोंमें नेपाली नारंगी और केले बहुत मीठे और सस्ते थे। नेपाली टाँघन, कम्बल, खुकड़ी तथा कुछ और चीजें बिक रही थीं। गंडकका पानी यहाँ बहुत स्वच्छ और नीला था। मैं किनारे-किनारे दो-तीन मील तक ऊपरकी ओर गया, किन्तु मुझे तो जलालपुर लौटना था, इसलिए बहुत आगे कैसे बढ़ सकता था। बायें तटपर बेतियाके जंगलमें कई मील तक गया। एक-दो साधुओंके स्थान मिले, और घोर जंगलमें होनेके कारण मुझे बड़े आकर्षक मालूम हुए। एक पुराने मन्दिरमें बेतियाके किसी पुराने महाराजाका शिलालेख देखा।

लौटते वक़्त पैदल चलकर स्टेशन आनेकी जगह हमने नावसे बगहा तक आना पसन्द किया। नीचेका माल लेकर बहुतसी नावें त्रिवेणी पहुँची थीं। सस्तेमें ही हमें जगह मिल गई। (१७ जनवरीको) दोपहर बाद हमारी नाव रवाना हुई। हम गंडककी तेज़ धारसे नीचेकी ओर जा रहे थे, इसलिए मल्लाहोंको बहुत मेहनत करना नहीं था; हाँ, जहाँ भेड़िया (उठती लहरें) लग रही थीं, वहाँ उन्हें नावको सावधानीसे बढ़ाना पड़ता था। त्रिवेणीसे थोड़े ही नीचे बाईं तरफ़से बेतियाकी नहर निकली थी; इस पानीका सुन्दर उपयोग हो रहा था। उधर मेलेकी जगह मैंने एक उजड़ा हुआ लकड़ी चीरनेका कारखाना और उसकी परित्यक्त मशीनें देखीं जिन्हें काफ़ी रुपया लगाकर किसी समय नेपाल-सर्कारने खड़ा किया होगा।

रातको नदी-तटपर बालूकी रेतीमें हम लोग उतरे। वहीं किसी कँवरथू (महादेवके ऊपर चढ़ानेके लिए गंगाजल भरकर काँवरमें लानेवाले)ने हमारे लिए भी खाना बना दिया। तराईका जंगल बहुत दूर नहीं था, किन्तु दो तीन नावोंके आदमियों तथा जलती आगके सामने हमला करना होशियार बाघका काम न था--रेतीमें ऊपरसे बहकर आये सूखे वृक्षों और लकड़ियोंकी कमी न थी। शायद दूसरे या तीसरे दिन हम बगहा पहुँचे। यात्रा बड़ी मनोरंजक रही। कभी हम आसपासके तटोंपर लहराते खेतोंको देखते, कभी रेतीमें धूप लेते नाकों और घड़ियालोंको सोया देखते। कँवरथू लोग पुराने-पुराने गीत शंकर और भैरवलालकी प्रशंसामें गा रहे थे। जाड़ोंका दिन था, इसलिए धूप असह्य न मालूम होती थी।

बगहासे रेल पकड़कर (१९ जनवरीको) हम जलालपुर चले आये। ज़िला-कांग्रेस-कमीटीकी बैठकके साथ एक जलूस और बड़ी सार्वजनिक सभाका प्रबन्ध किया गया था। जलूसमें पच्चीस-तीस हाथी और भारी जनता शामिल थी। सभा भी शानदार हुई। ज़िलेके कोने-कोनेसे आये सदस्योंका बड़ी अच्छी तरह स्वागत हुआ। कुआड़ीके लिए विशेष अपनपौ रखनेके कारण मुझे इस सफलतापर प्रसन्नता होनी ही चाहिये थी। ज़िला सभामें परिवर्तनवादी होनेके कारण मैंने इस्तीफ़ा दे दिया, पहिले लोग मंज़ूर करनेको तैयार नहीं थे, मगर ज़ोर देकर मैंने इस्तीफ़ा मंज़ूर कराया।

२६ जनवरीको प्रान्तीय कांग्रेस कमीटीकी बैठकमें मैं भी पटना गया था। उस वक़्त प्रान्तीय कांग्रेसका आफ़िस गुलाबबाग़में था। बैठकके बाद एक सार्वजनिक सभा हुई, जिसमें राजेन्द्र बाबू और दूसरे नेता बोले, मुझे भी कुछ बोलनेके लिए कहा गया। हाल हीमें चौरीचौराके मामलेको लेकर कितने ही राष्ट्रीय कर्मियोंको फाँसीकी सज़ा सुनाई गई थी। मुझे अपने व्याख्यानकी बातें याद नहीं; किन्तु उस वक़्त एक बात ज़रूर कही थी--देशकी आज़ादीके लिए इस तरहके शहीदोंका ख़ून देश-माताके लिए चन्दन होगा।

एकमा, सिसवन आदिमें साथी अच्छी तरह काम कर रहे थे, मैं मन्त्रिपदके बोझेसे मुक्त था, और उधर समय-समयपर "नवाज़िन्दा"के तक़ाज़ेको पूरा करना भी मेरा फ़र्ज़ था, इसलिए सहकारियोंसे नेपाल जानेके लिए डेढ़ महीनेकी छुट्टी ली।

६

नेपालमें डेढ़ मास (मार्च-अप्रैल १९२३ ई०)

यात्रामें दो साथी हों तो अच्छा है, बशर्ते कि दोनोंका मन मिलता हो। नेपाल यात्राके लिए मैंने महेन्द्रनाथसिंहको साथी चुना। वह कालेज छोड़कर आये एक उत्साही तरुण थे, मेरे कहनेपर महाराजगंज थानेमें काम करने गये थे। ७ फ़र्वरीको रक्सौल पहुँचकर खाना बनानेके लिए हमने कुछ बर्त्तन ख़रीदे। उस वक़्त रेल यहीं समाप्त होती थी, और आगे पैदल जाना पड़ता था। शिवरात्रि मेलेके वक़्त राहदारी (पास) मिलना आसान होता है। यही समय है, जब कि नेपालसे बाहरके हिन्दुओंको बेरोक-टोक राजधानीमें जानेका मौक़ा मिलता है, इसलिए भारी तादादमें लोग भारतके भिन्न-भिन्न प्रान्तोंसे आते हैं। बीरगंजमें एक डाक्टर नब्ज़ देखता जाता था, फिर नेपाली हाकिमके सामनेसे यात्री गुज़रते और उन्हें काग़ज़की एक छोटीसी चिट—राहदारी—मिल जाती। लोटा-तसला और एकाध दूसरे बर्त्तनोंके अतिरिक्त हमारे पास और ज़्यादा सामान नहीं था, इसलिए चलनेमें कोई दिक़्क़त न थी। पहिले ही दिन हम जंगलमें पहुँच गये। दूसरे दिन चुरियाघाटीको पारकर बहुत आगे बढ़े। चुरियाघाटीकी चढ़ाई कुछ मुश्किल थी। सारा मेला ही साथ चल रहा था, इसलिए उस जंगली पहाड़ी रास्तेमें हम अकेले चलनेवाले नहीं थे।

भीमफेरीमें ख़ासी भीड़ थी। सारी धर्मशालायें और दूकानें भी भरी हुई थीं। सीसागढ़ी (चीसापानी)के लिए उस वक़्त आज ऐसी अच्छी सड़क न बनी थी। और जो थी उसे भी न ले हमने पगडंडीका रास्ता पकड़ा था। महेन्द्रनाथ चलनेमें मुझसे ज़्यादा मज़बूत निकले। उसी रातको जब हम शिङ्-तङ्में ठहरे तो महेन्द्रनाथके गाँव (सिताबदियर)के एक साधु कृष्णदास मिले। रसोई बनाना हमारे लिए बड़ी कबाहतकी बात थी, कृष्णदासके साथी बननेसे हमारी वह दिक़्क़त जाती रही। मैं तो वही कालीकमलीवाला था, और कृष्णदास थे भूरी किन्तु छोटी-छोटी जटा और भभूतवाले तपसी।

चन्दागढ़ीकी चढ़ाई उतनी कठिन नहीं मालूम हुई, और सबेरे ९ बजेके क़रीब हम नीचे उतर गये। हम रास्तेसे जा रहे थे, तो आदमीने आकर मालपूयेकी सदावर्त लेकर जानेके लिए कहा।' जलपान करके हम वैरागी साधुओंके स्थान थापाथल्लीमें पहुँचे। आसन बग़लवाले चौकके बरांडेमें लगा। कृष्णदासने लकड़ी लेकर धुनी

लगा दी, और नेपालके माघके जाड़ेमें भी हम आरामसे उसके गिर्द जम गये।

मुझे यह विश्वास नहीं था, कि यहाँ भी परिचित निकल आवेंगे। गयामें कांग्रेसके वक़्त आर्यसमाजके पंडालमें मेरे व्याख्यान तथा पाली, संस्कृत, अंग्रेज़ीके भाषान्तरोंको सुननेवाले साधुओंमें दो चलते-पुर्ज़े साधु यहाँ पहुँचे हुए थे, उनमेंसे एक तो स्थान हीमें महन्तजीपर प्रभाव जमाये ठहरे थे, दूसरे तत्कालीन तीन सरकारके साले एक राजकुमारके मेहमान थे। उन्होंने बढ़ा-चढ़ाकर मेरी प्रशंसा करनी शुरू की। थापाथल्ली मठ पहिले सेमरौनगढ़के महन्तके हाथमें था, महन्तके निकालनेपर सेमरौन-गढ़की भाँति यहाँ भी डीठा बैठा दिया गया, और ऐसे ही एक रमता साधुको महन्त बना दिया गया था। किसी वक़्त शिकायत हो जानेपर वह भी निकाले जा सकते थे, इसलिए उन्हें बहुत फूँक-फूँककर क़दम रखना पड़ता था। उन्होंने मेरे बारेमें जो सुना, तो बिना माँगे ही घी, आटा, चीनी, तथा दूसरी खानेकी चीज़ें ज़रूरतसे अधिक हमारे ठहरनेकी जगहपर भिजवाना शुरू किया; और इस प्रकार हमें वैरागियोंकी पंगत (भोजन-पंक्ति)के इन्तिज़ार करनेकी ज़रूरत न थी। कृष्णदास भोजन बना दिया करते, और खाना खा घूमकर हम पशुपतिनाथ, गुह्येश्वरी, महाबोधा ही नहीं काठमांडो और पाटनके अनेक दर्शनीय स्थानोंको देखने जाते। एक दिन (१६ फ़र्वरी) हम उपत्यकाके पश्चिम बूढ़ा नीलकंठ देखने जा रहे थे, जहाँ कुंडमें विष्णुकी बड़ीसी शिलामूर्ति पड़ी हुई थी, और जहाँसे पानीका नल काठमांडो-शहरमें आया था। रास्तेमें नदीके किनारे एक जगहसे लोग कालीसी कोई चीज़ उठा-उठाकर खेतोंमें डालनेके लिए ले जा रहे थे। उसे देखकर मुझे नर्म पत्थरके कोयलेका शक हुआ, दो-चार टुकड़े पासमें रख लिये। लौटकर धुनीमें रखनेपर मेरा शक दुरुस्त निकला—वह वस्तुतः नरम कोयला (Peat) था। उसी शामको राजपुत्र एक और राज-वंशिकके साथ मिलने आये—दूसरे सन्यासीने अनन्त भाषाविद् कहकर मेरी प्रसिद्धि वहाँ कर दी थी। मैंने वार्तालापमें जब नेपाल-उपत्यकामें कोयलेकी बात कही, तो उन्होंने कहा—हमें तो इसका पता नहीं। मैंने एक टुकड़ा धूनीमें जलाकर दिखलाया, और वह बहुत विस्मित हुए। उस वक़्त तक लोग इसे खेतोंकी प्राकृतिक खाद मात्र समझते थे।

शिवरात्रि-मेलेमें भारतसे आये विद्वान् तपस्वी योगी साधु-महात्माओंके दर्शनके लिए नगरके सभी श्रेणीके व्यक्ति मठोंमें आया-जाया करते हैं। सर्कारी अधिकारी, विशेष व्यक्तियोंके लिए खास प्रबन्ध करते हैं। उस वक़्त स्वामी सच्चिदानन्द एक विद्वान् सन्यासी आये थे, जिन्हें राजके अतिथिभवनमें ठहराया गया था। मेरे बारेमें

तो एक जगह ठहर जानेपर मालूम हुआ था, तो भी अन्यत्र रहनेके लिए ज़ोर दिया गया, किन्तु मैंने वहीं रहना पसन्द किया। मिलनेवाले व्यक्तियोंमें राजगुरु पंडित हेमराज शर्मा भी थे। वह (१५ फ़र्वरीको) शामको आये थे, और हमारा वार्तालाप शास्त्रीय विषय था। सन्ध्योपासनका समय होनेपर जब राजगुरुने उसका संकेत किया, तो मैंने उदयनाचार्यका यह श्लोक (कुसुमांजलिमें) "उपासनैव क्रियते श्रवणानन्तरागता" कहा। उस वक़्त मैंने राजगुरुको एक अच्छे पंडितके रूपमें देखा, किन्तु नेपालकी राजनीतिमें उनके स्थान, तथा धन-वैभवके बारेमें नहीं जान पाया था।

शिवरात्रिमें पशुपति दर्शनकी भीड़, सेना-प्रदर्शन आदिके बारेमें मैंने अपनी दूसरी नेपालयात्रा[1] (१६२६ ई०)में लिखा है, इसलिए मैं कुछ ख़ास बातोंको ही यहाँ लिखना चाहता हूँ। शिवरात्रिके दिन (१३ फ़र्वरीको) प्रधान-मन्त्री महाराजा चन्द्रशम्सेरकी घोड़ागाड़ी घूमते-घामते थापाथल्ली भी पहुँची। उन्हें अपने सम्बन्धीसे मेरे बारेमें मालूम हुआ था। गाड़ी दर्वाज़ेपर खड़ी हुई, और मुझे बुलानेके लिए आदमी गया। एक बूढ़ा किन्तु स्वस्थ आदमी सफ़ेद दाढ़ी और साफ़ा बाँधे गाड़ीमें बैठा हुआ था। गाड़ीके आगे-पीछे कितने ही सशस्त्र पुलिस और सैनिक अफ़सर थे। उन्होंने प्रणाम करते हुए रहनेवहनेके बारेमें पूछा। फिर उस समयकी ज़बर्दस्त भारतीय उथल-पुथल असहयोगके बारेमें पूछा, और अन्तमें हमें क्या करना चाहिए इसके बारेमें भी कहा। वहाँ खड़े-खड़े इन बातोंपर अपने विचार प्रकट करना मुझे उचित नहीं मालूम हुआ, और न उसकी मेरे मनमें चाह ही थी—इसीलिए कई बार कहनेपर भी मैं महाराजाके यहाँ जानेको तैयार नहीं हुआ था। मैंने दो-चार शब्दोंमें जवाब देकर छुट्टी ले ली। मैं अपने आसनपर चला आया, और सवारी आगे बढ़ गई।

मुझे मालूम था, कि शिवरात्रिके बाद आगन्तुकोंको लौट जानेके लिए पुलीस पीछे पड़ जाती है, और मुझे एक डेढ़ महीना रहना था, इसलिए मैंने पहिले हीसे दस-पाँच मील दूरके कई स्थानोंके बारेमें पूँछ-ताँछ कर ली थी, और देवकाली स्थानको रहनेके लिए उपयुक्त समझा था। शिवरात्रिके सप्ताह भर बाद २० फ़र्वरीको मैं और महेन्द्र दक्षिण-कालीकी ओर चले—कृष्णदास मेलेके साथ भारतकी ओर लौट गये थे। दक्षिण कालीके आसपासकी पार्वत्य भूमि तो अच्छी थी—चारों ओर हरा-भरा जंगल, कलकल करके बहती नदी, पक्षियोंका कर्ण-मधुर कलरव। किन्तु, जब हमने पाँच मिनटमें पाँच भेड़ोंके शिरको धड़से अलग हो काली देवीपर चढ़ते देखा, और भेड़ों,

---

[1] **"तिब्बतमें सवा वर्ष"**

बकरों, मुर्गोंके रक्तसे रंजित सारा आँगन हमारी नजरोंके सामने पड़ा, तो हमारा विचार बदल गया। पूछनेपर फर्पिङ्के पास शिखरनारायणका पता लगा। हम वहाँ पहुँचे।

यह स्थान हमें रमणीय जँचा। नीचेसे ऊपर तक जंगलसे लदा था एक बड़ा पहाड़। इसकी लकड़ी काटनी मना थी, इसलिए आसपासके कितने ही और पहाड़ोंकी भाँति यह चटियल नहीं पड़ गया था। पर्वतपादसे स्वच्छ शीतल जलका एक मोटा झरना निकला था। यह पानी नलके ज़रिये फर्पिङ् पावर-स्टेशनके लिए ले जाया जा रहा था, जंगल काटनेसे झरनेके सूखनेका डर रहता है, शायद इसीलिए इस पर्वतके वृक्षोंको काटनेकी सख्त मनाही थी। महन्तजीको आगन्तुक साधुओंकी सेवाके लिए जहाँ पाँच-सात हँडिया (एक व्यक्तिकी खाद्यसामग्री)का राजकी ओरसे बंधान था, वहाँ उपयुक्त लकड़ी काटनेका भी अधिकार था। पर्वत-वक्षमें आगेकी ओर झुकी एक चट्टान थी, जिसकी आकृति सर्पाकार है, इसीलिए यहाँकी विष्णु-मूर्तिको शिखरनारायण कहा जाता है। उक्त चट्टानकी एक ओर एक छोटीसी गुफा थी, सामने पत्थरका फ़र्श। चन्द सीढ़ियाँ नीचे उतरकर पुलसे झरनेके जलको पारकर धर्मशाला—एक दोतल्ला नेपाली ढंगकी इमारत—थी। मैंने गुफामें रहना पसन्द किया, और महेन्द्रको धर्मशालाके कोठेमें रहनेको कहा। भोजनकी समस्या पासके गाँवके एक ब्राह्मण गृहस्थने हल कर दी। वह बना बनाया भोजन रोज़ हमारे पास पहुँचाने लगा। मैंने कुछ दिनों तक एक दिन छोड़कर अन्न खानेका नियम किया था, किन्तु जब उसे प्रसिद्ध होते देखा, तो रोज़ खाने लगा।

हम लोग इस स्थानपर दो सप्ताह ठहरे। छपरासे संस्कृत और अंग्रेज़ीकी पाँच-सात पुस्तकें ले गये थे, उन्हें पढ़ना, आपसमें बातचीत करना और इससे जो बचता था उस समयको मैं चिन्तन और मननमें लगाता था। लोग बतला रहे थे, कि आँगनमें कभी-कभी भालू आता है, किन्तु मैंने उसे किसी दिन नहीं देखा, हाँ, रातको जानवरोंकी कुछ अपरिचित आवाज़ें ज़रूर सुननेमें आती थीं। यदि कोई जानवर मेरी गुफाकी ओर आता तो वहाँ मेरे पास रक्षाका कोई साधन नहीं था, धुँआके डरसे उस छोटीसी गुफामें मैं आग भी बहुत कम जलाता था। महेन्द्रके पास एक कम्बल था, सर्दी ज़्यादा लग रही थी, ब्राह्मणने रज़ाई-बिछौना भेज दिया। एक दिन लकड़ी जलाकर सो गये, कहींसे कपड़ेपर आग पड़ गई, सब जल गया, समयपर नींद खुल गई इसलिए खुद तथा वह लकड़ीका घर भी बच गया।

शिखरनारायण हिन्दुओं और बौद्धोंका सम्मिलित तीर्थ है, इसलिए कभी-कभी वहाँ तिब्बती लामा भी आते थे। एक-दो नेवार बौद्ध तो रोज़ ही पूजाके लिए आते।

उनसे मैंने किसी बौद्ध पंडितका नाम पूछा, तो उन्होंने पाटनके वज्रदत्त वैद्यका नाम बतलाया। शिखरनारायणमें काफ़ी देवोत्तरसम्पत्ति लगी मालूम होती है। सबेरे ही बाजा लेकर कुछ गानेवाले चले आया करते, और अधिकतर विनयपत्रिकासे, पराती (प्रातः गान) गाया करते।

शिखरनारायणका पानी पावर-स्टेशनपर जाता है, एक बार वहाँ काम करनेवाले दो पंजाबी सज्जन (पं० प्यारेलाल और ठाकुर लालसिंह) हमारे यहाँ तक पहुँचे, और अपने यहाँ आनेका निमन्त्रण दे गये। ६ मार्चको स्थान छोड़नेपर हम पावर-स्टेशन गये। इसके ऊपरवाले गाँवोंकी हालत बहुत बुरी थी। खेत बनानेके लिए लोगोंने चोटी तकपर वृक्ष नहीं रहने दिये। झरनोंका वृक्षों और उनकी जड़ोंसे खास सम्बन्ध होता है, इसलिए वृक्षोंके अभावमें वैसे ही झरने बहुतसे सूख गये थे। अब रहा-सहा पानी पावर स्टेशनमें बिजली तैयार करनेके लिए जा रहा था, जिससे खेती सिर्फ़ वर्षाके भरोसे ही हो सकती थी, और इन गाँवोंकी अवस्था बदतर हो गई थी। पावर-स्टेशनमें हम लोग दोपहर तक रहे। दोनों परिचित सज्जन ओवरसियर थे, बड़ा इंजीनियर एक अंग्रेज़ था, जिसे मुफ़्तमें एक हज़ार रुपया दिया जाता था, यद्यपि उससे कमपर भारतीय इंजीनियर मिल सकता था। वहाँ एक कप्तान साहेब भी रहते थे, जो शायद पुलीसका काम करनेके लिए।

वहाँसे हम पाटन पहुँचे। वज्रदत्त वैद्यका पता आसानीसे लग गया। वह एक 'विहार' (गृहसमूहमें)में कई और गुभाजू-परिवारोंके साथ रहते थे, उम्र साठसे ऊपर होगी। नेपाली बौद्धोंकी परम्परा तथा पूजापाठके बारेमें उनको कुछ ज्ञान था, किन्तु संस्कृत सिर्फ़ पढ़ लेना भर जानते थे, और बौद्ध-धर्मके परिचयमें वे सहायक न हो सके। उन्होंने नेवार- और रंजन-अक्षरमें लिखी कुछ पुस्तकें दिखलाईं। खैर, मेरे ज्ञानमें तो वह वृद्धि नहीं करा सके, किन्तु उनका बर्ताव बहुत अच्छा रहा। रातको अपने यहाँ ही रखा। शामको जब पुलिसका आदमी हम लोगोंका नाम-धाम लिखने आया, तब हमें नेपाली पुलिसकी तत्परताका पता लगा। वज्रदत्तजी पाटनके एक अच्छे वैद्य थे, वैद्यक उनका खान्दानी पेशा था। उनका लड़का भी वैद्य था। पहिली स्त्रीके मरनेपर पिताने नई शादी की थी, इसलिए पिता-पुत्रमें बनती न थी। नेपालके बौद्धोंमें आम तौरसे विधवाविवाह हो जाता है, और प्रौढ़ या वृद्ध विधुरको शादी करनेमें कोई दिक़्क़त नहीं होती। यहीं मुझे एक दूसरे बौद्ध पंडित रत्नबहादुरसे भेंट हुई। वह सिद्धान्तकौमुदी कुछ पढ़े हुए थे, किन्तु साहित्यमें प्रगति न होनेसे संस्कृत भाषा समझने-बोलनेमें दिक़्क़त अनुभव करते थे। बौद्ध-साहित्यके कुछ ग्रंथोंको

उन्होंने दिखलाया, और कुछ बातें भी बतलाईं। तिब्बतमें वह रह चुके थे, और तिब्बती कन्जुरके कुछ ग्रंथोंकी सूची भी उन्होंने बनाई थी। मैं ज़्यादा रह नहीं सकता था, इसलिए भी रत्नबहादुर पंडितके ज्ञानसे ज़्यादा फ़ायदा नहीं उठा सका। दोपहरका भोजन उनके मित्र एक बड़े सौदागरने कराया, इनकी कई कोठियाँ तिब्बतमें हैं, और कह रहे थे—यदि आप चलना चाहें तो हम आपको तिब्बत भेज सकते हैं। महेन्द्रकी तबियत तो हो गई, किन्तु मैं डेढ़ मास बाद छपरा लौटनेकी बात कहकर आया था।

हम थापाथल्लीमें फिर तीन-चार दिन ठहरे। एक दिन (१० मार्च) राजगुरु हेमराज शर्माके यहाँ गये—पुस्तकागारके वही प्रधानाधिकारी थे। बड़ा महल, ड्योढ़ी-पहरेदार सभी, बाक़ायदा राजसी इन्तिज़ाम था। उस दिन शामको ऊनी चद्दर नेपाली पायजामा और सादी टोपी पहिने हुए व्यक्तिको देखकर उसके इस वैभवका अनुमान नहीं हो सकता था। सूचना देनेपर उन्होंने भीतर बुलाया, और दर्वाज़े तक स्वागतार्थ आये। देखा एक बड़े सजे हुए हालमें फ़र्शके क़ालीनपर बहुतसी संस्कृत पुस्तकें पड़ी हुई हैं, कितने ही और पंडित बैठे हुए हैं। वज्रदत्त वैद्यसे मुझे मालूम हो गया था, कि मध्यदेशसे आये स्वामी सच्चिदानन्द पशुबलिका बड़े ज़ोर-शोरसे खंडन कर रहे हैं, और कह रहे हैं कि यह वेद-विरुद्ध और धर्म-विरुद्ध है; जिसके मारे ब्राह्मण पंडित परेशान हैं, महाराज भी पशुबलिके विरुद्ध होते जा रहे हैं। यहाँ इन किताबोंको देखनेसे वैद्यकी बात स्मरण हो आई, और गुरुजीसे बात करनेपर तो वह और स्पष्ट हो गई। पशुबलिके लिए यहाँ शास्त्रीय प्रमाण ढूँढ़े जा रहे थे। स्वामी सच्चिदानन्द अपने पक्षकी पुष्टिमें बुद्ध-वाक्य भी उद्धृत किया करते थे। मुझे उस वक़्त कुमारिल (श्लोकवार्तिक)का एक श्लोक याद आया जिसमें कहा गया है कि बुद्ध आदि वेदवाह्योंका वाक्य उचित होनेपर भी 'कुत्तेके चमड़ेमें रखे गायके दूध' ('गोक्षीरं श्वदृतौ धृतं')की तरह त्याज्य है। गुरुजीने श्लोकका पता पूछा। मैंने निकालकर दिखला दिया। उन्होंने आग्रह किया, कि मैं भी इस विवादमें स्वामी सच्चिदानन्दके विरुद्ध भाग लूँ, किन्तु भीतरसे तो मैं अभी आर्यसमाजी विचारोंको मानता था, जिसमें स्वामी सच्चिदानन्दके पक्ष हीकी पुष्टि की गई है।

एक बार फिर हम महाबौधा गये। वहाँ चीनिया लामासे मिले। चीनिया लामा उस वक़्त हवनमें लगे हुए थे, तो भी उन्होंने बैठाकर थोड़ी देरतक बातचीत की। उस वक़्त उनके लड़कोंको मैंने नहीं देखा था, हाँ उनकी एक लड़की वहाँ ज़रूर थी, जिसके कानोंके बीचमें सोनेका बड़ासा कर्णफूल था। चीनिया लामा बूढ़े थे, उनके गलेमें घेघ था।

नेपालसे लौटनेके लिए राहदारीकी ज़रूरत होती है, और हमें उसे मिलनेमें दिक़्क़त नहीं हुई। पावर-स्टेशनके पंजाबी भाइयोंने उधर हीसे जानेके लिए आग्रह किया था। इस प्रकार हम चन्द्रागिरिकी चढ़ाईसे भी बच सकते थे, इसलिए हम उसी रास्ते लौटे। तीन-दिन वहाँ रहे। वहींसे भीमफेरी तकके लिए एक भरिया (भारवाहक) और पाथेय मिल गया, और १८ मार्चको हम भारतके लिए रवाना हुए। हमारे रास्तेके पाससे बिजलीके खम्भे गये हुए थे, किन्तु अभी उनपर तार नहीं लगे थे। भीमफेरीसे काठमांडो तक रोप-लाइन तैयार की जा रही थी, उसीके लिए यहाँसे बिजली जानेवाली थी।

भीमफेरीसे आगेके पड़ाव तक हम दोनों साथ थे। अब मुझे कुछ बुख़ारसा हो आया, और चलना मुश्किल मालूम होने लगा, उधर इस बातसे अपरिचित महेन्द्र आगे निकल गये। मेरे पास एक पैसा भी नहीं था, (सिर्फ़ एक-दो बर्त्तन रह गये थे)। एक ख़ाली गाड़ी आ रही थी, कहनेपर गाड़ीवानने बैठा लिया। रातको हम चुरिया-घाटीसे और नीचे जंगलमें ठहरे। इधर बाघ, हाथी रहते हैं। ख़तरेसे बचनेके लिए पचीस-तीस गाड़ीवानोंने अपनी गाड़ियोंकी चारों ओरसे क़िलाबन्दी कर ली, बीचमें ही बैल रखे गये, और वहीं बड़े-बड़े कुन्दोंकी आग जला दी गई। आगके पास बाघ नहीं फटकता, इसका उन्हें पूरा विश्वास था।

बैलगाड़ी सीमान्तके पासवाली नदीके तटपर उस कुटियाके सामनेसे गुज़री, जिसमें मैंने बड़ी ज्वालामाईसे आये साधुको देखा था, किन्तु मैं वहाँ ठहरा नहीं। मुझे क्या मालूम महेन्द्रनाथ वहाँ बैठे मेरा इन्तिज़ार कर रहे हैं। रक्सौलमें उसी दूकानदारको बर्तन लौटा मैंने दो रुपये तेरह आने पाये, और (२२ मार्चको) सीधा छपराके लिए रवाना हो गया।

७

हज़ारीबाग-जेलमें (१९२३–अप्रैल १९२५ ई०)

बाबू माधवसिंहके घरपर पहुँचते ही मालूम हुआ, कि पटनाके भाषणके सम्बन्धमें मेरे ऊपर वारंट निकला है। साथियोंने परामर्श दिया—बैठे-बिठलाये दो-तीन वर्षके लिए जेलमें चले जानेकी जगह अच्छा है, कि मैं इस वक़्त हट जाऊँ। किसीने वारंटके

बारेमें मेरे पास नेपालमें चिट्ठी भी भेजी थी, किन्तु वह मुझे मिल न सकी। यदि मिल गई होती, तो तिब्बतकी ओर जानेका मुझे इतना आकर्षण था, और महेन्द्र भी इतना ज़ोर दे रहे थे, कि हम उधरको ही चल दिये होते; किन्तु अब छपरा आकर इस तरह छिपकर चला जाना मैंने पसन्द नहीं किया। मैंने गिरिफ़्तार होनेका निश्चय किया, और अगले दिन पुलीसको सूचना दे दी—श्री राजगोपालाचारीके व्याख्यानके समय उसी सभामें मैं मौजूद रहूँगा, आप वहाँ मुझे गिरिफ़्तार कर सकते हैं।

कालेजियट स्कूल (वर्तमान विश्वेश्वर-सेमिनरी)के हातेमें बड़ी सभा थी, हज़ारों लोग जमा थे; इसलिए पुलिसने उतने बड़े मजमेमें मुझे गिरिफ़्तार करना पसन्द नहीं किया। पहिली जेलयात्रासे आनेके बाद छपरामें बाबू माधवसिंहका घर ही मेरा निवासस्थान बना था। शामको पुलीस-आफ़िसरने आकर कहा—पटना जाना होगा, और जिस वक़्त आपको सुभीता हो, हम उसी वक़्त गिरिफ़्तार करेंगे। मैंने अपनेको तैयार बतलाया, और उसी रात दो सिपाही मुझे ले पटना पहुँचे। रातको बाँकीपुर कोतवालीकी हवालातमें बन्द रहा। दूसरे दिन रविवार था, इसलिए वे घूमते-घामते एस्० डी० ओ०के बँगलेपर ले गये। धूप तेज़ मालूम होती थी, ऊपर-से ज्वरकी कमज़ोरी भी थी, इसलिए एक्केपर भी इतनी दौड़-धूप मुझे पसन्द न लग रही थी। दोपहरको बाँकीपुर (पटना) जेलके तनहाई-सेल्में पहुँचा दिया गया।

जाड़े ही जाड़ेमें मैं नेपाल चला गया, और अभी तुरन्त ठंडी जगहसे गर्म जगहमें आनेके कारण मुझे गर्मी और भी असह्य हो रही थी। उसके ऊपर सेल्में बन्द किया गया, जहाँ हवाका रास्ता ही न था, और पटनाके मच्छरोंके आक्रमणकी तो बात ही न पूछिये। पंडित वासुदेव पांडे उस वक़्त जेलर थे। उनका बर्ताव अच्छा था। उन्होंने स्कूलोंके लिए एक वर्णमालाकी पुस्तक लिखी थी। मेरे बारेमें विशेष जानने-पर उनका आग्रह हुआ कि मैं उनके लिए भारतका एक इतिहास लिख दूँ। मैंने शुरू भी किया, किन्तु आधी दूर तक पहुँचनेसे पहिले ही सज़ा हो गई। हफ़्ते या अधिककी सासतके बाद मुझे एक वार्डमें तब्दील किया गया। यहाँ रातको कुछ हवा आती थी, किन्तु ज़मीनपर कम्बल बिछाकर लेटे-लेटे मच्छरोंके मारे सोना हराम था।

मुझपर भारतीय दंडविधानकी धारा १२४ (ए)के अनुसार राजद्रोह का मुक़दमा चला था। पुलीसकी दो या तीन रिपोर्टें—जो शार्टहैंडमें नहीं थीं—तथा कुछ गवाह सर्कारकी ओरसे मेरे विरुद्ध पेश किये गये थे। सर्कार मुक़दमा चलावे और सर्कारके ही प्रबन्ध-विभागका एक नौकर—सब-डिविज़नल मजिस्ट्रेट—न्यायाधीश बने, फिर

वहाँ दंड छोड़ दूसरे फ़ैसलेकी उम्मीद ही क्या हो सकती है ? सफ़ाई मैंने नहीं दी, सिर्फ़ एक लिखित वक्तव्य दिया, जिसमें भाषणको रिपोर्टसे भी ज़्यादा कड़ा कह, इल्ज़ामको स्वीकार किया, शायद भाषण 'देश' (पटना)में छपा था। मजिस्ट्रेटने दो सालकी सादी क़ैद दी। धन्यवाद दे मैं जेल चला आया, और दो साल जेलमें बन्द होनेके लिए मुझे ज़रा भी अफ़सोस नहीं हुआ। उसका कारण था। राजनीतिमें भाग लेनेपर बाहर काममें फँसे रहनेके कारण कोई गम्भीर अध्ययन हो नहीं सकता था, इधर देशमें भी राजनीतिक शिथिलता आ गई थी, जिससे बाहर रहकर ज़्यादा काम करनेकी आशा तो थी नहीं, जेलमें पढ़ना-लिखना तो अच्छी तरह होगा, यही ख्याल मेरे दिमाग़में उस वक़्त काम कर रहा था।

सज़ाके एक या दो ही दिन बाद मुझे बक्सर जेल भेज दिया गया। स्टेशनपर मैंने कई पोस्टकार्ड लिखे, जिनमें एक नेपालके अल्प परिचित उस राजकुमारको भी लिखा था। जेलमें पुस्तकोंकी अवश्यकता होगी, और उसके लिए कुछ रुपये भी चाहिए—यह सोचना ठीक था, किन्तु उसके लिए एक साधारणसे परिचयके बलपर किसीसे रुपये माँग बैठना बुद्धिमानी नहीं समझी जा सकती। किन्तु, यह ख्याल चिट्ठी डाल देनेपर आया। पछतानेसे क्या फ़ायदा ? आदमीमें, आखिर बुद्धिमानीसे बेवक़ूफ़ीका माद्दा ज़्यादा होता है।

जेलमें हम पिछली बार जिस वार्डमें थे, उसीकी एक कोठरीमें—कमरेमें नहीं—रखा गया। मालूम हुआ, शंकराचार्य स्वामी भारती कृष्णतीर्थ भी यहीं अपने मुँगेरके भाषणके लिए सालभरकी सज़ा भुगत रहे हैं, किन्तु वह अलग रखे गये थे। सुप्रेंटेंडेंट कप्तान बर्क जब मेरी कोठरीके सामने आया, तो मैं खड़ा तो हो गया, किन्तु 'सर्कार सलाम'की आवाज़पर मैंने सलाम नहीं किया। बर्क आग-बगूला हो गया, और सज़ा देनेकी धमकी देकर चला गया। मुझे उसकी पर्वाह नहीं थी। पीछे जेलरने आकर समझाना शुरू किया। मैंने सलाम करनेसे जब बिल्कुल इन्कार किया, तो उन्होंने कहा—किन्तु शंकराचार्यजी भी तो सलाम करते हैं, यदि वह कह दें तब तो एतराज़ नहीं होगा ? और उन्होंने शंकराचार्यजीकी राय मँगवा दी। मुझे अब झगड़ा मोल लेना पसन्द नहीं आया।

पिछली जेलयात्रामें मैंने 'क़ुरानसार'को संस्कृतमें लिखा था। अबके, पटना हीमें उसका हिन्दी-अनुवाद शुरू किया, और यहाँ आनेपर पहिले उसी कामको खतम किया। मुश्किलसे हफ़्ते भर बीते थे, कि सर्कारी हुकुम आया, कि सभी सादी क़ैदवाले राजनीतिक क़ैदियोंको हज़ारीबाग़ भेज दिया जावे, और इस प्रकार स्वामी शंकरा-

चार्य, मेरा—ग्रौर शायद मदनलाल जोशी तथा रासबिहारीलाल भी तब तक बक्सर पहुँचे हुए थे—हजारीबागके लिए तबादला हो गया।

पटना जंकशनपर ग्रानेपर मालूम हुग्रा, कि गयाकी ट्रेनमें बहुत देर है। शंकराचार्यजीने गंगास्नान का प्रस्ताव रखा। सिपाही भी राजी हो गये सामान स्टेशन पर छोड़ा, सिपाहियोंने वर्दी-पेटी उतार धोती-ग्रँगोछा हाथमें लिया; हम बाँकीपुर मैदान होते गंगाकी तरफ़ जा रहे थे; इसी समय किसी परिचित ग्रादमीने उस तरह मुक्त हो साथियोंके साथ जाते देख, इतनी जल्दी छूट जानेके लिए मुझे बधाई दी। उन्हें ग्राश्चर्य हुग्रा, जब मैंने ग्रस्ली बात बतलाई।

गयामें भी हज़ारीबाग़-रोडकी गाड़ीके लिए हमें काफ़ी प्रतीक्षा करनी पड़ी। स्वामी शंकराचार्यका कोई ग्रादमी बाहरसे उनके फलाहार ग्रादिका इन्तिज़ाम करनेके लिए बक्सरमें रहता था, वह यहाँ भी साथ था, इसलिए हमें सर्कारकी दी हुई ढाई ग्राने रोज़की भारी रक़मपर गुज़ारे करनेकी नौबत न ग्राई।

हमारी मोटरबस सबेरे हज़ारीबाग़ जेलके फाटकपर पहुँची। फाटकपर हमारी सब चीज़ोंकी जाँच हुई। मेरी पुस्तकोंमें सिंहाली ग्रक्षरमें पाली मज्झिमनिकाय था, जिसे मैं उस वक़्त रोज़ नियमसे एक घंटा पढ़ता था। जेलरने लिपि, भाषा ग्रौर विषयका पता न पानेसे उसे नहीं दिया। मैंने इसपर ग्रनशन कर दिया। बक्सर जेलमें पहिली यात्राके वक़्त भी एक या दो दिन ग्रनशन करना पड़ा था, किन्तु उस वक़्त जेलवालोंके दुर्व्यवहारके विरुद्ध सारी जमाग्रतने ग्रनशन शुरू किया था। ग्रबके मैं ग्रकेले था। जेलके गोरे जेलर मिस्टर मीककी सख़्तियोंके बारेमें मैं काफ़ी सुन चुका था। उसने ग्राकर धमकी दी, ग्रौर ग्रनशन छोड़नेके लिए कहा, किन्तु मैंने उसे नहीं माना। स्वामी शंकराचार्यसे कहनेपर उन्होंने कह दिया—उनकी बौद्धधर्म पर श्रद्धा है, यह उनकी धार्मिक पुस्तक है, इसलिए हम मजबूर नहीं कर सकते। थोड़ी देरमें मज्झिम-निकाय मेरे पास चला ग्राया। कुछ दूसरी पाली पुस्तकोंको सेंसरके पास भेजनेका मैंने विरोध नहीं किया।

जेल-लाइब्रेरीमें पुस्तकें नहींके बराबर थीं। हमारे पास भी गिनी-चुनी पुस्तकें थीं। काग़ज़, क़लम, पेंसिल रखनेका हमें ग्रधिकार न था। तो भी दिन काटना मुश्किल नहीं था। रोज़ डेढ़-दो घंटे स्वामीजीका ग्रंग्रेज़ीमें भिन्न-भिन्न राजनैतिक विषयोंपर व्याख्यान होता। उनके फलाहारकी ठीक व्यवस्था तथा पूजापाठका सरंजाम करनेकी ज़िम्मेवारी मैंने ग्रपने ऊपर ली थी, इसलिए मुझे उनसे बातचीत करनेका ग्रौर भी ज़्यादा मौक़ा था। पहिले हमें दो नम्बरमें रखा गया। उस वक़्त

हमारी कोठरियोंसे सटी पिछली पंक्ति—वार्ड नम्बर एक—में उड़ीसाके पंडित गोपबन्धुदास, भगीरथ महापात्र आदि रहते थे। हमें एक दूसरेसे मिलनेकी इजाज़त नहीं थी, और दीवारके ठोस रहनेसे आवाज़का पहुँचाना मुश्किल था, तो भी हमने बातचीतका रास्ता निकाल लिया था। स्वामीजी रोज़ कुछ संस्कृत पद्योंकी रचना करते, और इसके लिए उन्हें भी रद्दी काग़ज़के टुकड़ों तथा पेंसिलका 'जोगाड़' करना पड़ता था। शायद एक और दो वार्डोंके बीच सम्बन्ध स्थापित होनेकी बात मालूम हो गई या क्या, थोड़े ही समय बाद, हमें 'पंजाबी' सेलमें भेज दिया गया। इस वक़्त तक भागलपुरवाले साथी छूट चुके थे। युद्धके समय लाहौर षड्यन्त्रमें सज़ा पाये क़ैदियोंको, सबसे सुरक्षित समझ, हज़ारीबाग़ जेलमें भेजा गया था—स्टेशनसे चालीस मील दूर, शहरसे बिल्कुल अलग-थलग, राजनीतिक जागृतिसे वंचित यह स्थान उस वक़्त इसके लिए उपयुक्त भी था। उन्हीं पंजाबी क़ैदियोंको दंड देनेके लिए ये सेल् बनाये गये थे, इसीलिए इन्हें पंजाबी-सेल् कहा जाता था। चार सेल् थे, सामने हर सेल्का ४, ५ हाथ लम्बा-चौड़ा आँगन, फिर ४ हाथ चौड़ा एक लम्बासा सम्मिलित आँगन था। शाम होते ही हम सेल्में बन्द कर दिये जाते, दिनमें सम्मिलित आँगन तक और पेशाब पाखाने के लिए उसके बाहरके लोहेके सीकचोंके घेरेमें आ सकते थे। दूसरे क़ैदियोंको हमारे सामने तक आने नहीं दिया जाता था।

जेलर मिस्टर मीकसे पहिले ही चख-चुख हो गई थी, इसलिए पहिले तो वह नाराज़ रहा, पीछे उसे यह मालूम हो गया, कि मैं पढ़ने-लिखनेमें लगा रहनेवाला आदमी हूँ, इसे ख़ामख़ाह अपने हैरान होना और दूसरोंको हैरान करना पसन्द नहीं। फिर वह नर्म पड़ गया। पहिले उसने अपनी निजी पुस्तकोंमेंसे कितनी ही मुझे पढ़नेको दीं। पंजाबी सेल्में मुझे ख़्याल हुआ—पढ़ने-लिखनेका और साधन तो है नहीं, क्यों न इस समयको गणितके अध्ययनमें बिताया जाये। लड़कपनमें मैं गणितमें बहुत तेज़ था, दयानन्द-स्कूल (बनारस) में सातवीं क्लासमें जितना अल्जबरा पढ़ा था, उससे आगे नहीं बढ़ सका। स्वामी शंकराचार्य जहाँ संस्कृत भाषा, साहित्य, दर्शनके प्रौढ़ विद्वान् थे, वहाँ अंग्रेज़ी और गणितके भी चतुर पंडित थे। उन्होंने इस रायको पसन्द किया। मीकसे कहनेपर उसने तुरन्त स्लेट-पेंसिल मुझे दे दी। अब मैं गणितमें लग गया। बीजगणित, त्रिकोणमिति, क्वार्डिनेट ज्यामिति मुझे तो बहुत दिलचस्प मालूम होती थीं। महीनेपर महीने बीतते गये और मैं सारा समय गणितमें लगाने लगा; यह सिलसिला तभी टूटता, जब मुझे पेचिश हो जाती, और उसके लिए अस्पताल जाना पड़ता। प्रारम्भिक तीन-चार महीनोंमें मुझे बराबर पेचिश हो जाया करती।

अस्पतालसे रेंडीका तेल पी-पीकर चंगा हो लौटता और चन्द दिनों बाद फिर वही बात। तब सुपरिंटेंडेंट मेजर ली—जो हज़ारीबाग़के सिविल सर्जन भी थे—ने दो पाव-रोटी, दही और चीनी हमेशाके लिए बाँध दी। सबेरे मैं उसे खाता, दोपहरको रसोइयाँ डेढ़ पाव आटेका एक मोटासा टिक्कर बनाकर लाता, और उसके बाद मैं खाना नहीं खाता। हज़ारीबाग़ जेलके सारे निवासमें खानेका यही नियम रहा।

मेरे कुछ रुपये जमा थे, मैंने उनसे अपने लिए कुछ पुस्तकें मँगवाईं। पीछे मीक साहेबने काग़ज़, क़लम, स्याहीकी भी सुपरिंटेंडेंटसे इजाज़त दिलवा दी, किन्तु यह स्वामीजीके छूटनेसे थोड़ा ही पहिले। उच्च बीजगणित, सरल त्रिकोणमिति, ऑपटिक्स (दृष्टिशास्त्र) आदिको समाप्त कर मैं गोल-त्रिकोणमिति पढ़ रहा था, और ज्योतिष-शास्त्रका आरम्भ हो गया था, जब स्वामी शंकराचार्य छूटकर चले गये। मुझे उनके जानेका बड़ा अफ़सोस हुआ, किन्तु उनका जेलमें रहना भी तो वांछनीय नहीं समझा जा सकता। मैंने उनके संगका पूरा फ़ायदा उठाया। और कोई काम न रहनेसे, पाठ-पूजासे बचा समय—जो दिनमें कई घंटा होता—वह मुझे देते। वह बड़े प्रेमसे पढ़ाते, उनके पढ़ानेका ढंग बड़ा आकर्षक था। बीजगणितके सूत्रोंको कंठस्थ करवानेकी जगह उन्हें वह मुझसे सिद्ध करवाते। बीजगणितमें अंकगणित अन्तर्हित है, इसे उन्होंने शुरूके ही पाठोंमें बतला दिया। पढ़ाते वक़्त पश्चिमके कितने ही प्रकांड गणितज्ञों, दार्शनिकोंकी कथायें सुनाते। कभी-कभी हम भारतकी राजनीतिक, सामाजिक अवस्थाओंपर भी बहस करते। सामाजिक बातोंमें वह बहुत अनुदार थे। मलाबारके नम्बूदरी ब्राह्मणोंके छोटे पुत्रोंका जातिमें विवाह-अधिकारसे वंचित हो, नायर-कन्याओंके साथ 'मुंडू सम्बंध' (चार हाथकी चादर डाल कन्याको अपनी एक मात्र रक्षिता बनाना) करनेपर जब मैं आक्षेप करता, तो वह उत्तेजित हो कह उठते—तुम्हें वास्तविकता मालूम नहीं, इस प्रथाको, वहाँ जाकर देखो, वे कितना पसन्द करते हैं। वह यह समझनेकी तकलीफ़ गवारा नहीं करते थे, कि स्त्री तो ब्राह्मणपुत्रको पति माननेके लिए बाध्य की जावे, और पुरुष अपनेको सर्वबन्धन-मुक्त समझे, वह स्त्रीको नीच समझ उसके हाथका पानी तक न स्वीकार करे। मैं इसे मलाबारके ब्राह्मणोंकी पर-वंचनाका उदाहरण देते हुए कहता—"कनिष्ट पुत्रोंको तो इन नम्बूदरीपादोंने दायभागका अनधिकारी बनाया, साथ ही नायरोंमें सम्पत्तिकी स्वामिनी सिर्फ़ कन्याओंको माना, जिसमें उनके कनिष्ट पुत्र जामाताके सुखको भी भोगें और स्त्रीके भरण-पोषणकी उन्हें चिन्ता भी न करनी पड़े।" उस समय उनके कान लाल हो जाते। किन्तु यह सब कोप उनका बहुत ही वात्सल्यपूर्ण होता। एक बार मैंने

उलटा पक्ष ले वर्णव्यवस्थाको जन्मगत साबित करते हुए सत्यकाम जाबालको जबाला ब्राह्मणी तथा एक ब्रह्मर्षिकी सन्तान बनानेकी खींचातानी शुरू की। स्वामीजी हँसते हुए बोले—क्यों मुझे चकमा देते हो, मैं जानता हूँ, तुम्हारा क्या विचार है। उनका स्नेहपूर्ण बर्ताव, उनका विद्याके प्रति अनुराग पैदा करनेका तरीक़ा ऐसा था, जिसे भूलना मेरे लिए असम्भव था।

स्वामीजीके जानेके बाद, मैं अस्पतालमें शायद पेचिश लेकर चला गया था, जब कि 'बाईसवीं सदी'को लिख डालनेका ख़्याल आया, और लिखनेमें इतना तन्मय रहता, कि कई रातों तो भिनसार हो जाने, या पौ फट जानेपर ही क़लम रुकती थी। दिनको लिखनेका काम कम, पढ़नेका ज़्यादा करता था। दिनमें कभी-कभी क़ैदियोंके आत्मचरितोंको भी सुनता। अमृतसर ज़िलेका एक डाकू बूढ़सिंह पाँच सालकी सज़ा लेकर आया था। वह अपनी डकैतियों, अपनी प्रणयलीलाओं, तथा उदारताओंके बारेमें बतलाता था। उसका छोटा भाई—वह सिक्ख नहीं था—तातानगरमें काम करता था, उसका अभी ब्याह नहीं हुआ था। बूढ़सिंह कह रहा था—भावे (चाहे) चूड़ी (मेहतरानी) ही क्यों न मिले, उसका व्याह करके छोड़ँगा। बूढ़सिंहके कोई सन्तान न थी। शाहाबादका देवनन्दन एक गँवार अहीर था, जब कि पहिलेपहिल कलकत्ता पहुँचा था। किन्तु वहाँ गुंडोंका संसर्ग हुआ। उसने डंडा और छुरी चलाना, चोरी और बहुत करके धमका कर पैसा ऐंठनेकी विद्या सीखी, अच्छे कपड़े-खानेकी आदत डाली, और वह गँवार देवनन्दनकी जगह एक नागरिक आदमी बन गया। वह दो सालोंके लिए आया था।

अस्पतालसे छूटनेपर मुझे पहिले नम्बरमें रखा गया। इस वक़्त तक पंडित पारस-नाथ त्रिपाठी 'देश'के सम्पादक दो सालकी सज़ा भुगतनेके लिए चले आये थे। वह हिन्दीके दर्जनों ग्रंथोंके लेखक और अनुवादक थे, और अंग्रेज़ीसे अनभिज्ञ होना उन्हें खटकता था। उन्होंने अंग्रेज़ी सीखनेकी इच्छाके साथ उसकी कष्टसाध्यतापर भय प्रकट किया। मैंने कहा—मैं आपको ऐसे ढंगसे अंग्रेज़ी पढ़ाऊँगा, कि दो-तीन घंटा रोज़ देनेपर आठ माससें आप साधारण अंग्रेज़ी पुस्तकोंको समझने लगेंगे, किन्तु साथ ही पहिलेपहिल शुद्ध अंग्रेज़ी लिखने-बोलनेका ख़्याल छोड़कर सिर्फ़ अर्थ समझने-की ओर ही आपको ध्यान देना होगा—शुद्ध बोलना-लिखना तो हमारे यहाँके पन्द्रह-पन्द्रह, सत्रह-सत्रह वर्ष लगानेवाले अधिकांश एम्० ए०, बी० ए० लोगोंको नहीं आता, तो आपको उसके लिए चिन्तित होनेकी क्या अवश्यकता? मिस्टर मीकने अपनी लड़कीकी पढ़ी हुई बालकहानियोंको भेज दिया, और व्याकरणपर बिना इशारा किये

मैं उन्हीको पढ़ाता रहा। पढ़नेके बाद और पाठारंभसे पहिले एक बार पाठ देख जानेकी हिदायत थी। आठ महीना बीतते-बीतते त्रिपाठीजी दक्षिण-अफ़्रीका और रूसो-जापानी युद्धके सम्बन्धमें 'टाइम्स' (लन्दन)के विशेष संवाददाताओंकी पुस्तकें जब समझकर समाप्त कर लीं, तो उन्हें भी रमशा बादशाहके संस्कृत काठिन्यकी भाँति अंग्रेज़ी भाषाका काठिन्य--जहाँ तक पढ़ने समझ लेनेका सम्बन्ध है--असत्य मालूम होने लगा।

एक नम्बरकी एक घटना है। दिनको तो मैं पढ़ लेता था, किन्तु रातको चिराग़के बिना पढ़ना नहीं होता था, और समयकी बर्बादी मुझे अखर रही थी। चकिया (भोरेथाना, सारन)के पंचानन तिवारी पाँच सालकी सज़ा काट रहे थे, और साधारण रसोईघरमें रसोइया थे। उनको मेरी दिक़्क़त मालूम हुई, तो एक दिन बिना पूछे ही सेरभर कड़वा तेल लेकर मेरे सेल[1]में आये। सिपाहीने देखते ही चुपकेसे आकर हेडवार्डर (बड़े जमादार) सर्दार कृपासिंहको ख़बर दी। वह पहुँच आये। मेरे लिए पंचानन दंडित हों, यह ख्याल आते ही मेरा मन विचलित होने लगा। मैंने कृपासिंहसे कह दिया--तेल मैंने मँगाया है, रातको चिराग़ बालनेके लिए। मुझे दंड होना चाहिए। ख़ैर, बात वहींकी वहीं रह गई।

युद्धके दिनोंमें जब कि हज़ारीबाग़में लाहौर षड्यन्त्र-केसके क़ैदी आये, उसी वक़्त एक एंग्लो-इंडियन पुलीस इन्स्पेक्टर मीकको जेलर बनाकर भेजा गया। जेलमें वह कैसा इन्तिज़ाम कर सके, इसका तो यही उदाहरण है, कि सब पहरा-चौकी रहते भी एक दर्जनसे अधिक राजनीतिक क़ैदी जेलसे निकल भागनेमें समर्थ हुए। हज़ारीबाग़ जेलमें हज़ारों आदमियोंके खाने-कपड़े घर-दवाका इन्तिज़ाम करना पड़ता है, जिसमें लाखों रूपया सालानाका ख़र्च होता है। क़ैदियोंके लिए ख़र्च होनेवाले पैसेमेंसे जितना हड़प किया जा सके, उतना हड़प किया जावे, यह जेलका सनातनधर्म बहुत पहिलेसे चला आया था। मिस्टर मीक भी इस प्रलोभनसे न बच सके, और आगे तो गोरा होनेसे वह निर्भीक हो बड़े-बड़े ख़ुर्राट जेलरोंका कान काटने लगे। साधारण हड़प तो उन्होंने जारी ही रखी, मेरे हज़ारीबाग़में रहते वक़्त उनकी कोठी बन रही थी। जेलखानेके भीतर ईंटें बनती थीं, सुर्ख़ी कूटी जाती थी, लकड़ी-लोहेका

---

[1] हज़ारीबाग जेलके अधिकांश वार्डोंके कमरे बीचमें दीवारें दे सेलमें परिणत कर दिये गये हैं। यह बंगाल और पंजाबके क्रान्तिकारियोंके लिये किया गया था।

सामान तैयार होता था। दो-दो तीन-तीन हज़ारके गर्डर, दर्वाज़े, ईंट, पत्थर, दो-दो तीन-तीन सौमें नीलाम कराकर अपने दोस्तके नाम ले लेते। हर दूसरे-तीसरे महीने पुरानी मोटर लेते। जेलके क़ैदी मिस्त्री और मेकेनिकसे मदद ले मरम्मत करके उसे ठीक कर लेते। फिर दुगुना-तिगुना दामपर बेंच देते। उस वक़्त हज़ारीबाग़के सिविल सर्जन ही जेलके भी सुपरिंटेंडेंट होते थे। उन्हें जेलमें ज़्यादा समय देनेकी फ़ुर्सत ही कहाँ थी। एकाध घंटेके लिए आनेपर मीक साहेब जो दिखलाना चाहते, वही देखते। हिन्दुस्तानी सिविल सर्जन गोरा होनेसे उनसे डरते, अंग्रेज़ सिविल सर्जनकी दृष्टिमें मीक जैसा निर्मल आदमी कोई और जँचता ही नहीं था। धनवान क़ैदियोंकी बुरी दशा थी। उन्हें कोल्हू या चक्कीमें दिया जाता। अपने खींचकर कोल्हूमें तेल पेलना सिर्फ़ ज़ोरका काम ही नहीं, बल्कि थोड़ेसे घेरेमें घूमनेके कारण अस्वास्थ्यकर भी है। क़ैदी इस आफ़तसे बचनेके लिए घरसे रुपया मँगाकर जमादार और दूसरोंको देते। भागलपुरके कुछ अहीर मारपीटमें क़ैद होकर आये थे। उनमें एक बहुत हट्टा-कट्टा पहलवान जैसा आदमी था। हम लोग उस वक़्त (सितम्बर-अक्तूबर १९२४ ई०में) मलेरियामें बीमार हो अस्पताल गये थे। वह आदमी अस्पतालके बरांडेमें बैठा हुआ था, उठते वक़्त जब उसने दोनों हाथोंसे ज़मीनका सहारा लिया, तो हमें सन्देह हुआ। पूछनेपर मालूम हुआ कि उसे तेलके कोल्हूमें काम दिया गया था; वहीं उसपर मार पड़ी है। मारते वक़्त जेल-अधिकारी इस बातका ख्याल रखते, कि कोई निशान न पड़ने पाये, इसके लिए कम्बल ओढ़ाकर, भोथी चीज़ोंसे मारा जाता था, ऐसी मार मारी जाती, जिसमें पीड़ा ज़्यादा होती, किन्तु घाव भीतर लगती दूसरे ही दिन सुना कि वह अहीर मर गया। चाईबासाकी तरफ़से एक बंगाली बाबू गबनके मामलेमें सज़ा पाकर आये थे। तोंद निकली थी। बेचारोंका बहुत दूर तक चलना फिरना भी आसान न था, इसपरसे उन्हें भी कोल्हू दे दिया गया। काम क्या होता? मार पड़ती। वह भी दो-तीन बार अस्पतालमें आ चुके थे। पीछे क्या हालत हुई, इसका मुझे पता नहीं।

खून, रिश्वत, अत्याचारमें उस वक़्तका हज़ारीबाग़ जेल अपना सानी नहीं रखता था। एक गुजराती तरुण जम्शेदपुरसे मज़दूर-आन्दोलनके सम्बन्धमें क़ैद होकर आया था। उसपर न जाने कितनी बार बेंत पड़े, हथकड़ी-बेड़ी जैसी सज़ाओंकी तो बात ही क्या? अन्तमें वह पागल हो गया था।

हज़ारीबाग़में आनेपर मैंने सबसे पहिले एक अंग्रेज़ी पुस्तकके आधारपर ज्योतिष (जोतिस नहीं)पर बच्चोंके लिए कहानीके रूपमें एक छोटीसी पुस्तक लिखी;

जिसे, जब शाहाबाद ज़िलेके पंडित लक्ष्मीनारायण मिश्र छूटकर जाने लगे, तो लेते गये; किन्तु वह पुस्तक मुझे फिर नहीं मिली। "बाईसवीं सदी"के बाद मैंने अपने समयको ज्योतिषके एक बड़े ग्रंथ और खगोल-चित्र बनानेमें लगाया। मैंने संस्कृत ज्योतिषके कई ग्रंथ मँगाये, और अंग्रेज़ीके भी। पारिभाषिक शब्द कुछ पुराने लिये, कुछ नये बनाये, और ग्रंथ लिखना शुरू किया। इसमें ग्रहगणित, नक्षत्र, नीहारिका, धूमकेतु आदिपर काफ़ी लिखा गया था। साथमें तीन बड़े-बड़े खगोल चित्र दिये। दो में तो उत्तरी और दक्षिणी गोलार्धके नक्षत्रमंडलके हज़ारों तारोंके साथ दिये गये; और तीसरेमें पटनाके अक्षांशपर दिखलाई देनेवाले तारे थे। ९०से ऊपरके नक्षत्र-मंडलोंमें चालीसके आसपास ही तकके नाम संस्कृतमें मिल सके थे। बहुतसे नक्षत्र—जो भारतके दक्षिणान्तसे भी नहीं दिखाई देते, उनका नाम वहाँ कैसे मिलता ? मैंने सबके नाम गढ़े। अंग्रेज़ीमें छोटे-बड़े आकारवाले तारोंके गिननेमें अंकके अतिरिक्त यूनानी और दूसरे अक्षर व्यवहार किये जाते हैं। मैंने उनकी जगह ब्राह्मी आदि अक्षरोंका प्रयोग किया। ग्रंथका बहुतसा अंश अनुवाद मात्र था, प्रथम प्रयास होनेसे लिखनेके ढंगमें भी ज़्यादा त्रुटि रही होगी, किन्तु मुझे उसके लिखनेसे नक़द फ़ायदा हो रहा था——मालूम ही नहीं पड़ता था, कि मैं जेलमें हूँ। पेंसिल परकाल ले चित्र बनाते देख लोग जान गये कि मैं ज्योतिषपर कोई ग्रंथ लिख रहा हूँ। सिपाही बेचारे ज्योतिष (गणित ज्योतिष) और जोतिस (फलित ज्योतिष)का अन्तर क्या समझें ? वह समझते थे, जोतिस ही लिख रहे हैं। हिन्दुओंकी ऊँची जातोंमें जहाँ धनियोंके बच्चों-को छोटी ही उम्रमें शादी करनेके लिए लोग दौड़ पड़ते हैं, वहाँ ग़रीब लोग मुश्किलसे घर-ज़मीन बेंच रुपयेसे छोटी बच्चीको खरीद ब्याह करते हैं। उनमें कितने बिन ब्याहे ही रह जाते हैं, इसे देखना हो तो पुलीस और जेलके सिपाहियोंको जाकर देखो। एक दिन शामको एक अस्थायी जमादार आकर बड़ी नम्रतापूर्वक पूछने लगे——'बाबा, ये दो तारे जो इकट्ठा दिखलाई दे रहे हैं, इनका क्या फल है ?' मैंने जब अपना अज्ञान प्रकट किया, तो उनको विश्वास नहीं हुआ, और कहा——'लोग तो कहते हैं, अबके बड़े ज़ोरकी लगन है, ब्याह बहुत ज़्यादा होंगे।' धरतीपर ब्याहकी कोशिश करते-करते बेचारे हार गये थे, इसलिए उनकी नज़र अब आकाशके तारोंकी ओर गई थी।

मिस्टर मीकने मेरे पढ़नेके लिए कुछ उपन्यास दिये थे। शायद उस वक़्त ज्योतिष ग्रंथ लिखनेका काम ख़तम हो चुका था। मैंने समय काटनेके लिए साहसयात्रा-सम्बन्धी चार उपन्यासोंका हिन्दीमें स्वतन्त्र परिवर्तन कर डाला, जो पीछे 'सोनेकी ढाल' आदिके नामसे छपे।

१९२४ ई०के किसी महीनेमें 'तरुण भारत' (हिन्दी साप्ताहिक, पटना)के स्वामी लालबाबू और उसके मुद्रक हनुमान पंडित भी किसी लेखके लिए सज़ा पाकर चले आये। बाहर लालबाबूको कई प्रान्तीय कांग्रेस कमेटीकी बैठकोंमें देखा था, किन्तु यहाँ एक साथ रहनेका मौक़ा मिला। वह चौधुरी-टोला (पटना)के एक धनिक परिवारके व्यक्ति थे, और राष्ट्रीय कामोंमें रुपया ख़र्च करनेमें किसी तरहका संकोच नहीं करते थे। उनके सरल उदार हृदयका लोग अनुचित फ़ायदा उठाते थे, यह बात उन्हें मालूम नहीं होने पाती थी, और इसलिए पिछले तजर्बेसे कोई फ़ायदा नहीं उठा सकते थे। मुझसे वह अपनी उमंगों और कठिनाइयोंके बारेमें कहते, और मैं भी उन्हें वास्तविकतासे परिचय करानेकी कोशिश करता था। किन्तु इसमें सन्देह था, कि बाहर फिर ख़ुशामदियों—वंचकोंके घेरेमें पड़नेपर, रोज़-रोज़ मेरे साथके वार्तालापसे नोट की हुई हिदायतोंको वह याद रखते। लेकिन एक बात उन्होंने मनमें ठान ली थी—अपने लड़के मदनमोहनको विदेशमें इंजीनियर या इस तरहकी किसी दूसरी उत्पादक और देशके लिए उपयोगी विद्याको सीखनेके लिए भेजूँगा। उनके साथी बेचारे हनुमान पंडित तो पछताते थे; ख़ुशामद आदमी करता है, दूसरेको फाँसकर कुछ ऐंठनेके लिए, और यहाँ बेचारे ख़ुद ही फँस गये थे। पुरोहितजीको क्या पता था, कि "तरुणभारत"पर मुद्रकमें उनका नाम छपना इतना जोखिमका काम है। तो भी लालबाबू खाने-पीनेमें उनका ख़्याल रखते, वह घरकी चिन्तामें न पड़े रहें इसके लिए उन्हें प्रसन्न रखनेकी कोशिश करते थे।

क्वार-कार्तिकके महीनेमें, मैं, पंडित पारसनाथ त्रिपाठी, लालबाबू, हनूमान पंडित चारों जने मलेरियासे बीमार होकर अस्पताल गये। हम लोगोंका बुख़ार अच्छा हो गया, और हमें नीमू डालकर परवलका सूप मिलने लगा। लालबाबूका बुख़ार अभी भी वैसा ही था, किन्तु वह जीभको रोक न सकते थे। अच्छे हो जानेपर हमें तो वार्ड नम्बर-एकमें भेज दिया गया। किन्तु लालबाबू अस्पताल हीमें रहे। यदि मैं साथ रहता तो खान-पानकी बदपर्हेज़ीसे रोकता, किन्तु अस्पतालमें रहना अपने हाथकी तो बात नहीं थी। अस्पताल आने-जानेवाले आदमीसे मैं बराबर ख़बर लेता रहता था, लेकिन कभी यह ख़्याल भी नहीं आया था, कि वह लम्बा-चौड़ा स्वस्थ बलिष्ट भव्य तरुण शरीर फिर देखनेको नहीं मिलेगा। लालबाबू चले गये, और साथ ही बहुतसे मधुर मनोरथोंको लिए हुये।

पंडित पारसनाथ त्रिपाठीको मैंने बड़ा भाई बनाया था, 'बाबा'को छोटा भाई बनानेके लिए वे तैयार थे। कहाँ वह पूजा-पाठ, बात-बातपर भगवतीके नामकी

दुहाईके आदी थे, और कहाँ मैं इन चीज़ोंका कट्टर विरोधी। मैं ख़ूब मीठी चुटकियाँ लेता, उनके भगतपनका परिहास उड़ाता, किन्तु वह इसे कभी बुरा न मानते। बरस भरके क़रीब हम साथ रहे, किन्तु मुझे कोई दिन याद नहीं, जब हममें कभी मुँहफुलाव हुआ हो। उनके घरपर बड़े भाई परिवारका काम सँभालते थे, और वही अवलम्ब थे। बड़े भाईके कोई सन्तान न थी, और छोटे भाई (पारसनाथ)पर उनका असाधारण स्नेह था। मुलाक़ातका समय होनेपर शाहपुर पट्टी (आरा ज़िला)से हज़ारीबाग़ जेल पहुँचते; साथमें अचार, मिठाई और हफ़्ते भरके लिए ठकुआ, पकौड़ी और क्या-क्या लिवाये आते। भावीके हाथकी मीठी चीजें पारसनाथके मीठे शब्दोंके साथ और भी मीठी हो जाती थीं। हमें सिर्केमें डाली प्याज बहुत अच्छी लगती थी, और पारसनाथ पाव-पावभरकी दो शीशियोंको बराबर इसके लिए फँसाये रहते। लिखने-पढ़नेके हमारे समय नियत थे, उसके बाद हमारा समय वार्तालाप और मनोविनोदमें बीतता; वह अच्छे बात करनेवाले थे।

मुझे हज़ारीबाग़ जेलमें आये सालभरसे अधिक हो गया था, जब कि जेलके लिए एक अलग स्थायी सुपरिंटेंडेंट रखनेकी बात सर्कारने तै कर कप्तान अंगरको सुपरिंटेंडेंट बनाकर भेजा। साप्ताहिक परेडमें एक बार उनको देखता, किन्तु किसी वक़्त कोई बातचीतका काम नहीं पड़ा। उनके आनेपर जेलके क़ैदियोंको बहुत ख़ुशी हुई, खासकर यह सुनकर कि वह मीकके परामर्शसे स्वतन्त्र बुद्धि रखते हैं। क़ैदियोंका चावल अच्छा बनने लगा, तरकारियोंमेंसे घास अन्तर्धान हो गई, रोटीका रंग-रूप और परिमाण बढ़ गया। अपनी धाक क़ायम रखनेके लिए मीक साहेब और उनके अनुचर हर सप्ताह जो दो-तीनको बेंतकी सज़ा दिलवाते, उसमें भी कमी हुई। कई बार अंगर साहेब चुपकेसे और यकायक भीतर आ जेलके कामकी देखभाल करते। मीक साहेब भी बहुत जागरुक रहने लगे। तीन-चार महीने बीतते-बीतते अंगर साहेबकी पहिलेवाली तन्देही कम हो गई। क़ैदी कहने लगे——अंगर साहेबकी मेम अंग्रेज़ है, मीक साहेबकी मेम और लड़की (पत्नीकी लड़की) अंगरकी पत्नीकी ख़ुशामदमें पहुँचने लगी हैं, मीकके मायाजालसे कौन निकल सकता है? जेलसे छूटते वक़्त सचमुच ही मुझे विश्वास न था, कि अंगर साहेब जेलके रहस्यको समझकर समयकी प्रतीक्षा कर रहे हैं, और कुछ ही महीनोंमें मीकको ऐसा पकड़ेंगे, कि उन्हें गोली मारकर आत्महत्या करनेके लिए मजबूर होना पड़ेगा।

हज़ारीबाग़ जेलमें मेरे कुछ दिन कम दो वर्ष इतनी जल्दी बीत गये कि मुझे मालूम न हुआ। उससे पहिले ज़िन्दगीके किन्हीं दो वर्षोंमें दत्तचित्त हो पढ़ने-लिखनेमें

इतना व्यस्त नहीं रहा। लिखने-पढ़नेके अतिरिक्त कुछ फ्रेंच और अवेस्ताका भी मैंने अभ्यास किया। वैज्ञानिक दृष्टि और विस्तृत हुई। आर्यसमाजके विचारोंकी कट्टरता कम होने लगी, और बौद्ध धर्मकी ओर झुकाव बढ़ा। वेदकी निर्भ्रान्तता-पर सन्देह होने लगा, किन्तु ईश्वरपर विश्वास अब भी था। भाई रामगोपालके पत्र आते रहते थे, और जेलसे छूटते वक़्त मैंने बड़े उत्साहसे उनके पास लाहौरमें एक पत्र लिखा, कुछ दिनों बाद जब वह खत--रामगोपालजी मर गये--लिखा हुआ लौट आया, तो कई दिनों तक मेरा किसी काममें मन न लगता था।

१८ अप्रेल (१९२५ ई०)को दो वर्षकी सारी सजा भुगतनेके बाद हज़ारीबाग़ जेलसे मैं छोड़ दिया गया।

८

राजनीतिक शिथिलता (१९२५ ई०)

छपरामें मैं दो साल बाद पहुँचा। डिस्ट्रिक्टबोर्ड, ज़िला कांग्रेस कमीटीके मान-पत्रोंसे मुझे प्रसन्नता नहीं हुई; जब देखा, कि चारों ओर राजनीतिक शिथिलता है। डिस्ट्रिक्ट बोर्ड कांग्रेस के हाथमें था, मौलाना मज़हरुल्हक़ जैसा उसका चेयरमैन था, और इसमें शक नहीं कि हक़ साहेबकी प्रेरणा तथा डिप्टी इन्स्पेक्टर बाबू राधिकाप्रसादके सहयोगसे शिक्षामें सारन डिस्ट्रिक्टबोर्ड बहुत आगे बढ़ा। मातृभाषाकी शिक्षा सारे ज़िलेमें निःशुल्क कर दी गई थी, और ज़िलेमें शायद ही कोई जगह थी, जहाँके लड़कोंको पाठशालामें जानेके लिए एक मीलसे अधिक जानेकी ज़रूरत पड़ती हो। इतना होते भी, वैयक्तिक स्वार्थके लिए--अपने सम्बन्धियों और पिट्ठुओंको ठीकेदारी या दूसरा आर्थिक सुभीता दिलानेके लिए मेम्बर लोग आपसमें झगड़ते थे। (२८ अप्रेलको) डिस्ट्रिक्ट बोर्डके मानपत्रके उत्तरमें मैंने सदस्योंकी इस मनोवृत्तिके लिए फटकारा, और कुछ धमकीसी भी दी; जो हक़ साहेब जैसे वयोवृद्धके सामने उचित न था। उन्होंने बहुत मीठे शब्दोंमें इस अनधिकार चेष्टाकी ओर मेरा ध्यान आकर्षित किया। साधारण अज्ञान के अतिरिक्त इसमें दो वर्षका जेलका एकान्तवास भी कारण था।

पुराने कार्यकर्त्ताओंमें बहुतसे काम छोड़कर बैठ गये थे। पंडित गोरखनाथ त्रिवेदी जैसे वकालतकी पढ़ाई छोड़कर चले आये कितने ही लोगोंने परीक्षा पासकर वकालत

शुरू की थी। बा० विश्वेश्वरप्रसाद, शिवप्रसादसिंह, महेन्द्रनाथ जैसे कितने ही असहयोगी विद्यार्थियोंने फिरसे कालेजकी पढ़ाई शुरू कर दी थी। देशमें जहाँ-तहाँ हिन्दू-मुस्लिम झगड़े शुरू हो गये थे, और मुसलमान राष्ट्रीय आन्दोलनसे दूर हटते जा रहे थे। जहाँ-तहाँ हिन्दू सभायें क़ायम होने लगी थीं। सारन ज़िला हिन्दू-सभा भी मुझे मानपत्र देनेवाली संस्थाओंमें थी, किन्तु मैंने उसे निराश किया। मेरे दोस्तोंने प्रान्तीय हिन्दू सभाका मुझे उपसभापति चुन दिया था, किन्तु मैं शायद एकाध ही बार उसकी बैठकोंमें गया होऊँगा।

पहिले ज़िलेका दौरा करना ज़रूरी था, इसलिए गर्मीकी कोई पर्वाह न कर मैं निकल पड़ा। एकमा, सिसवनमें अब भी कार्यकर्त्ता मौजूद थे और काम चला जा रहा था। मीरगंज, भोरे थानोंकी कई सभाओंमें व्याख्यान देते मैं कटया पहुँचा। वैशाख पूर्णिमा नज़दीक थी, इसलिए बुद्धनिर्वाणके दिन बुद्ध-निर्वाण-स्थान कसया जानेकी इच्छा हुई। खुरहुरियाके बाबू महादेव रायने अपना हाथी दिया, और १३ मईकी रातको मैं कसयाके लिए रवाना हुआ। अभी दो घंटा रात बाक़ी थी, कि चाँदनी रातमें कुछ दूर पर हमें एक हाथी आता दिखाई पड़ा। उसपर हाथीवान तो दिखलाई नहीं पड़ रहा था, किन्तु हाथीका आकार असाधारण और गति तीव्र थी। हमारा हाथीवान डरने लगा,—यदि कहीं उसने देख लिया, तो हम यदि उतरकर भागनेमें समर्थ भी हुए, तो भी हाथीको मारकर तो वह ज़रूर ख़राब कर देगा। थोड़ी देर हमारी ओर आकर हाथी दूसरी ओर मुड़ गया, उस वक़्त उसपर चढ़े हुए सवार भी दिखलाई पड़े, तब हमारी जानमें जान आई। कसयामें एक ही दो वर्षसे वैशाख-पूर्णिमा (बुद्ध-निर्वाण दिन)को मेला लगने लगा था। मुझे यह देखकर प्रसन्नता हुई, कि जहाँ १९२० ई०में लोग यहाँकी बुद्धमूर्तिको वर्मावालोंका देवता समझ किसी तरहकी श्रद्धाकी तो बात ही क्या एक प्रकारकी घृणा प्रदर्शित करते थे, वहाँ अब पूजार्थियोंकी भीड़के मारे मन्दिरमें घुसना मुश्किल था। मन्दिरके द्वारके बाहर दो क़तारमें माली फूल-बताशा बेंच रहे थे। महास्थविर चन्द्रमणिसे भेंट हुई। पाँच वर्ष बाद अब वह ज़्यादा वृद्ध मालूम होते थे। वहाँ एक तरुण वर्मीभिक्षु (वासव) ठहरा हुआ था। मैंने चन्दा बाबा (महाचन्द्रमणि)से कहा, कि इन्हें संस्कृत पढ़कर भारतमें बौद्धधर्मका प्रचार करना चाहिए, तो उन्होंने उसे संस्कृत पढ़नेका इन्तिज़ाम कर देनेके लिए मेरे साथ कर दिया। कटयासे हम जलालपुर (कुचायकोट) आये। रुद्रनारायण खूब तत्परतासे काम कर रहे थे, और थानेने चुनकर उन्हें डिस्ट्रिक्टबोर्डमें भेजा था। बरौलीमें पहुँचे, तो यहाँ अभी शिवप्रसाद बाबू कामपर डटे हुए थे, यद्यपि कालेजकी

पढ़ाई पूरी कर आनेकी उनकी इच्छा थी, और राष्ट्रकर्मीको ऐसा ज़रूर कर लेना चाहिए—इस धारणाके कारण मैंने भी उन्हें उत्साहित किया। रेवतिथसे आगे दिघवामें मैंने गुर्जर-प्रतिहारोंके प्रसिद्ध ताम्रपत्रको मँगाकर पढ़नेकी कोशिश की। ब्राह्मी लिपिका अभ्यास तो मैंने जेलमें नक्षत्रचित्र बनाते वक़्त कर लिया, किन्तु यह ताम्र-लेख दूसरी लिपिमें था। गुरुकुल हरपुरजनमें गुरुकुल भैंसपालके आचार्य स्नातक युधिष्ठिर ठहरे हुए थे, वे बड़े आग्रहपूर्वक वर्मीभिक्षुको अपने साथ संस्कृत पढ़ानेके लिए ले गये। वासवने संस्कृतकी प्रथमा परीक्षा पास कर ली थी, और हिन्दी अच्छी तरह पढ़ने-बोलने लगा, उसी वक़्त संग्रहणीने आ घेरा, जिससे बेचारे तरुणके प्राण न बचे।

'हसरत उन गुंचोंप' है जो बिन खिले मुर्झा गये।'

१५ अगस्तको मैं एकमासे रेलपर चढ़कर कुआड़ीकी ओर जा रहा था। उसी ट्रेनसे पंचानन तिवारी हज़ारीबाग़ जेलसे छूटकर आ रहे थे। उन्हींसे मीककी आत्म-हत्याका पता लगा। मीरगंज (हथुआ) स्टेशनपर उतरनेपर मालूम हुआ, कि यहाँ महावीरी झंडा निकल रहा है। बाज़ारमें होकर जब सीवानसे आनेवाली सड़कपर पहुँचा, तो झंडेका जलूस नज़दीक आता दिखलाई पड़ा। क़स्बेमें बड़ी सनसनी थी, कि आज हिन्दू-मुसल्मानोंका झगड़ा होगा। 'मस्जिद'के सामने बाजा न बजना चाहिए—यह मुसल्मानोंकी माँग थी, उधर हिन्दू इसे अपने धर्मकी तौहीन समझते थे। महावीरी झंडाका सार्वजनिक प्रचार अभी नया-नया होने लगा था, और उसमें बहुत कुछ मुसल्मानोंको अपनी शक्ति दिखलानेका भाव काम कर रहा था। जलूसमें देखा, आगे-आगे मेरे परिचित एक पंजाबी उदासी साधु गेरुआ कपड़ा पहने चल रहे हैं। उन्होंने ही झंडा निकालनेकी प्रेरणा दी और उसका संगठन किया था। सड़कसे एक छोटी सड़क जहाँ बाज़ारकी ओर घूमती है, और फिर आगे मस्जिदपर पहुँचती है, वहाँ आकर उत्तेजित जनतामेंसे कुछ लोग बाज़ारकी ओर मुड़ पड़े। मैं जब उधर चलने लगा, तो स्वामीजीने मेरा हाथ पकड़कर उधर जानेसे मना किया। मैंने कहा—इस वक़्त उत्तेजित भीड़को शान्त रखनेकी अवश्यकता है। किन्तु स्वामी जीने आग तो लगा दी, अब मार खानेके डरसे थरथर काँपते थे। हाथ न छोड़नेपर मुझे उनकी कायरतापर बहुत क्रोध और घृणा आई, और ज़बर्दस्ती हाथको खींच इधर चल पड़ा। भीड़के कुछ आदमी आगे चले गये थे। सामनेसे जब वे गुज़रे, तो मस्जिदसे ईटें बरसने लगीं। फिर क्रुद्ध हो जलूसके लठधरोंने लाठी चलानी शुरू की। हिन्दू ज़्यादा थे, और मुसल्मान कम, इसलिए उन्हें भागना पड़ा। अब लोगोंने खदेड़कर

मारना शुरू किया। क़स्बेके हर हिस्सेमें मैं अकेला कैसे पहुँचता, किन्तु मैंने कई मुसल्मानोंके शरीरको अपने शरीरसे ढाँककर बचाया। उत्तेजित लठधारी हिन्दू दाँत पीसते हुए मुझे हट जानेके लिए कहते, किन्तु मुझपर एक नशा चढ़ा हुआ था, और मरने-पिटनेका ज़रा भी भय दिलमें न रखते हुए मैं निःशस्त्र मुसल्मानोंको बचा रहा था। मेरी काली अल्फी, मेरा नाम, और मेरा राष्ट्रीयकार्य लोगोंको मालूम था, इसलिए किसीने मेरे शरीरमें हाथ लगानेकी हिम्मत न की। जहाँ-तहाँ छिपे मुसल्मानोंको पकड़कर सुरक्षित स्थानमें ले जाना, उनकी रक्षा और गाँवकी शान्तिके लिए भी बहुत ज़रूरी था। पुलिसको डर था कि किसी मुसल्मानको पकड़कर थानेमें भेजनेसे बीच हीमें हिन्दू छीनकर मारने लगेंगे। उसी वक़्त उन्हें मेरी उपस्थिति और बचावके कामका पता लगा। दारोग़ाने ख़तरनाक स्थानों--विशेषकर मस्जिदके पासके घरोंसे निकालकर मुसल्मानों को थानेमें भेजनेमें मेरी सहायता चाही। आगे-आगे मुझे चलते देख, किसी हिन्दूने मारपीट करनेका साहस नहीं किया। शाम तक मार-पीट शान्त हो गई, किन्तु अभी भी उत्तेजना दूर न हुई थी। तब तक प्रान्तीय कौंसिलके मेम्बर सीवानके मौलवी ग़नी भी पहुँचे। हिन्दुओंको झगड़ाके लिए तैयार करनेमें उन स्वामीजीका जितना हाथ था, उतना ही, लोग कह रहे थे, मुसल्मानोंको तैयार करनेमें इनका हाथ है; किन्तु मुझे इसपर विश्वास न था। ग़नी साहेब मेरे पहिलेके कांग्रेसके सहकारी थे, और इधर के दो वर्षोंकि तूफ़ानका मुझे कोई पता न था। मैं उन्हें साथ ले घूमते हुए बाज़ारके उस तिरस्तेपर पहुँचा, जहाँसे सड़क उक्त मस्जिदकी ओर गई है। हम दोनों चारपाईपर बैठे लोगोंको समझा रहे थे, और मुझे उस वक़्त पता नहीं था, कि कुछ हिन्दू मौलवी ग़नीपर अपना क्रोध उतारना चाहते हैं। ख़ैर, मुझे साथमें देख उन्होंने वैसा करना पसन्द न किया। चाहे मौलवी ग़नी मुसल्मानों-को झगड़ेके लिए तैयार करनेवाले न हों, किन्तु पृथक् निर्वाचनमें कौंसिल चुनावकी सफलताके लिए अपनेको सबसे भारी मुस्लिम-हितैषी साबित करना ज़रूरी था; और शायद इसीलिए वैसा सोचा जाता था।

हिन्दूपनकी बू उस वक़्त तक मुझसे निकल गई थी, यह तो नहीं कह सकता, किन्तु हिन्दू-मुसल्मानोंकी एक रोटी-बेटी, एक जातीयताका पक्षपाती तो मैं इससे पहिले ही 'बाईसवीं सदी' लिखते वक़्त हो गया था। इस प्रकार मीरगंजमें मैंने जो कुछ देखा, उससे मुझे लड़ानेवाले हिन्दू, मुसल्मान अगुओंसे घृणा हो गई। एक ओर मैं यदि उस कायर स्वामीको देखता था, तो दूसरी ओर मस्जिदके पासके घरमें भागकर छिपे एक हट्टे-कट्टे मुसल्मान लड़ाकेकी सूरतको देख रहा था, जो लल-

कार मारपीट करानेमें आगे था, और जब घरसे निकालकर सुरक्षित स्थानपर चलनेके लिए कहा गया, तो संत्रस्त पशुकी भाँति पीठ गड़ाये न भेजनेके लिए गिड़गिड़ा रहा था।

असहयोग और राष्ट्रीय आन्दोलनकी तेजीके समय भोरे-कटयाकी पुलीस कुछ नर्म पड़ गई थी, किन्तु अब राजनीतिक शिथिलताके समय उसने फिर ज़ुल्म ढाना शुरू किया था। नये चुनावमें मैंने ज़िला कांग्रेसके उपसभापतिका पद स्वीकार किया, और हमने हाल हीमें छपरामें प्रेक्टिस शुरू किये हुए डाक्टर महमूदको सभापति बनाया। असहयोगी पुलीस सब-इन्स्पेक्टर बाबू रामानन्दसिंह हमारे मन्त्री थे। ज़िला कांग्रेसका सारा काम रामानन्द बाबू और मुझपर आ पड़ा था। पंडित गोरख-नाथ त्रिवेदी अब वकालत कर रहे थे। छपरामें पहिलेपहिल जिस दिन मैं राजनीतिक कार्यमें भाग लेने आया, उसी दिनसे हम दोनोंमें घनिष्ठता बढ़ती ही गई; और अब वकील होकर यहाँ बस जानेपर तो उनका घर मेरे लिए छपराका स्थायी निवास बन गया। त्रिवेदीजीने हज़ारीबाग़में गणितकी पुस्तकें भिजवानेमें बड़ी मदद की थी। वह ख़ुद गणितके एक अच्छे विद्यार्थी थे, और यदि भारत परतन्त्र न होता, तो विज्ञान या राष्ट्रीय उद्योगनिर्माणके किसी क्षेत्रके एक प्रमुख कार्यकर्त्ता होते। किसी चीज़को स्थायी और पवित्र न मानते हुए उसकी कड़ीसे कड़ी आलोचना और निर्माणमें हम दोनों एकसी प्रवृत्ति रखते थे। रातों हमने राजनीतिक, सामाजिक विषयोंपर बहस की, और कभी-कभी तो सुननेवालोंको सन्देह हो सकता था, कि हम वस्तुतः झगड़ रहे हैं, किन्तु हमारा दिमाग़ कभी गरम नहीं होने पाता। हम लोगोंका पारस्परिक सम्बन्ध सदा सगे भाईसे भी बढ़कर प्रेमका रहा, और यह सम्बन्ध उनकी माता और स्त्रीको भी इतना मालूम हो गया था, कि मैं हमेशा उनके परिवारका एक व्यक्ति समझा जाता रहा।

भोरेके दारोग़ाके अत्याचारोंको सुनकर ज़िला कांग्रेसकी ओरसे मैं और बाबू रामानन्दसिंह जाँच करने गये। रिश्वत लेनेके लिए पुलिसने क्या-क्या नहीं अत्याचार किये थे। किसीकी हथेलीपर खाटका पावा रख आदमी बैठाये गये थे, किसीको थाने-पर बुलाकर पीटा गया था, किसीपर झूठे गवाह तैयार कर मारपीटके मुक़दमे तैयार किये गये थे, किसीको झूठमूठ दफ़ा ११०में फँसानेका उद्योग किया गया था। वर्षाके दिनोंमें पानी-बूँदीमें, और कहीं-कहीं जाँघभर पानीमें चलकर २७-३१ अगस्तके पाँच दिनोंमें हमने हस्ताक्षर या अँगूठेकी निशानीके साथ पुलीसकी रिश्वतें, उसके अत्याचारोंके सम्बन्धमें वक्तव्य जमा किये। लोग पहिले कुछ कहनेसे डरते थे, किन्तु

हम लोगोंपर विश्वास था, इसलिए उन्हें वक्तव्य देनेकी हिम्मत हुई। हमने रिपोर्ट लिखी, और हमारे सभापति डाक्टर महमूदने ज़िला मजिस्ट्रेटसे स्वयं बातचीत की, और रिपोर्ट दे दी। मजिस्ट्रेटने कार्रवाई करनेके लिए वचन दिया, किन्तु वह आज तक हो रही है। इससे पता लगता है कि ब्रिटिश सर्कारका एक पैर पुलीस—जिसके अवलम्बपर वह भारतमें क़ायम है—कितना गन्दा, कितना अपराधपूर्ण है; और उसके दोषोंको किस तरह सर्कार और उसके उच्च अधिकारी ढाँक देते हैं।

मेरे जेलमें रहते मुज़फ़्फ़रपुरमें हिन्दू-महासभा हुई, जिसने बोधगया मन्दिरके बारेमें एक कमीटी बनाई। उधर कांग्रेसने भी उसके बारेमें एक कमीटी बनाई, दोनोंने उन्हीं सातों सदस्योंको रखा। सदस्योंमें मैं, बा० राजेन्द्रप्रसाद और जायसवालजी भी थे; राजेन्द्र बाबू सभापति थे। जाड़ोंमें (नवम्बर दिसम्बर १९२५ ई०) कमीटीकी बैठक गया, पटनामें हुई। बोधगया भी हम गये। महन्तने सीधे कोई सम्बन्ध रखना नहीं चाहा, किन्तु अपने एक वकीलको कार्रवाईको देखते रहनेके लिए भेजा। बहुतसे गवाह गुज़रे। महाबोधिमन्दिरके बारेमें पुराने और नये साहित्यको देखा। जिस जगह बुद्धने अपने मूल सिद्धान्त—अनात्मवाद (आत्मा—ईश्वर या जीव जैसी दुनियामें कोई चीज़ नहीं) और मध्यम-मार्ग (भोग और विरागकी पराकाष्टाका रास्ता छोड़ना)—खोज निकाले थे; जो स्थान ढाई हज़ार वर्षोंसे दुनियाके बौद्धोंके लिए परम पुनीत है, जिसके प्रति उनका उससे भी अधिक सम्मान है, जितना कि ईसाई-यहूदियोंका योरोशिलमसे, मुसल्मानोंका मक्कासे; आज वह स्थान ऐसे सम्प्रदायके महन्तके हाथमें है जो बड़े अभिमानपूर्वक कहता है—हमारे आचार्य शंकराचार्यने बौद्धोंको भारतसे निकाल भगाया।

लेकिन महाबोधि मन्दिरको बौद्धोंके हाथमें न जाने देनेमें सबसे बड़ा हाथ अंग्रेज़ी सर्कारका है। उसीने टेकारीके गाँवसे निकालकर उसे महन्त बोधगयाके गाँवमें डलवाया—सर्वेके काग़ज़ों और नक़शेमें जालसाज़ी की गई। वर्माके राजाने मन्दिरकी मरम्मत शुरू करवाई, पूजाके लिए भिक्षु रक्खे। वर्मी युद्धमें जब राजवंशका ख़ात्मा हो गया, और वर्मा ब्रिटिश सर्कारके हाथोंमें आ गया, तो उसने ख़ुद एक लाख रुपये लगाकर उसकी मरम्मत करवाई। जब देश-विदेशके बौद्ध और उनसे सहानुभूति रखनेवाले महाबोधि-मन्दिरका प्रश्न उठाने लगे, तो एक दिन सर्कारके स्थानीय बड़े अफ़सर, गयाके ज़िला मजिस्ट्रेटने मन्दिरको महन्तके हाथ सौंप दिया। अब वही सर्कार वैयक्तिक सम्पत्ति, दूसरेका चिरसे चला आता अधिकार कहकर उसमें अड़ंगा लगाती है। कितने ही बौद्ध देश अब भी स्वतन्त्र हैं। वहाँके लोगोंका बोधगया अड्डा

बन जावेगा, जो कि भारतमें ब्रिटिश-शासनके लिए खतरनाक साबित होगा—असल तो यह बात है, जिसने ब्रिटिश सर्कारको बौद्धोंके साथ न्याय करने नहीं दिया।

कमीटीके एक सदस्य श्री काशीप्रसाद जायसवाल भी थे, किन्तु वह गया और बोधगया नहीं जा सके, रिपोर्ट तैयार हो जानेपर उसमें उन्होंने कुछ परामर्श दिया। इसी वक़्त पहिलेपहिल मुझे उनको देखनेका मौक़ा मिला। अनागरिक धर्मपाल भी एक सदस्य थे, उन्होंने अपनी अनुपस्थितिमें ब्रह्मचारी देवप्रिय वलीसिंहको भेजा था। कमीटीके अधिकांश सदस्योंकी राय हुई, कि मन्दिरका प्रबन्ध बौद्धों और हिन्दुओंकी एक संयुक्त कमीटीको दे दिया जावे, जिसमें महन्त और एक सर्कारी मन्त्री रहे। मेरी राय थी, मन्दिर बौद्धोंके सुपुर्द कर दिया जाये, किन्तु एक मतके ख्यालसे मैंने रिपोर्टमें अपने विचारोंको पृथक् नहीं दर्ज किया।

रिपोर्टका काम खतम होनेके बाद कानपुर कांग्रेसका समय भी नज़दीक आ गया। मैं शायद पटना हीसे सीधे कानपुर गया। राष्ट्रीय आन्दोलन बिल्कुल शिथिल था। कोई खास काम नहीं हो रहा था, इसलिए कानपुर कांग्रेसके बाद मैंने कुछ महीनोंके भ्रमणका भी निश्चय कर लिया।

९

फिर हिमालयमें (१९२६ ई०)

मैं कानपुर कांग्रेसके लिए प्रतिनिधि तथा आल इंडिया कांग्रेस कमीटीका सदस्य था। वहाँ विषय-निर्वाचनी और खुले अधिवेशनके निर्जीव व्याख्यानोंको सुनता रहा। बलदेव चौबे भी आये थे, और एक युग बाद मिले थे। अधिवेशनके समाप्त होते ही हम दोनों भाई रामगोपालकी विधवा पत्नी श्री जानकीदेवीसे मिलने उनके नैहर हमीरपुर ज़िलेमें गये। जिस वक़्त लाहौरमें रामगोपालजी प्लेगके शिकार हुए, उस वक़्त बलदेवजी लाहौरमें थे, और उन्होंने उनकी बड़ी सेवा की थी। जानकीदेवीकी भी खोज-खबर वह और भाई महेशप्रसादजी बराबर लिया करते थे। हम चाहते थे, जानकीदेवी कहीं शहरमें पढ़ावें और कुछ स्वयं भी आगे पढ़ें, बलदेवजीने दिल्लीमें उनके लिए स्थान भी ठीक कर रखा था, किन्तु छोटेसे बेटेको ले रुपये-पैसेके व्यवहारको समेटकर वह उस वक़्त जानेको तैयार नहीं हुईं।

बलदेवजीने मेरे लिखनेपर भी बी० ए०की परीक्षा नहीं दी, और कालेज छोड़ दिया, यह मैं पहिले ही लिख चुका हूँ। मेरा उनका प्रथम परिचय मुसाफ़िर विद्यालय आगरामें १९१५के अन्तमें हुआ था, जो लाहौरमें १९१६में मिलनेके बाद और घनिष्ट होता गया। अपने आदर्शोंको मज़बूत करने और उनपर चलनेके लिए हमारे संकल्पको दृढ़ करनेमें उस समयके हमारे पारस्परिक विचार-विमर्श बहुत सहायक हुए। बलदेवजीका मुझपर बहुत स्नेह और विश्वास था, और मैं उन्हें कुछ थोड़ेसे घनिष्ट मित्रोंमें समझता रहा। बलदेवजी असहयोग करके अहमदाबाद साबरमती आश्रमको चले गये। पहिली जेलयात्राके बाद लाहौरके क़ौमी विद्यालयसे उन्होंने बी० ए० परीक्षा पास की। जब लाला लाजपतरायने अपनी लोकसेवक समिति क़ायम की, तो बलदेवजी उसके सदस्य बन गये; और आजकल मेरठमें अछूतोद्धार तथा राष्ट्रीय कार्य कर रहे थे।

बलदेवजीके साथ मैं भी मेरठ चला आया। शहरसे वाहर उनका 'कुमार-आश्रम' था, जिसमें अछूत जातिके कुछ लड़कोंके रहनेका इन्तिज़ाम था। बहिन महादेवीजी आर्यसमाजकी कन्यापाठशालामें पढ़ाती थीं। मेरठ ज़िला उस क्षेत्रमें है, जहाँकी ग्रामीण भाषा ही साहित्यिक हिन्दी और उर्दूकी बुनियाद है, किन्तु अभी भाषा तत्वसे उसपर विवेचन करनेके लिये मैंने अपनेको तैयार नहीं किया था। हाँ, बलदेवजीके साथ बैलगाड़ीपर मवाना, हस्तिनापुर, परीक्षितगढ़ और कितने ही और स्थानोंको देखनेका मुझे अवसर मिला। हस्तिनापुरमें दूर तक फैली गंगाकी कछार और कुछ ऊँचे-ऊँचे टीले देखनेको मिले; परीक्षितगढ़ एक अच्छा ख़ासा गाँव था। सबसे अधिक प्रभाव मेरे मनपर ईसाई मिश्नरियोंके एक कन्याविद्यालयको देखकर पड़ा, जिसमें अछूत जातिकी लड़कियोंको पढ़ानेका इन्तिज़ाम था। पढ़ाईके साथ-साथ उन्हें वैयक्तिक सफ़ाई घरके कामकाजको सिखलाया जाता था। मुझे तो हिन्दू होते मनुष्यताके अधिकारसे वंचित रहनेकी जगह उनका यह जीवन अधिक अच्छा मालूम होता था।

मेरठमें ही पहिलेपहिल श्री हरिनामदास—आजके भिक्षु आनन्द कौसल्यायन—से भेंट हुई। दो-तीन दिन साथ रहनेसे बातचीतका भी मौक़ा मिला, किन्तु उस वक़्त मालूम नहीं हुआ था, कि यह बातचीत हममें चिर-भ्रातृत्व क़ायम करने जा रही है। उनका शरीर उस वक़्त भी दुबला-पतला था, मानसिक-शारीरिक स्वच्छन्दताका उस वक़्त भी आभास मिलता था। उन्होंने कोई आदर्श वाक्य बनानेके लिए मुझसे कहा था, जिसपर मैंने लिख दिया था—'असिना गीतया चैव जयिष्ये भुवनत्रयम्'।

अभी ईश्वर विश्वास डिगा नहीं था, किसी वक्त पढ़े तिलकके गीतारहस्यका भी असर नहीं गया था। असि (तलवार)के सिद्धान्तपर आस्था रहनेसे ही मालूम होगा, कि सारे गांधीयुगने मेरे ऊपर कितना कम असर किया था।

भाई भगवती और अभिलाषचन्द्र आजकल इसी ज़िलेमें रहते थे। अभिलाषने मेकनिकल इंजीनियरिंगकी परीक्षा पास कर ली थी; किन्तु उसका सारा समय एक धनिककी मोटरलारियोंकी देखभालमें लगता था। जिस स्त्रीके लिए उसने "नैनागढ़" जीता था, वह अब उसके पैरोंकी बेड़ी हो गई थी, अब अपनी अगली उमंगोंको पूरा करनेके लिए उसके पर कट गये थे। उसकी बड़ी इच्छा थी, वायुयान-संचालक बननेकी, और उसके लिए वह सबसे योग्य आदमी था, किन्तु उसके वास्ते मौक़ा निकालना अब उसके वशसे बाहरकी बात थी। यदि स्वच्छन्द एकाकी होता, तो उसीके फेरमें आवारागर्दी करता, देश-विदेशकी खाक छानते कहीं-न-कहीं अवसर मिल ही जाता; किन्तु स्त्री और छोटीसी बच्चीको कैसे छोड़ता? उसका दाम्पत्य-जीवन भी सुखमय नहीं था। स्त्रीसे बहुत खटपट रहती थी, तो भी वह सदा पत्नीके साथ एक थालीमें भोजन करता। मुझे अभिलाषकी इस अवस्था और उसके भीतर निहित शक्तिको देखकर बहुत अफ़सोस हुआ। मैंने इसका ज़िक्र बलदेवजीसे किया। उस वक़्त उनकी धर्मपत्नी और बहिनजी भी मौजूद थीं। मुझे यह मालूम नहीं था, कि वह इस बिनापर दूसरे दिन आनेवाली अभिलाषकी स्त्रीको उपदेश देने लगेंगी। उपदेशको सुनकर स्त्री अभिलाषपर बहुत नाराज़ हुई। अभिलाषको इसके लिए मुझे कड़े शब्दोंमें उलाहना देना मेरे लिए उतना दुःखकर नहीं हुआ, जितना यह ख्याल कर कि अभिलाषको मेरी सहानुभूतिसे सांत्वना मिलनी तो दूर, मैं उलटा उसके चित्तकी व्यथाको बढ़ानेमें कारण बना।

बलदेवजीका गृहस्थ-जीवन भी सुखमय न था। ब्याह करना तो माँ-बापका कर्त्तव्य था, और उन्होंने दस ही बारहकी अवस्थामें उस कर्त्तव्यको पूरा कर दिया था। अब उसके परिणामको सारे जीवनभर भोगना था, सन्तानको। उनकी पत्नी बुद्धिहीन और कलहप्रिय थीं, और पतिसे झगड़नेके किसी उचित-अनुचित अवसरको हाथसे जाने नहीं देती थीं। बलदेवजीका स्वभाव गम्भीर, उनका मन शान्त था, किन्तु चौबीस घंटेके किचकिचका असर न पड़ै, यह हो ही नहीं सकता था। मैं उन्हें रातदिनकी जलती भट्ठीमें तपनेवाला तपस्वी समझता था, किन्तु मानसिक सहानुभूति—जिसे शब्दों द्वारा प्रकट करनेमें भी मैं हिचकिचाता था—के सिवाय और मैं कर ही क्या सकता था।

मेरठसे जनवरी (१९२६ ई०)के अन्तमें दिल्ली पहुँचा। मस्तानापन फिर सिरपर सवार था। दिनमें शहरमें घूमता, और एक-दो रात जमुनाके किनारे बिता दिये। एक कम्बल था, जाड़ेको भी काट-छाँटकर उसीके बराबर कर लिया था। लाल-क़िला, जामा-मस्जिद, तुग़लक़ोंके क़िलेपर अशोककी लाट, नई दिल्ली, क़ुतुब आदि दर्शनीय स्थानोंको देखता रहा। उस वक़्त तक फ़ीरोज़शाहका क़िला सैरगाहके रूपमें परिणत नहीं किया गया था। क़ुतुब देखकर रातको वहीं धर्मशालामें ठहर गया। एसेम्बलीके अधिवेशनमें शामिल होनेके लिए मुज़फ़्फ़रपुरके मौलाना शफ़ी दाऊदी आजकल दिल्ली हीमें थे। एक दिन उनका भी मेहमान रहा और एसेम्बलीके उद्घाटनके समय वाइसराय लार्ड रीडिंगके छत्रचँवरके अभिनयको भी देखा। एक दिन शहरसे गुज़रते वक़्त देखा एक जलूस आ रहा है, फिर घोड़ागाड़ीपर शंकराचार्य श्री भारती कृष्णतीर्थ स्वामीको देखा। जाकर चरण छू प्रणाम किया। उन्होंने मिलकर बहुत प्रसन्नता प्रकट की, और निवास-स्थानपर आनेके लिए कहा। अब हिन्दू-संगठन, मुस्लिम-तन्ज़ीमका ज़माना शुरू हो चुका था, इसलिए उनका समय इसी काममें लग रहा था। आजकल वह नई दिल्लीकी सनातन-धर्मसभाके वार्षिकोत्सव-में आये हुए थे। अधिवेशनमें उनके साथ मैं भी गया, किन्तु व्याख्यान देना स्वीकार नहीं किया, भीतरसे आर्यसमाजी विचार रखते, सिर्फ़ चुप्पीसे ही मैं सनातन धर्मित्वका मूक नाट्य कर सकता था।

स्वामी वेदानन्दजी बनारस छोड़ अब लाहौर चले आये थे, और गुरुदत्तभवनमें दयानन्द-उपदेशक-विद्यालयमें अध्यापक थे, स्वामी स्वतन्त्रतानन्द उसके आचार्य थे। मैं भी गुरुदत्तभवनमें ठहरा। पुराने दोस्तोंके परिचयको फिर जागृत करनेका अवसर मिला। पंडित भगवद्दत्तजीने डी० ए० वी० कालेजकी लाइब्रेरीको अब बहुत उन्नत कर लिया था। भारतीय संस्कृतिके अनुसंधान-सम्बन्धी छपे हुए देशी-विदेशी साहित्य-के अतिरिक्त उन्होंने बहुतसे हस्तलिखित ग्रंथ जमा कर लिये थे; और जमा करते जा रहे थे। उनका अध्ययन-अध्यापन, उनका दयानन्दके पथपर अनुराग पहिले ही जैसा दृढ़ था। मेरे शास्त्रीके वक़्तके प्रतिभाशाली छात्र श्री चिम्मनलाल अब पंडित विश्वबन्धु शास्त्री आजीवन सदस्य हो कालेजकी सेवा कर रहे थे। विश्वबन्धु-जीने एम० ए०में विश्वविद्यालयके रिकार्डको तोड़ा था। उन्हें विदेशमें पढ़नेके लिए सर्कारी छात्रवृत्ति मिल रही थी, किन्तु उसे उन्होंने स्वीकार नहीं किया। डाक्टर हो लौटनेपर वह पंजाब विश्वविद्यालयमें प्रोफ़ेसर हो जाते, और हज़ारों रुपये मासिक कमाते हुए आरामका जीवन व्यतीत करते, किन्तु उन्होंने उस सुखमय जीवनपर

लात मारा, और तपस्याके जीवनको स्वीकार किया। लाला खुशालचन्द 'खुर्सन्द'का रोज़ाना "मिलाप" बड़े ज़ोरशोरसे निकल रहा था, और अब वह शहरके सम्मानित प्रभावशाली पत्रकार तथा आर्यसमाजके प्रमुख नेता थे। मेरे लिए अब भी वह वही 'खुर्सन्द' थे, जिन्हें १९१६में मैंने 'आर्यगज़ट'के मुख्तसरसे आफ़िसमें अपने साथ मित्रके तौरपर अकेले बात करते हुए बीसियों बार पाया था। वह अब भी उसी तरह अकृत्रिम रूपसे मिले। उस समय वह 'आर्यगज़ट'के लिए लेखकी माँग करते थे, और अब उन्होंने 'मिलाप'के लिए कुछ लिखनेको कहा। मैंने "बाईसवीं सदी"के कुछ अध्याय उर्दूमें अनुवाद कर 'मिलाप'को दिये जो उसमें कई दिनों तक छपते रहे।

गुरुदत्तभवन, आर्यसमाज बच्छोवाली तथा दूसरी जगह मैंने कई व्याख्यान दिये जो आर्यसमाजी ढंगके थे, किन्तु उनमें बुद्धकी बहुत अधिक प्रशंसा होती थी। जातपाँतके विरुद्ध हर व्याख्यानमें कुछ ज़रूर कहा करता था। पिछले लाहौरके निवासों-में मैं पंजाबके भिन्न-भिन्न भागोंको देखनेकी लालसाको पूरा नहीं कर सका था, इसलिए अबकी बार जब आर्यप्रतिनिधि सभा—जिसका कार्यालय गुरुदत्तभवनमें ही था—वालोंने बाहरकी आर्यसमाजोंमें कुछ समय देनेके लिए कहा, तो मैंने उसे स्वीकार किया। एक बार—और शायद सबसे पहिले—(उर्दू) "प्रताप"के सम्पादक महा-शय कृष्णके साथ नई दिल्लीके आर्यसमाजके वार्षिकोत्सवमें व्याख्यान देने गया। उस समय कन्यागुरुकुल दिल्ली हीमें था, महाशय कृष्णके साथ मैं भी उसे देखने गया। आर्यसमाजकी शिक्षा-सम्बन्धी पुराणपन्थितासे मैं पहिले भी सहमत न था, किन्तु उनके उत्साहकी तो सराहना ही करनी पड़ती।

पंजाब और सीमान्तके भिन्न-भिन्न स्थानोंके भ्रमणको वहाँसे लिखकर पटनासे निकलनेवाले बाबू जगतनारायणलालके पत्र 'महावीर'में भेजता रहा, जिसमें कुछको छोड़कर बाक़ी अप्रकाशित रहे, और पीछे मैंने उन्हें 'मेरी लदाखयात्रा'में संगृहीत कर दिया। यात्राका अपेक्षित अंश यहाँ दिया ही जा रहा है, किन्तु वहाँ आर्यसमाजके अपने सम्बन्धको मैंने गुप्त रखा था, क्योंकि बिहारमें मुझे लोग वैरागी वैष्णव समझते थे; इसलिए उसी छूटे अंशके बारेमें यहाँ कुछ कहता हूँ। केम्बलपुर, रावलपिंडी, मुल्तानसे लेकर पुणछतकमें बहुत कुछ आर्यसमाजके वार्षिकोत्सवोंमें व्याख्यान देने गया था। रावलपिंडीके उत्सवके समय शंका-समाधानका काम मुझको दिया गया, और जवाबोंसे मालूम हुआ, कि महोबामें अन्तिम बार उपयुक्तकी गई वाद-विवादकी मेरी प्रतिभा कुंठित नहीं हुई है। आर्यसमाजी ही स्वामी रामोदार—यही नाम वहाँ

प्रसिद्ध था—की तर्कशक्तिकी दाद नहीं देते थे, बल्कि प्रश्न करनेवाले कादियानी मौलवीने भी मेरी हाज़िरजवाबीकी तारीफ़ की।

उस वक़्तके लिखे लेखोंसे मालूम होगा, कि आर्यसमाजका असर और कुछ-कुछ हिन्दू-मुस्लिम-संघर्षका असर भी मुझपर पड़ा था।

इस यात्रामें खैबरमें लंडीकोतल तक जानेका अवसर मिला, और आर्यसमाजके किसी प्रभावशाली नेताकी सिफ़ारिशपर ही। यदि पुलीसको मालूम होता, कि मैं दो-दो बार राजनीतिक अभियोगोंमें क़ैद काट चुका हूँ, तो न खैबरके भीतर ही घुसनेका मौका मिलता, न लदाख़ जानेका ही पर्मिट (आज्ञापत्र) पाता। रावलपिंडीके कुछ दोस्तोंने तो विश्वास दिलाया, कि पासपोर्ट भी यहाँसे आसानीसे मिल सकता है। मैंने उसके लिए दर्ख्वास्त भी दे दी, निकट भविष्यमें विदेश जानेकी मेरी उत्कट इच्छा थी, किन्तु पासपोर्ट बहुत छान-बीन कर दिया जाता है। पुलीसने शायद कनैलामें जाँच-पड़ताल की होगी, और उसे मेरे बिहारके राजनीतिक जीवनका पता लग गया होगा। कुछ भी हो, पासपोर्ट नहीं मिला।

इस वक़्त मैं गेरुआ लुंगी और चद्दरमें रहता था। सर्दीके वक़्त गर्म चादर ओढ़ता, जैसा कि पेशावरमें लिये फ़ोटोसे मालूम होगा। कर्वीमें मुझे पहिलेपहिल पता लगा था, कि मैं दुबला-पतला नहीं हूँ, जैसा कि लड़कपनसे चला आता था। हज़ारीबाग़में मेरा वज़न १५१ पौंड तक गया (आजकल मई १९४० ई०में १८३ पौंड है), तो भी उस वक्त मुझे मोटा नहीं कहा जा सकता था।

श्रीनगरमें आर्यसमाज-मन्दिरमें ठहरा, किन्तु भोजनके लिए अक्सर डाक्टर कुलभूषणके घर जाता। डाक्टर कुलभूषण हीकी सहायतासे मुझे लदाख़का परमिट मिला था, और उन्होंने ही लदाख़के इंजीनियर लाला रामरखामलको पत्र लिखकर मेरी आगेकी यात्राका प्रबन्ध कर दिया था।

कर्गिलमें लाला रामरखामल मिले। उनके तीन घोड़ोंमेंसे एक मेरे लिए रिज़र्व हो गया, और वहाँसे लदाख़, हेमिस तककी यात्रा उनके साथ बड़े आरामके साथ हुई। डाकबँगलों या खेमेमें सोते, घर जैसा पंजाबी पुष्ट भोजन करते—हाँ, उस वक़्त मैं निरामिषाहारी था, यद्यपि उसपरसे आस्था उठती जा रही थी।

लाला रामरखामलने राजके तहसीलदार तथा लेहके पंजाबी साहूकारों—जिनमें पंडित सन्तरामजीके चचेरे भाई तथा लेहके बहुत प्रभावशाली व्यापारी लाला शिवराम भी थे—से परिचय करा दिया। मैं स्वामी भी था, इसका भी प्रभाव कम न था, इसलिए आगेका प्रबन्ध उन लोगोंने कर दिया। लेहमें होशियारपुर ज़िलेके

बहुतसे व्यापारियोंकी दूकानें थीं, इनमेंसे लाला शिवरामजी जैसे कितनों हीकी दूकानें चीनी तुर्किस्तानके यारकंद, काशगर, खोतन शहरोंमें भी थीं। यहाँ आकर चीनी तुर्किस्तान जानेकी मेरी बड़ी इच्छा थी, किन्तु बीचमें सवाल था, पासपोर्टका। यदि उसका झगड़ा न होता, तो मैं सीधे उधर चला जाता, लाला शिवराम यात्रा आदिका पूरा प्रबन्ध करनेके लिए तैयार थे।

हेमिस्से लाला रामरखामल तो अपने कामसे चले गये, और मैं वहाँ कुछ दिनों ठहरा। हेमिस्के लामा स्तग्-सङ्-रस-पाको उन्होंने मुझे अच्छी तरह रखनेके लिये कह दिया था, और उन्होंने मेरा बड़ा ख्याल रखा। तिब्बती लोग (लदाखी लोग भी तिब्बती जातिके हैं) बिना मांसके भोजनको पसन्द नहीं करते, इसलिए निरामिष भोजनको उतना स्वादिष्ट नहीं बना सकते, तो भी मठसे रोटी, शलगमके पत्तोंकी तर्कारी, दूध, मक्खन, दही आदि आ जाते थे।

काल्पीमें रहते हुए, मैंने थोड़ा-थोड़ा मेस्मेरिज़्मका हथकंडा सीखा था—बहुत कुछ किताबके सहारे अपनी बुद्धिसे। एक दिन लामाने दिखलानेको कहा। मैंने एक दुभाषिया (उर्दू जाननेवाले)को एक छोटे लड़केके साथ लामाके भीतरी कमरेमें बुलाया। लड़केके अँगूठेके नाखुनपर एक छोटासा चमकता हुआ काला काजल-बिन्दु लगा दिया। फिर लड़केके अपने प्रतिबिम्बको साफ़ देख लेनेपर सजेश्चन (परामर्श) दे दे दूसरी चीज़ों, स्थानों, व्यक्तियोंका शब्द-चित्र बना देखनेकी प्रेरणा की। लड़का, बम्बई शहर, समुद्र, जहाज़, बोधगया मन्दिर—जैसे-जैसे मैं बतलाता—देखता गया। अन्तमें हेमिस् गुम्बा (मठ)के लामाके बैठकेमें लाकर उस वक़्तके बैठे आदमियोंके बारेमें पूछा, तो लड़केने परिचित आदमियोंके नाम अपरिचित आदमियोंकी आकृति और बैठनेके स्थानको बतला दिया। दुभाषियाने दर्वाज़ेसे बाहर निकलकर देखा, तो बात बिल्कुल सच थी। लड़का जिस वक़्त उस कमरेसे भीतर आया था, उस वक़्त वहाँ जो लोग बैठे थे, उनमें कितने चले गये थे, और कुछ नये आदमी वहाँ आकर बैठे थे। दुभाषियासे भी ज़्यादा इस बातका आश्चर्य लामाको हुआ। यह सब कुछ तब हुआ, जब कि मैं तिब्बती भाषासे अपरिचित होनेके कारण सीधे सजेश्सन् नहीं दे सकता, मेरे सजेश्सन्की भाषाको दुभाषिया अनुवाद करके लड़केको समझाता था।

दोपहर बाद लामाने अपने सामने इस प्रयोगको देखना चाहा। हम लोग इसके लिए मठसे नीचे सफ़ेदेके बाग़में लामा (महन्त)के बँगलेमें गये। वहाँ भी प्रयोग सफल रहा। काल्पीमें भी मैंने इसके तीन-चार प्रयोग किये थे, और तत्काल परोक्ष

स्थानमें बैठे आदमियोंकी पहिचान हर बार ठीक निकली थी, इसलिए सफलताके लिए मुझको अपनेपर विश्वास था।

लेहसे लौटकर खर्दोङ् पासके पार मैं नुब्रा उपत्यका देखने गया। खर्दोङ्की चढ़ाई और आगेकी यात्राका मैंने एक बड़ा सुन्दर वर्णन लिखा था, जिसे सुनकर राजेन्द्र बाबू इतने प्रभावित हुए, कि उन्होंने मेरी लदाख-यात्रा सम्बन्धी लेखोंको पुस्तकाकार प्रकाशित करनेके लिये बनारसके अपने एक मित्रको पत्र लिख डाला। वह लेख मैंने किसी पत्रको—शायद 'सरोज' (कलकत्ता)को भेज दिया था, किन्तु मूल या छपा लेख मुझे मिल नहीं सका।

लदाखके तहसीलदार साहेबने मेहरबानी करके अपने चपरासी गंगाराम (लदाखी होते हुए महाराजा रणवीरसिंहकी नीतिके अनुसार यह नाम उसे दिया गया था) तथा एक मुहर्रिरको मेरे साथ कर दिया था। हम लोग घोड़ेपर चढ़ शामके वक़्त खर्दोङ्की ओर चले। लदाखसे चीनी तुर्किस्तानका रास्ता इधर हीसे जाता है, इसलिए रास्तेकी मरम्मत होती रहती है। जगह-जगह सरायें भी मुसाफ़िरोंके लिए हैं। रास्तेमें ब्रिटिश सर्कारके चरस-अफ़सर मिल गये—हिन्दुस्तानमें खपत होनेवाली चरस या सुल्फ़ा क़रीब-क़रीब सारे चीनी तुर्किस्तानसे इसी रास्ते आता है, और उसपर निगरानीके लिए सर्कारका एक ख़ास अफ़सर यहाँ रहता है। चरस-अफ़सर खाँ साहेबने रातको साथ ही ठहरनेका निमन्त्रण दिया। हम लोग गाँवसे बहुत ऊपर जोत (पास)के ३, ४ मील रह जानेपर ठहरे। अब मैं दिल्लीकी तरह एक कम्बलसे जाड़ेको नाप-बाँध नहीं सकता था, इसलिए जाड़ेके लिए श्रीनगरसे लेकर चले ऊनी कपड़ोंमें भी यहाँ काफ़ी वृद्धि कर ली थी। पैरोंमें यारकन्दी पप्पू जूता, और उसके भीतर नम्देका मोज़ा सोते वक़्त भी पड़ा था, तम्बूके भीतर मैं कनटोपके ऊपर ऊनी चादरसे सारे मुँह-कान-शिरको ढाँके, देहपर चुकटू, लोई आदि ओढ़े सोया था, तो भी वहाँ ज़बर्दस्त सर्दी थी।

खाँ साहेब किसी नये रास्तेके टोहमें गये थे, इसलिए यहाँसे उन्हें दूसरी जगह जाना था। मैं और दोनों साथी घोड़ोंपर चढ़े, बेगारवाले किसानोंके साथ दो बजे रातको ही चल पड़े। लदाखमें बर्फ़की जोतोंको पार करनेका यही उचित समय समझा जाता है, जिसमें कि धूप निकलनेसे पहिले बर्फ़का रास्ता ख़तम हो जावे। धूप चढ़नेपर बर्फ़के नरम होनेसे आदमियों और जानवरोंके पैर धँसने लगते हैं, और उनके दरारमें फँस जानेका डर रहता है, साथ ही आसपासकी ऊँची जगहोंसे लाखों मनकी हिमानियोंके गिरनेका डर रहता है। थोड़ी दूर तक नालेके किनारेसे हमें

साधारण चढ़ाई चढ़नी थी, किन्तु अब भी हम १४००० फ़ीटसे ऊपर चढ़ रहे थे, और यदि घोड़ेपर न होते, तो आटा-चावलका भाव मालूम हुआ होता। फिर असली चढ़ाई शुरू हुई। घोड़े अब हर दस-दस क़दमपर साँस लेनेके लिए रुक जाते। थोड़ी दूर बाद हम श्वेत बर्फ़के फ़र्शपर चलने लगे, चाँदनी रातमें वह ख़ूब चमक रही थी। पतली हवाके कारण साँस लेने और पैरोंके उठानेमें किसको बात करनेकी फ़ुर्सत थी, और उस सन्नाटेमें सिर्फ़ जानवरोंकी साँसकी आवाज़ सुनाई देती थी। चढ़ाईके श्रमको हल्का करनेके लिए घोड़े गोमूत्रिका बनाते हुए टेढ़े रास्तेसे चल रहे थे, हाँफनेसे उनका पेट फूल-पचक रहा था, और पीछेका सारा शरीर मालूम होता था, मुँहको ढकेलकर पैरोंसे आगे खींच ले जावेगा। जानवरोंके कष्टको देखकर हम उन्हें अपने मनसे चलने देते थे। आमतौरसे थोड़ी देर रुकनेके बाद वे ख़ुद चल देते थे, नहीं तो ज़रासा लगामका इशारा कर देना पड़ता था। घोड़े सभी बेगार के थे, इसलिए लाला रामरखामलके मज़बूत टाँघनोंका मुक़ाबिला नहीं कर सकते थे। लदाखियोंने अपने कनटोपके ऊपर उठे हुए कनौटेको नीचे गिरा कानोंको ढाँक लिया था। और मैं ?——मैंने तो जो रातको मंकी कैपसे आँख-नाक छोड़कर सारे शिर और गर्दनको ढाँका था, और ऊपरसे ऊनी चादर बाँधी थी, उसे ज़रासी भी हटाया न था। कश्मीरसे आते वक़्त तीन जोतोंको पार करते हुए मैंने देख लिया था, कैसे इस ऊपरी हवाके कारण चेहरेका रंग झुलसकर काला हो जाता है, इसलिए अब नाक और उसके आसपासका जो थोड़ासा भाग ख़ाली था, उसपर वेस्लीन मल ली थी। हाथोंमें दस्ताने थे, और बाक़ी सारा शरीर अनेक तह मोटे ऊनी कपड़ोंसे ढँका था। इतनेपर भी सर्दीकी शिकायत अनुचित होगी, तो भीं मैं अनुमान कर सकता था, कि यहाँ कितनी ठंडक पड़ रही है।

धीरे-धीरे पैरोंसे नाँपते, मालूम होता था, युगोंमें रास्ता कट रहा है। पन्द्रह हज़ार, सोलह हज़ार, सत्रह हज़ार, अठारह हज़ार फ़ीटपर पहुँचना——कहनेमें आसान मालूम होता है, लेकिन ये हर एक हज़ार मनुष्य और पशुओंके फेफड़े, पैरों और पुट्ठोंपर कितना असह्य भार, कितनी पीड़ा पैदा करते हैं, इसका आभास भी शब्दों द्वारा चित्रित करना मुश्किल है। खर्दोङ् ला (जोत) अठारह हज़ार फ़ीट ऊँचा है, और तिब्बतके कठिन जोतोंमें गिना जाता है। ऊँचे स्थानोंपर उषा और सूर्यकी किरणें कुछ पहिले पहुँचती हैं, किन्तु हम अभी डाँडेसे नीचे ही थे, तभी ख़ूब सवेरा हो गया था। आज हवा और बादल नहीं थे, इसलिए यात्रा सुखपूर्वक हुई। लदाखी इसे देवताका प्रताप समझते थे।

जोतपर पहुँचकर हम घोड़ोंसे उतर गये। एक साथीने अदरकका एक टुकड़ा देते हुए कहा—जोतपर इसका खाना अच्छा होता है, इससे विषैली भूमिका असर जाता रहता है। वहाँ पतली बीरीकी शाखाओंमें लाल-पीली झंडियोंसे अलंकृत खर्दोङ् डांडेके देवताका स्थान था। लदाखी साथियोंने शो-शो कहा। हमने थोड़ा विश्राम किया, और घोड़ोंको उनके मालिकोंके हाथमें पकड़ा पैदल ही उतरना शुरू किया। मुझे यह पता न था, कि खर्दोङ्की उतराई चढ़ाईसे भी मुश्किल है। उतराईमें ऐसे भी सवारीपर चलना सवार और पशु दोनोंके लिए कष्टकी चीज़ है। एक दो फ़र्लाङ् हीमें जानवरकी पीठ कट जानेका अन्देशा रहता है। और यहाँकी चढ़ाई क्या, यह तो कहीं-कहीं ज़रासा पीछेकी ओर झुकी दीवारसे उतरना था। कितनी ही जगह मुझे चतुष्पाद बनना पड़ा। इस तरफ़ कई मील तक—परली तरफ़से दूनीसे भी अधिक दूर तक—बर्फ़ थी। लेकिन सारी जगह सीधी उतराई नहीं थी। खर्दोङ्की ऊपरी बर्फ़ कभी नहीं गलती, वह सनातन हिमानी है। ऊपरकी बर्फ़ गल जानेपर जब निचली कड़ी चिकनी चिरन्तन बर्फ़ ऊपर आ जाती है, तो बोझा ले चलनेवाले पशुओंके लिए बहुत ख़तरा हो जाता है। सीधी उतराईमें यदि पैर फिसला, तो बग़लमें हज़ारों फ़ीट नीचे अवस्थित सरोवरमें गिरकर फिर उनके जीते जी निकलनेकी आशा नहीं की जा सकती। ख़ैर, इस वक़्त अभी वह बर्फ़ अर्वाचीन बर्फ़ोंसे ढँकी थी।

नौ-दस बजेके क़रीब हम राजकीय सरायमें पहुँचे। यहीं खाना-पीना हुआ। घंटोंके विश्रामके बाद पशु-प्राणी फिर कुछ ताज़गी अनुभव करने लगे और दोपहर बाद हमने फिर प्रस्थान किया। यहाँके पहाड़ोंके सानु अधिकतर मिट्टीसे ढँके थे, और हल्की होनेपर भी शताब्दियोंसे होती वर्षाके पानीने उनको काट-काटकर खम्भ, खड्ड और गुफाओंकी शकलमें परिणत कर दिया था। इधर बस्ती नहीं दीख पड़ती थी। खर्दोङ्से आते नालेके सहारे चलते-चलते बहुत समय बाद हम शियोक नदीकी उपत्यकामें पहुँचे। शियोक सिन्धुनदकी दो प्रधान धाराओंमें है, यद्यपि सिन्धुका नाम इसकी दूसरी बहिनको मिला है, जो मानसरोवरकी ओरसे आ लेहसे ५, ६ मील नीचेसे गुज़रती है। तो भी सिन्धुमें समय-समयपर आनेवाली ख़तरनाक बाढ़ें शियोकके कारण ही होती हैं। अक्षय सनातन शियोक-हिमानी गलकर अपने भीतरसे एक मोटी धार इस नदीके आदि-स्रोतके रूपमें फेंकती है। जब तक धारके निकलनेका रास्ता खुला रहता है, तब तक ख़ैरियत है, किन्तु, जहाँ सर्दी आदिके कारण पानीने बर्फ़की चट्टान बन धारका रास्ता रोका, वहाँ फिर पश्चिमी पंजाब और पश्चिमोत्तर सीमान्तके सिन्धुतटवर्ती गाँवों और शहरोंकी ख़ैर नहीं। सर्कारकी ओरसे शियोक-हिमानीपर

चौकीदार रहते हैं। उनका काम है यह देखते रहना, कि धारका मार्ग मुक्त है या नहीं। बर्फ़के भीतरसे आती धारका रास्ता बन्द होते ही चौकीदार तहसीलदारके पास आदमी दौड़ाता है। अरबों मन पानीके जमा होकर काँच सदृश हिमप्राकारको तोड़नेमें कुछ दिनोंकी देर लगती है, तब तक, सावधानी करनेपर ख़तरेकी जगहोंपर ख़बर दी जा सकती है। लेहके तहसीलदार जिस वक़्त शियोक-हिमानीके ख़तरेका तार देगा, बाक़ी सभी तार रोककर उसे दिल्ली, स्कर्दो और सीमाप्रान्त-पंजाब भेजना होगा। चौकीदार वैसे भी हर सप्ताह नियमपूर्वक धारके पानीकी गहराई आदि लिख-कर भेजा करता है। एक बार गहराई कम होकर हिमानीका छिद्र बन्द होने लगा था। चौकीदारने रिपोर्ट भेजी, किन्तु तहसीलदारने उसे हमेशा जैसा काग़ज़ समझ रख छोड़ा। एक-दो दिन बाद जब उनकी नज़र काग़ज़पर पड़ी, तो परिस्थितिकी गम्भीरता उनकी समझमें आई, किन्तु जिस वक़्त वह तार भेज रहे थे, उस वक़्त ख़बर आई कि पानी स्कर्दोके पास तक पहुँच गया है।

शियोकके बायें तटपर धारसे कुछ ऊपरके गाँवमें हम रातको ठहरे। यहाँ सर्दी बहुत कम मालूम हो रही थी, शायद बहुत सर्द स्थानसे आनेके कारण। किन्तु ऐसे भी शियोक-उपत्यका गर्म है। गाँवमें ख़ूबानी आदिके दरख़्त हैं।

सबेरे चायपानके बाद हम फिर रवाना हुए, लोहेके झूलेवाले पुलसे शियोक नदी पार की, फिर दाहिनी ओरसे आती अधिकांश सूखी एक नदीकी उपत्यकामें बायेंसे घुसे। हम नुब्रामें रि-जोङ्के लामा सस-कुशोक्के पास जा रहे थे। रिजोङ्-लामा लदाख़के लामोंमें सबसे ज़्यादा शिक्षित और संस्कृत थे, इसलिए उनसे मिलकर बौद्ध-धर्मके बारेमें जानकारी प्राप्त करनेकी मुझे बड़ी इच्छा थी। लदाख़के और स्थानोंमें मैं १९३३में दुबारा गया था, किन्तु खर्दोङ् पार नुब्रामें १९२६के बाद फिर जानेका मौक़ा नहीं मिला, और मैं जो कुछ लिख रहा हूँ, वह स्मृतिके सहारे ही। शायद नुब्रासे पहिले कुछ झाड़ियाँसी मिली थीं। नुब्राके चारों ओर हरे-हरे गेहूँके खेत लहरा रहे थे। कितने ही ख़ूबानी, सफ़ेदे और वीरीके वृक्षोंके बाग़ थे। सरल रेखाओंसे बने लदाख़ी गाँवके सफ़ेद घर दूरसे बड़े सुन्दर मालूम होते थे।

हम लोग लामा (गुरु, महन्त)के निवास स्थानमें गये। दुभाषियाने मेरा परि-चय दिया। लामाने अपनी बैठकेमें बुलाया। यह साफ़ हवादार ही नहीं, बल्कि उसके सजानेमें काफ़ी सुरुचि प्रदर्शित की गई थी। लामा स्वयं चित्रकार थे, और दीवारों-पर उनके चित्रित किये गुलाबके फूल बहुत सुन्दर मालूम होते थे। खानेमें छूत-छातका तो सवाल ही न था, किन्तु मेरा निरामिषाहारी होना दूसरोंके लिए बला थी। यहाँ

साग-सब्ज़ी, दाल सभी दुर्लभ थे। ख़ैर, दूधके साथ पेटभर रोटी खा लेना मुश्किल नहीं था।

रिज़ोङ्-लामाकी उम्र उस वक़्त साठसे ऊपर थी। वह बहुत सफ़ाई-पसन्द आदमी थे। उनका बदन कुछ पतलासा, रंग पीलापन लिये हुए गोरा, चेहरेपर कम मांस, नाक कम चिपटी—हमारे मानसे भी वह जवानीमें सुन्दर रहे होंगे। लदाखके पुराने राजवंशमें पैदा होनेसे उन्हें सस्-कुशोक (कुशोक लदाखमें मठके महन्त भिक्षु-को कहते हैं, यद्यपि मध्य तिब्बतमें उसके लिए रिम्-पो-छेका व्यवहार होता है)—राजकुमार कुशोक—कहा जाता था। तिब्बती भाषा, उसके साहित्यपर घंटों हमारी बातचीत होती रही। उन्होंने कन्जूरमें अनुवादित महायान महापरिनिर्वाणसूत्रका कुछ अंश अर्थके साथ सुनाया—दुभाषियाने उसका अनुवाद करके बतलाया। मैंने लामासे लदाखियोंमें कुछ सुधार करनेकी बातें कहीं, जिन्हें कि हेमिस् कुशोकके सामने भी मैं रख चुका था; उनमें मुख्य थीं—सफ़ाईके अभावमें सदा गन्दा रहने-वाले लम्बे-लम्बे बालोंको पुरुष कटवा दें। बहुपति-विवाहके कारण पति न मिलनेसे लदाखी स्त्रियाँ दूसरे धर्मवालोंके साथ ब्याह कर लेती हैं, जिनसे लदाखमें उनकी संख्याका ह्रास हो रहा है, इसलिए बहुपतिविवाहकी प्रथा हटाकर हर भाईकी अलग-अलग शादी करनेकी रीति जारी करें। भिक्षुओंके पढ़ानेका समुचित प्रबन्ध करें। रिज़ोङ्ने मेरे सुझावोंका स्वागत करते हुए कहा, मैं भी इन बातोंका अनुभव करता हूँ। लामाको संस्कृतसे प्रेम था, कह रहे थे, अब तो बूढ़ा हो गया, नहीं तो संस्कृत पढ़ता।

दो या तीन दिन रहनेके बाद मैं नुब्रामें लेहकी ओर रवाना हुआ। लामाने अपने बनाये कुछ छोटे-छोटे चित्र तथा लेख दिये। मैं फिर लेह लौट आया।

गये रास्तेसे लौटनेको मैं बिल्कुल पसन्द नहीं करता। किस रास्ते लौटा जावे, इस पर मैं विचार कर चुका था, और मन्-पङ्-गोङ् झील देखते हन्ले, चुमुर्ति (तिब्बत), कनौरके रास्ते शिम्ला आनेका निश्चय किया था। लाला शिवराम इसके लिए पैसे-कौड़ीका इन्तिज़ाम करने लगे। हेमिस् लामाने हन्लेके अपने मठके प्रधान कर्मचारी, तथा कनौरके प्रथम बड़े गाँवके मुखियाके नाम परिचयपत्र लिख दिया।

हेमिस्में मैं मेलेके वक़्त गया था। सालमें एक बार इस वक़्त वहाँ धार्मिक नाट्य और नृत्य होता है, जिसे अंग्रेज़ डेविल-डेन्स (भूतनृत्य) कहकर पुकारते हैं। तरह-तरहके चेहरे और पोशाकके साथ यह अभिनय होता है, और उस वक़्त कितने ही युरोपीय यात्री भी पहुँच जाते हैं। इन यात्रियोंमें पेरिसकी एक चित्रकयित्री मदमोज़िल्

(कुमारी) लाफूजी भी थीं। वह फ्रेंच और इंग्लिश जानती थीं, और मेलेके खतम हो जानेके बाद मैं ही ऐसा आदमी था, जो अंग्रेज़ी जानता था, इस प्रकार हेमिस्में रहते हमारी घनिष्ठता बढ़ गई थी। नुब्रा जाते वक़्त लेह्में लाफूजीको मैंने एक बाग़में तम्बूके भीतर छोड़ा था। लौटके आनेपर मालूम हुआ वह डाकबंगलेमें चली गई हैं। उन्होंने कहा था कि लौटकर नुब्राके बारेमें मुझे ज़रूर बतलाइयेगा, इसलिए एक दिन मैं शामको डाकबँगले पहुँचा। लाफूजीने गुड-इव्निङ् (सुसायं) कहते हुए खूब ज़ोरसे हाथ मिलाया। फिर अपने नये मित्र मेजर मेसनको मुझसे मिलनेके लिए बुलाने गईं। बेचारीको भारतमें रहनेवाले अंग्रेज़ोंकी मनोवृत्तिका पता न था। मेजर मेसन आये तो सही, और उन्होंने गुड-इव्निङ् कहकर हाथ भी मिलाया, किन्तु उनकी चेष्टा, तथा उनके चेहरेसे साफ़ मालूम हो रहा था, कि वह लाफूजीके दबावके कारण यह सब यन्त्रवत् कर रहे थे। मेजर मेसन भारत-सर्कारके सर्वेविभागके उच्च कर्मचारी थे, कराकुरम पर्वतमालामें गवेषणाके लिए गये थे। लेह्के नायब-तहसीलदार उनके बारेमें सुना रहे थे—आगे जोतोंपर बर्फ़ ज़्यादा होनेसे रास्ता बन्द है, इसलिए बेगारके घोड़े, याक आदिका हम इन्तिज़ाम न कर सकते थे। एक दिन मेजर साहेब लाल-पीले होने लगे, तो मैंने कहा—साहेब, इतने जानवर और उनके आदमी जो इन खतरनाक जोतोंमें जावेंगे, उनकी जानकी ज़िम्मेवारी कौन लेगा? इसपर साहेब बहुत बिगड़े—"यह गाँधीवाला मालूम होता है।" मेजर मेसन जैसे अंग्रेज़ कर्मचारी ही हैं, जिन्होंने भारतमें अंग्रेज़ोंको वैयक्तिक तौरसे हमारे लिए असह्य बना दिया। उससे ज़्यादा मुझे उनसे साबिक़ा नहीं पड़ा। मैं इसे सुसंयोग समझता हूँ, जो मुझे किसी अंग्रेज़की गुस्ताख़ीका सामना नहीं करना पड़ा, नहीं तो आत्मसम्मानकी जो आग ऐसे वक़्त मेरे हृदयमें भड़क उठती है, उससे अनर्थ हो सकता था।

लदाख़के राजाके प्रासाद, शंकरगुम्बा, पितोक्गुम्बा, फियाङ्-गुम्बा, सेह्-प्रासाद आदि लेह्के आसपासके दर्शनीय स्थानोंको मैं देख चुका था। लाला शिवरामने रास्तेके लिए सौ रुपयेके क़रीब जमाकर दिये, और मैं आगेकी यात्राके लिए रवाना हुआ। तहसीलदार साहेबने गंगारामको हन्ले तकके लिए साथ कर दिया। रास्तेमें ठिक्सेकी गुम्बाको देखता रातको चिमरेसे आगे, पुराने राजप्रासादके ध्वंसके पास सर्कारी सरायमें ठहरा। गंगाराम चपरासीसे लदाख़का कोई गाँव बचा न था। उसकी वजहसे मुझे कोई तकलीफ़ न होती थी। वह गोवा (मुखिया)को पकड़ता। जहाँ सराय या ठहरनेका सर्कारी स्थान—और चाङ्-लाके आगे उसका अभाव था—न होता, वहाँ किसी अच्छे घरके सबसे अच्छे कमरेमें ठहरनेका इन्तिज़ाम होता। घोड़े

पड़ाव-पड़ावपर बदलते जाते। खानेका सामान मुखिया मुहैया करता, यद्यपि मैं दाम चुका देता। निरामिषाहार नियमको जो नवद्वीपके रास्तेमें अजाने तोड़ा था, अब वस्तुतः वह भार मालूम होता था और दिलसे बिल्कुल टूट चुका था, किन्तु अभी खुल्लंखुल्ला उसकी अवहेलना नहीं कर रहा था, और इसकी वजहसे इधर खाद्यसामग्री जुटानेवालों और मुझे भी तकलीफ़ हो रही थी। सरायमें दो एक लदाख़ी अरगोन (कश्मीरी मुसल्मानसे लदाख़ी स्त्रीका लड़का) मुसल्मान भी ठहरे हुए थे, वह चाङ्-थाङ् (लदाख और उसके पूर्वी सीमान्त मानसरोवर-ब्रह्मपुत्रसे उत्तर, मध्य-एसिया तक फैला निर्जन प्रदेश) व्यापारके लिए जा रहे थे। उनके पास चाय, कपड़े, चीनीके बर्तन, तथा दूसरी कारखानोंकी बनी चीज़ें थीं। चाङ्-थाङ्के ख़ानाबदोशों (घुमन्तू)को वे इन चीज़ोंको अगले साल ऊन, समूर, पट्टू आदिके बदले दे आते थे, दूसरे साल फिर अगले सालके लिए उधार देकर, पिछले सालकी वसूली करते। खानाबदोश सीधे-सादे तथा लदाख़ी ग्रामीणोंकी भाँति बड़े ईमानदार होते हैं, इसलिए दुगना-तिगुना नफ़ा होना निश्चित था। आजकल (जुलाई या अगस्त १९२६ ई०) उनके व्यापारका समय था।

दूसरे दिन हम जोत्की तरफ़ बढ़े। इस जोतका नाम चाङ्-ला मैं पुराने स्मरणके सहारे कह रहा हूँ, हो सकता है इसमें ग़ल्ती हो। यह लेहसे पूरब तरफ़ है। यह भी खर्-दोङ्की भाँति ही बहुत ऊँचा डाँडा (जोत) है, किन्तु इसकी चढ़ाई-उतराई उतनी तीखी नहीं है। मेरुपर दोनों तरफ़—उतराईकी ओर बेशी—दूर तक बरफ़ थी। शामसे बहुत पहिले हम उस पारके गाँवमें पहुँचे। उस गाँवका इतना ही स्मरण है, कि दूसरे दिन सवारीके लिए घोड़ा और सामान ले चलनेके लिए दो या तीन औरतें मिली थीं। वह सभी एक उम्रकी तरुणियाँ थीं। बूढ़े गंगारामको छंग (कच्ची शराब) पीने और मज़ाक़ करनेका बहुत शौक़ था। वे तिब्बती भाषामें बोल रहे थे, इसलिए मैं तो समझ न पाता था, किन्तु बीच-बीचमें ठहाका ख़ूब लगता था। वैसे तो ज़ोजीला पार होते ही वनस्पति विशेषकर वृक्षोंका दर्शन दुर्लभ हो जाता है, किन्तु इधर तो उसका बिल्कुल ही अभाव था। कारण स्थानकी ऊँचाई और सर्दी थी। नदी पतली थी, किन्तु उसकी उपत्यका बहुत चौड़ी थी, और चारों ओरके पहाड़ नंगे थे। पश्चिमी हिमालयके रास्तेके सम्बन्धमें एक अंग्रेज़ी पुस्तक, सर्कारी सर्वेविभागसे प्रकाशित, मुझे रावलपिंडीके एक कबाड़ियेकी दूकानमें मिल गई थी, इसलिए उससे रास्तेकी जानकारीमें बड़ी मदद मिल रही थी। शायद दूसरे दिन हमें इस नदीको छोड़ दूसरी सूखीसी उपत्यका पकड़नी पड़ी। रातको एक छोटेसे गाँवमें

ठहरे। वहाँके घरोंमें लकड़ीका नाममात्र उपयोग होनेसे वे अनगढ़ पत्थरोंके ढेरसे मालूम पड़ते हैं। लोग मुश्किलसे सत्तूभरके लिए कुछ खेती कर लेते हैं, नहीं तो उनका गुज़ारा भेड़ और याक्के दूध, मांसपर होता है। आगके पास बैठे हम चाय पी रहे थे, पासमें घरकी बूढ़ी दादी घुमौआ मानी (प्रार्थनाचक्र) लिये घुमा रही थीं। मैंने बात-चीतमें पूछा—'बूढ़ी दादी! मरकर कहाँ जन्म लेनेका मन है?' झट जवाब मिला—'ग्यगर दोर्जे-दन् (भारत बोधगया)।' मैंने कहा—'तो अभी चलो न, मैं उधर ही जा रहा हूँ।' लेकिन जीते जी दोर्जे-दन् जानेके लिए बूढ़ी दादी तैयार न थीं।

आगे दो उपत्यकायें ऊपर उठती किसी पर्वत मेरुपर न मिलकर एक छोटेसे तालाबको अपना जलविभाजक बनाती थीं, चढ़ाई-उतराई वहाँ इतनी कम थी, कि मालूम नहीं हुई। तालाब बहुत छोटा था, और उसमें सेवारकी तरहकी कोई घास फैली हुई थी। पानी स्वच्छ नहीं था। पुस्तकमें इसका नाम चकर-तालाब देखकर, हिन्दी नाम मुझे कुछ अजीबसा मालूम हुआ। गंगारामने कहा—कोई साहेब किसी पथ-प्रदर्शकके साथ यहाँ आया। साहेबके प्रत्येक प्रश्नका जवाब तुरन्त न दिया जाये, तो पथप्रदर्शक अयोग्य समझा जावे। साहेबने पूछ दिया—'इस तालावका नाम क्या है?' पथप्रदर्शक बिना एक मिनटकी देरीके बोल उठा—'चकर हुज़ूर!' चा-कर (पक्षि-श्वेत)का अर्थ सफ़ेद चिड़िया है। पथप्रदर्शककी नज़र उसपर पड़ी, और उसने वही नाम रख दिया।

मन्-पङ्-गोङ् झीलके पास उपत्यका टेढ़ी-मेढ़ी हो गई थी, और हम उसके बहुत पास आ गये जब कि झील पर हमारी नज़र पड़ी। मन-पङ्-गोङ् नीले पानीकी पचासों मील तक फैली एक टेढ़ी-मेढ़ी झील है, इसका आधेसे अधिक भाग तिब्बतकी सीमाके भीतर है। पानी स्वच्छ दीख पड़ता है, किन्तु उसमें कोई मछली नहीं। लोग कहते हैं, पानीमें ज़हर है, इसलिए मछली जी नहीं सकती। जाड़ोंमें पानी जम जाता है, उस वक़्त आदमी उसके ऊपरसे रास्ता बना लेते हैं।

हमें उस दिन जिस गाँवमें रहना था, वह पच्छिम-उत्तरके कोनेपर था। शायद दो या तीन घर थे। जब सभी भाइयोंके लिए एक ही स्त्री मिलनेवाली हो, तो एकसे दो घर होनेकी वहाँ सम्भावना कहाँ, इसलिए ये दो घर 'सृष्टिकी आदि'से चले आते समझिये। गाँवमें पहुँचनेके बाद जो हवा शुरू हुई, तो वह रात तक चलती रही, जिसके कारण सर्दी और बढ़ गई थी। गंगारामने रोटी बनाई, दूधके साथ भोजन किया। गंगारामको तो गाँवमें पहुँचनेके साथ छंग मिलनी ज़रूरी थी, और लदाखके

गाँवोंके लिए वह तहसीलदार-साहेबसे कम न था। पहुँचतेके साथ छंगकी मटकी उनके सामने आन उपस्थित होती।

दूसरे दिन हम पूरबकी तरफ़ झीलकी ओर मुड़े। कलकी उपत्यकाका मुँह पार किया। आसपासके पहाड़ बहुत छोटे, टीलेसे मालूम होते थे, जिनके सानुओं और कक्षोंमें भारी बालुकाराशि जमा थी। दोपहरकी चाय हमने एक छोटेसे गाँवमें पी। यहाँ खेतोंमें सिर्फ़ छोटी मटर दिखलाई पड़ी। चौदह हज़ार फ़ीटसे ऊपर भी खेती हो सकती है, इसका नमूना यहीं देखा। छोटी मटरके अतिरिक्त शायद नंगा जौ ही था, जो यहाँ पक सकता था। आगे भी रास्ता झीलके तटके पाससे था। वहाँ ज़मीनसे बड़े-बड़े वृक्षोंके निम्न भाग खोदकर निकाले जाते थे। आज तो यहाँ वीरी जैसा बेशरम वृक्ष भी दातुवन लायक़ ही रह जाता है, किन्तु पहिले किसी युगमें मालूम होता है, यहाँकी आबो हवा इतनी सर्द न थी; हो सकता है, उस वक़्त हिमालयकी ऊँचाई भी इतनी न रही हो, जब कि यहाँ इस तरहके विशालकाय वृक्ष होते थे।

एक छोटीसी मानीके पाससे हमारा रास्ता दाहिनी ओर मुड़ा। शायद उधरसे कोई छोटीसी नदी भी आ रही थी। आगे नई उपत्यका जो मिली, वह हरी घासका मैदानसा मालूम हो रही थी, जिसमें जहाँ-तहाँ हज़ारों याक (चँवरी गायें) चर रही थीं। उसके किनारे-किनारे हमें घंटों चलना पड़ा, और चार बजेके क़रीब एक अपेक्षाकृत बड़े गाँवमें पहुँचे। यहाँ एक छोटासा वीरीका बाग़ था, जो शायद राजकी ओरसे लगाया गया था। इसके वृक्ष बहुत छोटे-छोटे थे। आगन्तुकोंके—विशेषकर सर्कारी आदमियोंके—ठहरनेके लिए वहाँ एक छोटासा घर था। चीनी, सूखा फल तो हमारे पास था, किन्तु यहाँ साग और तर्कारी नहीं थी। श्रीनगरमें मैंने एक कश्मीरी पंडितके यहाँ छेने (पनीर)की तर्कारी खाई थी, जो स्वादमें बिल्कुल मछलीसी मालूम होती थी। दूधकी वहाँ कमी न थी। मैंने गंगारामसे छेनासे तर्कारी बनानेके लिए कहा, ख़ुद भी सहायता की, किन्तु छेनेकी टिकियाको घीमें भूनकर बनानेकी विधिसे परिचय न होनेसे छेना टूट-टाटकर रबड़ीसा बन गया। शामको मैं गाँवकी गुम्बा (मठ) देखने गया। बुद्धकी मूर्तिके अतिरिक्त वहाँ कितनी ही युगनद्ध (यब्-युम्—मैथुनासक्त) मूर्तियाँ थीं। ऐसी मूर्तियोंको लदाख़में पहिलेपहिल देखकर मुझे तिब्बतके बौद्ध-धर्मपर बहुत गुस्सा आता था; क्योंकि उस वक़्त मैं यह न समझ पाया था, कि यह भी भारतकी देन है।

अगले दिन फिर हमें नये घोड़े मिले। हम एक जोतकी ओर बढ़े। रास्तेमें दूसरे गाँवका स्मरण नहीं। जोतके देवताके स्थानपर झंडियाँ और सैकड़ों वर्षोंसे

पूजामें चढ़ी याक, हिरनके अतिरिक्त जंगली भेड़की मोटी-मोटी सींगें भी थीं। चढ़ाईकी भाँति उतराई भी आसान थी, और दोपहरको हम याकवालोंके काले तम्बुओं-में पहुँचे। लदाखके कुत्ते भी बहुत बड़े होते हैं, किन्तु यहाँके लम्बे-लम्बे काले बालों-वाले विशाल कुत्ते तो बहुत खूँख्वार मालूम होते थे। लेहमें ही सुन चुका था कि चाङ्-थाङ्के कुत्ते बहुत खतरनाक होते हैं, दूसरी जगह तो घोड़ेके सवारको वे भूँककर ही छोड़ देते हैं, किन्तु यहाँ वे कूदकर हमला कर देते हैं; इसलिए मैं ज़्यादा भयभीत रहता था। तम्बुओंके पास पहुँचते ही दो-तीन कुत्ते 'हाँव' 'हाँव' करके पास दौड़ आये। खैर, तम्बूवालोंने पहुँचकर उन्हें भगाया। गंगारामसे 'जू-ले' (प्रणाम) होने लगा। एक तम्बूमें हमारे बैठनेके लिए स्थान बनाया गया, और थोड़ी देरमें आगपर देगचीकी चाय खौलने लगी। ख़ूब आड़े हाथ मक्खन डाल चाय तैयार हुई, और मैंने अपनी प्यास बुझाई। गंगारामके लिए छङ्की ठिलिया हाज़िर थी।

तम्बुओंसे सिन्धुके पारवाले पहाड़ हमें बिल्कुल साफ़ दिखलाई पड़ रहे थे, किन्तु चलनेपर हमें मालूम हुआ कि यहाँके स्वच्छ वायुमंडलमें दूरी नापनेमें दृष्टि बड़ी भ्रामक होती है। दो बजेके क़रीब हम रवाना हुए। सूर्यास्त हुआ, किन्तु अब भी वे पहाड़ उतनी ही दूरपर थे। अँधेरा हुआ, घंटाभर रात गई, अँधेरेमें साफ़ नहीं दीख रहा था, किन्तु अब भी सिन्धुकी धारका पता नहीं था। हमें दूर आगकी रोशनी दिखाई पड़ी। उसके पीछे भी घंटे-डेढ़ घंटे चले। आग कभी-कभी बुझ जाती थी। गंगाराम उधर ही जाना चाहते थे, और मैं निराश होकर चाहता था, कहीं विश्राम करना। मैंने गंगारामसे कहा—'अरे, वह आदमीकी जलाई आग नहीं है। मालूम होता है, कोई भूत हमें धोखा देना चाहता है।' गंगारामने क़बूल किया—'इधर भूत बहुत हैं, और कभी-कभी वे मुसाफ़िरोंके साथ ऐसी चाल चलते हैं।' उनको भूतकी बात सच मालूम हुई, और फिर अन्दाज़से नदीकी धारकी ओर हम बढ़े। नौ बजेके क़रीब हम पानीके पास पहुँचे। गंगारामका इरादा था रात हीको नदी पार कर जाना, किन्तु शामको हिमानियोंसे गलकर आया पानी कई गुना बढ़ जाता है। घोड़ेकी पीठ-पर चढ़कर गंगाराम थाह लेने गये, पानी ज़्यादा था। रातको कहीं पानी और न बढ़ आये, इसलिए जलके किनारेसे, कुछ हटकर हमने रातके विश्रामका इन्तिज़ाम किया। कपड़े हमारे पास काफ़ी थे, इसलिए सर्दीके लिए बेफ़िक्र थे। रातको चायका इन्तिज़ाम हो नहीं सकता था, इसलिए हम लोग बिना खाये-पिये ही सो गये।

सबेरे गंगाराम घोड़ेकी नंगी पीठपर चढ़कर धारकी थाह ले आये। सिन्धु यहाँ गहरी न थी, जाँघ बराबर पानी था। पहिले सामान फिर हम लोग पार उतरे।

अब हम नदीके बायें किनारेसे चल रहे थे। पहाड़ कहीं नज़दीक और कहीं दूर हट जाते थे। इस तरफ़से भेड़ों (अधिकतर नर)के झुंड पीठपर नमक और दूसरा सामान लादे चले जा रहे थे। उनके साथ एक-दो गदहे भी थे, जिनपर तम्बू, चा-दुङ (चाय मथनेका लम्बा फोंफा) और दूसरा सामान लदा हुआ था। साथमें कुछ पुरुष और स्त्रियाँ थीं। उस वक़्त मेरे दिलमें एक ज़बर्दस्त लालसा पैदा हुई।—क्या ही अच्छा होता, कि मैं भी इसी तरह कुछ भेड़ों, एक-दो गदहों, और एक तिब्बती तरुणीके साथ एक जगहसे दूसरी जगह घूमता फिरता। जहाँ मन आता वहाँ तम्बू लगाता। तरुणी और मैं मिलकर गदहों और भेड़ोंसे सामान उतारते। दो बड़े कुत्ते हमारी चीज़ोंकी रखवाली करते। तरुणी चाय बनाती, फिर उस निर्जन निर्वृक्ष नंगी पार्वत्य-उपत्यकामें हम दोनों एक निर्द्वन्द विचित्रसा जीवन बिताते। जीविकाके लिए हम कुछ विक्रेय चीज़ें रखते, जिन्हें एक जगहसे दूसरी जगह बदला करते। इस प्रकार कभी लदाख़, कभी मानसरोवर, कभी ब्रह्मपुत्रकी उपत्यकामें टशील्हुन्पो, कभी ल्हासा और कभी खम् (चीनके पास पूर्वीय तिब्बतका प्रान्त) हमारे पैरोंके नीचे रहता। फिर सोचा, मानसरोवर और तिब्बतके डाकुओंसे हम दोनों बच कैसे निकलते? और जीवनकी और भी तो बहुतसी लालसायें हैं, जवानी भी चिरस्थायी नहीं है; यह तो तब हो सकता था, जब कि जीवन हज़ार वर्षका होता, जिसमें जवानीके नक़द पाँचसौ साल होते। क्या लालसा मात्रसे जीवनको बढ़ाया जा सकता है? यह समझनेपर भी मेरी लालसा दबी नहीं। उसने एक कोनेमें स्थायी स्थान ग्रहण किया।

कितने ही मील चलनेके बाद हम बाईं ओरके एक नालेमें मुड़े, वह ह्न्लेसे आ रहा था। अगला गाँव तीन-चार घरोंका था। सभी दर्वाज़े बन्द थे, किन्तु ताले उनमें न थे। गंगारामने आवाज़ दी, किन्तु वहाँ जब कोई हो, तब न बोले। पासके जौके खेतोंमें हिरन चर रहे थे। गंगारामको देखकर वह भाग गये। घोड़े यहाँ बदलने थे, और भूख भी ज़ोरकी लगी हुई थी। नदीसे दो-तीन मील ऊपर जाकर गंगाराम घरके मुखियाको पकड़ लाये। वह वहीं तम्बूमें चलनेके लिए कह रहा था, किन्तु हम बहुत भूखे थे।

खाना खाने और विश्राम करनेके बाद हम फिर नये घोड़ोंपर रवाना हुए। आज ह्न्ले पहुँचनेकी कम सम्भावना थी। गाँववालोंके तम्बुओंको बाईं ओर छोड़ते एक विशाल उपत्यकामें चल रहे थे, उस समय कितने ही 'घोड़ों'को मैंने दूरसे अपनी ओर घूरकर देखते देखा। गंगारामने बतलाया ये घोड़े नहीं क्याङ् (जंगली गदहे) हैं। मैंने कहा, इन्हें पकड़कर लादते क्यों नहीं। गंगारामने बतलाया—'क्याङ्का

एक तो पकड़ना ही आसान नहीं, यदि पकड़ भी लिया, तो वे पालतू नहीं बनाये जा सकते, मरनेसे बचनेपर वह भाग जाते हैं।' वे मझली राशिके घोड़ोंके बराबर थे, पेट कम और छरहरा बदन था। मुँहके कुछ मोटेपन तथा गदहों जैसी दुमको छोड़ देनेपर वे बिल्कुल घोड़ों जैसे मालूम होते थे। शाम हो गई, अँधेरा छा गया, घड़ी भर रात भी बीत गई, तब गंगारामने आज ही हन्ले पहुँचनेके इरादेको छोड़ दिया। हमारी बाईं तरफ़ कुछ तम्बू दिखलाई पड़े। हमने घोड़े उधरको मोड़े। दर्जनों कुत्तों-की 'हाँव' 'हाँव'को सुनकर मैं तो ठहर गया, और गंगारामने किसी आदमीको कुत्तोंको खदेड़नेके लिए कहा। हन्लेके कुत्ते और भी ख़ूँख़्वार होते हैं, यह मैं हेमिस् लामासे सुन चुका था।

याकोंके बालके एक काले तम्बूमें हमें जगह मिली। तम्बूके बीचमें आग जल रही थी, धुँआ निकलनेके लिए ऊपर तम्बू थोड़ा कटा हुआ था। ग्यगर (भारत)-लामा कहनेपर घरवालोंपर और भी प्रभाव पड़ा। गृहिणीने नया पानी नया चाय डालकर देगचीको आगपर रखा। मट्ठासे मुझे बहुत प्रेम है, और मेरे कहनेपर गाढ़े मट्ठेकी एक कठौती भरकर चली आई। तम्बूके भीतर चारों ओर किनारे-किनारे चीज़ोंकी छल्ली लगी हुई थी। एक प्रधान स्थानपर चौकीके ऊपर कुछ मूर्तियाँ रखी थीं, जिनके सामने पीतलके चिराग़में घीकी बत्ती जल रही थी। पासके तम्बूमें खबर लगनेपर पायजामा और कोट पहिने कनटोप उलटकर बनी गोल टोपी दिये एक अधेड़ आदमी आया। उसने 'राम राम' कह हिन्दीमें बातचीत शुरू की। वह कनौर (बुशहर-रियासत)से व्यापारके लिए आया हुआ था। देशकी चीज़ोंके बदले ऊन ख़रीदना बस यही उसका व्यापार था। उससे रास्तेके बारेमें पूछा, और मालूम हुआ, चलता रास्ता है, तिब्बतके इलाक़े तकमें ही तकलीफ़ है, कनौर पहुँचनेपर तो देशसा मालूम होने लगेगा।

सबेरे एकाध घंटे हीमें हम हन्ले गुम्बा (मठ)में पहुँच गये। हन्ले गुम्बा हेमिस् गुम्बाकी शाखा है। हेमिस् लामाने मेरे बारेमें पत्र लिखा था, और ऊपरसे तहसील-दारका चपरासी मेरी अर्दलीमें था, फिर ख़ातिरके लिए क्या पूछना। गुम्बा एक छोटीसी पहाड़ीके ऊपर है, नीचे उसकी दो तरफ़ हरी घासोंसे ढँकी उपत्यका है। आसमानमें घिरे बादल, ज़मीनपर बिछी हरी घास और स्थानकी ऊँचाईने मिलकर हन्लेको ज़्यादा शीतल बना दिया था। लामाके ख़ातिर करनेकी सबसे अच्छी चीज़ तो मांस है, किन्तु उसे मैं खा नहीं रहा था, इसलिए उन्होंने दही, घी, दूधसे ही सत्कार किया। सबसे सजे हुए कमरेमें मुझे ठहराया गया। जम्बूसे पैदल चलकर आनेवाले

एक तरुण सन्यासीने श्रीनगरमें कुत्तोंसे बाल-बाल बचनेकी आपबीती सुनाई थी, इसलिए लदाख़ पहुँचनेसे पहिले ही एक बड़ा कुत्ता साथ रखनेका मैंने संकल्प कर लिया था। मैंने हेमिस्-लामासे एक कुत्ता माँगा, तो उन्होंने कहा——'हन्लेके कुत्ते डीलडौलमें बड़े और मज़बूत होते हैं, मैं वहाँ चिट्ठी लिख देता हूँ, वहाँसे आप कुत्ता ले लेंगे।' चिट्ठी पढ़कर मठका अधिकारी कुत्तेकी तलाश करने लगा। फिर उसने एक पेकिनी (चीनी) कुत्ती मेरे सामने रखकर कहा——'बड़े कुत्ते बेवक़ूफ़ होते हैं, यह कुत्ती हमारे पास ल्हासासे आई है। आप भारतके लामा हैं, मैं आपको इसे ही भेंट करना चाहता हूँ' कुत्ती छोटी और बहुत सुन्दर थी। उसके बाल लाल थे। बड़ी-बड़ी आँखें, कानोंके पास लटकती अलकें बहुत सुन्दर मालूम होती थीं। मालिकके इशारा करनेपर कुत्ती अपने अगले दोनों पैरोंको ऊपर उठाये चिपटी नाकको और भी चिपटी कर पिछले पैरोंपर बैठ गई। मैंने बुलाया, झट मेरी गोदमें आ गई। दूसरे दिन तो वह मेरे पीछे-पीछे घूमने लगी। मैंने उसे ही लेना स्वीकार किया।

आगे जोत पार तिब्बतकी सीमामें काफ़ी जानेपर गाँव मिलनेवाला था। गंगारामने कहा——'यहाँसे चलकर गुम्बाके याक्-केम्पमें रातको रहा जावे, सबेरे आप उधर चले जाइयेगा, और मैं लेहको लौट जाऊँगा।' हन्लेसे रवाना होते वक़्त सेङ्-टुक (यही उस कुत्तीका नाम था) के गलेमें ऊनकी रस्सी डाल मैंने अपने घोड़ेपर बैठा लिया। वह बार-बार नीचे उतरनेके लिए ज़ोर मार रही थी। मैंने समझा, शायद गुम्बाकी ओर भागना चाहती है, इसलिए पहिले तो नहीं उतारा, किन्तु दो-ढाई मील चलनेपर जब उसे ज़मीनपर रख दिया, तो वह हमारे पीछे-पीछे चलने लगी। गर्दनसे रस्सी निकाल ली गई, और उसे पैदल ही चलने दिया गया। दोपहरकी चाय हमने काले तम्बुओंमें पी, और सूर्यास्तसे पहिले ही गुम्बाके केम्पमें पहुँच गये। यहाँ गुम्बाकी सैकड़ों याकें चर रही थीं। एक बड़े तम्बूमें पूजा, खाने-पीनेकी सामग्रीके साथ-साथ चमड़ेमें बन्द मक्खनकी बड़ी-बड़ी चाकियाँ तथा छुरे (सूखे पनीर) की बोरियाँ रखी थीं। केम्पका प्रधान गुम्बाका एक साधु बड़े रोबदाबसे दर्जनसे अधिक स्त्री-पुरुषोंपर हुकूमत चला रहा था। इन लोगोंका काम था, याकोंका चराना, दूहना, मक्खन बिलोना, छुरा तैयार करना और उन्हें हन्ले, फिर हेमिस्के लिए रवाना करना। जब हम पहुँचे, तो कुछ स्त्रियाँ ढोलकीकी तरहके मिट्टीके बर्त्तनोंमें——जिसका छोटासा मुँह लम्बाई-गोलाईके बीचमें था——दही डाले हिलाकर मक्खन बिलो रही थीं। मक्खनके छूट जानेपर वह थोड़ा गर्म पानी डालतीं, फिर मक्खन अलग करतीं। सारे मट्ठेको वहाँ कौन पीता ? मट्ठेको फिर आगपर चढ़ाया जाता, और पानी

फट जानेपर छानकर गाढ़े भागको बर्फ़ीकी तरह काटकर तथा सूतमें पिरो धूप या हवामें डाल दिया जाता, यही सूखकर छुरा होता। छुरा बहुत चिमड़ा, और खानेमें कुछ खट्टासा होता है। प्यासके मारनेमें वह बहुत सहायक होता है।

गंगारामको अब लौटना था। नुब्रा और इधरकी सारी यात्रामें उनकी वजहसे मुझे बहुत आराम रहा, इसके लिए मैंने उनसे शब्दोंमें ही नहीं बल्कि कुछ रुपयोंके रूपमें भी कृतज्ञता प्रकट की। गंगाराम बहुत खुश हुए और तहसीलदार साहेबको एक चिट्ठी लिखनेके लिए कहा। मैंने उनकी तारीफ़के साथ चिट्ठी लिख दी, लाला शिवरामको भी एक पत्र लिखा।

दूसरे दिन दो घोड़ों और एक आदमीके साथ मैं आगेके लिए रवाना हुआ। जोत तक पहुँचनेमें कई घंटे लगे। चढ़ाई शुरू होनेपर मैंने सेङ्-टुक्को अपने सामने घोड़ेपर रख लिया, लेकिन वह बार-बार उतरकर पैदल चलनेके लिए छटपटाती थी, मैंने उसे नीचे उतार दिया। चढ़ाई तीखी और लम्बी थी, जोत १८,००० फ़ीटसे कम ऊँची न रही होगी। सेङ्-टुक् घोड़ोंके ठहरनेके साथ ठहरती और चलनेके साथ चलती रही। बरफ़ सब गल गई थी, और मेरु परसे बहुत दूर कुछ हिमाच्छादित चोटियाँ दिखलाई पड़ रही थीं। उतराई भी काफ़ी थी, और हम उसे पूरा तै किये बिना ही पानीके पास पास एक-दो तम्बुओंको देखकर रातके विश्रामके लिए ठहर गये।

सेङ्-टुक्को सत्तूकी गोली दी। उसने नहीं खाया। वह चुपचाप अत्यन्त श्रान्त हो मेरे बिछौनेपर पड़ी थी। आदमीने मट्ठा दिया, उसे भी नहीं पिया। फिर पड़ोसीसे गोश्त माँगकर दिया, उसकी एकाध टुकड़ियोंको खाकर उसने छोड़ दिया। शामको उसे खाँसी आने लगी। रातको कितनी ही बार बिछौनेसे उठ-उठकर वह पाखाना-पेशाबके लिए जाती रही, और मुझे मालूम हो गया उसे बहुत तकलीफ़ हो रही है। सबेरे जब मैं नदी किनारे हाथ-मुँह धोने गया, तो उसने मेरा अनुगमन किया। चाय पीकर जब मैं चलनेके लिए घोड़ेपर सवार हुआ, तो सेङ्-टुक् खड़ी होकर मेरे मुँहकी ओर कातर दृष्टिसे देखने लगी। उसकी सुदीर्घ काली-काली आँखोंमें अपार करुणा भरी हुई थी, मैं समझ गया, अब उसमें पैदल चलनेकी शक्ति नहीं है। मैंने उसे अपनी गोदमें ले लिया। उसके शिथिल होते शरीरको देखकर, मैंने समझा, कलकी चढ़ाई और रातकी भूखसे वह शिथिल पड़ रही है। दो-तीन मील चलनेपर पहिला घर मिला, मैंने एक कटोरी दूध लानेके लिए आदमीको भेजा। गृहपतिको कलछी भर दूध लाकर आते देख, मैंने सेङ्-टुक्को उठाया। उसका शिर लटक गया। मैंने धड़कते हुए

हृदयसे उसके शरीर, मुँह, हृदयकी गतिको टटोला; वह निष्प्राण थी ! मैंने इतनी मात्रामें ग्रौर ग्रचानक पीड़ा कभी नहीं ग्रनुभव की थी। ग्रसली मानीमें मैं उस वक़्त विचार-शून्य हो गया। मुझे सिर्फ़ एक तीव्र वेदना-मात्र कलेजेमें ग्रनुभव हो रही थी। मैंने संज्ञाहीनसा हो सेङ्-टुक्के मृत शरीरको वहीं छोड़ दिया, ग्रौर घोड़ेको ग्रागे बढ़ाया। घोड़ा बदलनेवाले गाँवमें पहुँचकर मुझे ख़्याल ग्राया—मैंने सेङ्-टुकके शवके प्रति श्रद्धा नहीं दिखलाई, उसे एक जगह गाड़ तो देना चाहिए था। मैंने ग्रादमी-को कुछ पैसे दिये, ग्रौर बहुत प्रार्थना करके वचन लिया, कि वह उसे गाड़ देगा। मेरे मनकी पीड़ा बढ़ती ही जाती थी। कितनी ही बार मेरी ग्राँखोंसे ग्राँसू निकल ग्राये। माता ग्रौर पिताके मरनेपर, तथा मेरे लिए प्राण देनेवाले नाना-नानीके मरने-पर भी जो ग्राँखें नहीं पसीजीं, उनमें ग्राज छल-छल ग्राँसू उमड़ ग्रा रहे थे। उसी रातको मैंने सेङ्-टुक्की मृत्युके कारण ग्रतिसन्तप्त हृदयसे ग्राठ श्लोक (सेङ्-टुकाष्टक) लिखे, जिनका ग्रन्त होता था—'सेङ्-टुके ! त्वत्प्रयाणे'।

मुझे मालूम होता था, उस सुन्दर चीज़की हत्या मेरे इन हाथोंने की।

तिब्बतमें—जोत पारकर ग्रब मैं पश्चिमी तिब्बतके छु-मुर्ति इलाक़ेमें था। प्राकृतिक दृश्योंमें ग्रभी कोई ग्रन्तर नहीं पड़ा था। स्त्री-पुरुषोंकी पोशाकमें कुछ विशेष तिब्बतीपन झलक रहा था। गाँवके मुखियाके घरमें छोड़कर घोड़ेवाला चला गया। उस वक़्त मुझे यह मालूम नहीं था, कि ग्रागेके लिए सवारीका इन्तिज़ाम करना यहाँ इतना मुश्किल होगा। मुखिया कहीं बाहर गया हुग्रा था। गृहिणीने बतलाया, कि ग्रभी उसके ग्रानेकी जल्दी उम्मीद नहीं है। ऊपरके कोठेपर एक ग्रँधेरेसे मकानमें मुझे ठहराया गया। मैं काफ़ी दिन रहते पहुँचा था। दिन तो छतसे विस्तृत उपत्यकाको देखते, ग्रौर ग्रर्धमूक वार्तालापमें बीत गया। रात ग्राते पिस्सुग्रोंकी पल्टनने जब ताबड़-तोड़ हमले शुरू किये, तो परेशानी बढ़ी। रातके बीतनेके साथ उनकी संख्या ग्रौर चोट बढ़ चली, उस वक़्त नींद कहाँ लग सकती थी ? सारे बदनमें ग्राग, ग्रौर काटनेकी जगहोंपर चकत्ते पड़ गये। मुझे वह रात ग्रासपासके पहाड़ोंसे भी बहुत बड़ी मालूम हुई।

पैसे मेरे पास थे, ग्रौर खानेकी चीज़ोंमें कुछ चीनी ग्रौर सूखे फल थे। सत्तू ग्रौर ग्राटा गाँवमें भी मिलता था, किन्तु तर्कारीके स्थानपर दूधभरका बन्दोबस्त हो सकता था। गृहिणी ग्रधेड़ स्त्री थीं, घरमें एक-दो नौकर, एक-दो बच्चोंके सिवाय ग्रौर कोई न था। भाषाकी बड़ी दिक़्क़त थी, तो भी जहाँतक घरकी मालकिनका सम्बन्ध था, उनका बर्ताव रूखा न था। दूसरे दिनको भी किसी तरह बिताया,

और पिस्सुओंसे बचनेके लिए मैंने आँगनमें बिस्तरा किया। तीसरे दिन मुखियाका बड़ा लड़का भेड़ोंमेंसे आया। उसने बतलाया, घोड़े नहीं मिल सकते। मुझे ठीक याद नहीं, उस गाँवमें कितने दिन रहने पड़े। किन्तु दिक़्क़तें और आगे चलनेकी चिन्ता इतनी अधिक थी, कि मालूम होता था, महीनों नहीं तो हफ़्तों रहने पड़े।

घोड़ोंसे निराश होकर मैंने सामान ले चलनेके लिए आदमी माँगा, और उसका मिलना भी आसान न था। लदाखमें तो तहसीलकी सहायता थी, लामा (महन्त) लोग भी परिचित हो गये थे, किन्तु यहाँ मेरे पास कोई सर्कारी परिचय-पत्र न था। हेमिस् लामाका एक साधारण पत्र था, जिसकी ये लोग उतनी ही क़द्र कर सकते थे, जितनेमें उन्हें कोई तरद्दुद न उठाना पड़े। आख़िर एक आदमी दुगनी-तिगुनी मज़दूरीपर मिला, और मैं उन पिस्सुओंको याद करते वहाँसे रवाना हुआ। गाँवमें ठहरनेकी तकलीफ़ें इतनी थीं, कि चलते वक़्त सेङ्-टुक्की मृत्युका धक्का दिलपर बहुत कम रह गया था।

गाँवसे निकलनेपर बहुतसी भेड़ोंपर सामान लादे कनौरका एक व्यापारी घोड़ेपर चढ़ा आता मिला। उसने रास्तेको अच्छा बतलाया। स्पितीकी नदी और रास्तेको पार कर शामको रारंग(?) जोतसे पहिले ही भेड़वालोंके एक अड्डेपर पहुँचे। 'दूधका जला मट्ठा फूँककर पीता है'—सोच मैंने उनकी दीवारके भीतर न जा बाहर ही भेड़ोंके बैठनेकी जगहमें बिस्तरा बिछाया। लेकिन रातको यहाँ भी, मालूम देता है, पिस्सुओंके पास उनके भाइयोंका तार आ गया था। दो-एक बार जगह बदलनेके बाद मैंने भेड़ोंकी जगह छोड़ दी। मालूम होता है, भेड़ें भी पिस्सु-ओंको पोसती हैं।

बुशहर-रियासत—रातके स्थानसे जोत बहुत दूर न थी। चढ़ाई भी उतनी मुश्किल न थी, हाँ उतराई कुछ कठिन ज़रूर थी। अगला गाँव रारंग था, जहाँ हम दोपहर तक पहुँच गये। जोतको लाँघते ही मैं बुशहर-रियासतमें आ गया था। रारंगके बड़े गाँव तथा उसके प्रधानके अच्छे साफ़ घर तथा भद्रोचित पोशाकको देखकर मुझे बड़ी आशा बँधी। हेमिस्के लामाने प्रधानके नाम मेरे लिए एक ख़ास पत्र दिया था, किन्तु उसे पढ़कर मुखियाके ऊपर अच्छा असर पड़नेकी तो बात ही अलग चेहरेपर अँधेरा छा गया। उसने कहा—यहाँ घोड़ा कहाँ मिलेगा। मैंने कहा—घोड़ा नहीं आदमी ही दे दो। उत्तर मिला—मुश्किल है।

छतपर बाहर ही मेरा सामान रखवाया गया था। चाय-पानीके इन्तिज़ाम तकका होना मुश्किल था। मुझे पिछले तिब्बती गाँवका तजर्बा भूला न था,

इसलिए यहाँ ज़्यादा समय उस शशपंजकी स्थितिमें खोना नहीं चाहता था। खैरियत यह थी, कि भाषाके संबंधमें अब मैं अधिक स्वतंत्र था, यहाँके बहुतसे आदमी हिन्दी समझते थे। मैंने सामानको वहीं छोड़ा। बोझा ढोनेवाले आदमी और खानेके प्रबन्धके लिए गाँवमें निकल पड़ा। एक जगह तम्बू ताने कुछ स्पितीवाले स्त्री-पुरुष पड़े हुए थे। मैं उनके पास गया। वे लोग अमृतसर, लाहौर घूमे हुए थे। गाना-नाचना उनका व्यवसाय था। मैंने वहाँ एक लड़केको कुछ पैसे दिये, और कहा कि मुझे हरे गेहूँका होला भूनकर प्रधानके घरपर पहुँचा दो। जब वह होला पहुँचाने आया तो प्रधानके बर्तावसे मालूम हुआ, कि वह इन स्पितीवाले गायक-नर्तकोंको नीच जातिका समझता है। खैर, मुझे उसकी क्या पर्वाह थी, मैंने होला लेकर खाया। दूसरी बार गाँवमें घूमनेपर एक तरुण व्यापारीसे भेंट हुई। वह हिन्दी ख़ूब बोल लेता था। उसने बड़ी ख़ातिरसे बैठाया, चाय पिलाई। मैंने अपनी कठिनाईको कहा, तो उसने उत्साहित करते हुए समझाया——इधरके लोग बहुत रूखे होते हैं, किन्तु अब आप नज़दीक आ गये हैं। आगे आपको कष्ट नहीं होगा। घोड़े तो आजकल तिब्बतकी ओर चले जाते हैं, किन्तु भार ढोनेवाला आदमी मिल जावेगा। मेरा यह गाँव नहीं है, तो भी मैं कोई मज़दूर ठीक कर दूँगा। शामको मैं अपना सामान उठवाकर उस तरुणके ठहरनेकी जगहमें चला आया। यह ऐसी जगह थी, कि यदि एकाध दिन रहना भी पड़ता, तो मुझे बुरा न मालूम होता।

दूसरे दिन तरुणने मुझे एक नौजवान——जो पहाड़में नीच समझी जानेवाली लोहार जातिका था——भरिया दे दिया। उसकी पीठपर सामान रखे मैंने उस स्वागत-शून्य गाँवको छोड़ा। भरियाने इस इलाक़ेके दूसरे ग़रीबोंकी तरह दो-तीन जाड़े शिम्लेमें मज़दूरी करनेमें बिताये थे, इसलिए कहा जा सकता है, कि वह देश-देखा-हुआ आदमी था। सिन्धुको जबसे छोड़ा, तभीसे रास्ता ख़राब मिलने लगा था, तो भी पहिली जोत तक कोई दिक़्क़त न थी। दूसरी जोतका रास्ता भी कुछ सह्य था, किन्तु अब रास्ता बहुत ख़राब यद्यपि प्रदेश अपेक्षाकृत गरम था। हम एक कोनेकी तरफ़ मुड़ रहे थे, मैंने समझा वहाँ, किसी धारको पार करना होगा। किन्तु यकायक हमारे सामने एक दूसरी ही धार आ गई। तीन-चार सौ फ़ीट ऊपरसे नीचे हज़ार फ़ीट तक ८० डिग्रीके झुकावपर——क़रीब-क़रीब सीधी——एक धूल और छोटे-छोटे पत्थरोंकी धार मन्दगतिसे गिर रही थी। मैं तो समस्यापर विचार करने लगा, किन्तु नौजवान छलाँग मारते हुए एक पैरको धारसे छुआते दूसरे पार चला गया। उस चल धूलीपर पैर रखते मुझे मालूम होता था, कि मैं धारके साथ हज़ार फ़ीट नीचे खड्डमें

चला जाऊँगा। नौजवान समझा रहा था——डरिये मत, हल्केसे पैर रखते, बिना एक सेकंडकी देर किये दूसरे पैरको इस पार रख दीजिये, किन्तु मेरी सारी तर्क-शक्ति नौजवानकी बात और उसके क्रियात्मक उदाहरणके पक्षमें नहीं हो रही थी। प्रश्न था——आगे चलना है, या फिर उसी प्रधानके गाँवकी ओर लौटना है। अन्तमें मैंने हिम्मत की। उतनी फुर्तीसे तो पैरको मैं उठा न सका हूँगा, किन्तु जब दूसरा पैर सही-सलामत परलेपारकी ठोस भूमिपर पड़ गया, तो जानमें जान आई।

दोपहरको रास्तेमें हमने चाय पी। पहाड़ी दृश्य यहाँ भी लदाख़ ही जैसा था, सिर्फ़ स्थान कुछ गरम मालूम होता था। तरुण व्यापारीका गाँव काफ़ी बड़ा था। उस वक़्त वहाँ अभी गेहूँके खेत बिल्कुल हरे थे, इसलिए मालूम होता था, हम अभी काफ़ी ऊँचे हैं। पिछले गाँवसे इस गाँवके स्त्री-पुरुषोंकी पोशाकमें कुछ फ़र्क़ था, यहाँके घरोंमें लकड़ीका व्यवहार कुछ ज़्यादा था——यद्यपि छु-मुर्तिकी अपेक्षा रारंगमें भी लकड़ीका व्यवहार ज़्यादा था; तो भी वहाँ सफ़ेदे और वीरीके अतिरिक्त शायद ख़ूबानीके एकाध दरख़्त दिखलाई पड़े थे।

तरुण व्यापारीकी चिट्ठीने काम किया और दूसरे दिन आसानीसे एक भरिया मुझे अगले गाँव तक पहुँचानेके लिए मिल गया। भरियाने एक-दो बालिश्तकी लकड़ी तथा पाँच-सात हाथ लम्बी रस्सी साथ ले ली थी, मैंने समझा, शायद लौटते वक़्त कुछ सामान उसे लाना होगा। रास्ता सारा उतराई ही उतराईका था। नीचे हम घोर गर्जन करती एक नदीके किनारे पहुँचे। देखा, वहाँ परलेपार जानेके लिए सिर्फ़ एक इंच मोटा लोहेका तार है, जिसके दोनों सिरे दोनों तटोंके चट्टानोंपर पाषाण राशिसे दबाये हुए हैं। भरियाने सामान ज़मीनपर रख दिया। तारके बराबर गहरी रेखा छिले लकड़ीके टुकड़ेको उसपर रखा, फिर रस्सीको लकड़ीकी पीटपर बनी गहरी रेखाओंमें लपेटकर नीचे दो फन्दे झुलाये। पीठपर भार लिये भरियाने अपने दोनों पैरोंको दोनों फन्दोंमें जाँघ तक डाल लिया, और फिर तारको हाथसे दूहता सरसर आगे बढ़ने लगा। धार काफ़ी चौड़ी थी, और चट्टानोंके बीच नीचेकी ओर बहुत तेज़ीसे बहते हुए गम्भीर गर्जन और खौलते पानीके रूपमें जा रही थी। भरिया जाते वक़्त मुझसे कहता गया, कि मैं सामान उस तरफ़ रखकर आता हूँ तो आपको भी ले चलता हूँ।

मैं कभी उस खौलते गर्जते हुए पानीकी ओर देखता, कभी उससे कई हाथ ऊपर लटकते उस पतले तारपर नज़र दौड़ाता। धूलिकी नदीके पार करनेसे कुछ हिम्मत बँधी थी, किन्तु वह इतनी न थी, कि इस तारपरकी यात्राको आसान बना देती।

भरिया इस तरफ़ लौट आया, उसने मेरे लिए भी एक वैसा ही फन्दा बनाया। जाँघ फँसाते वक़्त मेरे कलेजेकी धड़कन बहुत बढ़ गई थी, और जब पैरोंने चट्टानको छोड़ दिया तो उसका वेग कई गुना बढ़ गया। किन्तु जब भरियाने ढकेलकर मुझे चट्टानसे आगे धारके ऊपर सरकाया, तो उस डरका कहीं पता न था। मालूम होता था, मैं लचलचाते हुए तारपर झूला झूल रहा हूँ। पार पहुँच जानेपर मन कहता था, एक बार फिर इस झूलेका मज़ा लिया जाये, किन्तु भरियाके समयका भी ख्याल करना था।

यहाँ काफ़ी गर्मी मालूम हो रही थी। नदीसे कुछ आगे जानेपर खेत मिले, जिनकी फ़सल कट चुकी थी। ऊँचाईके लिहाज़से एक ही पहाड़पर कहीं गेहूँ कट गया, कहीं होलेके लिए तैयार, और कहीं बिल्कुल कच्चा हरा देखना हिमालयमें मामूली बात है, इसलिए दो-तीन घंटे ही बाद हरे गेहुँओंकी जगह उन्हें खलिहानमें रखा देखना मेरे लिये आश्चर्यकी चीज़ न थी। गाँवके पास बहुतसे ख़ूबानीके वृक्ष मिले, जिनपर पीली-पीली ख़ूबानियाँ पककर लटक रही थीं। गाँव बहुत दूर न था, और वहाँ पहुँचनेपर जब भरियाने सामान रखकर आदमीके लिए कहा, तो वहाँवालोंको जल्दीसी पड़ गई। मैंने ढूँढ़कर दो गिलास मट्ठा पिया—दूध पीनेसे मुझे जितनी चिढ़ है, उतना ही मट्ठेसे प्रेम। अबके भार ढोनेके लिए एक बुढ़िया मिली।

चढ़ाई कुछ थी, किन्तु रास्ता मुश्किल न था। शायद अगस्त बीत चुका था, कहीं बर्फ़का नाम तक न था। सुम्नम्-जोतके पहिले अन्तिम गाँव तक पहुँचते-पहुँचते आसमानमें बादल घिर आये थे। गाँव छोटा था, किन्तु लकड़ीके इस्तेमाल में काफ़ी साखर्ची दिखलाई गई थी, और मकान साफ़ और बेहतर क़िस्मके थे। रहनेवाले ज़्यादातर सुम्नम्के लोग थे, जो अब तकके लोगोंसे ज़्यादा साफ़ और संस्कृत थे। गाँवके आसपासके खेतोंमें हरे-हरे गेहूँ और ग्रिम् (नंगे जौ) लहरा रहे थे। रातको शायद कुछ वर्षा भी हुई थी। यहाँ भी आगेके लिए भरिया मिलनेमें दिक़्क़त न हुई।

सुम्नम्—दूसरी चढ़ाई मालूम न हुई। कई दिन पैदल चलते-चलते अब चलनेकी मुझे आदत भी पड़ गई थी, और ख़ाली बदन चलनेमें रास्तेका मज़ा आने लगा था। जोत् पारकर उतराई आई, और वह भी आसान थी। अब तक पायजामा पहिने मैली-कुचैली भारी चेहरे, गोल आँख, और गालकी हड्डी निकली औरतोंको देखते-देखते बहुत दिन हो गये थे, इसलिए जब मैंने पहिले-पहिल पानीकी नहर मरम्मत करनेवाली ऊनी साड़ीको काँटेके सहारे कन्धेपर बाँधे सुम्नम्की स्त्रियों, उनके निर्मांसल

गोरे चेहरे, नुकीली नाक और गौर शरीरको देखा, तो मुझे मालूम हुआ कि मैं सौन्दर्यके देशमें आ गया हूँ। उनके असाधारण मधुरकंठसे निकले संगीतको सुनकर तो संस्कृत साहित्यकी किन्नर-कंठियोंकी प्रशंसा बहुत ठीक जँची—कनौर वस्तुतः किन्नरका अपभ्रंश है। इधर हमें अब देवदारके दरख्त मिलने लगे। यद्यपि आकारमें अभी वे उतने ऊँचे न थे, तो भी हरियालीको देखनेके लिए तरसती आँखें अब बहुत तृप्ति अनुभव करने लगीं।

गाँवके मकानोंकी छतें लकड़ीकी पट्टियोंकी थीं, जब देवदारके वृक्षोंकी इतनी इफ़ात हो, तो फिर लकड़ीके इस्तेमालमें कंजूसीकी ज़रूरत क्या? खेत सब कट चुके थे, और खलियानोंमें उनके गंजको देखकर पता लगता था, कि खेती यहाँ खूब होती है। कितने ही खेतोंमें फाफड़ जम आये थे, और शायद पानीकी नहर उन्हींके लिए मरम्मत हो रही थी। मुझे एक बड़ेसे हवा और रोशनीवाले साफ़ घरमें ठहराया गया। लोग सभी बड़े मिलनसार मालूम हुए, और पिछले कई दिनोंकी तकलीफ़ें भूल गईं। घरकी मालकिनसे खानेके बारेमें कहा, तो मालूम हुआ वहाँ रोटी, साग, भाजी खानेका रवाज है। फाफड़के साग और गेहूँकी रोटी बिल्कुल अपने यहाँके ढंगसे बनी थी, और उसे खानेमें बहुत स्वाद मालूम हुआ। गाँवमें उर्दू पढ़े-लिखे कितने ही आदमी थे, और पता लगानेपर मालूम हुआ, एक आदमीके पास लाहौरका कोई उर्दू अखबार—शायद 'प्रकाश'—आता है। लेह छोड़नेके बाद मुझे अखबारसे भेंट न हुई थी, इसलिए चार-पाँच सप्ताहोंके अंकोंको ले मैं उनपर भूखे भेड़ियेकी भाँति टूट पड़ा। संस्कृतिकी वृद्धिके साथ-साथ शायद आदमीकी जिज्ञासा बढ़ जाती है, इसीलिए यहाँके लोग मुझसे भी अधिक बातचीतके लिए उत्सुक थे। कहीं घूमने कहीं आने-जानेके लिए कोई भी नौजवान पथप्रदर्शक बननेके लिए तैयार था। स्त्रियाँ भी आगन्तुकके साथ बात करने और सहायता करनेमें पुरुषोंसे पीछे न थीं। सुम्नम्के लोग खेतीके अतिरिक्त तिब्बतके साथ व्यापारका भी काम करते हैं। तिब्बती मुलायम ऊन तथा पशमके कातने, गुदमा, पट्टू, पशमीनेकी चादर बनानेमें यहाँकी स्त्रियाँ बहुत दक्ष हैं—यही सुम्नम्के लोगोंकी खुशहालीके कारण हैं।

यद्यपि जोत्के इधर प्रकृति और मनुष्योंके आकार-प्राकार, वेषभूषामें बिल्कुल परिवर्तन था—यहाँवाले जोत् पारके लोगोंको जाट कहकर नीची निगाहसे देखते थे, तो भी धर्ममें ये लोग लामा बौद्धधर्मके अनुयायी तथा, ब्याहमें सब भाइयोंके सम्मिलित ब्याहको (बहुपति विवाह)को मानते थे। कुछ सालोंसे राजाने बहुपति-विवाहको वर्जित कर दिया था, तो भी अभी वह बन्द नहीं हुआ था। कनौरमें

कनौरियों--जो अपनेको राजपूत कहते हैं--के अतिरिक्त कहीं-कहीं लोहार भी मिलते हैं, जिन्हें अछूत समझा जाता है। लोहार सोनारका भी काम करते हैं। मैं एक लोहारके घरपर गया, उसकी हथौड़ी बड़ी बारीकीसे चल रही थी, और जब मैं जाकर उसके पास बैठ गया, तो मेरे प्रति उसका स्नेहभाव और बढ़ गया--एक बड़ी जातिके आदमीका अछूतके पास बैठना कोई मामूली बात थोड़ी ही है। मेरे साथ गया नौजवान आर्यसमाजी था (बुशहरके पहाड़ोंमें जहाँ-तहाँ आर्यसमाजी मिलते हैं), इसलिए उसको आपत्ति नहीं थी।

सुम्नम्में एक दिनसे अधिक रहा। वहाँसे एक गुदमा, एक ऊनी साड़ी (चादर) और एक पश्मीनेकी चादर खरीदी। कनम्के लिए वहाँसे एक सीधा रास्ता सामनेके डाँडेको पार करना था, किन्तु पैदल पहाड़की चढ़ाई पार करनेके लिए मुझे उत्साह न था, यद्यपि वहाँ लिप्पेके जोतिसीके लिए हेमिस् लामाने ख़ास तौरसे पत्र लिख दिया था। दूसरा रास्ता सुम्नम्की धारके साथ नीचेकी ओर जाकर सतलज-पर तिब्बत-हिन्दुस्तानकी प्रधान सड़कसे मिल जाता था। मैंने 'बरस दिन'के रास्ते-को पसन्द किया। आदमी कनम् तकके लिए मिला था। उतराईमें ख़ाली हाथ चलना, सो भी सुधरी सड़कपर, वस्तुतः शौक़की चीज़ थी। रास्तेमें एक गाँवमें थोड़ी देरके लिए पानीके डरसे रुकना पड़ा। यहाँ ख़ूबानीके अतिरिक्त सेबके वृक्ष और अंगूरकी लतायें भी थीं, किन्तु अभी फल तैयार नहीं थे। यहीं पहिलेपहिल दूकानदार देखनेको मिला। उसके पास तेल, नमक, सिग्रेट, दियासलाई जैसी कुछ चीज़ें थीं। आगे नदीपर एक पुल मिला, उसके इस पारसे ऊपरकी ओर एक सड़क जा रही थी, यही शिम्लासे जानेवाली तिब्बत-हिन्दुस्तान रोड, सैनिक महत्त्वकी सड़क है, जिसपर भारत सर्कार काफ़ी रुपया ख़र्च करती है। इसपर हर जगह मज़बूत पक्के या लोहेके पुल हैं, थोड़ी-थोड़ी दूरपर डाक बँगले हैं, और सड़क इतनी चौड़ी है, कि थोड़ासा बढ़ाने या इतनेसे भी बेबी आस्टिन जैसी कार आ जा सकती थी।

पुलसे थोड़ा आगे चलकर हम साक्षात् सतलजके दाहिने तटपर, किन्तु धारसे काफ़ी ऊँचाईपर पहुँच गये। जितना ही हम आगे बढ़ रहे थे, उतने ही देवदारके दरख़्त ऊँचे तथा हरियाली घनी होती जाती थी। इन तनकर सीधे खड़े, हाथकी तरह अपनी फैली शाखाओंसे शिखरकी ओर गावदुम बनते सदा हरित विशाल वृक्षोंसे ढँके हिमालयको जिसने देख लिया, उसने अपने नेत्रोंको सफल कर लिया और जिस जगह मैं उन्हें देख रहा था, उस उपत्यकाका एक महत्त्व यह भी है, कि सारे हिमा-लयमें इतना लम्बा देवदार-क्षेत्र कहीं नहीं मिलता; काफ़ी जगहोंमें वह दस, पन्द्रह

या बीस मील तक पहुँचकर रह जाता है, किन्तु यहाँ वह सुम्नम्के सामनेसे सराहनके क़रीब तक चला आता है। इस उपत्यका––मध्य सतलज उपत्यका––को प्राकृतिक सौन्दर्योंकी रानी कहना चाहिए।

आगे सड़ककी मरम्मतमें कुछ बल्ती मज़दूर लगे हुए थे, वहीं एक नौजवान सड़कके अधिकारी मिले। उन्होंने मेरे सफ़रके बारेमें पूछा, और हम परिचितके तौरपर वहाँसे कनम्की ओर रवाना हुए। नौजवानका नाम बेलीराम था, और वह सड़कके इन्स्पेक्टर थे। मुझे उस वक़्त तिब्बतके इतिहास उसकी भाषा आदिका कोई परिचय न था, इसलिए बेलीरामके गाँव कनम् और उसके लोचवा रिन्‌छेन्-ज़ङ्-पोका महत्त्व मालूम न था। हेमिस् लामाने बतलाया था, कि कनम्में एक पुराना मठ है, जिसका सम्बन्ध एक बड़े लामा लो-छेन्-रिन्-पो-छेसे है। बेलीरामके घरमें न ठहरकर मैंने मठमें ही रहना पसन्द किया, क्योंकि मैं मठको कोई बड़ा मठ समझकर उसे देखना चाहता था। मठ गाँवके भीतर, आसपासके घरोंसे बहुत विशाल नहीं, कुछ असाधारणसा मकान था। वहाँ कनजुरकी पुस्तकें रखी थीं। मठमें एक-दो आदमी थे, किन्तु कोई भिक्षु नहीं था। मेरे पहुँचनेके बाद बग़लकी गलीसे रोशन-चौकीकी सुरीली आवाज़ कानोंमें पड़ी। देखा, लाल कपड़ा पहने कुछ भिक्षु सत्तूके बलिपिंडको पानीमें बहानेके लिए ले जा रहे हैं, शायद किसीके घरके भूतको भगानेमें वे लगे हुए थे। श्रीनगरका लिया बूट अब जवाब दे रहा था, मैंने गाँवके मोचीके पास जाकर उसकी मरम्मत कराई।

कनम् बड़े सुन्दर स्थानमें है, उसके चारों ओर विशाल देवदारोंका वन है। कई सौ फ़ीट नीचे सतलज––जिसे यहाँके लोग 'समुन्दर' कहते हैं––की धार बहती है, किन्तु दूर होनेके कारण उसकी गम्भीर ध्वनि गाँव तक पहुँचने नहीं पाती। गाँवके एक कोनेमें एक विशाल घरको दिखलाकर बेलीरामने बतलाया, इस घरमें हालमें कई अंग्रेज़ी और तिब्बतीके विद्वान् हो गये हैं, किन्तु वे सभी जवानीमें मर गये, अब कुछ बच्चे रह गये हैं।

आगे भार ढोनेके लिए बेलीरामजीने एक या दो स्त्रियोंको कर दिया। अब रास्तेके गाँवोंमें दूकानें थीं। डाकबँगले तो हमें रहनेको नहीं मिल सकते थे, क्योंकि उसके लिए पहिलेसे शिम्लेसे इजाज़त मँगानी पड़ती, किन्तु दूकानों, लोगोंके घरों और कहीं-कहीं बनी धर्मशालाओंमें जगह मिल जाती थी। देवदारुओंकी छायामें चलनेसे मालूम हो रहा था, मैं अपने प्राणों और आयुको बढ़ाता चल रहा हूँ। रास्तेमें

जहाँ-तहाँ सुस्ताने, पानी पीने या ग़प करनेके लिए भार ढोनेवाली औरतें बैठ जाती थीं। याद नहीं उसी दिन या दूसरे दिन मैं चिनी पहुँचा।

चिनी—चिनी आखिरी डाकघर है। यहाँ बुशहर-रियासतका तहसीलदार रहता है। यहाँ कई दूकानें, मिडल स्कूल, देवीका मन्दिर और डाकबँगला हैं। बुशहर-रियासतकी वार्षिक आय तीन लाखके क़रीब है, किन्तु राजाको सबसे ज़्यादा आमदनी इन देवदारके जंगलोंसे होती है, जो सत्रह-अठारह लाख सालाना बतलाई जाती है। जंगलात-विभागने डाकबँगले, मुंशीख़ाने और मज़दूरोंके लिए दूकानें जगह-जगह बनवाई हैं। बेलीरामने जंगलातके डाकबँगलेके मुंशीके नाम पत्र लिख दिया था। बँगलेपर पहुँचनेसे पहिले रास्तेपर देखा कि कुछ स्त्री-पुरुष नाच रहे हैं। एक तरफ़ छै-सात औरतें हाथ बाँधे खड़ी थीं, दूसरी ओर पाँच-छै पुरुष। वह कुछ गाती थीं। पासमें एक आदमी ढोलकपर ताल देता, और उसपर पैर उठाते वे आमने-सामनेसे एक बार नज़दीक आतीं, और दूसरी बार पीछे हटकर चन्द्राकार पंक्ति बनातीं। मैं कुछ देर खड़ा होकर उनके नृत्यको देखता रहा। उनकी शिकायत थी—जबसे राजाने शराब-बंदीका हुक्म दे दिया है तबसे नाचमें पहिले जैसा रंग नहीं जमता।

डाकबँगलेमें जंगलातके कन्ज़र्वेटर एक जवान 'कश्मीरी' पंडित ठहरे हुए थे। मालूम नहीं कैसे उनसे परिचय हो गया, फिर तो उन्हींकी मेहमानदारी स्वीकार करनी पड़ी। बाज़ार और स्कूल देखने गया, तो मंदिरमें एक जटाधारी वैष्णव साधु मिले। बेचारे मानसरोवर जा रहे थे, किन्तु दो दिन ऊपर जानेपर जब सत्तू और मट्ठेसे पाला पड़ा, साथ ही मांस, जूठ-मीठके विचारको हवा होते देखा, तो धर्म बचाकर लौट आये। हो सकता है रास्तेकी कठिनाइयाँ भी पस्तहिम्मती पैदा करनेमें कारण हुई हों। चिनी मुझे आदर्श ग्रीष्म-आवास मालूम हुआ। चारों ओर देवदारोंकी सुषमा, वृष्टि कम, आकाश अधिकतर स्वच्छ, बाहरकी दुनिया और अख़बारोंसे सम्बन्ध रखनेके लिए पास डाकख़ाना, साधारण खाने-पीनेकी चीज़ोंके लिए दूकानें, ख़ूबानी, अख़रोट, सेब आदिके फलदार वृक्ष। लेह और खलचेकी भाँति चिनीमें भी मोरावियन मिशन काम कर रहा था। लेकिन यहाँके जर्मन पादरी लड़ाईके वक़्त चले गये। मिशनके बँगलेमें आजकल राजकी ओरसे डिस्पेंसरी खुली है। बग़ीचेकी गूज़बरी मुझे भी खानेको मिली थी।

राजकीय दफ़्तरमें क्लर्कका काम करनेवाले यहाँ कायस्थ कहे जाते हैं, चाहे वह किसी जातिके हों। उर्दूके अतिरिक्त एक और लिपिका भी लोग व्यवहार करते हैं, जो कश्मीरकी शारदा या पुरानी गुप्तलिपिसे ज़्यादा मिलती है। तहसीलदार

साहेब बाहर गये हुए थे, इसलिए उनसे चिनीसे चलनेपर रास्तेमें भेंट हुई, और वेष-भूषासे शिक्षित सन्यासी देखकर उन्होंने लौटकर दो-चार दिन रहनेके लिए बहुत आग्रह किया, किन्तु चल देनेपर लौटना मुझे पसन्द नहीं और वहाँ तो फिर चढ़ाईकी ओर लौटना था।

चिनीसे सराहन मैं कितने दिनोंमें पहुँचा, यह याद नहीं, किन्तु रास्तेमें जंगलात मुहकमेके कर्मचारियोंसे मुझे बहुत मदद मिली। मैं अधिकतर उन्हींके यहाँ ठहरता। किन्हीं-किन्हीं गाँवोंमें सस्ते सिगरेटोंके बड़े-बड़े इश्तिहार चिपके हुए थे, पहाड़ी लोग सिगरेट पीनेमें बड़े बहादुर होते हैं, इसलिए सुदूर हिमालयमें इन बड़े-बड़े काग़ज़ोंका चिपकाना अकारथ नहीं था।

स्पितीकी ओर जानेवाले रास्तेके पास पक्के पुलसे सतलज पार कर जब मैं हल्कीसी चढ़ाईको पार कर रहा था, तो दो-एक ब्राह्मण-ब्राह्मणी ऊपरकी ओर जाते मिले। पूछनेपर मालूम हुआ, वे सराहनकी ओरसे आ रहे हैं, और यजमानीमें जा रहे हैं। जब कनौरोंने अपनेको राजपूत कहना शुरू किया, तो ब्राह्मणोंका स्वीकार करना, और फिर नीच-ऊँच, छूत-छातकी भावनाकी पराकाष्टापर पहुँचना उनके लिए लाज़िमी था——मैं इसे बौद्धधर्मको छोड़कर पतनकी ओर जानासा समझता था।

जिस दिन मैं सराहन पहुँचनेवाला था, उस दिन जंगलात-विभागका एक तरुण कनौरी क्लर्क साथ हो गया था। नौजवान मेट्रिक पास और बातचीतमें तेज़ मालूम होता था, नाम शायद प्रतापसिंह था। दूसरी देशी रियासतोंकी भाँति यहाँ भी वैयक्तिक स्वतंत्रता सिर्फ़ राजा और उनके कृपापात्रोंको ही है। रियासतके अत्याचारोंपर एकाध लेख लाहौरके उर्दू पत्रोंमें निकले। अधिकारियोंको इसी नौजवान-पर सन्देह हुआ, और उसे जेलमें डाल दिया। अपराध स्वीकार करानेकी बड़ी कोशिश की गई, उसमें सफलता न मिलने, तथा इसकी भी ख़बर अखबारोंमें छपनेपर नौजवानको छोड़ दिया गया। प्रजापर राजकी ओरसे होनेवाले अत्याचारोंके बारेमें उसने बहुतसी बातें बतलाईं, किन्तु इतने लम्बे अर्सेके बाद अब वह याद नहीं आते। सराहनके पासवाले घुमावसे पहिले ही देवदार कटिबन्ध ख़तम हो गया था, और उसका स्थान दूसरे बड़े-बड़े दरख़्तों और घने जंगलने लिया था। इधर गाँव भी काफ़ी थे।

सराहनमें मैं जंगलातके ओवर्सियरके यहाँ ठहरा, जिनके लिए किसीका परिचय-पत्र था। सराहन बहुत कुछ खुले ढलुआँ भूमिमें बसा हुआ क़स्बा नहीं एक बड़ा गाँव है, जिसमें राज्यश्रीके बाह्य प्रदर्शनके रूपमें राजमहल, राजोद्यान और दो-एक

मंदिर विद्यमान हैं। गर्मियोंमें राजा साहेब रामपुरसे यहाँ चले आते हैं। तत्कालीन महाराज अंग्रेज़-अधिकारियोंके कृपापात्र होनेसे गद्दीके मालिक माने गये, नहीं तो उत्तराधिकारी एक दूसरा ही राजकुमार था, जो अपनी शोख़ी और स्वतंत्रताके कारण राजगद्दीसे महरूम कर दिया गया। कितने ही सालोंतक वह दुर्गम पहाड़ी, खोहों और जंगलोंमें छिपकर लड़ता रहा, किन्तु अंग्रेज़ोंकी शक्तिका मुक़ाबिला क्या करता? इस राजकुमारके बहुतसे पँवारे अब भी साधारण जनतामें मशहूर थे, जनताकी दृष्टिमें नवीन राजा वंचक थे।

ओवर्सियर साहेब एक दिन मुझे भी राजा साहेबके पास ले गये। उनकी अवस्था पचाससे ऊपर होगी। देखने और बातचीत करनेमें वे सीधे-सादे तथा नम्र मालूम होते थे, और सन्देह होता था, कि ऐसे भलेमानुस व्यक्तिके विरुद्ध प्रजाके साथ वे बर्ताव कैसे ठीक हो सकते हैं। लेकिन वह दोष तो संस्थाका है, जिसके ऊपर उठना असाधारण व्यक्तिका ही काम हो सकता है, और अंग्रेज़ रेजीडेंटकी वक्रदृष्टिके सामने वैसा करना भी आसान नहीं है। जन-प्रिय राजा, बुशहर जैसी सीमान्त-रियासतके लिए तो उन्हें और भी ख़तरनाक मालूम होगा। सराहनसे रामपुर तक टेलीफ़ोन लगा हुआ है। राजप्रासादके हातेमें ही एक पागल साधुकी कुटिया थी, उसकी सिद्धाईके बारेमें तरह-तरहकी ख़बरें प्रसिद्ध थीं। राजा साहेबकी उसके ऊपर बड़ी श्रद्धा थी। गाली देनेमें यह पागल बहुत मुँहफट था, और राजाको भी हज़ारों सुनाता था, किन्तु शापके डरसे राजा साहेब सबको हँसते हुए सुन जाते थे। राजा साहेबके सिर्फ़ एक पुत्र उस वक़्त मौजूद थे, जो राजका काम थोड़ा-बहुत करते थे। कहते थे, पुराने राज-कुमारको वंचित करने, तथा उसे जंगलोंकी ख़ाक छानते हुए मरनेके लिए मजबूर करनेके पापका यह परिणाम है, और उसीसे एक बार राजवंशपर महामारी आ गई। एक दूसरे सज्जनने कुछ साल बाद इसकी कथा इस प्रकार बतलाई।——तिब्बत-के लामा टोमो-गेशे-रिन्पो-छे एक बार कनौर गये। उनकी करामातकी ख़बर जनतासे होकर राजा तक पहुँची। राजाने अपने परिवारके ऊपर भूतोंकी ओरसे होती बाधाको शान्त करनेके लिए टो-मो-गेशेको बड़े आदरसे बुलाया। लामाने तंत्र-मंत्र किया, उसका शुभ परिणाम राजाने देखा, और उनकी आस्था लामापर बहुत बढ़ गई। बिदाईके वक़्त लामाने कन्-जुर, तन्-जुरकी एक-एक प्रति राज-प्रासादमें रखनेके लिए कहा। राजाने कई हज़ार रुपये ख़र्चकर तिब्बतसे ये दोनों विशाल ग्रंथ-संग्रह मँगवाये। किन्तु, परिणाम उल्टा हुआ। एकको छोड़

सभी राजपुत्र मर गये, वही हालत रानियोंकी भी हुई। ब्राह्मण लामाके प्रभावसे शंकित थे, उन्होंने इस मौक़ेको ग़नीमत समझ, झट कहना शुरू किया––नास्तिकोंकी पुस्तकोंके रखनेसे देवता लोग नाराज़ हो गये हैं। राजाने कन्-जुर, तन्-जुरको राजप्रासादसे निकालकर एक दूसरे घरमें रखवा दिया, और मैंने शायद उसी घरमें उसे देखा था।

राजोद्यानमें लाल-लाल सेब खूब फले हुए थे, किन्तु अभी उनके पकनेमें देर थी। सुम्नम्में बहुत कम वर्षा होती है, कनम् और चिनी भी मानसूनके छींटे भर पानेके अधिकारी हैं, किन्तु सराहन और उसके नीचेके इलाक़े मान्सूनके हल्क़ेमें हैं। इस वक़्त (सितम्बरमें) पानी खूब बरस रहा था, और कश्मीरसे खरीदकर लाई बरसातीका लाभ मुझे अब मिला। वर्षाके कारण रास्तेको कई जगह बरसाती नालोंने तोड़ दिया था। एक ऐसे ही टूटे स्थानपर देखा, पैर फिसलनेसे एक लदा हुआ ख़च्चर रास्तेसे नीचे उतरकर बैठ गया है, और यदि आगे ज़रा भी पैर विचलित होता, तो सामान लिये दिये वह कई सौ फ़ीट नीचे खड्डमें चला जाता। ख़च्चरवाला किराये पर किसी व्यापारीका माल शिम्लेसे ला रहा था। ख़च्चरकी काफ़ी क़ीमत होती है, बेचारा रो रहा था, और ख़च्चरको बचानेकी कोशिशमें लगा हुआ था। उसके साथ-साथ मुझे भी बड़ी खुशी हुई, जब कि ख़च्चर उठकर बाहर निकल आया। ख़च्चर पहाड़ी दुर्गम मार्गोंमें चलनेमें मज़बूत ही नहीं बड़े सजग होते हैं, किन्तु उनसे भी खता हो ही जाती है।

रामपुरमें राजाके कर्मचारी एक ब्राह्मणके लिए मेरे पास परिचयपत्र था, जिसे सराहनके पंजाबी ओवरसियरने दिया था। ठहरनेके लिए जगह आदि मिलनेमें दिक़्क़त न हुई। यहाँ नदी (सतलज) किनारे साधुओंके स्थान थे, वहाँ भी रहनेका प्रबन्ध था। मैंने एक या दो दिन रह राजधानी, राजप्रासाद, बाज़ार आदिको देखा। ऊपरके प्राकृतिक सौन्दर्यके सामने यह प्रदेश मुझे दरिद्रसा मालूम होता था। हाँ, अब दूकानों और बनियोंका ज़ोर सब जगह था।

ब्राह्मणने राजसीमाके पास शिम्ला ज़िलेके रास्तेपरके एक गाँव तकके लिए भरियाका इन्तिज़ाम कर दिया, और उस गाँवके एक साहूकारके नाम एक चिट्ठी लिख दी। मैं कृतज्ञता प्रकट कर रामपुरसे रवाना हुआ। नहीं कह सकता उसी दिन या दूसरे दिन उक्त गाँवमें पहुँचा। रास्तेमें राजकी ओरसे ठहरनेके लिए धर्मशालायें थीं, रियासतमें सभी जगह नये आदमियोंके मिलनेमें कोई दिक़्क़त न हुई, किन्तु इस गाँवमें आकर सारी कसर निकल गई। साहूकारका मकान अम्बाला ज़िलामें था, और

उसने आसपासके भोले-भाले पहाड़ियोंको ठगकर काफ़ी सम्पत्ति जमा कर ली थी। कपड़ा, नोन-तेल-सिग्रेटके अतिरिक्त वह लेन-देनका भी व्यवसाय करता था। गाहकोंको अपनी ओर खींचनेकी विद्या उसे भली भाँति मालूम थी। उनके लिए तम्बाकू हुक़्क़ा हर वक़्त हाज़िर रहता था। चिट्ठी और मुझे देखकर साहुका मुँह गिर गया। उसने बैठनेके लिए भी नहीं कहा, और मुझे कुछ जवाब देनेकी जगह घरकी एक तरुण स्त्रीसे उसके लिए लाये नापसन्द बूटोंके बारेमें बातें करता रहा; स्त्री उस बूटको पसन्द नहीं करती थी, जिसे साहुने शिम्लासे उसके लिए मँगवाया था। मुझे उसके इस रूखे बर्तावपर रंज तो हुआ, किन्तु यह देखकर कुछ प्रसन्नता हो रही थी, कि इस सूमके धनका सदुपयोग करनेवाली कोई स्त्री भी इसके घरमें है।

साथमें आये आदमीके चले जानेपर साहुने रूखे स्वरमें कहा, यहाँ आदमी मिलना बहुत मुश्किल है। मुझे यह बहुत बुरा लगा, यदि यही उत्तर देना था, तो आये हुए आदमीके रहते-रहते क्यों नहीं दिया? मैं गाँवमें किसी दूसरे घरकी तलाशमें निकला, थोड़ी ही दूरपर एक दूसरा ग़रीब बनिया रहता था। उसने रहनेके लिए जगह दी, और आदमी खोज देनेका भी वचन दिया। शायद वह फ़सल कटनेका वक़्त था, या क्या आदमी मिलना सचमुच ही मुश्किल था। इधर स्टोक साहेबने जो बेगारके ख़िलाफ़ आन्दोलन किया था, उससे बेगार बन्द कर दी गई थी। मुझे इस आन्दोलनकी ख़बरोंको सहानुभूतिके साथ पढ़ते वक़्त यह क्या पता था, कि इसका परिणाम एक दिन मुझे ख़ुद भोगना पड़ेगा। उक्त स्थानसे कोटद्वार ३, ४ मीलकी चढ़ाईपर था। कोटद्वारमें क़ुली मिलना आसान है, यह सभी बतला रहे थे, किन्तु प्रश्न था वहाँ तक जानेका। अन्तमें सवा या डेढ़ रुपये मज़दूरी—सिर्फ़ ३, ४ मीलके लिए—देकर एक आदमी ठीक हुआ और मैंने उस शतवार-संशप्त गाँवको छोड़ा।

रास्ता चढ़ाईका था, और चारों ओर पहाड़ खेतोंसे ढँका था। कोटद्वारमें डिस्ट्रिक्ट-बोर्डकी ओरसे बनी धर्मशालामें ठहरा, अपनी श्रेणीके घरोंसे वह काफ़ी अच्छी और साफ़ थी। यहाँसे शिम्लेके लिए भरिया हर वक़्त मिल सकता है, यह सुनकर बड़ा इत्मीनान हुआ। पके सेबोंकी ख़बर पाकर मैंने दो-तीन सेर एक बग़ीचेसे मँगवाये। खाने-पीनेसे निवृत्त हो स्टोक्स साहेबके बँगलेपर गया। पहाड़की पीठपर, सेब आदि फलदार वृक्षोंसे ढँकी एक विस्तृत भूमिके बीच उनका बँगला और कितने ही और घर थे। स्टोक्स अपने कुर्ते-धोतीमें बड़ी प्रसन्नतासे मिले। उनकी स्त्री और एक ३, ४ वर्षका बच्चा बीमार था—बच्चेको मेरे सामने उन्होंने गोदमें उठाकर दूसरे बिस्तरेपर लिटाया—और इसके मारे मनमें ज़्यादा तरद्दुद होना स्वाभाविक

था, तो भी उन्होंने मुझसे बहुत अच्छी तरह बात-चीत की। अपने स्कूलके प्रधानाध्यापक एक मद्रासी तरुणको मुझे सब चीज़ दिखलानेके लिए कह दिया। स्कूलके मकान स्वच्छ, हवादार, और मज़बूत थे। यहाँ बालक-बालिकायें एक ही साथ शिक्षा पाती थीं, पढ़ाई निःशुल्क थी।

भरियापर सामान उठवाये उसी शामको मैं शिम्ला पहुँच गया। वहाँ कोई परिचित तो था नहीं, इसलिए पहिले धर्मशालामें ठहरा, लेकिन पीछे देखा तो वह सनातन धर्मसभा भवनसे सम्बद्ध थी, और उसके अपरिचित नियम-उपनियमसे बचनेके लिए मैं वहाँसे आर्यसमाजमें चला गया। शिम्लामें बहुत घूमने-घामनेका विचार न था, राजनीतिक क्षेत्रसे काफ़ी समय तक अनुपस्थित रहनेके कारण अब मुझे छपरा लौटनेकी जल्दी पड़ रही थी। एकाध दिनमें सर्सरी तौरसे शिम्लाके बाज़ारों और सड़कोंको देखकर मेरठके लिए रवाना हो गया। बलदेवजीके पास दो-तीन दिन बिताये, और फिर छपरा चला आया।

१०

१९२६का कौंसिल चुनाव और बाद

शिम्लामें ही बाबू महेन्द्रप्रसादसे——जो कि कौंसिल आफ़-स्टेटके अधिवेशनमें शामिल होनेके लिए गये हुए थे——मालूम हो गया था, कि छपराके कार्यकर्त्ताओंमें कौंसिलके उम्मीदवारोंको लेकर मतभेद हो गया है। यह मतभेद मेरे घनिष्ट सहकारियोंमें पैदा हुआ था, अतः मेरे लिए खास तौरसे तरद्दुदका कारण था। गिरीश बाढ़के बाद सिसवन थानेमें काम करने लगे थे, और अब भी एकमाके कार्यकर्त्ताओंपर उनका काफ़ी प्रभाव था। मेरे दो सालके जेलके समय छितौलीके बाबू श्रीनन्दनप्रसाद नारायणसिंह कांग्रेसमें शामिल हुए और गिरीशकी सहायतासे डिस्ट्रिक्ट बोर्डमें चुने जाकर वह सीवान लोकलबोर्डके चेयरमैन भी हो चुके थे। अब वह प्रान्तीय कौंसिलके लिए उत्तरी सारनसे उम्मीदवार थे, दूसरे उम्मीदवार बाबू जलेश्वरप्रसाद थे, जो उससे पहिले स्वराज-पार्टीकी ओरसे कौंसिलमें गये थे। जलेश्वर बाबूने छपरामें वकालत शुरू कर दी थी, और आरम्भिक प्रेक्टिस होनेसे कार्यकर्त्ताओंके साथ सम्पर्क रखनेके लिए वह काफ़ी समय दे नहीं सकते थे; उधर श्रीनन्दन बाबूने अपनी सहानु-

भूति और मिलनसारीसे कार्यकर्त्ताओंपर पूरा असर जमा लिया था। सिसवन, एकमाके ही नहीं मीरगंज आदिके कार्यकर्त्ता भी उन्हींके पोषक थे, और गिरीश तो उनके ज़बर्दस्त समर्थक थे। उन्हें पूरी उम्मीद थी कि मैं उनके पक्षका समर्थन करूँगा, क्योंकि वह जानते थे, कि मैं हमेशा कार्यकर्त्ताओंके साथ रहता हूँ। कार्यकर्त्ताओंने श्रीनन्दन बाबूकी उम्मीदवारीका समर्थन करते हुए प्रान्तीय कांग्रेसके पास अपना प्रस्ताव ही नहीं भेज दिया था, बल्कि उनके पक्षमें उन्होंने कनवासिंग भी शुरू कर दी थी। मेरी स्थिति बड़ी विचित्र थी। कार्यकर्त्ताओंके इतने ज़बर्दस्त बहुमतकी अवहेलना करना मुझे पसन्द न था, उधर प्रान्तीय कांग्रेसके निर्णयके विरुद्ध भी जाना उचित न जँचता था। मैंने एक ओर कार्यकर्त्ताओंको समझाना शुरू किया, कि प्रान्तीय कांग्रेसके निर्णयके विरुद्ध न जावें, दूसरी ओर प्रान्तीय नेताओंपर भी ज़ोर डाला, कि उम्मीदवार चुननेमें कार्यकर्त्ताओंकी इच्छाका भी ख्याल करें। छपरा लौटनेपर एक महीनेसे अधिक तटस्थ रहते मैं कोशिश करता रहा। प्रान्तीय कांग्रेसने मेरे आनेसे पहिले ही जलेश्वर बाबूको अपना उम्मीदवार चुन लिया था, किन्तु मुझे विश्वास था, कि सब बातोंपर विचार करनेके बाद वह अपना निर्णय बदलकर श्रीनन्दन बाबूको अपना उम्मीदवार बनावेंगे। जलेश्वर बाबूसे मेरी ज़्यादा घनिष्ठता थी, और उधर श्रीनन्दन बाबू जिसके बलपर खड़े हो रहे थे वह गिरीश मेरे प्रिय सहकर्मी थे। मैंने कह दिया था, कि उम्मीदवारी बदलनेका मैं प्रयत्न कर रहा हूँ, किन्तु अन्तमें मुझे उधर ही रहना होगा, जिधर कांग्रेसका निर्णय होगा। मुझे यह देखकर बड़ा अफ़सोस हुआ, कि प्रान्तके नेता स्थानीय कार्यकर्त्ताओं और स्थितिका बिल्कुल न ख्यालकर पूर्व निर्णय ही पर क़ायम रहे।

कनवासिंग ज़ोर-शोरसे शुरू हुई। एकमाके प्रायः सारे कार्यकर्त्ताओंने तो मेरी वजहसे श्रीनन्दन बाबूका साथ छोड़ दिया, किंतु गिरीश और दूसरे कितने ही वचनबद्ध हो चुके थे, इसलिए उन्हें साथ छोड़ना विश्वासघात मालूम होता था। सारे निर्वाचनक्षेत्रमें व्याख्यानों और नोटिसोंकी धूम थी। कांग्रेसका समर्थन न पा श्रीनन्दन बाबू मालवीयजीकी स्वतंत्र कांग्रेस-पार्टीके उम्मीदवार बने। छितौलीके बड़े ज़मींदार होनेसे उनके पास रुपया और उसके खर्च करनेके लिए दिल था। उस क्षेत्रके कार्यकर्त्ताओंकी सहायता उन्हें प्राप्त थी, और अपने व्यवहारसे वह जनप्रिय भी थे। इस प्रकार उनकी सफलताका आभास शुरू हीसे मालूम होता था, तो भी कांग्रेसका साथ देना छोड़ मेरे लिए कोई रास्ता न था। चुनावकी कनवासिंगमें बहुत कड़वाहट पैदा हो जाती है, लोग एक दूसरेपर कीचड़ उछालनेमें कोई आनाकानी नहीं करते,

किन्तु गिरीशके प्रभावके कारण मेरे प्रति श्रीनन्दन बाबूके सहायकोंने भी सम्मानका भाव रखा। गिरीशसे जब मुलाक़ात होती, तो वह एकमाके उसी पुराने भावके साथ मिलते। वह सम्बन्ध इतना भीतर तक चला गया था, कि चुनावकी आँधी उस-पर चोट पहुँचानेमें असमर्थ थी। दक्षिणी सारनकी ओरसे बाबू निरसूनारायणसिंह कांग्रेस उम्मीदवार थे, और उनके विरोधमें खड़े हुए थे हथुआके दामाद माँझाके बाबू साहेब। इधरके कांग्रेस कार्यकर्त्ताओंमें कोई मतभेद न था, और माँझाके बाबू बड़े ज़मींदार और सर्कारपरस्त होनेसे जनप्रिय भी न थे, इसलिए चुनावमें कांग्रेसकी विजय निश्चित थी। महाराजगंजमें पक्ष कमज़ोर देखकर मैंने धूपनाथको उस थानेमें स्थायी तौरसे काम करनेको भेजा। धूपनाथ अतरसनके मेरे सहकारी बा० रामनरेशसिंहके चचेरे भाई थे, और एकाध बार उनसे भेंट हुई थी, किन्तु तब वह अधिकतर बनेली राजमें तहसीलदारी करते थे। इस वक़्त उनको वैराग्य आ गया था, नौकरीको अपने छोटे भाईको सुपुर्दकर ब्रह्मज्ञानकी तलाशमें फिर रहे थे, और इसी सिल्सिलेमें वह मुझसे मिले थे। ब्रह्मज्ञानका महत्त्व मेरी नजरोंमें गिर चुका था, किन्तु सीधे उसकी निंदा न कर मैंने सार्वजनिक काम कराते हुए धीरे-धीरे उस आकर्षणको उनके दिलसे हटाना चाहा। इस चुनावमें धूपनाथके रूपमें मुझे एक स्थायी मित्र मिला।

छपरामें मैंने जबसे राजनीतिक काम किया, तबसे ही सभाओंमें मेरा भाषण सदा वहाँकी भाषा (भोजपुरी, मल्ली)में होता था। इस चुनावके समय उम्मीद-वारोंके पक्षमें मैंने कई नोटिसें इसी भाषामें निकालीं, जिसको पहिले तो लोगोंने उचित नहीं समझा, किन्तु जनतापर सीधी-सादी दीहाती भाषाका असर देख उन्हें उसके महत्त्वको स्वीकार करना पड़ा। "जे जगदीपा गाँव उजरलीं ठूँठ कइलीं पीपर। से जगदीपा आवतारीं हाथे लेले मूसर।" के हेडिंगसे निकले नोटिसने तो निरसू बाबूके विरोधीको 'जगदीपा' नाम दे डाला।

वोटके दिन मैं भोरे और कटया थानोंमें रहा। स्वामी सहजानन्दजी उस वक़्त भूमिहारोंके प्रबल समर्थक और सम्माननीय नेता थे, अभी जातीय पक्षका उनके ऊपर बहुत असर था। श्रीनन्दन बाबूके पक्षमें काम करनेके लिए वह भी उस दिन इन दोनों थानोंमें थे। हम दोनों दो परस्पर-विरोधी केम्पोंमें काम करते थे, किन्तु उनकी प्रतिभा उनकी कर्मठताको देखकर इतने संकुचित क्षेत्रमें काम करना मुझे पसन्द न लगता था—यह इसलिए कि भीतरसे मैं उनका प्रशंसक था। कटयाकी सभामें किसी विरोधीने मेरी जात-पाँतपर आक्षेप किया था, जिसका उत्तर वहीं खड़ा होकर

एक वृद्ध ब्राह्मणने दिया——मैं बनारस जाते हुए इनके घरपर ठहरा हूँ, बड़ीसी हवेली है, ख़ूब धनी ब्राह्मण-घर है। धनीकी अत्युक्तिको तो मैं समझ सकता था, किन्तु बड़ी हवेलीपर मुझे विश्वास नहीं पड़ा। मैं समझता था अभी कनैलामें मेरे भाई उसी घरमें रहते हैं, जिसे मैं छोड़ आया था। वोटकी सभामें मेरे पक्षमें कहनेकी वजहसे मैं उसकी बातका खंडन कैसे करता, किन्तु मुझे उस ब्राह्मणके झूठपर मन-ही-मन बुरासा लगा; किन्तु दो-तीन बरस बाद (१९३०के अन्तमें) यागेश जब मिले, तब उन्होंने बात ही बातमें बतलाया, कि मेरे भाइयोंने पुराने मकानोंको तोड़कर दीहातके लिए एक अच्छासा मकान बनाया है।

वोट देना समाप्त हुआ। कटयामें जलेश्वर बाबूका बहुमत रहा और शायद भोरेमें भी। अधिकांश थानोंमें श्रीनन्दन बाबूको ज़्यादा वोट मिले, और वह दुगने वोटोंसे मेम्बर चुने गये। दक्षिणी सारनमें निरसू बाबू बहुत अधिक वोटोंसे विजयी हुए। केन्द्रीय एसेंबलीके लिए मेरे मित्र बाबू नारायणप्रसाद कांग्रेस-उम्मीदवार थे, ज़िला कांग्रेसके एक प्रधान कर्मीके तौरपर उनके लिए भी काम करना पड़ा था। उनके प्रतिद्वन्दी भी बड़ी बुरी तरहसे हारे। नारायण बाबूके बारेमें मुझसे कई बार लोगोंने कहा कि वह श्रीनन्दन बाबूका समर्थन करते हैं, किन्तु मैंने इसे व्यक्तिगत द्वेषसे कही गई बात समझी। हाँ, उत्तर सारनमें उनके द्वारा कांग्रेस उम्मीदवारका खुल्लम-खुल्ला समर्थन न होना मुझे पसन्द नहीं था।

इस चुनावके सिल्सिलेमें सारन ज़िलेसे बाहर भी मुझे काम करना पड़ा था। दर्भंगाके कांग्रेस-उम्मीदवार पंडित शिवशंकर झा और महन्त ईश्वरगिरिके चुनाव-क्षेत्रोंमें मैंने कई व्याख्यान दिये। कांग्रेस-उम्मीदवार बाबू सत्यनारायणसिंहके पक्षमें प्रचार करनेके लिए एक ही साथ मैं और राजेन्द्र बाबू दलसिंगसराय पहुँचे। धर्म-शालामें सभा रखी गई। सारा आँगन लोगोंसे खचाखच भरा हुआ था। सभामें गोलमाल करनेके लिए प्रतिद्वंदी उम्मीदवार एक बड़े ज़मींदार बाबू महेश्वरप्रसाद नारायणसिंह, नरहनके बाबू तथा कितने ही अनुयायियोंके साथ पहुँच गये। उन्होंने झटपट नरहनके बाबूका नाम सभापतिके लिए पेश कर दिया। राजेन्द्र बाबूने कहा—रहने दो, वही सभापति रहें। मालूम नहीं मेरा व्याख्यान राजेन्द्र बाबूसे पहिले हुआ या पीछे। मैंने छपराकी बोलीमें भाषण शुरू किया। दो ही मिनटमें किसानोंके शिर हिलने लगे, फिर तो सभापतिने यह उज़्र पेशकर हिन्दीमें भाषण करनेके लिए ज़ोर दिया, कि लोग छपराकी बोली नहीं समझते। मैंने जनतासे पूछा——'यदि आप लोग मेरी भाषा नहीं समझते तो क्या करूँगा उर्दू-फ़ारसीमें बोलनेकी कोशिश

करूँगा।' जनताने एक स्वरसे कहा—'नहीं, हम आपकी भाषा खूब समझते हैं। जिसमें हम समझ न पावें, इसके लिए यह चालाकी चली जा रही है।' सभापति अब क्या बोलते, जनता मेरे साथ थी। मैंने अपने भाषणको जारी रखते हुए कहा—'ज़मींदारोंके स्वार्थ और किसानोंके स्वार्थ एक नहीं हैं। किसानोंका ख्याल करनेपर ज़मींदार कहाँ रहेंगे? ....' सभापति और महेश्वर बाबूने राजेन्द्र बाबूसे कहा—'आप कहें, कि यह कांग्रेसके मतके विरुद्ध बोल रहे हैं, क्योंकि कांग्रेसमें ज़मींदार भी हैं।' मैंने कहा—'और कांग्रेसमें किसान सबसे ज़्यादा हैं।' राजेन्द्र बाबूने बीचमें दखल देनेसे इन्कार कर दिया। सभापतिने मेरे भाषणमें कुछ दखल देना चाहा, मैंने जनतासे कहा—'यदि आप कहें तो मैं बोलना बन्द कर दूँ।' जनताकी ओरसे ज़ोरकी आवाज़ आई—'नहीं, हम आपका व्याख्यान सुनना चाहते हैं।' अब यदि सभापतिजी मुझे बोलनेसे रोकते, तो आँगनमें वह, महेश्वर बाबू उनके दस-पाँच अनुयायी रह जाते, और जनता मेरे साथ उठकर बाहर अलग व्याख्यान सुनती। मेरे व्याख्यानसे ज़मींदारों और किसानोंके परस्पर-विरोधी स्वार्थोंका लोगोंको इतना ख्याल हो गया, कि दूसरे दलका व्याख्यान नहीं जमा।

उसी शामको हमारा व्याख्यान समस्तीपुरमें हुआ। शहरकी जनता थी, किन्तु यहाँ भी मैं छपराकी बोलीमें बोला। तिर्हुतकी म्युनिस्पेल्टियोंसे रायबहादुर द्वारिकानाथ कांग्रेस-उम्मीदवार थे। व्याख्यानके बाद उन्होंने कहा—'राजेन्द्र बाबू, आप लोगोंका व्याख्यान विद्वानोंके लिए ठीक हो सकता है, किन्तु जहाँ तक वोटरोंका सम्बन्ध है, वह तो रामउदार बाबाके ही व्याख्यानको समझ सकते हैं।'

सारे प्रान्तके चुनावका परिणाम निकला। कौंसिलके भीतर सबसे बड़ा दल कांग्रेसपार्टीका था, किन्तु निर्वाचित और मनोनीत सदस्योंको मिला लेनेपर उसका बहुमत न था। पार्टीके सदस्योंकी पहिली बैठकके दिन मैं भी पटना पहुँचा, और किसानोंके हितकी कुछ बातोंपर मैंने सदस्योंसे बातचीत करके उनके हस्ताक्षर लिये। बहुतोंने हस्ताक्षर कर दिये, और कितनोंने बहुत हिचकिचाहटके बाद हस्ताक्षर किये। उस वक़्त मुझे पता लगा, कि किसानोंके हितोंके लिए आधी दूर तक जानेके लिए भी बहुतसे कांग्रेसी तैयार नहीं हैं।

× × ×

उस साल (१९२६ ई०) कांग्रेसका अधिवेशन गोहाटीमें होनेवाला था। पटनासे मैं सुल्तानगंज गया। धूपनाथसे सलाह हुई थी, उधर हीसे गोहाटी साथ चलनेकी। रामनरेशसिंहके बड़े भाई बाबू देवनारायणसिंह उस वक़्त वहाँ बनैली

राजके तहसीलदार थे। वैसे भी अतरसनके सम्बन्धसे मेरा काफ़ी परिचय था, किन्तु अब तो धूपनाथ भी वहीं थे। भागलपुरसे गंगापार हो हमने छोटी लाइनकी गाड़ी पकड़ी, और एक दिन सबेरे अमीनगाँव पहुँचे। ब्रह्मपुत्रका यह पहिला दर्शन था। दिसम्बरका स्वच्छ जल गम्भीर ब्रह्मपुत्रको और काला बना रहा था। दूसरे पार कुछ दूरपर कांग्रेसकेम्प था। हम लोग अपने एक परिचित मित्र——जो खद्दर-डिपोके कार्यकर्त्ता थे——के साथ प्रदर्शनीमें ठहरे।

स्थान दर्शनीय था, और पासका कामाख्या-पर्वत, हरे वृक्षों और झाड़ियोंसे लदा बहुत सुन्दर मालूम होता था। धूपनाथके साथ एकसे अधिक बार मैं वहाँ गया। कँवरू (कामरूप) कमच्छा (कामाख्या)के जादूके बारेमें लड़कपनमें मैंने बहुतसी कथायें सुनी थीं, किन्तु अब वह बच्चोंकी कहानी थी। हाँ, वहाँकी सुन्दर तरुण कन्याओं——जिनके चेहरेपर मंगोल मुख-मुद्राका हल्कासा असर तथा रंग पांडु था——को देखकर मुझे अपने मित्र इन्दिरारमणजीकी बात याद आई। वह एक बार विचरण करते हुए कामाख्या पर्वतपर पहुँच गये। वहाँ किसी पंडेने बड़े स्नेहके साथ उन्हें अपने यहाँ ठहराया। चन्द ही दिनोंमें उन्हें मालूम हो गया, कि गृहपति उन्हें अपनी तरुणकन्याके प्रेमपाशमें बद्ध करना चाहता है। उन्होंने चुपकेसे भागकर अपनी जान बचाई। उन्होंने यह भी बतलाया था——बस यही कला, कँवरू-कमच्छाका जादू है, इसीको रूपकके तौरपर 'आदमीको भेड़ा बना लेना' कहा जाता है। पहाड़की स्वच्छ हवामें रहने, निर्द्वन्द खाने-पीने और स्वच्छन्द विहरनेसे उन तरुणियोंका रूप और स्वास्थ्य श्लाघनीय ज़रूर था, किन्तु मुझे तो रूपकके तौरपर भी वहाँ 'भेड़ा बनानेवाली' कोई बात नहीं दीख पड़ी। पहाड़पर ही मैंने कई करोड़के मालिक एक धर्मप्राण धर्मध्वजी महाराजाकी रखेलीके लिए बना एक बँगला देखा, लेकिन कितने ही 'ऋषियों' और 'महात्माओं'के जीवनको भीतरसे देखने और सुननेके कारण मेरे लिए वह कोई आश्चर्यकी चीज़ न थी।

वरदराज बहुत दिनोंसे नहीं मिले थे। मैंने सुना था वह आसाममें रहते हैं। किसीने यह भी बतलाया कि उनपर कँवरू-कमच्छाका जादू चल गया है, और वह अपनेको किसी सुन्दरीके हाथ बेच चुके हैं। अपने बालमित्रसे मिलनेकी मुझे बड़ी उत्सुकता थी। मैंने शहरके वैरागी स्थानोंमें जाकर कई बार पूछ-ताछ की, किन्तु उनका कोई पता न मिला। मेरठमें मिले बलदेवजीके सहपाठी (हरिनामदास)——जो कालेज जीवनमें अपने रुग्ण शरीरके कारण साथियों द्वारा डाक्टरकी उपाधिसे भूषित किये गये थे——चुनावके दिनोंमें ब्रह्मचारी विश्वनाथके नामसे स्वामी सत्यदेवजीके प्राइवेट

सेक्रेटरीके रूपमें छपरा पहुँचे थे। यहाँ फिर उनसे मुलाक़ात हुई। राजापुर (कटया थाना)के महन्तने मुझे एक उत्तराधिकारी ढूँढ़ देनेका भार सौंपा था। कुआड़ीमें एक योग्य राष्ट्रीय कर्मीकी मुझे भी ज़रूरत थी, इसलिए महन्तजीकी बातको मैंने स्वीकार किया। ब्रह्मचारी विश्वनाथके साथ शुरू हुआ परिचय घनिष्ठताका रूप धारण कर चुका था। मैंने उनके सामने जब दोनों बातोंको रखीं तो उन्होंने पसन्द किया और तै हुआ कि यहाँसे वह छपरा चलेंगे।

गोहाटी कांग्रेसका कोई ख़ास असर मेरी स्मृतिपर नहीं हुआ। अधिवेशनके समय स्वामी श्रद्धानन्दकी हत्याकी ख़बर आई। लोगोंमें कुछ उत्तेजना फैली। मज़हब भारी अशान्तिकी जड़ है—इस धारणाकी ओर मैं एक क़दम और बढ़ा। इस वक़्त भी मैं आल-इंडिया कांग्रेस कमीटीका मेंबर था, किन्तु बहस-मुबाहिसोंमें मुझे कोई ख़ास दिलचस्पी नहीं थी। कानपुर कांग्रेसने कौंसिल-प्रवेश स्वीकार कर लिया था, इसलिए किसी ख़ास बातका विवाद भी न था।

स्टीमरसे ब्रह्मपुत्र पार हो अमीनगाँवमें रेलमें बैठे। हम लोग डिब्बेके भीतर अभी आये ही थे, कि एक पतले-दुबले नौजवानको अपने साथ देखा। मेरे एक साथी-की छातीपर काँटासा गड़ता दिखलाई पड़ा, देखा तो उनकी जेब कटी है। हमने उस तरुणको लापता पाया। कितनी ही जगह ढूँढ़ा किन्तु वह कहाँ मिलनेवाला था? उस जेबकटको तो इस सफ़ाईके लिए इनाम देना चाहिए था। धूपनाथजीने ब्र० विश्वनाथजी और मेरे किरायेके रुपये दिये।

छपरा पहुँचकर (१९२७ ई०) सबसे ज़रूरी काम हमें करना था, गांधीजीके सारनके दौरेका प्रबन्ध करना। सार्वजनिक सभाके स्थानोंमें एकमा भी था। प्रबन्ध करनेवालोंमें मैं मुखिया था, किन्तु गांधीजीके साथ-साथ रहनेकी मुझे बिल्कुल इच्छा न थी। जिन्हें लोग बड़ा आदमी समझते हैं, उनके गिर्द एक प्रभामंडल छा जाता है, उसमें रहते मुझे अपना दम घुटतासा मालूम होता है। जीरादेईमें मुझे राजेन्द्र बाबू गांधीजीके पास ले गये, उस बार बस वही दो-एक मिनट मेरा उनके साथ साक्षात्कार हुआ। कौंसिलके चुनावका मुझे अनुभव हो चुका था, अब डिस्ट्रिक्ट बोर्डका चुनाव होनेवाला था। कांग्रेसने इसके लिए भी अपने उम्मीदवार खड़े किये थे। हक़ साहेबने डिस्ट्रिक्ट बोर्डका तीन साल चेयरमैन रहकर शिक्षामें सारन ज़िलेको प्रान्तमें सबसे आगे बढ़ा दिया था। बोर्डके हर एक विभागमें नई सजीवता दिखलाई पड़ती थी। हम चाहते थे, कि अबकी बार वह फ़िर बोर्डमें जावें और चेयरमैन बनें, किन्तु उन्होंने निर्विरोध स्थानपर खड़ा होना स्वीकार किया था। हमें बड़ा अफ़सोस हुआ, जब देखा कि

उनके स्थानसे एक दूसरे आदमी खड़े हो गये, और हक साहेबने अपना नाम हटा लिया। हक साहेब बड़े आदमी थे असली अर्थमें, तो भी मेरा उनकी ओर बड़ा आकर्षण था। उनके बर्त्ताव बात-चीतमें एक तरहकी सादगी अकृत्रिमता होती थी, जो मेरे जैसों पर भारी असर किये बिना नहीं रह सकती थी। पहिली बार हक साहेबके घरपर (फ़रीदपुरमें) मैं १९२२में गया था। हक साहेब वहाँ न थे, उनकी बेगम साहबाने चाय पिलाया। चाय बिस्कुटमें कोई हर्ज नहीं—बाबू मथुराप्रसाद यह जानकर मुझे समझा रहे थे, कि मैं वैष्णव होनेसे छूत-छातमें अभी संकीर्ण विचार रखता हूँ। उसके बाद हक साहेबको कई बार देखा। दूसरी बार जेलसे लौटनेपर तो अनेक बार उनसे मुलाक़ात होती। डिस्ट्रिक्ट बोर्डकी उम्मीदवारीके सिल्सिलेमें मैं ख़ास तौरसे उन्हें मनानेमें (२० मार्च १९२७ ई०) फ़रीदपुर गया। उस वक़्त मुझे पता न था, कि उस कर्पूर श्वेत दाढ़ी, उस भव्य गौर मुखमंडल—जिसपर बुढ़ापा अपनी छाप सिर्फ़ बालोंके रंग तक छोड़ने पाया था—, उस सीधे-सादे किन्तु मनमोहक बात करनेके ढंगको मैं अन्तिम बार देख-सुन रहा हूँ। दूसरी बातोंके बाद मैं और मेरे साथी बा० रामानन्दसिंह (ज़िला कांग्रेसके मंत्री) श्रोता बन गये। हकसाहेबके सामने दो बड़ी-बड़ी आलमारियोंमें 'स्प्रिचुअलिज़्म', और दर्शनकी अंग्रेज़ी पुस्तकें भरी थीं, जिनमेंसे अधिकांश नई थीं, यह उनकी लाल-पीली जिल्दोंसे मालूम हो रहा था। उन्होंने उन किताबोंकी ओर इशारा करते हुए कहा—'राम-उदार; क्या मारे-मारे फिरते हो, यहाँ आकर बैठ जाओ, इन पुस्तकोंको पढ़ो। अध्यात्मवाद कोरी कल्पनाकी चीज़ नहीं है। परलोक और मृत्युके बाद भी आत्माका अस्तित्व प्रत्यक्ष सिद्ध होनेकी चीज़ है।....युरोपमें आत्माओंका लोग साक्षात्कार करते हैं।....हमारे यहाँ उतने अच्छे माध्यम नहीं मिलते।....मज़हबी झगड़े उन्हींकी तरफ़से होते हैं, जो उन शिक्षाओंकी तहमें क्रियात्मक रूपसे प्रविष्ट नहीं होना चाहते....।'

मैंने क्या उत्तर दिया, यह मालूम नहीं; किन्तु स्प्रिचुअलिज़्मपर उस वक़्त भी मेरा विश्वास न था। मैं यह भी जानता था, कि जबसे उनका बड़ा लड़का बग़लकी नदीमें तैरते हुए डूब गया, तबसे उनका ध्यान इस ओर ज़्यादा हो गया है। तत्कालीन राजनीतिक नेताओंमें जिस व्यक्तिके प्रति मेरी अपार श्रद्धा हुई, वह हक साहेब ही थे। कितनी ही बार मेरी इच्छा थी कि कुछ समय फ़रीदपुरमें उनके पास रहूँ, किन्तु मेरा सारा समय कांग्रेसका काम ले लेता था। उनकी मृत्युकी खबर जब मैंने ल्हासा (?)में पढ़ी तो इस लालसाके अपूर्ण रहनेका बहुत अफ़सोस हुआ। हक साहेबके व्यक्तित्वका

मुझपर क्या असर हुआ था, इसकी बानगी अपने एक-दो स्वप्नोंसे देता हूँ।—मैं चाहता था, कि छपरामें हक कालेज खोला जावे—उस वक़्त राजेन्द्र कालेजका ख्याल भी लोगोंको नहीं आया था। छपरामें एक विस्तृत हक हाल बने, जिसमें उनकी मूर्ति रखी जावे। उनके प्रिय फ़रीदपुरके बग़ीचेको एक स्थायी स्मारक उद्यान, पुस्तकालय, कृषिविद्यालयके रूपमें परिणत कर दिया जावे। उनका एक विस्तृत जीवन लिखा जावे।

डिस्ट्रिक्ट बोर्डके चुनावमें भी काफ़ी कटुता रही। उम्मीदवारोंकी संख्या, और क्षेत्र अधिक होनेसे एक तरह इस वक़्त झगड़ा और व्यापक बन गया। पिछले कौंसिल चुनावमें जो कुछ कटुसंघर्ष रहा, वह उत्तर सारनमें था किन्तु अबकी बार तो सारे ज़िलेमें आग लग गई थी। एकमासे लक्ष्मीनारायण खड़े हुए थे। कांग्रेसके नाते ही नहीं, अपने घनिष्ठ सम्बन्धके नाते भी उनकी सफलताके लिए प्रयत्न करना मेरे लिए जरूरी था। चुनावके सम्बन्धमें सभा करनेके लिए मैं ३० मार्चको परसा पहुँचा। बाज़ारमें कुछ लोग जमा हो गये। लक्ष्मीनारायणके प्रतिद्वन्दी बाबू शिवजी (राजदेवप्रसाद नारायणसिंह) परसाके बड़े ज़मींदार थे। उनके आदमियोंने आकर मेरे व्याख्यानमें विघ्न डालना, गाली-गलौज करना शुरू किया। उन आदमियोंमें मैंने दो-तीन आदमी ऐसे भी देखे, जो कांग्रेसके कामोंमें भाग लेते थे, और ज़रूरत पड़ती, तो जेल और मारपीट सहनेके लिए सबसे आगे रहते। मेरे दिलको भारी धक्का लगा इन 'अपने' आदमियोंकी इस चेष्टासे। मैंने सोचा—आख़िर ऐसा हो क्यों रहा है? और अन्तमें इस निर्णयपर पहुँचा, कि यदि बा० शिवजी गाँवके बड़े ज़मींदार न होते, तो न उन्हें ऐसा करनेका मौक़ा मिलता, न ये लोग भय और ख़ुशामदसे ऐसा करनेके लिए मजबूर होते। ३० मार्च १९२७ ई०को वह मेरा अन्तिम बार परसाका दर्शन था। उसी दिन रातको मैंने प्रतिज्ञा की—जब तक ज़मींदारी-प्रथा रहेगी, मैं फिर परसामें पैर न रखूँगा।

महाराजगंज थानेमें कांग्रेस-उम्मीदवारके विरुद्ध एक दूसरे उम्मीदवार खड़े हुए थे। बा० नारायणप्रसाद कांग्रेस-उम्मीदवारके विरुद्ध हो उनके लिए काम कर रहे थे। मुझे इसका अफ़सोस होना स्वाभाविक था, किन्तु जब एक घनिष्ठ मित्रके तौरपर वह (३ अप्रेलको) मिलने आये, तो चुनावकी बात चल जानेपर मैंने उन्हें कुछ कड़े शब्द सुना दिये। चुनाव तो ख़तम हो गया, किन्तु उन कड़े शब्दोंके इस्तेमालके लिए मेरा अफ़सोस दिनपर दिन बढ़ता गया। मुझमें यह भारी दोष है, कि किसी काममें आधे दिलसे पड़ना जानता नहीं। पड़नेपर सारा ध्यान मेरा एकसू हो जाता

है। यही कारण था, जो मैं नारायण बाबू जैसे व्यक्तिसे बात करते वक़्त भी अपनेपर क़ाबू न रख सका। किसी व्यक्तिके गुण-दोषको देखते वक़्त मैं अक्सर उसकी दृष्टिसे देखना चाहता हूँ, जिसमें दोषोंको कमसे कम आँक सकूँ। मेरी एक स्वाभाविक कमज़ोरी है, कि किसी व्यक्तिसे घनिष्ठता हो जानेपर मैं उसे सूदपर लगी एक मानसिक पूँजी मान लेता हूँ, और उस पूँजीपर ज़रा भी आघात पड़नेसे तिलमिला उठता हूँ। नारायण बाबूके प्रति मेरी श्रद्धा और स्नेह उसी तरहकी पूँजी थी। उसपर आघात करनेके लिए मैं अपनेको भी क्षमा नहीं कर सकता था। और यह दिलमें लगी आग तब बुझी, जब १९२९ ई०में मैंने ल्हासासे अपने उस व्यवहारके लिए पत्र द्वारा अफ़सोस ज़ाहिर किया और नारायण बाबूका सहृदयतापूर्ण पत्र पा लिया।

बोर्डका चुनाव समाप्त हुआ। कांग्रेस-विरोधी उम्मीदवारोंकी विजय हुई, और सबसे शोचनीय बात यह हुई, कि बोर्डकी दलबन्दी भूमिहार, राजपूत, कायस्थ आदि जातियोंके नामपर हो गई। मेरे लिए यह सबसे अप्रिय बात थी।

कांग्रेसके सामने कोई नया कार्यक्रम न था। मेरे साम्यवादी विचार 'बाईसवीं सदी' लिखकर रख रखने ही तक सीमित थे, और उनके प्रचारके लिए साथी और अनुकूल वातावरण नहीं था। उधर बौद्धधर्मके विशेष अध्ययनकी मेरी इच्छा, जो लदाखयात्रासे जग उठी थी, अब मुझपर भारी ज़ोर दे रही थी। २२ फ़र्वरीको सारनाथ जानेपर मैंने अपना विचार भिक्षु श्रीनिवासजीसे कहा, उन्होंने मेरे विचारोंका समर्थन करते हुए कहा—इस वक़्त अच्छा अवसर भी है। लंकाका विद्यालंकार विहार एक संस्कृत-अध्यापककी खोजमें है, आप वहाँ चले जायें, बड़ी अनुकूलता रहेगी।

× × ×

ब्रह्मचारी विश्वनाथ (भदन्त आनन्द कौसल्यायन) राजापुरमें तीन माससे अधिक रहे। महंतजी उनको बहुत मानते थे, किन्तु वहाँ उस दीहातमें बौद्धिक और सांस्कृतिक जीवनका बिल्कुल अभाव था। मैं देख रहा था, स्कूल सबइन्स्पेक्टर चौधरीजी जब राजापुरमें आते, तो ब्रह्मचारीजीको कुछ सन्तोष होता, नहीं तो दिन काटना मुश्किल हो जाता। एक बार (६-८ फ़र्वरी १९२७) हम दोनों महन्तजीके हाथीपर कसया बुद्ध-निर्वाण स्थानको देखने गये। भोरेसे आगे चलनेपर हमें हाथीकी पूरी करामात मालूम हुई, और हमने उसका नाम समय-संहारक-यंत्र रख दिया। लेकिन महन्तजीके पास वही अकेला वैसा यंत्र न था। एक दिन (९ फ़र्वरी) राजापुरसे छपरा आना था। खाना खा लेने के बाद मैंने सोचा, बैलगाड़ीमें सो रहेंगे और सबेरे तक मीरगंज पहुँच

जावेंगे। नौ बजे रातको गाड़ी रवाना हुई। मैं सो गया, बीच-बीचमें नींद खुलती, तो देखता गाड़ी चल रही है। सबेरा होते वक़्त पूछा, तो मालूम हुआ, सारी रातमें हम सिर्फ़ तीन मील आ सके हैं। मैंने गाड़ीको वहीं छोड़ा और पैदल मीरगंजका रास्ता लिया। पहिले उकतानेपर, 'नई जगह है, पीछे मन लग जायेगा'—कहकर ब्र० विश्वनाथको समझाता रहा, किन्तु अन्तमें देखा, कि उस वातावरणमें उनका रहना मुश्किल है, इसलिए मैं उनके स्थान छोड़नेसे सहमत हो गया। २ मार्चको हमारे साथ ही विश्वनाथजी भी एकमा आये। भविष्यका प्रोग्राम बनाते मैंने उन्हें परामर्श दिया, कि वह कपड़ोंको पीले रंगसे रँग कर कमंडलू ले कुछ दिन घुमक्कड़की ज़िन्दगी बितावें। एकमासे कपड़े रंगकर उन्होंने अपना साधु जीवन शुरू किया।

मई (२ मई) पहुँचते-पहुँचते मैंने भी लंका जाना तै कर लिया।

परिशिष्ट

१. १६२२ डायरीसे

सन् १६२२की पहिली जेलयात्रामें १३ फ़र्वरीसे ६ अगस्त तक मैं बक्सर-जेलमें रहा। उस समय डायरीमें मैंने अपने उलझे-सुलझे विचारों तथा कितनी ही तुक-बन्दियोंको नोट किया था। उनके कुछ अंशोंको यहाँ उद्धृत करता हूँ, जिनसे तत्कालीन परिस्थितिमें जीवनयात्राका पता उसी व्यक्तिके मुँहसे मालूम होगा।—यह निश्चय है, कि अपने सदृश उत्तराधिकारीको छोड़कर, वह व्यक्ति मर चुका है। डायरी संस्कृतमें लिखी गई है, वह जैसीकी तैसी उतारी जा रही है।—

१७ मार्च—"अस्मिन्नान्दोलने मनागपि सफलीभूता जनताऽग्रे भीष्मप्रयत्नेऽपि संकुचितमनस्का न भविष्यति।"

२८ मार्च—"धन्या जैत्रवनभूमिर्यत्र प्रभोस्तथागतस्य चरणधूलिः पर्यापतत्। धन्यः कोऽप्यन्यश्च सौराष्ट्रचन्द्रो द्वितीयो बुद्धः परहितकामेन येन सर्वस्वमर्पितम्।"

३१ मार्च—"उत्पत्ति-संयमविषयेऽवश्यं चिन्तयितव्यम्। पैतृकरोगिणां सन्तानोत्पत्तिक्रमो न साधुः। नात्र सर्वथा भौतिकनिर्बन्धप्रकार एवाश्रयणीयः। स्त्रीणां कथमपि सन्तानोत्पत्तिशक्तिहरणं स्यात्, परं पुरुषाणां कथं स्यात्? यदि कृतवन्ध्यासंसर्ग एव तैः कर्त्तव्यः, तदा हीनचारित्र्यं विलासबाहुल्यं, विषयतृष्णावृद्धिश्च स्युः। मनसा संयम्यैव सन्ताननिरोधस्साधुः। परन्न सर्वे योगिनो भवितुमर्हन्तीत्यपि निश्चितमिव। अत्रावश्यं किमपि निर्बन्धनम्।"

६ अप्रेल—"१. सत्यवकाशे तदेव क्षेत्रं द्वितीयर्त्तुकृतेपि सन्नद्धीकर्त्तुं (शक्यम्)। २. कृषिप्राधान्यहानिरपि स्यादस्य देशस्य। ३. कार्यविराम एव गीतादिकलाभिर्मनोविनोदः। ४. आलस्यपरित्यागवत् जात्यभिमानहानिरपि स्यात्। ५. यन्त्रागाराणि राष्ट्रीयान्यपि भवितुं शक्यन्ते। ६. कर्मकराधिक्यं व्यक्तिसेवां विना, तेन कार्यसमयन्यूनता। ७. यन्त्रगृहाद् दूरस्थेषु गृहेषु यातायातम्। ८. यन्त्रमुक्तपयःप्रक्षालितमूत्रनलिकाः। ९. पुरीषोत्सर्गश्च वहिः मृत्तिकापिधानपूर्वः। १०. रुग्णसेवा त्वन्या। ११. पृथक् पृथग् यन्त्र-

गृहं नदपरिसरे। १२. स्त्रीपुंसोः कार्यपार्थक्यम्। १३. बालवर्धनशिक्षा रुग्णसुश्रूषाभोजनादि स्त्रीणाम्। १४. बहुपरिश्रमसाध्यं कार्यं पुंसामेव।"

१६ अप्रेल—"स्वप्नेऽपश्यं—रूसबोल्शेविकसेना युद्धानन्तरं कृष्णपर्वतमुल्लंघ्या गता। यत्र यत्र सेना व्रजति जनाः साहाय्यपरा भवन्ति। विमानेन सूचनामपि यत्र तत्र निक्षपन्ति—न वयं युष्मान् शासितुमागताः परैः पीडितानां भवतामुद्धार एवास्माकं लक्ष्यम्। सैनिकापेक्षितविशेषाधिकारोऽस्मद्धस्ते तु यावच्छत्रुर्देशे, अन्यत् प्रबन्धादिकं भवत्स्वेव तिष्ठतु इति। पञ्चनदाद् विद्राव्य शत्रुं इन्द्रप्रस्थ अगतायां वाहिन्यां लक्षशः पञ्चनदयोद्धारः स्वदेशसेनायां प्रविशन्ति। अन्यप्रान्तीया अपि तूष्णीं न किमपि आङ्ग्लेभ्यः साहाय्यं दातुमुत्सुकाः। गते इन्द्रप्रस्थ आङ्ग्ला उद्घोषयन्ति—भारतीया बान्धवाः युष्मत्सेवां साहाय्यं चोरीकृत्य उपनिवेश-स्वराज्यं दीयते, आयान्तु संकटापन्ने देशे धन-जनसाहाय्येन इति।"

२२ अप्रेल—

"किंचिन्न मेऽस्ति भगवन्! त्वयि चार्पणीयम्,
रिक्ताशयः सपदि ते चरणौ वहामि।
दीनार्तिहन्! प्रभुवरस्य गुणान् विमृश्य,
प्रेमास्पदेन निचितं हृदयं ममास्तु ॥१॥
मातः! सदा वहसि मुञ्चसि वैभवं स्वं,
सन्तान एष यदुवंशसमः प्रयाति।
हा हन्त! पश्य विपदाविकलां परं ते,
ह्यक्षि प्रमील्य शयनातुरतां नटन्ति ॥२॥

२३ अप्रेल—

"क़ील हुवन्नास मुहिब्बुल्-हैवान्।
कुल्लो मन् यह्य बादे मौतेही ॥
तिलकल् अक़ीलो सार फ़िज़्ज़मां।
बिल्-हुब्बे मख्लूक़ व हक़् ॥"

"दरदिलम् इश्क़े ख़ुदा बह्रे दुनी पैदा शुद्।
दिलेमन् खिद्मत्-ओ हर्-एक् आँ वक़्फ़ शवद् ॥
हैफ़ सद्-हैफ़ ज़िन्दगानी तू।
ज़ुज़ नफ़्स बेह् न बसर् आयद् हेच् ॥

मलिक दर्-ख़ल्क़ शुदम् बाज़बेनवा ।
हस्तियेमन् बशवद् ग़ैर-बदल् ॥
दर् रहे इश्क़्श गर् बेह् बकुनी ।
बेः बवद् सम्र हयातक् बदुनी ॥"

"मन तू मनको मति करै, मनको मनकौ तोरि ।
हिय बिच हितसों हेरि ले, नहि यामें कछु खोरि ॥
हा ! थी हा ! थी सब कहैं, ग्राँ कुश काहू दै न ।
हाथी हाथी सब कहैं, ग्राँकुश काहू दैन ॥
जीते मीते कित गये, जीहाते ग्रब ग्राँहि ।
जीते जीते हित धरहिं, मीते मीच सकाहिं ॥
"मनमें तो पैनी छुरी, जिह्वा जिमि रसखानि ।
नहिं 'उदार' फल लाभ हो, शुभ इन मित्रन पाहिं ॥
दिल खोलत खुलता नहीं, खुलत खुलत रहि जाइ ।
कृपा भई जब ईशकी, ग्रापुहि ते खुलि जाइ ॥

२४ ग्रप्रेल--

"दोषा दोषयुता गता, दिवा हितं नाकारि ।
ग्रहितहिते जानासि न, किं त्वं प्रिय ! भवितासि ॥
जननी भूमि प्रभू पिता, भ्राता सब जग जान ।
नतरु स्वर्गसम जग सबै, नरक दुःखकी खान ॥
श्रम करि थकि थकि कोउ मुवै, भोग करै कोउ ग्रान ।
को यह जगको न्याय है, करम बिना फलदान ॥
रे बबूल ! को काम तुव, थकित पान्थ दुख देत ।
हरि रसाल भख रस सदा, ना फल मीठो हेत ॥
काठ पात फल छाल तउ, जनहितसाधन मोर ।
काम बिगारन हितहरन, तुव बिच केतो जोर ॥
धूली मगकी धन्य तू, सबके चरनन लागु ।
कबहुँक तरवर सिर धरे, सहनो ई बड़ भागु ॥
कारा कारा ग्रब कहाँ, सन्त ग्रंक हैं तासु ।
जिनके पदरज परसिके, तीरथराज उजास ॥

बहुश्रमते शुभ्रा भई, लोहा थालि परन्तु ।
निज सुभाव छाड़त नहीं, बहुरि होत मसिवन्त ॥"

२५ अप्रेल——

"चन्द्र-चमत्कृत-शोभया, दाई लुमिनस् फ़ेस ।
मन चकोर ता मोहमें, चूँ मजनूँ दर्वेश ॥
नयना नय ना जानहीं, तीखो तिनको गैल ।
सयना ते सयना लरैं, हियपर मेलत मैल ॥
है नदी नहीं जलादि, है समीर ना सुवास ।
दुर्शवद् मगर बे-आब्, यौवने तथासि तात ॥
तुंग धवल हिमिगिरि शिखर, स्फाटिक सरिता माल ।
स्नेहतरंगित सिंधुपय, जननी लालित बाल ॥
पीत रक्त सित कृष्ण सब, सम प्रिय तव शिशुजात ।
शीत-उष्ण निम्नोन्नत, स्नेहमयी तव गात ॥
चन्द्र हास इच्छा जलधि, ज्वालागिरि तव द्वेष ।
क्रमण यत्न तनुकम्प दुख, हितचिन्तनि तव वेष ॥
आर्य अनार्य विभेद नहिं, नहिं वर्णनको भूत ।
देशभेदभेदक कहाँ, सब जननीके पूत ॥
अज्ञ सुज्ञ निर्बल सबल, सुन्दर अवर कुरूप ।
बन्धु स्नेहमें मत्त हो, सजो सकल सुररूप ॥"

२६ अप्रेल——

"दिले बेकारकी यही आदत । न पकड़ता है यह कभी क़ामत ॥
सैर करता है आस्माँकी कभी । नूर नज़्मुल्-फ़लक दिखाता सभी ॥
सदियोंमें पहुँचती जहाँसे शुआअ़ । हद्दे-इम्काँ नहीं है जिसकी रफ़ाअ़ ॥
तेज़ रफ़्तार उसकी है ऐसी । दह्रमें तेज़ है न शै वैसी ॥
क्या अजबका है रखता फर्राटा । कोना-कौनैन पहुँचे धर्राटा ॥
इब्ने-आदमके पास यह दौलत । हैफ़ दारद् न इल्म ईं सौलत् ॥
दर ख़लक़ ताक़तें दुधारी तेग़ । यूज़ करना न उनको ला-तद्रीग़् ॥
ताक़त् उसकीमें मोजज़ात् सभी । मल्क ताऊत हो बिगड़ता जभी ॥
नेक नेकीमें करता इस्तेमाल । बद बदी उसकेसे हुआ पामाल ॥
उसके हाथोंमें सारी ताक़त है । उसकी बातोंमें सारी बाबत् है ॥

सख़्त आहन्सा मोमसा है नरम् । बर्फ़सा सर्द मिस्ल शम्श गरम् ।।
जुज़ ख़ता (मन्) न जुर्म-ओ बीनम् । मन् नदानम् कि चीस्त रह् सिद्क़म् ।।
दिल है मुहताज तेरे हुक्मोंका । न सज़ावार तल्ख़ ज़ख़्मोंका ।।
सोच कर ले तो होवे परले पार । वर्न तहक़ीक़ डूबना है मँझार ।।
न यह समझो कि वह हरीफ़ तेरा । गर् शवद् बाज़ बह्र हुक्म तुरा ।।
तेरे ताबे किया ख़ुदाने उसे । दर् अदावत बयाफ़्तश् न कसे ।।
क्या करै चश्मा ऐब-चश्मीको । देना दुश्नाम् है अबस् उसको ।।
तू ही फ़ाअ़ेल है वह है इक् आला । तू ही है माह वह फ़क़त् हाला ।।
फ़ेले बद्मे मुतीअ़ है जैसा । ख़ैर मैं ख़ैरख़ाह है वैसा ।।
दिलकी बातोंको समझकर यारो । बनो दिलदार ता न तुम हारो ।।

कृपा क्रीडा तेरी प्रभु रहै सर्वस्व मेरी ।
रहै चिन्ता चित्ते चिर सखे स्नेहार्द्र तेरी ।।
धनानन्दाब्धौ ते हृदयमामग्नं भवतु मे ।
जलप्लावे गंगा मम हृदयकुल्यां ग्रसतु ते ।।"

२७ अप्रेल—

"वह ग्रीष्मकी जलती तपन सनसन सनकती लू चलै ।
वे अरर-विरहित जंगलें नहिं ओट जिनसे कुछ मिलै ।।
रज पत्र लेकर उष्ण वायू, धूलिधूसर तन करै ।
परितः हरित सस्यालि ग्रीष्माक्रान्त जल बिन संज्वरै ।।
पर्याप्त जल पानीय नहिं स्नानीयकी वैसिहि दशा ।
अति मूत्रगन्ध असह्य जिससे है भरी चारों दिशा ।।
अधिकारियोंके नाज़को जो थे न पूर्व उठा सके ।
क्षुद्राधिकारी गण यहाँ अब मुग्ध उनको पा सके ।।
जिसको समझते थे समुच्चय रत्नका भंडार है ।
कहते यथा हैं सर्वजन वैसा नहीं संसार है ।।
हाँ, पक्षिगण भी त्राससे इस घर्मके कुम्हला रहे ।
विह्वल (विकलसे) लोक भी नहिं वेश्मसे हैं आ रहे ।।
आधिक्य है ज्वरपीड़ितोंका डाक्टर निश्चिन्त हैं ।
नहिं पथ्यका कुछ है पता कूनैन कोरी किन्तु है ।।

यदि साग आता है कभी नहिं कोयलेका है पता।
जब लवण आता तो पुनः अब तेल होता लापता ॥
फूटी हुई चिमनी तथा दीपक बेचारा चुप्प है।
गृह भस्ममय अथवा कभी अतिशय भभकता पुष्प है ॥
सन्तापयुत गृह है अभी बाहर हुई कुछ शान्ति है।
अब बन्द करनेके लिए सर्दारका आह्वान है ॥
एवमस्य विधेर्वाक्यं प्रत्यहं प्रतिवर्त्तते।
निजसिद्धान्तमाश्रित्य जनता नातिवर्त्तते ॥"

२८ अप्रेल—

"हृदयेश ! तव विरहेऽतिकातर एष एकमना जनः।
ताम्यति तले सीदति शरीरे स्तम्भमेति तथा मनः ॥
शुश्रुम न-धन-धन हे प्रभो ! ते प्रेमपूर्णगुणावलीम्।
अर्पितमखिलमात्मीयमित्थं पश्य पुण्यपदावलीम् ॥
माधुर्यमाविकसितमुपरितः क्रौर्यमविदितमाहितः।
विकसितसरोजतले यथास्ते कण्टकुलमन्तच्छिदम् ॥
निष्करुण ! करुणापूरता निस्पृह ! न ते स्पृहयालुता।
पापच्यमानं परहृदं परिपश्य ते प्रशयालुताम् ॥
निर्घृण ! घृणा मे हृदि सदा जागर्ति तेऽतिसुदुस्सहा।
अक्षम ! क्षमा क्व त्वयि गिरा गौरवधरो न गुणैस्सह ॥
लाघवसदन ! गौरवगरिम्णा व्यर्थमिह विख्यायसे।
क्षुद्रातिक्षुद्रहृदय ! महाशय एष किन्तु विभाव्यसे ॥
विह्वल-विरह-दग्धं जनं संत्रातुमस्ति न ते मनः।
गुर्वी गुणैर्वद वीरुदेवं क्वाविशीर्य जहौ मनः ॥
नहि हृदयहारि त्वद्वचो विश्वासजुष्टं हे सखे।
असकृत् परीक्ष्य कुतः पुनः हृदयेन तत्प्राप्यः सखे ॥
हतहृदय ! हा ! दग्धं स्वयं किं क्रूरकर्माणं ब्रजेः।
मृदुफलरसास्वादनमना कण्टकितरुं न मुधा यजेः ॥
दत्तं सकृद्धृदयं परावर्त्तितुमहो नालं त्वहम्।
दुर्वृत्तिदुर्गुणपूर्णतामपि हातुमसि नालं स्वयम् ॥"

३० अप्रेल—

"खिले प्रसून प्रसन्न ह्वै कूजत विहग न थोर।
अन्य अभ्युदय देखिके, सन्त हृदय सुख शोर ।।
जीर्ण पत्र भूषा तजि, पहिरि हरित नव वास।
त्यागु पुनः सुखसम्पदा, याको करत प्रकास ।।
वायुवेग अति घर्मते, जग विह्वल करि देत।
शीतल खस टट्टीन ते, गुण-अवगुण सँग हेत ।।
उपजि उपजि पुनि मरि गयो, चना बिना ऋतुकाल।
काल पाय निर्बल सबल, जग बिच सबको हाल ।।
पुष्पवाटिका साजते, आल वाल खनि दीन।
अस्थिर मनके कारणे, सूखे तोय विहीन ।।
बहुत भये बहुशक्ति नहिं, गल्ल एकता सुष्ट।
मेरु भसकि मरुभूमि ह्वै, तृणते रज्जू पुष्ट ।।
जनसँग जनसुखमें पगे, मुनि मन होत कलेस।
व्यक्तिभेद ते एकही, वस्तु कृतान्त गणेश ।।
जामें कोउ चित ना धरै, दूजो तजत परान।
सबहि कुरूप सुरूप है, मानस विन्दु प्रमान ।।
अनुभव ते पंडित कहैं, एकहि वस्तु विभेद।
भाव साँच ही देखनो, शान्ति सोई सोइ खेद ।।
जगत निहोरा का करी, अपुन निहोरा साँच।
खुशी भइल जब आपनी, सब जग आपन जाँच ।।

१ मई—

"गर सताता है कोई तो ज़ुल्मको सहता रहे।
ज़ुल्म सहनेमें मज़ा है ज़ुल्म करनेमें नहीं ।।
गर बहुत जीना भी होवे तो भी राहत-क़ल्बको।
हिल्ममें मिलती तुम्हें जो ज़ुल्ममें मिलती नहीं ।।
दिलकी ख़्वाहिशके मुताबिक़ जब कोई करता नहीं।
है मतानत टूट जाती लुत्फ़ फिर रहता न है ।।
बाहरी चीज़ोंमें है ना लुत्फ़ हर्गिज़ ऐ जनाब!
लुत्फ़ उसमें क्या भला कि जो पसन्दे-दिल न है ।।

रहम जौहर है बनी-आदमका मिस्ले नूर नार ।
हो तरस मस्अव् अदू पर गो कि वह मुश्फ़िक़ न है ॥
हेच है दर नज़्रे अश्रफ़ नेमतुज्जन्नात् भी ।
ख़ैर ख़ादिमके लिए मख़्दूम् कस् मुनअम् न है ॥
नज़्र हो क़ालिब अनास् है यह फ़रिश्तोंकी दुआ ।
ख़ल्क़ की ख़िदमतमें तो बेहतर फ़रज़ इससे न है ॥
दर्द दिल हो औरको पर आह सद् भरता रहूँ ।
ज़िन्दगीका यह मज़ा मक़बूलतर किसको न है ॥
ग़ैरकी जलतीमें कूदै जिस्म उस्कीकी लिये ।
सर्द है आतिश व बादे-सर्द फ़र्हत्देह न है ॥
ख़ल्क़रा दर-हुब्ब बीनी हुब्बरा दर-ख़ल्क़ बीं ।
गर् तु लज़्ज़त ज़ीस्त ख़्वाही हुब्बरा दर दिल निहीं ॥
काँच आँच बहुतै सहै, निर्मल तत तब सोय ।
कह 'उदार' किमि आँच बिन, मनमलशोधन होय ॥
जामे जेतो श्रम लगै, वाको तेतो दाम ।
मानिक मोल अमोल है, गुंजा लहै न काम ॥
थिर गुन गुनिको मोल बहु, अथिर थोरही पाय ।
पीतल सुन्दर वरन किमि, कंचन भाव बिकाय ॥
खेत श्वेत जिन कारणे, तिनको करत न ख्याल ।
जिनके धन पीवर भये, तिर्नाहं विनासत व्याल ॥
सूत बहुत सन्तान ते, पटहित करत पुरान ।
उपल गंध बरिसान ते, स्वारथ हृदय जुरान ॥"

३ मई—

"न्याय सहायक और ह्वै, जहाँ मिलत है न्याय ।
झूठ ढिंढोरा न्यायका, तहाँ पिटावत धाय ॥
सब पन्थन में ऊपरो, धर्माडंबर वेष ।
दूरहि ढोल सुहावनी, यही सिद्ध अवशेष ॥
धर्म दोहाई देइकरि, लूटि खात संसार ।
सब ठगईके जानतेउ, बनत न नर हुसियार ॥"

"बहिस्तनवृत्तोपासका लोका नान्तरनिरीक्षकाः। अध्यात्मवादव्याजेन कति नु वञ्चका दृश्यन्ते। अध्यात्ममया अपि जना लोकमायाप्रलोभिताः तद्रागाक्रान्ताश्च।"

४ मई—"धर्ममयं जगत्! अहो वञ्चना! यदि वञ्चनां प्रकाशयेत् कश्चित्, सर्वे तत्पृष्ठलग्नाः तत्प्रतारणपराः। तदनुसरणपरा एव तद्बहुमान्याः, महानुभावाः, योगीश्वराः, विद्वदग्रेसराः, विरागावताराः, काकविष्ठावत्परित्यक्तसर्वपरिग्रहाः, ब्रह्मभूताः, संन्यासिप्रवरा इमे! हन्तः नैभ्यः परे वञ्चकाः, दुःशीलाः, लम्पटाः, अविद्याग्रस्ताः, रागग्रस्ताः, लिप्तसर्वविषयाः, अज्ञानिनः स्युः।"

५ मई—"लोकाः! किं वो फलमेभिः पाषण्डैः? परस्परं वञ्चयन्तः किं तन्महत्त्वं..., यत्साधनैकपरा अविगणय्य सर्वमन्यद् एवं सत्यपराङ्मुखाः। अहो! आत्मवञ्चकाः....उपरि सुधालिप्तप्रासादा अन्तर्मलीमसा एव। सर्वोऽपि व्यवहारो जगति वञ्चनया प्रचलति।"

१७ मई—"साम्यधर्मार्थं ग्रामे ग्रामे कृषकसंघाः, श्रमजीविसंघाः स्थापनीयाः। संग्रथनं कांग्रेस क्रमेणैव स्यात्। कांग्रेससंस्थायामपि गच्छेयुः, कांग्रेसाभावे तादृश्यो माण्डलिकप्रान्तीयसंस्थाः स्युः। स्वराज्यस्थापनानन्तरं यावद्बाह्यशत्रुभयं तावन्नास्त्यपेक्षा बृहदान्दोलनस्य। सुधारेणैव तावत् श्रमजीविनां दशा सुधारणीया। स्वशासने पुष्टे सम्यग् आन्दोलनं प्रचलेत्। धर्मवर्णभेदो न मध्ये स्याद् भिन्नताकारणम्। धनिकनिर्धनभेद एव भेदहेतुः। धनिकान् स्ववंश्यानधुनाऽनुव्रजन्ति निर्धनाः। स्वभावः परिवर्त्तनीयः।...."

१८ जून—"शैशवं धन्यम्। आजन्ममधुरं शैशवं कथं नाभूत्। बृद्धानां तत्कथाश्रावणम्।....शैशवमेव किं, यद् यत् परोक्षं सर्वं मनोरमं तत्। शिक्षाप्रदाः कथाः कालान्तरे एवं विस्मृताः स्युः। अन्या एव पुस्तकैः प्रचार्यन्ते। स्वतः कालान्तरे प्राचीनानां विनाशो ध्रुवम्। मनः भौतिकसामग्रीविरचितो न (वेति न) वक्तुं सन्नद्धः। असम्भवकथाप्रचारे को लाभः। बुद्धिहीनप्रलापे किंसारे किं सारइति।...."

२० जून—"हन्त! लोके विचित्रा मौर्ख्यपरम्पराः। स्त्रैणाः केचन स्वजघन्यैराचरणैरेव स्वर्गागारलुंठनपरा कृतार्थम्मन्याः। घृणितक्रियाकलापैरन्ये निःश्रेयसमधिजिगांसते। आचारभ्रष्टाः कुटिलहृदयाः साम्प्रतं जनैः पूजिता अवतारपदवीं यावद्भजमानास्तिष्ठन्ति, (तथैव) जीवनचरितेषु प्रकाश्यन्ते। कालान्तरे समसामयिकानामभावे ते तथैव स्वीकृताः स्युः। इदानीमेव यदा ईदृक् ख्यातिः अग्रे को रोद्धुमलम्।"

२९ जून—"हन्त कीदृशं जीवनम् ! क्षणे कटुमरीचिका आस्वादवती प्रतीयते, क्षणे सुमिष्ठमोदकाः कटुतां व्रजन्ति । दिनं कदाचिदुल्लासमयं रजनी सुखरजनी, तत्परिवर्त्तनेऽपि न भवति चिरम् । अहो नास्ति वस्तु किमपि स्वादु नीरसं वा, नास्ति कुरूपा सुरूपा वा काचित् सती, यामेव पति रन्विच्छेत् सैव रूप-राशिः । यत् स्वमनोनुकूलं तदेव समीचीनं वस्तु ।"

३० जून—"(यांत्रिक) व्यवसायः ? सहस्राणां दारिद्र्यक्रोडगतानां श्रमजीविनां को महानुपकारः सति महति सुधारेऽपि । न साम्प्रतं आढ्यानां क्षेत्रपानां चोन्मूलनमभिप्रेतं. . . . । कथं तर्हि संजीवनम् ? कलावृद्धौ महानुपकार आढ्यानामेव वाणिज्यवृद्धौ वणिजाम् । शिल्पवृद्धौ न शिल्पिनां वराका-णाम् । . . . ."

५ जूलाई—"अभ्यासायैकान्तवासोऽपेक्ष्यते केषांचिन्मासानाम् । न युक्तमस्मादृशां सर्वथा वसतिवासः । ज्ञानहानिः, आत्महानिः स्वभावहानिरिति सर्वतो हान्याधिक्यं लाभमात्रा स्वल्पीयसी । तथापि जनहितसाधनाय सर्वसहेन मया भवितव्यम् । न कस्य रागः न कस्य दोषः । मदीयं सर्वस्वं अखिल-जगत्यै । न साधनापुष्टिर्भवेद् यथा तथा परिवर्त्तितव्यम् ।"

१४ जूलाई—". . . .जनहितविघातिका याः का अपि संस्थाः तासां भूतलाद् अत्य-न्ताभाव एव वरं जातु ता ईश्वरवादिन्योऽनीश्वरवादिन्यो वा स्युः ।"

२७ जूलाई—"साहित्य एव शुद्धहिन्दीभाषाया अपेक्षा । इतिहासादिग्रन्थानामेकैव भाषा । लिपिभेदस्तु तिष्ठतु तावद् । काले स्वैरं राष्ट्रीयतोदये किमपि भविष्यति परिवर्त्तनम् । अन्यत्रापि साहित्यभाषा भिन्ना भवति । एवं उभ-योरुर्दूहिन्द्योः साहित्याध्यापनपार्थक्यं स्यात्, अन्यत्सर्वं एकत्रैव भवितुं शक्यते । सर्वधर्मानुयायिनामेकस्मिन् विद्यालयेऽध्ययनं साधु ।"

२९ जूलाई—

"मान मिलता है अगर मानकी मानै न कही ।
　　ज़िन्दगी हेच है जिसके लिए जीता है वही ।।
एक मर मरके भी मिट्टीमें नहीं मिल जाता ।
　　चमनमें सैकड़ों फूलोंकी शकल खिल जाता ।।
लुत्फ़ दुनियाकी हवस् हो न तो लुत्फ़ उसमें है ।
　　बाग़ तो बाग़ रेगिस्तानमें हर फूल खिले ।।

दमबदम शक्ल शग़ल खल्क़ बदलती है मुदाम् ।
ग़ैर-अस्बातमें अस्बातके फँसनेका क्या काम ।।
शोर सुनते हैं हम आलिम हैं व आज़म हैं मगर ।
दिलमें देखा तो है कोई नहीं हमसे अहक़र ।।
चहकती बुल्बुलें औ कूकती कोयल हैं कहाँ ।
कैसे वाँ ठहरें दबिस्तान है वीरान जहाँ ।।
किसमें लज़्ज़त है नहीं स्वाद है यह किसमें कहैं ।
जबकि हर चीज़में हर दम न वह लज़्ज़त ही रहै ।।
है यह नफ़रतके हटानेको न नफ़रत काफ़ी ।
मर्ज़े दिलके लिए इक हुब्ब है काफ़ी शाफ़ी ।।

१ अगस्त (१६२२)--

"बिम्बाविम्बोदकजनयने चन्द्रचंक्रान्तहासे ।
पद्मच्छद्मोद्धृतनिजकरे शिशुपुष्पांगयष्टे ।।
विश्वंभूतेऽम्ब ! हृदि कलये सुप्रवालाधरोष्ठाम् ।
पादाम्भोजाश्रितमधुकराव्यूहवैवर्ण्यवृत्तः ।।
"चूर्ण करके क्षोद सम उत्तुंग गिरिको इस तरह ।
फूत् करके धूलि सम वीभत्स नाटक खेलना ।।
सर्वमंगलमयि ! नशा इस रम्य (मृदु) उद्यानको ।
क्या कोई इसमें छिपा है भव्य अन्य रहस्य भी ।।

(तिलक)--

"साल होता है तेरे जानेमें । ख़्याल तेरा है दाना दानेमें ।।
बीज बोया था जिसका तूने यहाँ । ख़ूनसे सींचे था जिसे तू यहाँ ।।
फूल लगनेका उस प वक़्त आया । नज़रें दौड़ीं न तू नज़र आया ।।
ज़िन्दगीसे पढ़ाया था जो सबक़ । क़ौमके दिल प है जमा वह तबक़ ।।
ज़ाहिरी नज़रोंमें न गो तू है । पर बहक़ सबका दिलनशीं तू है ।।
दिल यह कहता है देखूँ फिर वह जमाल । हैफ़ गो है यह मिन् अमूरे महाल ।।
तिलक क्या फिर न तू अब आयेगा । मुंतज़िर नज़रोंमें समायेगा ।।"

"अब्दौ जातौ ह्य इव मनसि प्रत्यत्ययस्त्वत्प्रयाणे ।
आवर्तान्यं पदमु शुशुभे त्वद्वचस्त्वादधानाः ।।

दृष्टेर्वृष्टिः शिशुषु पतति क्वास्ति ते विग्रहार्हः ।
हन्तात्माते स्थित इत इव प्रार्थयामः शरीरम् ॥
आपाद्य स्वायुरखिलरसैः स्वक्षितेरुर्वरात्वम् ।
उप्तं बीजं च रुधिरपयोबर्द्धितः पादपस्ते ॥
काले पुष्पोद्गम इह विभो ! दृष्टयस्त्वद्दिशीकाः ।
आमोदास्त्वद्विरहविधुरा न प्रमोदावहाः स्युः ॥
दिव्यावाणी हृदयकुहरान् पावयन्ती सदा ते ।
सौम्याचाराः सृतिषु सकलान् माधुरीं मादयन्ते ॥
निर्भीकास्ते गमनसरणी सारथी सारथीनाम् ।
एकैकस्ते गुण उपकृतेस्सक्षमो बाल सूरे ॥
कुर्वन्तस्ते हितयुतवचः पालनं प्राञ्जलान्ताः ।
धर्मेणैव जननि सितपादाम्बुजं सेवमानाः ॥
क्लेशाश्लेषान् विवृतहृदया आदरादाददानाः ।
शत्रुश्रीणां मुखमसितमाधाय चाग्रे सरन्ति ॥
वर्षस्यैकं स्मरणनटना त्वन्मता स्यान्न मन्ये ।
आजन्मार्च्य प्रणतिविरहा स्वार्चना स्वादिता ते ॥
वाणी भाणप्रहितनुतितः पाणिमूकस्तवस्ते ।
प्रेयः सर्वात् सरलसुगमः कर्मयोगो यतस्ते ॥
दोषादोषे दनुजहृदयाह्लादकल्हारचन्द्रः ।
क्षीणाधीनाकुचित जनतापद्मिनी पद्मिनीशः ॥
ज्वालामालाऽऽटवि निशिभीः भीष्मनृश्वापदानाम् ।
लोकालोकस्तिलक ! जगतो जीवनं जीवनं ते ॥"

४ अगस्त—"....आजन्मनः किलाध्ययनाध्यापनपर्यटनानि हि मे कार्याणि...।"

८ अगस्त—"....अस्माभिः स्वकर्त्तव्यमेवानुसर्त्तव्यम् । प्रदानेन न क्वचित् केनचित् स्वातन्त्र्यमधिगतम् । जगति स्वार्थान्धा धूर्त्ता चाङ्गलजातिः, न प्रसन्नतया किमपि सुकृत्यमनुतिष्ठति । अमेरिका स्वयं स्वतंत्रतामध्यगात्, आयर्लैण्डोऽप्येवम् ।"

६ अगस्त—

"जाता हूँ तेरी गोदसे मुहसिन है विदा । ऐ जेल मेरे गोशये-तस्कीन अल्विदा ॥
पाबन्द था आ तुझमें मैं आज़ाद हुआ । आज़ाद फ़रिश्तोंकी जगह-पाक विदा ॥

उल्मा व रहीबोंके हुए दर्स यहाँ। माज़ीके व हालके सबके ही विदा ॥
ख़स्लतको फ़रिश्तोंकी यहाँ करते हैं मात। कम है न मगर काँटे भी महरम् है विदा ॥
कुछ कम नहीं छ माह तेरी गोद पले। दिल होता है मुज़्तर फ़िराक़ तेरे विदा ॥
औराक़े कुतुब-दीन रहे तुझमें खुले। औराक़-ख़लक़ ख़ालिक़े-ताला भी विदा ॥
कुल्फ़तमें तेरी था वह हलावतका मज़ा। एहसास् है होता नहीं इज़्हार विदा ॥
दीवार व दर तेरे थे महबूब अगर। अहबाब हक़ीक़ी थे तेरे सब्ज़ा विदा ॥
होता हूँ जुदा पर न हमेशाकी उमीद। मिलनेकी रियाज़तमें रहूँगा ही विदा ॥
है हल्कये-एराफ़ अगर ख़ुल्द नहीं। दोज़ख़ व अदन आते नज़र तुझसे विदा ॥"

"शयन भोजन साथ था होता यहाँपर इस तरह।
भाइ भाई बालपनमें मातृक्रोडे जिस तरह ॥
पढ़ने लिखनेके लिए मानो सतीर्थ्य समग्र ही।
बैठे हैं आचार्य ऋषियोंके चरणतलमें सभी ॥
युग गये जिनके सुदिव्य पवित्र विग्रह उठ गये।
उनके अनुपम शास्त्रविग्रह-दर्शसे दुख मिट गये ॥
साथ रह जड़जन्तुका भी, प्रेमपथ होता प्रशस्त।
फिर न प्रेमागार मानवहृदय क्यों हो प्रेम-मस्त ॥
सन्त सन्त-वियोग दुख दारुण सहैं बुधजन कहैं।
हम असन्त वियोग-दुख-गम्भीर-धारामें बहैं ॥
चिर-प्रतीक्षित कर्मपथ आह्वान यद्यपि कर रहा।
स्नेहबन्धन बन्धुओंका मुक्त पर नहिं कर रहा ॥
इतने दिन निश्चिन्त हो थे प्रेमसे रहते रहे।
हो प्रसन्न विपत्तियोंको साथ थे सहते रहे ॥
इस नगरसे जानेवालेको यदपि दर्शन नहीं।
पर भविष्य स्वकर्मसे होता अनाश्वासन नहीं ॥
बन्धुओ ! आजन्म यह मिलना न भूलैगा कभी।
स्मरण होवेगा जभी स्वर्गीय सुख होगा तभी ॥
कर्ममें जा अपने अपने लग्न हो जाना अगर।
भूल जाना अपने इन लघुप्रेमियोंको फिर न पर ॥"

२. सांकृत्यायन-वंश*

(सरयूपारीण मलाँव-शाखा)

(क) वैदिककाल

उत्तरी भारतके ब्राह्मणोंमें सरयूपारीण या सरवरिया ब्राह्मणोंका एक खास स्थान है। इनकी बस्ती अधिकतर फैजाबाद, बनारस और गोरखपुरकी कमिश्नरियों (बनारस, मिर्जापुर, गाजीपुर, बलिया, जौनपुर, आजमगढ़, गोरखपुर, बस्ती, फैजाबाद गोंडा, बहराइच, प्रतापगढ़, सुलतानपुरके जिलों) तथा बिहारके सारन, चम्पारन, शाहाबादके जिलोंमें है। इन जिलोंके पड़ोसी जिलोंमें भी इनकी काफी संख्या है। वैसे विस्तार तो मध्यप्रदेश तक चला गया है। इसी प्रदेशमें काशी नगरी जैसा संस्कृत-विद्याका केन्द्र होनेके कारण इनके भीतर संस्कृतका गंभीर पाण्डित्य होना स्वाभाविक ही है। साथ ही इनमें सामाजिक संकीर्णता यहाँ तक रही है, कि अभी तीन-चार वर्ष पहिले तक कोई भी सरयूपारी किसी विलायती विश्वविद्यालयका ग्रेजुएट नहीं था। सरवरिया ब्राह्मणोंके प्रधान १६ गोत्रोंमें सांकृत्य गोत्र भी एक है। गोरखपुर जिलेका मलाँव गाँव (गोरखपुरसे १४ मील दक्खिन अक्षांश २६°।३२′ उ०, देशांतर ८३°।२५′) इनका मूल स्थान है; इसीलिए पदवीके साथ मिलाकर इन्हें मलाँव-पाँडे भी कहा जाता है।

भरद्वाज, कश्यप, गोतम, अत्रि, विश्वामित्र, जमदग्नि और वशिष्ट ये सात वैदिक ऋषि सप्त-ऋषियोंके नामसे विख्यात हैं।[1] ऋग्वेदके दो सूक्तों (९।६७; १०।१३७)

---

* १९३९में लिखित

[1] "विश्वामित्रोऽथ जमदग्निर्भरद्वाजोऽथ गोतमः।
अत्रिर्वशिष्टः कश्यप इत्येते सप्तर्षयः"॥
(बोधायन-सूत्र, प्रवराध्याय)

विश्वामित्रोऽसितः कण्वो दुर्वासा भृगुरङ्गिरा। वसिष्ठो वामदेवोऽत्रिस्तथा सप्तर्षयोऽमलाः॥ (अध्यात्मरामायण, उत्तरकाण्ड)

कहीं-कहीं आठ ऋषि भी मिलते हैं—भृगु, अंगिरा, मरीचि, अत्रि, वसिष्ठ, पुलस्त्य, पुलह और क्रतु (वायु-पु० १९।६८-९, मत्स्य-पु० १७१।२८)

में इन सातों[1] ऋषियोंकी बराबर संख्यामें कुछ ऋचायें एकत्रित की गई हैं। पहिले सूक्तमें तीन-तीन और दूसरेमें एक-एक ऋचायें हैं, और दोनों जगह सर्वप्रथम भरद्वाज-की ऋचायें हैं, जो अभ्यर्हितं पूर्वं (पूज्यको पहिले) के नियमानुसार भरद्वाजकी प्रधानता सिद्ध करती हैं। ऋग्वेदके १०१७ सूक्तोंमेंसे ३६ से अधिक[2] भरद्वाज-रचित हैं, यह भी भरद्वाजकी विशेषताको बतलाता है। भरद्वाज वार्हस्पत्यका वंश-वृक्ष इस प्रकार है—
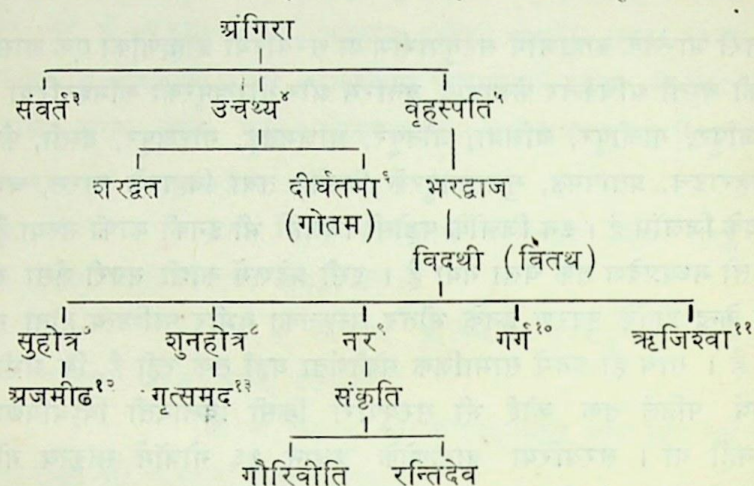
[1] बाकी छ ऋषियोंके मंत्र ऋक्-संहितामें निम्न प्रकार पाये जाते हैं। कश्यप मारीच १।९९; ८।२९; ९।६४; ९।६७। ४-६; ९।९१, ९२, ११३, ११४; १०।१३७।२।। गोतम राहूगण १।७४-९३; ९।३१; ९।६७।७-९; १०।१३७।३।। अत्रि भौम ५।२७, ३७-४३, ७६, ७७, ८३-८६; ९।६७।१०-१२; ९।८६।४१-४५; १०।१३७, ४।। विश्वामित्र गाथिन ३।१-१२, २४, २५, २६ (१-६, ८, ९), २७-३२, ३३ (१-३, ५, ७, ९, ११-१३), ३४, ३५, ३६ (१-९, ११), ३७-५३, ५७-६२; ९।६७।१३-१५; १०।१३७।५; १०।१६७।। जमदग्नि भार्गव ३।६२।१६-१८; ८।१०१; ९।६२, ६५, ६७ (१६-१८), १०।११०, १३७ (६), १६७।। वसिष्ठ मैत्रावरुणि ७।१-३२, ३३ (१-९), ३४-१०४; ९।६७ (१९-३२), ९०, ९७ (१-३); १०।१३७।७।

[2] ऋक् ६।१-१४, १६-३३, ३७-४३; और ९।६७ तथा १०।१३७के सप्तमांश।

[3] संवर्त आंगीरस ऋग् १०।१७२।। [4] उचथ्य आंगीरस ऋग् ९।५०-५२।।

[5] वृहस्पति आंगीरस १०।७१,७२ [6] दीर्घतमा औचथ्य ऋग् १।१४०-१६४।।

[7] सुहोत्र भारद्वाज ६।३१,३२।। [8] शुनहोत्र भारद्वाज ६।३३,३४।। [9] नर भारद्वाज ६।३५,३६।। [10] गर्ग भारद्वाज ६।४७।। [11] ऋजिश्वा भारद्वाज ऋग् ६।४९-५२; ९।९८, १०८।६,७। [12] अजमीढ सौहोत्र ऋग् ४।४३, ४४

[13] गृत्समद आंगिरस शौनहोत्र पश्चाद् गृत्समद भार्गव शौनक ऋग २।१-३, ८-४३; ९।८६।४६-४८।

कात्यायनकृत ऋग्वेदके सर्वानुक्रममें[1] वितथ या विदथीके सुहोत्र आदि पाँच पुत्र लिखे हैं, किन्तु महाभारत[2] आदिमें शुनहोत्रको छोड़ बाकी चार वितथके पौत्र और भुवमन्युके पुत्र कहे गये हैं।

संकृति ऋषिका काल—भरद्वाजके चचेरे भाई तथा उचथ्यके पुत्र दीर्घतमा—जो पीछे गोतमके नामसे प्रसिद्ध हुये—ने दुष्यन्तके पुत्र शाकुन्तलेय भरतका अभिषेक[3] कराया था और भरतने सन्तानोंके मर जानेपर दीर्घतमाकी प्रेरणासे भरद्वाजको गोद लिया। भरद्वाजने स्वयं गद्दी न ले अपने पुत्र वितथ या विदथीको राज्य-सिंहासन दिया।[4] इस प्रकार भरद्वाजकी सन्तान आगे चलकर भरतके वंश और राज्यकी उत्तराधिकारी हुई, और इसीलिए महाभारतने "भरद्वाजो ब्राह्मण्यात्

---

[1] सर्वानुक्रम (कात्यायन) और वेदार्थदीपिका (सायण) ऋग् ६।५२

[2] दायादो वितथस्यासीद् भुवमन्युर्महायशाः।
महाभूतोपमाः पुत्राः चत्वारो भुवमन्यवः॥
बृहत्क्षेत्रो महावीर्यो नरो गर्गश्च वीर्यवान्।
नरस्य संकृतिः पुत्रस्तस्य पुत्रौ महौजसौ॥
गुरुधी रन्तिदेवश्च सांकृत्यौ तावुभौ स्मृतौ।
गर्गाः संकृतयः काव्याः क्षत्रोपेता द्विजातयः॥
—(वायुपुराण ६१।११५; ब्रह्माण्ड ३।६६।८६;
महाभारत १२।२३४।४३९६के आधारपर)

[3] ऐतरेय ब्राह्मण ८।२३,२१

[4] "उपनिन्युर्भरद्वाजं पुत्रार्थं भरताय वै।
दायादोऽङ्गीरसः सूनुरौरसस्तु बृहस्पतेः॥
भरतस्तु भरद्वाजं पुत्रं प्राप्य बिभुर्ब्रवीत्।
प्रजायां संहृतायां वै कृतार्थोऽहं त्वया विभो॥
ततस्तु वितथो नाम भरद्वाजात् सुतोऽभवत्।
तस्मात् दिव्यो भरद्वाजो ब्राह्मण्यात् क्षत्रियोऽभवत्॥
ततोऽथ वितथे जाते भरतः स दिवं ययौ।
भरद्वाजो दिवं यातो ह्यभिषिच्य सुतं ऋषिः॥"
—(महाभारत १।९४।३७१०-३)

क्षत्रियोऽभवत्" लिखा। नीचे दिये भरद्वाजके वंशवृक्षसे पता लगेगा, कि कौरव-पांडव स्वयं भरद्वाजके पुत्र विदथीकी संतान थे, और उन्हींके दूसरे पुत्र नरसे संकृति पैदा हुये।

१. दुष्यन्त
२. भरत[1]
३. भरद्वाज (१५०० ईसा-पूर्व)
४. विदथी (वितथ)
५. सुहोत्र, शुनहोत्र, नर (विदथीके पुत्र)
   - सुहोत्र → ६. अजमीढ़, पुरुमीढ़
   - शुनहोत्र → ६. गृत्समद
   - नर → ६. संकृति → रन्तिदेव
६. अजमीढ़ पुरुमीढ़ गृत्समद संकृति
७. ऋक्ष (अजमीढ़का पुत्र) — रन्तिदेव (संकृतिका पुत्र)
८. संवरण (१४०० ई० पू०)
९. कुरु (१३८० ई० पू०)
१०. चित्ररथ
११. जह्नु
१२. सुरथ
१३. विदूरथ (१३०० ई० पू०)
१४. सार्वभौम (१२८० ई० पू०)
१५. जयत्सेन
१६. अपराचीन
१७. अरिहा
१८. महाभौम (१२०० ई० पू०)
१९. अयुतानायी
२०. अक्रोधन
२१. देवातिथि
२२. ऋच (अरिहा)
२३. ऋक्ष (२) (११०० ई० पू०)
२४. भीमसेन
२५. दिलीप
२६. प्रतीप
२७. शन्तनु
२८. विचित्रवीर्य (१००० ई० पू०)
२९. पाण्डु
३०. अर्जुन
३१. अभिमन्यु
३२. परिक्षित्
३३. जनमेजय (९०० ई० पू०)
३४. शतानीक
३५. अश्वमेधदत्त
३६. अधिसीम कृष्ण
३७. निचक्षु
३८. उष्ण (भूरि) (८०० ई० पू०)
३९. चित्ररथ
४०. शुचिरथ
४१. वृष्णिमान
४२. सुषेण
४३. [2]सुनीथ (७०० ई० पू०)
४४. नृचक्षु (भिचक्षु)

---

[1] Chronology of Ancient India (S. N. Pradhan) pp. 79-80; [2] वही, p. 256

४५. सुखीबल
४६. परिप्लुत
४७. सुनय
४८. मेधावी (६०० ई० पू०)
४९. नृपंजय
५०. तिग्म
५१. वृहद्रथ
५२. वसुदामा
५३. शतानीक (५०० ई० पू०)
५४. उदयन (४८० ई० पू०)

इस वंशावली[1] में भरद्वाजसे उदयन (वत्सराज) तक ५४ पीढ़ियाँ होती हैं। डाक्टर प्रधानने प्रत्येक पीढ़ीके लिये २८ साल रखा है, किन्तु मेरी समझमें वह ज्यादा है, खासकर राजाओं और उनके दायादोंके संबंधमें, इसलिए प्रत्येक पीढ़ीके वास्ते २० साल रखना ठीक होगा। उदयन वत्सराज, बुद्धके निर्वाणके समय ४८७ ई० पू० में मौजूद था, और उतना वृद्ध न था। उसे ४८० ई० पू० माननेपर भरद्वाजका समय १५०० ई० पू० और संकृतिका १४४० ई० पू० होगा।

पंचालका प्रतापी राजा दिवोदास भरद्वाज ऋषिपर विशेष श्रद्धा रखता था, इसीलिए ऋषिने दिवोदासकी प्रशंसा ऋग्वेद[2] की, अपनी कई ऋचाओंमें की है। किसी शंवर (शबर या आर्यभिन्न)-राजा पर दिवोदासके विजयको इन्द्रके धन्यवादके रूपमें ऋषिने इस प्रकार वर्णन किया है—

"हे इन्द्र ! तुम (शत्रु-नि) वर्हण, प्रशंसायोग्य हो, तुमने सैकड़ों सहस्रों (असुर-) शूरोंको परास्त किया, तुमने पहाड़से आये दास शंबरको मारा, और विचित्र रक्षा-प्रकारसे दिवोदासकी रक्षा की।"[3]

इसी दिवोदासकी बहिन[4] अहल्या थी जो दशरथ, वशिष्ठ और विश्वामित्र-

---

[1] A. I. H. T. (Pargiter) p. 112, A.I.H.T. (Pargiter) p. 112 Chronology of Ancient India (S.N. Pradhan) pp.7980, p. 259

[2] इयमददाद्रभसमृणमच्युतं दिवोदास वध्रयश्वाय दाशुषे।
या शश्वन्तमाचक्षाणादायसं पणिं ता ते दात्राणि तविषा सरस्वति ॥
—ऋग् ६।२६।२

[3] त्वं तदुक्थमिन्द्र बर्हणा कः प्रयच्छता सहसा शूर दर्षि।
अव गिरेर्दासं शम्बरं हन् प्रावो दिवोदासं चित्राभिरूती ॥
—(ऋक् ६।२६।५)

[4] वध्रयश्वान्मिथुनं जज्ञे मेनकायामिति श्रुतिः।
दिवोदासश्च राजर्षिरहल्या च यशस्विनी ॥
—वायुपुराण ६६।२०० (मिलाओ हरिवंश १।३२।७०; विष्णुपुराण ४।१६।१६)

कालीन गोतम ऋषिकी पत्नी थी। गोतम ऋषि कौन थे? भरद्वाजकी माता ममता और चचा उचथ्य (उतथ्य)के पुत्र जन्मान्ध दीर्घतमा ही पीछे आँख प्राप्त कर लेनेपर गोतम कहे गये।[1] इस प्रकार भरद्वाज वैदिक कालके आरम्भमें पैदा हुए थे, और ऋग्वेदके निर्माणमें उनका काफी हाथ था। भरद्वाजसे चौथी पीढ़ी अजमीढ़, पुरुमीढ़, गृत्समदके बाद वेद ऋचाओंके निर्माणका काम बहुत कुछ समाप्त हो जाता है।

ऋग्वेदके मंत्र-कर्ताओंको जब हम देखते हैं, तो मालूम होता है, कि अभी आर्योंमें क्षत्रिय, ब्राह्मण जातियाँ अलग अलग नहीं बनी थीं भरतवंशके उत्तराधिकारी विदथी क्षत्रिय नृपति थे, और उनके पौत्र अजमीढ सौनहोत्रसे कुरु, उत्तर-पंचाल, दक्षिण पंचालके राजवंश पैदा हुये। पुराणों[2]के अनुसार शुनहोत्रके तृतीय पुत्र गृत्समदके वंशज शौनकने ब्राह्मण-क्षत्रिय आदि वर्णोंको कायम किया। भारद्वाजगोत्री[3] शौनकका वंशवृक्ष डाक्टर प्रधानने इस प्रकार दिया है[4]—

गृत्समद (१४४० ई० पू०)	तमः
सवेता	प्रकाश
वर्चा सावेतस	वागीन्द्र
विहव्य (ऋग् १।१२८)	प्रमिति
वितस्त्य (वितत्य)	रुरु
सत्त्य	शुनक
शिवस्तसन्ताः	शौनक (परीक्षित् ९२० ई० पू०)
शर्वाः	

---

[1] वायुपुराण ९९।२६-३४, ४७-९७; ब्रह्माण्डपुराण ३।७४।२५-३४, ४७-१००; मत्स्य ४८।२३-२९

[2] ब्रह्मपुराण २।३२, ३३; विष्णुपुराण ४।८।१; वायुपुराण ९२।२, ३, ४, देखो Chronology of Ancient India (Dr. S.N. Pradhan) p. 28

[3] ऋक् ६।३१, ३२ (सुहोत्र); ६।३३, ३४ (शुनहोत्र); वेदार्थदीपिका (सायण), ऋग् ६।५२ और सर्वानुक्रम ऋग् ६।५२; "य आंगिरस शौनहोत्रो भूत्वा भार्गवः....को अभवत्, स गृत्समदः....स च पूर्वमांगिरसकुले शुनहोत्रस्य पुत्रः सन् यज्ञकालेऽसुरैर्गृहीत इन्द्रेण मोचितः।" (सायण, ऋग् २।१)

[4] Chronology. Ancient India pp. 59, 60

शौनकका समय महाभारतकालके करीब पड़ता है; और उस समय तक वर्ण-व्यवस्था--खासकर ब्राह्मण-क्षत्रिय वर्ण-व्यवस्था--नहीं थी, यह बात तो व्यास, और धृतराष्ट्र तथा पाँडुके उदाहरणोंसे भी सिद्ध होता है।

नर ऋषि (१४६० ई० पू०)--राजा विदथी या वितथके पुत्र नर ऋग्वेदके ऋषियोंमेंसे हैं। ऋग्वेदके छठे मंडलके ३५, ३६ सूक्तोंकी दश ऋचाओंमें उन्होंने इन्द्रकी वीरताकी स्तुति की है, और अपने वंशजों भरद्वाजों और आँगिरसोंके लिये खासतौरसे गोधनकी याचना की है। "समुद्रं न सिन्धवः" (समुद्रमें नदियाँ जैसे) ऋचाभागसे पता लगता है, कि नरका रहना अधिकतर पंजाबमें रहा। नदीवाचक सिंधु शब्द कुरु-पंचाल या काशी-कोसलमें नहीं फैलने पाया था। दर्द-भाषामें (गिल्गितके पास) तो आज भी हर एक नदीको सिन्धु कहा जाता है।

संकृति (१४४० ई० पू०)--संकृति नर जैसे मंत्रकर्ताके पुत्र थे और गौरिवीति (गुरुधी, गुरुवी)[1] जैसे मंत्रकर्ता ऋषि तथा रन्तिदेव जैसे चक्रवर्ती राजाके पिता थे। संकृतिके बारेमें हम इससे अधिक नहीं जानते।

गौरिवीति सांकृति (१४२० ई० पू०)--ऋग्वेदके मंत्रकर्ता ऋषि गौरवीति[2] को शाक्त्य कहा गया है, इसलिए भ्रम हो सकता है कि यह गौरिवीति शायद वशिष्ट-सूनु शक्तिके पुत्र हों। लेकिन वशिष्ट-वंशज तो यह नहीं थे, क्योंकि (१) इनके रचित एक सूक्त (५।२६) मंत्रको वशिष्टके मंडल (ऋग् ७)में न रखकर आत्रेय-अंगिरस मंडल (ऋग् ५)में रखा गया है; (२) इनकी रचित दो ऋचायें (९।१०।१-२)ऐसे सूक्तमें रखी गई हैं, जिनके ऋषि ऊरु आँगिरस, ऋजिश्वा भरद्वाज, ऊर्ध्वसद्मा, आँगिरस, कृत्ययश आँगिरस--संकृति-वंशियों जैसे आँगिरस हैं;[1] (३) इनके दो सूक्त (१०।७३,७४) बृहस्पति आँगिरसके दो सूक्तों (ऋग् १०।७१, ७२)के बाद आते हैं; (४) जैमिनिय ब्राह्मण[3] ने सं(ा)कृति गौरिवीतिका जिक्र किया है, वह गौरिवीति शाक्त्य[2] और, आसित धाम्न्य असुरकी कुमारी कन्यासे पैदा हुआ था इस प्रकार गौरिवीतिका संबंध शक्ति वाशिष्ट से नहीं बल्कि संकृतिसे स्थापित हो जाता है; (५) अपने एक पद्य (ऋचा)में ऋषिने अपने नामके साथ वंशके

---

[1] **ऋग् ५।२६; ९।१०८ (१-२); १०।७३, ७४**

[2] **सरयूपारीण-ब्राह्मण-वंशावली, पृष्ठ ८२में "गौरवीति"**

[3] **जैमिनीय-ब्राह्मण** (III-197 Caland **का उद्धरण,** p. 269)

पूर्वज ऋषियोंमें वैदथिन (नर), ऋजिश्वाका जिक्र किया है।[1]

(६) संकृतिके पुत्र गौरिवीतिके बारेमें पर्जिटर लिखते हैं--"The other Sāṅkṛiti's name is given as गुरुवीर्यः (वायु पु०) गुरुधी (मत्स्य पु०) गुरु (भागवत) and रुचिरधी (विष्णु पु०)। He is no doubt the same rishi who is named among the Āṅgirasas as गुरुवीत and गौरवीति and the correct name is गौरिवीति. . . .there was also a शक्ति among the Āṅgirasas."[2]

(७) सांकृत्य मलाँव पांडे लोगोंके तीन प्रवर[3] हैं—अंगिरा, संकृति और गौरवीति।

---

[1] स्तोमासः त्वा गौरिवीतेः अवर्धन् नरन्धयो वैदथिनाय पिप्रुम्।
आ त्वां ऋजिश्वा सख्याय चक्रे पचन् पक्तीः अपिबः सोममस्य॥
--(ऋग् ५।२९।११)

[2] Ancient Indian Historical Tradition(F.E. Pargiter)p.249

[3] सरयूपारीण-ब्राह्मण-वंशावली (डाक्टर इन्द्रदेव प्रसाद चतुर्वेदी, द्वितीय संस्करण पृ० ८२)। इसी वंशावलीमें अन्य दो स्थानों (पृष्ठ ९ और ३४)में, तथा "सर्वार्य्य पंक्ति-ब्राह्मण-वैभव" (पृष्ठ २८)में सांकृत्योंके पाँच प्रवर--कृष्णात्रेय, अर्चनानस, श्यावा, सांख्यायन, संकृति लिखे हैं, जो कि सांकृत्योंकी त्रिप्रवरवाली सार्वजनीन परम्पराके विरुद्ध होनेसे त्याज्य है। कृष्णात्रेयके तीनों प्रवर--कृष्णात्रि, अर्चिमान, यावाश्य (कान्यकुब्जभास्कर पृष्ठ १७१) और आत्रेय, आर्चनानस, श्यावाश्य (सर्वा० पं० ब्रा० वैभव पृष्ठ २७, स० ब्रा० वंशावली पृष्ठ ९)--को सांकृत्य प्रवरोंके साथ मालूम होता है, मिला दिया गया है। कान्यकुब्जोंकी लिखित परम्परामें सांकृत्यके तीन प्रवरोंकी संख्या (कान्यकुब्जभास्कर पृष्ठ १४--सांकृत, किल, सांख्यायन; पृष्ठ १७५, सांकृत्यायन--चामन, मध्यायन, मौनस; और पंडित देवीदत्त शुक्ल संपादक "सरस्वती" की कृपासे प्राप्त मुद्रित सांकृत्य-वंश-वृक्षमें--किलायन, सांख्यायन, सांकृत)में तीन संख्या तो ठीक रखी गई है, किन्तु नाम दूसरे हैं। यहाँ सांकृत्य और सांकृत्यायन एक ही हैं; जहाँ तक गोत्रका सम्बन्ध हैं। गुणाख्य सांख्यायन, जनमेजय (९०० ई० पू०)कालीन वैशम्पायनके शिष्य याज्ञवल्क्य और समसामायिक कहोल कौषीतकिके शिष्य थे (Chronology of Ancient India, chart pp. 1-46-77) और इस प्रकार वह संकृति

वैदिक ऋषि गौरवीति सांकृत्यसे ही मलाँवकी सांकृत्य शाखा निकली है। गौरिवीति की बनाई और ऋग्वेदमें सुरक्षित ३४ ऋचाओंमें २६ इन्द्र, ६ वसु, और २ सोमकी प्रशंसामें हैं; वसु और सोमके वर्णनोंमें भी ऋषिने इन्द्र[1] हीका जिक्र किया है।

रन्तिदेव सांकृति (१४२० ई० पू०)——विदथीके बाद सुहोत्र और उनकी ज्येष्ठ सन्तानें अजमीढ़, ऋक्ष आदि पौरवराज्यकी स्वामी हुईं। नर वैदिक ऋषि थे, वह कहीं के राजा थे या नहीं, यह पता नहीं लगता, यही बात संकृतिके लिए भी है, किन्तु रन्तिदेवको हम भारतके प्राग्-महाभारतीय कालके १६ यशस्वी राजाओंमें[2] पाते

(१४४० ई० पू०)के बहुत पीछे हुये, वंशवृक्षमें उन्हें संकृतका पूर्वज बनाना गलत है। सांकृत्योंके तीन प्रवर——अंगिरा, संकृति और गौरवीति ही ठीक हैं, जैसा कि——

"संकृतिपूतिमाषतण्डिशम्बुशैवगवानामाङ्गिरस गौरिवीत सांकृत्येति। शाक्त्यो वा मूलं शाक्त्य गौरवीति सांकृत्येति।" आश्वलायनसूत्र ६।१२।५ (Baptist Mission Press ? Calcutta)

"गोत्रप्रवरनिबंधकदम्बक" (लक्ष्मीवेंकटेश्वर-प्रेस, बंबई, १९१७ ई०)में सांकृत्य-गोत्रके तीन ही प्रवर मिलते हैं——

संकृतिप्रवराः आंगिरस-गौरुवीत-सांकृत्येति. . . .आंगिरस सांकृत्य गौरु-वीतेति . . . .शाक्त्य-गौरुवीत-सांकृत्येति (पृष्ठ ४)। "संकृति पूतिमाष ताण्डि साम्ब सैपठ-जानकि तैराघातरव्य-ऋबिभी-वारायणी सहिगांगिलौक्षितालागा. . .आंगिरस सांकृत्य-गौरिवीतेति, अङ्गिरावोत् संकृति-वद् गुरुवीतवत्।" (पृष्ठ ८३-८४, कात्यायनलौगाक्षिप्रणीत-भरद्वाजगोत्रकाण्डतः)

"संकृतयः मलकाः पौलस्तण्डिः शम्बुशैम्भेवयः परिभावास्तारकाद्या हारिग्रीवाः वैणायाः श्रौतायना आग्रायणा आघ्रापयः पूतिमाषा इत्येते संकृतयः। तेषां त्र्यार्षेयः प्रवरो भवति आंगिरस सांकृत्य गौरुवीतेति होता। गुरुवीतवत् संकृतिवदङ्गिरोवदित्यध्वर्युः।" (पृष्ठ ५५, बोधायनोक्त-केवलाङ्गिरस-प्रवरकाण्ड) "आंगिरस सांकृत्य गौरुवीत इतीमं प्रवरं संकृतीनां आपस्तम्ब-बोधायन-कात्यायन-मत्स्या आहुः आश्वलायनस्तु आंगिरस गौरुवीत सांकृत्य. . . ." (पृष्ठ १८६-८७)

[1] पवस्व मधुमत्तम इन्द्राय सोम ऋतुवित् तमोमदः। महिद्युक्षतमोमदः॥
यस्य ते पीत्वा वृषभो वृषायतेऽस्य पीता स्वर्विदः।"

[2] महाभारत, द्रोणपर्व ६७ (षोडशराजकीय)। शान्तिपर्व २९ (षोडश राजकीय)।

हैं। रन्तिदेवका राज्य चम्बल (चर्मण्वती)[1] के किनारे था। कालिदासकी टीका करते मल्लिनाथने रन्तिदेवकी राजधानी दशपुर[2] लिखी है। रन्तिदेव सांकृति अपने दान और अतिथिसेवाके लिए बहुत प्रसिद्ध थे। अतिथियोंके भोजनके लिए उनके यहाँ रोज दो हजार गायोंका माँस पकता था।[4] बल्कि महाभारतमें दूसरे स्थानोंपर एक्कीस[5] हजार, और बीस हजार एक सौ[6] गायोंके मांसकी बात बतलाई है। माँसका

ये सोलह राजा हैं--

(१) मरुत्त आवीक्षित	(९) मान्धाता यौवनाश्व
(२) सुहोत्र आतिथिन	(१०) ययाति नाहुष
(३) बृहद्रथ वीर (आंग)	(११) अम्बरीष नाभागि
(४) शिबि औशीनर	(१२) शशबिन्दु चैत्ररथ
(५) भरत दौष्यन्ति	(१३) आमूर्त्तरयस
(६) राम दाशरथि	(१४) रन्तिदेव सांकृति
(७) भगीरथ	(१५) सगर ऐक्ष्वाकु
(८) दिलीप ऐलविल खट्वांग	(१६) पृथु वैन्य

[1] चर्मण्वतीं समासाद्य नियतो नियताशनः।
रन्तिदेवाभ्यनुज्ञातमग्निष्टोमफलं लभेत॥
---महाभारत, वनपर्व ८२।५४ (चित्रशाला प्रेस, पूना)

[2] "तामुत्तीर्य व्रज परिचितभ्रूलता-विभ्रमाणां
पक्ष्मोत्क्षेपादुपरि विलसत्कृष्णशारप्रभाणाम्।
कुन्दक्षेपानुगमधुकरश्रीमुषामात्मबिम्बं,
पात्रीकुर्वन् दशपुरवधूनेत्रकौतूहलानाम्॥ --मेघदूत १।४७
"रन्तिदेवस्य दशपुरपतेर्महाराजस्य" मल्लिनाथ-टीका।

[3] सांकृते रन्तिदेवस्य स्वशक्त्या दानतः समः।
ब्राह्मण्यः सत्यवादी च शिबिरौशीनरो यथा॥ ---वनपर्व २९४।१७

[4] राज्ञो महानसे पूर्वं रन्तिदेवस्य वै द्विज।
अहन्यहनि बध्येते द्वे सहस्रे गवां तथा॥ ---वन० २०८।८,९

[5] सांकृते रन्तिदेवस्य यां रात्रिमतिथिर्वसेत्।
आलभ्यन्त तदा गावः सहस्राण्येकविंशतिः। ---द्रोणपर्व ६७।१६, १७

[6] सांकृते रन्तिदेवस्य यां रात्रिमवसन् गृहे।
आलभ्यन्त शतं गावः सहस्राणि च विंशतिः॥ ---शान्तिपर्व २९।२७

खर्च इतना था कि उन गायोंके ताजे चमड़े—जो महानस (रसोई)में रखे हुए थे—के पानीसे एक नदी निकली, जिसे चर्मण्वती (वर्तमान् चम्बल) कहा गया।[1] इतने भारी परिमाणमें सामिष भोजन पकने पर भी राजाके मणिकुण्डलधारी दो सौ हजार (दो लाख ?) रसोइये अतिथियोंसे प्रार्थना करते थे[2]—"सूप (माँस-रस) अधिक ग्रहण करें आज माँस कुछ कम है।" महाराज (?) रन्तिदेव सांकृति अपने भाई गौरिवीतिकी भाँति

---

[1] "नदी महानसाद् यस्य प्रवृत्ता चर्मराशितः।
तस्माच्चर्मण्वती पूर्वमग्निहोत्रेऽभवत् पुरा॥" —द्रोण० ६७।५
"महानदी चर्मराशेरुत्क्लेदात् संसृजे यतः।
ततश्चर्मण्वतीत्येवं विख्याता सा महानदी।" —शान्तिपर्व, २९।२३
"अतश्चर्मण्वती राजन् गोचर्मभ्यः प्रवर्तिता।" —अनुशासनपर्व ६६।४३
"आराध्यैनं शरवणभवं देवमुल्लङ्घिताध्वा
सिद्धद्वन्द्वैर्जलकणभयाद् वीणिभिर्मुक्तमार्गः।
व्यालम्बेथाः सुरभितनयालम्भजां मानयिष्यन्
स्रोतो मूर्त्या भुवि परिणतां रन्तिदेवस्य कीर्तिम्॥"४५॥
—मेघदूत १।४५

"सुरभितनयानां गवामालम्भेन संज्ञपनेन जायत इति तथोक्ताम्। भुवि लोके स्रोतोमूर्त्या प्रवाहरूपेण परिणतां रूपविशेषमापन्नां रन्तिदेवस्य दशपुरपतेर्महाराजस्य कीर्तिम्। चर्मण्वत्याख्यां नदीमित्यर्थः।. . . .पुरा किल राज्ञो रन्तिदेवस्य गवालम्भेष्वेकत्र संभृताद् रक्तनिष्यन्दाच्चर्मराशेः काचिन्नदी सस्यन्दे। सा चर्मण्वतीत्याख्यायत इति।"—मल्लिनाथी टीका

[2] "समांसं ददतो ह्यन्नं रन्तिदेवस्य नित्यशः।
अतुला कीर्तिरभवन्नृपस्य द्विजसत्तम।" —वनपर्व २०८।९,१०
"सांकृतिं रन्तिदेवं च मृतं सृंजय शुश्रुम।
यस्य द्विशतसाहस्रा आसन् सूदा महात्मनः॥१॥
गृहानभ्यागतान् विप्रानतिथीन् परिवेषकाः।
पक्वापक्वं दिवारात्रं वरान्नममृतोपमम्॥२॥
न्यायेनाधिगतं वित्तं ब्राह्मणेभ्यो ह्यमन्यत।" —द्रोणपर्व ६७
तत्र स्म सूदाः क्रोशन्ति सुमृष्टमणिकुण्डला॥१७
सूपं भूयिष्टमश्नीध्वं नाद्य मांसं यथा पुरा।" —द्रोणपर्व ६७।१७; और शान्तिपर्व २९।२८

चाहे मंत्रकर्ता न रहे हों, किन्तु वे वेदाध्यायी जरूर थे, और शत्रुओंको उन्होंने अपने वशमें किया था।[1] उनकी समृद्धि अतिमानुषी थी, और उनके दानमें चाँदी नहीं सोनेकी मुहरें (सौवर्ण निष्क) दी जाती थीं। रन्तिदेव सांकृतिने इन्द्रसे वर लिया था—हमारे पास खूब अन्न हो, अतिथि हमारे पास आवें, हमारी श्रद्धा कम न होवे, और हमें किसीके सामने हाथ पसारना न पड़े।[2]

सांकृत्य पाराशरी आचार्य (७०० ई० पू०)—जनमेजय पारिक्षित (६०० ई० पू०?)के समकालीन वैशम्पायनके शिष्य याज्ञवल्क्यसे पहिले किसी निवृत्तिप्रधान धार्मिक पाराशरी सम्प्रदायके एक आचार्य सांकृत्यका जिक्र बृहदारण्यक-उपनिषद् (शतपथब्राह्मण)में आता है।[3]

सांकृति पार्थरश्म (७०० ई० पू०)—जैमिनीय शाखाके आर्षेय-ब्राह्मणमें[4]

---

[1] "वेदानधीत्य धर्मेण यश्चक्रे द्विषतोर्वशे ॥४॥
ब्राह्मणेभ्योऽददन्निष्कान् सौवर्णान् स प्रभावतः।
तुभ्यं निष्कं तुभ्यं निष्कमिति ह्स्म प्रभाषते ॥६॥
तत्रास्य गाथा गायन्ति ये पुराणविदो जनाः।
रन्तिदेवस्य तां दृष्ट्वा समृद्धिमतिमानुषीम् ॥१४॥
नैतादृशं दृष्टपूर्वं कुवेरसदनेष्वपि।
धनं च पूर्यमाणं नः किं पुनर्मानुजेष्विति ॥१५॥
रन्तिदेवस्य यत् किंचित् सौवर्णमभवत् तदा ॥१८॥
तत् सर्वं वितते यज्ञे ब्राह्मणेभ्यो ह्यमन्यत।" द्रोणपर्व ६७
"नासीत् किंचिदसौवर्णं रन्तिदेवस्य धीमतः।" शान्तिपर्व २६।२६

[2] "रन्तिदेवं च सांकृत्यं मृतं सृंजय शुश्रुम।
सम्यगाराध्य यः शक्राद् वरं लेभे महातपाः ॥२०॥
अन्नं च नो बहु भवेद् अतिथींश्च लभेमहि।
श्रद्धा च नो मा व्यगमत् मा याचिष्म कञ्चन ॥२१॥" —शान्तिपर्व २६

[3] शतपथ, १४।५।५।२०; १४।७।३।२६; बृहदारण्यक (माध्यन्दिनशाखीय) २।५।२०; ४।५।२६

[4] वैदिकपदानुक्रमकोश (विश्ववन्धुशास्त्री)में उद्धृत आर्षेय ब्राह्मण २।२०।३

इस वैदिक आचार्यका पता लगता है। ये दोनों ही आचार्य याज्ञवल्क्य (६८० ई० पू०) से पूर्व हुये थे, और दोनों ही उपनिषद्-ज्ञानके प्रचारक थे।[1]

(ख) बौद्धकाल

कृश सांकृत्य (६०० ई० पू०)——बुद्धकाल और उससे पूर्व भारतके सभी महान् विचारक उपनिषद् और वेदके तत्त्वज्ञानके ही प्रचारक नहीं थे, बल्कि जैसे राजतंत्रके साथ-साथ उस वक्त भारतमें कितने ही अराजक गणतंत्र भी थे; वैसे ही कितने ही अध्यात्मज्ञानसे पराङ्मुख अर्धभौतिकवादी या पूर्ण-भौतिकवादी आचार्य भी हुये थे; गौतम बुद्ध पहिली श्रेणीके विचारक थे और कृश सांकृत्य दूसरी तरहके। कृश सांकृत्यका भौतिकवाद आजकलके वैज्ञानिक भौतिकवाद सा नहीं था, और विज्ञानयुगसे सहस्राब्दियों पूर्व वह हो भी कैसे सकता था; तो भी कृश सांकृत्य आजीवक संप्रदायके प्रधान तीन आचार्यों[2]—नन्द वात्स्य, कृश सांकृत्य और मक्खलि गोसाल——मेंसे एक थे; इन्हें आजीवकोंका "शास्ता" (उपदेशक) कहा गया है; और यह गौतम बुद्धके समकालीन मक्खली गोसालसे पहिले हुये थे, इसलिए इनका समय ईसा-पूर्व ६००के करीब होगा। ये आजीवक आचार्य अधिकतर काशी-कोसल, वज्जी-मगधमें घूमते थे, और यहीं उनकी प्रधानता थी, इसलिए बहुत संभव है कि प्राचीन काशी-कोसल ब्राह्मणोंका स्थान लेनेवाले सरयूपारीण ब्राह्मण तथा तदन्तर्गत सांकृत्यवंशमें ही यह कृश सांकृत्य पैदा हुये थे।

सांकृत्य श्रामणेर (५०० ई० पू०)——श्रावस्तीमें गौतम बुद्धके चमत्कारी शिष्योंमें श्रामणेर सांकृत्यका नाम आता है।[3] बहुत छोटी ही अवस्थामें बुद्धके प्रतिपादित दर्शनका इन्हें मर्मज्ञ समझा जाता था। श्रावस्ती (कोसल, आधुनिक सहेट-महेट जिला गोंडा)के होनेके कारण आज इनका वंश सरयूपारीण-सांकृत्योंके अन्तर्गत है, इसमें संदेहकी गुंजाइश नहीं।

---

[1] निम्न श्लोकमें भीष्मको सांकृति-प्रवर कहा गया है, किन्तु हमें मालूम है, वह संकृतिके चचा सुहोत्रके पुत्र अजमीढ़की परंपरामें थे——"वैयाघ्रपद्यगोत्राय सांकृति-प्रवराय च। अपुत्राय ददाम्येतत् सलिलं भीष्मवर्मणे।" (तिथितत्त्व, बंगला-विश्वकोषमें उद्धृत)

[2] मज्झिमनिकाय २।३।६ (पृष्ठ ३०४)

[3] बुद्धचर्या (नाम-सूची)।

सांकृत्य अर्थशास्त्री (५०० ई० पू० ?)—ऋग्वेदी आश्वलायन गृह्यसूत्रमें एक "शूलगव" प्रकरण है, जिसमें शूल (लोहेकी तीली) पर भुने गव्य मांसके धार्मिक कृत्यकी श्रौत-प्रक्रिया लिखी हुई है। उस वक्त गायके चमड़ेको अकसर लोग फेंक देते थे, और इस प्रकार वह बेकार जाता था। इसके विरुद्ध आचार्य शांबव्यने कलम उठाई, और कहा—उस चमड़ेसे जूता आदि उपभोगकी चीजें बनानी चाहिये।[1] शांबव्य सांकृत्य गोत्रकी एक शाखा है।[2]

सांकृत्य वैयाकरण (४०० ई० पू०)—तैत्तिरीय प्रातिशाख्य[3]में संधि नियमोंके संबंधमें किसी सांकृत्य आचार्यके मत उद्धृत हैं, इनके समय और कालके बारेमें हम निश्चित कुछ नहीं कह सकते। यद्यपि सरयूपारीण-सांकृत्य शुक्लयजु-र्माध्यंदिनीय शाखासे संबंध रखते हैं, किन्तु संधिनियमोंमें कृष्ण-शुक्लका क्या भेद हो सकता है ?

(ग) मध्यकाल

सांकृत्यगोत्री (१०९३ ई०)—कृश सांकृत्य और श्रामणेर सांकृत्यके बाद एक प्रकारसे काशी-कोसल या आधुनिक सरयूपारियोंके प्रदेशमें हमें करीब डेढ़ सहस्र वर्ष तक किसी सांकृत्यका पता नहीं लगता। प्रथम गहडवार-नरेश चन्द्रदेव या चन्द्रादित्यदेवने अपनी भुजाकी प्रभुतासे कान्यकुब्जके विशाल राज्यको अर्जित किया[4]। पूर्वीय होनेके कारण वे कन्नौजसे कम काशीका प्रेम नहीं रखते थे, इसीलिए गहडवार

---

[1] "भोगं चर्मणा कुर्वीतेति शांबव्यः।" (टीकामें—)शांबव्यस्त्वाचार्यः चर्म्मणा भोगमुपानदादि कुर्वीतेति मन्यते। आश्व ४।९।२४

[2] फ़ुटनोट २, पृष्ठ ८

[3] सांकृत्यस्योकारम् (तै० प्रा० ८।२१)। एष्टर्रायः एष्टोरायः (तै० प्रा० १।२।११) वकारस्तु सांकृतस्य (तै० प्रा० १०।२१)। वाय इष्टये वाय-विष्टये (तै० संहिता २।२।१२)। अनाकारो ह्रस्वं सांकृतस्य (तै० प्रा० १६।१६)। हवींषि=हविंषि (तै० सं० ५।५।१)

[4] "परमभट्टारक महाराजाधिराज परमेश्वर परममाहेश्वर निजभुजोपार्जित-श्रीकान्यकुब्जाधिपत्य श्रीमच्चन्द्रादित्यदेव" Chandravati Plates of Chandradeve, Epi. Ind. vol. XIV, pp. 192-209

भूपाल कान्यकुब्जेश्वरकी भाँति "काशीश"[1] "काशीराज्ञा" भी कहे जाते थे। काशीको विद्या-केन्द्र बनानेवाले चन्द्रदेवने चन्द्रावतीवाले ताम्रपत्रमें "पंचशत" ब्राह्मणोंको कठेहली पत्तला दान दिया, जिनमें २२ सांकृत्य-गोत्री हैं—

१. राजपाल (१४)	९. गाग (४२)	१७. नाँटे (२७९)
२. माहव (१५)	१०. योगे (४३)	१८. नारायण (२८१)
३. केशव (१७)	११. महेश्वर (४४)	१९. ब्रह्मर्षि (३००)
४. आल्हण (२२)	१२. जाने (६४)	२०. देवशर्मा (३२८)
५. अमृतधर (२३)	१३. सलखू (८२)	२१. महेश्वर (३६४)
६. विठु (३७)	१४. कडुआइच (८३)	२२. छोटे (३८४)
७. साहु (४०)	१५. गाल्हे (१६६)	
८. धरणीधर (४१)	१६. तीती (२७८)	

यह ताम्रपत्र संवत् ११५० (१०९३ ई०) आश्विन बदी १५ रविवारको लिखा गया था। उस समयतक चतुर्वेदी, त्रिपाठी, द्विवेदी, मिश्र—यही चार पदवियाँ प्रचलित हुई मालूम होती हैं। यह पदवियाँ विशेष शिक्षित कुछ थोड़ेसे व्यक्तियोंके नामोंके साथ लगी हैं, जिससे मालूम होता है, तब तक उनका अधिक प्रचार नहीं हुआ था। ऊपर आये २२ सांकृत्य गोत्रियोंमें किसीके साथ ऐसी पदवी नहीं लगी है; आल्हण, विठु, गाग, जाने, सलखू, कडुआइच, गाल्हे, तीती, नाँटे, छोटे जैसे संस्कृत-प्राकृत दोनोंसे अछूते नाम बतला रहे हैं, कि इनके परिवारमें विद्या—जो उस वक्त संस्कृत विद्या थी—का बहुत अभाव था।

चक्रपाणि[2] (१२११ ई०)—यह मलाँव सांकृत्य-वंशके बड़े प्रतिभाशाली व्यक्ति थे। इनके बारेमें बहुत सी चमत्कारिक कथायें प्रसिद्ध हैं—इनकी धोती आकाशमें सूखती थी आदि। इनके बारेमें ऐतिहासिक सामग्री बहुत कम उपलब्ध है। इनके बारेमें आगे प्रसंगवश कुछ जिक्र किया जायेगा।

---

[1] "काशीराज्ञा" प्राकृत-पैंगल, Asiatic Soci. Bengal, p. 180; "काशीश जयच्चन्द्र" Indian Historical quarterly 1929, pp. 14-30

[2] चौदहवीं सदीके पहलेके इस नामके ग्रन्थकारके नामसे निम्न ग्रंथ मिलते हैं [Catalogus Catalogorum (Th. Aufrecht)]

चक्रपाणि—पद्यावली। चक्रपाणि पंडित—कालकौमुदी-चम्पू। चक्रपाणि—ज्योतिर्भास्कर। चक्रपाणि—विजयकल्पलता

(घ) आधुनिककाल

सांकृत्य-गोत्री ब्राह्मण उत्तरीय भारतके प्राय: सभी प्रधान विभागों--सरयूपारीण, कान्यकुब्ज, सारस्वत आदिमें मिलते हैं। कान्यकुब्ज (कन्नौज)के उत्तर-भारतकी राजधानी बननेके समय (ईसवी छठी शताब्दीके उत्तरार्द्ध)से पहिले कान्यकुब्ज ब्राह्मण, कान्यकुब्ज (कनौजिया) अहीर, कान्यकुब्ज काँदू, आदि भेद नहीं हो सकते थे, यह भेद मौखरियोंके नायकत्वमें कान्यकुब्ज-साम्राज्यकी स्थापनाके बाद हुये होंगे। अपने पूर्वीय सीमान्तपर—छपरा, आरामें—सरयूपारीण भी अपनेको कनौजिया कहते हैं। त्रिपाठी, पाठक पदवियाँ भी कनौजिया और सरवरिया ब्राह्मणोंमें कान्यकुब्ज काल (छठी सदीके उत्तरार्द्धसे १२वीं सदीके अन्त)में प्रचलित हुईं। बुद्धके समय (ईसा-पूर्व पाँचवीं-छठी सदीमें) ब्राह्मण अपने-अपने जनपदोंके कारण कोसलक, मागधक, आदि नामोंसे विख्यात थे। उस समय ब्राह्मणोंके भीतर सहभोज, अन्तर्विवाह-का कोई प्रश्न ही न था, क्यों कि वह तो क्षत्रियों तकसे जायज समझा जाता था।[1] कान्यकुब्ज-कालमें कोसल, काशी, भर्ग (मिर्जापुर जिला), कारूष (शाहाबाद जिला) और मल्ल-शाक्य गणतंत्रों (जो कि कोसलकी प्रधानताके अन्तर्भुक्त थे)के ब्राह्मण ही एक होकर पीछे सरयूपारीण ब्राह्मणोंके रूपमें हमारे सामने आये। आजके सरयूपारीणोंके प्राय: सारे ही उद्गम गाँव सरयूके उत्तर और उसमें भी प्राय: सभी गोरखपुर जिलेमें हैं। उस समय सरयू और गंगासे दक्षिण ब्राह्मण नहीं रह गये थे, यह मानना मुश्किल है। मालूम होता है, गहडवार-कालमें जब सरयूपार वालोंकी प्रधानता और पंक्तिवद्धता स्थापित हो गई, तभीसे दूसरी जगहके ब्राह्मणोंको भी उनके भीतर गोत्रके अनुसार शामिल होना पड़ा।

सरयूपारीणोंमें सांकृत्यगोत्रियोंका मूलस्थान मलाँव है, कान्यकुब्जोंमें सांकृत्योंके मूल ग्राम हैं, कौशिकपुर और पुरैनियाँ--पीछे जाजामऊ (रूपनवंशज तथा घनश्यामवंशज शुक्ल, घनश्यामवंशज मिश्र), गौरा (रूपनवंशज शुक्ल), कौशिकपुर (धनावंशज मिश्र और अवस्थी), विजौली (धनावंशज दूबे), चचेंडी (घनश्यामवंशज मिश्र), इटावा (घनश्यामवंशज मिश्र)--कान्यकुब्जोंकी सर्वमान्य परंपराके अनुसार ये लोग कान्यकुब्जोंमें सरयूपारीण या शाकद्वीपीय ब्राह्मणोंसे पीछे

---

[1] **दीघनिकाय, अम्बठ्ठसुत्त (बुद्धचर्या पृ० २१५, २१६)**

आकर शामिल हुये।[1] शाकद्वीपीयसे उनका आना संभव नहीं मालूम होता, क्योंकि युक्तप्रान्त और बिहारमें यह गोत्र उनमें पाया नहीं जाता। सांकृत्योंका आकर कान्य-कुब्जोंके सर्वश्रेष्ठ षट्कुलोंमें सम्मिलित होना बतलाता है, वे मलाँव-वंश जैसे किसी प्रतिष्ठित कुलसे संभवतः मलाँवध्वंस (पंद्रहवीं सदी) के समय आये हों।

---

[1] "सांकृत (? संकृति) जीके पुत्र जीवास्व (?) जी हुये और इस वंशमें अनेक पीढ़ी बाद एक पृथ्वीधर नामके पुरुष प्रसिद्ध हुए। इनको किसी किसीने सरवरिया ब्राह्मण तथा किसी किसीने शाकलद्वीपी ब्राह्मण बतलाया है—और यह बात प्रायः सर्वमान्य है कि यह कान्यकुब्ज ब्राह्मण न थे और विवाह संबंध द्वारा कान्यकुब्ज जातिके अन्तर्गत हुये, और वह वंश विद्या और सत्कर्मों द्वारा जातिमें प्रतिष्ठित हुये (।) पृथ्वीधरका निवास-स्थान कुरहर ग्राममें था और इनको कौशिकपुरके राजाने बुलाया। और अवस्थ यज्ञ किया और तब पृथ्वीधर जी कौशिकपुरके अवस्थी प्रसिद्ध हुये। पृथ्वीधरके दो पुत्र महीधर, धरणीधर जिनमेंसे महीधर कौशिकपुरके शुक्ल तथा धरणीधर (त्रिगुणायत) अवस्थी कौशिकपुरके कहाये। महीधरके पुत्र नाभू जी हुये। पृथ्वीधरने अपने पौत्रको मनीराम वाजपेयीसे शास्त्र पढ़वाया। तब मनीराम वाजपेयीने इनको त्रिगुणायतकी पदवी दी और पृथ्वीधर अवस्थी त्रिगुणायत कौशिकी-वाले कहलाये। नाभूजी विद्या प्राप्तकर व्याकरण व न्यायशास्त्रमें बड़े पारंगत हुये और वैसे ही सुन्दर गौरवर्ण व सुशील भी थे, और उन पर मनीराम जीका बड़ा प्रेम था। इसी भाँति मनीरामजीकी कन्या भुवनेश्वरी नाम्नी भी परमसुन्दरी व पंडिता थी, और उसके योग्य वर खोजनेमें मनीरामजी नितान्त असमर्थ हुये उनकी स्त्रीका अनुरोध था कि भावी जामातृ नाभूकी भाँति सर्वगुणालंकृत होना चाहिये। निदान मनीराम जीने अपनी कन्याका विवाह नाभूजीके साथ कर दिया और इनको शुक्ल उपाधि देकर पुरैनियाग्राम में अपने समीप ही वसा दिया। और इस भाँति नाभूकी सन्तान शुक्ल नभेल पुरैनिया प्रसिद्ध हुये। किसी किसीका मत है कि मनीरामजीकी कन्याका नाम पूर्णिमा था और इस भाँति नाभू और पूर्णिमाकी सन्तान नभेल पुरैनिया विख्यात है।"

—(कान्यकुब्जभास्कर, हजारीलाल त्रिपाठी कृत पृ० ७८-९)

पंडित देवीदत्त शुक्ल द्वारा प्राप्त सांकृत्योंके वंशवृक्षमें नाभूजीको पृथ्वीधरका पुत्र लिखा गया है, उसके अनुसार पुराना भाग इस प्रकार है—

आजसे एक पीढ़ी पहिले तक पृथ्वीधरकी पन्द्रहसे सत्रह पीढ़ियाँ बीती हैं (अहिरुद्र १५७५ ई०के पूर्व शायद उजड़े मलाँवसे भागे हों)—
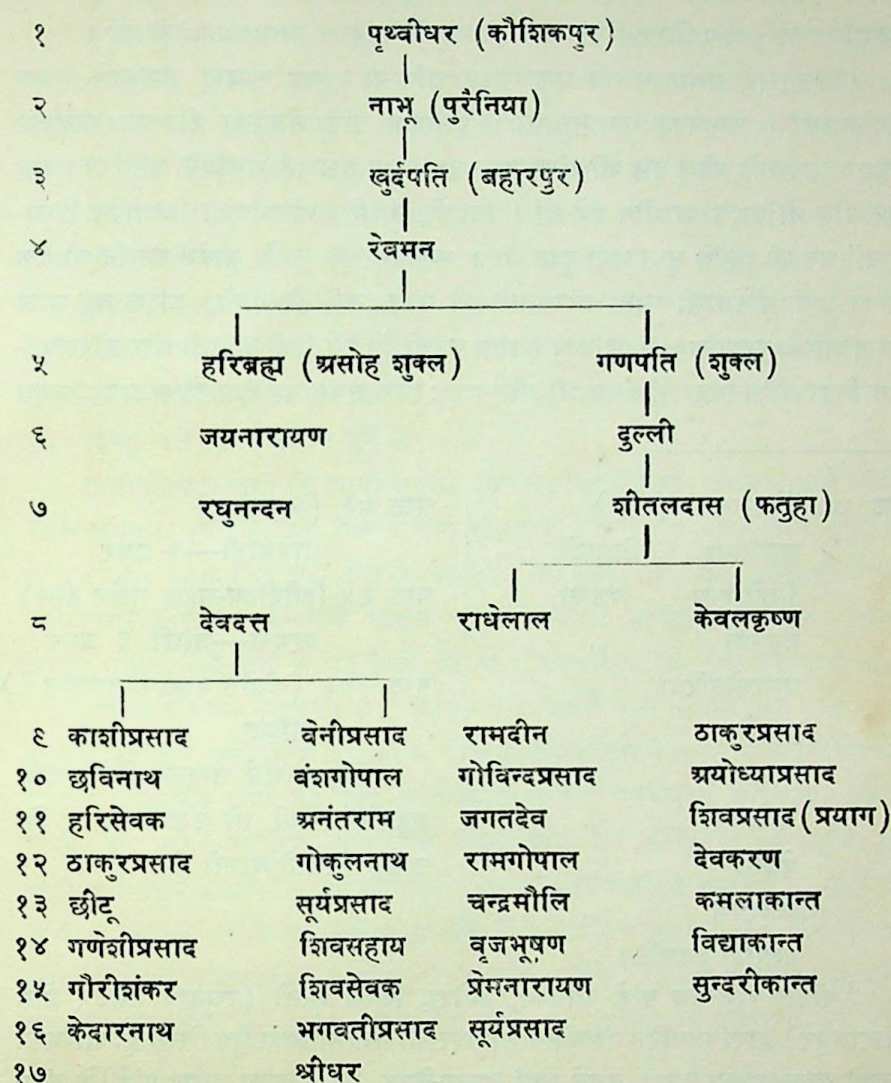
औसत १६ पीढ़ी लेनेपर पृथ्वीधरका समय होता है १७×२६=४४२ वर्ष सन् १४९७ ईसवी अर्थात् अहिरुद्र १५७५ से पहिले।

दूसरे ब्राह्मणोंमें भी निम्न प्रकारसे सांकृत्य गोत्र पाया जाता है। (जाति-भास्कर, पं० ज्वाला प्रसाद मिश्र; श्री वेंकटेश्वर प्रेस, बंबई संबत् १९८३, पृष्ठ ७६, ८९, ९५, ९८, १०९)—

चक्रपाणि-वंशज राजेन्द्रदत्तकी १२ पीढ़ियोंका हमें नाम भर मालूम है। राजमणिदत्तके[१] दो पुत्रोंमें अम्बिकादत्त तो पहाड़ी (जिला इलाहाबाद)में रहे।

राजेन्द्रदत्तके समय मलाँव एक समृद्ध गाँव था। वह सम्राट् अकबरके शान्त और न्यायपूर्ण शासनका ज़माना था। मलाँवके पांडे लोगोंका रोबदाब मलाँवसे बाहर आसपासके प्रदेश तक भी फैला हुआ था, बहुत संभव है मलाँवके अतिरिक्त कुछ और गाँव भी उनके आधीन रहे हों। विदथी, संकृति, रन्तिदेवका "क्षत्रोपेत द्विजातित्व" अब भी वहाँसे लुप्त नहीं हुआ था। मलाँवके एक कूयेंके बारेमें ख्याति थी, कि उसका पानी पीनेवाली माता बंध्यात्वसे ही मुक्त नहीं हो जाती, बल्कि वह मल्ल (मल्लग्राम=मलगाँव=मल्लाँव)पुत्र प्रसव करती है। राप्तीकी दाहिनी ओर गोरखपुरसे नातिदूर डोमिनगढ़[२] गाँव अब भी मौजूद है। उस समय वह एक डोमकटार राजपूत

पृष्ठ ७६ "मेडतवाल (गौड़)

खलसिया	तिवाड़ी
सिहोरिया	पंडचा
हेरसदा	,,
धामणोदरिया	,,
नवमोस	,,
बलायता	,,
वणोयला	,,
वेटला	,,
मेहलाण	,,
नलतडा कठगोला	,,

पृष्ठ ८९ (महाराष्ट्र)

गायधानी——३ प्रवर

पृष्ठ ९५ (औदीच्य-सहस्र गुर्जर टोल)

ऋगुण——जोशी ३ प्रवर

पृष्ठ १०९ (कंडोल ब्राह्मण, गुजरात?)

सांकृत

मेडतवालोंमें सांकृत्य गोत्रके साथ बहुतोंकी पदवी भी पंडचा है, जो कि पांडेसे मिलती-जुलती है।

[१] पंडित रामनाथ पांडे आचार्य, भ्योरा, जिला बस्ती (रघुनाथ प्रिंटिंग प्रेस, बलरामपुर) द्वारा संपादित वंशवृक्षमें तारादत्तको चन्द्रमौलिका पुत्र लिखा है, अम्बिकादत्तको गूदरनाथका पुत्र। हमने यहाँ नाउर-देउर (श्री ज्वाला प्रसाद पांडे)के वंशवृक्षको मूलस्थानीय होनेसे प्रमाण माना है।

[२] "Tharu....Mansen was overthrown in the tenth century by the Domkatars. These people had their chief stronghold at Domingarh near Gorakhpur." (Gorakhpur Gazetteer, 1909 ed. p. 259)

राजाकी राजधानी थी। तत्कालीन राजाकी रानीको कोई सन्तान न थी। रानी बनारस जा रही थीं। बनारसका पथ अब भी गोरखपुर-बडहलगंज दुहरीकी पक्की सड़कके रूपमें मौजूद है। शामको रानीका डेरा मलाँव (उक्त पक्की सड़कसे एक मील परे) में पड़ा। मलाँवके वीर-प्रसवक कूयेंका पता रानीको लगा।[१] रानीने पानी लानेके लिए आदमी भेजा। पानी पाना तो दूर रहा उल्टा रानीको बहुत अपमानित होकर मलाँवसे जाना पड़ा। रानी बनारससे डोमिनगढ़ लौटीं, और उन्होंने एककी जगह नौ लगाकर अपने अपमानकी दुःखभरी गाथा राजाको कह सुनाई। राजा क्रोधसे जल उठा। उसने पानी लानेके लिये आदमी भेजे, न देने पर जबर्दस्ती लानेके लिये सैनिक भेजे, लेकिन मलाँवकी तलवारमें अभी जंग नहीं लगा था। राजाके सैनिकोंको करारी हार खानी पड़ी। राजाने कई बार कोशिश की, किन्तु उसे सफलता न हुई।

राजाको पता लगा कि भादौं शुक्ला (अनंत) चतुर्दशीको मलाँवके पांडे लोगोंके यहाँ शस्त्रपूजा होती है, उस दिन वे लोग हथियार नहीं धारण करते, और व्रत रखते हैं। राजाने इसके लिए पूरी तैयारी कर ली। आजकी तरह उस समय भी प्राचीन अचिरवती (राप्ती) मलाँवके पाससे गुजरती थी।[२] डोमिनगढ़के सैनिक नावोंसे आकर पहिले हीसे कुछ दूरपर छिपे बैठे थे। अनन्तव्रत रखे मलाँवके पांडे, तरुण-वृद्ध सारे अचिरवती गंगापर स्नान करने गये। उनके पास हथियारका नाम न था, न उन्हें उस दिन शत्रुसे कोई भय था। राजाके सैनिक एक-ब-एक उन निहत्थोंके ऊपर टूट पड़े। उनमेंसे एकने भी प्राण बचानेके लिए पीठ न दिखाई, और वहीं एक एक करके कट गये। राप्तीको सांकृत्योंके खूनसे लाल कर सैनिक गाँवमें पहुँचे, सभी बाल-वृद्ध-तरुण पुरुषोंको तलवारके घाट उतारा,[३] और मलाँवके कूओंको उनकी लाशों-से पाट दिया। तभीसे मलाँवके सांकृत्योंके लिए अनन्तचतुर्दशी पर्वका दिन न रहा; लोग आज भी न अनन्त व्रत करते हैं, न 'अनन्त' बाँधते हैं। (मैं कलकत्ताकी पहिली यात्रामें चाँदाकी अनंत पहिन आया था, जिसे घर पहुँचते ही उतारना पड़ा।)

---

[१] दूसरी जनश्रुतिके अनुसार राजाने पहिले उस कुयेंका जल माँगा, किंतु बड़े तिरस्कारके साथ इन्कार कर दिया गया। [२] वर्त्तमान मलाँवके तीन ध्वंसाव-शेषोंमेंसे दो राप्तीके कारण ही नष्ट हुये मालूम होते हैं। [३] डोमिनगढ़के राजा और कूयेंके पानीकी कथा, कोसलराज प्रसेनजितके प्रधान सेनापति बन्धुल-मल—जो स्वयं कुशीनगरका मल्ल क्षत्रिय था—के अपनी स्त्रीके दोहदको पूरा

यहाँ एक बात और ध्यान देनेकी है। डोमिनगढ़ मलाँवसे छै सात कोससे ज्यादा नहीं है, और उस समय डोमिनगढ़-राज मलाँव वालोंका पड़ोसी था। संभवतः इस संहारके पीछे अधिकारोंकी छीना-झपटी काम कर रही थी।

अहिरुद्र पांडे (१५७५ ई०)—दूरके अपने (भरद्वाज-)वंशज परीक्षित्की भाँति अहिरुद्र पांडे माताके गर्भमें थे, जब कि मलाँवका भीषण नर-संहार हुआ। राजेन्द्रदत्तकी पत्नी उस समय अपने पीहर प्रतापगढ़ जिलेमें थीं। दूसरी परंपरा बतलाती है, कि उन्होंने हत्यारोंके हाथसे पांडेवंशके अंकुरको बचानेके लिए एक धोबीके घरमें शरण ली, और इसीलिए अहिरुद्रकी सन्तान धोबियापट्टी कहलाई; इस बातको बदनामीके डरसे छिपाया जाता है। किन्तु यह भ्रम सरयूपारीणोंके धोबियापट्टी[1] विभाग (पट्टी)के नामके कारण मालूम होता है, जिसमें कि मलाँव पांडेके अतिरिक्त मणिकंठके तिवारी और वृहद्ग्राम (सोहगौरा)के दूबे भी शामिल हैं।

करनेके लिए वैशालीके गणतंत्री लिच्छवियोंकी अभिषेक-पुष्करिणीमें जबर्दस्ती नहलानेकी कथासे सादृश्य रखती है। (धम्मपद-अट्ठकथा ४।३ देखो मेरी 'बुद्ध-चर्या' पृष्ठ ४७३-७५) और मलाँव-वंशका यह हत्याकाण्ड कोसलराज विडूडब द्वारा शाक्यवंशके संहार सा मालूम होता है (देखो वहीं पृष्ठ ४७६)

[1] सरयूपारीण ब्राह्मणोंमें सोलह या ३+१३ कुल सबसे अधिक प्रतिष्ठित माने जाते हैं, जो निम्नप्रकार पाँच पट्टियोंमें बाँटे गये हैं—

"तिन्नाथेई और निराशौ। सायन पट्टी चरम प्रकाशो॥
इन चारोंके अरा बनाय। धोबिया-पट्टी परिधि लगाय॥
सत्य नाहमें करें संयोग। पंडित कहें पंक्तिरथ सोय॥"

—"सर्व्वार्य-पंक्ति-ब्राह्मण-वैभव" खंड १ पृष्ठ ङ (पं० नन्द-कुमार शर्मा शुक्ल पिछौरा, कुमारप्रेस; गोरखपुर सन् १९२८ ई०)

आगेके पदोंमें इन पट्टियोंके इस प्रकार अन्तर्विभाग किये गये हैं—

(१) तिन्नाथेई गौ-ग-शा। (२) पा-खो-पांडे निराशा॥
(३) तीन चकारे चमरू। (४) सायन पट्टी प-प-सा॥
(५) पाँच पवर्गे धोबिया॥ —(वहीं, पृष्ठ ढ)

विवरण इस प्रकार है—

पट्टी	मूलग्राम	पदवी	गोत्र
१. तिन्नाथेई	(१) भेड़ी	*शुक्ल	गर्ग (गार्ग्य)
	(२) बइसी	*मिश्र	गौतम
	(३) गोरखपुर (गोरखी)	*त्रिपाठी (तिवारी)	शाण्डिल्य (श्रीमुख)
२. निराशा	(४) सोनौरा	पाठक	भारद्वाज
	(५) खोरी	उपाध्याय	,,
	(६) त्रिफला	*पांडेय (पांडे)	काश्यप
३. चरम (चमरू)	(७) नवपुरा	चतुर्वेदी (चौबे)	,,
	(८) नागचौरी	*पांडेय (पांडे)	वत्स (वात्स्य)
	(९) इटारि	*पांडेय (पांडे)	सावर्ण्य
४. सायन	(१०) परवा	द्विवेदी (दूबे)	काश्यप
	(११) पडरहा	मिश्र	पराशर
	(१२) समदारि	द्विवेदी (दूबे)	वत्स (वात्स्य)
५. धोविया	(१३) मलाँव	*पांडेय (पांडे)	सांकृत्य (सांकृत्यायन)
	(१४) मणिकंठ	त्रिपाठी (तिवारी)	शाण्डिल्य
	(१५) वृहद्ग्राम (सोहगौरा)	*द्विवेदी (दूबे)	भारद्वाज
नाभि	(१६) पिछौरा	शुक्ल (सत्य)	कृष्णात्रेय

*चिन्हांकित वंशोंमें अभी "पंक्ति वाले कुल हैं। इन सोलह कुलों (जिनमें गर्ग, गोतम, शण्डिल, भरद्वाज, कश्यप", वत्स, सवर्ण, पराशर, संकृति और कृष्ण-अत्रि दस गोत्र, तथा शुक्ल, मिश्र, तिवारी, पाठक, उपाध्याय, पांडे, चौबे, और दूबे आठ पदवियाँ हैं)मेंसे दस गोत्रोंको प्रधान तथा कौडीरामके पांडे (कौंडिल्य) एवं पांडेपारके पांडे (अगस्त्य)को लेकर बारह गोत्रोंको महाराज जयचन्द्रने "पंक्ति" में परिगणित किया था (वहीं, पृ० २१७)। कौंडिन्य और अगस्त्य गोत्रियोंको

सोलह ऋत्विजोंमें नहीं रखा था, इसलिए उन्हें आधा-आधा गिना जाता है; इस प्रकार कुलोंकी संख्या १७ (१८) होती है। महाराज जयचन्द्रके बाद भी लोग पंक्ति बने थे, सिंहनजोरीके तिवारी (भार्गव), हरिनाके तिवारी (वाशिष्ट) उपमन्यु-गोत्री ओझा, पिण्डीके तिवारी (शाण्डिल्य), पयासीके मिश्र (वात्स्य), इँटिया पांडे (गार्ग्य), मलैया पांडे (भारद्वाज) और राढी मिश्र (भारद्वाज) पीछेसे पंक्तिमें मिलाये गये; इनमेंसे पयासी-मिश्र (वाशिष्ठ) और भार्गव तिवारीमें अभी भी "पंक्ति" हैं।

पिंडीके तिवारियोंके "पंक्ति"में लिये जानेके बारेमें एक कथा है--गौतमगोत्री दिनमणिके कोई वंशज गंगास्नान करने आये थे। वे वहाँ भीषण रोगमें ग्रस्त हो गये। पिंडीके कसेरू तिवारीकी स्त्री सुखाने उनको बड़ी सेवा की। पंक्ति ब्राह्मणने पीछे कृतज्ञता प्रकट करते हुए सुखाकी सन्तानको सुखापतिके नामसे "पंक्ति"में ले लिया (वहीं, पृ० १९६, १९७)।

राढ़ी-मिश्रके सरयूपारीण और पंक्तिबद्ध बननेके बारेमें कथा है--मलाँव वंशी आचार्य माधव विजयनगर(?)के गहडवार कृष्णदेव(?)के गुरु थे। उनके यहाँ एक वंगीय राढ़ी ब्राह्मण श्री हरिहर मिश्र उच्च कर्मचारी थे। कृष्णदेवको परास्त करके अलाउद्दीन ख़िल्जी(?)ने उनके राज्यपर अधिकार पाया। हरिहर मिश्र गोरखपुर-के चकलेदार (जिलाके प्रधान अधिकारी) बनाये गये। आचार्य माधवकी सहायतासे हरिहर मिश्र सरयूपारीणोंमें ले लिये गये। माधवकी प्रेरणासे सब ब्राह्मणोंने हरिहर मिश्रके साथ सहभोज किया, किन्तु सिंहनजोरीके भार्गव तिवारियोंने इन्कार कर दिया, जिसपर कहावत मशहूर हुई--"बड़ बड़ कौर मधइया जेंवें भार्गव रहें उघारी"। पीछेसे पंक्तिमें आये कुलोंके बारेमें कहावत है--

"तीन पाँति भो पांडे हीन। सिंह करैली-पयसी-चीन्ह ॥
तीन पाँति गंगापारीण। हरिण-मचैयाँ-तिवनी कीन्ह।"

(वहीं पृ० १८५, १८८)

सबको मिलानेपर निम्न कुल भी पंक्ति-भुक्त समझे गये--

मूलग्राम	पदवी	गोत्र
(१७) कोडीराम	पांडेय	कौडिन्य
(१८) पांडेपार	पांडेय-त्रिपाठी	अगस्त्य
(१९) सिंहनजोरी	त्रिवेदी (तिवारी)	भार्गव*
(२०) हरिना (हरनहा)	त्रिवेदी (तिवारी)	वाशिष्ट
(२१) करैली	ओझा	उपमन्यु
(२२) पयासी	मिश्र*	वत्स
(२३) पिंडी	त्रिपाठी*	शाण्डिल्य (गर्दभी)
(२४) मचैयाँ	पांडेय	भारद्वाज
(२५) इटिया	पांडेय	गार्ग्य
(२६) राढ़ी	मिश्र	काश्यप

ये २६ कुल या राढ़ीको अलग कर, तथा कौडिन्य (१७) और अगस्त्य (१८) को आधा-आधा गिननेपर २४ कुल "पंक्ति" (मृष्ट) कहलाये थे, उनके अतिरिक्त बाकी सरयूपारीण कुल "जाति" (मार्जनीय) कहलाये। ऊपरके १२ गोत्रोंके अतिरिक्त निम्न गोत्र भी सरयूपारीण ब्राह्मणोंमें मिलते हैं--

मूलग्राम	पदवी	गोत्र
धर्मपुरा	मिश्र	कौशिक (घृत-)
धमेरि	त्रिपाठी	वरतन्तु
तिलौरा	द्विवेदी	काण्व
पिपरासी	चतुर्वेदी	कात्यायन
छपवा	द्विवेदी	मौनस
	पांडेय	माण्डव्य
	त्रिपाठी	बन्धुल
कन्तित	चतुर्वेदी	अत्रि

प्रतापगढ़ जिलेमें अपने नानाके घर अहिरुद्रका जन्म हुआ। वे वहीं पले और बढ़े। एक बार डोमिनगढ़के राजाकी रानी (मालूम नहीं वही या दूसरी) आसन्न-प्रसवा थीं। कई दिनोंसे मर्मान्तिक पीड़ासे पीड़ित थीं, किन्तु प्रसव नहीं हो रहा था। जोतिसियोंने बतलाया—बिना मलाँव-वंशके किसी व्यक्तिको प्रसन्न किये क्षेम नहीं होगा, यह ब्रह्मदोष है। बहुत परिश्रमपूर्वक खोजनेके बाद अहिरुद्र पाँडेका पता लगा। राजाने बड़ी प्रार्थना और सत्कारपूर्वक उन्हें बुलाया, भोजन कराया और शापानुग्रहके बदले मलाँवके साथ नाउर-देउर तथा डोमवार गावोंको प्रदान किया।

अहिरुद्र पांडे अपने पूर्वजोंके गाँवमें पहुँचे। मकान ढह गये थे। उनपर जंगल जम आया था। वहाँ कोई आदमी न था, जो बतलाता कि उनके वंश-ग्रामकी सीमा क्या थी। वहीं डेरा डालकर उन्होंने प्रार्थना की—यदि मेरे कुलका कोई देवता हो, तो वह सीमा-निर्धारित करनेमें मेरी मदद करे। परम्परा आगे कहती है—उसी वक्त आजकल सुअरहाके नामसे प्रसिद्ध स्थानसे एक विकराल सुअर निकला और उसने घूमकर उस सीमाको प्रकट कर दिया। यही सुअर मलाँव-वंशका कुलदेव मलकवीर[1] (मल्लैकवीर) हैं।

महाराज चन्द्रदेवके उपरोक्त ताम्रपत्रमें निम्न गोत्र और मिलते हैं, जिन्हें सरयूपारीणोंमें होना चाहिये—कपिष्ठल, शार्कर, शार्कराक्ष, मन्य, शौनक, जीवन्त्या-यन, धौम्य, सौश्रवस, कुत्स, गालव, दक्ष, जातूकर्ण्य, गौण्य, पिप्पलाद, मौन्य, यास्क, हारीत, मौद्गल्य, दर्भ (? दालभ्य) (E. Ind. Vol. XIV. PP 192-209)। **जातूकर्ण्य, विष्णुवर्धन, मुद्गल, मौनस, शौनकेतु (?), यास्क, दालभ्य, वाभ्रव्य गोत्र कान्यकुब्ज ब्राह्मणोंमें मिलते हैं। (कान्यकुब्ज भास्कर पृ० १६)**

सरयूपारमें अब भी १६ उच्च कुलोंकी पाँच पट्टियोंका पंक्तिरथ अंकित कर पिछौरा (चद्दर) दान करनेका रवाज है। (सर्वार्य्य पंक्ति ब्राह्मण वैभव, पृष्ठ, ड, ढ)। (पंक्तिरथ के लिये देखिये चित्र २)—

[1] श्रावण शुक्ला सप्तमीके दिन बिना मीठेकी खीर और नमकीन कच्ची रसोई-से मलकवीरकी पूजा होती है। उस दिन ब्राह्मण-भोजन गायके घीमें पकी पूड़ीसे कराया जाता है। एक और भी कुलदेव-पूजा विशेष महत्त्वकी है। प्रत्येक पुत्र-प्रसव, यज्ञोपवीत और ब्याहके लिये मलकवीरको एक शूकर-शावक (सायन या छौना)

अहिरुद्र पांडेके जन्म और मलाँवके हत्याकाण्डके समयके जाननेके लिये, तबसे अब तक पीढ़ियोंको छोड़कर और दूसरा साधन नहीं है। यहाँ हम ऐसे छ उदाहरण दे रहे हैं—

चढ़ाना पड़ता है। यह उसी साल चढ़ाया जाता है, जिस साल घरमें कोई व्यक्ति मरा न हो; मरनेका मतलब यह नहीं कि उस सालकी पूजासे छुट्टी मिल गई। बलि गिनकर और विषम-संख्या (१, ३, ५, ७)में चढ़ानी पड़ती है। सन्तानके अनिष्टके डरके मारे मलाँवके पक्के "वैष्णव" परिवार भी इस बलिको रोकनेकी हिम्मत नहीं करते। नाउरदेउर वालोंने चन्द साल हुये सुअर चढ़ाना बन्द कर दिया, अब वह उसकी जगह सुपाड़ी या पेठा काटते हैं। कनैलामें यह कुलदेव पूजा कैसे होती है, इसे मलाँवकी बातका कुछ भी ज्ञान न रखते मेरे अनुज रामधारीने अपने पत्र (नवंबर १९३९)में लिखा है—

"यहाँ नरसिंह तथा महावीर कुलदेव हैं। नरसिंहको पटऊ-पटका (खद्दरका कपड़ा) ढूँढी साठीकी (षष्ठिका चावलका लड्डू) और हनूमानजीको रोट....। और गोरियाडीहकी पूजा होती है,....छवना (सुअरका बच्चा) भी चढ़ाते हैं।" निश्चय ही कनैला (मेरे पितृग्राम)की इस पूजामें मलकवीरकी पूजा मौजूद है। कनैला वाले भी अनन्तके व्रत और धागेका उपयोग नहीं करते।

मलकवीरकी पूजा, बड़े परिवारोंमें छूतकके कारण कभी-कभी कई सालोंकी इकट्ठी पड़ती है। पूजाके दिनसे कुछ रोज पहिले चावलका कोहबर (दीवारपर चित्रण) लिखा जाता है, जिसमें "जिवता-जिवती" (अनेक मुंडवाले स्त्री-पुरुष) का चित्र होता है। बलि श्रावण शुक्ला सप्तमीके बाद वाले मंगलको होती है। एक-एक बलिके लिये दो-दो जौकी पूरियाँ (पूड़ी नहीं, दाल वाले परोठे) बनाकर देहलीके बाहर जोड़े-जोड़े सजाई जाती हैं। वहीं छौनेको काट दिया जाता है। खूनको दरवाजेकी बगलमें धरतीमें गाड़ दिया जाता है। इस प्रकार सुअर मलाँवके सांकृत्य वंशजोंका टोटम् और बलि पदार्थ दोनों है।

मलाँव और नाउरदेउरमें एक और भी प्रथा है, यज्ञोपवीत होनेसे पहिले दिन बालकको कुर्मीके घर कच्ची रसोई खानी पड़ती है।

---
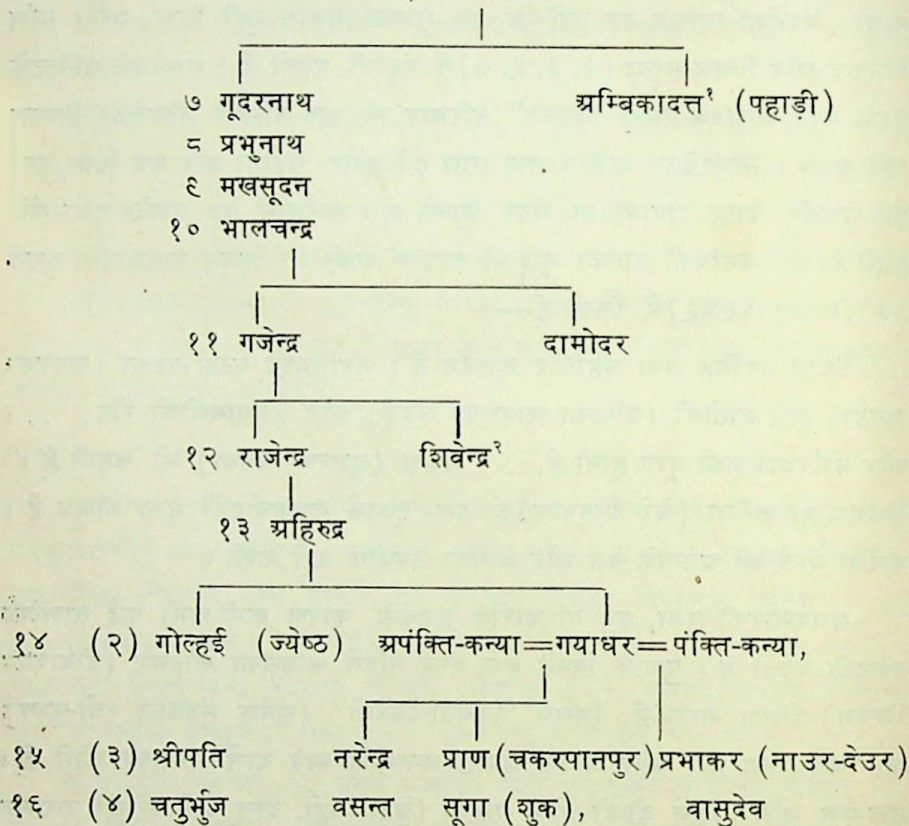
[1] पंडित रामनाथ पांडे (भ्योरा) द्वारा प्रकाशित वंशवृक्षमें यहाँ तारादत्त और अम्बिकादत्तको गूदरनाथका पुत्र लिखा है, हमने यहाँ नाउर-देउर (श्री ज्वालाप्रसाद पांडे)के वंशवृक्षको प्रमाण माना है।

[2] सुनेन्द्र--पंडित रामनाथके वंशवृक्षमें।

१७	(५) जयराम		हरिराम	भोजू		हेमानंद
१८	(६) जीवनराम		विहारी	इजहार		शिवदास
१९	(७) यज्ञमणि		कुलपति	इच्छा (कनैला)		रघुनाथ
२०	(८) लोचनराम	रघुनाथ	घनश्याम	रामहित	गौरीदत्त	विष्णुदत्त
२१	(९) हरिलाल	शिवनाथ	देवीदत्त	रामसहाय	गंगादत्त	गुरुप्रसाद
२२	(१०) विश्वेश्वर	हितराम	रामप्रसाद	गोपाल	जयगोपाल	यदुनाथ
२३	(११) जगतराम	अयोध्याप्रसाद	हर्षलाल	जानकी	कुमारदत्त	चन्द्रभूषण
२४	(१२) घासीराम	रामसेवक	नन्द	गोवर्धन	मुंजेश्वर प्रसाद	शूरसेनप (सुरेश) (७ वर्ष)
२५	(१३) रमणराम	बलिराम	सूर्यनारायण*	राहुल	वलभद्र	
२६	(१४) दूधनाथ	सत्यनारायण	शिवपूजन	इगोर	रमापति (७ वर्ष)	
२७	(१५) विश्वेश्वर	जगदीशनारायण	शैलेन्द्र			
२८	(१६) मुना	शशविन्दु (बालक)	शरत्कुमार (५ वर्ष)			
२९	(१७) रूपनारायण					
३०	(१८) रामचन्द्र					

* पंडित सूर्यनारायणके तीन पुत्र हुये मधुसूदन, शिवपूजन, दीपनारायण। श्री दीपनारायणके दो तरुण पुत्र हैं—दिनेशकुमार और नगेन्द्रकुमार।

चक्रपाणिसे आजतक अधिकसे अधिक ३० और कमसे कम २४ पीढ़ियाँ बीती हैं। संकृतिके कालके बारेमें लिखते हुये हमने प्रति पीढ़ी २० साल समय रखा था, जो राजवंशोंके संबंधमें पुत्रके अतिरिक्त दूसरेके भी उत्तराधिकारी होनेसे कुछ पीढ़ियोंका बढ़ना संभव होनेके कारण ठीक है। किंतु चक्रपाणिके बारेमें पीढ़ियाँ निश्चित हैं। स्वयं मलाँवकी एक पाँच पीढ़ीका काल हमें मालूम है। अवधके नवाब शुजाउद्दौलाके समय गोरखपुरके चकलेदार श्री अयोध्याप्रसाद पांडेकी जन्मकुंडली उनके प्रप्रपौत्र श्री जगदीशनारायणके यहाँ है। उसमें उनका जन्मदिन "विक्रमादित्यस्य राज्याद् गतसमाः ॥१८११. . .शालिवाहनस्य भूपतेर्गताः शकाब्दाः ॥१६७६. . . .वैशाषमासे शुक्लपक्षैकादश्यां भृगुवासरे घटीपले ३॥१८ उत्तराफाल्गुनी नक्षत्रे घटचादिः ॥२६॥३०" लिखा है। उनके प्रप्रपौत्र श्री जगदीशनारायणका जन्म संवत् १९५०का है। अर्थात्

१. अयोध्याप्रसाद जन्म संवत् १८११ (१७५४ ई०)
२. रामसेवक ४. सत्यनारायण सेवक
३. वलिरामसेवक ५. जगदीशनारायणसेवक १९५० (१८९३)

इस प्रकार पाँच पीढ़ियोंमें १३९ वर्ष हुये। अर्थात् प्रत्येक पीढ़ीमें २७.८ वर्ष। डाक्टर सीतानाथ प्रधानने अपने ग्रंथमें[1] छै भारतीय वंशोंका अलग-अलग औसत २६से २९.८ वर्ष तक दिया है। इनमें भट्टनारायणसे राम समाद्दार तककी २० पीढ़ियोंके लिये ५२० वर्ष है, अर्थात् प्रति पीढ़ी २६ वर्ष। ऊपर दिये पाँच उदाहरणोंमें शूरसेनप (७ वर्ष १९३९)से अहिरुद्रतक १२ पीढ़ियाँ हैं, रामचन्द्रसे वहाँ तक १८ पीढ़ियाँ होती हैं। इस प्रकार—

इच्छा पांडे (कनैला) इगोरसे	८×२६=२०८ साल	१७३१ ई०
प्राण पांडे (चकरपानपुर) इगोरसे	१२×२६=३१२ साल	१६२७ ई०
प्रभाकर पांडे (नाउर-देउर) सुरेशसे	१२×२६=३१२ साल	१६२७ ई०
अहिरुद्र पांडे (मलाँव)	१४×२६=३६४ साल	१५७५ ई०
चक्रपाणि (मलाँव) शरत्कुमारसे	२८×२६=७२८ साल	१२११ ई०

चक्रपाणि गहडवार राजवंशके अंतिम समयमें मौजूद थे। संभव है वह गहडवार राजवंश द्वारा सरयूपारीणोंके पंक्तिबद्ध किये जाते समय मलाँवके प्रतिनिधि हों (यदि यह पंक्तिबंधन जनश्रुतिके अनुसार महाराज जयचंदकी[2] संरक्षतामें हुआ) और

---

[1] Chronology of Ancient India pp. 170-74
[2] **चन्द्रदेवके महादानसे पंक्तिबद्धता १०९३ ई०के आसपासकी हो सकती है।**

शायद इसीलिए ग्राज उनकी इतनी ख्याति सुननेमें ग्राती है।

इस प्रकार मलाँव-हत्याकाण्ड १५७५ ई०के ग्रासपास हुग्रा प्रतीत होता है।

ग्रहिरुद्रकी सन्तान--

गोल्हई पांडे (ज्येष्ठ-पुत्र १६०० ई०)--ग्रहिरुद्रके दो पुत्रों गोल्हई ग्रौर गयाधरमें गोल्हई ज्येष्ठ थे। पिताकी भाँति यह भी ग्रधिक शिक्षित नहीं मालूम देते। उनकी सन्तानने ग्रागे भी चलकर धन ग्रौर विद्यामें ग्रधिक उन्नति नहीं की।

गयाधर पांडे--यह छोटे पुत्र थे। पंक्ति-नियमानुसार गयाधरका व्याह पंक्ति-कन्यासे हुग्रा था, जिससे इनके एक पुत्र प्रभाकर हुये। यह नाम बतलाता है कि गयाधर ग्रपने पितासे कुछ ग्रधिक शिक्षित ग्रौर संस्कृत थे। एकबार वह जलोदर रोगसे ग्रस्त हुये। बहुत दवादारू की गई किन्तु कोई फायदा नहीं हुग्रा। मीठाबेलके कौशिक दूबे वैद्यने कहा कि यदि ग्राप मेरी कन्यासे व्याह कर लें, तो मैं ग्रापके रोगको ग्रच्छा कर दूँगा। "पंक्ति" टूटनेके डरसे पहिले गयाधरने इन्कार कर दिया। रोग ग्रसाध्य होते देख उन्होंने काशी जाना तै किया; किन्तु ग्रभी काशीमें मरकर मुक्ति प्राप्त करनेसे ग्रधिक उन्हें इसी दुनियाँमें जीनेकी लालसा थी। फलतः मलाँवसे निकलकर वह काशीकी ग्रोर न जा मीठाबेल पहुँचे। वैद्य पंक्ति दामाद पानेके बड़े इच्छुक थे। उन्होंने कन्याको व्याह दिया ग्रौर गयाधर पंडित उनकी चिकित्सासे स्वस्थ भी हो गये। उसी कन्यासे उन्हें एक पुत्र नरेन्द्र उत्पन्न हुग्रा। मलाँवमें दायभागकी ग्राशा न देख नानाने नातीके लिये एक गाँव दे दिया, जिसका नाम उसीके नामपर नरेन्द्रपुर पड़ा। गयाधर पंडित पीछे वहाँसे काशी चले गये।

गयाधर कनैलावालोंके पूर्वज--मलाँवकी इस शाखाके बारेमें रामधारीने ग्रपने पत्रमें जनश्रुतिको इस प्रकार लिखा है--

"सुना जाता है पंडित चक्रपाणि (?) जी मलाँवसे **काशी** विद्याध्ययनके निमित्त गये। उनके साथ एक नाई ग्रौर (एक) बारी भी सेवार्थ गये थे। वहाँसे लौटते समय जाठी...ग्राममें ठहरे।...वहाँ एक भूमिहारके यहाँ व्रतबंध हो रहा था।...ये भी पहुँचे।...वहाँसे दुर्गा पंडितके यहाँ ग्राये। यहीं उनकी पंडित दुर्गाजीकी लड़कीसे शादी हुई। उस...से ५ लड़के हुये, जो इस समय रानीपुर, बडौरा, टाडी, दिलमनपुर, डीहा, जलालपुर इत्यादिमें फैले हैं।...पहिली शादीसे जो मलाँवमें (रहते) हुई थी, **उनसे दो लड़के हुये** थे जो वहीं रह गये थे। ग्रौर जब वह (मलाँववाली स्त्री) चकरपानपुर ग्राईं तो उनसे पाँच लड़के हुये।...इन लड़कोंसे चकरपानपुर, कनैला, एकौना बसा है। चकरपानपुरसे हिच्छा (इच्छा) पांडे कनैलामें ग्राकर बसे।"

यह बात रामधारीने (नवंबर १९३९में) कनैलासे मलाँवकी परंपराका कुछ भी ज्ञान न रखते लिखी है। दोनों जगहोंकी परम्पराओंको मिलानेसे मालूम होता है, कि कनैलावालोंने चकरपानपुर (चक्रपाणिपुर) नामसे भ्रममें पड़कर गयाधर पांडेकी जगह बहुत पहिलेके पूर्वजके नामको रख दिया। शूकर-बलि, अनन्त चतुर्दशीका वर्जन, तथा अबतककी बीती पीढ़ियोंके साथ-साथ जब गयाधर पंडितके मीठाबेलसे काशी-प्रस्थान, मलाँवमें उनकी दो सन्तानें आदिपर विचार करते हैं; तो सन्देह नहीं रह जाता, कि कनैलामें जिन्हें चक्रपाणि कहा गया, वह चक्रपाणि-वंशज गयाधर पांडे ही थे। दुर्गा पंडित आजमगढ़ जिलेके इस सुदूर दक्षिणीभागके रहनेवाले थे, इसलिए उनकी कन्या उस सन्मानका पात्र नहीं हो सकती थी, जैसी कि, सरयू-पारवाली, चाहे वह मीठाबेलके अपंक्ति कौशिक दूबेकी ही कन्या क्यों न हो? मलाँवकी परंपरासे मालूम होता है, गयाधर पांडे काफी प्रौढ़ हो चुके थे, जब कि वह प्रभाकरको मलाँवमें छोड़ वहाँसे रवाना हुए, उस समय उनकी मीठाबेल वाली स्त्री अभी अल्पवयस्का रही होंगी, इस प्रकार गयाधरकी प्राण आदि सन्तानें प्रभाकरकी मातासे न होकर इन्हींसे हुई मालूम होती हैं।

सरयूपार वाली स्त्रीकी सन्तान होनेके कारण चकरपानपुर-कनैला वाले अपनेको दूसरोंकी अपेक्षा अधिक कुलीन मानते हैं, बल्कि कई पीढ़ियोंतक तो वे अपनी कन्यायोंका विवाह सरयूपार गोरखपुर जिलेमें ही किया करते थे, यह बात अब भी कुछ परिवारोंमें देखी जाती है।

गयाधरकी छठी पीढ़ीमें इच्छा पांडे हुये। जब वह चकरपानपुर छोड़कर कनैला आये, तो उस वक्त वह एक उजाड़ गाँव था। कनैलाके पुराने पोखरे, जगह-जगह निकल पड़ने वाले कुयें, पुराना कोट और उसके सैय्यद, तथा "बड़ी" पोखरमें एक जगह प्राप्त होने वाली सील-सी बड़ी-बड़ी ईंटें, कनैलाको एक पुराना स्थान बतलाती हैं; इच्छा पांडेके वक्तमें कनैलामें कुछ बस्ती चूड़ीवालों और भरोंकी ज़रूर थी, जिनकी सन्तान अब भी वहाँ मौजूद है। इच्छा पांडे पंडित न थे, और जहाँ तक मैंने सुना है, उनके वंशमें सरस्वतीकी ओर मुँह करनेका अपराध सबसे पहिले मैंने ही किया। १७३०के आस-पास—जब कि शेरशाहसे औरंगज़ेब तकके दृढ़ शासनके विशृंखलित होनेके कारण चारों ओर देशमें अशान्तिका दौरदौरा था—के लिये, इच्छा पांडे अनुकूल व्यक्ति थे। उन्होंने कनैलाको दखलकर वहाँ अपना कच्चा कोट बनाया (चकरपानपुरका अपना हिस्सा भी नहीं छोड़ा, उनके वंशज आजभी चकरपानपुर-कनैलाके ज़मींदार-किसान हैं)।

विदथी, संकृति, रन्तिदेवसे चला आता "क्षत्रोपेतत्व" मलाँवसे कनैला भी पहुँचा था, और कनैलामें अब भी बेलहाके वैसों तथा भदयाके ठाकुरोंसे लोहा लेनेकी कितनी ही कहानियाँ मशहूर हैं। बचपनसे अपने वंशके बारेमें मैंने सिर्फ विश्वेश्वर पांडे, रामेश्वर पांडेकी लाठियोंका ही चमत्कार सुना। ऐसी परिस्थितिमें कनैलाके जवानोंकी बलमें विशेषता रखना स्वाभाविक बात थी। कनैलाका वंशवृक्ष इस प्रकार है—
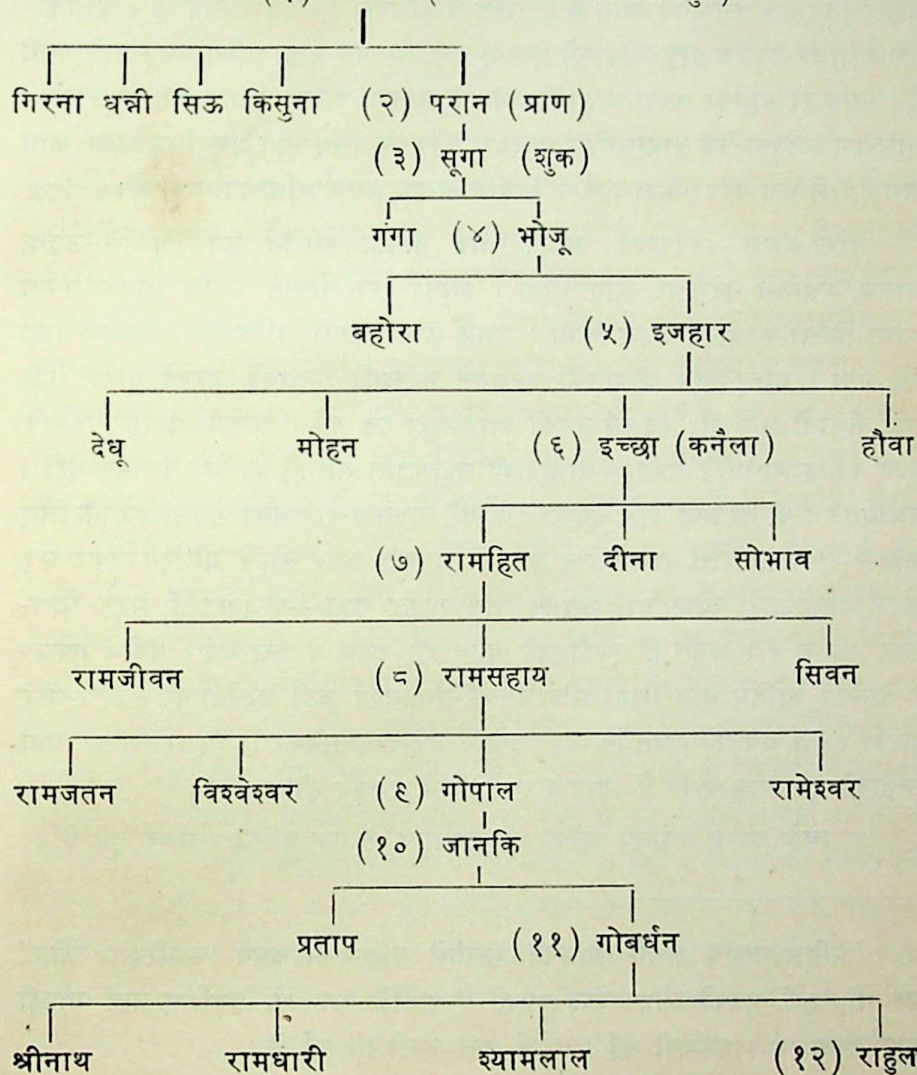
प्रभाकर-वंशज (नाउर-देउर)––मलाँव पर ज्येष्ठ पुत्र गोल्हई पांडेकी सन्तान (आधुनिक पश्चिमपट्टी, पहिलेकी पूर्वपट्टी[1])का अधिकार हुआ। गोल्हईकी सातवीं पीढ़ी वाले रोपन पांडे तक पंक्ति रही। नरेन्द्र अपंक्ति-कन्याके पुत्र थे, इसलिए पंक्तिसे परित्यक्त समझे गये; किन्तु प्रभाकर-वंश अभी भी पंक्ति या अर्धपंक्तिमें हैं। सरयूपारीण पंक्ति ब्राह्मणोंकी संख्या घटते-घटते अब कुछ हजार घर रह गई है। पंक्तिलोग अपने ही भीतर शादी-ब्याह करते हैं, पंक्ति-भिन्न ब्राह्मणसे ब्याह करनेपर त्रुटित (टुटहा) कर दिये जाते हैं। पंक्ति ब्राह्मणोंका सन्मान अधिक है। प्रभाकर-वंशज नाउर-देउरके सांकृत्योंका ही ऐसा कुल है, जिसकी कन्या पंक्तियोंमें ब्याही जाती है। ब्याह हो जानेपर कन्या माता-पिताके भी हाथकी कच्ची रसोंई नहीं खा सकती। साधारण सरयूपारीण ब्राह्मणोंसे रक्तसंबंध जोड़नेके लिए यही वंश खिड़कीका काम देता है। लेकिन नाउर-देउरवाले पंक्तियोंसे कन्या पानेके अधिकारी नहीं हैं।

नरेन्द्र-वंशज––नरेन्द्रकी मृत्युके बाद ननिहालवालोंने उनके पुत्रों––उद्धव, माधव, वसन्तसे नरेन्द्रपुर छीन लिया। इसपर उन लोगोंने मलाँव आकर अपना आधा हिस्सा जबर्दस्ती दखल किया। इसके कारण दोनों परिवारोंमें वैमनस्य बहुत बढ़ गया। गोल्हई-पुत्र श्रीपतिकी सन्तानने नरेन्द्रकी सन्तानके जन्मके बारेमें झूठी बातें फैलानी शुरू कीं; जिससे उनकी ब्याहशादी रुक गई। अन्तमें श्रीनगर-राज्यके पूज्य (सांकृत्यगोत्री) सरयाके तिवारीकी सहायतासे सोलहों कुलोंकी पंचायत बैठी। पंचायतने दोनों तरफकी बातें सुनकर "दिव्य" साक्षी द्वारा इसका फैसला करनेके लिए कहा––पीपलका पत्ता हाथमें रख उस पर दहकते लाल लोहेके गोलेको लेकर २१ कदम जाना था। ज्येष्ठ भाई उद्धवने आगे बढ़कर कहा––मैं ज्येष्ठ हूँ, मेरा अधिकार पहिला है। कहते हैं एक्कीसकी जगह ४२ कदम वे चले गये। पंचोंने नरेन्द्र-सन्तानको जातिमें मान लिया और गोल्हई-सन्तानकी बड़ी भर्त्सना की। धीरे-धीरे इनका इतना अवसाद हुआ, कि जहाँ उन्होंने नरेन्द्र-सन्तानका विवाह रोका था, वहाँ उन्हींको प्रतापगढ़ आदि में ब्याह करनेके लिये मजबूर होना पड़ा।

माधवके वंशज नेत्रानंद अमेठी (सुल्तानपुर)के एक प्रसिद्ध तांत्रिक हुये थे।

---

[1] पहिले मलाँव वस्ती आजकी वस्तीसे दक्षिण-पश्चिममें अवस्थित "डीह" पर थी, वहाँ पूर्वकी ओर ज्येष्ठ पुत्रकी सन्तानोंके घर थे, इसलिए उन्हें पूर्वपट्टी कहा जाता था। आजकी नई वस्तीमें बात उल्टी हो गई है।

वसंतके पौत्र बिहारी बड़े उदार थे, एक बार मालगुजारीके दो सौ रुपये बाकी पड़ गये। पूर्वजोंकी जमीन छिनी जाती थी। उनके पुत्र कुलपति बनारसमें अपनी धनाढ्य ससुराल गये। वहाँ बर्तन-भाड़ेके अतिरिक्त उन्हें दो सौ रुपये मिले। घर लौटते, शामको नैनीजोर (जिला आजमगढ़)में ठहरे। वहाँके भूस्वामीको प्रतिदिन २०० रुपया हाथखर्च के लिये चाहिये था। राज्यके कर्मचारी उस दिन उतना रुपया वसूल नहीं कर पाये थे। कुलपति पांडेने कर्मचारियोंको भयत्रस्त देख अपने दो सौ रुपये दे दिये। बर्तन-भाड़ा लिवाये जब वे सबेरेके वक्त मलाँव पहुँचे, तो बिहारी पांडे दातौन लिये बैठे दिखाई दिये। बोले––भले समय आ गये, लोटा एक गरीबको दे दिया, बर्तन लाओ दातौन तो करें।

उन्हें जब पुत्रकी उदारताका पता लगा, तो रुष्ट न होकर और प्रसन्न हो बोले–– दूसरेकी इज्जत बचाना धर्म है। इधर नैनीजोरमें सबेरे जब लोगोंने कुलपतिको ढूँढ़ा, तो वह तड़के ही बिदा हो चुके थे। उनके स्वामीने सातवे दिन दो सौ उधारके अतिरिक्त पाँच सौ रुपये बिदाईके भी कुलपतिके पास भेजे। यहींसे कुलपतिके वंशकी समृद्धि शुरू होती है। १७०० ई० के आसपास पाँचसौ रुपयोंका बहुत मूल्य था। कुलपतिने अपने पुत्र योगमणिको राजविद्या पढ़ाई, और वह पढ़ते-पढ़ते अपने समयके गोरखपुर-जिलेके सबसे बड़े राज्य रुद्रपुर (सतासी)के दीवान हो गये। नदुआ, कटया, धनसडी, देवकली गाँव उनकी मिल्कियत हुए। योगमणिकी सन्तानमें कोई वैसा योग्य न था, इसलिए उनके भतीजे मनसाराम (घनश्यामके पुत्र) रुद्रपुरके दीवान बने। मनसारामके वक्त रुद्रपुरके राजा अस्सी सालसे अधिकके हो चुके थे। उनके ज्येष्ठ पुत्र लाल साहब उक्ता गये। उन्होंने बिंबिसारके पुत्र अजातशत्रुकी भाँति पिताके खिलाफ बगावतका झंडा खड़ा किया। कहते हैं, यह पिता-पुत्रका झगड़ा बढ़ते-बढ़ते रुद्रपुरके सतासी कोसके राज्यके प्रत्येक घरमें फैल गया। हर घरमें पिता राजाका पक्ष लेता और पुत्र तरुण लालसाहेबका। लालके सातसौ सिपाहियोंने एक दिन मनसारामको घेर लिया, और लाल न पहुँच गये होते, तो शायद उनकी जान न बचती। मनसाराम राजाको समझाते रहे, और अन्तमें राजाने पुत्रको गद्दी देना स्वीकार किया। इस खुशीमें बाप-बेटे दोनोंने मनसारामको ५२ गाँवोंकी माफी देनी चाही। मनसारामने यह कहकर उसे लेनेसे इन्कार कर दिया––यदि हर दीवानको इस तरह गाँव दान दिये जाते रहे, तो चार पीढ़ीमें राज्यके पास रहेगा ही क्या? बहुत आग्रह करने पर उन्होंने नौआ-डुमरी, गोधवल, जद्दूपुर, तरवा और बघमौआ-पुरसौली गाँव स्वीकार किये। कुरुक्षेत्रमें ग्रहणके वक्त बूढ़े राजाने विरैचा तप्पा मनसारामको

दान करना चाहा, जो उनके इन्कार करनेपर सोहगौराके तिवारी लोगोंको मिला।

गोरखपुर जिला उस समय नवाब-वजीर अवधके राज्यमें था। उसकी चकलेदारी (जिलेके प्रधान अधिकारीके पद)के लिए एक लाख रुपये नकदकी जमानत देनी पड़ती थी। मनसाराम बढ़ते-बढ़ते गोरखपुरके चकलेदार हो गये। शोभामणि उपाध्याय (पिपरा, तहसील हाटा) उनके कारपर्दाज थे। मालगुजारी जमा करने वे ही लखनऊ जाते थे। वे रुपयोंको अपने नाम जमा कराते गये और बाकी मनसारामकी चकलेदारीके नाम गिरती गई। लाख रुपये बाकी लग जानेपर चकलेदारी छिन गई, मनसाराम पकड़कर लखनऊ ले जाये गये। कुछ दिनों तक मार पड़ती रही। उनके भाई भवानीदत्त इधर रुपये इकट्ठे कर रहे थे। इसी बीच मनसारामको हुक्म हुआ कि यदि सप्ताहके भीतर रुपये नहीं आये, तो तुम्हें गायकी ताजी खाल ओढ़नी पड़ेगी। मनसारामने रातको जहर खाकर अवधिसे दो दिन पहिले ही शरीर छोड़ दिया। भवानीदत्त रुपया लिवाये बाराबंकी पहुँचे, तो भाईके निधनकी खबर लगी, अफसोसके मारे वे वहीं मर गये, रुपये जिसको जहाँ मिले उसने लूट लिये।

मनसारामके रुपयोंको अपने नामसे जमा कर शोभामणि उपाध्याय स्वयं चकलेदार बन गये। एक लाखके बकायेके बदलेमें नवाबने यह कहकर लखनऊसे सैनिक भेजे कि मनसारामके घरसे डोला (स्त्री) निकाल लाओ। मनसारामके चचाके प्रपौत्र अयोध्याप्रसाद[1] और त्रिभुवनदत्तके लिए यह असह्य बात थी। उन्होंने घरकी स्त्रियोंको रिश्तेदारियोंमें भेज दिया। मनसारामके चारों भाई मर चुके थे। अब उनके भतीजे रामप्रसाद और फर्यादीके बच्चे बच रहे थे। अयोध्याप्रसाद-त्रिभुवनदत्तने अपने आपको लाख रुपयोंका देनदार कह फौजको अर्पण कर दिया। दोनों भाइयोंको पकड़कर लखनऊ ले गये। उनपर बाँसके फट्टोंकी मार पड़ती थी, तो भी उनको संतोष था, कि उन्होंने कुलकी लज्जा रखनेमें सफलता पाई। अमेठीके नेत्रानंदके वंशज एक ज्योतिषी—जिन्हें गोसाईं बाबाके नामसे लोग स्मरण करते थे—को अपने वंशके इन दो तरुणोंकी दुःखगाथाका पता लगा। वे नवाबके दरबारमें गये। ज्योतिषका कोई चमत्कार दिखलाया। नवाब बहुत प्रसन्न हुये। गोसाईं बाबाने अपने वंशके इन दोनों

---

[1] **जन्म, वैशाख शुक्ल एकादसी भृगुवासर १८११ संवत् (अयोध्याप्रसादकी जन्मपत्री, श्री जगदीश नारायणके पास है)**

तरुणोंकी मुक्तिकी भिक्षा माँगी। नवाबके शिरदर्द होनेपर पाँच कैदियोंके छोड़े जानेका नियम था। जिसीके उपलक्षमें नौग्रा-डुमरीके रहने वाले नवाबके प्रधान खवासकी चतुराईसे अयोध्याप्रसाद दोनों भाई पहिले ही छोड़ दिये गये थे। इसपर नवाबने जब फिर कुछ देनेके लिए आग्रह किया, तो गोसाईं बाबाने सिर्फ़ इतना ही माँगा कि बागोंके ऊपर मालगुजारी न लगे। नहीं मालूम यह वरदान सारे अवध राज्यके लिए था, या सिर्फ़ गोरखपुर जिलेके लिये। गोसाईं बाबाको नवाबने अपने बागके आम भेजे थे। उनमेंसे कुछ अयोध्याप्रसाद-त्रिभुवनदत्तको भी मिले। उन्होंने खाकर गुठली रोप दी।

अयोध्याप्रसाद दोनों भाई उस तरह श्रीहीन वैभवहीन हो मलाँव नहीं लौटना चाहते थे और वे वहीं लखनऊमें पड़े रहे। उनके खाये आमकी गुठलीके वृक्षने फल दिया। उन्होंने नवाबके पास उसकी डाली लगाई। नवाबको भ्रम हुआ, कि आम उनके बागकी चोरीके हैं, क्योंकि वैसे आम और दूसरे बागीचेमें नहीं थे। दोनों भाई पकड़ मँगाये गये। पूछनेपर पता लगा कि वे उतने दिनोंसे लखनऊ हीमें पड़े हैं, और भिखारी बनकर मलाँव लौटना नहीं चाहते। इसपर नवाबने १२ सौ रुपये मालगुजारी लगनेकी जमीनका माफीनामा लिखकर दे दिया। कहते हैं अयोध्याप्रसादने उसपर एक शून्य और लगवाकर १२ हजार करवा लिया, जिसमें ३६ हजार बीघा जमीन मिली। इसी माफी में अमियार आदि गाँव शामिल हैं।

शोभामणि उपाध्याय चकलेदारके अत्याचारोंसे लोग तंग आये हुये थे। ब्राह्मणों और राजपूतोंकी एक गुप्त सभा इसपर विचार करनेके लिये बैठी। सलाह हुई कि शोभाका काम तमाम किये बिना लोगोंका उद्धार नहीं हो सकता। खुटहनाके सूर्यवंशी क्षत्रिय वीरेन्द्र सिंहने शोभाके वध करनेका जिम्मा इस शर्तपर लेना स्वीकार किया, कि उन्हें ब्रह्महत्याका दोष न लगे। ब्राह्मणोंने उसकी जिम्मेवारी अपने ऊपर ली। वीरेन्द्र रातके वक्त शोभामणिके पुत्र वेनीदत्तके रूपमें महलमें घुसा। शत्रुको जगाया। शोभाने कहा—"मैं तुम्हारी गाय हूँ।" "मैं तुम्हारा बाघ हूँ"—वीरेन्द्रने जवाब दिया, और शिर काटकर ब्राह्मणोंकी सभाके सामने उपस्थित किया। सभी ब्राह्मणोंने वीरेन्द्रसिंहके हाथसे चना लेकर खाया और उन्हें ब्रह्महत्याके महापातकसे मुक्त कर दिया।

अयोध्याप्रसाद-त्रिभुवनदत्त फिर रुद्रपुरके दीवान बने और उन्हें "शाहआलम बादशाह ग़ाज़ी (के) जंगयार वफ़ादार सिपहसालार रुस्तमेजंग शुजाउद्दौला यहिया

खाँ आसफ़ुद्दौला....११९५ (हिजरीमें)....एतमादुद्दौला आसफजाह, मदारुल्महाम, वजीरुल्मालिक"[1]ने गोरखपुरकी चकलेदारी दी। रुद्रपुरके महाराज पहलवान सिंह उन्हें बहुत मानते थे। कितने ही दरबारी पांडे-बन्धुओंसे बड़ी डाह करते थे। उन्होंने षड्यन्त्र रचा, और राजाके दीवानको बेलीपार, कौडीराम, धसका, कर्णपुरा, दाढा, कोनो, सेमरौना, भिसवाके गाँव दिलवा दिये। इनमें बेलीपार, कौडीरामके गाँव पहिले हीसे रुद्रपुरके वंशज पांडेपारके बाबूको "खोरिश" (जीविका)में मिले थे। उन्होंने दीवानसे अपनी जीविकाके इन गावोंको छोड़ देनेके लिए बड़ी मिन्नत की, किन्तु दीवान साहबने उसपर कुछ भी ध्यान न दे जबर्दस्ती गावोंको दखल कर लिया। जीविका चली जानेपर जीवन रखना भार है, यह समझ पांडेपारके बाबूने भी जानपर खेलनेकी प्रतिज्ञा की। अयोध्याप्रसाद और त्रिभुवनदत्तका आपसमें असाधारण प्रेम था। दोनों भाई एक दूसरेसे अलग नहीं रहते थे। नवाबसे फर्मान लेते वक़्त तक भी अयोध्याप्रसादने उसमें त्रिभुवनदत्तका नाम रखवाना ज़रूरी समझा था। दोनों एक चारपाईपर सोते थे। पांडेपारके बाबू ताकमें लगे हुये थे और एक दिन गोरखपुरमें अपने मकानमें एक चारपाईपर जब दोनों भाई सोये हुये थे, उसी समय आकर रातको उन्होंने दोनोंको काट दिया।

अयोध्याप्रसाद-त्रिभुवनदत्तने सरकारी कागजोंमें मलाँवको अपने नाम लिखाया था। पूछनेपर कहा था——कागजमें नाम न रहनेसे घबराना नहीं चाहिये, मलाँव जैसे हमें "माफी" मिला है, वैसे ही वह हमारी तरफसे भाइयोंको माफी रहेगा।

अयोध्याप्रसाद-त्रिभुवनदत्त मर गये। लखनऊके नवाबका राज्य भी उठ गया। ईस्ट इंडिया कम्पनीने राज संभाला। बन्दोबस्त होनेको आया। कम्पनीकी सरकार मलाँवपर मालगुजारी बैठाने लगी। रामसेवकने बड़ी कोशिश-पैरवी की। ५०० रुपये और १० घड़े घी लेकर माफी लिख देनेके लिये बन्दोबस्तका बड़ा अफसर तैयार था। रामसेवकने चचेरे भाई हरिसेवक (त्रिभुवनदत्तके पुत्र)को कहा। उनकी समझ हमेशा ही उल्टी रहती थी। उन्होंने इन्कार कर दिया। माफी टूट गई। मलाँवपर मालगुजारी लग गई।

---

[1] **दीवान अयोध्याप्रसाद पांडेके प्रपौत्र श्री जगदीश नारायण सेवकके यहाँ मौजूद शाबान ११९८ हिजरीमें लिखित नवाबी फरमान।**

अब भी मलाँव अयोध्याप्रसाद त्रिभुवनदत्तके लड़कोंके नाम रहा। गाँववाले पांडे लोग अपने हिस्सेके मुताबिक जमीनको मुफ़्त जोतते थे। हरिसेवकने दुबौलीके भूमिहार ब्राह्मण सुबुद्धरायसे ५००० रुपये कर्ज लिये। हरिसेवककी वही रफ़्तार बेढंगी रही, वह कर्ज क्यों अदा करने लगे? सुबुद्धरायने इच्छा प्रकट की कि यदि पांडेजी आकर मुझे गुरुमंत्र दे दें, तो रुपये उन्हें भेंट चढ़ा दूँगा। हरिसेवक नहीं गये। सुबुद्धराय बीमार पड़े, बोले——यदि पांडेजी आकर दर्शन दे जाते, तो मैं रुपये छोड़ देता। हरिसेवक फिर भी नहीं गये। सुबुद्धराय मरते वक्त कह गये——यदि मरनेके बाद पांडेजी पुछारीके लिए आवें, तो कर्ज छोड़ देना, नहीं तो नालिश करके वसूल करना। हरिसेवक अब भी नहीं गये।

महाजनने नालिश करके हरिसेवकका आधा हिस्सा नीलाम करवाया। कटया वाले श्री उग्रदत्त भैरवदत्त (दीवान योगमणि पांडेके वंशजों)ने पूर्वजोंकी भूमि समझ उसे खरीद लिया। गाँवके और लोग न लड़ सके, रामलाल, मथुरा पांडेने आगरा हाईकोर्ट तक लड़ाई की, और अदालतसे उनको अपना हिस्सा मिल गया। उन्होंने अपना आधा हिस्सा कटयावालोंको देकर आधा अपने नाम लिखवाया।

कुलपति पांडेके दूसरे पुत्र घनश्यामके प्रप्रपौत्र नन्द पांडे बड़े अध्यवसायी व्यक्ति थे। उन्होंने एक बहुत भारी जंगल खरीदा। उनके पुत्र श्री सूर्यनारायणने ऐश्वर्यको और बढ़ाया, और कटयावालोंके खरीदे हिस्सेको लौटा लिया।

१६वीं सदीके उत्तरार्द्धके अहिरुद्र पांडेकी सन्तान आज मलाँवमें ही सौ घरसे अधिक नहीं हो गई है, बल्कि वह बहुत दूर तक फैल गई है। बैकुंठपुर (देवरिया), पकर्डियार, फर्दहा, डांगीपार, भिलौरा, नाउरदेउर, कटया, नउआ, नदुआ, कसियार, रुद्रपुर आदि गाँव गोरखपुर जिलेमें ही हैं, जहाँ मलाँवके सांकृत्य वंशज बसते हैं। आजमगढ़में विक्रमपुर (घोसी), चकरपानपुर, कनैला, बड़ौरा, टाड़ी, दिलमनपुर, डीहा, जलालपुर आदि गाँवोंमें वे पाये जाते हैं। पतुलकी और वृन्दावन (प्रयाग); विजयमऊ (प्रतापगढ़), मथुरा शहर और कितने ही और स्थान हैं, जहाँ अहिरुद्र पांडेके वंशज आज रहते हैं। पहाड़ी (प्रयाग) आदिमें पहिलेवाली परम्पराके बहुतसे घर है।[1]

---

[1] सांकृत्यगोत्री चौबे भौंआपार, नगवा, उनवली, देउगर, सरसैया, तेलिया-डीह आदिमें रहते हैं और इस गोत्रके तिवारी वारीडीह, विसुहिया, नयपुरा, सरयामें

३. रामशरण पाठक[1] (नाना)

औरंगजेबकी मृत्युके साथ मुसलमानोंके प्रभुत्वका पतन आरंभ हुआ, लेकिन वही समय है, जब कि मुगलोंके दृढ़ शासनके फलस्वरूप बढ़ी हुई जन-संख्याने नये-नये गाँवों और बस्तियोंको बसाना शुरू किया। पाठकजीके पूर्वज इसी प्रकार १८वीं शताब्दीके प्रथम पादमें पंदहा गाँवमें आकर बस गये। उस समय पंदहाके आसपास घना जंगल था, जिसमें भेड़िये बहुतायतसे रहा करते थे। पश्चिम ओर छोटे द्वीप वाली एक पुरातन विशाल पोखरी थी। इसका महामाई नाम शायद पाठकके पूर्वजों ने स्वयं रक्खा था। इसी पोखरीके पश्चिम तटपर बसई नामका छोटा गाँव था, जिसमें खानदानी सैयद, कारीगर, जुलाहे, साग-भाजियाँ पैदा करनेवाले मेहनती कोयरी लोग निवास करते थे। यहाँकी अनेक ईंट-चूनेकी क़ब्रोंसे प्रकट होता था, कि कभी यह स्थान बहुत समृद्धिशाली था। पंदहाके उत्तर-तरफ़ भी पुरानी बस्ती के कुछ चिह्न थे। लोग पूँछनेपर बतलाया करते थे—यहाँ कभी सिउरी रहते थे, जो पीछे उजड़कर दूर देशमें चले गये, अब भी उनके वंशज उन सुदूर देशोंसे कभी-कभी आकर रातको बीजककी सहायतासे अपने पूर्वजोंके गड़े ख़जानेका पता लगाया करते हैं।

सवा सौ वर्ष बाद अपने प्रथम पूर्वजकी ५वीं पीढ़ीमें (१८४४ ई०में) रामशरण पाठक पैदा हुये। तब चारों ओर अंगरेज़ोंका राज्य था। पंदहाके एक घरके ब्राह्मणोंके १७ घर बन गये थे। उनके साथ आ बसे अहीरों और चमारोंके भी कितने ही घर हो चुके थे। यद्यपि अब जंगल काटकर बहुतसे खेत बना लिये गये थे, तो भी इतना जंगल आसपासमें था, जिसमें भेड़िये गुजर कर सकते थे। रामशरण पाठक अपने पिताके तीन पुत्रों (शिवनंदन बड़े, रामबरन छोटे) में मँझले थे। तीनों भाइयोंमें पाठक कम गोरे थे, तो भी उनका रंग गेहुँएसे ज्यादा साफ था। तीनों ही भाई विशाल-काय थे, जिनमें पाठककी शरीर-गठन बहुत ही अच्छी थी। पाठकके पिताके पास खेतीके अतिरिक्त काफी गायें-भैंसें थीं। लड़कपनमें पाठकको उन्हींके चरानेका काम मिला था। जब पाठक १२-१३ वर्षके हुए तभी माता-पिताने शादी कर दी। पाठक अपनी भैंस-गायोंके चरानेमें मस्त रहते थे। घरमें दूध-घीकी इफ़रात थी। यौवनमें पदार्पणके साथ पाठकके रग-पुट्ठोंमें असाधारण बलकी झलक दिखाई

---

[1] यहाँ दिये सन् संदिग्ध हैं

पड़ने लगी। लड़केकी रुचि कुश्तीकी ओर देखकर पिताने उस समयके रवाजके मुताबिक बरसातमें कसरत-कुश्ती सिखानेके लिए एक नट रक्खा। तीन महीने बाद नटको एक भैंस इनाममें मिली। पाठकने और भी कुछ बरसातें अखाड़ेमें बिताईं।

× × ×

पंदहाका कोई आदमी नौकरी करनेके लिए जिलेसे बाहर गया हो, इसका पता नहीं। यही नहीं, आसपासके गाँवोंसे भी शायद ही किसीने प्रान्तसे बाहर पैर रक्खा हो। पाठककी चरवाहीकी पाठशालामें भूपर्यटकोंके ज्ञानका भाण्डार खुला रहता हो, इसकी संभावना नहीं थी; तो भी पाठकको कहींसे हवा लगी ज़रूर। १८ वर्षकी उम्रमें ही पिताके कहीं रक्खे हुए डेढ़ सौ रुपयोंको लेकर १८६२ ईसवीमें वे वैसे ही चंपत हुए, जैसे ४६ वर्ष बाद उनका नाती उनके रुपये लेकर। युक्त-प्रान्तके इस पूर्वी छोरसे सुदूर-दक्षिण हैदराबादको अभी रेल शायद न बनी थी। विदेश चलें, इतना ही उन्हें घर छोड़ते समय खयाल आया था। चलकर हैदराबादके जालना क़स्बेके अंगरेजी पलटनमें नौकरी करेंगे, इसका उन्हें कुछ ख़याल भी न था। किन्तु रास्तेके साथियोंके कारण आख़िर वह एक दिन जालना पहुँच गये। वहाँ उस समय एक पूरबिया फौज रहती थी, जिसमें पाठकके जिलेके कितने ही राजपूत सिपाही भी थे; पलटनके सूबेदार-मेजर रम्मूसिंह भी उनके अपने ही ज़िलेके थे।

पाठक भी अखाड़ेपर गये। आज कुछ विशेष चहल-पहल थी। कुश्ती देखनेके लिए पलटनके अफ़सर भी कुर्सियोंपर डटे थे। पाठकने भी लड़नेकी इच्छा प्रकट की। वे सबसे तगड़े आदमीसे लड़े। १८-१९ वर्षके नवयुवकके लिए वह आदमी बहुत भारी मालूम होता था, और लोग सन्देहमें थे; किन्तु कुछ ही मिनटोंमें पाठकने उसे चित्त कर दिया। कर्नल साहबने कूदकर तरुणकी पीठ ठोंकी, कुछ इनाम भी मिला, और सबसे बड़ी बात यह हुई कि कर्नल साहबने खुद सूबेदार-मेजरसे कहकर उसी दिन पाठकको फ़ौजमें भर्ती करा दिया। पाठकने इनाम और अपने रुपयोंमेंसे सौ रुपये सूबेदार-मेजरके हाथमें रखकर कहा—मैं अशर्फ़ियोंका एक कंठा पहनना चाहता हूँ। उसी दिन वे रुपये जालनाके मारवाड़ी सेठके पास भेजे गये और दो-तीन दिन बाद पाठकके गलेमें सात मुहरोंका कंठा पड़ गया।

पाठक शरीरसें जैसे बलवान थे, वैसे ही निशानेमें भी सिद्धहस्त निकले। क़वायद-परेडका काम सीख लेनेके बाद ही साहबने उन्हें अपना अर्दली बना लिया। पलटनके अफ़सरोंको हमेशा उतना कोई काम तो होता नहीं। जाड़ोंमें साहब-बहादुर कभी हैदराबादके जंगलोंमें, कभी मालवा और नागपुरके वनोंमें शिकार करते फिरते थे। पाठक भी उनके साथ रहते थे। कितने ही बाघ साहब मारते थे, और कितने हीं पाठकके मारे बाघ भी साहबके नाम दर्ज होते थे। हाँ, बाघ मारनेका सरकारी इनाम और उसके चमड़ेका दाम, ऊपर साहबकी ओरका भी कुछ इनाम पाठकको मिल जाया करता था।

इन शिकारयात्राओंकी बातें बुढ़ापेमें पाठक बड़ी रात बीते तक अपनी सहृदय धर्मपत्नीको सुनाया करते थे। उस वक्त उनकी बग़लमें बैठा या गोदमें लेटा आठ-सात वर्षका उनका नाती उन बातोंको सुनता और आश्चर्य करता। कामठी, धुलिया, अमरावती, नासिक यद्यपि उस समय उस बच्चेको बेमानी मालूम होते थे, किन्तु उन्होंने पीछे भूगोल और नक्शा पढ़नेमें बड़ी दिलचस्पी पैदा की। पाठक कहा करते थे--उधर पहाड़ोंमें 'बिसकर्मा' (विश्वकर्मा)के हाथके बनाये बड़े-बड़े महल हैं, वे पहाड़ काटकर बनाये गये हैं। बिसकर्माने उन्हें बनाया तो था देवताओंके लिए, किन्तु जब तक देवता आयें आयें, तब तक राक्षसोंने उनमें बसेरा कर लिया। देवताओं-को खबर देकर जब वे लौटे, तो देखा कि चारों ओर बोतलें खनखना रही हैं। बिसकर्माने शाप दिया--जाओ तुम सब पत्थर हो जाओ। पाठक बड़ी गंभीरतासे पठकाइनसे कहते--आज भी वे राक्षस या तो हाथमें बोतल लिये हैं, या ताथेई ताथेई नाचते, या आँख-मुँह बनाते दिखाई देते हैं; देखनेमें क्या मालूम होता है कि वे पत्थर हो गये हैं।

पाठक इसी प्रकार साहबके साथ जाड़ोंमें शिकार खेलते, गर्मियोंमें शिमला और ठंडे पहाड़ोंपर घूमते मौज कर रहे थे। उन्हें नौकरी करते दस वर्ष हो गये थे और इसी बीचमें उनके साथी--और कुछ तो उनकी सिफ़ारिश पर--तरक्क़ी करके नायक और जमादार बन गये थे, किन्तु न उनको उसकी उतनी इच्छा थी और न साहब ही वैसा करना चाहते थे।

पिछले सात-आठ वर्षोंमें पाठकने कभी एक-आध चिट्ठी तो जरूर भेज दी थी, किन्तु घर आनेका ज़िक्र तक न किया था। 'उड़ती हुई चिड़ियाने' घरपर ख़बर दे दी थी, कि पाठकने वहीं स्त्री कर ली है। वस्तुतः था भी ऐसा ही। जालनामें कितने ही घर ऐसे भी थे जो पूरबिया सिपाहियोंकी मराठी स्त्रियोंकी संतान थे। ऐसे ही एक

परिवारकी स्त्री उनकी चिररक्षिता हो गई थी। उससे उन्हें एक पुत्र भी हुआ था। पाठकने उसके लिए घर भी बनवा दिया था। शायद पाठकका वह पुत्र या उसकी सन्तान अब भी जालनामें हों, (यदि जालनाकी अंगरेजी छावनीके टूटनेके साथ वे अन्यत्र न चले गये हों)। आठ-नौ वर्ष बीत गये। पाठकके पिता भी मर गये। पाठकके भाइयोंका वर्ताव उनकी स्त्रीके साथ कुछ बहुत अच्छा न था। स्त्रीने अपने भाईको हैदराबाद भेजा। पाठक स्वयं तो न आये, किन्तु उन्होंने सालेके हाथ स्त्रीके लिए कुछ रुपये भेजे। सालेने उस रुपयेको अपनी दुखिया बहनको देना पसन्द नहीं किया।

३, ४ वर्ष और बीते, इसी बीच पाठक दिल्ली दरबार भी हो आये। अभी उनका जीवन-स्रोत वैसा ही वह रहा था। बलजोर और दवन दो राजपूत नौजवानोंसे उनको सगे भाईसे भी ज्यादा मुहब्बत थी। सच पूछिये तो अब उनके लिए जालना घरसे कम न था। उनको पंदहाकी फ़िक्र हो तो क्यों ? किन्तु एक दिन किसीने पाठकसे सूबेदार रम्मूसिंहकी कथा सुनाई। वह कई वर्ष पूर्व पेन्शन पाकर घर चले गये थे। रम्मूसिंहने पलटनमें जबसे नौकरी की थी, तब से वह एक ही दो बार कुछ समयके लिए घर गये थे या शायद नहीं ही गये थे। पेन्शनके बाद एक बक्समें अशर्फ़ियाँ भर-कर वे घर पहुँचे। उनकी स्त्री अब बूढ़ी हो चुकी थीं। बूढ़े सूबेदार-मेजरने अशर्फ़ियों-का बक्स उनके सामने खोल दिया। खयाल किया होगा, स्त्री बहुत प्रसन्न होगी; किन्तु प्रसन्नताका पता तो तब लगा, जब सूबेदार-मेजरने पानी माँगा और उत्तर मिला --"उन्हीं अशर्फ़ियोंसे लो। तुमने तो ज़िन्दगीमें अशर्फ़ियाँ ही पैदा कीं, पानी देने वाले थोड़े ही पैदा किये।" बेचारे सूबेदारपर क्या बीती होगी, इसका तो पता नहीं; किन्तु पाठकपर इस बातका बड़ा असर हुआ। परिणाम यह हुआ कि कुछ ही दिनोंके बाद सबके समझाते रहनेपर भी वह नाम कटाकर घरके लिए रवाना हो गये।

× × ×

घर लौटनेकी सबसे अधिक प्रसन्नता पाठककी स्त्री (जगरानी)को होनी ही चाहिये थी। यदि भाइयोंके पास समय-समयपर कुछ रुपया आया करता, तो इसमें शक नहीं, पाठककी स्त्रीकी उतनी उपेक्षा न होती। पठकाइनमें एक बड़ा गुण यह था, कि वह झगड़ापसन्द न थीं, किन्तु इसका ही दुष्प्रभाव यह था, कि दूसरोंके प्रतिकूल व्यवहारको वे मनमें रखती जाती थीं। कड़वे मुँहवालोंमें अकसर देखा जाता है, कि वे किसीके दुर्व्यवहारको फ़ौरन मुँहसे निकालकर भीतर बाहर दोनों ओर ठंडे हो जाते हैं। बेचारी पठकाइनमें यह गुण या अवगुण था नहीं, वह बारह वर्ष तक की

उपेक्षायें-ताने सब कुछ दिलमें रखती गईं। पाठकके आनेके बाद वह लेखा एक-एककर खुलने लगा। परिणाम यह हुआ कि थोड़े ही समयके बाद पाठक भाइयोंसे अलग हो गये।

अब उन्होंने अपने घरको कुछ अपनी रुचिका बनाना चाहा। पहले तो उन्होंने द्वारपर पक्का कुआँ बनवाया और रहनेके लिए ईंटोंका मकान। पाठकको यह पसन्द न था कि वह अपना गन्ना दूसरोंके कोल्हूमें पेरने जायँ। इसलिए चुनार जाकर एक पत्थरका कोल्हू ले आये। कोल्हूको अपने द्वार पर ही गाड़कर उन्होंने दो घर 'कुल्हाड़'के लिए भी बनवा दिये। उनके पास अपना पैतृक खेत दो बीघेसे ज्यादा न था। कुछ दिनोंके बाद उनके एक समीपी कुटुम्बी (महावीर पाठक)ने तीनों भाइयोंसे कहा—मुझे रुपयेकी आवश्यकता है, तुम लोग मेरे हिस्सेका इतना खेत ले लो, नहीं तो मैं दूसरेको बेंच दूँगा। तीनों भाइयोंने मिलकर खेत लिखा तो लिया, किन्तु छोटा भाई दाम न दे सका। पाठकने उस भूमिको भी ले लिया। इस प्रकार अब पाठकके पास पाँच बीघे (तीन एकड़से कुछ अधिक)के करीब ज़मीन हो गई। घरमें दो प्राणी थे। एक लड़का हुआ, किन्तु कुछ ही समय बाद मर गया। १८७६ ईसवीके क़रीब पाठकको एक लड़की कुलवंती पैदा हुई। कुलवंती उनकी अंतिम और एक-मात्र जीवित सन्तान रही। घरमें उसका लड़केके ही समान लाड़-प्यार था और होना भी चाहिये था। ९-१० वर्षकी होने पर लड़कीका ब्याह १० मील दूर कनैला गाँवमें कर दिया गया। लड़की अधिकतर मायके हीमें रहती थी, ससुराल जानेपर हर दूसरे हफ़्ते माँका आदमी कुछ लेकर पहुँचा रहता था। १८९३ ईसवीमें लड़कीको एक पुत्र हुआ। नातीके जन्मसे पाठक-पठकाइन दोनोंको अपार आनन्द हुआ। नाती (केदारनाथ) जब अपनी माँसे अलग रहने लायक हो गया, तब वह नानाका हो गया। अब बेटीकी ममता नाती पर चली आई, इससे अब उसे ससुरालमें अधिक रहनेकी इजाज़त हो गई।

पाठकके बड़े भाईके पाँच बेटे थे और छोटेके दो। उस थोड़ी-सी भूमिसे बड़े भाईके इतने बड़े परिवारका गुज़र होना बहुत कठिन था। वे देखते थे कि जो जायदाद उनको मिलती, उसके लिए नाती तैयार किया जा रहा है। इसका परिणाम यह हुआ, कि दोनों परिवारोंमें अनबन रहने लगी। दिलमें जलन तो थी ही, ज़रा-सा भी मौका मिलते आग भड़क उठती, दो चार गाली-गलौज होती और फिर तीन-चार मासके लिए दोनों ओरके गाल फूल जाते।

पाठक अपने हाथसे काम करना अच्छा न समझते थे, पलटनके तिलंगा जो रह चुके थे। घरमें दूध देनेवाली एक भैंस वे ज़रूर रक्खा करते थे। बहुत पशुओंके शौकीन न थे, सिर्फ़ दो बैल और एक भैंस रखते थे। दूध और छाछके बिना उनका काम न चल सकता था। पहले मछली-मांसकी भी खूब चाट थी; किन्तु पीछे खानदानी गुरु और अपनी स्त्रीके बार-बार कहनेपर मजबूर हो बेचारे एक सौ ग्यारह नम्बर वाले धर्मके चेले हो गये। एक काठकी कंठी गलेमें डाल दी गई और पाठकको अपने प्रिय भोज्यसे वंचित हो जाना पड़ा। तो भी जब उनका नाती कुछ खाने पीने लगा, कंठी और वैष्णवताके रहते भी यदि कहीं मछली मिल जाती, तो नातीके लिए लाये बिना नहीं रहते थे। जीती मछलियोंको तो चार-चार पाँच-पाँच सेर लेकर वे एक नादमें पाल लेते थे, जिन्हें नाती निकाल-निकालकर भूनता-तलता था। नाना-नानी ढंग बतलाने और हल्दी-मसाला पीसकर दे देनेमें कोई हिचकिचाहट नहीं रखते थे।

पाठककी थोड़ी भूमि उनकी परिमित आवश्यकताके लिए काफ़ी थी। खेतसे अनाज और भैंससे दूध घी उन्हें मिल जाया करता था। घरका काम-काज बहुत कम था। बाहरका काम उनका हलवाहा या दूसरा कर देता था और घरका उनकी स्त्री। बस, पाठकको खाना, सोना और सबसे बड़ा काम गप्पें मारना था। उस समय पंदहाके किसी बाग, कुल्हाड़, या खलिहानमें यदि आप पाँच-सात आदमियोंके बीच एक मोटे-ताजे अधेड़ पुरुषको देखते, जो पैर और कमरको अँगौछेमें बाँधकर कुर्सी बनाये बैठे बातें करता होता, तो समझ जाइये वह पाठक महोदय हैं। यद्यपि उन्होंने बारह-तेरह वर्षोंमें बहुत-से देश और लोग देखे थे, तो भी जब उन्हीं बातोंको और उतने ही आदमियोंमें रोज दो-तीन घंटा कहा जाय, तो वह कितने दिनों तक नई रह सकती हैं? फलतः बाज श्रोता पाठकके बात आरंभ करते ही कह देते—हाँ, यह हिंगौली-छावनीके पहलवानकी कथा होगी। तो भी पाठक ऐसे जीव न थे, कि श्रोताकी अनिच्छाके कारण अपनी कथा छोड़ बैठते।

पंदहामें सरस्वतीका सत्कार न था। पाठकके छोटे भतीजे रामदीनने प्राइमरी तक पढ़ा था, फिर उनका नाती ही पहला आदमी था, जिसने मिडिल पास किया। पाठक स्वयं अनपढ़ रहते हुए भी विद्याके लाभको जानते थे, इसीलिए अभी नाती जब पाँच ही वर्षका था, तभी पासके रानीकीसराय स्कूलमें पढ़नेके लिए बैठा दिया। वह कहा करते थे—और नहीं तो बैठना तो सीखेगा। पाठकके फुफेरे भाई सदर-आला होकर मरे थे, वही ख़याल करके वह अपनी स्त्रीसे कहा करते थे—ज़रा मिडिल

पास हो जाने दो, फिर मैंने जहाँ एक दिन जाकर पादरी साहबके यहाँ जंगी सलामी दागी, कि बच्चेको अंग्रेजी स्कूलमें भर्ती कराकर ही छोड़ूँगा। पाठकको इस बातसे और भी बड़े-बड़े मनसूबे बाँधनेकी उत्तेजना सबसे अधिक मिलती थी, कि उनका नाती पाठशालामें अपने दर्जेमें बराबर अव्वल रहा करता था।

× × ×

पाठकने नातीको अपने सुखके लिए ही इतने लाड़-प्यारसे पाला था, किन्तु इसी प्रेमने उनके जीवनकी संध्याको दुःखान्धकारपूर्ण बना दिया। वस्तुतः यदि पाठकको अपने मनसे करने दिया गया होता, तो वह अपने भतीजोंको दुश्मन न बनाते। अपने भाइयोंके प्रति उनका बर्ताव हमेशा स्नेहपूर्ण रहता था। जिस वक्त वायुमंडल बिलकुल कड़वा हो जाता, उस वक्त भी सतहसे जरा नीचे जानेपर पाठकके हृदयमें भाइयोंका स्नेह वैसा ही तर पाया जाता। ऐसे मौके आये, जिस वक्त ये तीनों वृद्ध भाई झगड़ेके तूफ़ानके बीच भी स्वच्छन्दतापूर्वक मिलनेपर 'भैया' 'भैया' कहकर फूट-फूटकर रोने लगते। तो क्या पाठककी स्त्री (जगरानी)को दोष दिया जा सकता है? उनका स्वभाव भी बहुत मधुर था। आदमी-जन, हित-पाहुना, ही नहीं, रातके टिकने वाले भिखमंगे भी उनकी तारीफ किया करते थे। अतिथियोंको खिलाने-पिलानेमें उनको बड़ा आनन्द आता था। मधुरभाषिणी तो इतनी थीं कि सिवा अपनी जेठानीके (जिसका कारण और ही था) उन्होंने किसीको कभी कड़े शब्द न कहे होंगे। दयाका उदाहरण लीजिये। वैसे पाठकके घरसे कुत्ते-बिल्लियोंका बिलकुल संबंध न था, किन्तु एक बार एक कुतियाने आकर बाहरके घरके कोनेमें बच्चे जन दिये। फिर क्या था? पठकाइनने समझा—इस प्रसूताकी परिचर्याका सारा भार उन्हींपर है। कुतियाको प्रसूताकी तरहका खाना मिलने लगा। इस दयाका फल तुरन्त ही यह हुआ कि कुतिया द्वारकी मालकिन बन गई और उसने एक बुढ़िया भिखमंगिनको काट खाया। एक प्रकारसे कहा जा सकता है—अपने दो दायादोंके सिवा वह अजातशत्रु थीं।

तो क्या उनकी जेठानी-देवरानी कसूरवार थीं? देवरानी और पाठकके घरका विरोध तो हमेशा क्षीण रहा (न उन्हें कुछ आशा थी, न कुछ मिला)। हाँ, जेठानी उन सासोंमें थीं, जो कड़ाईके बिना अपनी बहुओंको शासनमें रख सकती थीं। उनमें बहुत गंभीरता थी। अनपढ़, अल्प-वित्त, बहु-सन्तान और ग्रामीण होते हुए भी उनमें व्यवस्था और परख करनेका गुण था। वह उदारमना थीं, जो गुण उनकी

परिस्थितिकी स्त्रियोंमें बहुत कम पाया जाता था। उनके पति—पाठकके बड़े भाई शिवनंदन पाठक तो पूरे धृतराष्ट्र थे। लड़कोंके मारे भाईका विरोध करते भी असमंजसमें ही पड़े रहते। पाँच लड़के थे। इतने परिवारका उतनी थोड़ी भूमिसे निर्वाह होना मुश्किल था। इसलिए होश सँभालते ही दो (बच्चा और जवाहर) कलकत्ता जाकर पुलिसमें भर्ती हो गये। जब वे दो-चार वर्षमें छुट्टीमें घर आते, तब चाहे चचा (पाठक) और अपने घरसे बोलचाल भी न होती; भेंटकी चीजें लेकर वह चचाके पास जरूर पहुँचते; भेंट सामने रखकर चरण छूकर चाचा-चाचीको प्रणाम करते। एक बार एक पुलिसमैन-भतीजा उस वक्त घर आया, जिस वक्त रूस-जापानकी लड़ाई चल रही थी। आकर उसने घंटों पनडुब्बी नावों और दूसरी खबरों—जिन्हें कि वह कलकत्तामें सुना करता था—का वर्णन करता रहा। सबसे छोटा भतीजा रामदीन असाधारण व्यवहारकुशल तथा प्रतिभाशाली था। यदि उसे शिक्षाका अच्छा अवसर मिला होता, तो वह एक विशेष आदमी हुआ होता। पाठकके नाती या अपने भांजेके साथ रामदीनका प्रेम था। उसीने ले जाकर उसे अक्षरारंभ करवाया था। घरपर रहते वक्त वह भांजेको कुछ कामकी बातें बतलाकर उत्साहित करता रहता था। अपर प्राइमरी तक पढ़कर उसे चिट्ठीरसाकी नौकरी कर लेनी पड़ी थी, इसलिए जिलेमें ही किन्तु बराबर बाहर ही रहना पड़ता था। बाकी दो भतीजे अपनी स्वतंत्र बुद्धि न रखते थे। वस्तुतः यदि वह थोड़ी-सी जमीन—जो सारी कड़वाहटकी जड़ थी—का ख्याल हटा दिया जाय, तो भतीजे बुरे नहीं, बहुत अच्छे थे। भतीज़ोंकी बहुएँ? एक पाठकके सालेकी लड़की थी। दूसरी उनके ही कथनानुसार गौ थी। सबसे छोटी (रामदीनकी) बहूकी तो वह प्रशंसा करते न थकते थे। और बाकी दो बेचारी घरके भीतर चुपचाप रहनेवाली थीं, उन्हें झगड़ा झंझटसे कोई वास्ता नहीं था।

और नाती केदारनाथ? वह तो लड़का था। वह सभी चीजें अपने शिशु-नेत्रोंसे देखता था। तो भी यदि उसके उस बाल-अनुभव—चौदह वर्षकी अवस्थाके पूर्वके अनुभव—की कोई कीमत है, तो उसे सभी मामियाँ बड़ी ही मधुर मालूम होती थीं। छोटी मामीसे उसे असाधारण प्रेम था। स्कूलसे लौटते ही, जहाँ नानीने कुछ खाना दिया नहीं, कि वह छोटी मामीके दरबारमें हाजिर होता। इस मामीमें असाधारण कोमलता थी। वह सुन्दर थी, स्वच्छ थी, शीघ्र बात समझने वाली थी, और अपने भांजेको खुश करने वाली मीठी बातें करना जानती थी। आनेपर खानेको पूछना, पानीके लिए पूछना फिर दिल खोलकर बातें करना—एक बालकके लिए

और चाहिये ही क्या ? सचमुच यदि उस लड़केको पूछा जाता, कि तुमको सिर्फ़ एक आदमी दुनियामें मिलेगा, चुन लो और हमेशाके लिए निर्जन वनमें चले जाओ; तो वह अपनी इसी छोटी मामीको चुनता। उसका बालक-हृदय टूक-टूक हो गया, जब एक बार दोनों घरोंकी बोलचाल बन्द होनेपर भी वह छोटी मामीके पास गया; और आते ही बड़े ही रूखे शब्दोंमें उससे कहा गया—तुमने बहूको गाली दी है, ख़बरदार ! अब इधर मत आना। मामीको भी इससे कम दुःख न हुआ होगा, क्योंकि उसे भी अपने भानजेको शाम-सबेरे देखे बिना चैन न आता था। बालकको क्या मालूम था, आजकी दुनिया प्रेम और सद्भावका स्रोत बहानेके लिए नहीं है। कुछ ही वर्षों बाद वह प्यारी मामी (दीपचंदकी माँ) मर गई।

व्यक्तियोंमें अलग-अलग ढूँढनेमें तो किसीको दोषी नहीं ठहराया जा सकता था, किन्तु समुदायमें भयंकर कड़वाहट पैदा हो जाती थी।

× × ×

१९०५ ईसवीमें पाठककी लड़की (कुलवन्ती) मर गई। अब पाठकके चार नाती थे, तीन छोटे अपने घर पर रहा करते थे। पठकाइनने जोर दिया—नातियोंके नाम लिखा पढ़ी कर देनी चाहिये, ज़िन्दगीका क्या ठिकाना है। १९०६में पाठकने अपनी जायदादको नातियोंके नाम लिख दिया।

युद्धकी घोषणा हो गई। किन्तु बेचारी पठकाइन उस युद्धके प्रचंड होनेसे पूर्व ही प्लेगमें चल बसीं। नाती अब गाँवसे कुछ दूर निजामाबादके मिडिल स्कूलमें पढ़ता था, जहाँ से छठे-छमाहे ही आता था; और जब झगड़ा जोर पकड़ चुका, तब तो आता भी न था। लड़ने वाले थे, एक ओर पाठकके भतीजे और दूसरी ओर पाठक और उनका दामाद। अनुकूल प्रतिकूल आदमी सभी जगह मिल जाते हैं। वही यहाँ भी हुआ। भतीजोंने पहिले तो हिब्बेको नाजायज़ करार दिलानेके लिए दीवानीमें मुक़द्दमा दायर किया, किन्तु वह जानते थे, क़ानून उनके विरुद्ध है। फिर उन्होंने फ़ौजदारी मुक़द्दमें और मारपीट शुरू कर दी। फ़ौजदारीमें तो जो पुलिसको खूब रुपया दे, झूठे-सच्चे गवाह दे, उसीकी जीत होती है। दोनों ओर से रुपया खर्च होने लगा। साल भर तक यह घमासान युद्ध होता रहा। जितनीकी जायदाद नहीं थी, उतनी हानि और खर्च पाठकके दामादको उठाना पड़ा। भतीजों-को भी उससे कम खर्च नहीं करना पड़ा। दोनोंको कुछ होश आने लगा। दामाद

साहब (गोबर्धन पांडे) भी समझने लगे—दूसरे गाँवमें आकर लालच करनेमें हम नुक्सानमें रहेंगे। उनके अपने घरका लेन-देन, खेतीबारीका काम बिगड़ रहा था। अन्तमें महादेव पंडित पंच माने गये। पंचने नातीको ग्यारह-बारह सौ रुपये दिलवाये। जमीन भतीजोंकी हुई।

भतीजे अब भी पाठकको रहनेके लिये कह रहे थे, किन्तु पाठक समझते थे, कि किसी समय भी उन्हें ताना मारा जा सकता है। यद्यपि वह अपने सबसे छोटे भतीजेकी बहू (छोटी मामी कैलाशकी माँ)को देवता मानते थे। साथ ही पाठकको इससे भी कम ग्लानि न थी, कि जिस लड़कीके गाँव तकमें धर्म-भीरु लोग पानी पीना नहीं चाहते, वहीं अपरिचित मुखड़ोंके बीच उन्हें अपनी जिन्दगीका अन्तिम समय बिताना पड़ेगा। साँप-छछूँदरकी दशा थी। यदि पाठकने पहिले इस परिणामको जाना होता, तो अपने भतीजोंको वह विरोधी न बनाते। एक दिन पाठक इच्छा या अनिच्छासे दामादके गाँवमें चले गये, साथ ही जवानीके लाये उस पत्थर के कोल्हूको भी लेते गये।

यद्यपि, जहाँ तक दामाद और संबंधियोंका संबंध था, उनका बर्ताव अच्छा था, तो भी पाठकको वह स्थान अनुकूल नहीं, अपरिचित-सा जान पड़ता था। अब भी वह अपने शिकार, अपनी यात्राओंकी बातें सुनाते थे, और सुनने वाले भी होते थे; किन्तु उन्हें कहनेमें वह रस न आता था। अब उनका अपना नाम चला गया था, और उसकी जगह वह अमुकके ससुर कहे जाते थे। पाठकका अपना मकान एक छोटे गाँवमें था, किन्तु वहाँ मील भरपर रानीकीसराय अच्छा बाजार था, और फेरीवाली खटकिनें, कोइरनें भी साग-भाजी लेकर आ जाया करती थीं। इस झारखंडके गाँवमें खाने-पीनेकी उन चीजोंकी सुविधा न थी। ऊपरसे स्त्री-वियोग और पुत्री-वियोग चित्तको खिन्न किये रहता था। अब एक और घटना हुई, जिसने उनके जीवनको बिलकुल ही नीरस बना दिया। पहले तो नानाकी विचित्र यात्राओंकी बातोंसे प्रभावित नाती केदारनाथ एक वर्ष घुमक्कड़पनमें गवाँ आया। फिर मिडिल पास करनेपर उसपर दूसरा ख़ब्त सवार हुआ। कहने लगा—अंगरेजी म्लेच्छ भाषा है, मैं तो संस्कृत पढ़ूँगा, उसीमें स्वर्ग-मोक्षका मार्ग रक्खा है। घरवालोंके ज़िद करनेपर एक दिन वह चुपकेसे निकल भागा। पाठकके लिए यह बात असह्य थी। उनका सारा प्रेम उसी नातीमें केन्द्रित था। जब उन्हें पता लगा, कि नाती बदरीनारायणकी ओर गया है, तो वह भी उधर चल पड़े, किन्तु उससे भेंट न हुई। पीछे नातीको

बनारसमें रहकर संस्कृत पढ़नेकी अनुमति हो गई। कुछ वर्षों तक वह बनारसमें संस्कृत पढ़ता रहा, किन्तु इसी बीच १९१२ ईसवीमें पाठकने सुना, कि नाती साधु होकर कहीं चला गया।

पाठक अब जीवनकी अंतिम सीमा पर पहुँच चुके थे। उनका शरीर और हड्डियाँ जितनी दृढ़ थीं और जैसे वह नीरोग रहते आये थे, उससे अभी वह और जी सकते थे; किन्तु अब उन्हें जीनेकी चाह नहीं रह गई थी। १९१३में वह बीमार पड़े, जान गये अब चलना है। उस वक्त उनकी एक यही इच्छा थी, कि अन्तिम समय नातीको देख लें। किन्तु नाती उस समय डेढ़ हजार मील दूर मद्रासमें था। वह जानता भी न था और यदि सुन भी पाता, तो कौन जानता है, वह अपने वृद्ध नानाकी आत्मशान्तिके लिए उनके पास आना पसन्द करता। रामशरण पाठक एक दिन चल बसे और उस प्रथाको याद करते हुए जिसके द्वारा भाइयों-को वंचितकर दूर गाँवके संबंधियोंको अपनी संपत्तिका उत्तराधिकारी बनाया जा सकता है।

४. गोवर्धन पांडे[1] (पिता)

पुजारी यह गोबर्धन पांडेका निजी नाम न था, किन्तु गाँव वाले जवानीसे ही उन्हें इस नामसे पुकारते थे।

पुजारीका जन्म १८७५ ईसवीमें ठेठ देहातके एक बहुत ही छोटे गाँव कनैलामें हुआ था। उनके गाँवसे कोस-कोस भर तक कोई कच्ची-पक्की सड़क न थी, डाक-खाना आठ मील दूर था और बाजार भी उतनी ही दूर। यही हाल पाठशाला या मदरसाका था।

पुजारी अपने पिताकी ज्येष्ठ सन्तान थे। उनके पिताकी अपने गाँवमें ही प्रतिष्ठा न थी, बल्कि आसपासके कितने ही गाँवोंमें उनके बिना पंचायत न होती थी। ईमानदारी और विशालहृदयता उनकी पैतृक संपत्ति थी। पुजारीके पिता जानकी पांडे एक बड़े परिवारके प्रधान थे। यद्यपि जानकी पांडे अपने पिताके एक

---

[1] वंशके लिए देखो 'सांकृत्यायन-वंश'' परिशिष्ट ३

मात्र पुत्र थे, तो भी अपने चचेरे तीन भाइयोंके साथ उनका सगे भाईसे भी अधिक प्रेम था। सबसे छोटे महादेव पांडेको तो उन्होंने दूरके गाँवमें संस्कृत पढ़नेके लिए भी भेजा था। यद्यपि उनकी पढ़ाई 'सत्यनारायण' और 'शीघ्रबोध'से आगे नहीं बढ़ी, तो भी उन्हें गाँवमें पंडित कहा जाता था, और वह थे भी उस गाँवके लिए वैसे ही।

पुजारीके पिताका देहान्त ४५-४६ वर्षकी ही उम्रमें हो गया। उस वक्त पुजारी १५ वर्षके हो पाये थे। उनसे छोटा एक भाई प्रताप और तीन बहनें वरता, शिव-वरता, महरानी थीं, जिनमें सबसे छोटी ६-७ वर्षसे अधिककी न थी। पिताने रवाजके मुताबिक बड़े लड़के और बड़ी लड़कीकी शादी १०-१२ वर्षकी ही अवस्थामें कर दी थी। पिताके मरनेके समय तीनों चचेरे चचा (मथुरा, गोकुल, महादेव) एक ही घरमें रहते थे। तीनों ही भलेमानस और अपने भाईके प्रेमपूर्ण बर्तावके चिर-कृतज्ञ थे। यदि उनकी चलती तो वह पुजारीको बापके मरनेका ख़याल भी न आने देते, किन्तु पुजारीकी मा लखपती दूसरी धातुकी बनी थीं। मीठी बोली तो मानो वह जानती ही न थीं। ज़रा-सी बातमें चार सुना देना उनकी आदतमें था। पतिके जीते समय तो जबानपर भारी अंकुश था; किन्तु पीछे कोई रोकने वाला न था। उनका हृदय बहुत संकीर्ण था। वह कुढ़ा करतीं—खेतों और धनमें हमारा आधा हिस्सा होता है; देवर और उनके लड़के-बाले हमारे धनको खा रहे हैं? ज़रा-सी बातमें वह ताना दे डालती थीं। उनके देवर और देवरानियाँ पहिले बहुत लिहाज करती रहीं, किन्तु आये दिनकी किचकिचसे उनका नाकों दम हो गया, और तीन वर्ष बीतते-बीतते उन्हें अलग हो जाना पड़ा।

× × ×

पुजारीकी माँ अब बहुत प्रसन्न थीं। उन्होंने घरमें ही नहीं, हर खेतमें आधा-आधा करवाया था। खेत उनके पास काफी थे। काम करनेके लिए कुछ चमार-और भर-घर भी मिले थे। किन्तु पुजारीको खुशी कहाँसे हो सकती थी? माँके झगड़ालू स्वभावके कारण १५ वर्षकी ही उम्रमें परिवारका सारा बोझ उनके कंधे-पर आ पड़ा था। कहाँ खाने-खेलनेका समय और कहाँ यह जिम्मेवारी! उन्हें खेती-बारी और परिवारको ही सँभालना न था, बल्कि छोटे भाई और दो बहिनोंकी शादी भी करनी थी। भाई-बंधु इच्छा रहते भी सहायता न कर सकते थे, क्योंकि पुजारीकी माँके स्वभावसे वे परिचित थे। कहावत थी—लखपतीके मारे कुत्ते भी दरवाजेपर नहीं फटक सकते।

कनैलाके आसपास पढ़नेका कहीं इन्तजाम न था, यह कह आये हैं। किन्तु पिताके जीते समय—जब पुजारी तेरह-चौदह वर्षके थे—तभी कहींसे भूले भटकते एक मुंशीजी उस झारखंडके गाँवमें पहुँच गये। यद्यपि पीढ़ियोंसे उस गाँवके ब्राह्मणोंने विद्यासे नाता तोड़ रक्खा था, तो भी अभी कुछ श्रद्धा बाकी थी, और मुंशीजीके पास आधे दर्जनसे ऊपर लड़कोंने पढ़ाई शुरू कर दी। दो-ढाई सप्ताहके भीतर ही अधिकांश घर बैठ गये। डेढ़ महीनेमें मुंशीजी भी समझ गये—"धोबी बसिके का करे, दीगंबरके गाँव।" मुंशीजीके चेलोंमें पुजारी ही थे, जो अन्त तक डटे रहे। कोदो देकर पढ़नेकी कहावत बहुत मशहूर है; पुजारीने कोदो तो नहीं दिया, किन्तु कहते हैं, दक्षिणामें मुंशीजीको कुछ धान ही मिला था।

इस प्रकार पंद्रह वर्षकी उम्र, डेढ़ महीनेकी पढ़ाई और नीमसे भी कड़वे जबानवाली मा—इन तीनों साधनोंके साथ पुजारी गृहस्थी सँभालनेके काममें लग गये।

× × ×

पुजारी गोबर्धन पांडे असाधारण मेधावी थे। बत्तीस वर्षकी उम्रमें उनका जो ज्ञान था, उसे देखकर कोई नहीं कह सकता था कि उनकी पढ़ाई सिर्फ़ डेढ़ महीनेकी है। उनमें ज्ञानकी बड़ी प्यास थी। अथवा ज्ञान कौन-कौन हैं, यह भी तो उन्हें मालूम नहीं था; फिर प्यास कहाँसे आती? हाँ, काममें जिस ज्ञानकी जब-जब आवश्यकता होती, वह उसके पीछे पड़ जाते और न जाने कहाँ और किसके पाससे सीखकर ही छोड़ते। उन्हें जोड़, बाकी, गुणा, भाग ही नहीं मालूम था, बल्कि भिन्न, त्रैराशिक और पंचराशिक भी लगा लेते थे। एक समय गाँवमें सरकारी पैमाइश शुरू हुई। उस समय उन्होंने अमीनोंके पास बैठकर पैमाइशका हिसाब भी सीख लिया।

गोबर्धन पांडेकी पूजापाठमें बड़ी श्रद्धा थी, इसीसे अठारह वर्षकी उम्रमें ही वह पुजारी कहे जाने लगे। वह बिना स्नान-पूजाके पानी भी नहीं पीते थे। उनके पाठमें यद्यपि पहले हनूमान-चालीसा था, किन्तु धीरे-धीरे हनूमान-बाहुक, विनय-पत्रिका और रामायण भी शामिल हो गये। रामायणके उन्होंने बहुत पाठ किये थे, और उसके ज्ञानदीपक जैसे स्थलोंका उनका किया अर्थ बहुत बुरा न होता था। हर एक धर्मभीरु ब्राह्मणको अच्छी बुरी साइतका ज्ञान रखना जरूरी ठहरा। पुजारीके सारे गाँवके ब्राह्मणोंके लिए कुल मिलाकर सिर्फ़ एक घर यजमान था। यदि यजमानी बड़ी होती

तो शायद पुजारीको कुछ और पढ़नेका अवसर मिला होता। जब उनकी स्त्री (कुलवन्ती) बीमार पड़ी, उस समय उन्होंने 'रसराज-महोदधि'को भी मँगा लिया, और यदि लोग कच्चे औषधकी भयंकरताका डर न दिखलाते, तो शायद वह अपने बनाये मंडूरसे ही पत्नीकी चिकित्सा करते। उस समय अखबार अभी गाँवों तक नहीं पहुँचे थे, तो भी जिन पुस्तकोंका गाँवोंमें प्रवेश था, पुजारी उन्हें पढ़-समझ सकते थे।

एक ओर पुजारी कट्टर पुजारी थे, दूसरी ओर नई बातोंके सीखनेके लिए उनका दिमाग बिलकुल खुला था। पुजारीकी बस्तीके भीतर सिर्फ़ एक कुआँ था, जिसके लंबे चौड़े आकार और टूटी-फूटी हालतको देखकर लोग उसे सतयुगके आसपासका बना कहते थे। उसकी ईंटें एक ओरसे पहले ही गिर चुकी थीं। एक दिन वह सारा ही कुआँ बैठ गया। अब लोगोंको दूरके कुयेंसे पानी भरकर लाना पड़ता था। पुजारी उस समय ३०-३१ वर्षके हो चुके थे। उनके पास धन भी था। उन्होंने अपने द्वार पर एक कुआँ बनवाना चाहा। उन्होंने अपने दिलमें कुएँका नक्शा खींचा---कुआँ ऐसा हो, जिसकी दीवारसे घड़ा न टकराये; यदि नीचेकी अपेक्षा कुयेंका ऊपरी भाग संकीर्ण कर दिया जाय, तो यह हो सकता है। ईंटोंके भी प्रचलित आकारको छोड़कर उन्होंने अपने मनके आकारकी ईंटोंका साँचा बनवाया। उनमें कुछ तो डेढ़ फुट लंबी और ६-७ इंच चौड़ी थीं। अपने गाँवकी 'बड़ी पोखर'की प्राचीन ईंटोंको देखकर शायद उनको इतनी लंबी ईंटोंके बनवानेका साहस हुआ। उस कालकी ही भाँति यदि ईंधनकी इफ़रात होती और ईंधन ठीक तरह लगाया जाता, तो कदाचित वे पक जातीं। किन्तु पुजारीका ध्यान इधर न गया, और ईंटें बहुत-सी अधपकी रहकर टूट गईं। तो भी उनके काम भरके लिए ईंटें तैयार मिल सकीं। पुजारीके बुलानेपर उनके ससुर पाठकजी कुआँ बँधवानेके लिए राज लिवाकर आये। ईंटोंके विचित्र आकारको ही देखकर ससुर और राज दोनोंका माथा ठनका। उसपर पुजारीने कुआँ बाँधनेकी अपनी योजना पेश की। राज चिल्ला उठा—अरे! यह क्या कह रहे हो? यदि कुयेंका मुँह सिकोड़ दिया जायगा, तो ईंटें कुछ ही दिनोंमें आगेकी ओर गिर जायँगी। पुजारी ने कहा—-और मेहराबमें ऐसा क्यों नहीं होता?

खैर, पुजारीके आग्रहको देखकर राजने उसी प्रकार कुएँको बाँधना शुरू किया। कुछ दूर बाँधने और मिट्टी निकालनेपर कुआँ भीतरसे बहुत बालू फेंकने लगा। राजने सारा दोष कुएँकी नई चिनाईके मत्थे मढ़ा और फिरसे उधेड़कर पुरानी चालसे बाँधनेके लिए कहा। किन्तु पुजारी कब मानने वाले थे। जब कुआँ सही सलामत

बनकर तैयार हो गया, तब पाठकजी कहने लगे—तैयार तो हो गया, किन्तु इसकी शकल कुइँयाँ-सी है; पुराने ढंगसे बनवाने पर यह एक अच्छा खासा कुआँ मालूम होता।

× × ×

पुजारीने छोटे भाईको अपने बहनोई महादेव पंडित (बछवल) के घर पढ़नेके लिए भेजा था, किन्तु उसने इतना ही पढ़ा—'ओनामासिधम, बाप पढ़े ना हम्।' दो-चार बार भाग आनेपर पुजारीने और जोर देना छोड़ दिया। दोनों बहिनों और भाईकी भी शादी कर दी। अब दोनों भाई मिलकर खूब मेहनत करते थे। घरके प्रबंधमें मा बहुत दक्ष थीं। हर साल ही खर्च करनेके बाद कुछ पैसा और अनाज बचने लगा। पुजारीने उसे सूद और सवाई पर देना शुरू किया। सूद और मूलमें गाँवके कुछ लोगोंके खेत भी अपने पास रेहन आये। यद्यपि गाँवमें ट्रीनीडाडसे लौटे जयपाल पांडेके पास सबसे अधिक खेत थे, किन्तु अगहन बीतते-बीतते उनका घर अनाजसे खाली हो जाता था, और उधार और ख़रीदकी नौबत आती थी; इसीलिए पुजारी गाँवमें सबसे अधिक धनी समझे जाते थे।

पुजारीका जीवन अब सुखका जीवन था। यद्यपि सट्टेके रोज़गारियों और सौदागरोंकी भाँति तो नहीं, फिर भी पुजारीका धन प्रति वर्ष बढ़ रहा था। उन्हें अभी तक कचहरियोंसे वास्ता न पड़ा था, किन्तु इसी समय पुजारीके गाँवमें पैमाइश होने लगी। अभी तक खेत, बाग, परती सभीका हिसाब पटवारीके यहाँ रहता था; किन्तु अमीनोंने पैमाइशके साथ दखल-कब्जा पूछना शुरू किया। यही तो कमानेका समय होता है। यदि इधरकी उधर और उधरकी इधर न करें, तो खाक़ कोई अमीन-को पूछेगा। हाँ, यह ऐसा भी समय है, जब पहलेकी पैमाइशकी बेइमानियाँ भी प्रकट होने लगती हैं। हम कह चुके हैं, पुजारी बड़े मेधावी पुरुष थे। गाँवमें आये हुए अमीनके पास जाकर वह कागज-पत्र देखने लगे। उन्हें मालूम हुआ कि पहलेके कितने ही उनके खेत औरोंके कब्जेमें हैं। कुछमें इधर नये सिरेसे गोलमाल हुआ है। पुजारी उन आदमियोंमेंसे थे, जिनका सिद्धान्त होता है—न अपना एक पैसा जाने देना और न दूसरोंका एक पैसा लेना। अब पुजारीके लिए बन्दोबस्तके डिप्टीके पड़ावों और जिला तथा तहसीलकी कचहरियोंपर धरना देना ज़रूरी हो गया। जिस पूजाके नियमके कारण उनका नाम पुजारी पड़ा था, वह छूटे कहाँसे? उसमें तो कुछ वृद्धि भी हुई थी। यदि पहले एकादशीका ही व्रत होता था, तो अब महीनेके

चार अलोने अतवार भी शामिल कर लिये गये थे। कचहरीका काम तो घरकी तरह अपने वशका नहीं, और बिना पूजा-स्नानके पुजारी पानी भी नहीं पी सकते थे। फलतः कभी-कभी सूर्यास्त और पुजारीकी स्नान-पूजा साथ-साथ होती थी। उन्होंने गंगातट या काशीमें बाल बनवानेका भी नियम कर लिया था, इसलिए उनके दाढ़ी-बाल दो-दो चार-चार महीनों तक नहीं बन पाते थे।

पुजारी यद्यपि धार्मिक और श्रद्धालु आदमी थे, तो भी उनकी श्रद्धा अंधश्रद्धा न थी। यही कारण था, जहाँ गाँवके लोग सभी लंबी दाढ़ी, भारी जटा, छोटी लँगोटी और सफेद भभूतको साष्टांग दंडवत करना अपना धर्म समझते थे, वहाँ पुजारी बिना गुणकी परख पाये ऐसे साधुओंकी आवभगतसे दूर रहते थे। हाँ, उनके गाँवसे कुछ दूर उमरपुरके निर्जन स्थानमें एक वृद्ध परमहंस रहा करते थे, जिनकी आयुके बारेमें बूढ़े-बूढ़े लोग भी कसम खानेके लिये तैयार थे कि उन्होंने जबसे होश सँभाला तबसे परमहंस बाबाको ऐसा ही देखा। यह भी कहा जाता था कि परमहंस बाबा अपनी जन्मभूमि (पोखरा) नेपालसे विद्या पढ़नेके लिए बनारस आये थे, वहीं पीछे विरक्त हो राजघाटके पास एक कुटियामें रहने लगे। जब राजघाटमें रेल आई और उसकी गड़गड़ाहटसे उनके ध्यानमें विघ्न पड़ने लगा, तो वह मुफ़्तमें मुक्त देनेवाली काशीको छोड़कर अपने एक भक्तके साथ पुजारीके आसपास वाले प्रदेशमें चले आये। पुजारी परमहंसजीके प्रति बड़ी श्रद्धा रखते थे। हर चौथे-पाँचवें दिन वह दर्शनार्थ वहाँ पहुँचते थे।

× × ×

पुजारीके सुखमय जीवनकी दिशाका अब अन्त हो रहा था। इतने समयमें उनकी आर्थिक अवस्था ही अच्छी नहीं हो गई थी, बल्कि उनके एक कन्या और चार पुत्र भी हो चुके थे। पिताकी मृत्युके बाद घरमें किसीकी मृत्युसे उन्हें अपनी आँखें भिगोनी नहीं पड़ी थीं। एक तरह वह भूल ही गये थे, कि संसारमें मृत्यु भी कोई चीज़ है। इसी समय पुजारीकी धर्मपत्नी बीमार पड़ीं। पुजारीके उस झारखंडके गाँवमें वैद्य पहुँचते ही कहाँ थे? ओझा-सयाने ही सुलभ थे, किन्तु पुजारी उन्हें फूटी आँखसे भी देखना नहीं चाहते थे। उनकी माँने एक-आध बार चुपकेसे जाकर अपने देवर ओझासे पूछा और सहृदय ओझाने बताया कि सारा फ़िसाद घरके पास बाँस वाली चुड़ैलका है, किंतु पुजारीके मारे उसकी शान्ति-पूजा हो तब न! पुजारी इस समय स्वयं "रसंराजमहोदधि"के पन्ने उलट रहे थे। उन्हें यह मालूम

हो गया कि स्त्रीको पांडु रोग है। कुछ अपनी और कुछ दूसरे यमराज-सहोदर वैद्योंकी दवा भी की; और भी जो उपचार बन पड़ा, किया; किन्तु, कुछ महीनोंकी बीमारीके बाद स्त्री चल बसी। बाहर प्रकट न करनेपर भी पुजारीको बड़ा दुःख हुआ।

इस समय पुजारी पूरे तीस वर्षके भी न हो पाये थे। खाते-पीते व्यक्तिका ब्याह करनेके लिए सभी लोग तैयार रहते हैं। स्त्रीकी वर्षी भी न हो पाई थी, कि ब्याह करने वाले मँडराने लगे। लेकिन पुजारीने साफ़ कह दिया—मेरे पाँच बच्चे हैं। ब्याहका फल मुझे मिल चुका है। अब मुझे शादी नहीं करनी है।

पुजारीके इस दुःखको कम करनेमें सहायक कुछ और भी बातें थीं। सबसे पहले तो उनके अपने मनकी दृढ़ता थी। बच्चोंका प्रेम भी मददगार था। उनका भाई बहुत ही आज्ञाकारी था—इतना आज्ञाकारी कि कभी-कभी इसके लिए उसे अपनी स्त्रीका ताना सुनना पड़ता था। पुत्रोंके सयाने होनेपर पुजारीको और अच्छे दिनोंकी आशा थी।

× × ×

पुजारीके धार्मिक विचारोंमें उदारता, दया भी सम्मिलित थी।

एक समयकी बात है। पुजारी उस समय २०-२१ वर्षसे अधिकके न रहे होंगे। वह एक जगह चुपचाप उदास बैठे थे। साधारण उदास नहीं, बहुत ही उदास। कारण यह था। पुजारीके पूर्वज कुछ पीढ़ी पहले सरयूपारसे आकर इधर बस गये थे। अब भी लोग कमसे कम अपनी कन्याओंको सरयूपार (गोरखपुर ज़िलेमें) ही ब्याहना पसन्द करते थे। वह अपनी दोनों छोटी बहनोंके लिए वर ढूँढ़ने सरयूपार गये। लोगोंने भुलावा देकर एक घरके दो लड़कोंका तिलक चढ़वा दिया। घर आने-पर पता लगा कि वरवाला घर किन्हीं कारणोंसे नीच समझा जाता है। उन्होंने तिलक लौटा देनेकी बात कही, जिसपर वरवाले तरह-तरहकी धमकी देने लगे। पुजारीके भाई-बन्धु भी उन्हें समझाने लगे। किन्तु, पुजारी कब अपनी बहनोंको कुजातके घर ब्याहने लगे? बहुत जोर देनेपर वह फूट-फूटकर रोने लगे, और बोले—मैं दोनों बहनोंको गलेसे बाँधकर पानीमें डूब मरूँगा, पर उस घरमें शादी नहीं करूँगा।

आखिर पुजारीने वहाँ शादी नहीं की।

और जगहोंकी भाँति पुजारीके गाँवमें भी ग़रीब व्यक्ति बिना ब्याहे ही बूढ़े हो जाते थे। गाँवका एक ब्राह्मण तीस वर्षसे ऊपरका हो गया था, और अब तक उसका ब्याह नहीं हुआ था, न होनेकी आशा ही थी। दूसरे गाँवमें उसकी रिश्तेदारीमें एक तरुण-विधवा थी। दोनोंका देवर-भाभीका नाता था। नित्यकी आवाजाहीसे दोनोंमें प्रेम ही नहीं हो गया, बल्कि छिपकर रखनेकी अपेक्षा वह अपनी भावजको घरपर लाकर रखने लगा। पहले तो मालूम हुआ, वह मेहमानीमें आई है, किन्तु पीछे बात प्रकट हो गई। पुजारीको यह बात असह्य मालूम हुई और वह बलपूर्वक उस विधवाको गाँवसे निकालनेके लिए गये। बड़ी मुश्किलसे लोग उन्हें मनाकर लाये। कहते थे--गाँवमें यह बहुत ही बुरा उदाहरण होगा, इसे देखकर यह रोग औरोंमें भी फैलेगा।

इस घटनासे पुजारीकी सामाजिक अनुदारता सिद्ध होगी, तो भी यदि पुजारीको दुनियाके बारेमें और अधिक सुनने-जाननेका मौक़ा मिला होता, तो वह अपने विचारोंको जल्दी बदल भी देते, समझमें आ जानेपर वह किसी बातके लिए दुराग्रह नहीं करते थे।

पुजारीकी तीन हरकी खेती थी, जिसमें एक हलवाहा था चिनगी चमार। चिनगी किसी समय कलकत्तामें किसी साहबका साईस रह चुका था। उसके एक लड़का कलकतिया और तीन लड़कियाँ थीं। ब्याह हो जाने पर लड़कियाँ अपने घर चली गईं, और कुछ समय बाद चिनगीका एकलौता बेटा मर गया। पुत्रस्नेह बहुत बड़ी चीज़ होती है, किन्तु इन मज़दूर-जातियोंके लिए बेटा तो बुढ़ापेका बीमा होता है। खुशी-नाराजी जैसे भी हो, उसे अपने बूढ़े माँ-बापका बोझा उठाना ही पड़ता है। बूढ़े चिनगीके लिए पुजारी भारी अवलम्ब थे। वह उसके पुत्र-शोक और भूखको मिटानेका बहुत ध्यान रखते थे। इसके लिए पुजारीकी मा कभी-कभी बोल भी उठती थीं। कुछ दिन बीमार रहकर एक दिन माघकी बदलीमें चिनगी चल बसे। लोगों-को बहुत अचरज हुआ, जब पुजारीने कहा—चिनगी भगतकी दाह-क्रिया गंगातटपर (जो वहाँसे प्रायः तीस मीलपर था) होगी। शर्म-संकोच या दबावसे ही चिनगीके भाई-वन्धु उस बदलीमें लाश ले जानेके लिए तैयार हुए। पुजारीने साथ जाकर गंगातटपर चिनगीका दाह-कर्म कराया, क्रिया-कर्म भी हुआ। लोग कहते थे, पुजारीपर चिनगीका पहले जन्मका क़र्ज़ था।

पुजारीका एक बलिष्ठ बैल एक दिन लड़ते-लड़ते उनके अपने बनवाये कुएँमें गिर पड़ा। बहुत प्रयत्नसे जीता तो निकल आया; किन्तु उसका पिछला एक पैर

बेकार हो गया। लँगड़े बैलसे कोई काम लेना मुश्किल था। कम खेतवाले कुछ लोगोंने कई बार कहा—बैल हमें बेंच दीजिए। पुजारीका कहना था—बैल न बेचा जा सकता है और न कामके लिए दिया जा सकता है। तन्दुरुस्त और मज़बूत होते वक्त उसने हमें कमाकर खिलाया। क्या काम न कर सकनेपर बूढ़े माँ-बाप बेच दिये जाते हैं ?

थोड़ी-सी महाजनीके अलावा पुजारीका प्रधान पेशा था खेती। खेतीके संबंधमें किसान कट्टर सनातनी होते हैं। पुजारीका गाँव कनैला बाज़ार, स्टेशन, शहर, सड़क सभीसे बहुत दूर था, इसलिए उनके गाँवमें खेती-संबंधी नई बातोंका पहुँचना मुश्किल था। तो भी पुजारी लोगोंके मज़ाक करते रहने पर भी घरके कामके लिए आलू, मूली, गाजर और गोभी बोने लगे थे। एक बार वह कहीं लाल रंग वाली बड़ी ऊख देख आये। उसे लाकर उन्होंने पाँच बिस्वा खेतमें बो दिया। गाँव और घर वाले कहते ही रह गये—यह ऊख क्या कोल्हूमें जाने पायेगी, इसे तो लोग दातोंसे ही साफ़ कर डालेंगे। ऊखकी फ़सल अच्छी हुई, साथ ही लोगोंकी बात भी सच निकली, और नरम तथा मोटी ऊख पर छिप-छिपकर बहुतोंने दाँत साफ़ किये। किन्तु उससे यह फ़ायदा हुआ, कि दूसरे साल गाँवमें कई और आदमियोंने उसी गन्नेकी खेती की। तीसरे साल तो पुजारीने डेढ़-दो एकड़ बोया। ऊख इतनी ज़बर्दस्त हुई कि घर वाले चिन्ता करने लगे—यह ऊख तो साझेवाले पत्थरके कोल्हूमें आषाढ़ तक भी खत्म न होगी। पुजारीने पहले आसपाससे पत्थरका कोल्हू खरीदना चाहा। न मिलनेपर बनारसके पास तक की हवा खा आये। पुजारी किसी बातका फ़ैसला तुरन्त नहीं कर सकते थे। इसीलिए उन्हें अनेक बार मीठी-कड़वी भी सुननी पड़ती थी। पाठक जी तो उन्हें 'जुड़वा-रोग' (ठंडकका रोग) कहा करते। दो-तीन बार खाली हाथ लौटने तथा कामके डेढ़-दो मास निकल जानेपर घर वाले और नाराज़ हुए। अन्तमें हफ़्तेभर गुम रहनेके बाद एक दिन पुजारी बैलपर लोहेका कोल्हू लदवाये पहुँच गये। गाँवमें, और शायद उस देहातमें भी, वही पहला लोहेका कोल्हू था। लोग डर रहे थे—कल तो अक्सर बिगड़ जाया करती है; बिगड़ जानेपर कौन मरम्मत करेगा ? किन्तु पुजारी बेफ़िक्र थे। संयोगसे कोल्हू बहुत अच्छा निकला। उसी साल उसका दाम सध गया। तीन-चार साल काम लेकर पौन दामपर उन्होंने उसे बेंच भी डाला।

पुजारी सादगीके पुजारी थे। वह एक-नम्बर वाली मार्कीनको बहुत पसन्द करते थे। कहा करते थे, यह कपड़ा बहुत मज़बूत होता है, जाड़ा-गर्मी दोनोंमें काम आ सकता

हैं; इसको पहनने वाला न शौकीन ही कहा जाता है और न दरिद्र ही। खद्दरके युगसे कुछ दिन पूर्व ही वह इस संसारसे चल दिये, नहीं तो पुजारी उसके अनन्य भक्त होते।

पुजारीकी भूरे बालोंवाली गोरी-गोरी एक-मात्र कन्या रामपियारी माँकी मृत्युके एकाध ही वर्ष बाद मर गई। पुत्रोंमें बड़ा ननिहालमें पढ़ता था, बाक़ी तीन, गाँवसे तीन मील दूरके मदरसेमें पढ़नेके लिए बैठा दिये गये थे। पुजारी अभी भविष्य-का सुख-स्वप्न देख रहे थे। इसी समय एक घटना घटी, जिसने उस स्वप्नको चूर-चूर कर दिया। उनका बड़ा लड़का केदारनाथ अब पिताके गाँवमें अधिक आने-जाने लगा था। पिता और उनके मित्रोंकी देखादेखी वह भी परमहंस बाबाकी कुटियामें पहुँचने लगा, और परमहंसजीके एक शिष्य उसके कानमें वेदान्त और वैराग्यका मन्त्र फूँकने लगे। वैराग्यशतक और विचार-सागरके साथ देश-देशके नदी-पर्वत, नगर-अरण्यके मनोरम चित्र उसके सामने खिचने लगे। इसका असर पड़ना ज़रूरी था। आख़िर पुत्रने भी पिताकी भाँति पूजा-पाठ शुरू किया, त्रिकाल सन्ध्या-स्नान और एकाहार आरम्भ किया। पुजारीको तो इससे चिन्ता न हुई, किन्तु घरके सारे लोग सोलह वर्षके लड़केके इस रंग-ढंगको देखकर आशंकित होने लगे।

एक दिन (१९१० ईसवी में) अचानक लड़का गायब हो गया। यद्यपि दो बार पहले भी वह भागकर कुछ महीने कलकत्ता रह आया था; किन्तु तब वैराग्यका भूत सिरपर सवार न होनेसे उतना डर न था, इसीलिए उस समय इतनी चिन्ता न हुई थी। पुजारीकी चिन्ता तब दूर हुई जब उन्होंने सुना, लड़का घूम फिरकर बनारस लौट आया है और वहाँ संस्कृत पढ़ रहा है। पुजारीने खुशीसे संस्कृत पढ़नेकी अनुमति दे दी, और उन्हें आशा हो चली कि अब वह हाथसे न जायगा।

दो वर्ष बीतते-बीतते उन्होंने सुना—लड़का बनारससे कहीं चला गया। कुछ महीनों बाद जब उन्हें मालूम हुआ कि वह दूसरे प्रान्त (बिहार) के एक मठमें साधु हो गया है, तो वह अपने बहनोई महादेव पंडितको लेकर वहाँ पहुँचे। उन्होंने लड़केकी अनुपस्थितिमें समझा-बुझाकर मठके महन्तजीको इस बातपर राजी कर लिया कि वह घरवालोंको दर्शन देनेके लिए एक बार अपने चेलेको जाने दें। लौटानेका वादा तो झूठा था, तो भी भोलेभाले महन्तजी पंडितजीकी चिकनी-चुपड़ी बातोंमें आ गये। आनेपर लड़केको यह बात अरुचिकर मालूम हुई, किन्तु दूसरा चारा न था। लड़का घरपर लाया गया। अब एक ओर तो लड़केके लिये (पुजारीके स्वभावके विरुद्ध) शौकीन कपड़ों तथा पान आदिका प्रबन्ध किया गया और दूसरी ओर उसके

जाने-आनेपर कड़ी निगाह रक्खी जाने लगी। लड़का एक बार भागा, लेकिन स्टेशन-पर पुजारीने जा पकड़ा। इस तरह काम न बनते देखकर लड़केने विश्वास पैदा कराना चाहा, और तीन मास तक अवसर ढूँढ़नेके बाद वह अपने इस बन्दी-जीवनसे मुक्त हुआ।

पुजारीको इसका कितना दुःख हुआ, यह इसीसे मालूम होगा, कि चिन्ताके मारे दो वर्ष बीतते-बीतते उनके दिमाग़में एक प्रकारका उन्माद हो गया। लड़का उस समय आगरेमें पढ़ता था। एक मित्रने सब हाल बताकर एक बार पिताको देखनेके लिये कहा। इसपर लड़का घर आया। पुजारीको प्रसन्नता ही नहीं हुई, बल्कि जब उनके दिमाग़की गर्मी दूर करनेके लिए फ़स्द खोलनेवाला लाया गया तो उन्होंने कहा——क्या करोगे ? अब मेरी तबीअत अच्छी हो गई। एक हफ़्तेके बाद लड़केको इच्छानुसार जाने भी दिया गया।

× × ×

दो वर्ष और बीत गये। लड़केका कोई पता न था। एक दिन पता लगा, वह बनारस आया हुआ है। फिर ज़बर्दस्ती घरपर लाकर नज़रबन्दीका वही अस्त्र काममें लाया गया। उसने अपने बन्धुओंसे कह दिया——इस बार निकल जानेपर फिर तुम नहीं पकड़ सकोगे। आखिर आदमीका बच्चा कब तक बाँधकर रक्खा जा सकता है ? एक दिन वह निकल भागनेमें समर्थ हुआ। बनारससे वह विंध्या-पर्वतकी तलहटीमें पहुँचा। किन्तु पुजारीको लड़केके एक मित्रने बता दिया, और वह वहाँ जा पहुँचे।

पुजारी उन आदमियोंमेंसे थे, जो घोरसे घोर वेदनाको हृदयके भीतर इस तरहसे छिपा सकते हैं कि उसकी छींट आँख तक भी नहीं पहुँचने पाये। तो भी एक बार उन्होंने पुत्रके सामने दिल खोलनेका प्रयास किया। 'नहीं' कहके अभी हल्ला-गुल्ला सुननेकी हिम्मत न होनेसे पुत्रने उन्हें वहीं कहीं रहकर प्रतीक्षा करनेके लिए कह दिया। पुजारी यद्यपि पुत्रकी मानसिक अवस्थाको समझने लगे थे, और कभी-कभी चाहते भी थे, कि उसे अपनी मर्ज़ीपर रहने दिया जाय, किन्तु अन्तमें पुत्रस्नेहका पल्ला भारी हो जाता था।

उनकी वह अर्द्ध-विक्षिप्तावस्था जानकारोंके हृदयमें सहानुभूति पैदा किये बिना नहीं रहती थी। लड़का जिनका अतिथि था, उनकी माता पुजारीकी अवैतनिक गुप्त-चर थीं। कुछ सप्ताहों बाद जब लड़का चुपचाप एक्केपर सवार होकर स्टेशनकी ओर

भाग चला, तब पुजारीको खबर मिलते देर न लगी; और एक्केके पहुँचनेके कुछ ही देर बाद वह भी स्टेशन आ धमके। दस या बारह मीलके रास्तेको उन्होंने दौड़कर ही काटा होगा। वह जानते ही थे कि एक बार रेलमें बैठ जानेपर उसे पाना उनके लिए असम्भव हो जायगा। ट्रेनके आनेमें पन्द्रह-बीस ही मिनटकी देर थी।

लड़केने साथ छोड़ देनेके लिए जब कुछ अधिक कहना चाहा, तो पुजारी बच्चोंकी भाँति फूट-फूटकर रोने लगे। स्टेशनके यात्री इकट्ठे होकर उसको लानत-मलामत करने लगे। जान बचानेके लिए उसे फिर बनारस आना पड़ा। बनारसमें आकर उसने समझाकर कह दिया——आप पकड़कर मुझे नहीं रख सकते। मेरी इच्छा घर जानेकी बिलकुल ही नहीं है। घर न जानेकी मैं प्रतिज्ञा कर चुका हूँ। आपके हठसे अपने ध्येयको छोड़नेकी अपेक्षा मुझे मरना प्रिय होगा।

पुजारी शायद पहलेसे काफ़ी सोच चुके थे। उन्होंने तुरन्त और बहुत संक्षेपमें कहा——अच्छा अब मैं तुम्हें नहीं रोकूँगा, किन्तु मैं भी घर न जाऊँगा। यहीं काशीमें रहकर ज़िन्दगी बिता दूँगा।

लड़केको इतनी आसानीसे छुटकारा पानेकी कभी आशा न थी। वह दूसरी ट्रेनसे चला गया।

× × ×

कितने ही महीनोंके बाद घरवाले मनाकर पुजारीको घर ले गये। घर उन्हें काल-सा लगता था। धीरे-धीरे फिर चिन्ताने देह और दिमाग़पर प्रभाव जमाया। इसी दुःखमय चिन्ताग्रस्त अवस्थामें उन्होंने चार वर्ष और बिताये। १९२० ईसवीका जूनका महीना था, जब कि सुदूर दक्षिणमें बाल-मित्र यागेशका पत्र मिला——मामा-का देहान्त हो गया। पुत्रकी आँखोंमें आँसू नहीं आये। चिट्ठीकी बात पूछनेपर उसने जिस प्रकार अपने मित्रोंको यह ख़बर सुनाई, उससे वे बोल उठे——तुम्हारा दिल पत्थरका है, पिताकी मृत्युको सुनकर भी तुम्हें रंज नहीं हुआ।

उन्हें पुत्रके हृदयके भीतरकी वास्तविक दशा यदि मालूम होती, तो ऐसा न कहते।

---

५. चौंतीस साल बाद

चौंतीस साल क्या होता है, इसका साक्षात्कार मुझे अबसे पहिले कभी नहीं हुआ था। गिननेको कई घटनायें थीं, जिन्हें चौंतीस क्या उससे भी अधिक सालोंमें मैं गिन लिया करता था; मगर चौंतीस सालका ठीक-ठीक रूप मुझे तभी मालूम हुआ, जब मैंने अपने जन्मग्राम पन्दहा—जो मेरे नानाका भी ग्राम है—में उन चेहरोंको देखा, जिन्हें मैंने यौवनके वसंतमें देखा था। और आज? मेरी तीन मामियोंमेंसे एक सूरजबली मामाकी बहूको ले लीजिये। १६०६ ई०में उन्हें मैंने २०-२२ सालकी तरुण सुन्दरीके रूपमें छोड़ा था और आज उनके चेहरेपर गंगा-यमुनाके असंख्य नाले खिंचे हुये हैं। ऊपरसे एक आँख भी जाती रही है। आज उस सुन्दर चेहरेका कहीं पता नहीं। पंदहाके आजके निवासियोंमें मेरे परिचित चेहरोंकी संख्या एक दर्जनसे अधिक नहीं होगी, और उन सबकी हालत पके आम कीसी है।

सारे परिचित चेहरे यद्यपि अधिकतर सदाके लिए विलुप्त हो चुके हैं, तथापि उनकी जगह मैंने बहुतसे तरुण चेहरे देखे और उनमेंसे कितनोंसे परिचय प्राप्त किया। इन नव-परिचित चेहरोंका साक्षात् होनेसे जो आनंद हुआ, उसीने इस बातकी न्याय्यताको समझा दिया, कि नयोंके आनेके लिए पुरानोंका स्थान खाली करना जरूरी है।

सत्ताईस साल हो गये, जबसे मैं अपने आजमगढ़ जिलेमें नहीं गया था। पचास साल पूरे होनेके साथ ९ अप्रैल १९४३के बाद, मैं आजमगढ़ जिले में जानेके लिए स्व-तंत्र था। यद्यपि इस समयकी प्रतीक्षा मेरे बन्धुओंकी तरह मैं भी कर रहा था, किन्तु दूसरे कामोंको देखते हुये मैं समझ रहा था कि शायद इस वर्ष जानेका मौका न मिल सकेगा। लेकिन समय मिल गया।

१२ अप्रैलकी रातको एक बजे सीवान (छपरा)से नागार्जुन और मैं रेलद्वारा आजमगढ़को रवाना हुए। मऊमें एक बजे दिनकी तपती भूमिपर भी पैर रखते वक्त एक तरहका आनंद मालूम होता था। मालूम हो रहा था, किसी न्यामतसे मैं अब तक वंचित था और आज मुझे वह मिल रही है। दूसरी ट्रेनके जिस डिब्बेमें हम बैठे, उसमें कितने ही बलिष्ट ग्रामीण भद्रजन बैठे थे। उनके लंबे चौड़े स्वस्थ शरीरको देखकर मुझे अभिमान हो रहा था। वे उसी भाषाको बड़ी जिन्दादिलीके साथ बोल

रहे थे, जिसे मैंने भी माँके दूधके साथ सीखा था। मुझे इसका अफसोस हो रहा था कि मैं उसे अब नहीं बोल सकता।

आजमगढ़ जिलेके सात दिनके निवासमें अपने बन्धु-मित्रोंसे उनकी भाषामें बोलनेका प्रयास मैंने करके देखा, लेकिन मेरे मुँहसे छपराकी बोली निकलती थी।

आजमगढ़के तरुण साहित्यिक श्री परमेश्वरीलाल गुप्त स्टेशनपर मौजूद थे, इसलिए शहरमें धर्मशाला ढूँढ़नेकी जरूरत नहीं पड़ी। मैं इस यात्रामें एक तीर्थयात्रीके तौरपर गया था और शैशवके स्मरणीय स्थानोंके साथ फिरसे परिचय तथा साक्षात्कार की लालसा रखता था; इसलिए मैं सार्वजनिक रूपसे किसी समागम या अभिनन्दनमें शामिल नहीं होना चाहता था। गुप्तजीने मेरे भावोंका ख्याल किया, यह प्रसन्नताकी बात है।

आजमगढ़ शहरसे यद्यपि मेरा जन्मग्राम पन्दहा, सात मीलसे ज्यादा नहीं है, मगर मैं शहरमें बहुत कम गया हूँ। वहाँके तहसीली स्कूलको देखा था। अबकी गया तो देखा, वह दूसरी जगह चला गया है। मकान नया है, किन्तु पुराने मकानकी श्रीहीनता कायम रखनेकी पूरी कोशिश की गई है। शिबली-मंजिल आजमगढ़की एक खास चीज है। इस्मालिक संस्कृतिके मर्मज्ञ, अरबी-फारसीके महाविद्वान् अल्लामा शिबली एक महान प्रतिभा थे। उन्होंने अपनी लेखनी अध्ययन-अध्यापन द्वारा देशकी भारी सांस्कृतिक सेवा की है। यह देखकर बड़ी प्रसन्नता हुई, कि उनके कामको और भी विस्तृत रूपमें जारी रखकर मौलाना सुलेमान नदवीने अपने गुरुकी जीवित यादगार कायम रखी है। शिबली-मंजिलमें कितने ही विद्वान बड़े त्याग और तन्मयताके साथ इस्लामिक अनुसंधान और ग्रंथ-प्रणयनमें लगे रहते हैं। शिबली मंजिलका दार्-उल-मुआरिफ उर्दू-साहित्यको बहुत समृद्ध कर रहा है।

१३ अप्रैलको सबेरे आठ बजे हम दोनों इक्केसे रानीकीसरायके लिए रवाना हुए। शहरसे बाहर निकलते-निकलते पुलिसवालोंने हमारे एक्केवालेकी जो गत बनाई, वह एक नया अनुभव था——आज पुलिस सर्व शक्तिमान् है।

बचपनमें पाँच-छ सालकी उम्रमें जब मैंने पढ़नेके लिए रानीकीसरायमें कदम रखा था, उस समय मैं बहुत डर-डरकर पैरोंको रख पाता था। पन्दहा गाँवके लड़कोंके लिए रानीकीसराय एक संभ्रान्त नगरी थी। वहाँकी हर एक बातसे रोब

टपकता था। जब रानीकीसरायके लड़के पकड़ना कहते, तब मैं समझता कि धरना नहीं पकड़ना ही नागरिक शब्द है। जब रानीकीसरायके पुरुषोंको धोतीका एक भाग आधी जाँघ तक सीमित रख, दूसरेको घुट्ठी तक छोड़ते देखता, तब मुझे मालूम होता, यह है नागरिक वेश। आगे चलकर रानीकीसरायकी नागरिकताका वह रोब नहीं रहा तो भी रानीकीसरायके मदरसे के छ सालोंका मेरे निर्माणमें भारी भाग है।

सड़कसे एक बार मैं बस्तीके आरपार हो गया, लेकिन किसी चेहरेको पहचान न सका। एक व्यक्ति कुछ देर खड़े होकर मेरी ओर देख रहे थे। किंतु रामनिरंजन पंडित रानीकीसरायमें होंगे, इसका मुझे ख्याल नहीं था। हम दोनों स्टेशनकी ओर मुड़े। मेरे सुपरिचित रानी-सागरके दक्खिनी भीटेपर हिन्दी मिडिल और प्राइमरी स्कूल मिले। छुट्टी थी, इसलिए वहाँ सुनसान था।

फिर हम तालाबके उत्तरी भीटेकी ओर गये। महावीरजीका वही मंदिर अब भी वहाँ मौजूद था, और साथ ही महावीरजीकी सेना वानरोंकी संख्या कम नहीं थी। वह कुआँ भी मौजूद था, और उसका जल आज भी उसी तरह बदबू कर रहा था, जैसा बालपनमें वह हर साल एक महीनेके लिये हो जाया करता था। वहाँ मौजूद दोनों साधुओंसे कुछ पूछ-ताछ शुरू की। गेरुआधारी फक्कड़बाबा (बलदेवदास) मेरी ओर खास तौरसे देखने लगे और दो-चार ही बातें कर पाया हूँगा, कि उन्होंने झट पूछ दिया—आप राहुलजी तो नहीं हैं। फक्कड़ बाबा भी उस वक्त रानीकीसरायके स्कूलमें पढ़ते थे, जब मैं वहाँ दो दर्जा नीचे पढ़ रहा था। अब अपने परिचितोंका पता पाना आसान था, लेकिन मेरे अधिकांश परिचित जीवन-शेष कर चुके थे। महावीरजीके मंदिरके पास बरगदकी जड़में एक खंडित मूर्ति रक्खी थी—गुप्तकालीन मूर्ति छिपी नहीं रह सकती।

फक्कड़बाबाके साथ अब हम उस स्थानपर आये, जहाँ किसी वक्त हमारा पुराना मदरसा था। बीचमें शाला (दालान) तीन तरफ वराण्डा, एक तरफ दो कोठरियाँ—मदरसेका वह नक्शा अब भी मेरे स्मृति-पटपर अंकित है। हर जाड़ेमें होनेवाली सफेदीसे उज्वल उसकी भीतें अभी भी मुझे दिखलाई पड़ती हैं। चारों ओरकी चहारदीवारीसे घिरे हातेमें लगे गेंदेके फूलोंकी सुगन्ध मानो अब भी मेरी नाकमें आ रही थी। लेकिन अब मैंने उस स्थानको देखा तो चित्त खिन्न हो गया। अब

वहाँ उस मदरसेका कोई चिह्न नहीं रह गया था। वहाँ थे अड़ूसे और कुछ दूसरे कटीले पौधे। लोग इस स्थानको खुले पाखानेके तौरपर इस्तेमाल करते हैं। हाँ, हमारी परिचित इमलियोंमें एकाध अभी भी मौजूद थीं।

बाजारमें द्वारिका प्रसाद, रामनिरंजन पंडित और कुछ और मित्र मिले। उनका स्नेह-भरा स्वागत प्राप्त हुआ।

रानीकीसरायसे पन्दहा मील भरसे ज्यादा दूर नहीं है। धूपमें हम जाना नहीं चाहते थे, किन्तु हमारे आनेकी खबर पन्दहा पहिले ही पहुँच चुकी थी। रामदीन मामाके पुत्र कैलाश प्रस्थान करनेसे पूर्व ही आ भी गये।

मदरसा आनेके हमारे दो रास्ते थे, जिन्हें मैं बचपनकी सुनी कहानीके छः महीने और बरस दिनके रास्तेसे तुलना किया करता था; यद्यपि दोनोंमें कौन छः महीने और कौन बरस दिनका था, इसका निर्णय मैं कभी नहीं कर पाया। मेरे लिए दोनों कठिन रास्ते थे। एकपर एक ठूँठा पीपल था और ठुँठवा बाबाका प्रताप इतना जगा था, कि फल और तरकारी बेचनेवाले स्त्री-पुरुष भी वहाँ विना कुछ चढ़ाये आगे नहीं बढ़ते थे। दूसरे रास्तेपर, बस्तीसे दूर नीमके पेड़ोंसे ढँका बालदत्त रायका पोखरा था; जिससे दोपहरके वक्त भी सही-सलामत पार हो जाना मुश्किल था। वहाँ एक नहीं, हजारों भूत जेठकी दुपहरीमें नाचा करते थे। इन दोनों स्थानोंके बाबोंके चरणोंमें नानीको गिड़गिड़ाकर नातीके लिए दुआ माँगते देख मुझे विश्वास हो गया था, कि ये स्थान भारी खतरेसे भरे हुए हैं। मैं उर्दूका विद्यार्थी था, मगर बाबोंका डर इतना भारी था कि "भूत पिशाच निकट नहिं आवे। महावीर जब नाम सुनावे।।" की महिमा सुनकर सारा हनुमान-चालीसा याद कर डाला था।

हम बालदत्तके पोखरेके रास्तेसे गये। पासकी परती और जंगल अब खेत बन गये हैं। वर्षोंसे भूतोंने पोखरेपर नृत्य-महोत्सव रचाना बन्द कर दिया है। लोगोंके दिलसे उनका डर जाता रहा है। ठुँठवा बाबाकी हालत तो और भी खराब है। कच्ची सड़कके किनारे एक पतली डाली और चंद पत्तियों वाले उस लंबे पीपलको दूर तक वृक्ष-वनस्पति-विहीन प्रान्तरमें खड़े देखकर रातको किसी भी अकेले बटोहीके दिलमें भयका संचार होना लाजिमी था। लेकिन वर्षों हो गये, कच्ची सड़क पक्की हो गई, उसके किनारे ऊँचे वृक्षोंकी पाँत खड़ी हो गई। पीपल उस वृक्ष-पंक्तिमें गुम हो गया, जिससे ठुँठवा बाबाके प्रभावमें भारी धक्का लगा। और अब तो वह वृक्ष भी कट चुका है। ठुँठवा बाबा नई पीढ़ीके लिए अपने अस्तित्वको खो चुके हैं।

पन्दहामें घुसनेपर पहिले बृद्ध परिचित मिले लौहर नाना। अश्रु-गदगद कण्ठसे 'कुलवन्तीके पुत्र—केदार' कहना और फिर गलेसे लिपट जाना मेरे धैर्य्यपर जबर-दस्त प्रहार करनेके लिए काफी था।

नेत्रोंको सूखा रखने और स्वरको ठीक करनेके लिए भारी प्रयत्न करना पड़ा। मेरे सामने शैशवके प्रियजनोंकी मूर्तियाँ पार होने लगीं। मेरे नाना तीन भाई थे। उनकी अपनी संतान एक मात्र मेरी माँ थी, किन्तु बाकी दो बड़े छोटे भाइयोंके पाँच और दो लड़के थे। सातों मामोंमें अब सिर्फ जवाहर मामा रह गये हैं। मेरे शैशवमें वे कलकत्तामें पुलिसके सिपाही थे और जब एकाध महीनेकी छुट्टीपर आते, तो ताजी गिरीवाले नारियल लाते। अब वे पेंशन पाते हैं और नेत्रोंसे वंचित हैं। उनका चेहरा अपने पिताके तीनों भाइयों-जैसा है। विश्वामित्र, वशिष्ठ जैसी सफेद डाढ़ीका नहीं, बल्कि नानोंसे मिलने वाले उस चेहरे और उनके रुद्ध-कंठस्वरने मेरे नेत्रोंको आखिर गीला करके ही छोड़ा। रानीकीसरायमें थोड़ीसी खिन्नता आई थी और मैं धैर्य्यकी परीक्षा पास कर गया था, किन्तु पन्दहाने मुझे पराजित कर दिया। कुलवन्तीके पुत्र, रामशरण पाठकके नाती केदारनाथको देखनेके लिए गाँवके लोग आने लगे। मेरी तीनों मामियाँ—जो सभी विधवायें और पुत्र-पौत्रवाली हैं—अपने भानजेको देखने आईं। उस वक्त उनके अश्रु-प्रक्षलित मुखोंको देखकर मुझे उस प्यारी मामी—रामदीन मामाकी पहिली स्त्री—की याद बारबार आती थी। उनका स्नेह मेरे लिए शैशवकी बहुमूल्य स्मृतियोंमेंसे है।

पन्दहाके गली-कूचों, उसके ताल-तलैयोंको तेरह बरस तक मैं रातदिन देखता रहा, और उसके बाद भी तीन बरस तक मैं उनके संपर्कमें रहा था। गाँवकी पुरानी चीजोंको देखने निकला। सबसे अचरजकी बात मुझे यह मालूम हो रही थी, कि पुराने कुओं, गड़हियों, तलैयोंके बीचके अन्तर घटकर सिर्फ़ एक तिहाई रह गये हैं। क्या धरती सचमुच ही छोटी हो गई है, अथवा उस दूरीके बढ़ी होनेका कारण बाल्यका छोटा शरीर था? गाँवमें शायद ही कोई घर अपनी पुरानी दीवारपर है, दरवाजोंकी दिशा और आँगनोंके विस्तारमें भी परिवर्तन है। मैं वह आँगन और उसके बगलवाले घरको देखने गया, जिसमें मेरी माँने अपने ज्येष्ठ पुत्रको आजसे पचास साल पहिले जन्म दिया था, मगर आज उस घरका कहीं पता नहीं। आँगन, कई घर, बाहरका द्वार, कुल्हाड़ तथा बैठकेके घरोंकी जगह चहारदीवारीसे घिरा एक खुला सहन है। हाँ, उस ओसारेका थोड़ा-सा भाग अब भी नई खपड़ैलसे ढँका है, जिसने मेरे प्रसूति-

गृहका काम किया था। नानाका कुँआ अब भी मौजूद है, और यह सुनकर प्रसन्नता हुई कि अब भी उसका पानी वैसा ही मीठा है।

बड़ी रात तक गाँवके वृद्ध और तरुण बातें पूछते रहे, और चौंतीस बरसपर लौटे रामशरण पाठकके नाती अथवा हिन्दीके लेखक राहुल सांकृत्यायनकी खबर पाकर आसपासके गाँवके लोग भी आते रहे।

१४ अप्रैलको मुझे पन्दहाके और स्मरणीय स्थानों और देवताओंको देखनेका मौका मिला। मुँह-हाथ धोनेके लिए हम गाँवसे उत्तरकी ओर गये। देखा, बनवारी माईके पासकी झाड़ी साफ हो चुकी है और उसपर जवाहर मामा के लगाये महुए खड़े हैं। बनवारी माईके स्थानको देखनेसे मालूम होता था कि सालमें भूल-भटक-कर ही अब कोई पूजा-कड़ाही चढ़ाता है। वहाँ एक खंडित मूर्ति रहा करती थी। लोगोंने बतलाया, कुछ समय पहिले माई अन्तर्धान हो गई। गाँवोंके इन पुराने देव स्थानोंमें कितनी ही बार खंडित किन्तु कलापूर्ण प्राचीन मूर्तियाँ देखी जाती हैं, बनवारी माईकी मूर्ति भी कोई इसी तरहकी मूर्ति रही होगी और उसे किसी कला या पैसेके प्रेमीने अन्तर्धान करा दिया होगा, इसमें सन्देह नहीं।

रातको रामनवमी थी, मगर बचपनमें 'रामनवमी'से ज्यादा उसका दूसरा नाम––बड़का बसियौड़ा––मुझे सुननेमें आता था। आज शायद पन्दहा छोड़नेके बाद पहिली ही बार मुझे 'बसियौड़ा' नाम सुननेको मिला। मेरी मामी (कैलाशकी माँ) खास तौरसे जलपान बनाने जा रही थीं, लेकिन 'बसियौड़ा'का नाम सुनकर दूसरे भोजनको मैं क्यों पसन्द करने लगा ? साबित उड़दकी दाल (बिना हल्दीकी), तेलकी बेड़हिन (दाल भरा परौठा), गुलगुला और लाल भात बालपनके परिचित खाद्य थे; आज भी उसे खानेमें बड़ा आनन्द आ रहा था। दिन भर गाँव और आसपासके गाँवोंके लोग आते रहे, जिसमें रानीकीसरायके सहपाठी जगेसर (झिलमिट) और बाँकीपुरके बाबू सरयूसिंह भी थे। मैंने सोलह-सत्रह वर्षकी अवस्थामें देखा था। अब उनके केश सफेद हो चुके हैं, और कई पौत्रोंके बाबा बाबू सरयूसिंह हैं।

शामके वक्त गाँव और उनके टोलोंकी फिर खाक छानी। देवताओंका महत्व अवश्य इन चौंतीस वर्षोंमें कम हो गया है। जिस महामाईके स्थानपर नव-दम्पतीका पूजाके लिए जाना अनिवार्य था, आज उसके आसपास तक पाखानेका क्षेत्र बन चुका है और वृक्षकी जड़में पाँच-सात सिन्दूरके दाग, मालूम होता था, सतयुगके लगे हुए हैं। पहले व्याह, पुत्र-जन्मादि समयोंपर गिन-गिनकर ग्राम-देवताओंको छौने

(सुग्ररके बच्चे) चढ़ाये जाते थे। हमारे ममेरे भाइयों—दीपचन्द ग्रौर कैलाश—ने हिसाब लगाया, तो मालूम हुग्रा कि एक दर्जनसे ऊपर छौने उनके घरके नाम बाकी पड़े हुए हैं। हनुमतवीर ग्रौर ग्रनारवीरसे लोग वैसे ही ढीठ हो गये हैं, जैसे ग्रपने ग्राजके बड़े बूढ़ोंसे। लेकिन जवाहर मामा कह रहे थे—मैं ग्रपनी जिन्दगीभर निबाहे जा रहा हूँ। उन्होंने यह भी सुनाया कि कैसे ग्रपने सेवकोंकी उपेक्षासे क्रुद्ध हो ग्रनारवीर बाबाने कुछ ही साल पहिले गाड़ीमें जुते बैलोंको पीछेसे दबाकर टाँग दिया, बैलोंको फाँसीसी लगने लगी थी। खैर, किसी तरह रस्सी काटकर उनकी जान बचाई गई। ग्राश्चर्य तो यह है कि यह सब देखकर भी नई पीढ़ी देवताग्रोंका ग्रादर-पूजन करनेके लिए तैयार नहीं।

पन्दहाकी सीमापर बसई एक छोटीसी बस्ती है। बादशाही जमानेमें यहाँके सैयद-लोगोंका वैभव-सूर्य बहुत चढ़ा हुग्रा था। वे सीधे लखनऊ ग्रपनी मालगुजारी भेजा करते थे। ग्राज उनके घरोंका पता नहीं। कई सैयद लड़के मेरे साथ रानीकी-सराय पढ़ने जाया करते थे। कितनी ही बार उनके साथ मैं उनके घरोंको गया था। ईंटोंके घर गिरे-पड़े हुए थे, मगर तब भी उनमेंसे कितने खड़े थे। उनके ग्राँगनोंमें चारपाईपर बैठी वैभवशाली वंशकी संतानें—सैयदानियाँ मेरा भी उसी तरह स्नेहपूर्वक स्वागत करती थीं; जिस तरह ग्रपने लड़कोंका। ग्राज उनके वंशका कोई बसईमें बच नहीं रहा है। घरोंकी ईंटें तक दिखलाई नहीं पड़ रही हैं। पिछवाड़ेके उन ग्रनारों ग्रौर शरीफोंका भी कोई पता नहीं, जो बचपनमें मेरे लिए खास ग्राकर्षण रखते थे। पुराने सैयदोंकी ईंट-चूनेकी कब्रोंपर श्रद्धाकी दृष्टि डालते हुए, हम कोइरी लोगोंके घरकी ग्रोर गये। ग्रब साग-भाजीके न उतने खेत हैं, न उतने घर। मेरे बाल-सहपाठी हीराके घरमें कोई नहीं रह गया। बसईमें कितने ही घर जुलाहोंके हैं, लेकिन कपड़ा बुननेकी जगह वे सनकी सुतरी बट रहे थे—कितने ही कपड़ा बुनना भूल गये हैं।

लौटते वक्त मेरे बाल-सहपाठी राजदेव पाठक मिले। उनके सारे केश सन जैसे सफेद थे। उन्होंने बालकोंके खेल—चिब्भी डाँड़ी—का निमन्त्रण दिया। एक बार मनमें ग्राया—काश, हम फिर बारह-तेरह सालके हो जाते। लेकिन तब ग्रागेकी दोनों पीढ़ियाँ कहाँ होतीं? सतमीके घरका भी कोई चिह्न नहीं है। सतमीके चार बच्चे किस तरह मलेरियामें गल-गलकर दरिद्रताकी भेंट चढ़े, यह मैं ग्रपनी एक कहानीमें लिख चुका हूँ। सतमीका सबसे छोटा लड़का सन्तू ग्रब भी कहीं जिन्दा है।

पन्दहा जानेसे पहले बहुत थोड़े ही नाम और सूरतें मुझे परिचितसी मालूम होती थीं, लेकिन वहाँकी नई पुरानी मूर्तियों, भूमि और वातावरणमें घूमते, साँस लेते ही स्मृतियाँ फिर जागृत होने लगीं, और सत्रह-अट्ठारह वर्षसे ऊपरकी उम्रके जिन्हें मैं देख चुका था, उन्हें पहचाननेमें दिक्कत नहीं हुई।

१६ अप्रैलको हम निजामाबाद गये। यहींके स्कूलसे मैंने १९०९में उर्दू-मिडिल पास किया था। पुराने मिडिल-स्कूलकी जगह क्या, उसी नींवपर उसी शकलकी अपर प्राइमरी स्कूलकी इमारत है। मिडिल-स्कूल आजकल कस्बेसे पश्चिम चला गया है। दोनों ही स्कूलोंके अध्यापकोंमें मेरा कोई परिचित नहीं निकला। टौंसका घाट और उसके पासके छोटे शिवालय और नानकशाही संगतमें कोई परिवर्तन नहीं मालूम हुआ। हाँ, घाटपर भी एक दो पानकी दूकानें नई चीज थीं। पता लग गया था कि मेरे पुराने अध्यापक पंडित सीताराम श्रोत्रिय अपने घरपर ही हैं। उनका घर कस्बेके भीतरकी संगतके पास है। यह संगत भी पहली अवस्थामें है। हाँ, एक यह फर्क जरूर मालूम पड़ता है कि बाहरी छतके भीतर भी कदम रखते ही लोगोंका सिर जबरदस्ती ढँकवाया जाता है। पंडित सीताराम श्रोत्रिय 'हरिऔध'जीके शिष्य हैं, स्कूल और साहित्य दोनोंमें। मुझे देखकर वे प्रसन्न हुए। नागार्जुनजीने अपनी कविता—जातिगौरव गंगदत्त—सुनाई, इसके बाद श्रोत्रियजीने भी अपनी कुछ कवितायें सुनाईं।

निजामाबादमें हम उन कुम्हारोंके घरोंमें भी गये, जो खिलजी-शासनके जमानेमें देवगिरिसे आकर यहाँ बस गये थे। उनके बनाये मिट्टीके बर्तन दुनियाँमें प्रसिद्ध हैं। और कुम्हारोंसे इनका नाता-रिश्ता है, मगर वे अपनी कलाको दूसरे कुम्हार-कुलमें जाने नहीं देना चाहते; इसीलिए अपनी लड़कियों तकको अपनी कला नहीं सिखलाते। लड़ाईसे पहिले उनके बनाये लाखों रुपयेके बर्तन—चायका सेट, गुलदस्ता आदि—देश-विदेश जाया करते थे, किन्तु आज अवस्था अच्छी नहीं है। अब इन झिनकारी वाले कुम्हार घरोंकी संख्या एक दर्जनसे ज्यादा नहीं रह गई है।

लौटते वक्त पन्दहाके सीवानेपरके उन खेतोंको भी हमने देखा, जहाँ चन्द साल पहिले घोड़रोज (नीलगाय)के शिकारके लिए हिन्दू-मुसलमानोंमें देवासुर-संग्राम छिड़ गया था। संग्रामके बाद अब शान्ति है। हिन्दू हाय-हाय कर रहे थे—दस पाँच साल पहले जहाँ दो ही चार घोड़रोज देखे जाते थे, वहाँ आज उनकी संख्या पचासों तक पहुँच गई है और वह खेतीको भारी नुकसान पहुँचाते हैं। मैंने कहा—घोड़रोज बकरी और हिरनकी जातिके होते हैं, इनके कान, आँख, पूँछ वैसे ही

होती हैं, वैसे ही लेंड़ी करते हैं। उन्होंने मुझे यह भी सूचित किया कि बकरियोंकी तरह वे एकसे ज्यादा बच्चे देते हैं। इतना होनेपर भी वे इन्हें गाय बनाकर इनके लिए धर्म-युद्ध करनेके लिए तैयार हैं !

× × ×

१३ अप्रैलको ही जब कि मैं रानीकीसराय पहुँचा था किसीने मेरे पितृग्राम कनैला-में खबर दे दी। आजमगढ़के लिए मेरे पास सिर्फ सात दिन थे और इतने कम समयमें कनैलाको मैं अपने प्रोग्राममें नहीं रखना चाहता था। मेरे ममेरे भाइयों—दीपचन्द और कैलाश—ने बारबार कनैला सूचना देनेका आग्रह किया, लेकिन मेरे अस्वीकार करनेपर वे चुप रह गये। दूसरे दिन—१४ अप्रैल—की दोपहरको देखा, मेरे छोटे भाई श्यामलाल साइकिलपर पन्दहा पहुँच गये। मुझे कुछ आश्चर्य हुआ—किसने खबर दी ? जान पड़ता है चौंतीस सालके बाद लौटे आदमीकी खबर लोगोंके लिए भारी आकर्षण रखती है; इसीलिए मेरे आनेकी खबर रानीकीसरायके साधारण आदमियोंमें फैल गई। रानीकीसरायमें कनैलाके चुड़िहारेकी रिश्तेदारी है। वहींसे कोई आदमी कनैला गया और उसी दिन मेरे आनेकी सूचना दस मील दूर पहुँच गई। भाईने अपने घर और गाँवकी ओरसे चलनेके लिए बहुत जोर दिया, मगर मैंने उसे अगली यात्राके लिए रख छोड़नेकी बात कहकर इन्कार कर दिया। श्यामलाल उसी दिन लौट गये।

१६की शामको दिन रहते ही कनैलाके लोगोंकी टोलियाँ आने लगीं। पाँच-छ करके वे दस बजे रात तक आते रहे। उनकी संख्या तीससे अधिक पहुँच गई, और उनमें कई जातियोंके प्रतिनिधि थे। गाँवके बूढ़े चचा रघुनाथ और दादा (आजा) सुखदेव पांडेको भी दस-ग्यारह मीलकी मंजिल मारकर आया देख मेरा निश्चय कुछ विचलित होने लगा। कनैलाके सबसे ज्यादा आनेमें असमर्थ रामदत्त चचा थे, मगर वे मुझे देखनेके लिए कितने उत्सुक थे, इसकी खबर एकाध बार पहिले भी मिल चुकी थी। अपने बहुतसे वृद्धोंके दर्शनसे मैं वंचित हो चुका था। मेरे संस्कृतके प्रथम गुरु तथा फूफा महादेव पंडित (बछवल)ने कई बार देखनेका सन्देश भेजा था, मगर मैं नहीं जा सका और दो तीन साल पहले उनका देहान्त हो चुका। मेरे जन्मके समयके सम्मिलित परिवारकी दादी सिर्फ ग्यारह दिन पहले मरी थीं और उस दिन मेरे वंशज उनका श्राद्ध करके आए थे। मैं कुछ और वृद्धोंके दर्शनसे अपनेको वंचित नहीं करना चाहता था, इसलिए हमारे गाँवके नाती तथा मेरे समवयस्क औघड़ बाबा रघुनाथने जब कनैला चलनेको कहा तो मैंने स्वीकृत दे दी।

गर्मीके दोपहरकी यात्रामें पड़ना सौभाग्यकी बात नहीं, अतएव हमने भिनसारे ही चलना तय किया था। सबेरे हाथीके कसकर आनेमें कुछ देर होने लगी, हम पैदल ही चल पड़े। हाथीने डेढ़ मील बढ़ जानेपर हमें पकड़ पाया। पहले रघुनाथ बाबाके साथमें और नागार्जुन भी हाथीपर बैठे, मगर हम दोनों ही ऐसे 'हलके' शरीरके थे कि नागार्जुनजीको यह समझते देर नहीं लगी कि हाथीपर चलनेकी अपेक्षा पैदल चलना उनके लिए कहीं आरामका रहेगा। उस दिन दोपहर तक आकाशमें मेघ छाये थे। रघुनाथ बाबा मेरे पुण्य-प्रतापकी दुहाई दे रहे थे। कनैलासे दो मील पहले डीहा पहुँचनेपर बूंदें ज़्यादा पड़ने लगीं, लेकिन वहाँ हमें मुँह-हाथ धोना और जल-पान करना भी था।

डीहाके अपर प्राइमरी स्कूलमें आज (१७ अप्रैल) छुट्टी थी, इसीलिए वहाँके प्रधानाध्यापक मेरे सहपाठी पंडित श्यामनारायण पाण्डेय मौजूद न थे। पिछले सालोंमें शिक्षाका अधिक प्रचार हुआ है, यह जगह-जगह नये कायम हुए मिडिल तथा दूसरी तरहके स्कूलोंसे पता चलता था। रानीकीसरायमें जब मैं पढ़ने गया था, तब वहाँ एक छोटासा लोअर प्राइमरी स्कूल था, लेकिन अब वहाँ मिडिल स्कूल है। डीहामें मदरसा पहिले भी था, मगर अब तीन अध्यापक पढ़ाते हैं। मैं तो बराबर नानाके साथ पन्दहामें रहता था, इसीलिए मेरी पढ़ाई-लिखाई रानीकीसराय और निजामाबादमें ही हुई। मगर कनैलाके लड़कोंको डीहाका स्कूल ही नजदीक पड़ता था। अब तो कनैलामें भी अपर प्राइमरी स्कूल हो गया है। कनैलासे दो ही ढाई मील दूरपर धर-बारामें मिडिल स्कूल है। तीस-बत्तीस साल पहले मिडिल पास लड़के बिरले ही मिलते थे, किन्तु अब वे एक एक गाँवमें और अधिक संख्यामें मिलते हैं। पन्दहामें कुबेर नानाके लड़केको मैट्रिक तक पढ़कर खेतीमें जुटा देख मुझे कुछ संतोष ज़रूर हुआ, मगर खेतीके काममें विद्याका उपयोग न हो तो सारी पढ़ाई व्यर्थ हो जाती है। और शिक्षित व्यक्ति साइन्सके किसी तरीकेको खेतीमें बरतते नहीं देखे जाते। गाँवमें शिक्षाके प्रचारका अगर कोई ज्यादा असर हुआ है, तो यही कि मुकदमेबाजी बढ़ गई है, जमीन जायदादके लिए जाल-फरेब ज्यादा होने लगा है। इससे विद्याका यश उज्वल नहीं हुआ है।

कनैला गाँवके पश्चिमकी कुटीका—जहाँ प्राइमरी स्कूल है—पुराना मकान गिर चुका है और वहाँ कई घर तथा बड़े वृक्ष दीख पड़े। लंबे वर्षोंको वृक्षोंके जरिये आसानीसे नापा जा सकता है।

अभी गाँवके हम बाहर ही थे कि लड़कोंकी पलटन अपने जन्मजात नेताओंके साथ हमारा स्वागत करनेके लिए पहुँच गई—इसे स्वागत करना और तमाशा देखना दोनों ही कह सकते हैं। उनमें पाँचसे बारह बरस तकके लड़के मौजूद थे।

गाँवसे नजदीक ऊसरके अकेले कुयेंके पास पहुँचकर हम हाथीसे उतर पड़े। मेरे बचपनमें भी यह कुआँ इस निर्जन ऊसरमें मौजूद था, और गाँवके लोग ज्यादातर यहींसे पीनेके लिए पानी ले जाते थे। इस दिक्कतको दूर करनेका प्रथम प्रयास मेरे पिताने अपने दरवाजेपर कुआँ बनाकर किया। आज तो गाँवके भीतर कई कुएँ बन चुके हैं। इस ऊसर वाले कुयेंके आसपास एक दर्जन घर आबाद हो गये हैं, जिनमें चुड़िहार और दर्जी लोगोंके घर ज्यादा हैं। मेरी ही उम्रके, किन्तु रिश्तेमें चचा रजबली (रजब्अली)की ठुड्डीपर लटकती दाढ़ी सफेद हो चुकी है। मुझे यह देखकर बड़ी खुशी हुई, कि एक समयके मुमूर्ष चुड़िहार और दर्जी परिवार अब हरे-भरे हैं। कनैलामें दो तीन घरोंको छोड़कर सभीको मैं दरिद्र-अवस्थामें छोड़कर गया था, मगर अब सभीकी हालत अच्छी है। उस समय गाँवका दो-तिहाईसे अधिक भाग ऊसर था, अब उस ऊसरसे लोगोंने काफी खेत बना लिया है। पहलेके खेतोंमें भी लोग अब अधिक परिश्रम करते हैं। सिंचाईके लिए कई नये पक्के कुयें बन गये हैं; अपेक्षाकृत कम मुकदमेबाजी होती है। यह है कारण कनैलाकी समृद्धिका। मेरी अनुपस्थितिमें आकर मौजूद हो गई दो पीढ़ियोंकी समस्याको ऊसरने हल कर दिया—जहाँ तक गाँवके ब्राह्मणों (जमीदारों)का संबंध है; और शायद एक पीढ़ी और भी ऊसरसे नये खेत बना सकें। गाँवके घरोंके स्थान और आकार दोनोंमें परिवर्तन हुआ है। पहलेकी अपेक्षा अबके घर अधिक सुन्दर, साफ और विस्तृत हैं; इसके लिए बहुतसे परिवारोंको गाँवके बिचले स्थानोंको छोड़ पूरबकी ओर बढ़ना पड़ा। सत्ताइस साल पहले आखिरी बार मैं तीन-चार दिनके लिए कनैला गया था। उस वक्तके मकानोंके नक्शे अब भी मेरे मस्तिष्कमें अंकित थे, लेकिन अब पूँछकर ही मैं किसी घरको जान सकता था। गाँवमें पहुँचते-पहुँचते सभी बाल-वृद्ध-नर-नारी अपने हाड़-माँससे बने शरीरवाले केदारनाथके इर्द-गिर्द आ खड़े हुए। मैंने चचा वंशीके सजल नेत्रोंको देखा और मेरे हाथ उनके चरणोंपर पहुँच गये। गाँवकी वृद्धतम स्त्री यमुना आजी (आर्या, दादी)की जबान अब भी उसी तरह तेज चल रही थी, मगर अब उनका शरीर बहुत निर्बल हो चुका है, आँखोंकी ज्योति भी मन्द पड़ गई है। गाँवके बीचमें पत्थरका पुराना कोल्हू अपनी जगहपर अब भी खड़ा है, किन्तु हँसिया, खुरपे और गड़ासोंको रगड़-रगड़कर लोगोंने उसकी आरीपर बहुतसे गढ़े कर दिये हैं। हमारे

पुराणपंथी नेता कुछ भी कहें, किन्तु कनैलाके ग्रामीणोंका पूरा विश्वास है, कि लोहेके कोल्हूको हटाकर पत्थर वाले कोल्हूके युगमें लौटा नहीं जा सकता।

कनैलामें हम ग्यारह बजेके करीब पहुँचे थे और वहाँ सिर्फ चार घंटे रहना था, इसलिए एक-एक मिनटको अच्छी तौरसे इस्तेमाल करना था। मेरे भाइयोंमें श्याम-लाल और रामधारी घरपर ही थे। सबसे छोटा श्रीनाथ दिल्लीमें लोगोंको रसगुल्ले खिला रहा है। सत्ताइस साल पहिले जिनकी उमर चौदह-पन्द्रह बरसकी हो चुकी थी, उन्हींको मैं पहचान सकता था और ऐसे चेहरे बहुत कम थे। मुझसे कुछ ही बरस जेठे दूधनाथ भैयाकी भौहें भी सफेद होने लगी हैं। रामदत्त कक्काके शरीरमें हड्डी और चमड़ेके अतिरिक्त यदि और कुछ दिखलाई पड़ता था, तो वह थी उन्हें बाँधकर इकट्ठा रखने वाली धमनियाँ।

स्नान करनेके लिए चलते वक्त मैंने मेरे जन्मके बाद अलग हुए अपने बन्धुओंके घर देखे। बंशी चचा और उनके भाई तथा मेरे समवयस्क किसुना (किन्ना) चचा-का घर पुरानी जगहसे बहुत दूर हटकर बना है। बागके छोरपर अवस्थित जिस अकेले पीपलको लोग भूतोंका गढ़ समझते थे, अब वह बस्तीमें आ गया है। और भूत? आदमियोंकी भीड़में बेचारे भूत कैसे बसे रह सकते हैं? मैंने एक जगह कहा था कि आदमियोंके बस जानेपर भूतोंको बाल-बच्चे लेकर भागना जरूरी हो जाता है। किसीने पूछा—"क्यों?"

"मनुष्योंके लड़के ढेला-डंडा फेंका करते हैं। भूत और उनके बच्चे तो दिखलाई नहीं पड़ते, ज़िससे उनमें भी अंधों, कानों, लंगडोंकी संख्या बढ़ने लगती है; इसीलिए भूत-भुतनियेंको जगह खाली करनी पड़ती है।"

मेरे कुछ भाइयोंकी तरह कितने ही पाठकोंको भी यह दलील पसन्द न आयगी, किन्तु भूत-चुड़ैल बहुतसे स्थान खाली कर चुके हैं, इससे वहाँ सभी सहमत थे।

पुराने कनैलाकी बस्तीमें हरी पत्तियोंके लिए आँखें तरसती रहती थीं, किन्तु अब किसीके द्वारपर पकड़ीका वृक्ष है, किसीके द्वारपर नीम। गर्मीमें वृक्षकी शीतल छाया कितनी सुखद और सुहावनी होती है। हाँ, यह देखकर खेद हुआ कि कनैलाका बाग बहुत कुछ उजड़ चुका है और नये अमोलोंको लगानेका लोगोंको शौक नहीं।

नहानेके बादमैं गाँवोंके घरोंको देखने चला, साथकी परिषद्को रोका नहीं जा सकता था। चमार-टोलीके बाद ब्राह्मणों, अहीरों, कहारों, चुड़िहारों, दर्जियों, गड़ेरियोंके घरोंको देखते, साहेब-सलामी करते, करीब-करीब सारा गाँव फिर आया।

पत्रहीन बरगदके नीचे बैठे बुद्धको देखकर शाक्योंके खूनके प्यासे कोसलराज बिदूडभने पूछा था––"पास ही हमारी सीमाके भीतर घनी छायावाला यह बरगद है" भगवान इसके नीचे क्यों नहीं बैठते ?"

बुद्धने उत्तर दिया––"बन्धुओंकी छाया शीतल होती है, यह शाक्योंकी भूमिका बरगद है ।"

भोजन तैयार था । श्यामलाल हम दोनोंको खाना खिलाने अपने घरमें ले गये । सत्ताइस साल पहले वाले घरके सामने यह महल-सा लगता । उसके जैसे तीन आँगन इसके भीतरी आँगनमें ही समा जाते । आँगन पूरब-पश्चिम लंबा है, जिससे सूरजकी धूप काफी देर तक मिलती रहती है । नाबदानको दक्षिण तरफ खोलते देख गाँवके बड़े बूढ़ोंने भय प्रकट किया था, किन्तु नावदान लायक जमीन उसी ओर थी । श्यामलालने साहस दिखलाया और नाबदानको उधर ही खोल दिया । यह देखकर प्रसन्नता हुई कि मेरे सहोदर भी रूढ़िपर प्रहार करनेकी कुछ हिम्मत रखते हैं ।

भोजन समाप्त हुआ । हम उठना चाहते थे कि कपड़ोंसे ढँकी एक मूर्तिने मेरे पैरोंपर गिरकर रोना आरंभ करना चाहा । मैं तुरन्त चलनेको उठ खड़ा हुआ । खैर, रोना वहीं रुक गया । रोनेवाली कौन थी, कह नहीं सकता; न मुझे बतलाया गया । मेरे नामसे शैशवमें घरवालोंने जो व्याह किया था, उसे तो घरके साथ ही तीन दशाब्दियों पहले ही मैं छोड़ चुका था । आँगनमें काफी स्त्रियाँ जमा थीं, जिनमें यमुना आजीको छोड़कर मैं किसीको भी पहचानता न था ।

आसपासके गाँवोंमें भी खबर पहुँच गई थी और तीन बजे तक कितने ही लोग वहाँ जमा हो गये । जमावड़ेने सभाका रूप लिया और मुझे कुछ बोलनेके लिए कहा गया । मैंने गाँवकी समृद्धिपर हर्ष प्रकट किया और आजकी परिस्थितिमें अन्न, वस्त्र तथा रक्षाका प्रबंध करनेके लिए कहा ।

आज रातको मुझे फूफाके घर बछवल रहना था । मेरे बालमित्र यागेशदत्त पन्दहा पहुँचे थे । उनके आग्रहको ठुकरा नहीं सकता था । भरोंके दोनों टोलोंको देखकर जब मैं आगे बढ़ा तब नागार्जुन जीने डीहके स्थानको देखकर खबर दी कि वहाँ कुछ टूटी फूटी मूर्तियाँ हैं । बचपनमें मैंने भी इन मूर्तियोंको देखा होगा, मगर उस वक्त उनकी आप बीती सुननेके लिए मेरे पास कान नहीं थे । वहाँ जाकर देखा, तो तान्त्रिक बौद्ध-धर्म (वज्रयान)के एक घोर देवता (वज्रभैरव)की छोटी-सी, किंतु सुन्दर मूर्त्तिके दो खंड पड़े थे––आगकी ज्वालाकी तरह लहराती केश-शिखाओं

और गोल-गोल आँखोंवाला मुण्ड एक ओर पड़ा था और कटिसे नीचे दोनों पैर दूसरे खंडमें। नव-दस सौ वर्ष पहले कनैलामें भी उन देवताओंकी पूजा होती थी, जिन्हें तिब्बतके अनेक मन्दिरोंमें मैंने देखा है। आज कनैलावालों——विशेषकर वहाँके पुराने निवासियों राजभरों——को यह पता नहीं कि उनके पूर्वज हजार वर्ष पहले उन देवताओंको पूजते थे, जो हिमालयके उस पार अब भी जीवित हैं। कनैलाके पुराने खेतोंके नीचे पुरानी आबादीके ध्वंस छिपे हुए हैं। ईसवी सन् की प्रथम शताब्दीकी ईंटें वहाँ मिलती हैं। जान पड़ता है, खिलजी-शासन-कालमें यहाँ कोई राज्याधिकारी रहता था, जिसके कोटका एक भाग अब भी डीह बाबाके पास मौजूद है। शायद उसी समय ये देवता कतल किये गये थे।

सत्ताईस बरस पहले भर लोग सुअर पाला करते थे, मगर अब सारे जिलेमें और आसपासके दूसरे जिलोंमें भी उन्होंने सुअर पालना बिलकुल छोड़ दिया है। इससे समाजमें उनका स्थान पहलेसे कुछ ऊँचा हुआ है, इसका तो मुझे पता नहीं, हाँ, जीविकाके एक साधनसे वे वंचित जरूर हो गये। सुअरी एक एक बारमें बीस-बीस बच्चे देती है और सालमें तीन बार। पुष्ट भोजन और पैसेकी आमदनीका यह एक अच्छा जरिया था। सबसे ज्यादा दिक्कत तो गाँवके देवताओंको पड़ रही है। वर्षोंसे उन्होंने छौनोंकी एक फट्ठी भी दाँत-तले दबानेके लिए नहीं पाई है।

बछवल कनैलासे दो ढाई मीलसे ज्यादा दूर नहीं है। बीचमें मंगई (मार्गवती) नामकी छोटी नदी पड़ती है। गर्मीमें वह ज्यादातर सूख जाती है, इसलिए लोग जगह-जगह बाँध-बाँधकर पानीको रोक लेते हैं, इससे तो उसका नाम पोखरई होना ज्यादा सार्थक था——मंगई सीधे गंगामें गिरती है, बरसातमें इसमें इतना पानी रहता है कि छोटी-मोटी नावें सिसवा (शिशपा) ग्राम और उसके आगे भी चली जाती होंगी। उस कालमें नदियाँ ही अधिकतर व्यापार-मार्गका काम करती थीं।

हम लोग सिसवामें बँधे बाँधपरसे मंगई पार हुए। यहींसे कनैलाकी बाकी जन-मंडली पीछे लौटी। नदी पार सिसवा या शिंशपा ग्रामका मीलों तक फैला ध्वंसावशेष है। हर जगह पाई जानेवाली ईंटें बतलाती हैं, कि शिंशपा ग्राम एक समृद्ध बस्ती रही होगी। शिंशपा ग्राम नामका कोई निगम काशी जनपदमें था, इसका पुस्तकोंमें तो पता नहीं, लेकिन ईंटें और विस्तृत ध्वंसावशेषकी गवाहीसे इन्कार नहीं किया जा सकता। आजकलके ग्रामीण पंडित सिसवाको शिशुपालकी राजधानी बतलाते हैं। शिशुपाल चेदि (पूर्वी बुन्देलखण्ड)का राजा था, इस समस्याको हल करनेकी तकलीफ वे क्यों करने लगे? बल्कि उन्होंने सिन्धुराज 'जयद्रथ'की भी एक जगह

ढूँढ़ निकाली है। जयद्रथके स्थानपर पाँच-छः बड़ी-बड़ी खंडित मूर्तियाँ हैं, इसका पता मुझे बादमें लगा और मैं उन्हें देख नहीं सका। हाँ, यागेशने सिसवामें मिले मुझे दो ताँबेके पैसे दिये। अक्षर घिस गये थे, लेकिन एक ओरकी शक्ल किसी शक राजाकी मालूम होती थी। दूसरे दिन आजमगढ़ पहुँचनेपर मालूम हुआ कि दोनों सिक्के कुषाण राजा कनिष्कके हैं, जिनमेंसे एककी पीठपर वायु देवता और दूसरेकी पीठपर मित्र देवताकी मूर्तियाँ हैं। श्री परमेश्वरीलाल गुप्तको पुराने सिक्कोंको एकत्र करने और पहचाननेका बहुत शौक है। उन्होंने आजमगढ़ जिलेमें मिले सेरों कुषाण सिक्के जमा किये हैं। दो हजार बरस पहले कनिष्कका कोई उच्च राज-कर्मचारी शिंशपा ग्राममें रहता था। उस वक्त सिसवाके आजके ऊजड़ टीलोंपर व्यापारियों और शिल्पियोंके कितने ही अच्छे भले घर थे, देश-विदेशके पण्य द्रव्योंसे सजी दूकानों वाली वीथियाँ थीं; जगह-जगह ऐसे कितने ही देवालय थे, जिनके देवता अब विस्मृत हो चुके हैं। मंगईका व्यापार-मार्ग यही जलीय राजमार्ग इस सारी समृद्धिका कारण था। उस मार्गका स्थान नये मार्गोंने लिया और शिंशपा ग्राम धीरे-धीरे सिसवाके निर्जन टीलेमें बदल गया। सिसवाके गर्भमें उसके इतिहास-को बतानेवाली बहुतसी सामग्री छिपी पड़ी है, जो किसी वक्त ज़रूर अपना मुँह खोलेगी। मैंने चन्द मिनटोंमें ध्वंसको पार करते हुए जो कुछ भी समझ पाया, उसे, यहाँ संक्षेपमें लिखा है।

हम शामको बछवल पहुँचे। यागेश वर्षों मेरे तरुणाईके अभियानोंमें साथ रहे हैं। वे राष्ट्रीय कर्मी हैं। यद्यपि वे मेरी बुआकी देवरानीके लड़के हैं, लेकिन बाल्यसे ही बछवलमें उन्हींके साथ मेरा सबसे अधिक प्रेम रहा। तीस साल पहले एक बार हम दोनोंने कुर्ता पहिने रोटी खाई थी, जिसे देखकर उनकी माँ रोई थीं। आज अपने पुत्रको मेरे और नागार्जुन जैसे 'सर्वभक्षी'के साथ बैठकर दाल-भात खाते देखकर उनकी स्वर्गीय आत्मा कितनी तड़फड़ा रही होगी। हाँ, उनको यह देखकर धैर्य ज़रूर होगा कि कनैलाके सरपंच श्यामलाल भी साथ ही बैठे खा रहे हैं।

दूसरे दिन कुछ रात रहते ही नागार्जुन और मैं हाथी पर रवाना हुए। चँड़ेसरमें एक्का ले दस बजे (१८ अप्रैल) तक आजमगढ़ पहुँच गये। कानोंकान सुनकर कितने ही लोग मिलने आये। आजमगढ़के कवि "शैदा" और "चन्द्र"ने अपनी कई रचनायें सुनाईं, 'यात्री' नागार्जुनने भी अपनी कृतियोंको सुनाकर गोष्ठीका मनोरंजन किया। १९ अप्रैलको ठीक सात दिन रहनेके बाद, दस बजे सबेरेकी ट्रेन पकड़ी और दो बजे तक हम आजमगढ़ जिलेके बाहर चले आये।